महर्षिव्यासप्रणीतं

श्रीमार्कण्डेयमहापुराणम्

[तृतीय भाग]

पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान
नैमिषारण्य, सीतापुर

अध्ययन-माला

[सप्तम पुष्प]

महर्षिव्यासप्रणीतं

श्रीमार्कण्डेयमहापुराणम्

(९४-१३७ अध्याय पर्यन्त)

[तृतीय भाग]

हिन्दी-अनुवाद तथा पर्यालोचनकार

डॉ० महाप्रभुलाल गोस्वामी

पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान

नैमिषारण्य, सीतापुर

२०४३ वैक्रमाब्द १९०७ शकाब्द १९८६ खैस्ताब्द

प्रकाशक :—
निदेशक,
पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान-संस्थान,
नैमिषारण्य, सीतापुर ।

प्रथम संस्करण, ११०० प्रतियाँ

विशिष्ट संस्करण : १५०-००, $ १५.००
सामान्य संस्करण : ७५-००, $ १०.००

मुद्रक :—
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

ADHYAYANA-MĀLĀ
[Vol. 7]

ŚRĪMĀRKAṆḌEYAMAHĀPURĀṆAM

(Chapters 94-137)
[PART THREE]

Translated & Edited
BY
Dr MAHAPRABHULAL GOSWAMI

INSTITUTE FOR PURANIC AND VEDIC
STUDIES AND RESEARCH
NAIMISHARANYA, SITAPUR
1986

Published by :-
Director,
Institute for Puranic and Vedic
Studies and Research
Naimisharanya, Sitapur.

First Edition : 1100 Copies

Deluxe Edition—150-00, $ 15/-
Popular Edition— 75-00, $ 10/-

Printed by—
Ratna Printing Works
Kamaccha, Varanasi

ACKNOWLEDGEMENT

We are extremely grateful to Sir C. P. N. Singh, ex-Rajyapal, Uttar Pradesh, who was kind enough to move the State Government for a suitable grant towards the publication of our volumes. We are privileged to record our deep sense of gratitude for the all-round interest he has all along been taking for the growth and development of the Institute, physical and academic.

GAURINATH

PREAFACE

The third and last part of the Mārkaṇḍeya Purāṇa containing chapters 94 to 137 is presented to the academic world. We are thankful to Professor Mahaprabhulal Goswami for the interest with which he has seen the book through. Mention may also be made of Dr. Harischandra Mani Tripathi of the Sampurnananda Sanskrit University of Varanasi for expediting the work of publication by Ratna Printing Works, Varanasi.

GAURINATH SASTRI

भूमिका

भारतीय आर्य-संस्कृति आरम्भ से ही दीप्ति की उपासिका रही है। इसका मूलाधार वेद, माना गया है। किन्तु वेद की असंख्य शाखाएँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही वेद के अर्थ की अवगति भी सहज नहीं है। उनके अर्थों के निर्णायक मुनियों के वाक्यों में भी आपाद् दृष्टि से विरोध की छाया दृष्टिगोचर होती है। अन्ततः वेदार्थ निर्णायक इतिहास और पुराण की ही शरण में आना पड़ता है। महाभारत के आदिपर्व में "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" (महाभारत आदि० १।२६७) यह वचन उपलब्ध होता है। साथ ही "पुराणात्पुराणम्" इस उपलब्ध वचन के अनुसार भी पुराण की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। पुराण के वचनों के द्वारा वेदवचनों का अनुमान भी किया जाता है। पूरणता सम्पादन के कारण ही यह पुराण है, इस प्रकार यह भी वेद के समान प्रामाणिक अर्थ का प्रतिपादक है। जैसे अपरिपूर्णकनकवलय का स्वर्णांश से ही पूरण किया जाता है, इसी तरह पुराण और इतिहास की भी वेद के साथ आर्थिक दृष्टि से अभिन्नता मानी जा सकती है। अन्तर इतना है कि वेद में स्वर, क्रम इत्यादि का स्थिर स्वरूप है और पुराण में विशिष्ट एक अर्थ का प्रतिपादन होने पर अपौरुषेयता अक्षुण्ण है। स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड २।३-५ के द्वारा यह कहा गया है कि ब्रह्मा के मुख से नित्य शब्दमय, सुविस्तृत श्लोकबद्ध पवित्र सभी शास्त्रों के अविचलित अर्थ का प्रतिपादक ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड ये १८ पुराण निःसृत हुए। इनमें मार्कण्डेय पुराण सप्तम स्थान पर आता है जिसमें दीप्ति की उपासना का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है—

पुरा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः॥
ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥
निर्गतं ब्रह्मणो वक्त्रात् तस्य भेदान्निबोधत।
ब्राह्मयं पुराणं प्रथमम् " इत्यादि।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी पुराण को वेद के साथ निर्दिष्ट किया गया है—"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विश्वसितमेतद्, यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम् (बृ० उ० २।४।१०)। श्रीमद्भागवत में भी स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि ऋक्, यजुः, साम, अथर्व क्रमशः ब्रह्मा के पूर्वादि मुखों से उत्पन्न हुए एवं इतिहास और पुराण सभी मुखों से आविर्भूत हुए इस प्रकरण में वेद को प्रयुक्त कर पुराण की चर्चा की गई है—अतः, पुराण को वेद के अन्तर्गत मानना ही प्रतीत होता है।

"ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः" (भा० ३।१२।३७)

भागवत में ही पुराण को पञ्चम वेद के रूप में निर्दिष्ट किया है—"इतिहासं पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते" (१।४।२०)। महाभारत में अन्यत्र भी "वेदमध्यापयामास महाभारत पञ्चमाभिः" (मोक्षधर्म ३४०।११) इस प्रसङ्ग में भी "वेदान्" इस कथन से पुराण और इतिहास का अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है। इतिहास और पुराण को पञ्चम वेद के रूप में मानने का कारण निर्देश करते हुए वायुपुराण के सातवें अध्याय के १६ से २२ वें श्लोक में कहा गया है—कि भगवान् ईश्वर वेदव्यास ने इतिहास पुराण को वक्ता के रूप में ग्रहण किया था। यज्ञ के ऋत्विक् कार्य की दृष्टि से वेद का चतुर्धा विभाग किया गया। अनन्तर इतिहास और पुराण में पुरावृत्त आदि को ही ग्रहण नहीं किया गया, अपितु यजुर्वेद के शास्त्र निश्चयात्मक तत्त्वों को संगृहीत किया गया। इस प्रसंग में कहा गया है कि पुराणार्थ विशारद महर्षि ने पञ्चलक्षण आख्यान के द्वारा पुराणों में उपाख्यान और छन्दोविशेष के द्वारा भारतादि संहिता को निरूपित किया।[1] इसलिए ब्रह्म वेदाध्ययन में "ब्राह्मणानि इतिहासपुराणानि" इस रूप में विनियोग लिखा जाता है।[2] यदि यह वेद के अन्तर्गत नहीं होता तो यह विनियोग सम्भव नहीं होता। मत्स्यपुराण में पुराण का एक साथ अध्ययन करना असम्भव मानकर व्यास रूप में अवतीर्ण होकर उसका सङ्कलन किया, यह सूचना मिलती है। मत्स्यपुराण ६३।८:९ में कथित है—

कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे॥ (म० पु० ५३।८-९)

अर्थात् मनुष्य सम्पूर्ण पुराण को ग्रहण करने में असमर्थ हो गये थे इसलिए व्यास ने सुखपूर्वक ग्रहण करने के लिए पुराण का संकलन किया। इसके अनन्तर इसी पुराण में लिखा गया है कि चार लाख श्लोकों में संक्षिप्त जो एक पुराण था, वही द्वापर में १८ भागों में विभक्त होकर भूलोक पर प्रचलित हुआ। अतः देवलोक में शतकोटि श्लोकात्मक पुराण आज भी सुरक्षित हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेद का शिष्ट अंश ही अष्टादश पुराण है। अतः यह मानना ही होगा कि पुराण भी वेद के समान अपौरुषेय है। शिवपुराण की वायव्य संहिता में कृष्ण द्वैपायन ने चतुष्ट्यात्मक एक वेद के विभाग के साथ ही पुराणों का भी चार लाख श्लोकों में संक्षेप कर प्रकाशित किया था। पुराणों में जो वक्ता का नाम आता है, वह वेद के समान ही वक्ता का नाम है, प्रेणता का नहीं। भारत के व्याज से वेदार्थ का प्रदर्शन किया जाता है इसलिए पुराण में ही वेद प्रतिष्ठित है—(द्रष्टव्य, तत्त्वसंदर्भ, पृ० २२)। विष्णु पुराण में भी कृष्णद्वैपायन व्यास के द्वारा पुराण का विकास हुआ, इसकी सूचना मिलती है। इन उद्धरणों के द्वारा वेद शब्द के द्वारा पुराणादि का भी ग्रहण विवक्षित है। वेद के अर्थ की

---

१. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिर्द्विजसत्तमाः।
पुराणसंहिताश्चक्रे पुराणार्थविशारदः॥
यच्छिष्टं तु यजुर्वेद इति शास्त्रार्थनिर्णयः। (वा० पु० ६०।२१-२२)

२. "यद्ब्राह्मणानीतिहासपुराणानि" इति।

अवगति के लिए पुराण का अध्ययन अनिवार्य है। नारदीय पुराण के अनुसार वेद की अपेक्षा पुराण के अर्थों का अधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि वेद पुराण में ही प्रतिष्ठित हैं। पुराण का अन्यथान्वयन करने पर दान्त, शान्त होने पर भी तिर्यग्योनि की प्राप्ति अनिवार्य है। इसी की अवृत्ति स्कन्दपुराण में भी की गई है। वहाँ स्पष्ट शव्दों में कहा गया है—पुराणार्थ वेद के समान ही निश्चल है क्योंकि पुराण में ही वेद प्रतिष्ठित हैं। अल्पश्रुत व्यक्तियों के द्वारा वेद को भय होता है क्योंकि यह मेरा अन्यथा अर्थ करेगा। पूर्वकाल में ही इतिहास और पुराण की गाथाओं के द्वारा इसको निश्चल किया गया है। जिसकी उपलब्धि वेद में जो उपलब्ध नहीं है वह स्मृतियों में सरल शव्दों में उपलब्ध होता है। इन दोनों में उपलब्ध विषय पुराणों में कहा गया है। उपसंहार में कहा है कि जो पुराण नहीं जानता, वह कभी भी विचक्षण व्यक्ति नहीं हो सकता—

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः॥

पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्यग्योनिमवाप्नुयात्।
सुदान्तोऽपि सुशान्तोऽपि न गतिं क्वचिदाप्नुयात्॥ (ना० पु० १६)

वेदवन्निश्चलं मन्ये पुराणार्थं द्विजोत्तमाः।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः॥

विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं चालयिष्यति।
इतिहासपुराणैस्तु निश्चलोऽयं कृतः पुरा॥

यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद्दृष्टं स्मृतिसु द्विजाः।
उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रगीयते॥

यो वेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजाः।
पुराणं नैव जानाति न च स स्याद्विचक्षणः॥

(स्कन्द पु० प्रभास खण्ड २।९०-९३)

ये पुराण पूर्वोक्त निर्दिष्ट रूप में १८ बताये गये हैं, इनमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित रूप पञ्चलक्षणात्मक आख्यान माने गये हैं—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥"

भूत तन्मात्रा इत्यादि वस्तुओं का सम्भव सर्ग कहा जाता है। साम्यावस्था प्रकृति या प्रधान है। प्रधान के क्षोभ से महत् तत्त्व होता है, उससे अहंकार, उससे सूक्ष्मभूत इन्द्रिय, स्थूलभूत एवं देवादि की सृष्टि होती है। कारण से कार्य सृष्टि ही प्रतिसर्ग है। ब्रह्मप्रसूत राजाओं का वंश, वंश है। देवमनुष्य मनु पुत्रादि के आचरण के द्वारा सत्य धर्म का उपदेश मन्वन्तर है। पूर्वोक्त राजाओं के वंशधरों को घटना ही वंशानुचरित है। प्रकृत मार्कण्डेय पुराण का प्रधान विषय मन्वन्तर एवं वंशानुचरित हैं।

धर्म को विचारणा कर्तव्याचरण की दीक्षा इस पुराण में विस्तृत रूप से की गयी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता दीप्त्यात्मक चण्डी का चरित्र है। "कलौ चण्डी विनायकौ" के अनुसार चण्डी की आराधना का महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य शङ्कर, बाण भट्ट आदि ने इसको अतिशय श्रद्धा के साथ अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। इसका दो खण्ड आचार्य प्रवर डा० सत्यव्रत सिंह ने विस्तृत भूमिका एवं पर्यालोचन के साथ प्रस्तुत किया है। वाक्सूक्त की भूमिका में यह मार्कण्डेयपुराण उपलब्ध होता है। केनोपनिषद् में सर्वदेवसमन्वयात्मक ओऽम् के अपर पर्याय के रूप में उमा शब्द का निर्देश मिलता है। निर्गुण, निर्विशेष स्वरूप की प्रतिपत्ति के बाद मन्दबुद्धि के द्वारा उसका आकलन सम्भव न होने से सगुण स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है। एक का अनेक रूप में प्रदर्शन किया जाता है। चण्डी पाठ में "एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया काम-मापरा" इत्यादि वचनों के द्वारा दीप्ति की एकता सुप्रसिद्ध है। देवता दीप्ति स्वरूप मनोमय है। श्रद्धा और विश्वास के आधार पर वह स्वरूप ग्रहण करता है—"अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमपि जानताम्" इत्यादि निरुपाधि, ब्रह्म स्वरूप के श्रवण से देवता की बन्ध्या-पुत्र के समान असत्व और अलीकत्व की सम्भावना हो सकती है। अतः आख्यायिका के आधार पर देवस्वरूप का वर्णन उपनिषद् एवं पुराणों में मिलता है। केनोपनिषद् में देवकार्य की सिद्धि के लिए उमा अपने माहात्म्य से निर्मित देवदीप्त्यात्मक अद्भुत स्वरूप का देवताओं को इन्द्रियगोचर कराती हैं। देवगण आश्चर्य में हैं। यह विभिन्न आश्चर्यजनक पूज्य कौन सा पदार्थ है? प्रकृत में यक्ष शब्द का प्रयोग आता है जो पूज्य का अपर पर्याय है। देवगण इस दिव्य स्वरूप के ज्ञान में अ सफल होते है। अग्नि, वायु विफल शक्ति होकर देवश्रेष्ठ इन्द्र को सूचित करते हैं। इन्द्र शक्ति को तिरोहित देखता हैं। अग्नि, वायु से संवाद होने पर भी इन्द्र उसे नहीं देख पाता। वह अन्तरिक्ष में ध्यान लगता है। पूज्य के प्रति उसकी श्रद्धा और भक्ति देखकर उमा स्त्री रूप में प्रादुर्भूत होती है। इन्द्र विद्यास्वरूप अतिशय लावण्यमयी दीप्ति का दर्शन करता है। स्वयं प्रकाश ब्रह्म के समान शोभनतम रूप धारण किए है। यहाँ उमा हैमवती के समान स्वर्णालङ्कारभूषिता निरतिशय शोभा को धारण करती हुई दिखाई दे रही थी। वही चितिस्वरूपा स्वतन्त्रा, देदीप्यमाना शक्ति मार्कण्डेय पुराण की चण्डी हैं। इसीलिए इसे बहुशोभना कहा गया है। इस मार्कण्डेय पुराण में उमा के अखण्डान्तानन्द चैतन्य-स्वरूप की उद्घोषणा स्पष्ट उपलब्ध हो रही है। भास्कर राय ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—शक्तिस्वरूपा माता का शक्तिमान् के साथ पारमार्थिक भेद नहीं है। एक ही चितिरूपा शक्ति है जो चैतन्यात्मक ब्रह्म से अभिन्न है। श्रुति सिद्ध ज्ञान इच्छा क्रिया का समासिक रूप ही ब्रह्म धर्म है और वह धर्मी से अभिन्न है। उसकी ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक है। धर्मस्वरूप होने का कारण शक्ति शब्द से उसका अभिधान होता है। उसके धर्म भी न जड़स्वरूप हैं न जीवस्वरूप हैं अपितु स्वतन्त्र चिद्रूप हैं—

"एकमेव ब्रह्मानादिसिद्धया मायया धर्मी धर्मचेति सृष्ट्यारम्भे प्राथमिकमीसणं "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति "सोऽकामयत, तत्तपोऽकुरुत" इत्यादित्रिविधश्रुतिसिद्ध-ज्ञानेच्छाक्रियासमाप्यात्मकं स एव ब्रह्मधर्मः। स च धर्म्यभिन्न एव, स्वाभाविकी ज्ञान-

बलक्रिया चेति श्रुतेः। तस्यैव धर्मत्वाच्छक्तिरिति संज्ञा। तद्गतो धर्मोऽपि न जडो न जीवः, अपितु चितिः स्वतन्त्रा विश्वाससिद्धिहेतुरित्यादिशाक्तिसूत्रोक्तरूपं ब्रह्मैवेत्युपनिषत्सिद्धान्त इति।"

शङ्करानन्द ने भी कहा है कि अविद्या कुरूपा पिशाचीस्वरूपा होती है। उसकी नाशिका विद्या कान्तिमती होती है। संसार की उच्छेदिका एवं अभीष्ट कामनापूर्ति-समर्था विद्या का कान्तिमान् होना स्वभावतः प्राप्त होता है। इस व्याख्यान को शङ्कराचार्य के द्वारा समर्थन प्राप्त है। इसलिए मार्कण्डेयपुराण में अतिशय कान्तिमत्वरूप प्रदर्शित किया गया है। यह दुर्गा अखण्ड अनन्त आनन्द चैतन्यात्मक चितिशक्तिस्वरूप है। इसके एकत्व और अदितिस्वरूप के विषय में चण्डीस्तव से सिद्ध है—

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥

वैष्णवी शब्द के द्वारा व्यापकत्व अर्थ की सूचना मिलती है। महाभारत में कहा गया है कि शरीरधारियों में विद्याओं में तुम ब्रह्मविद्या हो, हे महानिंद्रे! हे कान्तार-वासिनी, हे स्कन्दमाता, हे भगवति, स्वाहाकार, स्वधा, कला, काष्ठा, सरस्वती, सावित्री और वेदमाता तुम ही हो।

त्वं ब्रह्मविद्या विद्यानां महानिद्रा च देहिनाम्।
स्कन्दमातर्भगवति दुर्गे कान्तारवासिनि॥
स्वाहाकारः स्वधा चैव कला काष्ठा सरस्वती।
सावित्री वेदमाता च तथा वेदान्त उच्यते॥
(म० भा० भी० पर्व २३।११-१२)

इस प्रकार दुर्गा दिव्य चेतना का उन्मेष हैं। ऋक्संहिता में "खिलः उमापतेः" यह प्रयोग मिलता है। (ऋ० सं०) ४.१९.१; ५.५.१; ७.४९.४; १०.६.७; ३१.३.३२; ५.७७.८; शङ्कराचार्य ने हैमवती के विश्लेषण में स्पष्ट शब्दों में कहा है—"आकाश में अतिशय शोभमाना उमा हैमवती आविर्भूत हुई।" दुर्गा के साथ इसका अतिशय सामञ्जस्य उपलब्ध होता है। केनोपनिषद् में प्रयुक्त यक्ष शब्द ब्रह्मरहस्य का अभि-धायक है जिसकी सूचना मार्कण्डेय पुराण में स्पष्टतया उपलब्ध होती है। वहाँ शक्तिमदमत्त का विनाश, कृपाकांक्षी, आराधनतत्पर सुरथ और समाधि को षड्विध ऐश्वर्य की प्राप्ति स्पष्ट है। अतः कतिपय आचार्यों का यह कथन कि दुर्गा मार्कण्डेय पुराण का प्रक्षिप्त अंश है, साहसमात्र है। क्योंकि इस मध्य सुमेरु को हटा देने पर आगे की जितनी भी आराधना के द्वारा मन्वन्तर की विस्तृति है, वह सभी ध्वस्त हो जायेगी।

इस खण्ड में ९४ अध्याय से आरम्भ और १३७ अध्याय में विषयवस्तु की इतिश्री है, जिनमें अनेक मन्वन्तरों की चर्चा स्पष्ट उपलब्ध होती है, किन्तु उस ज्योति की आभा सर्वत्र परिव्याप्त है। रवि के स्वरूपनिरूपण में भी ओंकार से ही उसमें सूक्ष्म स्वरूप की अभिव्यक्ति कही गई है। इस खण्ड की सबसे बड़ी विशेषता

गार्हस्थ्य जीवन में प्रविष्ट होकर समाज और लोक की सेवा के विना अन्य आश्रमों की चर्चा का निषेध करना है। रौच्य मन्वन्तर में दीप्ततेजस्वी पितरों के द्वारा रुचि का गार्हस्थ्य धर्म में प्रवेश और दीप्तिस्वरूपा अप्सरा से आगे वंश का विस्तार यह ध्यान देने योग्य है। चण्डी का दीप्तिस्वरूप आगे के सभी अध्यायों में अन्वित मिलता है। भौतिकी उत्पत्ति में भी अग्नि की दीप्ति के द्वारा उत्पत्ति का वर्णन स्पष्ट उपलब्ध होता है। सभी कथायें इसमें साङ्गोपाङ्ग व्याख्यात हैं। उनके द्वारा एक नयी आभा मिलती है जो मानव जीवन को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाती है। अकर्त्तव्य के अनाचरण के साथ ही उसे दण्ड सहन करना पड़ता है और जीवनयापन की इतिश्री हो जाती है। कर्त्तव्य का किसी भी रूप में परित्याग यहाँ सह्य नहीं है। अतः यह खण्ड कर्त्तव्य की दीक्षा, सन्मार्ग की प्रतिष्ठा की दृष्टि से वेदकाण्ड का विस्तार है। इन्हीं आचरणों के द्वारा मानव पुरुषोत्तम के सहजस्वरूप की उपलब्धि कर सकता है।

मार्कण्डेय पुराण के इस अंश का अनुवाद और पर्यालोचन मेरे श्रेष्ठ गुरुभाई आचार्य प्रवर डॉ० श्री गौरीनाथ शास्त्री की ही उपलब्धि है। मुझ जैसे अनेक कार्यों में परिव्याप्त व्यक्ति के द्वारा इस कार्य का सम्पादन असम्भव नहीं तो कठिन मानना ही पड़ेगा। यह उनके आशीर्वाद और सत्प्रेरणा का कुसुम है। आचार्य पानोदा ब्रह्मचारी एवं श्रीहरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी का भी इसमें विशेष योगदान न मानना मेरे लिए कृतज्ञता का परिचायक नहीं होगा। मैं इन लोगों को सारस्वत प्रेरणास्रोत मानता हूँ। इस कार्य के सम्पादन में पं० श्री कृपासिन्धुशर्मा का योगदान एवं सत्परामर्श भुलाया नहीं जा सकता। अर्थानुसंधानपूर्वक ये प्रूफ-संशोधन एवं आवश्यक सूचनाएँ उपलब्ध कराते रहे हैं। इनका सहयोग भी इस कार्य में विशिष्ट प्रेरणादायक रहा है। सुश्री डॉ० चन्द्रकान्ता राय ने समय-समय पर प्रेस-कापी आदि के निर्माण करने में विशेष समय और सहयोग प्रदान किए हैं, इसलिए मैं इन्हें कृतकार्य होने के लिए भगवान् से प्रार्थना करता हूँ। श्रीमती कुसुम देवी ने इस कार्य के सम्पादन में मुझे सर्वथा गृह-कार्य-भार से मुक्त रखा, अतः इनका सहयोग अविस्मरणीय है।

रत्ना प्रेस के व्यवस्थापक श्री विनयशङ्कर पण्ड्या का सहयोग तो अतीत काल की गाथा है। इस प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री विपुल शङ्कर पण्ड्या का सत्प्रयास और योगदान किसी भी रूप में भुलाया नहीं जा सकता।

शीघ्रता के कारण इस ग्रन्थ के अनुवाद और प्रकाशन में कतिपय भ्रान्तियाँ उपलब्ध हो सकती हैं, किन्तु सुधी पाठकगण उसे मुझे ही समर्पण कर इसके ग्राह्यगुण से लाभान्वित होकर मुझे अनुगृहीत करें।

श्री आनन्दमयी माँ के दिव्य गुणों का स्मरण करते हुए उन्हीं की पूर्ण प्रेरणा स्वरूप इस पुराण को श्रद्धा सहित समर्पित करते हुए आनन्दातिरेक का अनुभव करता हूँ। जिन लेखकों के द्वारा मुझे इस ग्रन्थ के सम्पादन में सहयोग प्राप्त हुआ हो, मैं उनका आभार वहन करता हूँ। अन्त में श्रीमान् शास्त्री जी की आज्ञा के अनुसार इस कार्य को सम्पन्न करने का संबल प्राप्त कर सन्तोष का अनुभव कर रहा हूँ।

प्रो० डॉ० महाप्रभुलाल गोस्वामी

विषयानुक्रमणिका



पुराणपुरुष

श्रीमन्महर्षिवेदव्यासप्रणीतं

श्रीमार्कण्डेयपुराणम्

[तृतीयो भागः]

***

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

सावर्णिकमिदं सम्यक् प्रोक्तं मन्वन्तरं तव ।
तथैव देवीमाहात्म्यं महिषासुरघातनम् ॥१॥
उत्पत्तयश्च या देव्या मातृणाञ्च महाहवे ।
तथैव सम्भवो देव्याश्चामुण्डाया यथाभवः ॥२॥
शिवदूत्याश्च माहात्म्यं वधः शुम्भनिशुम्भयोः ।
रक्तबीजवधश्चैव सर्वमेतत्तवोदितम् ॥३॥
श्रूयतां मुनिशार्दूल ! सावर्णिकमथापरम् ।
दक्षपुत्रश्च सावर्णो भावी यो नवमो मनुः ॥४॥
कथयामि मनोस्तस्य ये देवा मुनयो नृपाः ।
पारामरीचिभर्गाश्च सुधर्माणस्तथा सुराः ॥५॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

मैंने इस सावर्णिक मन्वन्तर, देवीमहात्म्य और महिषासुर-वध का तुमसे भली-भाँति वर्णन किया ॥ १ ॥

देवी, मातृकागण और स्वयं देवी चण्डिका जिस प्रकार युद्ध में उत्पन्न हुई थी, इनका भी वर्णन मैंने तुमसे किया ॥ २ ॥

शिवदूती का माहात्म्य, शुम्भ, निशुम्भ और रक्तबीज का वध, इन सभी विषयों का वर्णन भी तुमसे स्पष्टरूप में किया ॥ ३ ॥

मुनिवर ! अब दूसरे सावर्णिक मनु का वृत्तान्त कहता हूँ, सुनें, ये आगामी नवम मनु दक्ष के पुत्र सावर्ण होंगे ॥ ४ ॥

उस मन्वन्तर के जो देवता, मुनि, राजाओं का आविर्भाव होगा उनको कहता हूँ, पारामरीचि, भर्ग और सुधर्मा ये उस मन्वन्तर के देवगण होंगे ॥ ५ ॥

एते त्रिधा भविष्यन्ति सर्वे द्वादशका गणाः ।
तेषामिन्द्रो भविष्यस्तु सहस्राक्षो महाबलः ॥६॥

साम्प्रतं कार्तिकेयो यो वह्निपुत्रः षडाननः ।
अद्भुतो नाम शक्रोऽसौ भावी तस्यान्तरे मनौ ॥७॥

मेधातिथिर्वसुः सत्यो ज्योतिष्मान् द्युतिमांस्तथा ।
सप्तर्षयोऽन्यः सबलस्तथाऽन्यो हव्यवाहनः ॥८॥

धृष्टकेतुर्बर्हकेतुः पञ्चहस्तो निरामयः ।
पृथुश्रवास्तथार्चिष्मान् भूद्युरिम्नो बृहद्भयः ॥९॥

एते नृपसुतास्तस्य दक्षपुत्रस्य वै नृपाः ।
मनोस्तु दशमस्यान्यच्छृणु मन्वन्तरं द्विज ! ॥१०॥

मन्वन्तरे च दशमे ब्रह्मपुत्रस्य धीमतः ।
सुखासीनाः निरुद्धाश्च त्रिप्रकाराः सुराः स्मृताः ॥११॥

शतसंख्या हि ते देवा भविष्या भाविनो मनोः ।
यत्प्राणिनां शतं भावि तद्देवानां तदा शतम् ॥१२॥

ये तीन प्रकार के द्वादशगणों में विभक्त होंगे, उनके महाबली, सहस्रलोचन वाले इन्द्र होंगे ॥ ६ ॥

सम्प्रति जो अग्निपुत्र षडानन कार्तिकेय हैं, वे ही उस भावी मन्वन्तर में अद्भुतनाम के इन्द्र होंगे ॥ ७ ॥

मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सबल, हव्यवाहन, ये सात ऋषि होंगे ॥ ८ ॥

धृष्टकेतु, वर्हकेतु, पञ्चहस्त, निरामय, पृथुश्रवा, अर्चिष्मान्, भूद्युरिम्न, बृहद्भय, ये सब दक्षपुत्र के पुत्र और राजा होंगे ॥ ९ ॥

हे द्विज ! अब दशम मनु के मन्वन्तर का वृत्तान्त सुने ॥ १० ॥

धीमान् ब्रह्मपुत्र के इस मन्वन्तर में सुख, आसीन और निरुद्ध नामक तीन प्रकार के देवताओं का आविर्भाव होगा ॥ ११ ॥

[इस पद्य में "त्रिप्रकाराः" पाठ है, दो देवताओं का नाम होने से "द्विप्रकाराः" यह पाठ भी अनुवादकों ने किया है। किन्तु, त्रिप्रकाराः यह पाठ है। अतः देवों का प्रकार भेद से तीन विभाजन है। अन्यथा बहुवचन की उपपत्ति नहीं होगी ।]

उस भावी मन्वन्तर में देवताओं की संख्या सौ होगी, देवताओं के सौ वर्षों की गणना प्राणियों की सौ की गणना के समान होगी ॥ १२ ॥

शान्तिरिन्द्रस्तथा भावी सर्वैरिन्द्रगुणैर्युतः ।
सप्तर्षींस्तान् निबोध त्वं ये भविष्यन्ति वै तदा ॥१३॥
आपोमूर्त्तिर्हविष्मांश्च सुकृतो सत्य एव च ।
नाभागोऽप्रतिमश्चैव वासिष्ठश्चैव सप्तमः ॥१४॥
सुक्षेत्रश्चोत्तमौजाश्च भूमिसेनश्च वीर्यवान् ।
शतानीकोऽथ वृषभो ह्यनमित्रो जयद्रथः ॥१५॥
भूरिद्युम्नः सुपर्वा च तस्यैते तनया मनोः ।
भविष्या धर्मपुत्रस्य सावर्णस्यान्तरं शृणु ॥१६॥
विहङ्गमाः कामगाश्च निर्माणरतयस्तथा ।
त्रिप्रकारा भविष्यन्ति एकैकस्त्रिशतो गुणः ॥१७॥
मासर्तुदिवसा ये तु निर्माणप[1]तयस्तु ते ।
विहङ्गमा रात्रयोऽथ मौहूर्त्ताः कामगा गणाः ॥१८॥
इन्द्रो वृषाख्यो भविता तेषां प्रख्यातविक्रमः ।
हविष्मांश्च वरिष्ठश्च[2] ऋष्टि[3]रन्यस्तथारुणिः ॥१९॥
निश्चरश्चानघश्चैव विष्टिश्चान्यो महामुनिः ।
सप्तर्षयोऽन्तरे तस्मिन्नग्निदेवश्च सप्तमः ॥२०॥

इन्द्र के सभी गुणों से समन्वित शान्ति उस समय के देवताओं के इन्द्र होंगे। उस समय जो सप्तर्षि होंगे, उनका नाम तुम सुनो ॥ १३ ॥

आपोमूर्ति, हविष्मान्, सुकृत, सत्य, नाभाग, अप्रतिष्ठ और वसिष्ठ ये सात ऋषि होंगे ॥ १४ ॥

सुक्षेत्र, उत्तमौजा, भूरिसेन, वीर्यवान्, शतानीक, वृषभ, अनमित्र, जयद्रथ, भूरिद्युम्न और सुपर्वा, ये उस मनु के पुत्र होंगे। अब धर्मपुत्र सावर्ण जो ग्यारहवाँ मन्वन्तर होगा, उसको सुनो। विहङ्गम, कामग, और निर्माणरति ये तीन प्रकार के देवता होंगे और प्रत्येक तीस-तीस गणों में विभक्त होंगे ॥ १५-१७ ॥

मास, ऋतु, और दिन ये निर्माणपति हैं या निर्माणरति हैं, रात्रियाँ विहङ्गम और सभी मुहूर्त्तजन्य कामगगण हैं। [श्लोक संख्या सतरह में "निर्माणरतयः" पाठ है—और अठारह में "निर्माणपतयः" है, अतः "निर्माणरतयः" ही दोनों स्थानों में होना चाहिए] ॥ १८ ॥

उन देवताओं में प्रख्यात पराक्रमशील वृष नाम के इन्द्र होंगे, हविष्मान्, वरिष्ठ, ऋषि नामक आरुणि, निश्चर, अनघ, विष्टि और अग्निदेव इस मन्वन्तर में ये सात ऋषि होंगे।

१. रतयस्तथा। २. वसिष्ठश्च। ३. ऋषि।

सर्वत्रगः सुशर्मा च देवानीकः पुरुद्वहः ।
हेमधन्वा दृढायुश्च भाविनस्तत्सुता नृपाः ।।२१।
द्वादशे रुद्रपुत्रस्य प्राप्ते मन्वन्तरे मनोः ।
सावर्णाख्यस्य ये देवा मुनयश्च शृणुष्व तान् ।।२२।
सुधर्माणः सुमनसो हरिता रोहितास्तथा ।
सुवर्णाश्च सुरास्तत्र पञ्चैते दशका गुणाः ।।२३।
तेषामिन्द्रस्तु विज्ञेय ऋतधामा महाबलः ।
सर्वैरिन्द्रगुणैर्युक्तः सप्तर्षीनपि मे शृणु ।।२४।
द्युतिस्तपस्वी सुतपास्तपोमूर्तिस्तपोनिधिः ।
तपोरतिस्तथैवान्यः सप्तमस्तु तपोधृतिः ।।२५।
देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठो विदूरथः ।
मित्रवान् मित्रविन्दश्च भाविनस्तत्सुता नृपाः ।।२६।
त्रयोदशस्य पर्याये रौच्याख्यस्य मनोः सुतान् ।
सप्तर्षींश्चैव नृपाँश्चैव गदतो मे निशामय ।।२७।

[इस श्लोक की व्याख्या में ऋष्टि के स्थान पर ऋषि पाठ कर सप्तर्षि किया गया है, किन्तु कतिपय आचार्यों ने अरुणपुत्र ऋष्टि मानकर समाधान किया है। वरिष्ठ के स्थान पर वसिष्ठ पाठ भी प्रसिद्धि मूलक मिलता है] ।। १९-२० ।।

सर्वत्रग, सुशर्मा, देवानीक, पुरुद्वह, हेमधन्वा और दृढ़ायु ये राजगण उस मनु के पुत्र होंगे ।। २१ ।।

रुद्रपुत्र मनु सावर्णनामक मनु के द्वादश मन्वन्तर आने पर जो देवता और मुनि होंगे, उनको सुनो ।। २२ ।।

सुधर्मा, सुमनाः, हरित, रोहित और सुवर्ण ये पाँच उस मन्वन्तर के देवता होंगे, ये प्रत्येक दश-दश गण में विभक्त होंगे ।। २३ ।।

इन्द्र के सभी गुणों से युक्त महाबली ऋतधामा इनका इन्द्र होगा, इस मन्वन्तर के सात ऋषियों का नाम भी मुझसे सुनें ।। २४ ।।

द्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्ति, तपोनिधि, तपोरति एवं तपोधृति ये सात सप्तर्षि हैं ।। २५ ।।

देववान्, उपदेव, देवश्रेष्ठ, विदूरथ, मित्रवान् और मित्रविन्द ये उस मनु के भावी वंशज राजा होंगे ।। २६ ।।

रौच्यनामक त्रयोदश मनु के पुत्रों, सप्तर्षियों और राजाओं को भी वर्णन क्रम में मुझसे सुनो ।। २७ ।।

सुधर्माणः सुरास्तत्र सुकर्माणस्तथापरे ।
सुशर्माणः सुरा ह्येते समस्ता मुनिसत्तम ! ॥२८॥
महाबलो महावीर्य्यस्तेषामिन्द्रो दिवस्पतिः ।
भविष्यानथ सप्तर्षीन् गदतो मे निशामय ॥२९॥
धृतिमानव्ययश्चैव तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः ।
निर्मोहः सुतपाश्चान्यो निष्प्रकम्पश्च सप्तमः ॥३०॥
चित्रसेनो विचित्रश्च नयतिर्निर्भयो दृढः ।
सुनेत्रः क्षत्रबुद्धिश्च सुव्रतश्चैव तत्सुतः ॥३१॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे भाविरौच्यमन्वन्तरे भविष्यदिन्द्रादीनां वर्णनं नाम चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! सुधर्मा, सुकर्मा और सुशर्मा ये सभी उस मन्वन्तर के देवता होंगे ॥ २८ ॥

महाबली और पराक्रमी दिवस्पति उनका इन्द्र होगा । उस मन्वन्तर के होनेवाले सप्तर्षियों को कहता हूँ, उनको सुनो ॥ २९ ॥

धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प ये सात उस मन्वन्तर में सप्तर्षि होंगे ॥ ३० ॥

चित्रसेन, विचित्र, नयति, निर्भय, दृढ, सुनेत्र, क्षत्रबुद्धि और सुव्रत ये उस मनु के पुत्र और राजा हैं ॥ ३१ ॥



पर्यालोचन

मार्कण्डेयपुराण में वैवस्वत मनु ने देवी की आराधना-युक्त तपस्या के फलस्वरूप मन्वन्तर के अधिपति होने का वरदान प्राप्त किया था। यह सप्तम मनु थे। "सावर्णिको मनुर्नाम भवान् भुवि भविष्यति"।

अष्टम मनु सूर्यपुत्र सावर्णि हैं। देवी की आराधना से यह मनु हुए थे। यही स्वारोचिष् मन्वन्तर में चैत्रवंशोत्पन्न सुरथ नाम के राजा हुए। नवम से चतुर्दश मनु की संज्ञा इस प्रकार है। वैवस्वत मनु के करुष, पृषध्र, नाभाग, दिष्ट, शर्याति एवं त्रिशङ्कु नामक पुत्र थे। ये कालिन्दी के पवित्र तट पर देवी भगवती की मृण्मयीमूर्ति की प्रतिष्ठापूर्वक आराधना करते थे। यह आराधना चौदह वर्ष पर्यन्त चलती थी। देवी प्रसन्न होकर अभिलषित वर प्रदान करती थी।

राजपुत्र पृथिवी का साम्राज्य प्राप्त कर विविध विषयों का उपभोग कर अन्य जन्म में मन्वन्तराधिपति होकर राज्य करते थे। देवी की कृपा से प्रथम करुष नरपति दक्ष सावर्णि नाम के **नवम** मनु हुए। द्वितीय पृषध्रराज मेरुसावर्णि नाम के **दशम** मनु हुए। तृतीय नाभाग राजा सूर्य सावर्णि नाम से **एकादश** मनु हुए, चतुर्थ दिष्ट नरपति चन्द्रसावर्णि नाम से **द्वादश** मनु हुए। पञ्चम शर्याति रुद्रसावर्णि नाम से **त्रयोदश** मनु हुए। षष्ठ त्रिशङ्कु विष्णुसावर्णि नाम से **चतुर्दश** मनु हुए। भ्रामरी देवी की कृपा से चतुर्दश मनु त्रिभुवन महाप्रतापी सकल लोक पूज्य राजा थे। (देवी भा० १०।१-११)

विष्णुपुराण के अनुसार प्रथम स्वायम्भुव मनु, द्वितीय स्वारोचिष, तृतीय औत्तमि, चतुर्थ तामस, पञ्चम रैवत, षष्ठ चाक्षुष ये छः मनुओं के अनन्तर सूर्यतनय वैवस्वत मनु नाम के सप्तम मनु हुए। द्वितीय स्वारोचिष मन्वन्तर में पारावतगण और तुषितगण देवता थे, विपश्चित् इन्द्र था, ऊर्ज्ज, स्तम्भ, प्राण, वार, पृषभ, निरय, परीवान् सप्तर्षि थे। चैत्र और किम्पुरुष आदि स्वारोचिष के पुत्र थे। तीसरा मन्वन्तर उत्तम नामक मनु था इस मन्वन्तर से सुशान्ति इन्द्र थे। वसिष्ठ के सात पुत्र सप्तर्षि थे। अब्ज, परशु आदि औत्तमि के पुत्र थे।

चतुर्थ मनु तामस थे, सुरूपगण, हरिगण, सत्यगण और सुधीगण इस मन्वन्तर के देवता थे। ये सभी प्रत्येक सत्ताईस संख्या में थे। शतक्रतु राजा शिवि इनके इन्द्र थे। ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वनक और पीवर इनके सप्तर्षि थे। नर, ख्याति, केतुरूप, हय, जानुजङ्घ आदि तामस मनु के पुत्र थे।

पञ्चम मनु रैवत थे, इस मन्वन्तर में अमिताभ, भूतरय, वैकुण्ठ और सुमेधसगण देवता थे और विभु इन्द्र था। हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊद्र्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और महामुनि सप्तर्षि थे। बलबन्धु, सम्भाव्य आदि रैवत मनु के पुत्र थे।

स्वारोचिष्, औत्तमि, तामस और रैवत ये चारो मनु प्रियव्रत के वंश में उत्पन्न हुए थे। प्रियव्रत के द्वारा विष्णु की आराधना से ही ये मन्वन्तर के अधिपति थे।

चाक्षुष षष्ठ मनु थे। इस मन्वन्तर में आद्य, प्रसूत, भव्य, पृथुक् और लेख, गणदेवता थे। मनोजव इनके इन्द्र थे। सुमेधा, विराज, हविष्मान्, उत्तम, मधु, अतिनामा और सहिष्णु ये सप्तर्षि थे।

उरु, पुरु, शतद्युम्न, प्रमुख, सुमहाबल आदि चाक्षुष मनु के पुत्र थे।

सूर्यपुत्र श्राद्धदेव सप्तम मनु हैं। इस वैवस्वत मन्वन्तर में आदित्य, वसु और रुद्रगण देवता थे, पुरन्दर इनके इन्द्र थे। वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गोतम, विश्वामित्र और भरद्वाज इनके सप्तर्षि थे। इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, अरिष्ट, करुष और पृषध्र ये नव इनके पुत्र थे।

प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर में आकूति के गर्भ से भगवान् विष्णु ने अंशरूप से मानसदेव यज्ञ-पुरुष के रूप में जन्म-ग्रहण किया था। स्वारोचिष मनु के समय में भगवान् विष्णु ने अजित मानस देव तुषित गण के साथ तुषिता के गर्भ में जन्म-ग्रहण किया था। बाद में उत्तम मनु के समय में तुषित सुरोत्तम सत्यगण के साथ सत्या के गर्भ से जन्म ग्रहण कर सत्य के नाम से विख्यात हुए। तामस मनु के समय यह सत्य हरिगण के साथ हर्या के गर्भ से उत्पन्न हुए, उनका नाम हरि था। रैवत मनु के समय हरि ने राजसगण के साथ सम्भूति के गर्भ में जन्म ग्रहण किया था और मानस नाम से विख्यात हुए थे। चाक्षुष मनु के समय भगवान् विष्णु वैकुण्ठ नामक देवगण के साथ विकुण्ठा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वैवस्वत मनु के समय भगवान् विष्णु ने कश्यप से अदिति के गर्भ में जन्म ग्रहण किया था और वामन के नाम से विख्यात हुए।

सावर्णि आठवें मनु थे। विश्वकर्मा की संज्ञा नाम की कन्या थी, सूर्य का संज्ञा से विवाह हुआ। संज्ञा के गर्भ से मनु, यम और यमी ये तीन सन्तान हुई। तेज सहन न करने के कारण संज्ञा ने छाया को इसे सेवा में नियुक्त किया और वह तपस्या में लीन हो गई। दिवाकर ने छाया से शनैश्चर, सावर्णिमनु और तपती को उत्पन्न किया। छाया का पुत्र अपने अग्रज के समान वर्ण का होने से सावर्णि नाम से विख्यात हुआ। इस मन्वन्तर में सुतप, अमिताभ और मुख्य गणदेवता थे। विरोचन बलि इन्द्र थे। प्रत्येक देवगण इक्कीस थे। दीप्तिमान् गालव, राम, कृप, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, व्यास और ऋष्यश्रृङ्ग सप्तर्षि थे।

दक्ष सावर्णि नवम मनु थे। इस मनु के समय पार, मरीचि, गर्भ और सुधर्म ये तीन देवगण थे। ये प्रत्येक देव द्वादश गण थे। अद्भुत इनका इन्द्र था। सवन, द्युतिमान्, भव्य, वसु, मेधा, तिथि ज्योतिष्मान् और सत्य ये सप्तर्षि थे। धृतकेतु, दीप्तिकेतु, पञ्चहस्त, निरामय और पृथुश्रवा आदि पुत्र थे।

ब्रह्मसावर्णि—दशम मनु हुए। इन मनु के समय में सुधामा और विशुद्ध गण देवता थे। इन दो गणों में दश सौ देवता थे, शान्ति इनका इन्द्र था, हविष्मान्, सुकृति,

सत्य, तपोमूर्ति, नाभाग, अप्रतिमौजा और सत्यकेतु ये सप्तर्षि थे। सुक्षेत्र उत्तमौजा और हरिसेन आदि दश पुत्र थे।

धर्मसावर्णि—एकादश मनु थे, इनके समय में विहङ्गम, कामगमगण और निर्वाणरतिगण देवता थे। इनमें प्रत्येक की तीस संख्या में देवता थे, वृष इनके इन्द्र थे। निःस्वर, अग्नितेजा, वपुष्मान्, धृति, आरुणि, हविष्मान् और अनघ ये सप्तर्षि और सर्वत्रग, सर्वधर्मा, देवानीक आदि इस मनु के पुत्र थे।

रुद्र-पुत्र सावर्णि—द्वादश मनु थे। इस मनु के समय हरितगण, लोहितगण, सुमनोगण, सुकर्मगण और सुरापगण देवता थे। इनके प्रत्येक गण दश देवता हैं, ऋतधामा इनके इन्द्र थे, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्ति, तपोरति, तपोधृति, तपोद्युति और तपोधन सप्तर्षि थे, देववान्, उपदेव और देवश्रेष्ठ आदि मनु के पुत्र थे।

रौच्य—त्रयोदश मनु हुए—इस मन्वन्तर में सुत्रामगण, सुकर्मगण और सुधर्मगण देवता, प्रत्येक गग तैंतीस देवता थे, दिवस्पति इनके इन्द्र हैं, निर्मोह, तत्त्वदर्शी, निष्प्रकम्प, निरुत्सुक, धृतिमान्, अव्यय और सुतपा ये सप्तर्षि थे। चित्रसेन और विचित्र आदि उक्त मनु के पुत्र थे।

भौम—चतुर्दश मनु थे, इस मन्वन्तर में चाक्षुषगण, पवित्रगण, कनिष्ठगण, भ्राज्किगण और वचोवृद्धगण देवता थे, शुचि इनका इन्द्र था। अग्निबाहु, शुचि, शुक्र, मागध, अग्निध्र, युक्त और अजित आदि सप्तर्षि थे। उरु, गभीर, व्रघ्न आदि मनु के पुत्र थे।

प्रत्येक चतुर्थ युग के अवसान में (सृष्टि अवसान के फलस्वरूप) वेद का तिरोधान हो जाता है। सप्तर्षिगण पृथिवी पर अवतीर्ण होकर वेद का प्रकाश करते हैं। प्रत्येक सत्य-युग में मनु धर्मशास्त्र के प्रणेता होते हैं। मनु के अधिकार के समय देवगण यज्ञभुक् होता है। मनु-पुत्र एवं उनके वंशधर मन्वन्तर कालपर्यन्त पृथिवी का पालन करते हैं। मनु, सप्तर्षि, देवराज इन्द्र, देवगण एवं मनुपुत्र राजगण मन्वन्तर में उत्पन्न होता है। इस प्रकार चतुर्दश मनु के व्यतीत होने पर एक कल्प होता है। मनुगण, मनुपुत्र, भूपालगण, इन्द्रगण, देव और सप्तर्षिगण ये सभी विष्णु की भुवन स्थितिकारक सात्त्विक अंश है। (विष्णु पु० ३।१।२)

सभी पुराणों के अनुसार भगवान् मनु ही सृष्टि के पालक हैं। इस समय वैवस्वत मनु का अधिकार चलता है, अतः इससे पूर्व छः मनुओं का समय व्यतीत हो चुका है।

चतुर्दश मनु का अधिकार शेष होने पर देवताओं का एक वर्ष पूर्ण होता है। (विष्णुपुराण ३।२)।

भारतीय परम्परा के अनुसार चतुर्दश मनु सर्वशुद्ध पुरुष है।

प्रत्येक मन्वन्तर द्वारा जिसकी कालावधि प्रायः—४३२०००० तैंतालिस लाख करोड़ हजार वर्षों में है, पृथिवी शासित रहती है। इनमें स्वायम्भुव आदि चतुर्दश

मनु के नामों का उल्लेख किया गया है। इस समय सप्तम वैवस्वत मनु का अधिकार है। शतपथ ब्राह्मण में महाप्रलय का विस्तृत विवरण उपलब्ध है।

हिब्रू के अनुसार नोया (Noah) नाम से प्रसिद्धि थी। वाइविल के अनुसार मानव की सृष्टि की रक्षा के लिए प्रजापति (पेट्रियार्क) की नियुक्ति की जाती है। नोया भी उनमें एक थे। जो लामेक के पुत्र थे। इनका जीवन काल ९५० वर्ष का था। नोया को श्याम, होम और जाफेथ नाम के तीन पुत्र हुए थे। प्रजा की वृद्धि के कारण पृथिवी भाराक्रान्त हो गई थी। प्रेमोन्माद, कामुकता, परस्पर ईर्ष्या और ईश्वर के प्रति अनुराग शून्यता के कारण मानवगण आसुरभाव से व्यवहार रत थे। पाप-प्रवाह के प्रशमन की दृष्टि से जगद्विनाश के लिए ईश्वर-संकल्प ही प्रलय है। मत्स्यावतार के समान एकमात्र कृपापात्र और भक्त नोया को जीवध्वंस की सूचना देकर नौका (Ark) के निर्माण के द्वारा आत्मरक्षा का उपदेश दिया था। नोया ने ईश्वर के आदेश से जगत् पदार्थों के बीज की रक्षा की। संसार का प्लावन हुआ, इनकी नौका धीरे-धीरे ईश्वर की कृपा से आराराट् पर्वत-शृङ्ग पर आकर लग गई। यहाँ अवतीर्ण हो ईश्वर की तृप्ति के लिए यज्ञारम्भ किया। जगदीश्वर ने पूजा से तृप्त हो अभय प्रदान किया, जल-प्लावन के बाद ३५० वर्ष पर्यन्त जीवित रहकर प्रजा की वृद्धि की (Genesis V-IX)।

इन मनुओं या नोया का भिन्न-भिन्न धार्मिक परम्परा विभिन्न नामों से प्रसिद्धि मिलती है। वालवेक वासियों के अनुसार (Kerak) केराक ग्राम के दक्षिण भाग में वेकायासिलो सिविया के समबल क्षेत्र में आज भी समाधि मन्दिर विद्यमान है। समाधि स्थल पर १० फीट लम्बा, ३ फीट चौड़ा एवं २ फीट ऊँचा एक प्रस्तर-स्तम्भ है। यह समाधि-स्थान साठ फीट ऊँचा है। हार्मिस् निका ग्रीक एवं रोम की दृष्टि में जल देवता (Mercury) के रूप में पूजित है। वाइविल ग्रन्थ का नोया मुसलमान की दृष्टि में 'नू' (Nuh) के नाम से परिचित है। वाविलन या काल्दिया के अधिवासियों के वेरोसवासी जिसुथ्रस् (Xisuthros) या शिशुथ्रस (Sisuthros) के साथ खृष्ट-धर्म शास्त्र के नोया और मनु का बहुत कुछ सादृश्य स्थापित है। यही निडियान का मौस् (Mauss) फ्रिजियान का नोइ (Noe) एवं ग्रीक में देउकलीयन् (Deucalion) नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार काल्दीयान (Chalaean) उपाख्यान पूर्वोक्त विवरणों से सामञ्जस्य रखता है।

मन्वन्तर परम्परा में आंशिक परिवर्तन के साथ सभी धार्मिक परम्परा एक-रूपता को धारण करती है। इस विषय का विवरण तिरपन से छिहत्तर अध्यायों में उपलब्ध है, अतः, पुनरुक्ति के भय से विशेष विश्लेषण अपेक्षित नहीं है।

श्रीविष्णुपुराण में पहले सात मन्वन्तरों के मनु, इन्द्र, देवता सप्तर्षि और मनु पुत्रों का वर्णन इस प्रकार है—

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे गुरुदेव ! आपने पृथिवी और समुद्र आदि की स्थिति तथा सूर्य आदि ग्रहगण के संस्थान का मुझसे भली प्रकार अति विस्तारपूर्वक वर्णन

किया है ॥ १ ॥ आपने देवता आदि और ऋषिगणों की सृष्टि तथा चातुर्वर्ण्य एवं तिर्यक्-योनिगत जीवों की उत्पत्ति का भी वर्णन किया ॥ २ ॥ ध्रुव और प्रह्लाद के चरित्रों को भी आपने विस्तारपूर्वक सुना दिया। अतः हे गुरो ! अब मैं आपके मुखारविन्द से सम्पूर्ण मन्वन्तर तथा इन्द्र और देवताओं के सहित मन्वन्तरों के अधिपति समस्त मनुओं का वर्णन सुनना चाहता हूँ [आप वर्णन कीजिये] ॥ ३-४ ॥

श्रीमैत्रेय उवाच

कथिता गुरुणा सम्यग्भूसमुद्रादिसंस्थितिः ।
सूर्यादीनां च संस्थानं ज्योतिषां चातिविस्तरात् ॥ १ ॥
देवादीनां तथा सृष्टिर्ऋषीणां चापि वर्णिता ।
चातुर्वर्ण्यस्य चोत्पत्तिस्तिर्यग्योनिगतस्य च ॥ २ ॥
ध्रुवप्रह्लादचरितं विस्तराच्च त्वयोदितम् ।
मन्वन्तराण्यशेषाणि श्रोतुमिच्छाम्यनुक्रमात् ॥ ३ ॥
मन्वन्तराधिपांश्चैव शक्रदेवपुरोगमान् ।
भवता कथितानेताञ्छ्रोतुमिच्छाम्यहं गुरो ॥ ४ ॥

श्रीपराशरजी ने कहा—भूतकालमें जितने मन्वन्तर हुए हैं तथा आगे भी जो-जो होंगे, उन सबका मैं तुमसे क्रमशः वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥ प्रथम मनु स्वायम्भुव थे। उनके अनन्तर क्रमशः स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष हुए ॥ ६ ॥ ये छः मनु पूर्वकाल में हो चुके हैं। इस समय सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु हैं, जिनका यह सातवाँ मन्वन्तर वर्तमान है ॥ ७ ।'

श्रीपराशर उवाच

अतीतानागतानीह यानि मन्वन्तराणि वै ।
तान्यहं भवतः सम्यक्कथयामि यथाक्रमम् ॥ ५ ॥
स्वायम्भुवो मनुः पूर्वं परः स्वारोचिषस्तथा ।
उत्तमस्तामसश्चैव रैवतश्चाक्षुषस्तथा ॥ ६ ॥
षडेते मनवोऽतीतास्साम्प्रतं तु रवेस्सुतः ।
वैवस्वतोऽयं यस्यैतत्सप्तमं वर्ततेऽन्तरम् ॥ ७ ॥

कल्पके आदि में जिस स्वायम्भुव-मन्वन्तर के विषय में मैंने कहा है उसके देवता और सप्तर्षियों का तो मैं पहले ही यथावत् वर्णन कर चुका हूँ ॥ ८ ॥ अब आगे मैं स्वारोचिषमनु के मन्वन्तराधिकारी देवता, ऋषि और मनु-पुत्रों का स्पष्टतया वर्णन करूँगा ॥ ९ ॥ हे मैत्रेय ! स्वारोचिषमन्वन्तर में पारावत और तुषितगण देवता थे, महाबली विपश्चित् देवराज इन्द्र थे ॥ १० ॥ ऊर्ज्ज, स्तम्भ, प्राण, वात, पृषभ, निरय और परीवान्—ये उस समय सप्तर्षि थे ॥ ११ ॥ तथा चैत्र और किम्पुरुष आदि स्वारोचिष मनु के पुत्र थे। इस प्रकार तुमसे द्वितीय मन्वन्तर का वर्णन कर दिया। अब उत्तम-मन्वन्तर का विवरण सुनो ॥ १२ ॥

स्वायम्भुवं तु कथितं कल्पादावन्तरं मया।
देवास्सप्तर्षयश्चैव यथावत्कथिता मया ॥ ८ ॥
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मनोस्स्वारोचिषस्य तु।
मन्वन्तराधिपान्सम्यग्देवर्षिस्तत्सुतांस्तथा ॥ ९ ॥
पारावतास्सतुषिता देवास्स्वारोचिषेऽन्तरे।
विपश्चित्तत्र देवेन्द्रो मैत्रेयासीन्महाबलः ॥ १० ॥
ऊर्ज्जः स्तम्भस्तथा प्राणो वातोऽथ पृषभस्तथा।
निरयश्च परीवांश्च तत्र सप्तर्षयोऽभवन् ॥ ११ ॥
चैत्रकिम्पुरुषाद्याश्च सुतास्स्वारोचिषस्य तु।
द्वितीयमेतद्व्याख्यातमन्तरं शृणु चोत्तमम् ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मन्! तीसरे मन्वन्तर में उत्तम नामक मनु और सुशान्ति नामक देवाधिपति इन्द्र थे ॥ १३ ॥ उस समय सुधाम, सत्य, जप, प्रतर्दन और वशवर्ती—ये पाँच बारह-बारह देवताओं के गण थे ॥ १४ ॥ तथा वसिष्ठजी के सात पुत्र सप्तर्षिगण और अज, परशु एवं दीप्त आदि उत्तम मनु के पुत्र थे ॥ १५ ॥

तृतीयेऽप्यन्तरे ब्रह्मन्नुत्तमो नाम यो मनुः।
सुशान्तिर्नाम देवेन्द्रो मैत्रेयासीत्सुरेश्वरः ॥ १३ ॥
सुधामानस्तथा सत्या जपाश्चाथ प्रतर्दनः।
वशवर्तिनश्च पञ्चैते गणा द्वादशकास्स्मृताः ॥ १४ ॥
वसिष्ठतनया ह्येते सप्त सप्तर्षयोऽभवन्।
अजः परशुदीप्ताद्यास्तथोत्तममनोस्सुताः ॥ १५ ॥

तामस-मन्वन्तर में सुपार, हरि, सत्य और सुधि—ये चार देवताओं के वर्ग थे और इनमें से प्रत्येक वर्ग में सत्ताईस-सत्ताईस देवगण थे ॥ १६ ॥ सौ अश्वमेध यज्ञवाला राजा शिबि इन्द्र था तथा उस समय जो सप्तर्षिगण थे उनके नाम मुझसे सुनो—॥१७॥ ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वनक और पीवर—ये उस मन्वन्तर के सप्तर्षि थे ॥ १८ ॥ तथा नर, ख्याति, केतुरूप और जानुजंघ आदि तामस मनु के महाबली पुत्र ही उस समय राज्याधिकारी थे ॥ १९ ॥

तामसस्यान्तरे देवास्सुपारा हरयस्तथा।
सत्याश्च सुधियश्चैव सप्तविंशतिका गणाः ॥ १६ ॥
शिबिरिन्द्रस्तथा चासीच्छतयज्ञोपलक्षणः।
सप्तर्षयश्च ये तेषां तेषां नामानि मे शृणु ॥ १७ ॥
ज्योतिर्धामा पृथुः काव्यश्चैत्रोऽग्निर्वनकस्तथा।
पीवरश्चर्षयो ह्येते सप्त तत्रापि चान्तरे ॥ १८ ॥
नरः ख्यातिः केतुरूपो जानुजङ्घादयस्तथा।
पुत्रास्तु तामसस्यासन्राजानस्सुमहाबलाः ॥ १९ ॥

हे मैत्रेय ! पाँचवें मन्वन्तर में रैवत नामक मनु और विभु नामक इन्द्र हुए तथा उस समय जो देवगण हुए उनके नाम सुनो—॥ २० ॥ इस मन्वन्तर में चौदह-चौदह देवताओं के अमिताभ, भूतरय, वैकुण्ठ और सुमेधा नामक गण थे ॥ २१ ॥ हे विप्र ! इस रैवत-मन्वन्तर में हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और महामुनि—ये सात सप्तर्षिगण थे ॥ २२ ॥ हे मुनिसत्तम ! उस समय रैवत मनु के महावीर्यशाली पुत्र बलबन्धु, सम्भाव्य और सत्यक आदि राजा थे ॥ २३ ॥

पञ्चमे वापि मैत्रेय रैवतो नाम नामतः ।
मनुर्विभुश्च तत्रेन्द्रो देवांश्चात्रान्तरे शृणु ॥ २० ॥

अमिताभा भूतरया वैकुण्ठास्ससमेधसः ।
एते देवगणास्तत्र चतुर्दश चतुर्दश ॥ २१ ॥

हिरण्यरोमा वेदश्रीरूर्ध्वबाहुस्तथापरः ।
वेदबाहुस्सुधामा च पर्जन्यश्च महामुनिः ।
एते सप्तर्षयो विप्र तत्रासन्रैवतेऽन्तरे ॥ २२ ॥

बलबन्धुश्च सम्भाव्यस्सत्यकाद्याश्च तत्सुताः ।
नरेन्द्राश्च महावीर्या बभूवुर्मुनिसत्तम ॥ २३ ॥

हे मैत्रेय ! स्वारोचिष, उत्तम, तामस और रैवत—ये चार मनु, राजा प्रियव्रत के वंशधर कहे जाते हैं ॥२४॥ राजर्षि प्रियव्रतने तपस्या द्वारा भगवान् विष्णु की आराधना करके अपने वंश में उत्पन्न हुए इन चार मन्वन्तराधिपोंको प्राप्त किया था ॥२५॥

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
प्रियव्रतान्वया ह्येते चत्वारो मनवस्स्मृताः ॥२४॥

विष्णुमाराध्य तपसा स राजर्षिः प्रियव्रतः ।
मन्वन्तराधिपानेताँल्लब्धवानात्मवंशजान् ॥२५॥

छठे मन्वन्तर में चाक्षुष नामक मनु और मनोजव नामक इन्द्र थे । उस समय जो देवगण थे उनके नाम सुनो—॥२६॥ उस समय आप्य, प्रसूत, भव्य, पृथुक और लेख—ये पाँच प्रकार के महानुभाव देवगण वर्तमान थे और इनमें से प्रत्येक गण में आठ-आठ देवता थे ॥२७॥ उस मन्वन्तर में सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उत्तम, मधु, अतिनामा और सहिष्णु—ये सात सप्तर्षि थे ॥२८॥ तथा चाक्षुषके अति बलवान् पुत्र ऊरु, पूरु और शतद्युम्न आदि राज्याधिकारी थे ॥२९॥

षष्ठे मन्वन्तरे चासीच्चाक्षुषाख्यस्तथा मनुः ।
मनोजवस्तथैवेन्द्रो देवानपि निबोध मे ॥२६॥

आप्याः प्रसूता भव्याश्च पृथुकाश्च दिवौकसः ।
महानुभावा लेखाश्च पञ्चैते ह्यष्टका गणाः ॥२७॥

सुमेधा विरजाश्चैव हविष्मानुत्तमो मधुः ।
अतिनामा सहिष्णुश्च सप्तासन्निति चर्षयः ॥२८॥

ऊरुः पूरुश्शतद्युम्नप्रमुखास्सुमहाबलाः ।
चाक्षुषस्य मनोः पुत्राः पृथिवीपतयोऽभवन् ॥२९॥

हे विप्र ! इस समय इस सातवें मन्वन्तर में सूर्य के पुत्र महातेजस्वी और बुद्धिमान् श्राद्ध-देवजी मनु हैं ॥३०॥ हे महामुने ! इस मन्वन्तर में आदित्य, वसु और रुद्र आदि देवगण हैं तथा पुरन्दर नामक इन्द्र है ॥३१॥ इस समय वसिष्ठ, काश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र और भरद्वाज—ये सात सप्तर्षि हैं ॥३२॥ तथा वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, अरिष्ट, करूष और पृषध्र—ये अत्यन्त लोक प्रसिद्ध और धर्मात्मा नौ पुत्र हैं ॥ ३३-३४॥

विवस्वतस्सुतो विप्र श्राद्धदेवो महाद्युतिः ।
मनुस्संवर्तते धीमान् साम्प्रतं सप्तमेऽन्तरे ॥३०॥

आदित्यवसुरुद्राद्या देवाश्चात्र महामुने ।
पुरन्दरस्तथैवात्र मैत्रेय त्रिदशेश्वरः ॥३१॥

वसिष्ठः काश्यपोऽथात्रिर्जमदग्निस्सगौतमः ।
विश्वामित्रभरद्वाजौ सप्त सप्तर्षयोऽभवन् ॥३२॥

इक्ष्वाकुश्च नृगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च ।
नरिष्यन्तश्च विख्यातो नाभागोऽरिष्ट एव च ॥३३॥

करूषश्च पृषध्रश्च सुमहाँल्लोकविश्रुतः ।
मनोर्वैवस्वतस्यैते नव पुत्राः सुधार्मिकाः ॥३४॥

समस्त मन्वन्तरों में देवरूप से स्थित भगवान् विष्णु की अनुपम और सत्त्व-प्रधाना शक्ति ही संसार की स्थिति में उसकी अधिष्ठात्री होती है ॥३५॥ सबसे पहले स्वायम्भुव-मन्वन्तर में मानसदेव यज्ञपुरुष उस विष्णुशक्ति के अंश से ही आकूति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे ॥३६॥ फिर स्वारोचिष-मन्वन्तर के उपस्थित होने पर वे मानसदेव श्रीअजित ही तुषित नामक देवगणों के साथ तुषिता से उत्पन्न हुए ॥३७॥ फिर उत्तम-मन्वन्तर में वे तुषितदेव ही देवश्रेष्ठ सत्यगण के सहित सत्यरूपसे सत्या के उदर से प्रकट हुए ॥३८॥ तामस मन्वन्तर के प्राप्त होने पर वे हरि-नाम देवगण के सहित हरिरूप से हर्या के गर्भ से उत्पन्न हुए ॥३९॥ तत्पश्चात् वे देवश्रेष्ठ हरि, रैवत मन्वन्तर में तत्कालीन देवगण के सहित सम्भूति के उदर से प्रकट होकर मानस नाम से विख्यात हुए ॥४०॥ तथा चाक्षुष-मन्वन्तर में वे पुरुषोत्तम भगवान् वैकुण्ठ नामक देवगणों के सहित विकुण्ठा से उत्पन्न हो कर वैकुण्ठ कहलाये ॥४१॥ और हे द्विज ! इस वैवस्वत-मन्वन्तर के प्राप्त होने पर भगवान् विष्णु कश्यपजी द्वारा अदिति के गर्भ से वामनरूप होकर प्रकट हुए ॥४२॥ उन महात्मा वामनजी ने अपनी तीन डगों से सम्पूर्ण लोकों को जीतकर यह निष्कण्टक त्रिलोकी इन्द्र को दे दी थी ॥ ४३ ॥

विष्णुशक्तिरनौपम्या सत्त्वोद्रिक्ता स्थितौ स्थिता ।
मन्वन्तरेष्वशेषेषु देवत्वेनाधितिष्ठति ॥३५॥

अंशेन तस्या जज्ञेऽसौ यज्ञस्स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
आकूत्यां मानसो देव उत्पन्नः प्रथमेऽन्तरे ॥३६॥

ततः पुनः स वै देवः प्राप्ते स्वारोचिषेऽन्तरे ।
तुषितायां समुत्पन्नो ह्यजितस्तुषितैः सह ॥३७॥

औत्तमेऽप्यन्तरे देवस्तुषितस्तु पुनस्स वै ।
सत्यायामभवत्सत्यः सत्यैस्सह सुरोत्तमैः ॥३८॥

तामसस्यान्तरे चैव सम्प्राप्ते पुनरेव हि ।
हर्यायां हरिभिस्साधं हरिरेव बभूव ह ॥३९॥

रैवतेऽप्यन्तरे देवस्सम्भूत्यां मनसो हरिः ।
सम्भूतो रैवतैस्साधं देवैर्देववरो हरिः ॥४०॥

चाक्षुषे चान्तरे देवो वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः ।
विकुण्ठायामसौ जज्ञे वैकुण्ठैर्दैवतैः सह ॥४१॥

मन्वन्तरेऽत्र सम्प्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज ।
वामनः कश्यपाद्विष्णुरदित्यां सम्बभूव ह ॥४२॥

त्रिभिः क्रमैरिमाँल्लोकाञ्जित्वा येन महात्मना ।
पुरन्दराय त्रैलोक्यं दत्तं निहतकण्टकम् ॥४३॥

हे विप्र ! इस प्रकार सातों मन्वन्तरों में भगवान् की ये सात मूर्तियाँ प्रकट हुईं, जिनसे (भविष्य में) सम्पूर्ण प्रजा की वृद्धि हुई ॥४४॥ यह सम्पूर्ण विश्व उन परमात्मा की ही शक्ति से व्याप्त है; अतः वे 'विष्णु' कहलाते हैं, क्योंकि 'विश्' धातु का अर्थ प्रवेश करना है ॥४५॥ समस्त देवता, मनु, सप्तर्षि तथा मनुपुत्र और देवताओं के अधिपति इन्द्रगण—ये सब भगवान् विष्णु की ही विभूतियाँ हैं ॥४६॥

इत्येतास्तनवस्तस्य सप्तमन्वन्तरेषु वै ।
सप्तस्वेवाभवन्विप्र याभिः संवर्द्धिता प्रजाः ॥४४॥

यस्माद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥४५॥

सर्वे च देवा मनवस्समस्ता-
स्सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च ।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो
विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥४६॥

॥ श्रीमार्कण्डेयपुराण के भाविरौच्यमन्वन्तर में भविष्यदिन्द्रादिवर्णननामक ९४वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥



पञ्चनवतितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

रुचिः प्रजापतिः पूर्वं निर्ममो निरहङ्कृतः ।
अत्रस्तो मितशायी च चचार पृथिवीमिमाम् ।।१।
अनग्निमनिकेतं तमेकाहारमनाश्रमम् ।
विमुक्तसङ्गं तं दृष्ट्वा प्रोचुस्तत्पितरं मुनिम् ।।२।
वत्स! कस्मात् त्वया पुण्यो न कृतो दारसङ्ग्रहः ।
स्वर्गापवर्गहेतुत्वाद् बन्धस्तेनानिशं विना ।।३।
गृही समस्तदेवानां पितॄणाञ्च तथार्हणाम् ।
ऋषीणांमतिथीनाञ्च कुर्वन् लोकानुपाश्नुते ।।४।
स्वाहोच्चारणतो देवान् स्वधोच्चारणतः पितॄन्।
विभजत्यन्नदानेन भूताद्यानतिथीनपि ।।५।
स त्वं दैवादृणाद् बन्धं बन्धमस्माद् ऋणादपि ।
अवाप्नोषि मनुष्येभ्यो भूतेभ्यश्च दिने दिने ।।६।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

पूर्वकाल में निर्मम निरभिमानी भय-रहित एवं निद्रा पर संयम कर अर्थात् परिमित शयन करता हुआ प्रजापति रुचि पृथिवी पर भ्रमण करता था ।।१।।

रुचि के पितरों ने, अग्निशून्य, गृहविहीन, आश्रमरहित, सङ्गतिविहीन और एक बार ही भोजन करते हुए उसको देखकर कहा ।

पितरों ने कहा—

हे वत्स ! तुमने पत्नी-ग्रहण स्वरूप (गृहस्थ जीवन) परमपवित्र कार्य क्यों नहीं किया ? देखो, दार-परिग्रह करने पर ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है, विवाह न करने पर सदा बन्धन में रहना पड़ता है ।।३।।

गृहस्थ पुरुष सकल देवताओं, पितरों, अतिथियों और ऋषियों की पूजा करता हुआ, स्वर्गादि लोकों का भोग करता है । गृहस्थ, "स्वाहा" उच्चारण कर देवताओं को, "स्वधा" का उच्चारण कर पितरों को और अन्नों के दान से भूतादि अतिथियों को तृप्त करता है ।।५।।

गृहस्थ न होकर तुम देवता के ऋण से, पितरों के ऋण से, मनुष्यों के ऋण से, भूतों (प्राणिवर्ग) के ऋण से प्रतिदिन बन्धन में पड़ रहे हो ।।६।।

अनुत्पाद्य सुतान् देवानसन्तर्प्य पितॄँस्तथा ।
अकृत्वा च कथं मौढ्यात् सुगतिं गन्तुमिच्छसि ॥७॥
क्लेशमेकैकं पुत्र ! मन्यामोऽत्र भवेत् तव ।
मृतस्य नरकं तद्वत् क्लेशमेवान्यजन्मनि ॥८॥

रुचिरुवाच—

परिग्रहोऽतिदुःखाय पापायाधोगतिस्तथा ।
भवत्यतो मया पूर्वं न कृतो दारसङ्ग्रहः ॥९॥
आत्मनः संयमो योऽयं क्रियते सुनियन्त्रणात् ।
स मुक्तिहेतुर्न भवत्यसावपि परिग्रहात् ॥१०॥
प्रक्षाल्यतेऽनुदिवसं यदात्मा निष्परिग्रहैः ।
ममत्वपङ्कदिग्धोऽपि चित्ताम्भोभिर्वरं हि तत् ॥११॥
अनेकभवसम्भूत-कर्मपङ्काङ्कितो बुधैः ।
आत्मा सद्वासनातोयैः प्रक्षाल्यो नियतेन्द्रियैः ॥१२॥

पुत्रोत्पादन न कर देव-गण और पितरों को भलीभाँति तृप्त न कर अर्थात् देव गण और पितृगण के तृप्ति के साधन स्वरूप पुत्रों का उत्पादन न कर मोह के कारण = मूर्खतावश अकृतकर्मा होते हुए भी किस प्रकार अच्छी गति प्राप्त करने की इच्छा करते हो ॥७॥

हे वत्स ! गृहस्थ-धर्म में प्रवेश न करने पर तुमको होने वाले सभी कष्टों को हमलोग समझ रहे हैं, मृत्यु के बाद नरक, उसी तरह अन्य जन्मों में भी अनेक कष्ट होंगे ॥८॥

रुचि ने कहा—

दार-परिग्रह (विवाह) से अतिशय दुःख एवं पाप होता है और इसके फलस्वरूप अधोगति अर्थात् नरक की प्राप्ति होती है, इसीलिए मैंने पूर्व में दार-परिग्रह नहीं किया है ॥९॥

भली-भाँति नियन्त्रण कर अर्थात् इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्तियों का दमन कर आत्मसंयम करने पर वह मुक्ति का साधन होता है, दारपरिग्रह करने पर वह नहीं हो सकता है ॥१०॥

(जो) दारपरिग्रह रहित होकर ममतारूपी पङ्क से लिप्त आत्मा को; प्रतिदिन चिन्तन अर्थात् आत्मनिदिध्यासनरूपी जल से; स्वच्छ करता है, वे ही अच्छे हैं ॥११॥

अनेक जन्मों से अर्जित कर्मरूपी पङ्क से संलिप्त आत्मा को सद्वासनारूपी जल से संयत इन्द्रिय होकर प्रक्षालन करना ही पण्डितों के कर्तव्य हैं ॥१२॥

पितर ऊचुः—

युक्तं प्रक्षालनं कर्त्तुमात्मनो नियतेन्द्रियैः ।
किन्तु मोक्षाय मार्गोऽयं यत्र त्वं पुत्र वर्त्तसे ॥१३।
परन्तु दानैरशुभं नुद्यतेऽनभिसन्धितैः ।
फलैस्तथोपभोगैश्च पूर्वकर्मशुभाशुभैः ॥१४।
एवं न बन्धो भवति कुर्वतः करुणात्मकम् ।
न च बन्धाय तत्कर्म भवत्यनभिसन्धितम् ॥१५।
पूर्वकर्मकृतं भोगैः क्षीयतेऽहर्निशं तथा ।
सुखदुःखात्मकैर्वत्स ! पुण्यापुण्यात्मकं नृणाम् ॥१६।
एवं प्रक्षाल्यते प्राज्ञैरात्मा बन्धैश्च रक्ष्यते ।
न त्वेवमविवेकेन पापपङ्केन गृह्यते ॥१७।

रुचिरुवाच—

अविद्या पठ्यते वेदे कर्ममार्गः पितामहः ।
तत्कथं कर्मणो मार्गे भवन्तो योजयन्ति माम् ॥१८।

पितरों ने कहा—

इन्द्रियों का संयम कर आत्मा को स्वच्छ करना युक्तियुक्त है, किन्तु, वत्स ! तुम जिस पथ के पथिक हो, क्या यह मोक्ष का मार्ग है ? ॥१३॥

परन्तु निष्काम होकर अर्थात् कामना की अभिलाषा से रहित होकर, दान करने से जैसे अशुभ कर्म का नाश होता है; वैसे ही शुभ और अशुभ रूप फलों के भोग से भी पूर्वजन्म के अर्जित कर्मों का नाश होता है ॥१४॥

इस प्रकार जो व्यक्ति करुणापरायण होकर कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है, वह कभी भी बन्धन में नहीं आता है; वैसे ही कामना का त्याग कर कर्म करने पर भी बन्धन से विमुक्त रहता है ॥१५॥

दिन-रात सुख और दुःख स्वरूप भोगों से मनुष्यों का पुण्य और अपुण्य स्वरूप पूर्वजन्मार्जित कर्म नष्ट हो जाता है ॥१६॥

बुद्धिमान् व्यक्ति इस प्रकार के विहित कर्मों के द्वारा आत्मा को शुद्ध करते हैं और बन्धन से सुरक्षित रखते हैं, इस प्रकार आत्मा अविवेक के कारण पाप-पङ्क से संलिप्त नहीं होता है ॥१७॥

रुचि ने कहा—

हे पितामहगण ! वेद में कर्म-मार्ग को अविद्या कहा गया है, तब आपलोग क्यों मुझे उसी कर्म मार्ग में प्रवृत्त करते हैं ? ॥१८॥

पितर ऊचुः—

अविद्या सत्यमेवैतत् कर्म नैतन्मृषा वचः।
किन्तु विद्यापरिप्राप्तौ हेतुः कर्म न संशयः ।।१९।
विहिताकरणात् पुम्भिरसद्भिः क्रियते तु यः।
संयमो मुक्तये सोऽन्ते प्रत्युताधोगतिप्रदः ।।२०।
प्रक्षालयामीति भवान् वत्सामानन्तु मन्यते।
विहिताकरणोद्भूतैः पापैस्त्वन्तु विदह्यसे ।।२१।
अविद्याऽप्युपकाराय विषवज्जायते नृणाम्।
अनुष्ठिताऽभ्युपायेन बन्धायान्यापि नो हि सः ।।२२।
तस्माद्वत्स ! कुरुष्व त्वं विधिवद्दारसंग्रहम्।
मा जन्म विफलं तेऽस्तु असम्प्राप्य तु लौकिकम् ।।२३।

रुचिरुवाच—

वृद्धोऽहं साम्प्रतं को मे पितरः सम्प्रदास्यति।
भार्यां तथा दरिद्रस्य दुष्करो दारसङ्ग्रहः ।।२४।

पितरों ने कहा—

कर्म अविद्या स्वरूप है। यह कथन सत्य है, यह मिथ्या नहीं है, किन्तु कर्म ही ज्ञान = विद्या की प्राप्ति का साधन है—इसमें संशय नहीं है। अर्थात् कर्म अविद्या मूलक है, यह सत्य है मिथ्या नहीं है, कर्म से अविद्या की उत्पत्ति नहीं होती है; अपि तु कर्म से विद्या की उत्पत्ति होती है।।१९।।

वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान न कर असत् पुरुष के द्वारा मुक्ति के लिए किया गया आत्मा संयम मुक्ति प्रदान नहीं करता है अपि तु नरक की प्राप्ति का साधन होता है ।।२०।।

वत्स ! तुम तो यह मानते हो कि मैं आत्मा का प्रक्षालन करता हूँ, किन्तु विहित कर्मों का अनुष्ठान न करने से उससे उत्पन्न पापों से तुम दग्ध हो रहे हो ।।२१।।

अपकारक विषका उचित प्रयोग करने पर वह जैसे उपकारक होता है; वैसे ही विहित कर्मो का अनुष्ठान करने पर वह उपकार करता है और वह बन्धन के लिए नहीं होता है ।।२२।।

हे वत्स ! इसलिए विधिपूर्वक दारपरिग्रह (विवाह) करो, क्योंकि लौकिक कर्मों का अनुष्ठान न करने से तुम्हारा जन्म व्यर्थ न हो ।।२३।।

रुचि ने कहा—

पितृगण ! अब तो मैं वृद्ध हो गया हूँ, कौन मुझे कन्या देगा ? विशेषतः मेरे जैसे अकिञ्चन के लिए विवाह अतिशय दुष्कर है ।।२४।।

पितर ऊचुः—

अस्माकं पतनं वत्स भवतश्चाप्यधोगतिः ।
नूनं भावि भवित्री च नाभिनन्दसि नो वचः ॥२५।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा पितरस्तस्य पश्यतो मुनिसत्तम ! ।
बभूवुः सहसाऽदृश्या दीपा वाताहता इव ॥२६।

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे रुच्युपाख्यानवर्णनं नाम
पञ्चनवतितमोऽध्याय. ॥ ९५ ॥

पितरों ने कहा—

वत्स ! यदि तुम मेरे कथनानुसार न करोगे तो हमलोगों का पतन तुम्हारी अधोगति अवश्यम्भावी है ॥२५॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे मुनिश्रेष्ठ ! यह कहकर उसके पितृगण देखते-देखते वायु के वेग से बुझे हुए प्रदोप की तरह सहसा अन्तर्हित हो गये ॥२६॥



पर्यालोचन

गार्हस्थ्य

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्" इत्यादि वचनों के अनुसार देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण की मुक्ति के द्वारा चित्त की विशुद्धि होने पर ज्ञान के द्वारा परम प्रयोजन की सिद्धि होती है।

वेद में विवाह का विवेचन करते हुए लिखा है कि "हे वधु ! मैं तुम्हारे सौभाग्य के लिए तुम्हारा हाथ पकड़ रहा हूँ। तुम मुझे पति के रूप में स्वीकार कर मेरे साथ ही वृद्धावस्था को प्राप्त करोगी, अर्थात् हम लोग वृद्धावस्था तक इसी तरह एक साथ रहेंगे। भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि, पूषा—ये सब देवगण गृहस्थाश्रम चलाने के लिए तुम्हें मुझे सौंप रहे हैं।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः।
भगोऽर्य्यमा सविता पुरन्धिर्योषा मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

(अ० सं० १०।८५।३६)

हम दोनों एक साथ यहीं, इसी लोक में रहे, हमलोग कभी अलग न हों और इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन का उपभोग कर घर पर खेलते हुए पुत्र-पौत्रों के साथ सुख-पूर्वक रहें।

"इहैव स्तं मां वियौष्टं विश्वमापूर्वस्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥"

हे मनुष्य ! यह सम्मुख उपस्थित नारी पति के द्वारा अनुष्ठित याग, दान, होम आदि के संविधान से उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि स्थानों में साथ-साथ रहने के कारण मृत्यु के बाद भी अन्य लोक में तुम्हारे साथ आ जाओगी। स्मृति-पुराण आदि में प्रसिद्ध धर्मों का पालन करने से यह पत्नी मृत्यु के अनन्तर तुम्हारे पास चली आयेगी, इस लोक और परलोक में पुत्रादि-प्रजा और धन-धान्य से सम्पन्न कर दो। यह प्रशस्त गार्हस्थ्य है।

इसके बाद पुनः ऋग्वेद में कहा है—हे वधु ! तुम्हारी दृष्टि किसी के लिए भयकारक न हो, तुम पति की कल्याणकारिणी हो, पशुओं का हित करो, मन में तेजस्विता का आधान हो, वीर पुत्रों को उत्पन्न करो, देवर आदि की शुभकामना करो।

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसुर्देवृकामा स्योना शन्नो भवद्विपदे चतुष्पदे॥ (ऋ० १०।८५।४४)

इसी प्रकार वेद में अनेक मन्त्रों के द्वारा गार्हस्थ्य धर्म का विश्लेषण मिलता है।

यह वधू शोभन मङ्गल से सम्पन्न है। अतः आप इसके साथ जाय। विवाह के अधिष्ठात्री देवताओं के द्वारा यह दृष्ट है। इसको सदा सौम्य दृष्टि से देखना सौभाग्य

प्रदान कर इसे घर पर ले जाओ। वस्तुतः "न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते" इत्यादि वचनों के अनुसार गृहिणी ही गृह है। कभी भी गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हुए विमुख भाव से कभी भी न रहे।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमा समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्मै दत्वा यथास्तं विपरेतत॥

इसी प्रकार विवाह के मन्त्रों के द्वारा गौ, अश्व, पुरुष एवम् अनेक यज्ञों के विधान की प्रवृत्ति के साथ आरोग्य की कामना की गई है।

"इह गावो निषीदन्त्विहाऽश्वाऽइह पूरुषाः।
इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञऽइह पूषा निषीदतु॥

सम्प्रति गार्हस्थ्य जीवन का विशिष्ट स्वरूप वेद की ऋचाओं के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

विरोध की भावना से रहित पूर्णायु सम्पन्न, पुत्र-पौत्रों के साथ आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करना ही गार्हस्थ्य जीवन है।

वैदिक दम्पति का आदर्श—हम लोगों की प्राणशक्ति, धारणा शक्ति और उपदेश शक्ति कल्याणकारिणी हो और सभी व्यक्ति इससे सुपरिचित रहें।

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री द धातु नौ॥ (ऋ० १०।८५।४७)

वैदिक गृहस्थों में सञ्चय वृत्ति का सर्वथा अभाव रहता है—उपजाऊ पानी वाली भूमि पर छोटी सी निर्वाह योग्य शाला जो अपेक्षित अन्नों से परिपूर्ण रहे। तृण से आच्छन्न तोरण और बन्दनवारों से अलङ्कृत, शान्तिप्रद लकड़ी के खम्भों पर थोड़ी भूमि पर स्थित, दो, चार, आठ या दस घरवाली शाला में निवास करूँ।

ऊर्जस्वनी पयस्वनी पृथिव्यां निर्मिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः॥
(अथर्ववेद ९।३।१६ से २१ तक)

गृहस्थ जीवन में प्रवेश का उद्देश्य पञ्च महायज्ञों के द्वारा ब्रह्म, देव, ऋषि, पितर, मनुष्य का सन्तर्पण है। इस उद्देश्य से अथर्ववेद एवं यजुर्वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं।

चार-चार घड़े दूध और चार-चार घड़े पानी चतुर्दिक् देता हूँ, ये स्वर्ग में आपको सुख प्रदान करे।

चतुरः कुम्भाँश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाम् उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना॥
(अथर्व ४।३४।७)

हे स्त्री ! तुम दूध और घी को घड़ों में भरकर उनकी धारा से इन पीने वालों की तृप्ति करो और वापी, कूप-तडाग तथा दान से इनकी रक्षा करो।

बलकारक जल, घृत, दूध, रसयुक्त अन्न और पके हुए तथा पककर गिरे हुएं मीठे फलों से स्वधा में स्थित पितरो ! आप तृप्त हो।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ (यजुर्वेद २।३४)

वैदिक गृहस्थ क्षुधा पीडित अपने मित्रों, अतिथियों और मनुष्यों को अन्न, जल और सेवा से तृप्त करने के लिए बुला रहे हैं। (द्रष्टव्य अथर्ववेद ८।६०।१-७)

अतिथि-सत्कार की विशिष्ट महिमा वेदों में मिलती है, अन्न एवं धन का एक मात्र उपयोग अतिथि-सेवा ही थी।

अन्न रहते हुए अभिलाषी अभाव के कारण प्राप्त व्यक्ति को सन्तुष्ट किये बिना ही जो स्वयं खा लेता है, वह मित्र शून्य जीवन व्यतीत करता है। याचक को अन्न देने वाला ही सच्चा भोजन करता है। ऐसे ही दाता को पर्याप्तं अन्न आता है सञ्चयी के पास नहीं। सञ्चयवृत्ति को वेद में सर्वथा हेय माना गया है। अधिक अन्न या दुग्ध होने पर भी वह अपने अनुरूप उचित भाग का ही अधिकारी होता है। वृत्र सञ्चय का प्रतीक लोकोपयोगी प्राकृत पदार्थों को गुफाओं में सञ्चित करने के पाप से ही इन्द्र द्वारा उसका वध विहित है।

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्दफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते॥
स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अवरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥
(ऋ० १०।११७)

अध्ययन ही ब्रह्म यज्ञ है, अर्थात् अर्थ सहित वेद का अध्ययन कर गायत्री का अनुष्ठान नित्य कर्तव्य हैं। "द्विजों को प्रेरणा देने वाली पवित्र वेदमाता गायत्री की मैं स्तवन करता हूँ, वह मुझे आयु, बल, सन्तति, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मवर्चस्व का आधान करे, वेद-ज्ञान सम्पादन कराकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन हो।"

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥" (अथर्व—१९।७१।१)

देवयज्ञ का वर्णन करते हुए कहा गया है :—

"शाम का नित्य हवन प्रातःकाल के समय गृहस्थ के मन को प्रसन्न करने वाला होता है और प्रातःकाल का नित्य हवन सायंकाल के समय मन को प्रसन्न करने वाला होता है, अतः, गृहस्थ को नित्य दोनों समय देवयज्ञ अर्थात् हवन करना चाहिए।"

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम॥ (अथर्व० १९।५५।३-४)

देवयज्ञ के अनन्तर पितृयज्ञ का प्रसङ्ग है। इसके वैशिष्ट्य एवं अवश्यकर्त्तव्यता का निर्देश करते हुए लिखा है :—

यम के राज्य में जो पितृगण एक समान और समान विचार के हैं, उन पितरों को देवों के मध्य में लोक स्वधा, नमस्कार और यज्ञ प्राप्ति हो। पितृगण का सत्कार जल से ही होता है, अतः ये सौम्य कहे जाते हैं।

ये समानाः सुमनसः पितरो यमराज्ये।
तेषाँल्लोक स्वधा नमोः यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ (यजु० १९।४५)

वलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ) की प्रशंसा और आवश्यकता का निर्देश करते हुए यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में कहा गया है :—

जो अभी दिया है और जो पूर्व में दिया है तथा जो आगे दिया है और जो पीछे दिया है, वह वलिवैश्व कर्म (भूत-यज्ञ) अग्नि को प्राप्त हो। जिस तरह घोड़ा प्रतिदिन घास खाता है, उसी तरह प्रत्यहः प्रणियों को उनका भाग अर्थात् वलि प्रदान करना चाहिए।

यद्दत्तं यत्परदानं यत्पूर्वं याश्च दक्षिणाः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नोदधत् ॥ (यजु० १८।६४)
अहरहर्वलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्नेः ॥ (अथर्व० १९।५५।६)

अतिथि-यज्ञ का वर्णन करते हुए वेद में लिखा गया है—

विद्वान् व्रतधारी अतिथि राजा के घर आये, तो राजा को उचित है कि अतिथि को अपने से श्रेष्ठ माने। ऐसा करने पर न वह दोषी होता है और राष्ट्र ही दुष्ट होता है। अतिथि के आने पर उनका स्वागत करते हुए कहना चाहिए कि आप कहाँ से आ रहे हैं? यह जल है, यह आसन है, आपको जो अभीष्ट हो, वही करने को तत्पर हूँ। इस प्रकार पञ्च-महायज्ञों की आवश्यकता गार्हस्थ्यधर्म का मूलाधार है। (द्रष्टव्य अथर्ववेद १५।१०-११)।

शतपथ ब्रह्मण में भी ब्रह्मदेव, ऋषि, पितृ और मनुष्य-ऋण को गृहस्थ के लिए अनिवार्य एवम् आवश्यक माना गया है।

"ऋणं ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान ऽएव देवेभ्यऽ ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः ॥१॥ स यदेव यजेत। तेन देवेभ्यऽ ऋणं जायते तद्धयेभ्य ऽएतत्करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति ॥२॥ अथ यदेवानुब्रुवीत। तेनर्षिभ्य ऽ ऋणं जायते तद्धयेभ्य ऽ एतत्करोत्यृषीणान्निधि गोप ऽ इति ह्यनूचानमाहुः ॥३॥ अथ यदेव प्रजामिच्छेत। तेन पितृभ्य ऽऋणं जायते तद्धयेभ्य ऽएतत्करोति यदेषां सन्तताव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति ॥४॥ अथ यदेव व्वासयेत। तेन मनुष्येभ्य ऽऋणं जायते तद्धयेभ्य ऽएतत्करोति यदेनान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य ऽएतानि, सर्वाणि करोति स कृतकर्मा तस्य सर्वमाप्तं सर्वं जितम् ॥५॥ स येन देवेभ्य ऽऋणं जायते। तदेनांस्तदवदयते यद्यजतेऽथ यदग्नौ जुहोति तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किञ्चाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम ॥६॥ (शत० ब्रा० ६।३-१-६)

इस प्रकार प्रथम काण्ड के षष्ठ प्रपाठक के तृतीय ब्राह्मण में प्रजापति कामना से गार्हस्थ्य जीवन की अनिवार्यता मानी गई है। इन तीन ऋणों के निवारण के लिए वैदिक मान्यता सभी वेद संहिता एवं ब्राह्मणों में मिलती है।

स्मृतियों में भी पञ्च महायज्ञों का वर्णन करते हुए लिखा है—तीनों वेदों या वेद की अपनी शाखाओं का अध्ययन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। "अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्।" (मनु० ३।२)।

वैवाहिक अग्नि में गृहस्थ को पञ्च महायज्ञ और पाक आदि करना चाहिए।

पञ्च महायज्ञ—(१) वेद का अध्ययन और अध्यापन ब्रह्मयज्ञ। (२) पितृतर्पण एवं श्राद्ध पितृयज्ञ। (३) प्रातः एवं सायं हवन देवयज्ञ। (४) वलिवैश्वदेव भूतयज्ञ। (५) अतिथियों का सत्कार करना नृयज्ञ है। इन पाँच महायज्ञों के अनुष्ठान करने से चुल्ही, चक्की, झाड़ू, ओखली-मूसल और जल घट आदि के द्वारा सम्पन्न हिंसाजन्य पाप नष्ट होता है।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो वलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनु० ३।६०)

इन पाँच महायज्ञों का सम्पादन किये विना जो जीवनयापन करता है वह मरे के समान ही जीवन धारण करता है। इसी दृष्टि से गार्हस्थ्य जीवन को सभी आश्रमों का आश्रय स्थान एवं ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ इस गृहस्थाश्रम को माना गया है।

अन्य शब्दों में अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित यह पञ्च महायज्ञ कहा गया है। इसीलिए आश्रम विहीन रुचि को उसके पितरों ने गार्हस्थ्य जीवन की बाध्यता बतायी है। ऋषि, पितर, देव, भूत और अतिथि ये गृहस्थ के द्वारा अपनी सन्तुष्टि की आशा रखते हैं। वेद पाठ से ऋषियों की, विधिपूर्वक हवन से देवताओं की, श्राद्धों से पितरों की, अन्न से मनुष्यों (अतिथियों) की तृप्ति करनी चाहिये। अन्नादि अर्थात् तिल, यव-धान्य एवं जल से, दूध से तथा मूल और फलों से पितरों को सन्तुष्ट करना चाहिए। पितरों के उद्देश्य से ब्राह्मण का भोजन कराना आवश्यक है क्योंकि द्विजमुख के द्वारा ही श्राद्धादि से पितरों की तृप्ति होती है।

सामाजिक दृष्टि से भी इन यज्ञों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि, इसके द्वारा वृष्टि और वृष्टि से अन्न होता है।

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥७१॥

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति॥७२॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते॥७३॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको वलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ।।७४।।
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा ।।७५।।
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थाश्रममाश्रित्य वर्तन्ते सर्वं आश्रमाः ।।७६।।
(मनु० ३।७१-७६)

ऋषि, पितृगण, देवगण, भूतवर्ग और अतिथि ये सभी गृहस्थों से ही अपनी सन्तुष्टि की आशा रखते हैं। यदि वंश का उच्छेद हो जाता है तो ये निराश होकर दुःख-पूर्वक जीवन-यापन करते हैं। अतः वेद-पाठ से ऋषियों को, हवन से देवों को, श्राद्धों से पितरों को, अन्न से मनुष्यों को, वलिकर्म से भूतों की पूजा करनी चाहिए। वस्तुतः, तृण (आसन) भूमि (बैठने का स्थान) जल (पीने तथा श्रम दूर करने के लिए) मधुर वचन ये सज्जनों के घर पर सदा सुलभ रहते हैं।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सुनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।। (मनु० ३।१०१)

मनुस्मृति में इन कर्मों के अनुष्ठान में विप्र एवं अतिथियों की विशिष्ट परीक्षा प्रस्तुत की है। अतः, जिस किसी रूप से उपस्थित न अतिथि हो सकता है न श्राद्धभोजी हो सकता है।

यदि लोकैषणा के लिए मित्रों का भोजन श्राद्ध के उद्देश्य में कराया जाता है, उसे सर्वथा हेय माना गया है। क्योंकि, इसके परलोक तृप्ति साधन रूप फल की प्राप्ति नहीं होती है।

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।
तस्य प्रेत्यफलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ।। (मनु० ३।१३९)

वेद एवं वेदार्थज्ञानहीन विप्र को देवों एवं पितरों के उद्देश्य से प्रदत्त हव्य-कव्य सर्वथा व्यर्थ होते हैं।

देवों तथा पितरों के कृत्यों में एक भी वेदज्ञ ब्राह्मण को भोजन कराने से अतिशय फल की प्राप्ति होतो है, किन्तु वेदार्थ-ज्ञान शून्य अनेक ब्राह्मणों के भोजन से भी कुछ भी फल नहीं होता है। ज्ञानोत्कृष्ट विप्र को ही भोजन कराना चाहिए, क्योंकि रक्त से लिप्त हाथ रक्त से धोने से शुद्ध नहीं होता है, निर्मल पानी से ही धोने पर शुद्ध होता है। अतः विद्वान् ब्राह्मण को खिलाने से ही फल मिलता है। वेद-मन्त्र को न जानने वाले ब्राह्मण हव्य और कव्य (श्राद्ध) में जितने ग्रास खाते हैं श्राद्धकर्ता मरने पर उतने ही उष्ण दोधार वाले शूल से लोहे के पिण्ड को खाता है। ज्ञान में निष्ठ, तप में निष्ठ, तप और स्वाध्याय में निष्ठ और कोई कर्म में निष्ठ होता है। इनमें पितरों के

४

उद्देश्य से भोजन ज्ञान निष्ठा को ही कराना प्रशस्त है और देवता के उद्देश्य से चारों में किसी को भी कराया जा सकता है। इस प्रकार पूर्ण विवेचन के साथ कर्तव्य कर्म की समीक्षा की गई है। अतः पितरों को गार्हस्थ्य जीवन-यापन करने से ही तुष्टि सम्भव है और यह वेद विहित अनिवार्य आश्रम है, यदि कोई विशिष्ट ज्ञाननिष्ठ पूर्वजन्मार्जित विभूति सम्पन्न नहीं है तो उनके लिए माता की आज्ञा से "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" यह विवक्षित है। किन्तु, सामान्यतया चारो आश्रमों की क्रमिक स्थिति मानव के लिए अपेक्षित है।

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः ॥ (मनु० १३२)

यावतो ग्रसते ग्रासान् :हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्ये दीप्तशूलर्ष्ट्ययो गुणान् ॥१३३॥

ज्ञाननिष्ठाः द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे।
तपः स्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥१३४॥

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वपिचतुर्ष्वपि ॥१३५॥

अतिथियों के लिए विशिष्ट परीक्षा निर्दिष्ट है। एक रात ठहरने वाला ब्राह्मण अतिथि कहा जाता है क्योंकि, आने और ठहरने की तिथि निश्चित न होने से ही अतिथि कहा जाता है।

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ (मनु० ३।१०२)

सद्गृहस्थाश्रम-प्रशंसनम्

धर्म-रहस्य की सूक्ष्मता को दिग्दर्शित करने वाले प्राचीन शास्त्रकारों ने चारो आश्रमों में गृहस्थाश्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा समस्त आश्रमों की सुदृढ़ता के लिए गृहस्थाश्रम को नीवी (आधारशिला) बतलाया है। गृहस्थाश्रम के अन्य प्रशस्त आदर्शों को पूर्वाचार्यों ने निम्नलिखित कतिपय श्लोकों में अभिव्यक्त किया है। जो इस प्रकार हैं :—

ऋणमाद्यं निराकृत्य निराकर्तुमृणान्तरम्।
प्रतिष्ठा राजते यस्य गृहस्थाश्रम एव सः॥

गृहस्थाश्रममाश्रित्य कल्पद्रुममिवाखिलाः।
ऐहिकामुष्मिकान् सर्वान् भुञ्जतेऽर्थान् महाधिपः॥
न्यायार्जितधनस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
शास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥

यदि रामा यदि च रमा यदि तनयो विनयधी गुणोपेतः।
तनयात्तनयोत्पत्तिः सुरवरनगरे किमाधिक्यम्॥

स विप्रपादोदककर्दमानि स वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि।
स्वाहास्वधाकारनिरन्तराणि स्वानन्दतुल्यानि गृहाणि तानि ॥

सानन्दं सदनसुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी।
सन्मित्रसुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मृष्ठान्नपानं गृहे।
साधोः सङ्गमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥

मानुष्यं वरवंशजन्मविभवो दीर्घायुरारोग्यकम्।
सन्मित्रं सुसुतः सती प्रियतमा भक्तिश्च नारायणे

विद्वत्त्वं सुजनत्वमिन्द्रियजयः सत्पात्रदाने रतिस्।
ते पुण्येन विना त्रयोदशगुणाः संसारिणां दुर्लभाः।

वंशो विश्वावतंसो जनुरनुपहतं स्वान्तमौन्नत्यकान्तं
लीलाशीलानुकूला क्षपितकलिमला क्वापि विद्याऽनवद्या।

वाणी वेणीगुणानां समाधिकयशसां साधिका साधिका श्रीः।

श्रीमद् गोरीमयूरीमुदिरपुरहर त्वत्कृपायाः विपाकः।

पञ्च महायज्ञाः (गृ० सू० ३।१।१) यह उपक्रम कर तानेतान्यज्ञानहरहः कुर्वीत (३।१।४) इस प्रकार यह एक नित्य कर्म भी है। कतिपय गृह्यसूत्रों का आरम्भ ही विवाह संस्कार से होता है। गार्हस्थ्य जीवनयापन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य अङ्ग है। सामाजिक आवश्यकता ही नहीं वरन् पुराण-पर्यालोचन से यज्ञ के रूप में एक अवश्य कर्तव्य माना गया है। अपत्नीक पुरुष अयज्ञिय अर्थात् यज्ञहीन व्यक्ति माना जाता है। "अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः" (तै० ब्रा० २।२।२।६) इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है "अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नीः" (तै० ब्रा० २।९।४।७) तीन ऋण जन्ममात्र से मानव को लग जाता है और ये ऋण बिना विवाह हटाये नहीं जा सकते हैं। "जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" (तै० सं० ६।३।१०।५) अतः "द्वितीमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्" (मनु० ४।१)।

इसराइल की जनता में भी इसका अतिशय आदर था। मसीहाविषयक भविष्यवाणियों के युग में दमन और अत्याचार से यहूदियों की रक्षा करने वाले मसीहा के उत्पन्न होने से विवाह को अतिशय सम्मानित रूप प्राप्त था।

यूनान में भी विवाह के प्रति आदर दृष्टि थी, एक पवित्र संस्कार के रूप में इसे समझा जाता था। विवाह से वंशपरम्परा की अक्षुण्णता एवं उत्तराधिकारित्व की समस्या सहज में समाहित हो जाती है। पितरों की पूजा अविच्छिन्न प्रवाह से चलती रहती है। एथेन्स में तो यह भावना इतनी बद्धमूल है कि अधिनियम के द्वारा नगर के प्रथम शासक को इसके देख-भाल का आदेश था कि वंश उच्छिन्न न हो।

("ए हिस्ट्री आफ दि फैमिली एज ए सोशल एण्ड एजुकेशनल इंस्टिट्यूशन" पृ० ५८)

प्लुटार्क के अनुसार स्पार्टा में अविवाहित व्यक्तियों को अनेक अधिकारों से वञ्चित होना पड़ता था और अविवाहित वृद्धों का आदर भी नहीं किया जाता था। रोम में सार्वजनिक दृष्टि से अविवाहित जीवन अवांछनीय था, पितरों और गृहदेवों की अविच्छिन्न पूजा के लिए पुत्र अनिवार्य अङ्ग था।

ऋक्संहिता के दशम मण्डल में एक विवाह-सूक्त है, सूक्त के प्रथम अंश में सूर्या के साथ सोम के विवाह का आदर्श है।

"द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्मणा ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तद् अद्धातय इद् विदुः॥"

सूर्या को वधू रूप में सोम चाहते हैं। अश्विद्वय उसको वरण करने के लिए आते हैं, सविता कन्या प्रदान करने वाला है। सूर्या को सोम के पास अश्विद्वय त्रिरथ चक्र से पहुँचाता है, रथ सहज नहीं है। सूर्या का मन ही रथ है, द्युलोक छादन है, श्रोत्र दो चक्र हैं, व्यान अक्षदण्ड है, ऋक् और सोम उसका वाहन है, द्युलोक उसका चलाचल पथ है। त्रिचक्र-रथ सूर्या को लेकर आने के समय दो चक्र ही रहते हैं, तीसरा चक्र कहाँ गया है ? ऋषि ने कहा सूर्या तुम्हारा दो चक्रों का ब्राह्मण काल के पर्यायक्रम में जानते हैं। गुप्त चक्र को शुद्ध सत्यद्रष्टा ही जानते हैं (वि० सू० ९-१५)। यह सत्य है कि यह साधना का रूपक है, तीन ऋक् में इसका आभास मिलता है। यही विवाह का मूलाधार है। पौराणिक गाथाओं में उमा-महेश्वर का विवाह ही मूलाधार है। जो काम के जलने पर सम्भव होता है। काम का विवाह में महत्त्व नहीं है अर्थात् भारतीय विवाह काम की तृप्ति के लिए नहीं अपितु पञ्च-महायज्ञों के निर्वाह के लिए आवश्यक है। उमा-महेश्वर के विवाह के आधार पर स्पष्ट है कि तपस्या और त्याग की मूल भित्ति पर माता-पिता की अनुमति से ही विवाह की प्रशस्ति है। बाह्य रूप और वासना के आधार पर विवाह भारतीय दृष्टि से हेय और दुःखप्रद है। "प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता" है। तपस्या के द्वारा रूप अबन्ध्य होता है। अतः, पितृ-यज्ञ के लिए पितरों का दारपरिग्रह का निर्देश नितान्त सङ्गत है।

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही॥ (मनु० ३।६७)

इस पञ्चमहायज्ञ की आवश्यकता का निर्देश करते हुए लिखा गया गृहस्थ को चुल्ही, चक्की, झाड़ू, ओखली-मूसल और जल घट के व्यवहार से पाप होता है, इन महापापों से छुटकारा पाने के लिए पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन गृहस्थाश्रमियों के लिए आवश्यक है।

ये पञ्चमहायज्ञ निम्नलिखित हैं :—वेद का अध्ययन और अध्यापन ब्रह्मयज्ञ, तर्पण-श्राद्ध पितृयज्ञ, हवन करना देवयज्ञ, वलिवैश्वदेव भूतयज्ञ और अतिथियों को भोजन कराना नृयज्ञ है। इनका यथाविधि सम्पादन न करने पर सूना दोष से लिप्त होता है। इन यज्ञों के द्वारा देवता, अतिथि, माता-पिता, सेवकों और पितरों को यदि तृप्त नहीं करता है तो मरे हुए के समान ही वह जीवित है।

पञ्चसूनागृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यस्तु वाहयन् ॥६८॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
यज्ञक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥६९॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो वलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥७०॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥७१॥

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥७२॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥७३॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको वलिः।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यचार्धा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥७४॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥७५॥

(मनु० ३।६८-७५)

गृहस्थाश्रम की आवश्यकता का प्रदर्शन करते हुए लिखा गया है कि "जिस तरह प्राणवायु का आश्रय कर सभी जीव जीते हैं, उसी तरह गृहस्थ आश्रय कर ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम चलते हैं। गृहस्थाश्रम से तीन आश्रम वाले ज्ञान और अन्न को प्राप्त करते हैं, अतः गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ है। अक्षय स्वर्ग-सुख तथा ऐहिक सुख चाहने वाले मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम का आश्रय करना चाहिए व दुर्बलेन्द्रिय गृहस्थाश्रम का धारण नहीं कर सकता है। ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि गृहस्थ से अपनी सन्तुष्टि की आशा रखते हैं, अतः शास्त्रज्ञों के लिए भी यह आश्रम अतिशय आवश्यक है। वेद-पाठ से ऋषियों की, विधिपूर्वक हवन से देवताओं की, श्राद्धों से पितरों की, अन्न से अतिथियों की और बलि कर्म से भूतों की तृप्ति करनी चाहिए। इस प्रकार गृहस्थाश्रम की विशेष प्रशंसा मनु ने की है। रौच्य के पितरों ने भी रुचि को आश्रयविहीन जीवन से छुटकारा दिलाने के लिए ही निर्देश किया है।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥७७॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥७८॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥७९॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितॄन्श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥८०॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥८१॥ (मनु० ३।७७-८१)

याज्ञवल्क्यस्मृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि अपने लिए भोजन बनाना कदापि उचित नहीं, स्वधापूर्वक पितृयज्ञ आदि की प्रशंसा की गई है ।

अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम् ।
स्वाध्यायं सततं कुर्यान्न पचेदन्नमात्मने ॥ (या० आ० अ० १०४)

श्रीमद्भागवत के अनुसार गृहस्थसम्बन्धी सदाचार—

युधिष्ठिर ! मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहे और गृहस्थ-धर्म के अनुसार सब काम करे, परन्तु उन्हें भगवान् के प्रति समर्पित कर दे और बड़े-बड़े सन्त-महात्माओं की सेवा भी करे ॥२॥ अवकाश के अनुसार विरक्त पुरुषों में निवास करे और बार-बार श्रद्धापूर्वक भगवान् के अवतारों की लीला-सुधा का पान करता रहे ।३॥ जैसे स्वप्न टूट जाने पर मनुष्य स्वप्न के सम्बन्धियों से आसक्त नहीं रहता—वैसे ही ज्यों-ज्यों सत्सङ्ग के द्वारा बुद्धि शुद्ध हो, वैसे ही क्रमशः शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि की आसक्ति स्वयं छोड़ता चले । क्योंकि एक न एक दिन ये छूटने वाले ही हैं ॥४॥ बुद्धिमान् पुरुष को आवश्यकता के अनुसार ही घर और शरीर की सेवा करनी चाहिए, अधिक नहीं । भीतर से विरक्त रहे और बाहर से रागी के समान लोगों में साधारण मनुष्यों जैसा ही व्यवहार कर ले ॥५॥ माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र-मित्र, जाति वाले और दूसरे जो कुछ कहें अथवा जो कुछ चाहें, भीतर से ममता न रखकर उनका अनुमोदन कर दे ॥६॥

गृहेष्ववस्थितो राजन्क्रियाः कुर्वन्गृहोचिताः ।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ॥ २ ॥

श्रृण्वन्भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम् ।
श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः ॥ ३ ॥

सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु ।
विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः ॥ ४ ॥

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः ।
विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् ॥ ५ ॥

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे ।
यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष वर्षा आदि के द्वारा होने वाले अन्नादि, पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले सुवर्ण आदि, अकस्मात् प्राप्त होने वाले द्रव्य आदि तथा और सब प्रकार के धन भगवान् के दिए हुए हैं—ऐसा समझकर प्रारब्ध के अनुसार उनका उपभोग करता हुआ संचय न करें, उन्हें पूर्वोक्त साधुसेवा आदि कर्मों में लगा दें ॥७॥ मनुष्यों का अधिकार केवल उतने ही धन पर है, जितने से उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्ति को जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिए ॥८॥ हरिन, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, सरीसृप (रेंगकर चलने वाले प्राणी), पक्षी और मक्खी आदिको अपने पुत्र के समान ही समझे। उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है ॥९॥ गृहस्थ मनुष्योंको भी धर्म, अर्थ और काम के लिये बहुत कष्ट नहीं उठाना चाहिये; बल्कि देश, काल और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे सन्तोष करना चाहिये ॥१०॥ अपनी समस्त भोग सामग्रियों को कुत्ते, पतित और चाण्डालपर्यन्त सब प्राणियों को यथायोग्य बाँट कर ही अपने काम में लाना चाहिए। और तो क्या अपनी स्त्री को भी —जिसे मनुष्य समझता है कि यह मेरी है—अतिथि आदि की निर्दोष सेवा में नियुक्त रक्खे ॥११॥ लोग स्त्रीके लिये अपने प्राण तक दे डालते हैं। यहाँ तक कि अपने माँ-बाप और गुरु को भी मार डालते हैं। उस स्त्री पर से जिसने अपनी ममता हटा ली, उसने स्वयं नित्य विजयी भगवान् पर भी विजय प्राप्त कर ली ॥१२॥ यह शरीर अन्त में कीड़े, विष्ठा या राख की ढेरी होकर रहेगा। कहाँ तो यह तुच्छ शरीर और इसके लिये जिसमें आसक्ति होती है वह स्त्री, और कहाँ अपनी महिमा से आकाश को भी ढक रखने वाला अनन्त आत्मा ! ॥१३॥

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।
तत् सर्वमुपभुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः ॥ ७ ॥

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ ८ ॥

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ॥ ९ ॥

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम् ॥ १० ॥

आश्वाघान्तेऽवसायिभ्यः कामान्संविभजेद् यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः ॥ ११ ॥

जह्याद् यदर्थे स्वप्राणान्हन्याद् वा पितरं गुरुम्।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितोजितः ॥१२॥

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम्।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः ॥१३॥

गृहस्थ को चाहिए कि प्रारब्ध से प्राप्त और पञ्चयज्ञ आदि से बचे हुए अन्न से ही अपना जीवन-निर्वाह करे। जो बुद्धिमान् पुरुष इसके सिवा और किसी वस्तु में स्वत्व नहीं रखते, उन्हें सन्तों का पद प्राप्त होता है ॥१४॥ अपनी वर्णाश्रमविहित वृत्ति के द्वारा प्राप्त सामाग्रियों से प्रतिदिन देवता, ऋषि, मनुष्य, भूत और पितृगण का तथा अपने आत्मा का पूजन करना चाहिये। यह एक ही परमेश्वर की भिन्न-भिन्न रूपों में आराधना है ॥१५॥ यदि अपने को अधिकार आदि यज्ञ के लिये आवश्यक सब वस्तुएँ प्राप्त हों तो बड़े-बड़े यज्ञ या अग्निहोत्र आदि के द्वारा भगवान् की आराधना करनी चाहिये ॥१६॥ युधिष्ठिर! वैसे तो समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् ही हैं; परन्तु ब्राह्मण के मुख में अर्पित किये हुए हविष्यान्न से उनकी जैसी तृप्ति होती है, वैसी अग्नि के मुख में हवन करने से नहीं ॥१७॥ इसलिये ब्राह्मण, देवता, मनुष्य आदि सभी प्राणियों में यथायोग्य उनके उपयुक्त सामाग्रियों के द्वारा सबके हृदय में अन्तर्यामीरूप से विराजमान भगवान् की पूजा करनी चाहिये। इनमें प्रधानता ब्राह्मणों की ही है ॥१८॥

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥१४॥

देवानृषीन् नृभूतानि पितॄनात्मानमन्वहम्।
स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक् ॥१५॥

यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥१६॥

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान्सर्वयज्ञभुक्।
इज्येत हविषा राजन्यथा विप्रमुखे हुतैः ॥१७॥

तस्माद् ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः।
तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु ॥१८॥

धनी द्विज को अपने धन के अनुसार आश्विन मास के कृष्णपक्ष में अपने माता-पिता तथा उनके बन्धुओं (पितामह, मातामह आदि) का भी महालय श्राद्ध करना चाहिये ॥१९॥ इसके सिवा अयन (कर्क एवं मकर की संक्रान्ति), विषुव (तुला और मेष की संक्रान्ति), व्यतीपात, दिनक्षय, चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण के समय, द्वादशी के दिन, श्रवण, धनिष्ठा और अनुराधा नक्षत्रों में वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया), कार्तिकशुक्ला-नवमी (अक्षय नवमी), अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन—इन चार महीनों की कृष्णाष्टमी, माघशुक्ला सप्तमी, माघकी मघा नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा और प्रत्येक महीने की वह पुर्णिमा, जो अपने मास-नक्षत्र, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा आदि से युक्त हो – चाहे चन्द्रमा पूर्ण हों या अपूर्ण; द्वादशी तिथिका अनुराधा, श्रवण, उत्तरा-फाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपदा के साथ योग, एकादशी तिथि का तीनों उत्तरा नक्षत्रों से योग अथवा जन्म-नक्षत्र या श्रवण नक्षत्र से योग—ये सारे समय पितृगणों का श्राद्ध करने योग्य एवं श्रेष्ठ हैं। ये लोग केवल श्राद्ध के लिये ही नहीं, सभी पुण्यकर्मों के लिए उपयोगी हैं। ये कल्याण की साधना के उपयुक्त और शुभ की अभि-

वृद्धि करने वाले हैं। इन अवसरों पर अपनी पूरी शक्ति लगाकर शुभ कर्म करने चाहिये। इसी में जीवन की सफलता है ॥२०-२४॥ इन शुभ संयोगों में जो स्नान, जप, होम, व्रत तथा देवता और ब्राह्मणों की पूजा की जाती है अथवा जो कुछ देवता, पितर, मनुष्य एवं प्राणियों को समर्पित किया जाता है, उनका फल अक्षय होता है ॥२५॥ हे युधिष्ठिर ! इसी प्रकार स्त्री के पुंसवन आदि, सन्तान के जातकर्मादि तथा अपने यज्ञ-दीक्षा आदि संस्कारों के समय, शव-दाह के दिन या वार्षिक श्राद्ध के उपलक्ष्य में अथवा अन्य माङ्गलिक कर्मों में दान आदि शुभ कर्म करने चाहिये ॥२६॥

कुर्यादापरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः।
श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनां च वित्तवान् ॥१९॥

अयने विषुवे कुर्याद् व्यतीपाते दिनक्षये।
चन्द्रादित्योपरागे च द्वादशीश्रवणेषु च ॥२०॥

तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके।
चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा ॥२१॥

माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे।
राकया चानुमत्या वा मासर्क्षाणि युतान्यपि ॥२२॥

द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिस्र उत्तराः।
तिसृष्वेकादशीवाऽऽसुजन्मर्क्षश्रोणयोगयुक् ॥२३॥

त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्धनाः।
कुर्यात् सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः ॥२४॥

एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम्।
पितृदेवनृभूतेभ्यो यद् दत्तं तद्ध्यनश्वरम् ॥२५॥

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा।
प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप ॥२६॥

युधिष्ठिर ! अब मैं उन स्थानों का वर्णन करता हूँ, जो धर्म आदि श्रेय की प्राप्ति कराने वाले हैं। सबसे पवित्र देश वह है, जिसमें सत्पात्र मिलते हों ॥२७॥ जिनमें यह सारा चर और अचर जगत् स्थित है, उन भगवान् की प्रतिमा जिस देश में हो, जहाँ तप, विद्या एवं दया आदि गुणों से युक्त ब्राह्मणों के परिवार निवास करते हों तथा जहाँ-जहाँ भगवान् की पूजा होती हो और पुराणों में प्रसिद्ध गङ्गा आदि नदियाँ हों, वे सभी स्थान परम कल्याणकारी हैं ॥२८-२९॥ पुष्कर आदि सरोवर, सिद्ध पुरुषों के द्वारा सेवित क्षेत्र, कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलहाश्रम (शालग्रामक्षेत्र), नैमिषारण्य, फाल्गुनक्षेत्र, सेतुबन्ध, प्रभास, द्वारका, काशी, मथुरा, पम्पासर, बिन्दुसरोवर, बदरिकाश्रम, अलकनन्दा, भगवान् सीता रामजी के आश्रम—अयोध्या-चित्रकूटादि, महेन्द्र और मलय आदि समस्त कुल पर्वत और जहाँ-जहाँ भगवान् के अर्चावतार हैं—वे सबके सब देश अत्यन्त पवित्र हैं। कल्याणकामी पुरुष को बार-बार इन देशों का सेवन करना

५

चाहिये। इन स्थानों पर जो पुण्यकर्म किये जाते हैं, मनुष्यों को उनका हजार गुना फल मिलता है ॥ ३०-३३ ॥

अथ देशान्प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेय आवहान्।
स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते ॥२७॥
बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम्।
यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम् ॥२८॥
यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम्।
यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः ॥२९॥
सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत।
कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः ॥३०॥
नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली।
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा ॥ ३१ ॥
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः।
सर्वे कुलाचला राजन्महेन्द्रमलयादयः ॥ ३२ ॥
एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये।
एतान्देशान् निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः।
धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः ॥ ३३ ॥

हे युधिष्ठिर ! पात्र-निर्णय के प्रसङ्ग में पात्र के गुणों को जाननेवाले विवेकी पुरुषों ने एक मात्र भगवान् को ही सत्पात्र बतलाया है। यह चराचर जगत् उन्हीं का स्वरूप है ॥ ३४ ॥ अभी तुम्हारे इसी यज्ञ की बात है; देवता, ऋषि, सिद्ध और सनकादिकों के रहने पर भी अग्रपूजा के लिए भगवान् श्रीकृष्ण को ही पात्र समझा गया ॥ ३५ ॥ असंख्य जोवों से भरपूर इस ब्रह्माण्डरूप महावृक्ष के एकमात्र मूल भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। इसलिए उनकी पूजा से समस्त जीवों की आत्मा तृप्त हो जाती है ॥ ३६ ॥ उन्होंने मनुष्य, पशु-पक्षी, ऋषि और देवता आदि के शरीररूप पुरों की रचना की है तथा वे ही पुरों में जीवरूप से शयन भी करते हैं। इसी से उनका एक नाम 'पुरुष' भी है ॥ ३७ ॥ युधिष्ठिर ! एकरस रहते हुए भी भगवान् इन मनुष्यादि शरीर में उनकी विभिन्नता के कारण न्यूनाधिक रूप से प्रकाशमान हैं। इसलिए पशु-पक्षी आदि शरीरों की अपेक्षा मनुष्य ही श्रेष्ठ पात्र हैं और मनुष्यों में भी, जिसमें भगवान् का अंश तप-योगादि जितना ही अधिक पाया जाता है, वह उतना ही श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥

पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥ ३४ ॥
देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु।
राजन्यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः ॥ ३५ ॥
जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशाङ्घ्रिपो महान्।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् ॥ ३६ ॥

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः ।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥ ३७ ॥

तेष्वेषु भगवान्राजंस्तारतम्येन वर्तते ।
तस्मात् पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ॥ ३८ ॥

हे युधिष्ठिर ! त्रेता आदि युगों में जब विद्वानों ने देखा कि मनुष्य परस्पर एक दूसरे का अपमान आदि करते हैं, तब उन लोगों ने उपासना की सिद्धि के लिए भगवान् की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की ॥ ३९ ॥ तभी से कितने ही लोग बड़ी श्रद्धा और सामग्री से प्रतिमा में भगवान् की पूजा करते हैं। परन्तु जो मनुष्य से द्वेष करते हैं, उन्हें प्रतिमा की उपासना करने पर भी सिद्धि नहीं मिल सकती ॥ ४० ॥ युधिष्ठिर ! मनुष्यों में भी ब्राह्मण विशेष सुपात्र माना गया है। क्योंकि वह अपनी तपस्या, विद्या और सन्तोष आदि गुणों से भगवान् के वेदरूप शरीर को धारण करता है ॥ ४१ ॥ महाराज ! हमारा और तुम्हारी तो बात ही क्या—ये जो सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं, इनके भी इष्टदेव ब्राह्मण ही हैं। क्योंकि उनके चरणों की धूल से तीनों लोक पवित्र होते रहते हैं ॥ ४२ ॥

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥ ३९ ॥

ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया ।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥ ४० ॥

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥ ४१ ॥

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन्कृष्णस्य जगदात्मनः ।
पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत् ॥ ४२ ॥

गृहस्थों के लिये मोक्षधर्म का वर्णन—

नारदजी कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! कुछ ब्राह्मणों की निष्ठा कर्म में, कुछ की तपस्या में, कुछ की वेदों के स्वाध्याय और प्रवचन में, कुछ की आत्मज्ञान के सम्पादन में तथा कुछ की योग में होती है ॥ १ ॥ गृहस्थ पुरुष को चाहिये कि श्राद्ध अथवा देवपूजा के अवसर पर अपने कर्म का अक्षय फल प्राप्त करने के लिए ज्ञाननिष्ठ पुरुष को ही हव्य-कव्य का दान करे। यदि वह न मिले तो योगी, प्रवचनकार आदि को यथायोग्य और यथाक्रम देना चाहिये ॥ २ ॥ देवकार्य में दो और पितृकार्य में तीन अथवा दोनों में एक-एक ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिये। अत्यन्त धनी होने पर भी श्राद्धकर्म में अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥ क्योंकि सगे सम्बन्धी आदि स्वजनों को देने से और विस्तार करने से देश कालोचित श्रद्धा, पदार्थ, पात्र और पूजन आदि ठीक-ठीक नहीं हो पाते ॥ ४ ॥ देश और काल के प्राप्त होने पर ऋषि-मुनियों के भोजन करने योग्य शुद्ध हविष्यान्न भगवान् को भोग लगाकर श्रद्धा से विधिपूर्वक योग्य

पात्र को देना चाहिये। वह समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला और अक्षय होता है ॥ ५ ॥ देवता, ऋषि, पितर, अन्य प्राणी स्वजन और अपने आपको भी अन्न का विभाजन करने के समय परमात्मस्वरूप ही देखे ॥ ६ ॥

नारद उवाच

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे।
स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने ये केचिज्ज्ञानयोगयोः ॥ १ ॥

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता।
दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥ २ ॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् ॥ ३ ॥

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च।
सम्यग् भवन्ति नैतानि विस्तरात् स्वजनार्पणात् ॥ ४ ॥

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं हरिदैवतम्।
श्रद्धया विधिवत् पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम् ॥ ५ ॥

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च।
अन्नं संविभजन्पश्येत् सर्वं तत् पुरुषात्मकम् ॥ ६ ॥

धर्म का मर्म जानने वाला पुरुष श्राद्ध में मांस का अर्पण न करे और न स्वयं ही उसे खाय; क्योंकि पितरों को ऋषि-मुनियों के योग्य हविष्यान्न से जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी पशु-हिंसा से नहीं होती ॥ ७ ॥ जो लोग सद्धर्मपालन की अभिलाषा रखते हैं, उनके लिये इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है कि किसी भी प्राणी को मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार का कष्ट न दिया जाय ॥ ८ ॥ इसी से कोई-कोई यज्ञ-तत्त्वको जानने वाले ज्ञानी ज्ञान के द्वारा प्रज्वलित आत्मसंयम रूप अग्नि में इन कर्ममय यज्ञों का हवन कर देते हैं और बाह्य कर्मकलापों से उपरत हो जाते हैं ॥ ९ ॥ जब कोई इन द्रव्यमय यज्ञों से यजन करना चाहता है, तब सभी प्राणी डर जाते हैं; वे सोचने लगते हैं कि यह अपने प्राणों का पोषण करनेवाला निर्दयी मूर्ख मुझे अवश्य मार डालेगा ॥ १० ॥ इसलिए धर्मज्ञ मनुष्य को यही उचित है कि प्रतिदिन प्रारब्ध के द्वारा प्राप्त मुनिजनोचित हविष्यान्न से ही अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म करे तथा उसी से सर्वदा सन्तुष्ट रहे ॥ ११ ॥

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया ॥ ७ ॥

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम्।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥ ८ ॥

एके कर्ममयान् यज्ञान् ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः।
आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ९ ॥

द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति।
एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृब् ध्रुवम् ॥ १० ॥
तस्माद् दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित्।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः ॥ ११ ॥

अधर्म की पाँच शाखाएँ हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल। धर्मज्ञ पुरुष अधर्म के समान ही इनका भी त्याग कर दे ॥ १२ ॥ जिस कार्य को धर्म-बुद्धि से करने पर भी अपने धर्म में बाधा पड़े, वह 'विधर्म' है। किसी अन्य के द्वारा अन्य पुरुष के लिये उपदेश किया हुआ धर्म 'परधर्म' है। पाखण्ड या दम्भका नाम 'उपधर्म' अथवा 'उपमा' है। शास्त्र के वचनों का दूसरे प्रकार का अर्थ कर देना 'छल' है ॥१३॥ मनुष्य अपने आश्रम के विपरीत स्वेच्छा से जिसे धर्म मान लेता है, वह 'आभास' है। अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल जो वर्णाश्रमोचित धर्म हैं वे भला किसे शान्ति नहीं देते ॥ १४ ॥

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेत् ॥ १२ ॥
धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः ॥ १३ ॥
यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ॥ १४ ॥

धर्मात्मा पुरुष निर्धन होने पर भी धर्म के लिए अथवा शरीर-निर्वाह के लिये धन प्राप्त करने की चेष्टा न करे। क्योंकि जैसे बिना किसी प्रकार की चेष्टा किये अजगर की जीविका चलती ही है, वैसे ही निवृत्तिपरायण पुरुष की निवृत्ति ही उसकी जीविका का निर्वाह कर देती है ॥ १५ ॥ जो सुख अपनी आत्मा में रमण करने वाले निष्क्रिय सन्तोषी पुरुष को मिलता है, वह उस मनुष्य को भला कैसे मिल सकता है, जो कामना और लोभ से धन के लिये हाय-हाय करता हुआ इधर-उधर दौड़ता फिरता है ॥ १६ ॥ जैसे पैरों में जूता पहन कर चलने वाले को कंकड़ और काटों से कोई डर नहीं होता—वैसे ही जिसके मन में सन्तोष है, उसके लिए सर्वदा और सब कहीं सुख-ही-सुख है, दुःख है ही नहीं ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर ! न जाने क्यों मनुष्य केवल जलमात्र से ही सन्तुष्ट रहकर अपने जीवन का निर्वाह नहीं कर लेता। अपितु रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के फेर में पड़ कर यह बेचारा घर की चौकसी करने वाले कुत्ते के समान हो जाता है।१८। जो ब्राह्मण सन्तोषी नहीं है, इन्द्रियों की लोलुपता के कारण उसके तेज, विद्या, तपस्या और यश क्षीण हो जाते हैं और वह विवेक भी खो बैठता है ॥ १९ ॥ भूख और प्यास मिट जाने पर खाने-पीने की कामना का अन्त हो जाता है। क्रोध भी अपना काम पूरा करके शान्त हो जाता है। परन्तु यदि मनुष्य पृथ्वी की समस्त दिशाओं को जीत ले और भोग ले, तब भी लोभ का अन्त नहीं होता ॥ २० ॥ अनेक विषयों के ज्ञाता, शङ्काओं का समाधान करके चित्त में शास्त्रोक्त अर्थ को बैठा देने वाले और विद्वत्सभाओं के सभापति बड़े-बड़े विद्वान् भी असन्तोष के कारण गिर जाते हैं ॥ २१ ॥

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥ १५ ॥

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम् ।
कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥ १६ ॥

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥ १७ ॥

सन्तुष्टः केन वा राजन्न वर्तेतापि वारिणा ।
औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद् गृहपालायते जनः ॥ १८ ॥

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥ १९ ॥

कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात् ।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥ २० ॥

पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः ॥ २१ ॥

धर्मराज ! सङ्कल्पों के परित्याग से काम को, कामनाओं के त्याग से क्रोध को, संसारी लोग जिसे 'अर्थ' कहते हैं उसे अनर्थ समझ कर लोभ को और तत्त्व के विचार से भय को जीत लेना चाहिये ॥ २२ ॥ अध्यात्मविद्या से शोक और मोह पर, सन्तों की उपासना से दम्भ पर, मौन के द्वारा योग के विघ्नों पर और शरीर प्राण आदि को निश्चेष्ट करके हिंसा पर विजय प्राप्त करनी चाहिये ॥ २३ ॥ आधिभौतिक दुःख को दया के द्वारा, आधिदैविक वेदना को समाधि के द्वारा और आध्यात्मिक दुःख को योग बल से एवं निद्रा को सात्त्विक भोजन, स्थान, सङ्ग आदि के सेवन से जीत लेना चाहिये ॥ २४ ॥ तत्त्व गुण के द्वारा रजोगुण एवं तमोगुण पर और उपरति के द्वारा सत्त्वगुण पर विजय प्राप्त करनी चाहिये । श्रीगुरुदेव की भक्ति के द्वारा साधक इन सभी दोषों पर सुगमता से विजय प्राप्त कर सकता है ॥ २५ ॥ हृदय में ज्ञान का दीपक जलानेवाले गुरुदेव साक्षात् भगवान् ही हैं । जो दुर्बुद्धि पुरुष उन्हें मनुष्य समझता है, उसका समस्त शास्त्र श्रवण हाथी के स्नान के समान व्यर्थ है ॥ २६ ॥ बड़े-बड़े योगेश्वर जिनके चरण-कमलों का अनुसन्धान करते रहते हैं, प्रकृति और पुरुष के अधीश्वर वे स्वयं भगवान् ही गुरुदेव के रूप में प्रकट हैं । इन्हें लोग भ्रम से मनुष्य मानते हैं ॥२७॥

असङ्कल्पाञ्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥ २२ ॥

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया ॥ २३ ॥

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥ २४ ॥

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत् सर्वंगुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥ २५॥

यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥ २६॥

एष वै भगवान्साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम्॥ २७॥

शास्त्रों में जितने भी नियम सम्बन्धी आदेश हैं उनका एकमात्र तात्पर्य यही है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली जाय अथवा पाँचों इन्द्रिय और मन—ये छः वश में हो जायँ। ऐसा होने पर भी यदि उन नियमों के द्वारा भगवान् के ध्यान चिन्तन आदि की प्राप्ति नहीं होती तो उन्हें केवल श्रम-ही-श्रम समझना चाहिये ॥२८॥ जैसे खेती, व्यापार आदि और उनके फल भी योग-साधना के फल भगवत्प्राप्ति या मुक्तिको नहीं दे सकते—वैसे ही दुष्ट पुरुष के श्रौत-स्मार्त कर्म भी कल्याणकारी नहीं होते, प्रत्युत उल्टा फल देते हैं॥२९॥

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥२८॥

यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति।
अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं तथासतः॥२९॥

जो पुरुष अपने मनपर विजय प्राप्त करने के लिये उद्यत हो, वह आसक्ति और परिग्रह का त्याग करके संन्यास ग्रहण करे। एकान्त में अकेला ही रहे और भिक्षा-वृत्ति से शरीर-निर्वाहमात्र के लिये स्वल्प और परिमित भोजन करे॥३०॥ युधिष्ठिर! पवित्र और समान भूमिपर अपना आसन बिछाये और सीधे स्थिरभावसे समान और सुखकर आसनसे उसपर बैठकर ॐकारका जप करे॥३१॥ जब तक मन सङ्कल्प-विकल्पों को छोड़ न दे, तब तक नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर पूरक, कुम्भक और रेचक द्वारा प्राण तथा अपानकी गतिको रोके॥३२॥ कामकी चोट से घायल चित्त इधर-उधर चक्कर काटता हुआ जहाँ-जहाँ जाय, विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह वहाँ-वहाँ से उसे लौटा लाये और धीरे-धीरे हृदय में रोके॥३३॥ जब साधक निरन्तर इस प्रकार का अभ्यास करता है, तब ईंधन के बिना जैसे अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही थोड़े समय में उसका चित्त शान्त हो जाता है॥३४॥ इस प्रकार जब काम-वासनाएँ चोट करना बंद कर देती हैं और समस्त वृत्तियाँ अत्यन्त शान्त हो जाती हैं, तब चित्त ब्रह्मानन्द के संस्पर्श में मग्न हो जाता है और फिर उसका कभी उत्थान नहीं होता॥३५॥

यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भिक्षामिताशनः॥३०॥

देशे शुचौ समे राजन्संस्थाप्यासनमात्मनः।
स्थिरं समं सुखं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति॥३१॥

प्राणापानौ सन्निरुन्ध्यात् पूरकुम्भकरेचकैः ।
यावन्मनस्त्यजेत् कामान्स्वनासाग्रनिरीक्षणः ॥३२॥

यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत् ।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः ॥३३॥

एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः ।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत् ॥३४॥

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् ।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ॥३५॥

जो संन्यासी पहले तो धर्म, अर्थ और कामके मूल कारण गृहस्थाश्रम का परित्याग कर देता है और फिर उन्हीं का सेवन करने लगता है, वह निर्लज्ज अपने उगले हुए को खानेवाला कुत्ता ही है ॥३६॥ जिन्होंने अपने शरीर को अनात्मा, मृत्यु-ग्रस्त और विष्ठा, कृमि एवं राख समझ लिया था—वे ही मूढ़ फिर उसे आत्मा मानकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं ॥३७। कर्मत्यागी गृहस्थ, व्रतत्यागी ब्रह्मचारी, गाँवमें रहने वाला तपस्वी (वानप्रस्थ) और इन्द्रिय लोलुप संन्यासी—ये चारों आश्रम के कलङ्क हैं और व्यर्थ ही आश्रमोंका ढोंग करते हैं। भगवान् की माया से विमोहित उन मूढ़ों पर तरस खाकर उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥३८-३९॥ आत्मज्ञान के द्वारा जिसकी सारी वासनाएँ निर्मूल हो गयी हैं और जिसने अपने आत्मा को परब्रह्मस्वरूप जान लिया है, वह किस विषय की इच्छा और किस भोक्ता की तृप्ति के लिये इन्द्रिय लोलुप होकर अपने शरीका पोषण करेगा ? ॥४०॥

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः ।
यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥३६॥

यैः स्वदेहः स्मृतो नात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मसात् ।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ॥३७॥

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि ।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता ॥३८॥

आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः ।
देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥३९॥

आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः ।
किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः ॥४०॥

उपनिषदों में कहा गया है कि शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियोंका स्वामी मन लगाम है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथि है, चित्त ही भगवान् के द्वारा निर्मित बाँधने की विशाल रस्सी है, दस प्राण धुरी हैं, धर्म और अधर्म पहिये हैं और इनका अभिमानी जीवरथी कहा गया है। ॐकार ही उस रथीका धनुष है, शुद्ध जीवात्मा बाण और परमात्मा लक्ष्य है। (इस ॐकार के द्वारा अन्तरात्माको परमात्मामें

लीन कर देना चाहिये) ॥४१-४२॥ राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, दूसरे के गुणों में दोष निकालना, छल, हिंसा, दूसरे की उन्नति देखकर जलना, तृष्णा, प्रमाद, भूख और नींद—ये सब, और ऐसे ही जीवों के और भी बहुत से शत्रु हैं। उनमें रजोगुण और तमोगुणप्रधान वृत्तियाँ अधिक हैं, कहीं-कहीं कोई-कोई सत्त्व-गुण प्रधान ही होती हैं ॥ ४३-४४॥ यह मनुष्य-शरीर रूप रथ जब तक अपने वशमें है और इसके इन्द्रिय, मन आदि सारे साधन अच्छी दशा में विद्यमान हैं, तभी तक श्रीगुरुदेव के चरणकमलों की सेवा-पूजा से शान धरायी हुई ज्ञान की तीखी तलवार लेकर भगवान्‌के आश्रय से इन शत्रुओं का नाश करके अपने स्वराज्य-सिंहासनपर विराजमान हो जाय और फिर अत्यन्त शान्त भाव से इस शरीरका भी परित्याग कर दे ॥४५॥ नहीं तो, तनिक भी प्रमाद हो जाने पर ये इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़े और उनसे मित्रता रखनेवाला बुद्धिरूप सारथि रथ के स्वामी जीवको उल्टे रास्ते ले जाकर विषय-रूपी लुटेरों के हाथों में डाल देंगे। वे डाकू सारथि और घोड़ों के सहित इस जीवको मृत्यु से अत्यन्त भयावने घोर अन्धकारमय संसार के कुएँ में गिरा देंगे ॥४६॥

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम् ॥४१॥

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥४२॥

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥४३॥

रजः प्रमादः क्षुन्निद्राशत्रवस्त्वेवमादयः।
रजस्तमः प्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥४४॥

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥४५॥

नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥४६॥

वैदिक कर्म दो प्रकार के हैं—एक तो वे जो वृत्तियों को उनके विषयोंकी ओर ले जाते हैं—प्रवृत्ति परक, और दूसरे वे जो वृत्तियों को उनके विषयों की ओर से लौटाकर

६

शान्त एवं आत्मसाक्षात्कार के योग्य बना देते हैं—निवृत्तिपरक। प्रवृत्तिपरक कर्ममार्ग से बार-बार जन्म-मृत्यु की प्राप्ति होती है और निवृत्तिपरक भक्तिमार्ग या ज्ञानमार्ग के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती है ॥४७॥ श्येनयागादि हिंसामय कर्म, अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, सोमयाग, वैश्वदेव, बलिहरण आदि द्रव्यमय कर्म 'इष्ट' कहलाते हैं और देवालय, बगीचा, कूआँ आदि बनवाना तथा प्याऊ आदि लगाना 'पूर्त कर्म' हैं। ये सभी प्रवृत्तिपरक कर्म हैं और सकामभाव से युक्त होने पर अशान्ति के ही कारण बनते हैं ॥४८-४९॥ प्रवृत्तिपरायण पुरुष मरने पर चरु पुरोडाशादि यज्ञ सम्बन्धी द्रव्यों के सूक्ष्मभाग से बना हुआ शरीर धारणकर धूमाभिमानी देवताओं के पास जाता है। फिर क्रमशः रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के अभिमानी देवताओं के पास जाकर चन्द्रलोक में पहुँचता है। वहाँ से भोग समाप्त होने पर अमावस्या के चन्द्रमा के समान क्षीण होकर वृष्टि द्वारा क्रमशः औषधि, लता, अन्न और वीर्यके रूप में परिणत होकर पितृयान मार्ग से पुनः संसार में ही जन्म लेता है ॥५०-५१॥ युधिष्ठिर! गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त सम्पूर्ण संस्कार जिनके होते हैं, उनको 'द्विज' कहते हैं। (उनमें से कुछ तो पूर्वोक्त प्रवृत्तिमार्गका अनुष्ठान करते हैं और कुछ आगे कहे जाने वाले निवृत्तिमार्गका।) निवृत्तिपरायण पुरुष इष्ट, पूर्त आदि कर्मों से होने वाले समस्त यज्ञोंको विषयों का ज्ञान कराने वाले इन्द्रियों में हवन कर देता है ॥५२॥ इन्द्रियों को दर्शनादि सङ्कल्परूप मनमें, वैकारिक मन को परा वाणी में और परा वाणी को वर्णसमुदाय में, वर्णसमुदायको 'अ उ म्' इन तीन स्वरों के रूप में रहने वाले ॐकार में, ॐकार को बिन्दु में, बिन्दु को नाद में, नादको सूत्रात्मारूप प्राण में तथा प्राण को ब्रह्म में लीन कर देता है ॥५३॥ वह निवृत्तिनिष्ठ ज्ञानी क्रमशः अग्नि, सूर्य, दिन, सायंकाल, शुक्लपक्ष, पूर्णमासी और उत्तरायण के अभिमानी देवताओं के पास जाकर ब्रह्मलोक में पहुँचता है और वहाँ के भोग समाप्त होने पर वह स्थूलोपाधिक 'विश्व' अपनी स्थूल उपाधिको सूक्ष्म में लीन करके सूक्ष्मोपाधिक 'तैजस' हो जाता है। फिर सूक्ष्म उपाधिको कारण में लय करके कारणोपाधिक 'प्राज्ञ' रूप से स्थित होता है; फिर सबके साक्षीरूप से सर्वत्र अनुगत होने के कारण साक्षी के ही स्वरूप में कारणोपाधिका लय करके 'तुरीय' रूप से स्थित होता है। इस प्रकार दृश्यों का लय हो जाने पर वह शुद्ध आत्मा रह जाता है। यही मोक्षपद है ॥५४॥ इसे 'देवयान' मार्ग कहते हैं। इस मार्ग से जानेवाला आत्मोपासक संसार की ओर से निवृत्त होकर क्रमशः एक से दूसरे देवता के पास होता हुआ ब्रह्मलोक में जाकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह प्रवृत्तिमार्गी के समान फिर जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ता ॥५५॥

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्तेत प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम् ॥४७॥
हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।
दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः ॥४८॥
एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च।
पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम् ॥४९॥

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः।
अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः ॥५०॥
अन्नं रेत इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः।
एकैकश्येनानुपूर्वं भूत्वा भूत्वेह जायते ॥५१॥
निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुह्वति ॥५२॥
इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ वाचि वैकारिकं मनः।
वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत्।
ओङ्कारं विन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम् ॥५३॥
अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट्।
विश्वश्च तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात् ॥५४॥
देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते ॥५५॥

ये पितृयान और देवयान दोनों ही वेदोक्त मार्ग हैं। जो शास्त्रीय दृष्टि से इन्हें तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीर में स्थित रहता हुआ भी मोहित नहीं होता ॥५६॥ पैदा होने वाले शरीरों के पहले भी कारण रूप से और उनका अन्त हो जानेपर भी उनकी अवधिरूप से जो स्वयं विद्यमान रहता है, जो भोगरूप से बाहर और भोक्तारूप से भीतर है तथा ऊँच और नीच, जानना और जानने का विषय, वाणी और वाणी का विषय, अन्धकार और प्रकाश आदि वस्तुओं के रूप में जो कुछ भी उपलब्ध होता है, वह सब स्वयं यह तत्त्ववेत्ता ही है। इसी से मोह उसका स्पर्श नहीं कर सकता ॥५७॥ दर्पण आदि में दीख पड़ने वाला प्रतिबिम्ब विचार और युक्ति से बाधित है, उनका उनमें अस्तित्व है नहीं; फिर भी वस्तु के रूप में तो वह दीखता ही है। वैसे ही इन्द्रियों के द्वारा दीखने वाला वस्तुओं का भेद-भाव भी विचार, युक्ति और आत्मानुभव से असम्भव होने के कारण वस्तुतः न होने पर भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥५८॥ पृथ्वी आदि पञ्च भूतों से इस शरीर का निर्माण नहीं हुआ है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो न तो वह उन पञ्चभूतों का सङ्घात है और न विकार या परिणाम ही। क्योंकि यह अपने अवयवों से न तो पृथक् है और न उनमें अनुगत ही है, अतएव मिथ्या है ॥५९॥ इसी प्रकार शरीर के कारणरूप पञ्चभूत भी अवयवी होने के कारण अपने अवयवों—सूक्ष्मभूतों से भिन्न नहीं हैं, अवयवरूप ही हैं। जब बहुत खोज-बीन करनेपर भी अवयवों के अतिरिक्त अवयवी का अस्तित्व नहीं मिलता—वह असत् ही सिद्ध होता है, तब अपने आप ही यह सिद्ध हो जाता है कि ये अवयव भी असत्य ही हैं ॥६०॥ जबतक अज्ञान के कारण एक ही परमतत्त्व में अनेक वस्तुओं के भेद मालूम पड़ते रहते हैं, तबतक यह भ्रम भी रह सकता है कि जो वस्तुएँ पहले थीं, वे अब भी हैं और स्वप्न में भी जिस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओं के अलग-अलग अनुभव होते ही हैं तथा उनमें भी विधि-निषेध के शास्त्र रहते हैं—वैसे ही जबतक इन भिन्नताओं के अस्तित्व का मोह बना हुआ है, तबतक यहाँ भी विधि-निषेध के शास्त्र हैं ही ॥६१॥

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते ।
शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति ॥५६॥
आदावन्ते जनानां सद् बहिरन्तः परावरम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिस्त्वयं स्वयम् ॥५७॥
आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः ।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम् ॥५८॥
क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि ।
न संघातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा ॥५९॥
धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना ।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ॥६०॥
स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद् विकल्पे सति वस्तुनः ।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ॥६१॥

जो विचारशील पुरुष स्वानुभूति से आत्मा के त्रिविध अद्वैत का साक्षात्कार करते हैं—वे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य के भेदरूप स्वप्न को मिटा देते हैं। ये अद्वैत तीन प्रकार के हैं—भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत ॥६२॥ जैसे वस्त्र सूत्ररूप ही होता है, वैसे ही कार्य भी कारणमात्र ही है। क्योंकि भेद तो वास्तव में है नहीं। इस प्रकार सबकी एकता का विचार 'भावाद्वैत' है ॥६३॥ युधिष्ठिर ! मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब कर्म स्वयं परब्रह्म परमात्मा में ही हो रहे हैं, उसी में अध्यस्त हैं—इस भाव से समस्त कर्मों को समर्पित कर देना 'क्रियाद्वैत' है ॥६४॥ स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धी एवं संसार के अन्य समस्त प्राणियों के तथा अपने स्वार्थ और भोग एक ही हैं, उनमें अपने और पराये का भेद नहीं है—इस प्रकार का विचार 'द्रव्याद्वैत' है ॥६५॥

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथाऽऽत्मनः ।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः ॥६२॥
कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥६३॥
यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम् ।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥६४॥
आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम् ।
यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥६५॥

युधिष्ठिर ! जिस पुरुष के लिये जिस द्रव्य को जिस समय जिस उपाय से जिससे ग्रहण करना शास्त्राज्ञा के विरुद्ध न हो, उसे उसी से अपने सब कार्य सम्पन्न करने चाहिये; आपत्तिकाल को छोड़कर इससे अन्यथा नहीं करना चाहिये ॥६६॥ महाराज ! भगवद्भक्त मनुष्य वेद में कहे हुए इन कर्मों के तथा अन्यान्य स्वकर्मों के अनुष्ठान से घर में रहते हुए भी श्रीकृष्ण की गतिको प्राप्त करता है ॥६७॥ युधिष्ठिर ! जैसे तुम अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा और सहायता से बड़ी-बड़ी कठिन विपत्तियों से पार

हो गये हो और उन्हीं के चरणकमलों की सेवा से समस्त भूमण्डल को जीतकर तुमने बड़े-बड़े राजसूय आदि यज्ञ किये हैं ॥६८॥

यद् यस्य वानिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप ।
स तेनेहेत कर्माणि नरो नान्यैरनापदि ॥६६॥
एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः ।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः ॥६७॥
यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजादापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः ।
यत्पादपङ्करुहसेवया भवानहार्षीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून् ॥६८॥

पूर्वजन्म में इनके पहले के महाकल्प में एक गन्धर्व था। मेरा नाम था उपबर्हण और गन्धर्वों में मेरा बड़ा सम्मान था ॥६९॥ मेरी सुन्दरता, सुकुमारता और मधुरता अपूर्व थी। मेरे शरीरमें से सुगन्धि निकला करती थी और देखने में बहुत अच्छा लगता। स्त्रियाँ मुझसे बहुत प्रेम करतीं और मैं सदा प्रमाद में ही रहता। मैं अत्यन्त विलासी था ॥७०॥ एक बार देवताओं के यहाँ ज्ञान सत्र हुआ। उसमें बड़े-बड़े प्रजापति आये थे। भगवान् की लीला का गान करने के लिए उन लोगों ने गन्धर्व और अप्सराओं को बुलाया ॥७१॥ मैं जानता था कि वह संतों का समाज है और वहाँ भगवान् की लीला का ही गान होता है। फिर भी मैं स्त्रियों के साथ लौकिक गीतोंका गान करता हुआ उन्मत्त की तरह वहाँ जा पहुँचा। देवताओं ने देखा कि यह तो हम लोगों का अनादर कर रहा है। उन्होंने अपनी शक्ति से मुझे शाप दे दिया कि 'तुमने हमलोगों की अवहेलना की है, इसलिए तुम्हारी सारी सौन्दर्य-सम्पत्ति नष्ट हो जाय और तुम शीघ्र ही शूद्र हो जाओ ॥७२॥ उनके शाप से मैं दासी का पुत्र हुआ; किन्तु उस शूद्र-जीवन में किये हुए महात्माओं के सत्सङ्ग और सेवाशुश्रूषा के प्रभाव से मैं दूसरे जन्म में ब्रह्माजी का पुत्र हुआ ॥७३॥ सन्तों की अवहेलना और सेवा का यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है। सन्त-सेवा से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। मैंने तुम्हें गृहस्थों का पापनाशक धर्म बतला दिया। इस धर्म के आचरण से गृहस्थ भी अनायास ही संन्यासियों को मिलने वाला परमपद प्राप्त कर लेता है ॥७४॥

अहं पुराभवं कश्चिद् गन्धर्व उपबर्हणः ।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥६९॥
रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः ।
स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तस्तु पुरुलम्पटः ॥७०॥
एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने ॥७१॥
अहं च गायंस्तद्विद्वान् स्त्रीभिः परिवृतो गतः ।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा ।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः ॥७२॥
तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम् ।
शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम् ॥७३॥

धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः ।
गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात् ॥७४॥
यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥७५॥

युधिष्ठिर ! इस मनुष्यलोक में तुमलोगों के भाग्य अत्यन्त प्रशंसनीय हैं; क्योंकि तुम्हारे घर में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्य का रूप धारण करके गुप्तरूप से निवास करते हैं। इसी से सारे संसार को पवित्र कर देने वाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करने के लिए चारों ओर से तुम्हारे पास आया करते हैं ॥७५॥ बड़े-बड़े महापुरुष निरन्तर जिनको ढूँढ़ते रहते हैं, जो माया के लेश से रहित परम शान्त परमानन्दानुभवस्वरूप परब्रह्म परमात्मा हैं— वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं ॥७६॥ शङ्कर, ब्रह्मा आदि भी अपनी सारी बुद्धि लगाकर 'वे यह हैं'—इस रूप में उनका वर्णन नहीं कर सके। फिर हम तो कर ही कैसे सकते हैं। हम मौन, भक्ति और संयम के द्वारा ही उनकी पूजा करते हैं। कृपया हमारी यह पूजा स्वीकार करके भक्तवत्सल भगवान् हम पर प्रसन्न हों ॥७७॥

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयोविधिकृद्गुरुश्च ॥७६॥
न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी रूपं धियावस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेय पूजितः प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥७७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! देवर्षि नारद का यह प्रवचन सुनकर राजा युधिष्ठिर को अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने प्रेम-विह्वल होकर देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा की ॥७८॥ देवर्षि नारद भगवान् श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिर से विदा लेकर और उनके द्वारा सत्कार पाकर चले गये। भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, यह सुनकर युधिष्ठिर के आश्चर्य की सीमा न रही ॥७९॥ परीक्षित् ! इस प्रकार मैंने तुम्हें दक्ष-पुत्रियों के वंशों का अलग-अलग वर्णन सुनाया। उन्हीं के वंश में देवता, असुर, मनुष्य आदि और सम्पूर्ण चराचर सृष्टि हुई है ॥८०॥

श्रीशुक उवाच
इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः ।
पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ॥७८॥
कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः ।
श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥७९॥
इति दाक्षायणीनां ते पृथग्वंशाः प्रकीर्तिताः ।
देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचरः ॥८१॥

॥ श्रीमार्कण्डेयपुराण के रुचि उपाख्यान नामक ९५वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥ ९५ ॥



षण्णवतितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

स तेन पितृवाक्येन भृशमुद्विग्नमानसः।
कन्याभिलाषी विप्रर्षिः परिबभ्राम मेदिनीम् ॥१॥
कन्यामलभमानोऽसौ पितृवाक्याग्निदीपितः।
चिन्तामवाप महतीमतीवोद्विग्नमानसः ॥२॥
किं करोमि क्व गच्छामि कथं मे दारसंग्रहः।
क्षिप्रं भवेत् मत्पितॄणां स चाभ्युदयकारकः ॥३॥
इति चिन्तयतस्तस्य मतिर्जाता महात्मनः।
तपसाराधयाम्येनं ब्रह्माणं कमलोद्भवम् ॥४॥
ततो वर्षशतं दिव्यं तपस्तेपे स वेधसः।
आराधनाय स तदा परं नियममास्थितः ॥५॥
ततः स्वं दर्शयामास ब्रह्मा लोकपितामहः।
उवाच तं प्रसन्नोऽस्मीत्युच्यतामभिवाञ्छितम् ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

पितरों से यह सुनकर, रुचि का मन अतिशय उद्विग्न हो गया तथा वह ब्रह्मर्षि कन्या की प्राप्ति की अभिलाषा करता हुआ, पृथिवी के परिभ्रमण में प्रवृत्त हुआ ॥ १ ॥

पितरों के वचनरूपी अग्नि से उद्दीप्त अतिशय उद्विग्न चित्त, कन्या की प्राप्ति न होने से भयङ्कर चिन्ता से आक्रान्त हो गया ॥ २ ॥

क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किस प्रकार पितरों के अभ्युदय साधन स्वरूप मेरा विवाह हो, इस प्रकार की चिन्ता करते हुए उस महात्मा ने निश्चय किया कि कमलोद्भव उस ब्रह्मा की तपस्या से आराधना करूँगा ॥ ३-४ ॥

अनन्तर उसने विशिष्ट नियमों के साथ ब्रह्मा की आराधना के लिए सौ वर्षों तक उग्र तपस्या की ॥ ५ ॥

अनन्तर लोक पितामह ब्रह्मा ने दर्शन दिया और कहा कि मैं प्रसन्न हूँ, तुम क्या चाहते हो—कहो ॥ ६ ॥

ततोऽसौ प्रणिपत्याह ब्रह्माणं जगतो गतिम् ।
पितृणां वचनात् तेन यत् कर्त्तुमभिवाञ्छितम् ।
ब्रह्मा चाह रुचिं विप्रं श्रुत्वा तस्याभिवाञ्छितम् ।।७।

ब्रह्मोवाच—

प्रजापतिस्त्वं भविता स्रष्टव्या भवता प्रजाः ।
स्रष्ट्वा प्रजाः सुतान् विप्र समुत्पाद्य क्रियास्तथा ।।८।
कृत्वा हृताधिकारस्त्वं ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ।
स त्वं तथोक्तं पितृभिः कुरु दारपरिग्रहम् ।।९।
कामञ्चेममभिध्याय क्रियतां पितृपूजनम् ।
त एव तुष्टाः पितरः प्रदास्यन्ति तवेप्सितान् ।
पत्नीं सुतांश्च संतुष्टाः किं न दद्युः पितामहाः ।।१०।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्यृषेर्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।
नद्या विविक्ते पुलिने चकार पितृतर्पणम् ।।११।
तुष्टाव च पितृन् विप्र ! स्तवैरेभिस्तथादृतः ।
एकाग्रः प्रयतो भूत्वा भक्तिनम्रात्मकन्धरः ।।१२।

इसके बाद उसने जगत् के प्राणियों के आश्रयस्वरूप ब्रह्मा को प्रणाम कर पितरों के वचनों के अनुसार अपनी अभिलाषा व्यक्त की, ब्राह्मण रुचि के अभीष्ट को सुनकर ब्रह्मा ने कहा ।। ७ ।।

ब्रह्मा ने कहा—

हे विप्र ! तुम प्रजापति होगे, तुम्हारे द्वारा प्रजाओं की सृष्टि होगी, प्रजा की और सन्तान की उत्पत्ति के द्वारा सभी क्रियाओं का सम्पादन कर अपने अधिकारों को पुत्र को समर्पण के बाद सिद्धि तुम प्राप्त करोगे, अतः तुम पितरों के आदेशानुसार विवाह करो ।। ८-९ ।।

इस कामना का ध्यान करते हुए अर्थात् दार-परिग्रह की कामना कर पितरों की पूजा करो, वे सन्तुष्ट पितृगण तुम्हारा अभीष्ट प्रदान करेंगे, पत्नी की प्राप्तिरूपी अभिलाषा को पूर्ण करेंगे, सन्तुष्ट पितृगण पत्नी एवं पुत्र क्या नहीं दे सकते हैं ।। १० ।।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

अव्यक्तजन्मा ऋषि ब्रह्मा के इस वचन को सुनकर (रुचि ने) नदी के एकान्त तटपर पितरों का तर्पण किया अर्थात् तृप्त करने के साधन में प्रवृत्त हुए और उस विप्र ने भक्ति से नतमस्तक उनके ध्यान में संयत एवं एकाग्र होकर आदर के साथ इन स्तुतियों से सन्तुष्ट किया ।। ११-१२ ।।

रुचिरुवाच—

नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धे ये वसन्त्यधिदेवताः ।
देवैरपि हि तर्प्यन्ते ये च श्राद्धे स्वधोत्तरैः ॥१३॥
नमस्येऽहं पितॄन् स्वर्गे ये तर्प्यन्ते महर्षिभिः ।
श्राद्धैर्मनोमयैर्भक्त्या भुक्तिमुक्तिमभीप्सुभिः ॥१४॥
नमस्येऽहं पितॄन् स्वर्गे सिद्धाः सन्तर्पयन्ति यान् ।
श्राद्धेषु दिव्यैः सकलैरुपहारैरनुत्तमैः ॥१५॥
नमस्येऽहं पितॄन् भक्त्या येऽर्च्यन्ते गुह्यकैरपि ।
तन्मयत्वेन वाञ्छद्भिर्ऋद्धिमात्यन्तिकीं पराम् ॥१६॥
नमस्येऽहं पितॄन् मर्त्यैरर्च्यन्ते भुवि ये सदा ।
श्राद्धेषु श्रद्धयाऽभीष्टः लोकप्राप्तिप्रदायिनः ॥१७॥
नमस्येऽहं पितॄन् विप्रैरर्च्यन्ते भुवि ये सदा ।
वाञ्छिताभीष्टलाभाय प्राजापत्यप्रदायिनः ॥१८॥
नमस्येऽहं पितॄन् ये वै तर्प्यन्तेऽरण्यवासिभिः ।
वन्यैः श्राद्धैर्यताहारैस्तपोनिर्धूतकिल्विषैः ॥१९॥

रुचि ने कहा—

श्राद्ध में जो अधिदेवता के रूप में अवस्थान करते हैं एवं देवगण भी श्राद्ध के अवसर पर जिनको स्वधा को उच्चारण से तृप्त करते हैं, उनको पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥

महर्षिगण भुक्ति और मुक्ति की कामना से स्वर्ग में भक्तिपूर्वक मानस-श्राद्ध के द्वारा जिनको तृप्त करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १४ ॥

स्वर्ग में सिद्धगण श्राद्ध के समय अतिशय उत्कृष्ट दिव्य उपहारों के द्वारा जिनको तृप्त करते हैं उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १५ ॥

सर्वोत्कृष्ट परम समृद्धि की कामनाओं से तन्मय होकर भक्तिभाव से जिनकी पूजा करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥

भूतल पर मर्त्यों के श्राद्धों में अभीष्ट लोक प्रदान करने वाले जिन पितरों की श्रद्धा के साथ पूजा करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥

विप्रगण पृथिवी पर वाञ्छित अभीष्ट लाभ के लिए पूजा करते हैं, उन प्राजापत्य पद को प्रदान करने वाले पितरों को मैं नमकार करता हूँ ॥ १८ ॥

नियमिताहार अर्थात् संयत परिमिताहार कर तपोबल से सर्वथा निष्पाप होकर, अरण्यवासिगण श्राद्ध से जिनको तृप्ति प्रदान करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १९ ॥

नमस्येऽहं पितॄन् विप्रैर्नैष्ठिकव्रतचारिभिः ।
ये संयतात्मभिर्नित्यं सन्तर्प्यन्ते समाधिभिः ॥२०।
नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैः राजन्यास्तर्पयन्ति यान् ।
कव्यैरशेषैर्विधवल्लोकत्रयफलप्रदान् ॥२१।
तमस्येऽहं पितॄन् वैश्यैरचर्च्यन्ते भुवि ये सदा ।
स्वकर्म्माभिरतैर्नित्यं पुष्प-धूपान्नवारिभिः ॥२२।
नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैर्ये शूद्रैरपि भक्तितः ।
सन्तर्प्यन्ते जगत्यत्र नाम्ना ख्याताः सुकालिनः ॥२३।
नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैः पाताले ये महासुरैः ।
सन्तर्प्यन्ते स्वधाहारास्त्यक्तदम्भमदैः सदा ॥२४।
नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैरचर्च्यन्ते ये रसतले ।
भोगैरशेषैर्विधवन्नागैः कामानभीप्सुभिः ॥२५।
नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैः सर्पैः सन्तर्पितान् सदा ।
तत्रैव विधिवन्मन्त्रभोगसम्पत्समन्वितैः ॥२६।

जितेन्द्रिय नैष्ठिकव्रताचारी विप्रगण समाधि के द्वारा जिनको प्रतिदिन सन्तृप्त करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥

क्षत्रियगण तीनों लोकों के फल को प्रदान करने वाले जिनको श्रद्धापूर्वक विधिवत् अशेषकृत्यों से तृप्त करते हैं उन पितरों को नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥

पृथिवी में अपने कर्मानुष्ठान में रहित वैश्यगण सदा पुष्प, धूप, अन्न एवं जल से जिनकी पूजा करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २२ ॥

इस भूतल पर शूद्रगण जिन सुकाली नाम से प्रसिद्ध, जिनको श्राद्ध से तृप्त करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥

पाताल लोक में स्थित दम्भ और मद का त्यागकर महान् असुरगण जिन स्वधामात्र भोजी श्राद्ध के द्वारा तृप्ति प्रदान करता है, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २४ ॥

रसताल में नागगण विविध कामनाओं की अभिलाषा करते हुए विधिपूर्वक अशेष भोगों के साथ जिनकी श्राद्ध के द्वारा पूजा करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २५ ॥

रसातल में सर्पगण भी सदा विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारणपूर्वक भोगसमृद्धि निवेदन करते हुए श्राद्ध के द्वारा जिनको तृप्त करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २६ ॥

पितॄन् नमस्ये निवसन्ति साक्षाद् ये देवलोके च तथान्तरीक्षे ।
महीतले ये च सुरादिपूज्यास्ते मे प्रतीच्छन्तु मयोपनीतम् ॥२७।
पितॄन् नमस्ये परमात्मभूता ये वै विमाने निवसन्ति मूर्त्ताः ।
यजन्ति यानस्तमलैर्मनोभिर्योगीश्वराः क्लेशविमुक्तिहेतून् ॥२८।
पितॄन् नमस्ये दिवि ये च मूर्त्ताः स्वधाभुजः काम्यफलाभिसन्धौ ।
प्रदानशक्ताः सकलेप्सितानां विमुक्तिदा येऽनभिसंहितेषु ॥२९।
तृप्यन्तु तेऽस्मिन् पितरः समस्ता इच्छावतां ये प्रदिशन्ति कामान् ।
सुरत्वमिन्द्रत्वमतोऽधिकं वा सुतान् पशून् स्वानि बलं गृहाणि ॥३०।
सोमस्य ये रश्मिषु येऽर्कबिम्बे शुक्ले विमाने च सदा वसन्ति ।
तृप्यन्तु तेऽस्मिन् पितरोऽन्नतोयैर्गन्धादिना पुष्टिमितो व्रजन्तु ॥३१।
येषां हुतेऽग्नौ हविषा च तृप्तिर्ये भुञ्जते विप्रशरीरसंस्थाः ।
ये पिण्डदानेन मुदं प्रयान्ति तृप्यन्तु तेऽस्मिन् पितरोऽन्नतोयैः ॥३२।

जो साक्षात् देवलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर प्रत्यक्ष रूप से निवास करते हैं और देवगण भी जिनकी पूजा करते हैं, उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ, वे मेरे द्वारा निवेदित वस्तुओं को स्वीकार करें ॥ २७ ॥

जो साक्षात् परमात्मा हैं, जो मूर्ति धारण कर सदा विमान पर विराजमान हैं, योगीश्वरगण भी निर्मल (शुद्ध) चित्त से क्लेश-निवारण के साधन जिनकी पूजा करते हैं, मैं उन पितरों को नमस्कार करता हूँ ॥ २८ ॥

जो स्वर्ग में मूर्तिमान् होकर विराजमान् हैं, स्वधाभोजी हैं एवं काम्य-फलों की अभिलाषा होने पर सभी कामनाओं की पूर्ति करने में समर्थ हैं और निष्काम व्यक्तियों को मुक्ति प्रदान करते हैं उन पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २९ ॥

इच्छा करने वाले व्यक्ति की अशेष कामनाओं की पूर्ति करते हैं और जो देवत्व, इन्द्रत्व एवं उनकी अपेक्षा भी प्रकृष्ट है तथा पशु, धन, बल और गृह प्रदान करते हैं, वे मेरे प्रणाम के द्वारा सन्तुष्ट हों ॥ ३० ॥

जो चन्द्र की रश्मियों में, सूर्य बिम्ब में, शुक्ल विमान में सदा निवास करते हैं, वे पितृगण तृप्त हों। अन्न, जल और गन्ध आदि के द्वारा पुष्ट और सन्तुष्ट हों ॥ ३१ ॥

अग्नि में घृत के द्वारा हवन करने पर जो तृप्त होते हैं, जो विप्रशरीर का आश्रयण कर भोजन करते हैं, जो पिण्डदान करने से आनन्दित होते हैं, वे पितृगण मेरे द्वारा प्रदत्त अन्न और जल के द्वारा तृप्त हों ॥ ३२ ॥

ये खड्गिमांसेन सुरैरभीष्टैः कृष्णैस्तिलैर्दिव्यमनोहरैश्च ।
कालेन शाकेन महर्षिवर्य्यैः सम्प्रीणितास्ते मुदमत्र यान्तु ।।३३।
कव्यान्यशेषाणि च यान्यभीष्टान्यतीव तेषाममरार्च्चितानाम् ।
तेषान्तु सान्निध्यमिहास्तु पुष्पगन्धान्नभोज्येषु मया कृतेषु ।।३४।
दिने दिने ये प्रतिगृह्णतेऽर्च्चां मासान्तपूज्या भुवि येऽष्टकासु ।
ये वत्सरान्तेऽभ्युदये च पूज्याः प्रयान्तु ते मे पितरोऽत्र तृप्तिम् ।।३५।
पूज्या द्विजानां कुमुदेन्दुभासो ये क्षत्रियाणाञ्च नवार्कवर्णाः ।
तथा विशां ये कनकावदाता नीलीनिभाः शूद्रजनस्य ये च ।।३६।
तेऽस्मिन् समस्ता मम पुष्पगन्धधूपान्नतोयादिनिवेदनेन ।
तथाग्निहोमेन च यान्तु तृप्तिं सदा पितृभ्यः प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ।।३७।
ये देवपूर्व्वाण्यतितृप्तिहेतोरश्नन्ति कव्यानि शुभाहुतानि ।
तृप्ताश्च ये भूतिसृजो भवन्ति तृप्यन्तु तेऽस्मिन् प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ।।३८।

गेंडे के माँस, दिव्य मनोहर और अभीष्ट काले तिलों से देवगण जिनको सन्तुष्ट करते हैं एवं महर्षिगण काल शाक से जिन्हें प्रसन्न करते हैं वे पितृगण अब मुझसे प्रसन्न हों ।। ३३ ।।

अमरों से पूजित उन पितरों को जो अशेष कव्य अतिशय प्रिय हैं, मेरे द्वारा सम्पादित पुष्प, गन्ध, अन्न और भोज्यों में उनका सान्निध्य प्राप्त हो ।। ३४ ।।

प्रतिदिन जो पूजा स्वीकार करते हैं, पृथिवी पर मास के अन्त में, अभ्युदय काल में, (तीन) अष्टकाओं में और वर्ष के अन्त में पूजित वे मेरे पितृ-गण तृप्त हों ।। ३५ ।।

जो कुमुद और चन्द्र के समान कान्ति धारण कर द्विजों से, उदीयमान बाल सूर्य के समान वर्ण धारण कर क्षत्रियों से, कनक के समान कान्ति धारण कर वैश्यों से और नील ज्योतिः को धारण कर शूद्रों से, पूजा ग्रहण करते हैं, वे सभी पितृगण मेरे द्वारा निवेदित गन्ध, पुष्प, धूप, अन्न और जल आदि से एवं अग्नि में प्रदत्त हवन से तृप्ति लाभ करें, मैं सदा उनको प्रणाम करता हूँ ।। ३६-३७ ।।

जो अग्नि में शुभ हवन के रूप में निवेदित किये गये अर्थात् देवों के समक्ष उपस्थापित कव्यों का भोजन करते हैं एवं तृप्त होकर अणिमादि ऐश्वर्यों की सृष्टि करते हैं, मैं उनको यहाँ प्रणाम करता हूँ ।। ३८ ।।

रक्षांसि भूतान्यसुरांस्तथोग्रान् निर्नाशयन्तस्त्वशिवं प्रजानाम् ।
आद्याः सुराणाममरेशपूज्यास्तृप्यन्तु तेऽस्मिन् प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ॥३९॥

अग्निष्वात्ता बर्हिषद आज्यपाः सोमपास्तथा ।
व्रजन्तु तृप्तिं श्राद्धेऽस्मिन् पितरस्तर्पिता मया ॥४०॥

अग्निष्वात्ताः पितृगणाः प्राचीं रक्षन्तु मे दिशम् ।
तथा बर्हिषदः पान्तु याम्यां ये पितरः स्मृताः ॥४१॥

प्रतीचीमाज्यपास्तद्वदुदीचीमपि सोमपाः ।
रक्षोभूत-पिशाचेभ्यस्तथैवासुरदोषतः ॥४२॥

सर्वतश्चाधिपस्तेषां यमो रक्षां करोतु मे ।
विश्वो विश्वभुगाराध्यो धर्म्मो धन्यः शुभाननः ।
भूतिदो भूतिकृद्भूतिः पितृणां ये गणा नव ॥४३॥

कल्याणः कल्यताकर्त्ता कल्यः कल्यतराश्रयः ।
कल्यताहेतुरवधः षडिमे ते गणाः स्मृताः ॥४४॥

वरो वरेण्यो वरदः पुष्टिदस्तुष्टिदस्तथा ।
विश्वपाता तथा धाता सप्तैवैते तथा गणाः ॥४५॥

महान् महात्मा महितो महिमावान् महाबलः ।
गणाः पञ्च तथैवैते पितृणां पापनाशनाः ॥४६॥

जो राक्षसों, उग्र स्वभाव के असुरों और भूतगण का नाशकर प्रजाओं के अमङ्गल का विनाश करते हैं, जो देवताओं के आदिपुरुष और सुरेन्द्र के पूज्य हैं वे मेरे इस श्राद्ध से तृप्त हों, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥ ३९ ॥

अग्निष्वात्त, वर्हिषद्, आज्यप एवं सोमप ये पितृगण इस श्राद्ध से सन्तर्पित होकर तृप्ति प्राप्त करें ॥ ४० ॥

अग्निष्वात्ता पितर मेरे पूर्व की दिशा के, वर्हिषद् जो पितरों के रूप में स्मृत हैं, वे दक्षिण दिशा के, आज्यप पश्चिम दिशा के, इसी प्रकार सोमप उत्तर दिशा के, राक्षस, भूत, पिशाचों से एवं असुरों के दोषों से रक्षा करें ॥ ४१-४२ ॥

जिन पितरों के विश्व, विश्वभुक्, आराध्य, धर्म, धन्य, शुभानन, भूतिद, भूतिकृत्, भूति, ये नौ जिनके अधिपति साक्षात् यम हैं, कल्याण, कल्यताकर्ता, कल्य, कल्यतराश्रय, कल्यताहेतु और अवध ये जो छः गण कहे गये हैं, वर, वरेण्य, वरद, पुष्टिद, तुष्टिद, विश्वपाता और धाता ये सात गण, महान्, महात्मा, महित, महिमावान्,

सुखदो धनदश्चान्यो धर्म्मदोऽन्यश्च भूतिदः।
पितॄणां कथ्यते चैतत् तथा गणचतुष्टयम् ॥४७।
एकत्रिंशत्पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत्।
ते मेऽनुतृप्तास्तुष्यन्तु यच्छन्तु च सदा हितम् ॥४८।

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे रौच्यमन्वन्तरे रुच्युपाख्याने
पितृस्तवनं नाम षण्णवतितमोऽध्यायः ॥९६ ॥

महाबल इसी प्रकार ये पाँच पितरों के पापनाशनगण, सुखद, धनद, धर्मद, भूतिद, पितरों के ये चार गण कहे गये हैं, सब मिलाकर एकतीश पितृगण, जिनसे सम्पूर्ण जगत् परिव्याप्त है, वे मेरे इस श्राद्ध से तृप्त और सन्तुष्ट हों और मेरा सदा हितचिन्तन करें ॥ ४३-४८ ॥

॥ श्रीमार्कण्डेयपुराण के रुचि उपाख्यान के अन्तर्गत रुचिकृत पितृपुरुषोपाख्यान
नामक ९६वें अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥



सप्तनवतितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

एवन्तु स्तुवतस्तस्य तेजसो राशिरुच्छ्रितः ।
प्रादुर्बभूव सहसा गगनव्याप्तिकारकः ॥१॥
तद्दृष्ट्वा सुमहत्तेजः समासाद्य स्थितं जगत् ।
जानुभ्यामवनिं गत्वा रुचिः स्तोत्रमिदं जगौ ॥२॥

रुचिरुवाच—

अर्चितानाममूर्त्तानां पितॄणां दीप्ततेजसाम् ।
नमस्यामि सदा तेषां ध्यानिनां दिव्यचक्षुषाम् ॥३॥
इन्द्रादीनाञ्च नेतारो दक्षमारीचयोस्तथा ।
सप्तर्षीणां तथान्येषां तान्नमस्यामि कामदान् ॥४॥
मन्वादीनां मुनीन्द्राणां सूर्याचन्द्रमसोस्तथा ।
तान्नमस्याम्यहं सर्वान् पितॄनप्सूदधावपि ॥५॥
नक्षत्राणां ग्रहणाञ्च वाय्वग्न्योर्नभसस्तथा ।
द्यावापृथिव्योश्च तथा नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इस प्रकार रुचि के स्तवन करते-करते सहसा चारों ओर देदीप्यमान आकाश में परिव्याप्त तेजःपुञ्ज प्रादुर्भूत हुआ ॥१॥

सम्पूर्ण विश्व को परिव्याप्त कर स्थिति उस विपुल तेजोराशि का दर्शन कर रुचि ने पृथिवी में घुटने टेक कर इस स्तव का गान किया ॥२॥

रुचि ने कहा—

सभी लोग जिसकी पूजा करते हैं, जिसकी मूर्ति नहीं है, प्रकृष्ट तेजःस्वरूप, जो ध्यान में निविष्ट एवं दिव्य-दृष्टि हैं, उन पितरों को मैं मनस्कार करता हूँ ॥३॥

इन्द्र आदि देवगणों दक्ष, मरीचि और सप्तर्षियों एवं अन्य सभी पुरुषों के नेता अर्थात् नियन्ता और सभी कामनाओं के दाता हैं, उन पितरों को नमस्कार करता हूँ ॥४॥

मनु आदि मुनीन्द्रों के तथा सूर्य और चन्द्रमा के नेता हैं, जल और समुद्र में निवास करने वाले सभी पितरों को नमस्कार करता हूँ ॥५॥

नक्षत्र और ग्रहों, वायु, अग्नि और आकाश, स्वर्ग और पृथिवी के नेता हैं, उन पितरों को हाँथ जोड़कर मैं नमस्कार करता हूँ ॥६॥

देवर्षीणां जनितॄंश्च सर्वलोकनमस्कृतान् ।
अक्षय्यस्य सदा दातॄन् नमस्येऽहं कृताञ्जलिः ।।७।
प्रजापतेः कश्यपाय सोमाय वरुणाय च ।
योगेश्वरेभ्यश्च सदा नमस्यामि कृताञ्जलिः ।।८।
नमो गणेभ्यः सप्तभ्यस्तथा लोकेषु सप्तसु ।
स्वयम्भुवे नमस्यामि ब्रह्मणे योगचक्षुषे ।।९।
सोमाधारान् पितृगणान् योगमूर्त्तिधरांस्तथा ।
नमस्यामि तथा सोमं पितरं जगतामहम् ।।१०।
अग्निरूपांस्तथैवान्यान्नमस्यामि पितॄनहम् ।
अग्निसोममयं विश्वं यत एतदशेषतः ।।११।
ये तु तेजसि ये चैते सोमसूर्याग्निमूर्त्तयः ।
जगत्स्वरूपिणश्चैव तथा ब्रह्मस्वरूपिणः ।।१२।
तेभ्योऽखिलेभ्यो योगिभ्यः पितृभ्यो यतमानसः ।
नमो नमो नमस्ते मे प्रसीदन्तु स्वधाभुजः ।।१३।

देवर्षियों के जनक, सभी प्राणियों के नमस्कार्य सदा अक्षय फलों के दाता पितरों को मैं हाँथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ ।।७।।

प्रजापति, कश्यप, सोम और वरुण एवं योगेश्वर (स्वरूप पितरों) को भी हाँथ जोड़कर सदा नमस्कार करता हूँ ।।८।।

सात लोकों में जो सप्तगण हैं, उनको भी मैं नमस्कार करता हूँ, स्वयम्भू योगचक्षु ब्रह्मा को भी मैं नमस्कार करता हूँ ।।९।।

सोम ही जिनका आधार है एवं योग स्वरूप को धारण करने वाले हैं इसी प्रकार जगत् के पिता सोम को भी मैं नमस्कार करता हूँ ।।१०।।

अग्नि ही (तेज ही) जिनका स्वरूप है, जिनके कारण यह अशेष विश्व अग्निसोम-मय है, उन अन्य पितरों को भी मैं नमस्कार करता हूँ ।।११।।

जो तेज में विराजमान है अर्थात् दीप्ति ही जिनका आधार है और सोम, सूर्य और अग्नि जिनकी मूर्ति हैं, जो जगत् स्वरूप एवं ब्रह्म स्वरूप है, उन योगपरायण पितरों को संयत चित्त होकर पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ, वे स्वधाभोजी पितृगण मुझ पर प्रसन्न हों ।।१२-१३।।

मार्कण्डेय उवाच—

एवं स्तुतास्ततस्तेन तेजसा मुनिसत्तम।
निश्चक्रमुस्ते पितरो भासयन्तो दिशो दश ॥१४।
निवेदितञ्च यत्तेन पुष्पगन्धानुलेपनम्।
तद्भूषितानथ स तान् ददृशे पुरतः स्थितान् ॥१५।
प्रणिपत्य पुनर्भक्त्या पुनरेव कृताञ्जलिः।
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यमित्याह पृथगादृतः ॥१६।
ततः प्रसन्नाः पितरस्तमूचुर्मुनिसत्तमम्।
वरं वृणीष्वेति स तानुवाचानतकन्धरः ॥१७।

रुचिरुवाच—

साम्प्रतं सर्गकर्त्तृत्वमादिष्टं ब्रह्मणा मम।
सोऽहं पत्नीमभीप्सामि धन्यां दिव्यां प्रजावतीम् ॥१८।

पितर ऊचुः —

अत्रैव सद्यः पत्नी ते भवत्वतिमनोरमा।
तस्याञ्च पुत्रो भविता भवतो मनुरुत्तमः ॥१९।
मन्वन्तराधिपो धीमांस्त्वन्नाम्नैवोपलक्षितः।
रुचे! रौच्य इति ख्यातिं यो यास्यति जगत्त्रये ॥२०।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे मुनिश्रेष्ठ! रुचि के द्वारा इस प्रकार स्तुति करने पर पितृगण अपने तेज से दशों दिशाओं को देदीप्यमान करते हुए अभिव्यक्त हुए।

(यद्यपि इसके अनुवाद में कतिपय आचार्यों ने 'निश्चक्राम' का अर्थ चले गये, यह किया है, किन्तु आगमन के विना गमन की सूचना एवं आगे के पद्यों में उनके स्वरूप का दर्शन विरुद्ध होगा, अतः सशरीर प्रकट होगा अर्थ ही उचित है) ॥१४॥

जिन पुष्प, गन्ध एवं अनुलेप, को पितरों को उद्देश्य कर अर्पित किया था, उनसे विभूषित उन पितरों को अपने सामने स्थित देखा ॥१५॥

रुचि ने भक्तिपूर्वक उनको नमस्कार कर पुनः हाँथ जोड़कर सादर आपको नमस्कार है, आपको नमस्कार है, इस रूप में पृथक्-पृथक् नमस्कार निवेदन किया ॥१६॥

हे मुनिश्रेष्ठ! अनन्तर प्रसन्न पितृगणों ने कहा, वर माँगो, रुचि ने मस्तक को झुका कर निवेदन किया। ('नतकन्धर' शब्द का अभिधेय अर्थ कन्धे को झुकाकर यह होता है, किन्तु कन्धे के झुकने से मस्तक का झुकना ही विवक्षित है) ॥१७॥

पितरों ने कहा—

इसी मुहूर्त में, इसी स्थान में तुमको मनोरम पत्नी मिलेगी और उसको पुत्र होगा जो उत्तम मनु होगा ॥१९॥

हे रुचे! वह बुद्धिमान् मन्वन्तर का अधिपति तुम्हारे ही नाम से तीन लोको में प्रसिद्ध होगा, अर्थात् रौच्य के नाम से ही सर्वत्र विख्यात होगा ॥२०॥

तस्यापि बहवः पुत्रा महाबलपराक्रमाः ।
भविष्यन्ति महात्मानः पृथिवीपरिपालकाः ॥२१॥

त्वञ्च प्रजापतिर्भूत्वा प्रजाः सृष्ट्वा चतुर्विधाः ।
क्षीणाधिकारो धर्मज्ञ ! ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥२२॥

स्तोत्रेणानेन च नरो योऽस्मांस्तोष्यति भक्तितः ।
तस्य तुष्टा वयं भोगानात्मज्ञानं तथोत्तमम् ॥२३॥

शरीरारोग्यमर्थञ्च पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
वाञ्छद्भिः सततं स्तव्याः स्तोत्रेणानेन वै यतः ॥२४॥

श्राद्धे च य इमं भक्त्या अस्मत्प्रीतिकरं स्तवम् ।
पठिष्यति द्विजाग्राणां भुञ्जतां पुरतः स्थितः ॥२५॥

स्तोत्रश्रवणसम्प्रीत्या सन्निधाने परे कृते ।
अस्माकमक्षयं श्राद्धं तद्भविष्यत्यसंशयम् ॥२६॥

यद्यप्यश्रोत्रियं श्राद्धं यद्यप्युपहतं भवेत् ।
अन्यायोपात्तवित्तेन यदि वा कृतमन्यथा ॥२७॥

अश्राद्धार्हैरुपहतैरुपहारैस्तथा कृतम् ।
अकालेऽप्यथ वाऽदेशे विधिहीनमथापि वा ॥२८॥

अश्रद्धया वा पुरुषैर्दम्भमाश्रित्य वा कृतम् ।
अस्माकं तृप्तये श्राद्धं तथाप्येतदुदीरणात् ॥२९॥

उसके भी महाबली, महान् पराक्रमी महात्मा स्वभाव के पृथिवी के रक्षक अनेक पुत्र उत्पन्न होंगे ॥२१॥

तुम भी प्रजापति होकर चार प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न कर अपने अधिकार की समाप्ति होने पर धर्म के ज्ञाता होकर सिद्धि-लाभ करोगे ॥२२॥

भक्तिपूर्वक जो मनुष्य इस स्तव से मेरी स्तुति करेगा हमलोग सन्तुष्ट होकर उसको भोग, उत्कृष्ट आत्मज्ञान, शरीरारोग्य, अर्थ, पुत्र, पौत्र आदि प्रदान करते हैं, अतः इन कामनाओंसे सदा इस स्तोत्र से हमलोगों की स्तुति करनी चाहिए ॥२३-२४॥

हमको प्रसन्न करने वाले इस स्तोत्र का, श्राद्ध-काल में भोजन में प्रवृत्त द्विज श्रेष्ठों के सम्मुख बैठकर पाठ करने पर स्तोत्र के श्रवण से प्रसन्न होकर हमलोगों के उपस्थित होने के कारण वह अविनश्वर श्राद्ध होता है—इसमें सन्देह नहीं है ॥२५-२६॥

यद्यपि श्रोत्रिय ब्राह्मण शून्य हो या दूषित हो या अन्याय के द्वारा उपार्जित धन के द्वारा सम्पादित हो या विधान के साथ सम्पन्न न हो, या श्राद्ध के अनुपयुक्त पदार्थों से सम्पादित हो, या उचित काल और उचित देश में न किया गया हो और विधानरहित हो या श्रद्धाविहीन होकर श्राद्ध किया गया है या दम्भपूर्वक श्राद्ध किया गया हो फिर भी उन श्राद्धों में इस स्तोत्र के पाठ मात्र से वह श्राद्ध हमलोगों की तृप्ति का साधन होता है ॥२७-२९॥

यत्रैतत्पठ्यते श्राद्धे स्तोत्रमस्मत्सुखावहम् ।
अस्माकं जायते तृप्तिस्तत्र द्वादशवार्षिकी ॥३०॥
हेमन्ते द्वादशाब्दानि तृप्तिमेतत् प्रयच्छति ।
शिशिरे द्विगुणाब्दाँश्च तृप्तिस्तोत्रमिदं शुभम् ॥३१॥
वसन्ते षोडशसमास्तृप्तये श्राद्धकर्मणि ।
ग्रीष्मे च षोडशैवैतत्पठितं तृप्तिकारकम् ॥३२॥
विकलेऽपि कृते श्राद्धे स्तोत्रेणानेन साधिते ।
वर्षासु तृप्तिरस्माकमक्षया जायते रुचे ! ॥३३॥
शरत्कालेऽपि पठितं श्राद्धकाले प्रयच्छति ।
अस्माकमेतत्पुरुषैस्तृप्तिं पञ्चदशाब्दिकीम् ॥३४॥
यस्मिन् गृहे च लिखितमेतत्तिष्ठति नित्यदा ।
सन्निधानं कृते श्राद्धे तत्रास्माकं भविष्यति ॥३५॥
तस्मादेतत्त्वया श्राद्धे विप्राणां भुञ्जतां पुरः ।
श्रावणीयं महाभाग ! अस्माकं पुष्टिहेतुकम् ॥३६॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे रौच्ये मन्वन्तरे पितृवरप्रदानं नाम सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

जिस श्राद्ध में हमलोगों को प्रिय लगने वाले इस स्तोत्र का पाठ किया जाता है, उस श्राद्ध से हमलोगों को बारह वर्षों के लिए तृप्ति होती है ॥३०॥

हेमन्त ऋतु में इस स्तोत्र का पाठ करने पर हमलोगों का बारह वर्षों तक तृप्ति रहती है और शिशिर ऋतु में इस शुभ-स्तोत्र का पाठ करने पर—चौबीस वर्षों तक तृप्ति रहती है ॥३१॥

वसन्त में श्राद्धानुष्ठान के समय इस पवित्र स्तोत्र के पाठ से सोलह वर्षों तक एवं ग्रीष्म में इस स्तोत्र का पाठ सोलह वर्षों के लिए तृप्ति का साधन होता है ॥३२॥

हे रुचे ! वर्षा के समय में अङ्गविकल श्राद्ध करने पर भी इस स्तोत्र के पाठ से हमलोगों की अक्षय तृप्ति होती है ॥३३॥

शरत् काल में श्राद्ध के समय पुरुषों से पढ़ा हुआ यह स्तोत्र हमलोगों को पन्द्रह वर्षों तक तृप्ति प्रदान करता है ॥३४॥

जिस घर में इस स्तोत्र को लिखकर रखा जाता है, वहाँ श्राद्ध करने पर हम-लोग सदा उपस्थित रहते हैं ॥३५॥

हे महाभाग ! श्राद्ध के समय, भोजन के समय विप्रों के सम्मुख हमारी पुष्टि को प्रदान करने वाले इस स्तोत्र को सुनाना चाहिए ॥३६॥



पर्यालोचन

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुवाद में ३८ पद्य हैं। २४वें श्लोक के पूर्वार्द्ध के बाद—

प्रदास्यामो न सन्देहो यच्चान्यदभिवाञ्छितम् ॥२४॥
तस्मात्पुण्यं फलं लोके वाञ्छद्भिः सततं नरैः।
पितॄणां चाक्षयां तृप्तिं स्तव्या स्तोत्रेण मानवैः ॥२५॥

इसके द्वारा इन कामनाओं से अतिरिक्त और भी जो वाञ्छित होगा, उसे प्रदान करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥२४॥

इसलिए लोक में पुण्य-फल की कामना करने वाले मनुष्यों के द्वारा एवं शाश्वत तृप्ति की कामना से मनुष्यों को इस स्तोत्र का पाठ करना चाहिए ॥२५॥

अन्त में ३८ श्लोक के उत्तरार्ध के रूप में—

"इत्युक्त्वा पितरस्तस्य स्वर्गता मुनिसत्तम" ॥३८॥ यह पाठ है।

हे मुनि श्रेष्ठ! यह कह कर उसके पितृगण स्वर्गलोक को पधार गये ॥३८॥ यही पाठ भारतधर्ममहामण्डल में संगृहीत है।

बङ्गाल के पाठ में—

यथा यथा कृतं श्राद्धं पुष्करे तु तथैव च।
कुरुक्षेत्रे नैमिषे च तथा स्तोत्रे धृते श्रुते ॥
इति दत्वा वरं तस्मै पितरः सिद्धिमागताः ॥

यह अधिक है।

"गया में, पुष्कर में, कुरुक्षेत्र में और नैमिष में श्राद्ध करने पर जो फल होता है, वह इस स्तोत्र के सुनने और धारण करने से होता है। रुचि को इस प्रकार वर देकर पितरों ने सिद्धि की प्राप्ति की।"

वस्तुतः इन पाठों में कोई अपूर्व कथन नहीं है। साथ ही पुनरुक्ति भी है।

मत्स्यपुराण में पितरों के सम्बन्ध में कहा गया है—

मनुरुवाच—

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पितॄणां वंशमुत्तमम्।
रवेश्च श्राद्धदेवत्वं सोमस्य च विशेषतः ॥ १ ॥

मनु ने पूछा—भगवन्! अब मैं पितरों के उत्तम वंश का वर्णन सुनना चाहता हूँ। उसमें भी विशेष रूप से यह जानने की अभिलाषा है कि सूर्य और चन्द्रमा श्राद्ध के देवता कैसे हो गये? ॥ १ ॥

मत्स्य उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि पितॄणां वंशमुत्तमम्।
स्वर्गे पितृगणा सप्त त्रयस्तेषाममूर्त्तयः ॥ २ ॥

मूर्तिमन्तोऽथ चत्वारः सर्वेषाममितौजसः।
अमूर्त्तयः पितृगणा वैराजस्य प्रजापतेः॥ ३॥

यजन्ति यान् देवगणा वैराजा इति विश्रुताः।
ये चैते योगविभ्रष्टाः प्राप्य लोकान् सनातनान्॥ ४॥

पुनर्ब्रह्मदिनान्ते तु जायन्ते ब्रह्मवादिनः।
सम्प्राप्य तां स्मृतिं भूयो योगं सांख्यमनुत्तमम्॥ ५॥

सिद्धिं प्रयान्ति योगेन पुनरावृत्तिदुर्लभाम्।
योगिनामेव देयानि तस्माच्छ्राद्धानि दातृभिः॥ ६॥

एतेषां मानसी कन्या पत्नी हिमवतो मता।
मैनाकस्तस्य दायादः क्रौञ्चस्तस्याग्रजोऽभवत्।
क्रौञ्चद्वीपः स्मृतो येन चतुर्थो घृतसंवृतः॥ ७॥

मेना च सुषुवे तिस्रः कन्या योगवतीस्ततः।
उमैकपर्णा पर्णा च तीव्रव्रतपरायणाः॥ ८॥

रुद्रस्यैका सितस्यैका जैगीषव्यस्य चापरा।
दत्ता हिमवता बालाः सर्वा लोके तपोऽधिकाः॥ ९॥

मत्स्य भगवान् कहने लगे—हे राजर्षे! बड़े आनन्द की बात है, अब मैं तुमसे पितरों के श्रेष्ठ वंश का वर्णन कर रहा हूँ; सुनो। स्वर्ग में पितरों के सात गण हैं। उनमें तीन मूर्तिरहित और चार मूर्तिमान् हैं। वे सबके सब अमित तेजस्वी हैं। अमूर्त पितृगण वैराजनामक प्रजापति की सन्तान हैं, इसीलिए वैराज नाम से प्रसिद्ध हैं। देवगण उनकी पूजा करते हैं। ये सभी सनातन लोकों को प्राप्त करने के पश्चात् योगमार्ग से च्युत हो जाते हैं तथा ब्रह्मा के दिन के अन्त में पुनः ब्रह्मवादी रूप में उत्पन्न होते हैं। उस समय ये पूर्वजन्म की स्मृति हो जाने से पुनः सर्वोत्तम सांख्ययोग का आश्रय लेकर योगाभ्यास द्वारा आवागमन के चक्र से मुक्त करनेवाली सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। इस कारण दाताओं द्वारा योगियों को ही श्राद्धीय वस्तुएँ प्रदान करनी चाहिये। इन उपर्युक्त पितरों की मानसी कन्या मेना हिमवान् की पत्नी मानी गयी है। मैनाक उसका पुत्र है। क्रौञ्च उससे भी पहले पैदा हुआ था। इसी क्रौञ्च के नाम पर घृत से परिवेष्टित चतुर्थ द्वीप क्रौञ्चद्वीप नाम से विख्यात है। तत्पश्चात् मेना ने उमा, एक पर्णा और अपर्णा नाम की तीन कन्याओं को जन्म दिया, जो सबकी सब योगाभ्यास में निरत, कठोर व्रत में तत्पर तथा लोक में सर्वश्रेष्ठ तपस्विनी थीं। हिमवान् ने इनमें से एक कन्या रुद्र को, एक सित को तथा एक जैगीषव्य को प्रदान कर दी॥ २-९॥

ऋषय ऊचुः—

कस्माद् दाक्षायणी पूर्वे ददाहात्मानमात्मना।
हिमवद्दुहिता तद्वत् कथं जाता महीतले॥ १०॥

संहरन्ती किमुक्तासौ सुता वा ब्रह्मसूनुना।
दक्षेण लोकजननी सूत विस्तरतो वद॥ ११॥

ऋषियों ने पूछा है—सूत जी ! पूर्वकाल में दक्ष-पुत्री सती ने अपने शरीर को अपने आप ही क्यों जला डाला ? तथा पुनः उसी प्रकार का शरीर धारण कर वे भूतल पर हिमवान् कन्या के रूप में कैसे प्रकट हुईं ? उस समय ब्रह्मा के पुत्र दक्ष ने लोकजननी सती को, जो उन्हीं की पुत्री थीं, कौन-सी ऐसी बात कह दी थी, जिससे वे स्वयं ही जल मरी ? ये सभी बातें हमें विस्तारपूर्वक बतलाइये॥ १०-११॥

सूत उवाच—

दक्षस्य यज्ञे वितते प्रभूतवरदक्षिणे।
समाहूतेषु देवेषु प्रोवाच पितरं सती॥ १२॥

किमर्थं तात भर्ता मे यज्ञेऽस्मिन्नाभिमन्त्रितः।
अयोग्य इति तामाह दक्षो यज्ञेषु शूलभृत्॥ १३॥

उपसंहारकृद् रुद्रस्तेनामङ्गलभागयम्।
चुकोपाथ सती देहं त्यक्ष्यामीति त्वदुद्भवम्॥ १४॥

दशानां त्वं च भविता पितृणामेकपुत्रकः।
क्षत्रियत्वेऽश्वमेधे च रुद्रात् त्वं नाशमेष्यसि॥ १५॥

इत्युक्त्वा योगमास्थाय स्वदेहोद्भवतेजसा।
निर्दहन्ती तदात्मानं सदेवासुरकिन्नरैः॥ १६॥

किं किमेतदिति प्रोक्ता गन्धर्वगणगुह्यकैः।
उपगम्याब्रवीद् दक्षः प्रणिपत्याथ दुःखितः॥ १७॥

त्वमस्य जगतो माता जगत्सौभाग्यदेवता।
दुहितृत्वं गता देवि ममानुग्रहकाम्यया॥ १८॥

न त्वया रहितं किंचिद् ब्रह्माण्डे सचराचरम्।
प्रसादं कुरु धर्मज्ञे न मां त्यक्तुमिहार्हसि॥ १९॥

प्राह देवी यदारब्धं तत् कार्यं मे न संशयः।
किंत्ववश्यं त्वया मर्त्ये हतयज्ञेन शूलिना॥ २०॥

प्रसादे लोकसृष्ट्यर्थं तपः कार्यं ममान्तिके।
प्रजापतिस्त्वं भविता दशानामङ्गजोऽप्यलम्॥ २१॥

मदंशेनाङ्गनाषष्टिर्भविष्यन्त्यङ्गजास्तव।
मत्संनिधौ तपः कुर्वन् प्राप्स्यसे योगमुत्तमम्॥ २२॥

एवमुक्तोऽब्रवीद् दक्षः केषु केषु मयानघे !।
तीर्थेषु च त्वं द्रष्टव्या स्तोतव्या कैश्च नामभिः॥ २३॥

सूतजी कहते हैं—हे ऋषिगण ! प्राचीनकाल में दक्ष ने एक विशाल यज्ञ का अनुष्ठान किया था; उसमें प्रचुर धनराशि दक्षिणा के रूप में बाँटी गयी थी तथा सभी देवता (अपना-अपना भाग ग्रहण करने के लिए) आमन्त्रित किये गये थे। (परन्तु द्वेषवश शिवजी को निमन्त्रण नहीं भेजा गया था। तब वहाँ अपने पति का भाग न देखकर) सती ने पिता दक्ष से पूछा—'पिताजी ! अपने इस विशाल यज्ञ में आपने मेरे पतिदेव को क्यों नहीं आमन्त्रित किया ?' तब दक्ष ने सती से कहा—'बेटी ! तुम्हारा पति त्रिशूल धारण कर रुद्ररूप से जगत् का उपसंहार करता है, जिससे वह अमङ्गल-भागी है, इस कारण वह यज्ञों में भाग पाने के लिए अयोग्य है।' यह सुनकर सती क्रोध से तमतमा उठीं और बोली—'तात ! अब मैं तुम्हारे पापी शरीर से उत्पन्न हुए अपनी देह का परित्याग कर दूँगी। तुम दस पितरों के एक मात्र पुत्र होंगे और क्षत्रिय-योनि में जन्म लेने पर अश्वमेध-यज्ञ के अवसरपर रुद्र द्वारा तुम्हारा विनाश हो जायगा।' ऐसा कहकर सती ने योग-बल का आश्रय लिया और स्वतः शरीर से प्रकट हुए तेज से अपने शरीर को जलाना प्रारम्भ कर दिया। तब देवता, असुर और किन्नरों के साथ गन्धर्व एवं गुह्यक-गण 'अरे ! यह क्या हो रहा है ? यह क्या हो रहा है ?' इस प्रकार हो-हल्ला मचाने लगे। यह देखकर दक्ष भी दुःखी हो सती के निकट गये और प्रणाम करके बोले—हे देवि ! तुम इस जगत् की जननी तथा जगत् को सौभाग्य प्रदान करने वाली देवता हो। तुम मुझ पर अनुग्रह करने की कामना से ही मेरी पुत्री होकर अवतीर्ण हुई हो। धर्मज्ञे ! इस निखिल ब्रह्माण्ड में—समस्त चराचर वस्तुओं में कुछ भी तुमसे रहित नहीं है अर्थात् सब में तुम्हारी सत्ता व्याप्त है। मुझ पर कृपा करो। इस अवसर पर तुम्हें मेरा परित्याग नहीं करना चाहिये।' (दक्ष के इस प्रकार प्रार्थना करने पर) देवी ने कहा—हे दक्ष ! मैंने जिस कार्य का आरम्भ कर दिया है, उसे तो निःसंदेह अवश्य ही पूर्ण करूँगी, किंतु त्रिशूलधारी शिवजी द्वारा यज्ञ-विध्वंस हो जाने पर उनको प्रसन्न करने के लिये तुम मृत्युलोक में लोक-सृष्टि की इच्छा से मेरे निकट तपस्या करना। उसके प्रभाव से तुम प्रचेता नाम के दस पिताओं के एकमात्र पुत्र होने पर भी प्रजापति हो जाओगे। उस समय मेरे अंश से तुम्हें साठ कन्याएँ उत्पन्न होंगी तथा मेरे समीप तपस्या करते हुए तुम्हें उत्तम योग की प्राप्ति हो जायगी।' ऐसा कहे जाने पर दक्ष ने पूंछा—'पाप-रहिता देवि ! इस कार्य के निमित्त मुझे किन-किन तीर्थ-स्थानों में जाकर तुम्हारा दर्शन करना चाहिए तथा किन-किन नामों द्वारा तुम्हारा स्तवन करना चाहिए' ॥१२-२३॥

देव्युवाच—

सर्वदा सर्वभूतेषु द्रष्टव्या सर्वतो भुवि।
सर्वलोकेषु यत् किंचिद् रहितं न मया विना ॥ २४ ॥

तथापि येषु स्थानेषु द्रष्टव्या सिद्धिमीप्सुभिः।
स्मर्तव्या भूतिकामैर्वा तानि वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ २५ ॥

वाराणस्यां विशालाक्षी नैमिषे लिङ्गधारिणी।
प्रयागे ललिता देवी कामाक्षी गन्धमादने ॥ २६ ॥

मानसे कुमुदा नाम विश्वकाया तथाम्बरे ॥ २७ ॥

गोमन्ते गोमती नाम मन्दरे कामचारिणी।
मदोत्कटा चैत्ररथे जयन्ती हस्तिनापुरे॥ २८॥

कान्यकुब्जे तथा गौरी रम्भा मलयपर्वते।
एकाम्रके कीर्तिमती विश्वा विश्वेश्वरे विदुः॥ २९॥

पुष्करे पुरुहूतेति केदारे मार्गदायिनी।
नन्दा हिमवतः पृष्ठे गोकर्णे भद्रकर्णिका॥ ३०॥

स्थाण्वीश्वरे भवानी तु बिल्वके बिल्वपत्रिका।
श्रीशैले माधवी नाम भद्रा भद्रेश्वरे तथा॥ ३१॥

जया वराहशैले तु कमला कमलालये।
रुद्रकोट्यां च रुद्राणी काली कालंजरे गिरौ॥ ३२॥

महालिङ्गे तु कपिला मर्कोटे मुकुटेश्वरी।
शालग्रामे महादेवी शिवलिङ्गे जलप्रिया॥ ३३॥

मायापुर्यां कुमारी तु संताने ललिता तथा।
उत्पलाक्षी सहस्राक्षे कमलाक्षे महोत्पला॥ ३४॥

गङ्गायां मङ्गला नाम विमला पुरुषोत्तमे।
विपाशायाममोघाक्षी पाटला पुण्ड्रवर्धने॥ ३५॥

नारायणी सुपार्श्वे तु त्रिकूटे भद्रसुन्दरी।
विपुले विपुला नाम कल्याणी मलयाचले॥ ३६॥

कोटवी कोटितीर्थे तु सुगन्धा माधवे वने।
गोदाश्रमे त्रिसंध्या तु गङ्गाद्वारे रतिप्रिया॥ ३७॥

शिवकुण्डे शिवानन्दा नन्दिनी देविकातटे।
रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वने॥ ३८॥

देवी ने कहा—हे दक्ष ! यद्यपि भूतल पर समस्त प्राणियों में सब ओर सर्वदा मेरा ही दर्शन करना चाहिए; क्योंकि सम्पूर्ण लोकों में जो कुछ पदार्थ है, वह सब मुझ से रहित नहीं है, अर्थात् सभी पदार्थों में मेरी सत्ता विद्यमान है, तथापि सिद्धि की कामना वाले अथवा ऐश्वर्याभिलाषी जनों द्वारा जिन-जिन तीर्थ स्थानों में मेरा दर्शन और स्मरण करना चाहिए, उनका मैं यथार्थरूप से वर्णन कर रही हूँ। मैं वाराणसी में विशालाक्षी, नैमिषारण्य में लिङ्गधारिणी, प्रयाग में ललितादेवी, गन्धमादन पर्वत पर कामाक्षी, मानसरोवरतीर्थ में कुमुदा, अम्बर में विश्वकाया, गोमन्त (गोआ) में गोमती, मन्दराचल पर कामचारिणी, चैत्ररथ वन में मदोत्कटा, हस्तिनापुर में जयन्ती, कान्यकुब्ज में गौरी, मलयपर्वत पर रम्भा, एकाम्रक (भुवनेश्वर) तीर्थ में कीर्तिमती, विश्वेश्वर में विश्वा, पुष्कर में पुरुहूता, केदार तीर्थ में मार्गदायिनी, हिमवान् के पृष्ठ भाग में नन्दा, गोकर्ण तीर्थ में भद्रकर्णिका, स्थानेश्वर (थानेश्वर) में भवानी, बिल्वतीर्थ में बिल्वपत्रिका, श्रीशैल पर माधवी, भद्रेश्वर तीर्थ में भद्रा, वराहशैल पर जया, कमलालय तीर्थ में

कमला, रुद्रकोटि में रुद्राणी, कालञ्जरगिरि पर काली, महालिङ्गतीर्थं में कपिला, मर्कोट में मुकुटेश्वरी, शालग्राम तीर्थं में महादेवी, शिवलिङ्ग में जलप्रिया, मायापुरी (ऋषिकेश) में कुमारी, संतान तीर्थं में ललिता, सहस्राक्षतीर्थं में उत्पलाक्षी, कमलाक्षतीर्थं में महोत्पला, गङ्गा में मङ्गला, पुरुषोत्तम तीर्थं (जगन्नाथपुरी) में विमला, विपाशा में अमोघाक्षी, पुण्ड्रवर्धन में पाटला, सुपार्श्वतीर्थं में नारायणी, विकूट में भद्रसुन्दरी, विपुल में विपुला, मलयाचल पर कल्याणी, कोटितीर्थं में कोटवी, माधव-वन में सुगन्धा, गोदाश्रम में त्रिसंध्या, गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में रतिप्रिया, शिवकुण्डतीर्थं में शिवानन्दा, देविका (पंजाब की देग नदी) के तट पर नन्दिनी, द्वारकापुरी में रुक्मिणी और वृन्दावन में राधा हूं ॥ २४-३८ ॥

देवकी मथुरायां तु पाताले परमेश्वरी।
चित्रकूटे तथा सीता विन्ध्ये विन्ध्याधिवासिनी ॥ ३९ ॥

सह्याद्रावेकवीरा तु हरिश्चन्द्रे तु चन्द्रिका।
रमणा रामतीर्थे तु यमुनायां मृगावती ॥ ४० ॥

करवीरे महालक्ष्मीरुमादेवी विनायके।
अरोगा वैद्यनाथे तु महाकाले महेश्वरी ॥ ४१ ॥

अभयेत्युष्णतीर्थेषु चामृता विन्ध्यकन्दरे।
माण्डव्ये माण्डवी नाम स्वाहा माहेश्वरे पुरे ॥ ४२ ॥

छागलाण्डे प्रचण्डा तु चण्डिका मकरन्दके।
सोमेश्वरे वरारोहा प्रभासे पुष्करावती ॥ ४३ ॥

देवमाता सरस्वत्यां पारावारतटे मता।
महालये महाभागा पयोष्ण्यां पिङ्गलेश्वरी ॥ ४४ ॥

सिंहिका कृतशौचे तु कार्त्तिकेये यशस्करी।
उत्पलावर्तके लोला सुभद्रा शोणसंगमे ॥ ४५ ॥

माता सिद्धपुरे लक्ष्मीरङ्गना भरताश्रमे।
जालंधरे विश्वमुखी तारा किष्किन्धपर्वते ॥ ४६ ॥

देवदारुवने पुष्टिर्मेधा काश्मीरमण्डले।
भीमा देवी हिमाद्रौ तु पुष्टिर्विश्वेश्वरे तथा ॥ ४७ ॥

कपालमोचने शुद्धिर्माता कायावरोहणे।
शङ्खोद्धारे ध्वनिर्नाम धृतिः पिण्डारके तथा ॥ ४८ ॥

काला तु चन्द्रभागायामच्छोदे शिवकारिणी।
वेणायाममृता नाम बदर्यामुर्वशी तथा ॥ ४९ ॥

औषधी चोत्तरकुरौ कुशद्वीपे कुशोदका।
मन्मथा हेमकूटे तु मुकुटे सत्यवादिनी ॥ ५० ॥

अश्वत्थे वन्दनीया तु निधिर्वैश्रवणालये।
गायत्री वेदवदने पार्वती शिवसंनिधौ ॥ ५१ ॥

देवलोके तथेन्द्राणी ब्रह्मास्येषु सरस्वती।
सूर्यबिम्बे प्रभा नाम मातृणां वैष्णवी मता ॥ ५२ ॥

अरुंधती सतीनां तु रामासु च तिलोत्तमा।
चित्ते ब्रह्मकला नाम शक्तिः सर्वशरीरिणाम् ॥ ५३ ॥

मैं मथुरापुरी में देवकी, पाताल में परमेश्वरी, चित्रकूट में सीता, विन्ध्यपर्वत पर विन्ध्याधिवासिनी, सह्याद्रि पर एकवीरा, हरिश्चन्द्रतीर्थ में चन्द्रिका, रामतीर्थ में रमणा, यमुना में मृगावती, करवीर (कोल्हापुर) में महालक्ष्मी, विनायकतीर्थ में उमादेवी, वैद्यनाथ में अरोगा, महाकाल में महेश्वरी, उष्णतीर्थ में अभया, विन्ध्यकन्दर में अमृता, माण्डव्यतीर्थ में माण्डवी, माहेश्वरपुर में स्वाहा, छागलाण्ड में प्रचण्डा, मकरन्दक में चण्डिका, सोमेश्वरतीर्थ में वरारोहा, प्रभास में पुष्करावती, सरस्वती में देवमाता, समुद्रतटवर्ती महालयतीर्थ में महाभागा, पयोष्णी (पैनगङ्गा) में पिङ्गलेश्वरी कृतशौचतीर्थ में सिंहिका, कार्त्तिकेय में यशस्करी, उत्पलावर्तक में लोला, शोणसंगम में सुभद्रा, सिद्धपुर में लक्ष्मी माता, भरताश्रम में अङ्गना, जालन्धरपर्वत पर विश्वमुखी, किष्किन्धापर्वत पर तारा, देवदारुवन में पुष्टि, काश्मीरमण्डल में मेधा, हिमगिरि पर भीमादेवी, विश्वेश्वर में पुष्टि, कपालमोचन में शुद्धि, कायावरोहण (कारावन गुजरात) में माता, शङ्खोद्धार में ध्वनि, पिण्डारक क्षेत्र में धृति, चन्द्रभागा (चनाब) में काला, अच्छोद में शिवकारिणी, वेणा में अमृता, बदरी तीर्थ में उर्वशी, उत्तर कुरु में औषधी, कुशद्वीप में कुशोदका, हेमकूटपर्वत पर मन्मथा, मुकुट में सत्यवादिनी, अश्वत्थतीर्थ में वन्दनीया, वैश्रवणालय में निधि, वेदवदन में गायत्री, शिव-सन्निधि में पार्वती, देवलोक में इन्द्राणी, ब्रह्मा के मुखों में सरस्वती, सूर्य-बिम्ब में प्रभा, माताओं में वैष्णवी, सतियों में अरुन्धती, सुन्दरी स्त्रियों में तिलोत्तमा, चित्त में ब्रह्मकला और अखिल शरीरधारियों में शक्ति नाम से निवास करती हूँ ॥३९-५३॥

एतदुद्देशतः प्रोक्तं नामाष्टशतमुत्तमम्।
अष्टोत्तरं च तीर्थानां शतमेतदुदाहृतम् ॥५४॥

यः स्मरेच्छृणुयाद् वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते।
एषु तीर्थेषु यः कृत्वा स्नानं पश्यति मां नरः ॥५५॥

सर्वपापविनिर्मुक्तः कल्पं शिवपुरे वसेत्।
यस्तु मत्परमं कालं करोत्येतेषु मानवः ॥५६॥

स भित्वा ब्रह्मसदनं पदमभ्येति शांकरम्।
नाम्नामष्टशतं यस्तु श्रावयेच्छिवसन्निधौ ॥५७॥

तृतीयायामथाष्टम्यां बहुपुत्रो भवेन्नरः।
गोदाने श्राद्धदाने वा अहन्यहनि वा बुधः ॥५८॥

देवार्चनविधौ विद्वान् पठन् ब्रह्माधिगच्छति ।
एवं वदन्ती सा तत्र ददाहात्मानमात्मना ॥५९॥

स्वायम्भुवोऽपि कालेन दक्षः प्राचेतसोऽभवत् ।
पार्वती साभवद् देवी शिवदेहार्धधारिणी ॥६०॥

मेनागर्भसमुत्पन्ना भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।
अरुन्धती जपन्त्येतत् प्राप योगमनुत्तमम् ॥६१॥

पुरूरवाश्च राजर्षिर्लोके व्यजेयतामगात् ।
ययातिः पुत्रलाभं च धनलाभं च भार्गवः ॥६२॥

तथान्ये देवदैत्याश्च ब्राह्मणाः क्षत्रियास्तथा ।
वैश्याः शूद्राश्च बहवः सिद्धिमीयुर्यथेप्सिताम् ॥६३॥

यत्रैतल्लिखितं तिष्ठेत् पूज्यते देवसंनिधौ ।
न तत्र शोको दौर्गत्यं कदाचिदपि जायते ॥६४॥

इस प्रकार मैंने अपने एक सौ आठ श्रेष्ठ नामों का वर्णन कर दिया। इसी के साथ एक सौ आठ तीर्थों का भी नामोल्लेख हो गया। जो मनुष्य मेरे इन नामों का स्मरण करेगा अथवा दूसरे के मुख से श्रवणमात्र कर लेगा, वह अपने निखिल पापों से मुक्त हो जायेगा। इसी प्रकार जो मनुष्य इन उपर्युक्त तीर्थों में स्नान करके मेरा दर्शन करेगा, वह समस्त पापों से मुक्त होकर कल्पपर्यन्त शिवपुर में निवास करेगा तथा जो मानव इन तीर्थों में मेरे इस परम अन्तिम समय का स्मरण करेगा, वह ब्रह्माण्ड का भेदन करके शङ्करजी के परम पद (शिवलोक) को प्राप्त हो जायगा। जो मनुष्य तृतीया अथवा अष्टमी तिथि के दिन शिवजी के संनिकट जाकर मेरे इन एक सौ आठ नामों का पाठ करके उन्हें सुनायेगा, वह बहुत से पुत्रों वाला हो जायगा। जो विद्वान् गोदान, श्राद्धदान अथवा प्रतिदिन देवार्चन के समय इन नामों का पाठ करेगा, वह परब्रह्म-पद को प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार की बातें कहती हुई सती ने दक्ष के उस यज्ञमण्डप में अपने-आप ही अपने शरीर को जलाकर भस्म कर दिया। पुनः यथोक्त समय आने पर ब्रह्मा के पुत्र दक्ष प्रचेताओं के पुत्ररूप में उत्पन्न हुए तथा सतीदेवी शिवजी के अर्धाङ्ग में विराजमान होने वाली पार्वतीरूप से मेना के गर्भ से प्रादुर्भूत हुई, जो भुक्ति (भोग) और मुक्ति रूप फल प्रदान करने वाली हैं। इन्हीं पूर्वोक्त एक सौ आठ नामों का जप करने से अरुन्धतीने सर्वोत्तम योगसिद्धि प्राप्त की, राजर्षि पुरूरवा लोक में अजेय हो गये, ययाति ने पुत्र-लाभ किया और भृगुनन्दनको धन-सम्पत्ति की प्राप्ति हुई। इसी प्रकार अन्यान्य बहुत से देवता, दैत्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों ने भी (इन नामों के जप से) मनोवाञ्छित सिद्धियाँ प्राप्त कीं। जहाँ यह नामावली लिखकर रखी रहती है अथवा किसी देवता के संनिकट रखकर इसकी पूजा होती है, वहाँ कभी शोक और दुर्गति का प्रवेश नहीं होता ॥५४-६४॥

× × × ×

सूत उवाच

लोकाः सोमपथा नाम यत्र मारीचनन्दनाः ।
वर्तन्ते देवपितरो देवा यान् भावयन्त्यलम् ॥१॥

अग्निष्वात्ता इति ख्याता यज्वानो यत्र संस्थिताः ।
अच्छोदा नाम तेषां तु मानसी कन्यका नदी ॥२॥

अच्छोदं नाम च सरः पितृभिर्निर्मितं पुरा ।
अच्छोदा तु तपश्चक्रे दिव्यं वर्षसहस्रकम् ॥३॥

आजग्मुः पितरस्तुष्टाः किल दातुं च तां वरम् ।
दिव्यरूपधराः सर्वे दिव्यमाल्यानुलेपनाः ॥४॥

सर्वे युवानो बलिनः कुसुमायुधसंनिभाः ।
तन्मध्येऽमावसुं नाम पितरं वीक्ष्य साङ्गना ॥५॥

वव्रे वरार्थिनी सङ्गं कुसुमायुधपीडिता ।
योगाद् भ्रष्टा तु सा तेन व्यभिचारेण भामिनी ॥६॥

धरां तु नास्पृशत् पूर्वं पपाताथ भुवस्तले ।
तिथावमावसुर्यस्यामिच्छां चक्रे न तां प्रति ॥७॥

धैर्येण तस्य सा लोकैरमावास्येति विश्रुता ।
पितॄणां वल्लभा तस्मात्तस्यामक्षयकारकम् ॥८॥

सूतजी कहते हैं—हे ऋषियों! मरीचि के वंशज देवताओं के पितृगण जहाँ निवास करते हैं, वे लोक सोमपथके नाम से विख्यात हैं। देवतालोग उन पितरों का ध्यान किया करते हैं। वे यज्ञपरायण पितृगण अग्निष्वात्त नाम से प्रसिद्ध हैं। जहाँ वे रहते हैं, वहीं अच्छोदा नाम की एक नदी प्रवाहित होती है, जो उन्हीं पितरों की मानसी कन्या हैं। प्राचीनकाल में पितरों ने वहीं एक अच्छोद नामक सरोवर का भी निर्माण किया था। पूर्वकाल में अच्छोदा ने एक सहस्र दिव्य वर्षों तक घोर तपस्या की। उसकी तपस्या से संतुष्ट होकर पितृगण उसे वर प्रदान करने के लिये उसके समीप पधारे। वे सब के सब पितर दिव्य रूपधारी थे। उनके शरीर पर दिव्य सुगन्धका अनुलेप लगा हुआ था तथा गले में दिव्य पुष्प माला लटक रही थी। वे सभी नवयुवक, बल सम्पन्न एवं कामदेव के सदृश सौन्दर्यशाली थे। उन पितरों में अमावसु नामक पितरों को देख कर वर की अभिलाषावाली सुन्दरी अच्छोदा व्यग्र हो उठी और उनके साथ रहने की याचना करने लगी। इस मानसिक कदाचार के कारण सुन्दरी अच्छोदा योग से भ्रष्ट हो गयी और (उसके परिणाम स्वरूप वह स्वर्ग लोक से) भूतल पर गिर पड़ी। उसने पहले कभी पृथ्वी का स्पर्श नहीं किया था। जिस तिथि को अमावसु ने अच्छोद के साथ निवास करने की अनिच्छा प्रकट की, वह तिथि उनके धैर्य के प्रभाव से लोगों द्वारा अमावास्या नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी कारण यह तिथि पितरों को परम प्रिय है। इस तिथि में किया हुआ श्राद्धादि कार्य अक्षय फलदायक होता है ॥१-८॥

अच्छोदाधोमुखी दीना लज्जिता तपसः क्षयात् ।
सा पितॄन् प्रार्थयामास पुरे चात्मप्रसिद्धये ॥ ९ ॥
विलप्यमाना पितृभिरिदमुक्ता तपस्विनी ।
भविष्यमर्थमालोक्य देवकार्ये च ते तदा ॥ १० ॥
इदमूचुर्महाभागाः प्रसादशुभया गिरा ।
दिवि दिव्यशरीरेण यत्किंचित् क्रियते बुधैः ॥ ११ ॥
तेनैव तत्कर्मफलं भुज्यते वरवर्णिनि ।
सद्यः फलन्ति कर्माणि देवत्वे प्रेत्य मानुषे ॥ १२ ॥
तस्मात् त्वं पुत्रि तपसः प्राप्स्यसे प्रेत्य तत्फलम् ।
अष्टाविंशे भवित्री त्वं द्वापरे मत्स्ययोनिजा ॥ १३ ॥
व्यतिक्रमात् पितृणां त्वं कष्टं कुलमवाप्स्यसि ।
तस्माद् राज्ञो वसोः कन्या त्वमवश्यं भविष्यसि ॥ १४ ॥
कन्या भूत्वा च लोकान् स्वान् पुनराप्स्यसि दुर्लभान् ।
पराशरस्य वीर्येण पुत्रमेकमवाप्स्यसि ॥ १५ ॥
द्वीपे तु बदरीप्राये बादरायणमच्युतम् ।
स वेदमेकं बहुधा विभजिष्यति ते सुतः ॥ १६ ॥
पौरवस्यात्मजौ द्वौ तु समुद्रांशस्य शंतनोः ।
विचित्रवीर्यस्तनयस्तथा चित्राङ्गदो नृपः ॥ १७ ॥
इमावुत्पाद्य तनयौ क्षेत्रजावस्य धीमतः ।
प्रौष्ठपद्यष्टकारूपा पितृलोके भविष्यसि ॥ १८ ॥
नाम्ना सत्यवती लोके पितृलोके तथाष्टका ।
आयुरारोग्यदा नित्यं सर्वकामफलप्रदा ॥ १९ ॥
भविष्यसि परे काले नदीत्वं च गमिष्यसि ।
पुण्यतोया सरिच्छ्रेष्ठा लोके ह्यच्छोदनामिका ॥ २० ॥
इत्युक्त्वा स गणस्तेषां तत्रैवान्तरधीयत ।
साप्यवाप च तत् सर्वं फलं यदुदितं पुरा ॥ २१ ॥

इस प्रकार (बहुकालार्जित) तपस्या के नष्ट हो जाने से अच्छोदा लज्जित हो गयी। वह अत्यन्त दीन होकर नीचे मुख किये हुए देवपुर में पुनः अपनी प्रसिद्धि के लिए पितरों से प्रार्थना करने लगी। तब रोती हुई उस तपस्विनी को पितरों ने सान्त्वना दी। वे महाभाग पितर भावी देव-कार्य का विचार कर प्रसन्नता एवं मङ्गल से परिपूर्ण वाणी द्वारा उससे इस प्रकार बोले—'वरवर्णिनि! बुद्धिमान् लोग स्वर्गलोक में दिव्य शरीर द्वारा जो कुछ शुभाशुभ कर्म करते हैं, वे उसी शरीर से उन कर्मों के फल का उपभोग करते हैं, क्योंकि देव-योनि में कर्म तुरन्त फलदायक हो जाते हैं। उसके विपरीत मानवयोनि में मृत्यु के पश्चात् (जन्मान्तर में) कर्मफल भोगना पड़ता है।

इसलिए पुत्रि ! तुम मृत्यु के पश्चात् जन्मान्तर में अपनी तपस्या का पूर्ण फल प्राप्त करोगी। अट्ठाईसवें द्वापर में तुम मत्स्य-योनि में उत्पन्न होओगी। पितृकुल का व्यतिक्रमण करने के कारण तुम्हें उस कष्टदायक योनि की प्राप्ति होगी। पुनः उस योनि से मुक्त होकर तुम राजा (उपरिचर) वसु की कन्या होओगी। कन्या होने पर तुम अपने दुर्लभ लोकों को अवश्य प्राप्त करोगी। उस कन्यावस्था में तुम्हें बदरी (बेर) के वृक्षों से व्याप्त द्वीप में महर्षि पराशर से एक ऐसे पुत्र की प्राप्ति होगी, जो बादरायण नाम से प्रसिद्ध होगा और कभी अपने कर्म से च्युत न होने वाले नारायण का अवतार होगा। तुम्हारा वह पुत्र एक ही वेद को अनेक (चार) भागों में विभक्त करेगा। तदनन्तर समुद्र के अंश से उत्पन्न हुए पुरुवंशी राजा शंतनु के संयोग से तुम्हें विचित्रवीर्य एवं महाराज चित्राङ्गद नामक दो पुत्र प्राप्त होंगे। बुद्धिमान् विचित्रवीर्य के दो क्षेत्रज धृतराष्ट्र और पाण्डु पुत्रों को उत्पन्न करा कर तुम प्रौष्ठपदी (भाद्रपद की पूर्णिमा और पौषकृष्णाष्टमी आदि) में अष्टका रूप से पितृलोक में जन्म ग्रहण करोगी। इस प्रकार मनुष्य लोक में सत्यवती और पितृलोक में आयु एवं आरोग्य प्रदान करने वाली तथा नित्य सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलों की प्रदात्री अष्टका नाम से तुम्हारी ख्याति होगी। कालान्तर में तुम मनुष्य लोक में नदियों में श्रेष्ठ पुण्यसलिला अच्छोदा नाम से नदी-रूप में जन्म धारण करोगी।' ऐसा कहकर पितरों का वह समुदाय वहीं अन्तर्हित हो गया तथा अच्छोदा को अपने उन समस्त कर्म फलों की प्राप्ति हुई, जो पहले कहे जा चुके हैं॥ ९-२१ ॥

सूत उवाच

विभ्राजा नाम चान्ये तु दिवि सन्ति सुवर्चसः।
लोका र्वाहषदो यत्र पितरः सन्ति सुव्रताः ॥ १ ॥

यत्र बर्हिणयुक्तानि विमानानि सहस्रशः।
सङ्कल्प्या बर्हिषो यत्र तिष्ठन्ति फलदायिनः ॥ २ ॥

यत्राभ्युदयशालासु मोदन्ते श्राद्धदायिनः।
यांश्च देवासुरगणा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ ३ ॥

यक्षरक्षोगणाश्चैव यजन्ति दिवि देवताः।
पुलस्त्यपुत्राः शतशस्तपोयोगसमन्विताः ॥ ४ ॥

महात्मानो महाभागा भक्तानामभयप्रदाः।
एतेषां पीवरी कन्या मानसी दिवि विश्रुता ॥ ५ ॥

योगिनी योगमाता च तपश्चक्रे सुदारुणम्।
प्रसन्नो भगवांस्तस्या वरं वव्रे तु सा हरेः ॥ ६ ॥

योगवतं सुरूपं च भर्तारं विजितेन्द्रियम्।
देहि देव प्रसन्नस्त्वं पतिं मे वदतां वरम् ॥ ७ ॥

उवाच देवो भविता व्यासपुत्रो यदा शुकः।
भविता तस्य भार्या त्वं योगाचार्यस्य सुव्रते ॥ ८ ॥

भविष्यति च ते कन्या कृत्वी नाम च योगिनी।
पाञ्चालाधिपतेर्देया मानुषस्य त्वया तदा॥ ९॥

जननी ब्रह्मदत्तस्य योगसिद्धा च गौः स्मृता।
कृष्णो गौरः प्रभुः शम्भुर्भविष्यन्ति च ते सुताः॥ १०॥

महात्मानो महाभागा गमिष्यन्ति परं पदम्।
तानुत्पाद्य पुनर्योगात् सवरा मोक्षमेष्यसि॥ ११॥

सुमूर्तिमन्तः पितरो वसिष्ठस्य सुताः स्मृताः।
नाम्ना तु मानसाः सर्वे सर्वे ते धर्ममूर्तयः॥ १२॥

ज्योतिर्भासिषु लोकेषु ये वसन्ति दिवः परम्।
विराजमानाः क्रीडन्ति यत्र ते श्राद्धदायिनः॥ १३॥

सर्वकामसमृद्धेषु विमानेष्वपि पादजाः।
किं पुनः श्राद्धदा विप्रा भक्तिमन्तः क्रियान्विताः॥ १४॥

गौर्नाम कन्या येषां तु मानसी दिवि राजते।
शुक्रस्य दयिता पत्नी साध्यानां कीर्तिवर्धिनी॥ १५॥

सूतजी कहते हैं—हे ऋषियो! स्वर्ग में विभ्राज नामक अन्य तेजस्वी लोक भी हैं, जहाँ परम श्रेष्ठ उत्तम व्रतपरायण बर्हिषद् नामक पितर निवास करते हैं। जहाँ, मयूरों से युक्त हजारों विमान विद्यमान रहते हैं। जहाँ संकल्प के लिए प्रयुक्त हुए बर्हि (कुश) फल देने के लिये उन्मुख होकर उपस्थित रहते हैं एवं जहाँ की अभ्युदयशालाओं में पितरों को श्राद्ध प्रदान करने वाले लोग आनन्द मनाते रहते हैं। देवताओं और असुरों के गण, गन्धर्वों और अप्सराओं के समूह तथा यक्षों और राक्षसों के समुदाय स्वर्ग में उन पितरों के निमित्त यज्ञ का विधान करते रहते हैं। महर्षि पुलस्त्य के सैकड़ों पुत्र, जो तपस्या और योग से परिपूर्ण, महान् आत्मबल से सम्पन्न, महान् भाग्यशाली एवं अपने भक्तों को अभय प्रदान करनेवाले हैं, वहाँ निवास करते हैं। इन पितरों की एक मानसी कन्या थी, जो पीवरी नाम से विख्यात थी। उस योगिनी एवं योगमाता पीवरी ने अत्यन्त कठोर तप किया। उसकी तपस्या से भगवान् विष्णु प्रसन्न हो गये (और उसके समक्ष प्रकट हुए)। तब पीवरी ने श्रीहरि से यह वरदान माँगा—'देव! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे योगाभ्यासी, अत्यन्त सौन्दर्यशाली, जितेन्द्रिय, वक्ताओं में श्रेष्ठ एवं पालन-पोषण करनेवाला पति प्रदान कीजिए।' यह सुनकर भगवान् विष्णु ने कहा—'सुव्रते! जब महर्षि व्यास के पुत्र शुक जन्म धारण करेंगे, उस समय तुम उन योगाचार्य की पत्नी होओगी। उनके संयोग से तुम्हें एक योगाभ्यासपरायणा कृत्वी नाम की कन्या उत्पन्न होगी। तब तुम उसे मानव-योनि में उत्पन्न हुए पञ्चालनरेश (नीप मतान्तर से अणुह) को समर्पित कर देना। तुम्हारी वह योगसिद्ध कन्या (कृत्वी) ब्रह्मदत्त की माता होकर 'गौ' नामसे भी प्रसिद्ध होगी। तदनन्तर कृष्ण, गौर, प्रभु और शंभु नामक तुम्हारे चार पुत्र होंगे, जो महान् आत्मबल से संपन्न एवं महान् भाग्यशाली होंगे और अन्त में परमपद को प्राप्त करेंगे। उन पुत्रों को पैदा करने के पश्चात् तुम पुनः अपने

योगबल से वर प्राप्त करोगी और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लोगी।' महर्षि वसिष्ठ के पुत्र-रूप (सुकाली नामक) पितर, जो सब-के सब मानस नाम से विख्यात हैं, अत्यन्त सुन्दर स्वरूप वाले तथा धर्म की मूर्ति हैं। वे सभी स्वर्गलोक से परे ज्योतिर्भासी लोकों में निवास करते हैं। जहाँ श्राद्धकर्ता शूद्र भी सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाले विमानो में विराजमान होकर क्रीड़ा करते रहते हैं, वहाँ क्रियानिष्ठ एवं भक्तिमान् श्राद्धदाता ब्राह्मणों की तो बात ही क्या है। इन पितरों की 'गौ' नाम की मानसी कन्या स्वर्गलोक में विराजमान है, जो शुक्र की प्रिय पत्नी और साध्यों की कीर्ति का विस्तार करने वाली है ॥१–१५॥

मरीचिगर्भा नाम्ना तु लोका मार्तण्डमण्डले।
पितरो यत्र तिष्ठन्ति हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः ॥१६॥

तीर्थश्राद्धप्रदा यान्ति ये च क्षत्रियसत्तमाः।
राज्ञां तु पितरस्ते वै स्वर्गमोक्षफलप्रदाः ॥१७॥

एतेषां मानसी कन्या यशोदा लोकविश्रुता।
पत्नी ह्यंशुमतः श्रेष्ठा स्नुषा पञ्चजनस्य च ॥१८॥

जनन्यथ दिलीपस्य भगीरथपितामही।
लोकाः कामदुघा नाम कामभोगफलप्रदाः ॥१९॥

सुस्वधा नाम पितरो यत्र तिष्ठन्ति सुव्रताः।
आज्यपा नाम लोकेषु कर्दमस्य प्रजापतेः ॥२०॥

पुलहाङ्गजदायादा वैश्यास्तान् भावयन्ति च।
यत्र श्राद्धकृतः सर्वे पश्यन्ति युगपद्गताः ॥२१॥

मातृभ्रातृपितृस्वसृसखिसम्बन्धिबान्धवान्।
अपि जन्मायुतैर्दृष्टाननुभूतान् सहस्रशः ॥२२॥

एतेषां मानसी कन्या विरजा नाम विश्रुता।
या पत्नी नहुषस्यासीद् ययातेर्जननी तथा ॥२३॥

एकाष्टकाभवत् पश्चाद् ब्रह्मलोके गता सती।
त्रय एते गणाः प्रोक्ताश्चतुर्थं तु वदाम्यतः ॥२४॥

लोकास्तु मानसा नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थिताः।
येषां तु मानसी कन्या नर्मदा नाम विश्रुता ॥२५॥

सोमपा नाम पितरो यत्र तिष्ठन्ति शाश्वताः।
धर्ममूर्तिधराः सर्वे परतो ब्रह्मणः स्मृताः ॥२६॥

उत्पन्नः स्वधया ते तु ब्रह्मत्वं प्राप्य योगिनः।
कृत्वा सृष्ट्यादिकं सर्वं मानसे साम्प्रतं स्थिताः ॥२७॥

नर्मदा नाम तेषां तु कन्या तोयवहा सरित्।
भूतानि या पावयति दक्षिणापथगामिनी ॥२८॥

तेभ्यः सर्वे तु मनवः प्रजाः सर्गेषु निर्मिताः।
ज्ञात्वा श्राद्धानि कुर्वन्ति धर्माभावेऽपि सर्वदा ॥२९॥

तेभ्य एव पुनः प्राप्तुं प्रसादाद् योगसंततिम्।
पितृणामादिसर्गे तु श्राद्धमेव विनिर्मितम् ॥३०॥

इसी प्रकार सूर्यमण्डल में मरीचिगर्भ नाम से प्रसिद्ध अन्य लोक भी हैं, जहाँ अङ्गिरा के पुत्र हविष्मान् नामक पितर के रूप में निवास करते हैं। ये राजाओं (क्षत्रियों) के पितर हैं, जो स्वर्ग एवं मोक्षरूप फल के प्रदाता हैं। जो श्रेष्ठ क्षत्रिय तीर्थों में श्राद्ध प्रदान करते हैं, वे इन लोकों में जाते हैं। इन पितरों की एक यशोदा नाम की लोक-प्रसिद्ध मानसी कन्या थी, जो पञ्चजनकी श्रेष्ठ पुत्रवधू, अंशुमान् की पत्नी, (महाराज) दिलीप की माता और भगीरथ की पितामही थी। अभीष्ट कामनाओं एवं भोगों का फल प्रदान करने वाले कामदुघ नामक अन्य पितृलोक भी हैं, जहाँ उत्तम व्रतपरायण सुस्वधा नाम वाले पितर निवास करते हैं। वे ही पितर प्रजापति कर्दम के लोकों में आज्यप नाम से प्रख्यात हैं। महर्षि पुलह के अङ्ग से उत्पन्न हुए वैश्यगण उनकी भावना (पूजा) करते हैं। श्राद्धकर्ता सभी वैश्यगण इन लोकों में पहुँचकर दस हजार जन्मान्तरों में देखे और अनुभव किये हुए भी अपने हजारों माता, भाई, पिता, बहन, मित्र, सम्बन्धी और बान्धवों को एक साथ देखते हैं। इन पितरों की मानसी कन्या विरजा नाम से विख्यात थी, जो राजा नहुष की पत्नी और ययातिकी माता थी। बाद में वह पतिपरायणा विरजा ब्रह्मलोकको चली गयी और वहाँ एकाष्टका नाम से प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार मैंने तीन पितृगणों का वर्णन कर दिया। अब इसके बाद चौथे गण का वर्णन कर रहा हूँ। ब्रह्माण्ड के ऊपर मानस नामक लोक विद्यमान हैं, उनमें अविनाशी 'सोमप' नामक पितर निवास करते हैं (ये ब्राह्मणों के पितर हैं)। उनकी मानसी कन्या नर्मदा नाम से प्रसिद्ध है। वे सभी पितर धर्म की-सी मूर्ति धारण करने वाले तथा ब्रह्मा से भी परे वतलाये गये हैं। स्वधा से उनकी उत्पत्ति हुई है। वे सभी योगाभ्यासी पितर ब्रह्मत्व को प्राप्त करके सृष्टि आदि समस्त कार्यों से निवृत्त हो इस समय मानस लोक में विद्यमान हैं। उनकी वह नर्मदा नाम्नी कन्या (भारत के) दक्षिणापथ में आकर जल प्रवाहित करने वाली नदी हुई है, जो समस्त प्राणियों को पवित्र कर रही है। इन्हीं पितरों की परम्परा से मनुगण (अपने-अपने कार्यकाल में) सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजाओं का निर्माण करते हैं। इस रहस्यको जानकर लोग धर्म का अभाव हो जाने पर भी सर्वदा श्राद्ध करते रहते हैं। इन्हीं पितरों की कृपा से पुनः इन्हीं के द्वारा योग-परम्परा को प्राप्त करने के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में पितरों के लिए श्राद्ध का ही निर्माण किया गया था ॥१६-३०॥

सर्वेषां राजतं पात्रमथवा रजतान्वितम्।
दत्तं स्वधा पुरोधाय पितॄन् प्रीणाति सर्वदा ॥३१॥

अग्नीषोमयमानां तु कार्यमाप्यायनं बुधः।
अग्न्यभावेऽपि विप्रस्य पाणावपि जलेऽथवा ॥३२॥

अजाकर्णेऽश्वकर्णे वा गोष्ठे वा सलिलान्तिके ।
पितॄणामम्बरं स्थानं दक्षिणा दिक् प्रशस्यते ॥३३॥

प्राचीनावीतमुदकं तिलाः सव्याङ्गमेव च ।
दर्भा मांसं च पाठीनं गोक्षीरं मधुरा रसाः ॥३४॥

खड्गलोहामिषमधुकुशश्यामाकशाल्यः ।
यवनीवारमुद्गेक्षुशुक्लपुष्पघृतानि च ॥३५॥

वल्लभानि प्रशस्तानि पितॄणामिह सर्वदा ।
द्वेष्याणि सम्प्रवक्ष्यामि श्राद्धे वर्ज्यानि यानि तु ॥३६॥

मसूरशणनिष्पावराजमाषकुसुम्भिकाः ।
पद्मबिल्वार्कधत्तूरपारिभद्राटरूषकाः ॥३७॥

न देयाः पितृकार्येषु पयश्चाजाविकं तथा ।
कोद्रवोदारचणकाः कपित्थं मधुकातसी ॥३८॥

एतान्यपि न देयानि पितृभ्यः प्रियमिच्छता ।
पितॄन् प्रीणाति यो भक्त्या ते पुनः प्रीणयन्ति तम् ॥३९॥

यच्छन्ति पितरः पुष्टिं स्वर्गारोग्यं प्रजाफलम् ।
देवकार्यादपि पुनः पितृकार्यं विशिष्यते ॥४०॥

देवतानां च पितरः पूर्वमाप्यायनं स्मृतम् ।
शीघ्रप्रसादास्त्वक्रोधा निःशङ्काः स्थिरसौहृदाः ॥४१॥

शान्तात्मानः शौचपराः सततं प्रियवादिनः ।
भक्तानुरक्ताः सुखदाः पितरः पूर्वं देवताः ॥४२॥

हविष्मतामाधिपत्ये श्राद्धदेवः स्मृतो रविः ।
एतद् वः सर्वमाख्यातं पितृवंशानुकीर्तनम् ।
पुण्यं पवित्रमायुष्यं कीर्तनीयं सदा नृभिः ॥४३॥

इन सभी पितरों के निमित्त चाँदी का अथवा चाँदीमिश्रित अन्य धातु का भी पात्र आदि स्वधा का उच्चारण करके (ब्राह्मण को) दान कर दिया जाय तो वह सर्वदा पितरों को प्रसन्न कर देता है। विद्वान् (श्राद्धकर्ता) को चाहिए कि (श्राद्धकाल में प्रथमतः) अग्नि, सोम और यम का तर्पण करके उन्हें तृप्त करे (और पितरों के उद्देश्य से दिया गया अन्न आदि अग्नि में छोड़ दे)। अग्नि के अभाव में ब्राह्मण के हाथपर, जल में अजाकर्ण पर, अश्वकर्ण पर, गोशाला में अथवा जल के निकट डाल दे। पितरों का स्थान आकाश बतलाया जाता है। उनके लिये दक्षिण दिशा विशेष रूप से प्रशस्त मानी गयी है। प्राचीनावीत (अपसव्य) होकर दिया गया जल, तिल, सव्याङ्ग (शरीर का दाहिना भाग), डाभ, फल का गुदा, गो-दुग्ध, मधुर रस, खड्ग, लोह, मधु, कुश, सावाँ, अगहनी का चावल, यव, तिन्नी का चावल, मूँग, गन्ना, श्वेत पुष्प और घृत— ये पदार्थ पितरों के लिये सर्वदा प्रिय और प्रशस्त कहे गये हैं। अब जो श्राद्ध-कार्य में

वर्जित तथा पितरों के लिये अप्रिय हैं, उन पदार्थों का वर्णन कर रहा हूँ—मसूर, शण (पेटुआ का बीज), सेम, काला उड़द, कुसुम का पुष्प, कमल, बेल या बिल्वपत्र, मदार, धतूरा, पारिभद्र (नीम, देवदारु का पुष्प या पत्ता), अड़ूसे का फूल तथा भेंड़ और बकरी का दूध। इन्हें पितृकार्य में नहीं देना चाहिये। पितरों से कल्याण प्राप्ति की इच्छावाले पुरुष को श्राद्धकार्य में कोदो, उदार (गुलू के वृक्ष का पुष्प अथवा पत्ता), चना, कैथ, महुआ और अलसी (तीसी)—इन पदार्थों का भी उपयोग नहीं करना चाहिये। जो भक्तिपूर्वक (श्राद्धादि द्वारा) पितरों को प्रसन्न करता है, उसे पितर भी बदले में हर्षित कर देते हैं। वे पितृगण प्रसन्न होकर समृद्धि, स्वर्ग, आरोग्य और सन्तान रूपी फल प्रदान करते हैं। इसीलिये देवकार्य से भी बढ़कर पितृकार्य की विशेषता मानी जाती है तथा देवताओं से पूर्व ही पितरों के तर्पण की विधि बतलायी गयी है। ये पितर शीघ्र ही कृपा करने वाले, क्रोध रहित, शस्त्रविहीन, दृढ़ मैत्रीयुक्त, शान्तात्मा, पवित्रतापरायण, सदा प्रियवादी, भक्तों के प्रति अनुरक्त और सुखदायक (गृहस्थों के) प्रथम देवता हैं। हविष्यान्न का भक्षण करने वाले इन पितरों के अधिनायक पद पर श्राद्ध के देवता रूप में सूर्य अधिष्ठित माने गये हैं। इस प्रकार यह पितृ वंश का वर्णन मैंने तुम लोगों को पूर्ण रूप से बतला दिया। यह पुण्य प्रदाता, परम पवित्र और आयु की वृद्धि करनेवाला है, मनुष्यों को सदा इसका पठन-पाठन करना चाहिये ॥३१-४३)

सूत उवाच

श्रुत्वैतत् सर्वमखिलं मनुः प्रपच्छ केशवम् ।
श्राद्धे कालं च विविधं श्राद्धभेदं तथैव च ॥१॥

श्राद्धेषु भोजनीया ये ये च वर्ज्या द्विजातयः ।
कस्मिन् वासरभागे वा पितृभ्यः श्राद्धमाचरेत्॥२॥

कस्मिन् दत्तं कथं याति श्राद्धं तु मधुसूदन ।
विधिना केन कर्तव्यं कथं प्रीणाति तत् पितॄन् ॥३॥

सूत जी कहते हैं—ऋषियो! यह सारा वृत्तान्त पूर्ण रूप से सुन कर मनु ने मत्स्य भगवान् से पूछा—'मधुसूदन! श्राद्ध के लिये कौन सा काल उत्तम है? श्राद्ध के विभिन्न भेद कौन से हैं? श्राद्धों में कैसे ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये? तथा कैसे ब्राह्मण वर्जित हैं? दिन के किस भाग में पितरों के लिये श्राद्ध करना उचित है? कैसे पात्र को श्राद्धीय वस्तु प्रदान करनी चाहिये? तथा उसका फल पितरों को कैसे प्राप्त होता है? श्राद्ध किस विधि से करना उपयुक्त है तथा वह श्राद्ध किस प्रकार पितरों को प्रसन्न करता है (ये सारी बातें मुझे बतलाने की कृपा करें) ॥१-३॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥४॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं श्राद्धमुच्यते ।
नित्यं तावत् प्रवक्ष्यामि अर्घ्यावाहनवर्जितम् ॥५॥

अदैवं तद् विजानीयात् पार्वणं पर्वसु स्मृतम् ।
पार्वणं त्रिविधं प्रोक्तं शृणु तावन्महीपते ॥६॥

पार्वणे ये नियोज्यास्तु ताञ्शृणुष्व नराधिप ।
पञ्चाग्निः स्नातकश्चैव त्रसुपर्णः षडङ्गवित् ॥७॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियसुतो विधिवाक्यविशारदः ।
सर्वज्ञो वेदविन्मन्त्री ज्ञातवंशः कुलान्वितः ॥८॥

पुराणवेत्ता धर्मज्ञः स्वाध्यायजपतत्परः ।
शिवभक्तः पितृपरः सूर्यभक्तोऽथ वैष्णवः ॥९॥

ब्रह्मण्यो योगविच्छान्तो विजितात्मा च शीलवान् ।
भोजयेच्चापि दौहित्रं यत्नतः स्वसुहृद् गुरून् ॥१०॥

विट्पतिं मातुलं बन्धुमृत्विगाचार्यसोमपान् ।
यश्च व्याकुरुते वाक्यं यश्च मीमांसतेऽध्वरम् ॥११॥

सामस्वरविधिज्ञश्च पङ्क्तिपावनपावनः ।
सामगो ब्रह्मचारी च वेदयुक्तोऽथ ब्रह्मवित् ॥१२॥

यत्र ते भुञ्जते श्राद्धे तदेव परमार्थवत् ।
एते भोज्याः प्रयत्नेन वर्जनीयान् निबोध मे ॥१३॥

पतितोऽभिशस्तः क्लीवः पिशुनव्यङ्गरोगिणः ।
कुनखी श्यावदन्तश्च कुण्डगोलाश्वपालकाः ॥१४॥

परिवित्तिर्नियुक्तात्मा प्रमत्तोन्मत्तदारुणाः ।
वैडालो वकवृत्तिश्च दम्भी देवलकादयः ॥१५॥

कृतघ्नान् नास्तिकांस्तद्वन्म्लेच्छदेशनिवासिनः ।
त्रिशङ्कुबर्बरद्राववीतद्रविडकोङ्कणान् ॥१६॥

वर्जयेल्लिङ्गिनः सर्वाञ्श्राद्धकाले विशेषतः ।
पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा विनीतात्मा निमन्त्रयेत् ॥१७॥

निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान् ।
वायुभूताननुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥१८॥

मत्स्य भगवान् कहने लगे—राजर्षे ! प्रतिदिन पितरों के प्रति श्रद्धा रखते हुए अन्न आदि से या केवल जल से अथवा दूध या फल मूल से भी श्राद्ध कर्म करना चाहिये। श्राद्ध नित्य, नैमित्तिक और काम्य रूप से तीन प्रकार का बतलाया गया है। इनमें मैं पहले नित्य श्राद्ध का वर्णन कर रहा हूँ, जो अर्घ्य और आवाहन से रहित होता है। इसे 'अदैव' मानना चाहिये। पर्वो पर सम्पन्न होने वाले (त्रिपुरुष) श्राद्धको 'पार्वण' कहते हैं। महीपते ! यह पार्वण श्राद्ध तीन प्रकार का बतलाया जाता है, उन्हें सुनो। नरेश्वर ! पार्वण श्राद्ध में जिन्हें नियुक्त करना चाहिये, उन्हें

बतलाता हूँ, सुनो। जो पञ्चाग्नि विद्या का ज्ञाता अथवा गार्हपत्य आदि पाँच अग्नियों का उपासक, स्नातक, त्रिसुपर्ण (ऋग्वेद के एक अंश का अध्येता), वेद के छहों अङ्गों का ज्ञाता, श्रोत्रिय, श्रोत्रियका पुत्र, धर्मशास्त्रों का पारगामी विद्वान्, सर्वज्ञ, वेदवेत्ता, उचित मन्त्रणा करने वाला, जाने हुए वंश में उत्पन्न, कुलीन, पुराणों का ज्ञाता, धर्मज्ञ, स्वाध्याय एवं जप में तत्पर रहने वाला, शिवभक्त, पितृपरायण, सूर्य-भक्त, वैष्णव, ब्राह्मण भक्त, योगवेत्ता, शान्त, आत्माको वशीभूत कर लेने वाला एवं शीलवान् हो (ऐसे ब्राह्मण को श्राद्ध कर्म में नियुक्त करना चाहिये)। (अब इस पुनीत श्राद्ध में जिन्हें भोजन करना चाहिये, उनके विषय में बतला रहा हूँ, सुनो।) पुत्री का पुत्र (नाती), अपना मित्र, गुरु (अथवा गुरुजन), कुलपति (आचार्य), मामा, भाई बन्धु, ऋत्विक्, आचार्य (विद्यागुरु) और सोमपायी—इन्हें प्रयत्नपूर्वक बुलाकर श्राद्ध में भोजन कराना चाहिये। साथ ही जो विधि-वाक्यों के व्याख्याता, यज्ञ के मीमांसक, सामवेद के स्वर और (उसके उच्चारण की) विधि के ज्ञाता, पङ्क्तिपावनों में भी परम पवित्र, सामवेद के पारगामी विद्वान्, ब्रह्मचारी, वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञानी हैं—ये सभी श्राद्ध में चेष्टापूर्वक भोजन कराने योग्य हैं। ऐसे ब्राह्मण जिस श्राद्ध में भोजन करते हैं, वही श्राद्ध परमार्थ सम्पन्न माना जाता है। अब जो ब्राह्मण श्राद्ध में वर्जित हैं, उन्हें मैं बतला रहा हूँ, सुनो। पतित (जो अपने वर्णाश्रम-धर्म से च्युत हो गया हो), अभिशप्त (कलंकित, बदनाम), नपुंसक, चुगलखोर, विकृत अङ्गोंवाला, रोगी, बुरे नखोंवाला, काले दांतों से युक्त, कुण्ड (सधवा का जारज पुत्र), गोलक (विधवा का जारज पुत्र), कुत्तों का पालक, परिवित्ति, नौकर अथवा जिसका मन किसी अन्य श्राद्ध में लगा हो, पागल, उन्मादी, क्रूर, बिडाल एवं बगुले की तरह चोरी से जीविकोपार्जन करने वाला, दम्भी तथा मन्दिर में देव-पूजा करके वेतन भोगी (पुजारी)—ये सभी श्राद्ध भोज में निषिद्ध माने गये हैं। इसी प्रकार कृतघ्न (किये हुए उपकार को न मानने वाला), नास्तिक (परलोक पर विश्वास न करने वाला), त्रिशङ्कु (कीकट से दक्षिण और महानदी से उत्तर का भाग), बर्बर (भारत की पश्चिम सीमा पर का प्रदेश), द्राव, बीत, द्रविड और कोंकण आदि देशों के निवासी तथा संन्यासी—इन सभी का विशेषरूप से श्राद्धकार्य में परित्याग कर देना चाहिये। श्राद्ध-दिवस के एक या दो दिन पहले ही श्राद्धकर्ता विनीत भाव से ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे; क्योंकि पितर लोग आकर उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के निकट उपस्थित होते हैं। वे वायुरूप होकर उन ब्राह्मणों के पीछे-पीछे चलते हैं तथा उनके बैठ जाने पर पितर भी उन्हीं के समीप बैठ जाते हैं ॥४-१८॥

दक्षिणं जानुमालभ्य त्वं मया तु निमन्त्रितः।
एवं निमन्त्र्य नियमं श्रावयेत् पितृबान्धवान् ॥१९॥

अक्रोधनैः शौचपरैः सततं ब्रह्मचारिभिः।
भवितव्यं भवद्भिश्च मया च श्राद्धकारिणा ॥२०॥

पितृयज्ञं विनिर्वर्त्य तर्पणाख्यं तु योऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं कुर्याच्छ्राद्धमिन्दुक्षये सदा ॥२१॥

गोमयेनोपलिप्ते तु दक्षिणप्रवणे स्थले।
श्राद्धं समाचरेद् भक्त्या गोष्ठे वा जलसंनिधौ ॥२२॥

अग्निमान् निर्वपेत् पित्र्यं चरुं च सममुष्टिभिः।
पितृभ्यो निर्वपामीति सर्वं दक्षिणतो न्यसेत् ॥२३॥

अभिधार्यं ततः कुर्यान्निर्वापत्रयमग्रतः।
तेऽपि तस्यायताः कार्याश्चतुरङ्गुलविस्तृताः ॥२४॥

दर्वीत्रयं तु कुर्वीत खादिरं रजतान्वितम्।
रत्निमात्रं परिश्लक्ष्णं हस्ताकाराग्रमुत्तमम् ॥२५॥

उदपात्रं च कांस्यं च मेक्षणं च समित् कुशान्।
तिलाः पात्राणि सद्वासो गन्धधूपानुलेपनम् ॥२६॥

आहरेदपसव्यं तु सर्वं दक्षिणतः शनैः।
एवमासाद्य तत् सर्वं भवनस्याग्रता भुवि ॥२७॥

गोमयेनोपलिप्तायां गोमूत्रेण तु मण्डलम्।
अक्षताभिः सपुष्पाभिस्तदभ्यर्च्यापसव्यवत् ॥२८॥

विप्राणां क्षालयेत् पादावभिनन्द्य पुनः पुनः।
आसनेषूपक्लृप्तेषु दर्भवत्सु विधानवत् ॥२९॥

उपस्पृष्टोदकान् विप्रानुपवेश्यानुमन्त्रयेत्।

उस समय श्राद्धकर्ता ब्राह्मण के दाहिने घुठने को स्पर्श कर (उससे) इस प्रकार प्रार्थना करे—'मैं आपको निमन्त्रित कर रहा हूँ।' इस प्रकार निमन्त्रण देकर अपने पिता के भाई-बन्धुओं को श्राद्ध-नियम बतलाते हुए यों कहे—'(मैं अमुक दिन पितृ-श्राद्ध करूँगा, अतः उस दिन) आपलोगों को निरन्तर क्रोधरहित, शौचाचार-परायण तथा ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थिर रहना चाहिये। मुझ श्राद्धकर्ता द्वारा भी इन नियमों का पालन किया जायगा।' इस प्रकार पितृ-यज्ञ से निवृत्त होकर तर्पण-कर्म करना चाहिए। श्राद्धकर्ता को 'पिण्डान्वाहार्यक' नामक श्राद्ध सदा अमावास्या तिथि में करना चाहिये। गोशाला में या किसी जलाशय के निकट दक्षिण दिशा की ओर ढालू स्थान को गोबर से लीपकर वहीं भक्ति पूर्वकश्राद्धकर्म करना चाहिये। श्राद्धकर्ता पितरों के निमित्त बनी हुई चरु को समसंख्यक (२, ४, ६) मुठ्ठियों द्वारा 'मैं पितरों को चरु प्रदान कर रहा हूँ'—यों कहकर पितरों को चरु प्रदान करे और शेष सबको अपनी दाहिनी ओर रख ले। तत्पश्चात अग्नि में घी की धारा छोड़कर चरु को तीन भागों में विभक्त करके आगे की ओर रखे। उन भागों को भी चार अङ्गुल के विस्तार का लम्बा बना देना चाहिये। पुनः तीन दर्वी (करछुलें, जिनसे हवनीय पदार्थ अग्नि में छोड़े जाते हैं) रखनी चाहिये, जो खैर या चाँदीमिश्रित अन्य धातु की बनी हों, जिनका परिमाण मुठ्ठी बँधे हुए हाथ के बराबर हो, जो अत्यन्त चिकनी, उत्तम एवं हथेली की-सी बनी हुई सुडौल हों। इसी प्रकार अपसव्य होकर (जनेऊ को बाँये कन्धे से दाहिने कन्धे पर

रखकर) पीतल का जलपात्र, मेक्षण (प्रणीतापात्र), समिधा, कुश, तिल, अन्यान्य पात्र, शुद्ध नवीन वस्त्र, गन्ध, धूप, चन्दन आदि को लाकर सबको धीरे से अपनी दाहिनी ओर रख ले। इस प्रकार सभी आवश्यक सामग्रियों को एकत्र करके घरके दरवाजे पर गोबर से लिपी हुई भूमिपर अपसव्य होकर गोमूत्र से मण्डल की रचना करे और पुष्पसहित अक्षतों द्वारा उसकी भी पूजा करे। तत्पश्चात् बारम्बार ब्राह्मणों का अभिनन्दन करते हुए उनका पाद-प्रक्षालन करे। पुनः उन ब्राह्मणों को कुशनिर्मित आसनों पर बैठाकर विधिपूर्वक उन्हें आचमन या जलपान करावे। तदनन्तर उनसे श्राद्ध के लिये सम्मति ले ॥१९-२९॥

द्वौ दैवे पितृकृत्ये त्रीनेकैकमुभयत्र च ॥३०॥
भोजयेदीश्वरोऽपीह न कुर्याद् विस्तरं बुधः।
दैवपूर्वं नियोज्याथ विप्रानर्घ्यादिना बुधः ॥३१॥

अग्नौ कुर्यादनुज्ञाता विप्रैर्विप्रो यथाविधि।
स्वगृह्योक्तविधानेन कांस्ये कृत्वा चरुं ततः ॥३२॥

अग्नीषोमयमानां तु कुर्यादाप्यायनं बुधः।
दक्षिणाग्नौ प्रतीते वा य एकाग्निर्द्विजोत्तमः ॥३३॥

यज्ञोपवीती निर्वर्त्य ततः पर्युक्षणादिकम्।
प्राचीनावीतिना कार्यमतः सर्वं विजानता ॥३४॥

षट् च तस्माद्धविःशेषात् पिण्डान् कृत्वा ततोदकम्।
दद्यादुदकपात्रैस्तु सतिलं सव्यपाणिना ॥३५॥

जान्वाच्य सव्यं यत्नेन दर्भयुक्तो विमत्सरः।
विधाय लेखां यत्नेन निर्वपेष्ववनेजनम् ॥३६॥

दक्षिणाभिमुखः कुर्यात् करे दर्वीं निधाय वै।
निधाय पिण्डमेकैकं सर्वदर्भेष्वनुक्रमात् ॥३७॥

निनयेदथ दर्भेषु नामगात्रानुकीर्तनैः।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं विमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥३८॥

तथैव च ततः कुर्यात् पुनः प्रत्यवनेजनम्।
षडप्यृतून् नमस्कृत्य गन्धधूपार्हणादिभिः ॥३९॥

एवमावाह्य तत् सर्वं वेदमन्त्रैर्यथोदितैः।
एकाग्नेरेक एव स्यान्निर्वापो दर्विका तथा ॥४०॥

ततः कृत्वान्तरे दद्यात् पत्नीभ्योऽन्नं कुशेषु सः।
तद्वत् पिण्डादिके कुर्यादावाहनविसर्जनम् ॥४१॥

ततो गृहीत्वा पिण्डेभ्यो मात्राः सर्वाः क्रमेण तु।
तानेव विप्रान् प्रथमं प्राशयेद् यत्नतो नरः ॥४२॥

बुद्धिमान् पुरुष को देवकार्य में दो एवं पितृकार्य में तीन अथवा दोनों कार्यो में एक-एक ही ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए। धन-सम्पत्ति से सम्पन्न होने पर भी पार्वण श्राद्ध में विस्तार करना उचित नहीं है। पहले विश्वेदेवको अर्घ्य आदि समर्पित करके तत्पश्चात् ब्राह्मणों की अर्घ्य आदि द्वारा पूजा करे। पुनः श्राद्धकर्ता ब्राह्मण को चाहिये कि वह उन ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर चरु को काँसे के बर्तन में रखकर अपने गृह्योक्त के विधानानुसार विधिपूर्वक अग्नि में हवन करे, फिर बुद्धिमान् पुरुष को अग्नि, सोम और यमका तर्पण करना चाहिए। इस प्रकार एक अग्नि का उपासक यज्ञोपवीतधारी श्रेष्ठ ब्राह्मण 'दक्षिण' नामक अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर श्राद्धकर्म सम्पन्न करे। तदनन्तर पर्युक्षण आदि से निवृत्त होकर उपर्युक्त सारी विधियों को समझ ले और प्राचीनावीती (अपसव्य) होकर सारा कार्य सम्पन्न करे। फिर उस बचे हुए हवि से छः पिण्ड बनाकर उनपर बायें हाथ से अपने जलपात्र द्वारा तिलसहित जल गिराये और इर्ष्या-द्वेषरहित होकर हाथ में कुश लेकर बायाँ घुटना मोड़कर प्रयत्नपूर्वक (वेदी पर) रेखा बनाये (एवं रेखाओं पर कुश बिछाये।) तथा दक्षिण दिशा की ओर मुख करके पिण्ड रखने के लिए बिछाये गये कुशों पर अवनेजन (श्राद्ध-वेदी पर बिछे हुए कुशों पर जल सींचने का संस्कार) करे। फिर हाथ में करछुल लेकर तथा क्रमशः एक-एक पिण्ड उठाकर पितरों के गोत्र एवं नामों का उच्चारण करके उन सभी बिछाये गये कुशों पर एक-एक करके रख दे और लेपभागी पितरों की तृप्ति के लिए उन कुशों के मूल भाग में अपने उस हाथ को पोंछ दे। तत्पश्चात् पुनः पूर्ववत् उन पिण्डों पर प्रत्यवनेजन जल छोड़े। तदुपरान्त गन्ध, धूप आदि पूजन-सामग्रियों द्वारा उन छहों पितरों का पूजन करके उन्हें नमस्कार करे और फिर यथोक्त वेद-मन्त्रों द्वारा उनका आवाहन करे। एकाग्निक ब्राह्मण के लिए एक ही निर्वाप और एक ही करछुल का विधान है। यह सब सम्पन्न कर लेने के पश्चात् श्राद्धकर्ता कुशों पर पितरों की पत्नियों के लिए अन्न प्रदान करे और पिण्डों पर आवाहन एवं विसर्जन आदि क्रिया पूर्ववत् करे। तत्पश्चात् श्राद्धकर्ता उन सभी पिण्डों में थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर उन्हें सर्वप्रथम प्रयत्नपूर्वक उन निमन्त्रित ब्राह्मणों को खिलावे ॥ ३०-४२ ॥

यस्मादन्नादधृता मात्रा भक्षयन्ति द्विजातयः।
अन्वाहार्यकमित्युक्तं तस्मात् तच्चन्द्रसक्षये ॥ ४३ ॥

पूर्वं दत्त्वा तु तद्धस्ते सपवित्रं तिलोदकम्।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ ४४ ॥

वर्णयेन् भोजयेदन्नं मिष्टं पूतं च सर्वदा।
वर्जयेत् क्रोधपरतां स्मरन् नारायणं हरिम् ॥ ४९ ॥

तृप्ता ज्ञात्वा ततः कुर्याद् विकिरन् सार्ववर्णिकम्।
सोदकं चान्नमुद्धृत्य सलिलं प्रक्षिपेद् भुवि ॥ ४६ ॥

आचान्तेषु पुनर्दद्याज्जलपुष्पाक्षतोदकम्।
स्वस्तिवाचनकं सर्वं पिण्डोपरि समाहरेत् ॥ ४७ ॥

देवायत्तं प्रकुर्वीत श्राद्धनाशोऽन्यथा भवेत् ।
विसृज्य ब्राह्मणांस्तद्वत् तेषां कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ४८ ॥

दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन् पितॄन् याचेत् मानवः ।
दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च ॥ ४९ ॥

श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहु देयं च नोऽस्त्विति ।
अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि ॥ ५० ॥

याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कंचन ।
एतदस्त्विति तत्प्रोक्तमन्वाहार्यं तु पार्वणम् ॥ ५१ ॥

यथेन्दुसंक्षये तद्वदन्यत्रापि निगद्यते ।
पिण्डांस्तु गोऽजविप्रेभ्योदद्यादग्ना जलेऽपि वा ॥ ५२ ॥

विप्राग्रतो वा विकिरेद् वयोभिरभिवाशयेत् ।
पत्नी तु मध्यमं पिण्डं प्राशयेद् विनयान्विता ॥ ५३ ॥

आधत्त पितरो गर्भमत्र संतानवर्धनम् ।
तावबुच्छेषणं तिष्ठेद् यावद् विप्रा विसर्जिताः ॥ ५४ ॥

वैश्वदेवं ततः कुर्यान्निवृत्ते पितृकर्मणि ।
इष्टैः मह ततः शान्ती भुञ्जति पितृसेवितम् ॥ ५५ ॥

चूँकि पिण्डान्न से निकाले गये अंश को अमावास्या के दिन ब्राह्मण लोग खाते हैं, इसीलिए इस श्राद्ध को 'अन्वाहार्यक' कहा जाता है। श्राद्धकर्ता पहले पवित्रक सहित तिल और जल को उस ब्राह्मण के हाथ में देकर तत्पश्चात् पिण्डांश को समर्पित करें और 'यह हमारे पितरों के लिए स्वधा हो' यों कहते हुए भोजन कराये। उस ब्राह्मण को चाहिये कि वह क्रोध का परित्याग करके भगवान् नारायण का स्मरण करते हुए 'यह बहुत मीठा है', 'यह परम पवित्र है'—यों कहते हुए भोजन करे। उन ब्राह्मणों को तृप्त जानकर तत्पश्चात् सभी वर्णों के लिये विकिरा की क्रिया करनी चाहिए। उस समय जल सहित अन्न लेकर पृथ्वी पर जल गिरा दे। पुनः उन ब्राह्मणों के आचमन कर लेने पर जल, पुष्प, अक्षत आदि सभी सामग्री स्वस्तिवाचनपूर्वक पिण्डों के ऊपर डाल दे। फिर इस श्राद्धफल को भगवान् को अर्पित कर दे, अन्यथा श्राद्ध नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार उन ब्राह्मणों को प्रदक्षिणा करक उन्हें विदा करे। उस समय श्राद्धकर्ता दक्षिण दिशा की ओर मुख करके पितरों से अभिलाषा-पूर्ति के निमित्त याचना करते हुए यों कहे—'पितृगण ! हमारे दाताओं, वेदों (वेदज्ञान) और संतानों की वृद्धि हो, हमारी श्रद्धा कभी न घटे, देने के लिये हमारे पास प्रचुर सम्पत्ति, हो, हमारे अधिक-से-अधिक अन्न उत्पन्न हों, हमारे घर पर अतिथियों का जमघट लगा रहे। हम से माँगनेवाले बहुत हों, परन्तु हम किसी से याचना न करें।' उस समय ब्राह्मण लोग कहें—'ऐसा ही हो।' इस प्रकार अन्वाहार्यक नामक पार्वण श्राद्ध जिस प्रकार अमावास्या तिथि को बतलाया गया है, उसी प्रकार अन्य तिथियों में भी किया जा सकता है। श्राद्ध-समाप्ति के पश्चात् उन पिण्डों को गौ, बकरी या ब्राह्मण को दे

दें अथवा अग्नि या जल में भी डाल दे अथवा ब्राह्मण के सामने ही पक्षियों के लिए छींट दे। उनमें मझले पिण्ड को (श्राद्धकर्ता की) पत्नी 'पितृगण मेरे उदर में संतान की वृद्धि करने वाले गर्भ की स्थापना करायें' यों याचना करती हुई विनयपूर्वक स्वयं खा जाय। यह पिण्ड तब तक उच्छिष्ट बना रहता है, जब तक ब्राह्मण बिदा नहीं कर दिये जाते। इस प्रकार पितृकर्म के समाप्त हो जाने पर वैश्वदेव का पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् अपने इष्ट-मित्रों सहित शान्तिपूर्वक उस पितृसेवित अन्न का स्वयं भोजन करना चाहिये ॥ ४३-५५ ॥

पुनर्भोजनमध्वानं यानमायासमैथुनम्।
श्राद्धकृच्छ्राद्धभुक्चैव सर्वमेतद् विवर्जयेत् ॥ ५६ ॥

स्वाध्यायं कलहं चैव दिवास्वप्नं च सर्वदा।
अनेन विधिना श्राद्धं निरुद्वास्येह निर्वपेत् ॥ ५७ ॥
कन्याकुम्भवृषस्थेऽर्के कृष्णपक्षेषु सर्वदा।
यत्र यत्र प्रदातव्यं सपिण्डीकरणात् परम्।
तत्रानेन विधानेन देयमग्निमता सदा ॥ ५८ ॥

श्राद्धकर्ता और श्राद्धभोक्ता—दोनों को श्राद्ध में भोजन करने के पश्चात् पुनः भोजन करना, मार्गगमन, सवारी पर चढ़ना, परिश्रम का काम करना, मैथुन, स्वाध्याय, कलह और दिन में शयन—इन सब का उस दिन परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त विधि से जमुहाई आदि न लेकर श्राद्ध-कर्म सम्पन्न करना चाहिए। सपिण्डीकरण के पश्चात् कन्या, कुम्भ और वृष राशि पर सूर्य के स्थित रहने पर कृष्णपक्ष में जहाँ-जहाँ पिण्ड-दान करे, वहाँ-वहाँ अग्निहोत्री श्राद्धकर्ता को सदा इसी विधि से पिण्डदान करना चाहिये ॥ ५६-५८ ॥

सूत उवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि विष्णुना यदुदीरितम्।
श्राद्धं साधारणं नाम भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ १ ॥
अयने विषुवे युग्मे सामान्ये चार्कसंक्रमे।
अमावास्याष्टकाकृष्णपक्षे पञ्चदशीषु च ॥ २ ॥
आर्द्रामघारोहिणीषु द्रव्यब्राह्मणसङ्गमे।
गजच्छायाव्यतीपाते विष्टिवैधृतिवासरे ॥ ३ ॥
वैशाखस्य तृतीया या नवमी कार्त्तिकस्य च।
पञ्चदशी च माघस्य नभस्ये च त्रयोदशी ॥ ४ ॥
युगादयः स्मृता ह्येता दत्तस्याक्षयकारिकाः।
तथा मन्वन्तरादौ च देयं श्राद्धं विजानता ॥ ५ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! इसके पश्चात् अब मैं उस साधारण श्राद्ध के विषय में बतला रहा हूँ, जो भोग एवं मोक्षरूपी फल प्रदान करनेवाला है तथा जिसका स्वयं भगवान् विष्णु ने वर्णन किया है। सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन के समय, विषुवयोग

(सूर्य के तुला और मेष राशि पर संक्रमण करते समय), कृष्णपक्ष की अष्टका (मार्गशीर्ष, पौष, फाल्गुन कृष्णपक्ष की सप्तमी, अष्टमी, नवमी—इन तीन तिथियों का समुदाय), अमावास्या और पूर्णिमा तिथियों में, आर्द्रा, मघा और रोहिणी नक्षत्रों में, द्रव्य और ब्राह्मण के मिलने पर, गजच्छाया, व्यतिपात और वैधृति योगों में तथा विष्टि (भद्रा) करण में पूर्वोक्त साधारण श्राद्ध किया जाता है। वैशाख मास की शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया), कार्तिक मास की शुक्लनवमी (अक्षयनवमी), माघ मास की पूर्णिमा और भाद्रपद मास के शुक्लपक्षकी त्रयोदशी—ये युगादि तिथियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें किया गया श्राद्ध अक्षय फलदायक होता है। इसी प्रकार विद्वान् श्राद्ध कर्ता को मन्वन्तरों की आदि तिथियों में भी श्राद्ध-कर्म करना चाहिए ॥ १-५ ॥

अश्वयुक्छुक्लनवमी द्वादशी कार्त्तिके तथा।
तृतीया चैत्रमासस्य तथा भाद्रपदस्य च ॥६॥

फाल्गुनस्य ह्यमावास्या पौषस्यैकादशी तथा।
आषाढस्यापि दशमी माघमासस्य सप्तमी ॥७॥

श्रावणस्याष्टमी कृष्णा तथाषाढी च पूर्णिमा।
कार्तिकी फाल्गुनी चैत्री ज्येष्ठपञ्चदशी सिता।
मन्वन्तरादयश्चैता दत्तस्याक्षयकारिकाः ॥८॥

यस्यां मन्वन्तरस्यादौ रथमास्ते दिवाकरः।
माघमासस्य सप्तम्यां सा तु स्याद् रथसप्तमी ॥९॥

पानीयमप्यत्र तिलैर्विमिश्रं दद्यात् पितृभ्यः प्रयतो मनुष्यः।
श्राद्धं कृतं तेन समा सहस्रं रहस्यमेतत् पितरो वदन्ति ॥१०॥

वैशाख्यामुपरागेषु तथोत्सवमहालये।
तीर्थायतनगोष्ठेषु दीपोद्यानगृहेषु च ॥११॥

विविक्तेषूपलिप्तेषु श्राद्धं देयं विजानता।
विप्रान् पूर्वे परे चाह्नि विनीतात्मा निमन्त्रयेत्॥१२॥

शीलवृत्तगुणोपेतान् वयोरूपसमन्वितान्।
द्वौ दैवे त्रींस्तथा पित्र्ये एकैकमुभयत्र वा ॥१३॥

भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे।
विश्वान् देवान् यवैः पुष्पैरभ्यर्च्यासनपूर्वकम् ॥१४॥

पूरयेद् पात्रयुग्मं तु स्थाप्य दर्भपवित्रकम्।
शंनो देवीत्यपः कुर्याद् यवोऽसीति यवानपि ॥१५॥

गन्धपुष्पैश्च सम्पूज्य वैश्वदेवं प्रति न्यसेत्।
विश्वेदेवा स इत्याभ्यामावाह्य विकिरेद् यवान् ॥१६॥

गन्धपुष्पैरलङ्कृत्य या दिव्येत्यर्घ्यमुत्सृजेत्।
अभ्यर्च्य ताभ्यामुत्सृष्टि पितृकार्यं समारभेत् ॥१७॥

आश्विन मास की शुक्ल नवमी, कार्तिक मास की शुक्लद्वादशी, चैत्रमास की शुक्ल तृतीया, भाद्रप्रद मास की शुक्ल तृतीया, फाल्गुन मास की अमावास्या, पौष-मासकी शुक्ल एकादशी, आषाढ़ मास की शुक्लदशमी, माघ मास की शुक्लसप्तमी, श्रावण मास की कृष्णाष्टमी, आषाढ़ मास की पूर्णिमा तथा कार्तिक, फाल्गुन, चैत्र और ज्येष्ठ की पूर्णिमा—ये चौदह तिथियाँ चौदह मन्वन्तरों की आदि तिथियाँ हैं; इनमें किया गया श्राद्ध अक्षय फलकारक होता है। जिस मन्वन्तर की आदि तिथि माघ मास की शुक्ल सप्तमी में भगवान् सूर्य रथ पर आरूढ़ होते हैं, वह सप्तमी रथसप्तमी के नाम से प्रसिद्ध है। इस तिथि में यदि मनुष्य प्रयत्नपूर्वक अपने पितरों को तिल-मिश्रित जलमात्र प्रदान करता है अर्थात् तर्पण कर लेता है तो वह सहस्रों वर्षों तक किये गये श्राद्ध के समान फलदायक होता है। इसका रहस्य पितृगण स्वयं बतलाते हैं। विद्वान् श्राद्ध कर्ता को चाहिये कि वह वैशाखी पूर्णिमा में, सूर्य एवं चन्द्र ग्रहण में, विशेष उत्सव के अवसर पर, पितृपक्ष में, तीर्थस्थान, देव मन्दिर एवं गोशाला में, दीपगृह और वाटिका में एकान्त में लिपी-पुती हुई भूमि पर श्राद्धकार्य सम्पन्न करे। वह श्राद्ध के एक या दो दिन पूर्व ही विनम्र भाव से शीलवान्, सदाचारी, गुणी, रूपवान् एवं अधिक अवस्था वाले ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे। देवकार्य में दो और पितृकार्य में तीन अथवा दोनों में एक-एक ही ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिये। अतिशय समृद्धिशाली होने पर भी विस्तार में नहीं लगना चाहिये। उस समय विश्वे-देवों को आसन प्रदान करके यव और पुष्पों द्वारा उनकी अर्चना करे। फिर दो मिट्टी के पात्र (कोसा) रखकर उनमें कुश निर्मित पवित्रक डाल दे और 'शं नो देवीरभीष्टये०' (वाज० सं० ३६।१२) इस मन्त्र को पढ़कर उन्हें जल से भर दे और 'यवोऽसि० (नारायणोपनि०)' यह मन्त्र उच्चारण कर उनमें यव डाल दे। फिर गन्ध, पुष्प आदि से पूजा करके उन्हें विश्वे देवों के उद्देश्य से (उनके निकट) रख दे। फिर 'विश्वेदेवास० (शु० यजु० ७।३४)' इत्यादि दो मन्त्रों द्वारा विश्वेदेवों का आवाहन करके (वेदीपर) जौ बिखेर दे। तत्पश्चात् गन्ध-पुष्प आदि से अलंकृत करके 'या दिव्या आपः० (तै० सं०)' इस मन्त्र से उन्हें अर्घ्य प्रदान करे। इस प्रकार उनकी पूजा करके और उनसे निवृत्त होकर पितृकार्य आरम्भ करे ॥६-१७॥

दर्भासनं तु दत्त्वादौ त्रीणि पात्राणि पूरयेत्।
सपवित्राणि कृत्वादौ शन्नो देवीत्यपः क्षिपेत् ॥१८॥

तिलोऽसीति तिलान् कुर्याद् गन्धपुष्पादिकं पुनः।
पात्रं वनस्पतिमयं तथा पर्णमयं पुनः ॥१९॥

जलजं वाथ कुर्वीत तथा सागरसम्भवम्।
सौवर्णं राजतं वापि पितृणां पात्रमुच्यते ॥२०॥

रजतस्य कथा वापि दर्शनं दानमेव वा।
राजतैर्भाजनैरेषामथवा रजतान्वितैः ॥२१॥

वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते।
तथार्घ्यपिण्डभोज्यादौ पितृणां राजतं मतम् ॥२२॥

शिवनेत्रोद्भवं यस्मात् तस्मात् पितृवल्लभम् ।
अमङ्गलं तद् यत्नेन देवकार्येषु वर्जयेत् ॥२३॥
एव पात्राणि सङ्कल्प्य यथालाभं विमत्सरः ।
या दिव्येति पितुर्नाम गोत्रैर्दर्भकरो न्यसेत् ॥२४॥
पितॄनावाहयिष्यामि कुर्वित्युक्तस्तु तैः पुनः ।
उशन्तस्त्वा तथायान्तु ऋग्भ्यामावाहयेत् पितॄन् ॥२५॥
या दिव्येत्यर्घ्यमुत्सृज्य दद्याद् गन्धादिकांस्ततः ।
हस्तात् तदुदकं पूर्वं दत्त्वा संस्रवमादितः ॥२६॥
पितृपात्रं निधायाथ न्युब्जमुत्तरतो न्यसेत् ।
पितृभ्यः स्थानमसीति निधाय परिषेचयेत् ॥२७॥
तत्रापि पूर्ववत् कुर्यादग्निकार्यं विमत्सरः ।
उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामाहृत्य परिवेषयेत् ॥२८॥
प्रशान्तचित्तः सततं दर्भपाणिरशेषतः ।
गुणाढ्यैः सूपशाकैस्तु नानाभक्ष्यैर्विशेषतः ॥२९॥
अन्नं तु सदधिक्षीरं गोघृतं शर्करान्वितम् ।
भासं प्रीणाति वै सर्वान् पितॄनित्याह केशवः ॥३०॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥३१॥
षण्मासं छागमांसेन तृप्यन्ति पितरस्तथा ।
सप्त पार्षतमांसेन तथाष्टावेणजेन तु ॥३२॥
दश मासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मजमांसेन मासानेकादशैव तु ॥३३॥
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।
रौरवेण च तृप्यन्ति मासान् पञ्चदशैव तु ॥३४॥
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ।
कालशाकेन चानन्ता खड्गमांसेन चैव हि ॥३५॥
यत् किंचिन्मधुसंमिश्रं गोक्षीरं घृतपायसम् ।
दत्तमक्षयमित्याहुः पितरः पूर्वदेवताः ॥३६॥
स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्यं पुराणान्यखिलानि च।
ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां सूक्तानि विविधानि च ॥३७॥
इन्द्राग्निसोमसूक्तानि पावनानि स्वशक्तितः ।
बृहद्रथन्तरं तद्वज्ज्येष्ठसाम सरौहिणम् ॥३८॥
तथैव शान्तिकाध्यायं मधुब्राह्मणमेव च ।
मण्डलं ब्राह्मणं तद्वत् प्रीतिकारि तु यत् पुनः ॥३९॥
विप्राणामात्मनश्चैव तत् सर्वं समुदीरयेत् ।

(पितृ-श्राद्ध में) पहले कुशों का आसन प्रदान करके तीन अर्घ्यपात्रों को तैयार करना चाहिये। उनमें प्रथमतः कुशनिर्मित पवित्रक डालकर 'शंनो देवी० (शु० यजु० ३६। १२)—' इस मन्त्र से उन्हें जलसे भर दे, पुनः 'तिलोऽसि०—' इस मन्त्र से उनमें तिल डालकर उन्हें (अमन्त्रक ही) गन्ध, पुष्प आदि से पूरा कर दे। पितरों के निमित्त प्रयुक्त किये गये ये पात्र काष्ठ के या वृक्ष के पत्ते के या जल एवं सागर से उत्पन्न हुए पत्ते के अथवा सुवर्णमय या रजतमय होने चाहिये। (यदि चाँदी का पात्र देने की सामर्थ्य न हो तो) चाँदी के विषय में कथनोपकथन, दर्शन अथवा दान से ही कार्य सम्पन्न हो सकता है। पितरों के निमित्त यदि चाँदी के बने हुए या चाँदी से मढ़े पात्रों द्वारा श्रद्धापूर्वक जलमात्र भी प्रदान कर दिया जाय तो वह अक्षय तृप्तिकारक होता है। इसी प्रकार पितरों के लिए अर्घ्य, पिण्ड और भोजन के पात्र भी चाँदी के ही प्रशस्त माने गये हैं। चूँकि चाँदी शिवजी के नेत्र से उद्भूत हुई है, इसलिये यह पितरों को परम प्रिय है; किन्तु देवकार्य में इसे अशुभ माना गया है, इसलिये देवकार्य में चाँदी को दूर रखना चाहिये। इस प्रकार यथाशक्ति पात्रों की व्यवस्था करके मत्सररहित हो कुश हाथ में लेकर 'या दिव्या० (तै० सं०)—'इस मन्त्र द्वारा अपने पिता के नाम और गोत्र का उच्चारण करते हुए (उन अर्घ्यपात्रों को) रख दे। (फिर ब्राह्मणों की ओर देखकर यों कहे कि) 'मैं अपने पितरों का आवाहन करूँगा।' इसके उत्तर में ब्राह्मण लोग कहें—'करो'। ऐसा कहे जाने पर 'उशन्तस्त्वा०—' एवं 'आयान्तु नः०—' इन दोनों ऋचाओं द्वारा पितरों का आवाहन करे। तत्पश्चात् 'या दिव्या०—'इस मन्त्र से उन्हें अर्घ्य प्रदान करके गन्ध, पुष्प आदि से उनकी पूजा करे। फिर पिण्ड-दान से पूर्व उस जल को हाथ में लेकर उसे पितृ-पात्र में रखकर वेदी के अग्रभाग में उलटकर रख दे और 'पितृभ्यः स्थानमसि—यह पितरों के लिए स्थान है'—ऐसा कहकर उसे जल से सींच दे। इस कार्य में भी पूर्ववत् सावधानीपूर्वक अग्निकार्य सम्पन्न करे। तदुपरान्त हाथ में कुश लिए हुए प्रशान्त-चित्त से गुणकारी दाल, शाक आदि से युक्त, विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों को अपने दोनों हाथों से लाकर पूर्णरूप से परिवेषण करे (परोसे)। पदार्थों में दही, दूध और शक्करमिश्रित अन्न तथा गोघृत, गोदुग्ध और खीर आदि जो कुछ पितरों के निमित्त दिया जाता है, वह अक्षय बतलाया गया है। पितर लोग गृहस्थों के प्रथम देवता हैं, इसलिए श्राद्ध के अवसर पर पितृसम्बन्धी सूक्तों का स्वाध्याय (पाठ), सम्पूर्ण पुराण, ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य और रुद्र के विभिन्न प्रकार के सूक्त, इन्द्र, अग्नि और सोम के पवित्र सूक्त, बृहद्रथन्तर, रौहिणसहित ज्येष्ठ साम, शान्तिकाध्याय, मधुब्राह्मण और मण्डलब्राह्मण आदि तथा इसी प्रकार के अन्यान्य प्रीतिवर्धक सूक्तों या स्तोत्रों का स्वयं अथवा ब्राह्मणों द्वारा पाठ करना करवाना चाहिये॥ १८-३९॥

भुक्तवत्सु ततस्तेषु भोजनोपान्तिके नृप॥ ४०॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा।
समुत्सृजेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरेद् भुवि॥ ४१॥

अग्निदग्धास्तु ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम।
भूमौं दत्तेन तृप्यन्तु प्रयान्तु परमां गतिम् ॥ ४२ ॥

येषां न माता न पिता न बन्धु-
र्न गोत्रशुद्धिर्न तथान्नमस्ति।
तत्तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतद्
प्रयास्तु लोकेषु सुखाय तद्वत् ॥ ४३ ॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यक्तानां कुलयोषिताम्।
उच्छिष्टभागधेयः स्याद् दर्भे विकिरयोश्च यः ॥ ४४ ॥

तृप्ता ज्ञात्वोदकं दद्यात् सकृद् विप्रकरे तथा।
उपलिप्ते महीपृष्ठे गोशकृन्मूत्रवारिणा ॥ ४५ ॥

निधाय दर्भान् विधिवद् दक्षिणाग्रान् प्रयत्नतः।
सर्ववर्णेन चान्नेन पिण्डांस्तु पितृयज्ञवत् ॥ ४६ ॥

अवनेजनपूर्वं तु नामगोत्रेण मानवः।
गन्धधूपादिकं दद्यात् कृत्वा प्रत्यवनेजनम् ॥ ४७ ॥

जान्वाच्य सव्यं सव्येन पाणिनाथ प्रदक्षिणाम्।
पित्र्यमानीय तत् कार्ये विधिवद् दर्भपाणिना ॥ ४८ ॥

दीपप्रज्वालनं तद्वत् कुर्यात् पुष्पार्चनं बुधः।
अथाचान्तेषु चाचम्य वारि दद्यात् सकृत् सकृत् ॥ ४९ ॥

अथ पुष्पाक्षतान् पश्चादक्षय्योदकमेव च।
सतिलं नामगोत्रेण दद्याच्छक्त्या च दक्षिणाम् ॥ ५० ॥

गोभूहिरण्यवासांसि भव्यानि शयनानि च।
दद्याद् यदिष्टं विप्राणामात्मनः पितुरेव च ॥ ५१ ॥

वित्तशाठ्येन रहितः पितृभ्यः प्रीतिमावहन्।
ततः स्वधावाचनकं विश्वेदेवेषु चोदकम् ॥ ५२ ॥

दत्त्वाशीः प्रतिगृह्णीयाद् विश्वेभ्यः प्राङ्मुखो बुधः।
अघोराः पितरः सन्तु सन्त्वित्युक्तः पुनर्द्विजैः ॥ ५३ ॥

राजन्! उन ब्राह्मणों के भोजन कर चुकने पर उनके भोजन के संनिकट ही सभी वर्णों के लिए नियत किये हुए अन्न आदि पदार्थों को लाकर उन्हें जल से परिपूर्ण कर भोजन करने वालों के समक्ष ही यह कहते हुए पृथ्वी पर बिखेर दे—'मेरे कुल में (मृत्यु के पश्चात्) जिन जीवों का अग्नि-संस्कार हुआ हो अथवा जिनका अग्नि-संस्कार नहीं हो, वे सभी पृथ्वी पर बिखेरे हुए इस अन्न से तृप्त हों और परम गति को प्राप्त हों। जिनकी न माता है, न जिनके पिता या भाई बन्धु हैं, न तो जिनकी गोत्र-शुद्धि हुई है तथा जिनके पास अन्न भी नहीं है, उनकी तृप्ति के निमित्त मैंने भूतल पर यह अन्न छींट दिया है, अतः वे भी (मेरे पितरों की भाँति) सुखभोग के लिए

उत्तम लोकों में जायँ। इसी प्रकार जो कुलवधुएँ बिना संस्कृत हुए ही मृत्यु को प्राप्त हो गयी हैं अथवा जिनका परिवार वालों ने परित्याग कर दिया है, उनके लिए कुश-मूल में लगा हुआ तथा विकिरा का बचा हुआ उच्छिष्ट भाग ही हिस्सा है।' तदनन्तर ब्राह्मणों को तृप्त जानकर एक बार उनके हाथों पर जल डाल दे। फिर गोबर, गोमूत्र और जल से लिपी हुई भूमि पर कुशों को विधिपूर्वक दक्षिणाभिमुख बिछा दे। तब श्राद्धकर्ता पिता के नाम और गोत्र का उच्चारण करके पहले (कुशों पर) अवनेजन दे (पिण्ड की वेदी पर कुश से जल छिड़के), फिर पितृ-यज्ञ की भाँति सभी प्रकार के अन्नों से बने हुए पिण्डों को उन कुशों पर रख दे। पुनः गन्ध, पुष्प आदि से पिण्ड-पूजा करके उन पर प्रत्यवनेजन का जल छोड़े और बायाँ घुटना टेककर बायें हाथ से प्रदक्षिणा करे; फिर कुश हाथ में लेकर विधिपूर्वक पितृकार्य सम्पन्न करे। बुद्धिमान् श्राद्धकर्ता को पूर्वोक्त विधि के अनुसार दीप जलाना एवं पुष्पों द्वारा पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् ब्राह्मणों के आचमन कर लेने पर स्वयं भी आचमन करके उनके हाथों पर एक-एक बार जल, पुष्प, अक्षत और तिलसहित अक्षय्योदक डालकर यथाशक्ति उन्हें दक्षिणा दे। पुनः कंजूसी छोड़ कर पितरों को प्रसन्न करते हुए गौ, पृथ्वी, सोना, वस्त्र, सुन्दर शय्याएँ। तथा जो वस्तु अपने तथा पिता को अभीष्ट रही हो, वह सब ब्राह्मणों को दान करना चाहिये। तदुपरान्त स्वधा का उच्चारण करके विद्वान् श्राद्धकर्ता पूर्वाभिमुख हो विश्वेदेवों को जल प्रदान करके उनसे आशीर्वाद ग्रहण करे। उस समय ब्राह्मणों से कहे—'हमारे पितर सौम्य हों।' पुनः ब्राह्मण लोग कहें—'सन्तु हों' ॥ ४०-५३ ॥

गोत्रं तथा वर्धतां नस्तथेत्युक्तश्च तैः पुनः।
दातारो नोऽभिवर्धन्तामिति चैवमुदीरयेत् ॥ ५४ ॥

एताः सत्याशिषः सन्तु सन्त्वित्युक्तश्च तैः पुनः।
स्वस्तिवाचनकं कुर्यात् पिण्डानुद्धृत्य भक्तितः ॥ ५५ ॥

उच्छेषणं तु तत् तिष्ठेद् यावद् विप्रा विसर्जिताः।
ततो ग्रहबलिं कुर्यादिति धर्मव्यवस्थितः ॥ ५६ ॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्यास्तिकस्य च।
दासवर्गस्य तत् पित्र्यं भागधेयं प्रचक्षते ॥ ५७ ॥

पितृभिर्निमितं पूर्वमेतदाप्यायनं सदा।
अपुत्राणां सपुत्राणां स्त्रीणामपि नराधिप ॥ ५८ ॥

ततस्तानग्रतः स्थित्वा परिगृह्योदपात्रकम्।
वाजे वाज इति जपन् कुशाग्रेण विसर्जयेत् ॥ ५९ ॥

बहिः प्रदक्षिणां कुर्यात् पदान्यष्टावनुव्रजन्।
बन्धुवर्गेण सहितः पुत्रभार्यासमन्वितः ॥ ६० ॥

निवृत्य प्रणिपत्याथ पर्युक्ष्याग्निं समन्त्रवत्।
वैश्वदेवं प्रकुर्वीत नैत्यकं बलिमेव च ॥ ६१ ॥

ततस्तु वैश्वदेवान्ते सभृत्यसुतबान्धवः।
भुञ्जीतातिथिसंयुक्तः सर्वं पितृनिषेवितम् ॥ ६२ ॥

एताच्चानुपनीतोऽपि कुर्यात् सर्वेषु पर्वसु।
श्राद्धं साधारणं नाम सर्वकामफलप्रदम् ॥ ६३ ॥

भार्याविरहितोऽप्येतत् प्रवासस्थोऽपि भक्तिमान्।
शूद्रोऽप्यमन्त्रवत् कुर्यादनेन विधिना बुधः ॥ ६४ ॥

तृतीयमाभ्युदयिकं वृद्धिश्राद्धं तदुच्यते।
उत्सवानन्दसम्भारे यज्ञोद्वाहादिमङ्गले ॥ ६५ ॥

(पुनः यजमान कहे) 'हमारे गोत्र की वृद्धि हो तथा हमारे दाताओं की अभिवृद्धि हो।' यों कहे जाने पर पुनः वे ब्राह्मण कहें—'वैसा ही हो।' पुनः प्रार्थना करे—'ये आशीर्वाद सत्य हों।' ब्राह्मण लोग कहें—'सन्तु—(सत्य) हों।' पुनः उन ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराये और पिण्डों को उठा कर भक्तिपूर्वक ग्रहबलि करे—यही धर्म की मर्यादा है। जब तक निमन्त्रित ब्राह्मण विसर्जित किये जाते हैं, तब तक सभी वस्तुएँ उच्छिष्ट रहती हैं। कपटरहित एवं आस्तिक बाह्मणों का जूठन और पितृ-कार्य से भूमि पर बिखरे हुए अन्न नौकरों के भाग हैं—ऐसा कहा जाता है। नरेश्वर! पितरों द्वारा व्यवस्थित यह तर्पणरूप कार्य पुत्रहीनों, पुत्रवानों तथा स्त्रियों के लिए भी है। तदनन्तर ब्राह्मणों को आगे खड़ा करके जलपात्र को हाथ में लेकर 'वाजे वाजे'—यों कहते हुए कुशों के अग्रभाग से पितरों का विसर्जन करे तथा बाहर जाकर पुत्र, स्त्री और भाई-बन्धुओं को साथ लेकर आठ पगतक उन बाह्मणों के पीछे-पीछे चलकर उनकी प्रदक्षिणा करे। वहाँ से लौटकर अग्नि को प्रणाम करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक उसका पर्युक्षण करे तथा वैश्वदेव और नित्य बलि प्रदान करे। वैश्वदेवबलि समाप्त कर लेने के बाद अपने नौकर-चाकर, पुत्र, भाई-बन्धु और अतिथियों के साथ सभी प्रकार के पितृ-सेवित (जिन्हें पहले पितरों को समर्पित किया जा चुका है) पदार्थों का भोजन करे। इस सामान्य पार्वण नामक श्राद्ध को, जो सभी प्रकार के मनोवाञ्छित फलों का प्रदाता है, उपनयन-संस्कार से रहित व्यक्ति भी सभी पर्वों के अवसर पर कर सकता है। बुद्धिमान् पितृ-भक्त पुरुष पत्नीरहित अवस्था में तथा परदेश में स्थित रहने पर भी इस श्राद्ध का विधान कर सकता है। शूद्र को भी पूर्वोक्त विधि के अनुसार मन्त्र-रहित ही इस श्राद्ध को करने का अधिकार है। ऋषियो! अब तीसरे प्रकार के पार्वण श्राद्ध को, जो आभ्युदयिक वृद्धिश्राद्ध के नाम से कहा जाता है, बतला रहा हूँ। यह श्राद्ध किसी उत्सव, हर्ष-संयोग, यज्ञ, विवाह आदि के शुभ अवसर पर किया जाता है ॥५४-६५॥

मातरः प्रथमं पूज्याः पितरस्तदनन्तरम्।
ततो मातामहा राजन् विश्वेदेवास्तथैव च ॥६६॥

प्रदक्षिणोपचारेण दध्यक्षतफलोदकैः।
प्राङ्मुखो निर्वर्तेत् पिण्डान् दूर्वया च कुशैर्युतान् ॥६७॥

सम्पन्नमित्यभ्युदये दद्यादर्घ्यं द्वयोर्द्वयोः ।
युग्मा द्विजातयः पूज्या वस्त्रकार्तस्वरादिभिः ॥६८॥

तिलार्थस्तु यवैः कार्यो नान्दीशब्दानुपूर्वकः ।
माङ्गल्यानि च सर्वाणि वाचयेद् द्विजपुङ्गवैः ॥६९॥

एवं शूद्रोऽपि सामान्यवृद्धिश्राद्धेऽपि सर्वदा ।
नमस्कारेण मन्त्रेण कुर्यादामान्नतः सदा ॥७०॥

दानप्रधानः शूद्रः स्यादित्याह भगवान् प्रभुः ।
दानेन सर्वकामाप्तिरस्य संजायते यतः ॥७१॥

हे राजन् ! इस श्राद्ध में प्रथमतः माताओं की पूजा करके तत्पश्चात् पितरों की पूजा करनी चाहिए । तदनन्तर मातामह (नाना) और विश्वेदेवों के पूजन का विधान है । श्राद्धकर्ता पूर्वाभिमुख हो प्रदक्षिणा करके दही, अक्षत, फल और जल आदि सामग्री-समेत दूर्वा और कुशों से संयुक्त पिण्डों को समर्पित करे । इस आभ्युदयिक श्राद्ध में 'सम्पन्नम्' इस मन्त्र का उच्चारण करके दोनों प्रकार के पितरों को अर्घ्य प्रदान करे । उस समय वस्त्र, सुवर्ण आदि सामग्रियों से दो ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए । तिल के स्थान पर 'नान्दी' शब्द के उच्चारणपूर्वक यव से ही कार्य सम्पन्न करे और श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा सभी प्रकार के माङ्गलिक सूक्तों अथवा स्तोत्रों का पाठ कराये । इसी प्रकार इस सामान्य वृद्धिश्राद्ध में शूद्र भी सदा-सर्वदा नमस्कार रूपी मन्त्र के उच्चारण से तथा आमान्न-दान से (बिना पके हुए कच्चे अन्न के दान से) कार्य सम्पन्न कर सकता है । शूद्र को विशेषरूप से दान-प्रधान (दान में तत्पर, दानशील) होना चाहिए; क्योंकि दान से उसके सभी मनोरथों की पूर्ति हो जाती है—ऐसा सर्वसमर्थ भगवान् ने कहा है ॥६६—७१॥

एकोद्दिष्टमतो वक्ष्ये यदुक्तं चक्रपाणिना ।
मृते पुत्रैर्यथा कार्यमाशौचं च पितर्यपि ॥१॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! इसके उपरान्त अब मैं उस 'एकोद्दिष्ट' श्राद्ध की विधि बतला रहा हूँ, जिसका वर्णन स्वयं भगवान् चक्रपाणि विष्णु ने किया है । पिता की मृत्यु हो जाने पर पुत्रों को शौचपर्यन्त जैसा कार्य करना चाहिए, उसे सुनिये ॥१॥

दशाहं शावमाशौचं ब्राह्मणेषु विधीयते ।
क्षत्रियेषु दश द्वे च पक्षं वैश्येषु चैव हि ॥२॥
शूद्रेषु मासमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
नैशं वाकृतचूडस्य त्रिरात्रं परतः स्मृतम् ॥३॥
जननेऽप्येवमेव स्यात् सर्ववर्णेषु सर्वदा ।
तथास्थिसञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शो विधीयते ॥४॥
प्रेताय पिण्डदानं तु द्वादशाहं समाचरेत् ।
पाथेयं तस्य तत् प्रोक्तं यतः प्रीतिकरं महत् ॥५॥

तस्मात् प्रेतपुरं प्रेतां द्वादशाहं न नीयते।
गृहं पुत्रं कलत्रं च द्वादशाहं प्रपश्यति ॥६॥

तस्मान्निधेयमाकाशे दशरात्रं पयस्तथा।
सर्वदाहोपशान्त्यर्थमध्वश्रमविनाशनम् ॥७॥

तत एकादशाहे तु द्विजानेकादशैव तु।
क्षत्रादिः सूतकान्ते तु भोजयेदयुतो द्विजान् ॥८॥

द्वितीयेऽह्नि पुनस्तद्वदेकोद्दिष्टं समाचरेत्।
आवाहनाग्नौकरणं दैवहीनं विधानतः ॥९॥

एकं पवित्रमेकोऽर्घं एकः पिण्डो विधीयते।
उपतिष्ठतामित्येतद् देयं पश्चात्तिलोदकम् ॥१०॥

स्वदितं विकिरेद् ब्रूयाद् विसर्गे चाभिरम्यताम्।
शेषं पूर्ववदत्रापि कार्यं वेदविदा पितुः ॥११॥

अनेन विधिना सर्वमनुमासं समाचरेत्।
सूतकान्ताद् द्वितीयेऽह्नि शय्या दद्याद् विलक्षणाम् ॥१२॥

काञ्चनं पुरुषं तद्वत् फलवस्त्रसमन्वितम्।
सम्पूज्य द्विजदाम्पत्यं नानाभरणभूषणैः ॥१३॥

वृषोत्सर्गं प्रकुर्वीत देया च कपिला शुभा।
उदकुम्भश्च दातव्यो भक्ष्यभोज्यसमन्वितः ॥१४॥

यावदब्दं नरश्रेष्ठ सतिलोदकपूर्वकम्।
ततः संवत्सरे पूर्णे सपिण्डीकरणं भवेत् ॥१५॥

सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रेतः पार्वणभाग् भवेत्।
वृद्धिपूर्वेषु योग्यश्च गृहस्थश्च भवेत्ततः ॥१६॥

ब्राह्मणों में दस दिन के अशौच का विधान है। इसी प्रकार क्षत्रियों में बारह दिन का, वैश्यों में पंद्रह दिन का और शूद्रों में एक मास का अशौच लगता है। इस अशौच का विधान सगोत्र में ही किया गया है। जिसका मुण्डन-संस्कार नहीं हुआ हो, ऐसे बच्चे का मरणाशौच एक राततक तथा इससे बड़ी अवस्थावाले का तीन राततक बतलाया गया है। इसी प्रकार जननाशौच भी सर्वदा सभी वर्णों के लिए होता है। मरणाशौच में अस्थिसंचयन के उपरान्त (परिवार वालों का) अङ्गस्पर्श करने का विधान है। प्रेतात्मा के लिए बारह दिनों तक पिण्डदान करना चाहिये; क्योंकि वे पिण्ड उस प्रेत के लिए पाथेय (मार्ग का कलेवा) बतलाये गये हैं, अतः अतिशय सुखदायी होते हैं। इसी कारण वह प्रेतात्मा बारह दिनों तक प्रेतपुर (यमपुरी) को नहीं ले जाया जाता। वह बारह दिनों तक अपने गृह, पुत्र और पत्नी को देखता रहता है। इसलिए उसके समस्त दाहों की शान्ति तथा मार्ग की थकावट का विनाश करने के निमित्त दस रात तक आकाश में (पीपल के वृक्ष में बँधा हुआ) जलघट रखना चाहिये। तत्पश्चात्

सम्पन्नमित्यभ्युदये दद्यादर्घ्यं द्वयोर्द्वयोः ।
युग्मा द्विजातयः पूज्या वस्त्रकार्तस्वरादिभिः ॥६८॥
तिलार्थस्तु यवैः कार्यो नान्दीशब्दानुपूर्वकः ।
माङ्गल्यानि च सर्वाणि वाचयेद् द्विजपुङ्गवैः ॥६९॥
एवं शूद्रोऽपि सामान्यवृद्धिश्राद्धेऽपि सर्वदा ।
नमस्कारेण मन्त्रेण कुर्यादामान्नतः सदा ॥७०॥
दानप्रधानः शूद्रः स्यादित्याह भगवान् प्रभुः ।
दानेन सर्वकामाप्तिरस्य संजायते यतः ॥७१॥

हे राजन् ! इस श्राद्ध में प्रथमतः माताओं की पूजा करके तत्पश्चात् पितरों की पूजा करनी चाहिए । तदनन्तर मातामह (नाना) और विश्वेदेवों के पूजन का विधान है। श्राद्धकर्ता पूर्वाभिमुख हो प्रदक्षिणा करके दही, अक्षत, फल और जल आदि सामग्री-समेत दूर्वा और कुशों से संयुक्त पिण्डों को समर्पित करे। इस आभ्युदयिक श्राद्ध में 'सम्पन्नम्' इस मन्त्र का उच्चारण करके दोनों प्रकार के पितरों को अर्घ्य प्रदान करे। उस समय वस्त्र, सुवर्ण आदि सामग्रियों से दो ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। तिल के स्थान पर 'नान्दी' शब्द के उच्चारणपूर्वक यव से ही कार्य सम्पन्न करे और श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा सभी प्रकार के माङ्गलिक सूक्तों अथवा स्तोत्रों का पाठ कराये। इसी प्रकार इस सामान्य वृद्धिश्राद्ध में शूद्र भी सदा-सर्वदा नमस्कार रूपी मन्त्र के उच्चारण से तथा आमान्न-दान से (बिना पके हुए कच्चे अन्न के दान से) कार्य सम्पन्न कर सकता है। शूद्र को विशेषरूप से दान-प्रधान (दान में तत्पर, दानशील) होना चाहिए; क्योंकि दान से उसके सभी मनोरथों की पूर्ति हो जाती है—ऐसा सर्वसमर्थ भगवान् ने कहा है ॥६६—७१॥

एकोद्दिष्टमतो वक्ष्ये यदुक्तं चक्रपाणिना ।
मृते पुत्रैर्यथा कार्यमाशौचं च पितर्यपि ॥१॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! इसके उपरान्त अब मैं उस 'एकोद्दिष्ट' श्राद्ध की विधि बतला रहा हूँ, जिसका वर्णन स्वयं भगवान् चक्रपाणि विष्णु ने किया है। पिता की मृत्यु हो जाने पर पुत्रों को शौचपर्यन्त जैसा कार्य करना चाहिए, उसे सुनिये ॥१॥

दशाहं शावमाशौचं ब्राह्मणेषु विधीयते ।
क्षत्रियेषु दश द्वे च पक्षं वैश्येषु चैव हि ॥२॥
शूद्रेषु मासमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
नैशं वाकृतचूडस्य त्रिरात्रं परतः स्मृतम् ॥३॥
जननेऽप्येवमेव स्यात् सर्ववर्णेषु सर्वदा ।
तथास्थिसञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शो विधीयते ॥४॥
प्रेताय पिण्डदानं तु द्वादशाहं समाचरेत् ।
पाथेयं तस्य तत् प्रोक्तं यतः प्रीतिकरं महत् ॥५॥

तस्मात् प्रेतपुरं प्रेतां द्वादशाहं न नीयते।
गृहं पुत्रं कलत्रं च द्वादशाहं प्रपश्यति ॥६॥
तस्मान्निधेयमाकाशे दशरात्रं पयस्तथा।
सर्वदाहोपशान्त्यर्थमध्वश्रमविनाशनम् ॥७॥
तत एकादशाहे तु द्विजानेकादशैव तु।
क्षत्रादिः सूतकान्ते तु भोजयेदयुतो द्विजान् ॥८॥
द्वितीयेऽह्नि पुनस्तद्वदेकोद्दिष्टं समाचरेत्।
आवाहनाग्नौकरणं दैवहीनं विधानतः ॥९॥
एकं पवित्रमेकोऽर्घं एकः पिण्डो विधीयते।
उपतिष्ठतामित्येतद् देयं पश्चात्तिलोदकम् ॥१०॥
स्वदितं विकिरेद् ब्रूयाद् विसर्गे चाभिरम्यताम्।
शेषं पूर्ववदत्रापि कार्यं वेदविदा पितुः ॥११॥
अनेन विधिना सर्वमनुमासं समाचरेत्।
सूतकान्ताद् द्वितीयेऽह्नि शय्यां दद्याद् विलक्षणाम् ॥१२॥
काञ्चनं पुरुषं तद्वत् फलवस्त्रसमन्वितम्।
सम्पूज्य द्विजदाम्पत्यं नानाभरणभूषणैः ॥१३॥
वृषोत्सर्गं प्रकुर्वीत देया च कपिला शुभा।
उदकुम्भश्च दातव्यो भक्ष्यभोज्यसमन्वितः ॥१४॥
यावदब्दं नरश्रेष्ठ सतिलोदकपूर्वकम्।
ततः संवत्सरे पूर्णे सपिण्डीकरणं भवेत् ॥१५॥
सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रेतः पार्वणभाग् भवेत्।
वृद्धिपूर्वेषु योग्यश्च गृहस्थश्च भवेत्ततः ॥१६॥

ब्राह्मणों में दस दिन के अशौच का विधान है। इसी प्रकार क्षत्रियों में बारह दिन का, वैश्यों में पंद्रह दिन का और सूद्रों में एक मास का अशौच लगता है। इस अशौच का विधान सगोत्र में ही किया गया है। जिसका मुण्डन-संस्कार नहीं हुआ हो, ऐसे बच्चे का मरणाशौच एक राततक तथा इससे बड़ी अवस्थावाले का तीन राततक बतलाया गया है। इसी प्रकार जननाशौच भी सर्वदा सभी वर्णों के लिए होता है। मरणाशौच में अस्थिसंचयन के उपरान्त (परिवार वालों का) अङ्गस्पर्श करने का विधान है। प्रेतात्मा के लिए बारह दिनों तक पिण्डदान करना चाहिये; क्योंकि वे पिण्ड उस प्रेत के लिए पाथेय (मार्ग का कलेवा) बतलाये गये हैं, अतः अतिशय सुखदायी होते हैं। इसी कारण वह प्रेतात्मा बारह दिनों तक प्रेतपुर (यमपुरी) को नहीं ले जाया जाता। वह बारह दिनों तक अपने गृह, पुत्र और पत्नी को देखता रहता है। इसलिए उसके समस्त दाहों की शान्ति तथा मार्ग की थकावट का विनाश करने के निमित्त दस रात तक आकाश में (पीपल के वृक्ष में बँधा हुआ) जलघट रखना चाहिये। तत्पश्चात्

ग्यारहवें दिन ग्यारह ब्राह्मणों को भोजन करावे। इसी प्रकार क्षत्रिय आदि अन्य वर्ण वालों को भी अपने-अपने सूतक की समाप्ति पर (विषम-संख्यक) ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये। पुनः दूसरे अर्थात् बारहवें दिन पूर्ववत् विधिपूर्वक एकोद्दिष्ट श्राद्ध का समारम्भ करे। इसमें आवाहन, अग्नि में पिण्डदान तथा विश्वेदेवों का पूजन निषिद्ध है। इस श्राद्ध में एक ही पवित्रक, एक ही अर्घ्य और एक ही पिण्ड का विधान है। इसके पश्चात् 'उपतिष्ठताम्' इस शब्द का उच्चारण करके तिलसहित जल प्रदान करे और 'खदितम्०' इस सम्पूर्ण मन्त्र को बोलकर अन्न को पृथ्वीपर बिखेर दे तथा विसर्जन के समय 'अभिरम्यताम्' ऐसा कहे। इस प्रकार वेदज्ञ पुत्र को अपने पिता का शेष श्राद्ध-कार्य पूर्णवत् करना चाहिए। इसी विधि से प्रतिमास (पिता की मृत्यु-तिथि पर) सारा कार्य सम्पादित करना चाहिये। सूतक समाप्त होने के पश्चात् दूसरे दिन काञ्चन-पुरुष (सोने की प्रतिमा) और फल-वस्त्र से समन्वित विलक्षण शय्या का दान करना चाहिए। उसी समय अनेकविध वस्त्राभूषणों से द्विज-दम्पती का पूजन करे। तत्पश्चात् वृषोत्सर्ग (साँड़ छोड़ने) का काम सम्पन्न करे। उस समय एक सुन्दर कपिला गौ का दान करे। नरश्रेष्ठ! पुनः अनेक प्रकार के भक्ष्य-भोज्य पदार्थों से युक्त एक जलपात्र, जो तिल और जल से परिपूर्ण हो, दान करे। इस प्रकार के जलपात्र का दान वर्षपर्यन्त करना चाहिए। इस तरह एक वर्ष पूर्ण होने पर सपिण्डीकरण श्राद्ध किया जाता है। सपिण्डीकरण श्राद्ध के पश्चात् प्रेतात्मा पार्वण-श्राद्ध का भागी हो जाता है तथा पूर्व कथित आभ्युदयिक आदि वृद्धि श्राद्धों में भाग पाने के योग्य एवं गृहस्थ हो जाता है ॥ २-१६ ॥

सपिण्डीकरणे श्राद्धे देवपूर्वं नियोजयेत्।
पितॄनेवासयेत् तत्र पृथक् प्रेतं विनिर्दिशेत् ॥ १७ ॥

गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्यात् पात्रचतुष्टयम्।
अर्घार्थं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत् ॥ १८ ॥

तद्वत् संकल्प्य चतुरः पिण्डान् पिण्डप्रदस्तथा।
ये समाना इति द्वाभ्यामन्त्यं तु विभजेत् तथा ॥ १९ ॥

चतुर्थस्य पुनः कार्यं न कदाचिदतो भवेत्।
ततः पितृत्वमापन्नः सर्वतस्तुष्टिमागतः ॥ २० ॥

अग्निष्वात्तादिमध्यत्वं प्राप्नोत्यमृतमुत्तमम्।
सपिण्डीकरणादूर्ध्वं तस्मै तस्मान्न दीयते ॥ २१ ॥

पितृष्वेव तु दातव्यं तत्पिण्डो येषु सस्थितः।
ततः प्रभृति संक्रान्तावुपरागादिपर्वसु ॥ २२ ॥

त्रिपिण्डमाचरेच्छ्राद्धमेकोद्दिष्टे मृतेऽहनि।
एकोद्दिष्टं परित्यज्य मृताहे यः समाचरेत् ॥ २३ ॥

सदैव पितृहा स स्यान्मातृभ्रातृविनाशकः।
मृताहे पार्वणं कुर्वन्नधोऽधो याति मानवः ॥ २४ ॥

सम्पृक्तेष्वाकुलीभावः प्रेतेषु तु यतो भवेत् ।
प्रतिसंवत्सरं तस्मादेकोद्दिष्टं समाचरेत् ॥ २५ ॥

यावदब्दं तु यो दद्यादुदकुम्भं विमत्सरः ।
प्रेतायान्नसमायुक्तं सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ २६ ॥

आमश्राद्धं यदा कुर्याद् विधिज्ञः श्राद्धदस्तदा ।
तेनाग्नौकरणं कुर्यात् पिण्डांस्तेनैव निर्वपेत् ॥ २७ ॥

त्रिभिः सपिण्डीकरणे अशेषत्रितये पिता ।
यदा प्राप्स्यति कालेन तदा मुच्येत बन्धनात् ॥ २८ ॥

मुक्तोऽपि लेपभागित्वं प्राप्नोति कुशमार्जनात् ।
लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥ २९ ॥

सपिण्डीकरण श्राद्ध में सर्वप्रथम विश्वेदेवों को नियुक्त करे। तत्पश्चात् पितरों को स्थान दे और प्रेत का स्थान उनसे अलग निश्चित करे। फिर अर्घ्य देने के लिए चन्दन, जल और तिल से युक्त चार पात्र तैयार करे और प्रेतपात्र के जल से पितृपात्रों को सिक्त कर दे। (अर्थात् प्रेतपात्र के जल को तीन भागों में विभक्त करके उन्हें पितृ-पात्रों में डाल दे।) इसी प्रकार पिण्डदाता चार पिण्डों का निर्माण करके उन्हें संकल्पपूर्वक (पितरों और प्रेत के स्थानों पर पृथक्-पृथक्) रख दे। फिर 'ये समानाः० (वाजस० १९ । ४५-४६)—' इन दो मन्त्रों द्वारा अन्त के (चौथे प्रेत के) पिण्ड को (स्वर्णशलाका या कुश से) तीन भागों में विभक्त कर दे (और एक-एक भाग को क्रमशः पितरों के पिण्डों में मिला दे)। इसके पश्चात् उस चौथे पिण्ड का कहीं भी कोई उपयोग नहीं रह जाता। इसके बाद वह प्रेतात्मा सब ओर से संतुष्ट होकर पितृ रूप में परिवर्तित हो जाता है और 'अग्निष्वात्त' आदि देवपितरों के मध्य उत्तम एवं अविनाशी पद प्राप्त कर लेता है। इसी कारण सपिण्डीकरण के पश्चात् उसे कुछ नहीं दिया जाता। वह प्रेतात्मा जिन पितरों के बीच स्थित है, उसके पिण्ड के तीनों भागों को उन्हीं पितरों के पिण्डों में मिला देना चाहिए। तत्पश्चात् संक्रान्ति अथवा ग्रहण आदि पर्वों के समय त्रिपिण्ड श्राद्ध ही करना चाहिए। एकोद्दिष्ट श्राद्ध को प्रेतात्मा की मृत्यु के दिन करने का विधान है। जो श्राद्धकर्ता पिता की मृत्युतिथि पर एकोद्दिष्ट श्राद्ध का परित्याग कर (केवल) अन्य श्राद्धों को करता है, वह सदैव पितृघाती तथा माता और भाई का विनाशक हो जाता है। पिता की क्षयाहतिथि पर (एकोद्दिष्ट छोड़कर) पार्वण श्राद्ध करनेवाला मानव अधम-से-अधम गति को प्राप्त होता है। चूँकि प्रेतों से सम्बन्धित हो जाने से पितृगण व्याकुल हो जाते हैं, इसलिए प्रतिवर्ष एकोद्दिष्ट श्राद्ध करना चाहिए। जो मनुष्य मत्सररहित होकर वर्ष पर्यन्त प्रेत के निमित्त अन्न आदि पदार्थों से युक्त जलपात्र दान करता रहता है, उसे अश्वमेध-यज्ञ का फल प्राप्त होता है। विधियों का ज्ञाता श्राद्धकर्ता जब आमश्राद्ध (जिस में ब्राह्मणों को भोजन न कराकर कच्चा अन्न दिया जाता है) करे तो विधिपूर्वक अग्निकरण करे और

उसी समय पिण्डदान भी करे। जब पिता सपिण्डीकरण श्राद्ध में अपने पिता, पितामह, प्रपितामह के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है, तब वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। मुक्त होने पर भी वह कुश के मार्जन से लेपभागी हो जाता है। इस प्रकार चतुर्थ और पञ्चमसहित तीन पितर लेपभागी और पिता आदि तीन पिण्डभागी हैं। उनमें पिण्ड-दाता सातवीं सन्तान है। इस प्रकार सात पीढ़ी तक सपिण्डता मानी जाती है।१७-२९।

ऋषय ऊचुः

कथं कव्यानि देयानि हव्यानि च जनैरिह।
गच्छन्ति पितृलोकस्थान्,प्रापकः कोऽत्र गद्यते॥ १॥

यदि मर्त्यो द्विजो भुङ्क्ते हूयते यदि वानले।
शुभाशुभात्मकैः प्रेतैर्दत्तं तद् भुज्यते कथम्॥ २॥

ऋषियों ने पूछा हे—सूतजी! मनुष्यों को (पितरों के निमित्त) हव्य और कव्य किस प्रकार देना चाहिए? इस मृत्युलोक में पितरों के लिए प्रदान किये गये हव्य-कव्य पितृलोक में स्थित पितरों के पास कैसे पहुँच जाते हैं? यहाँ उनको पहुँचानेवाला कौन कहा गया है? यदि मृत्युलोकवासी ब्राह्मण उन्हें खा जाता है अथवा अग्नि में उनकी आहुति दे दी जाती है तो अपने कर्मानुसार शुभ एवं अशुभ योनियों में गये हुए प्रेतों द्वारा उस पदार्थ का उपभोग कैसे किया जाता है?॥ १-२॥

सूत उवाच

वसून् वदन्ति च पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथादित्यानित्येवं वैदिकी श्रुतिः॥ ३॥

नाम गोत्रं पितृणां तु प्रापकं हव्यकव्ययोः।
श्राद्धस्य मन्त्राः श्रद्धा च उपयोज्यातिभक्तितः॥ ४॥

अग्निष्वात्तादयस्तेषामाधिपत्ये व्यवस्थिताः।
नामगोत्रकालदेशा भवान्तरगतानपि॥ ५॥

प्राणिनः प्रीणयन्त्येते तदाहारत्वमागतान्।
देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः॥ ६॥

तस्यान्नममृतं भूत्वा दिव्यत्वेऽप्यनुगच्छति।
दैत्यत्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्॥ ७॥

श्राद्धान्नं वायुरूपेण सर्पत्वेऽप्युपतिष्ठति।
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम्॥ ८॥

दनुजत्वे तथा माया प्रेतत्वे रुधिरोदकम्।
मनुष्यत्वेऽन्नपानानि नानाभोगरसं भवेत्॥ ९॥

रतिशक्तिः स्त्रियः कान्ता भोज्यं भोजनशक्तिता।
दानशक्तिः सविभवा रूपमारोग्यमेव च॥ १०॥

श्रद्धापुष्पमिदं प्रोक्तं फलं ब्रह्मसमागमः।
आयुः पुत्रान् धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ॥ ११ ॥

राज्यं चैव प्रयच्छन्ति प्रीताः पितृगणा नृणाम्।
श्रूयते च पुरा मोक्षं प्राप्ताः कौशिकसूनवः।
पञ्चभिर्जन्मसम्बन्धैर्गता विष्णोः परं पदम् ॥ १२ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियों! पितरों को वसुगण, पितामहों को रुद्रगण तथा प्रपितामहों को आदित्यगण कहा जाता है—ऐसी वैदिकी श्रुति है। पितरों के नाम और गोत्र (उनके निमित्त प्रदान किये गये) हव्यकव्य को उनके पास पहुँचाने वाले हैं। अतिशय भक्तिपूर्वक उच्चरित श्राद्ध के मन्त्र भी कारण है एवं श्रद्धा का उपयोग भी हेतु है। अग्निष्वात्त आदि पितरों के आधिपत्य-पद पर स्थिर हैं। उन देव-पितरों के समक्ष जो खाद्य पदार्थ पितरों का नाम, गोत्र, काल और देश का उच्चारण करके श्रद्धा से अर्पित किया जाता है, वह पितृगणों को यदि वे जन्मान्तर में भी गये हुए हों तो भी उन्हें तृप्त कर देता है। वह उस समय उस योनि के लिए उपयुक्त आहार के रूप में परिणत हो जाता है। यदि शुभ कर्मों के प्रभाव से पिता देवयोनि से उत्पन्न हो गये हैं तो उनके उद्देश्य से दिया गया अन्न अमृत होकर देवयोनि में भी उन्हें प्राप्त होता है। वह श्राद्धान्न दैत्ययोनि में भोगरूप में और पशुयोनि में तृणरूप में बदल जाता है। सर्पयोनि में वह वायुरूप से सर्प के निकट पहुँचता है। यक्ष-योनि में वह पीने वाला पदार्थ तथा राक्षसयोनि में मांस हो जाता है। दानवयोनि में मायारूप में, प्रेतयोनि में रुधिर और जल के रूप में तथा मानवयोनि में नाना प्रकार के भोग रसों से युक्त अन्न-पानादि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। रमण करने की शक्ति, सुन्दरी स्त्रियाँ, भोजन करने के पदार्थ, भोजन पचाने की शक्ति, प्रचुर सम्पत्ति के साथ-साथ दान देने की निष्ठा, सुन्दर रूप और स्वास्थ्य—ये सभी श्रद्धारूपी वृक्ष के पुष्प बतलाये गये हैं और ब्रह्मप्राप्ति उसका फल है। पितृगण प्रसन्न होने पर मनुष्यों को आयु, अनेक पुत्र, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, सुख और राज्य प्रदान करते हैं। सुना जाता है कि कौशिक के पुत्र पूर्वकाल में (श्राद्ध के प्रभाव से व्याध, मृग, चक्रवाक आदि योनियों में) पाँच बार जन्म लेने के पश्चात् मुक्त होकर भगवान् विष्णु के परमपद वैकुण्ठलोक को चले गये थे ॥३—१२॥

ऋषय ऊचुः

कस्मिन् काले च तच्छ्राद्धमनन्तफलदं भवेत्।
कस्मिन् वासरभागे तु श्राद्धकृच्छ्राद्धमाचरेत्।
तीर्थेषु केषु च कृतं श्राद्धं बहुफलं भवेत् ॥ १ ॥

ऋषियों ने पूछा—सूतजी! श्राद्धकर्ता को दिन के किस भाग में श्राद्ध करना चाहिये? किस काल में किया गया वह श्राद्ध अनन्त फलदायक होता है? तथा किन-किन तीर्थों में किया गया श्राद्ध अधिक-से-अधिक फल प्रदान करता है? ॥१॥

सूत उवाच

अपराह्णे तु सम्प्राप्ते अभिजिद्रौहिणोदये।
यत्किंचित् दीयते तत्र तदक्षयमुदाहृतम् ॥ २ ॥

तीर्थानि यानि सर्वाणि पितॄणां वल्लभानि च।
नामतस्तानि वक्ष्यामि संक्षेपेण द्विजोत्तमाः ॥ ३ ॥

पितृतीर्थं गयानाम सर्वतीर्थवरं शुभम्।
यत्रास्ते देवदेवेशः स्वयमेव पितामहः ॥ ४ ॥

तत्रैषा पितृभिर्गीता गाथा भागमभीप्सुभिः ॥ ५ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥ ६ ॥

तथा वाराणसी पुण्या पितॄणां वल्लभा सदा।
यत्राविमुक्तसान्निध्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ७ ॥

पितॄणां वल्लभं तद्वत् पुण्यं च विमलेश्वरम्।
पितृतीर्थं प्रयागं तु सर्वकामफलप्रदम् ॥ ८ ॥

वटेश्वरस्तु भगवान् माधवेन समन्वितः।
योगनिद्राशयस्तद्वत् सदा वसति केशवः ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियों! अपराह्ण-काल (दिन के तीसरे पहर में प्राप्त होने वाले) अभिजित् मुहूर्त में, तथा रोहिणी के उदय काल में (पितरों के निमित्त) जो कुछ दिया जाता है, वह अक्षय बतलाया गया है। द्विजरो! अब जो-जो तीर्थ पितरों को परम प्रिय हैं, उन सबका नाम-निर्देशपूर्वक संक्षेप से वर्णन कर रहा हूँ। गया नामक पितृतीर्थ सभी तीर्थों में श्रेष्ठ एवं मङ्गलदायक है, वहाँ देवदेवेश्वर भगवान् पितामह स्वयं ही विराजमान हैं। वहाँ श्राद्ध में भाग पाने की कामना वाले पितरों द्वारा यह गाथा गायी गयी है—'मनुष्यों को अनेक पुत्रों की अभिलाषा करनी चाहिये; क्योंकि उनमें से यदि एक भी पुत्र गया की यात्रा करेगा अथवा अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान कर देगा या नील वृष (साँड़) का उत्सर्ग कर देगा (तो हमारा उद्धार हो जायगा)।' उसी प्रकार पुण्यप्रदा वाराणसी नगरी सदा पितरों को प्रिय है, जहाँ अविमुक्त के निकट किया गया श्राद्ध भुक्ति (भोग) एवं मुक्ति (मोक्ष) रूप फल प्रदान करता है। उसी प्रकार पुण्यप्रद विमलेश्वर तीर्थ भी पितरों के लिये परम प्रिय है। पितृतीर्थ प्रयाग सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलों का प्रदाता है। वहाँ माधवसमेत भगवान् वटेश्वर तथा उसी योगनिद्रा में शयन करते हुए भगवान् केशव सदा निवास करते हैं ॥२-९॥

दशाश्वमेधिकं पुण्यं गङ्गाद्वारं तथैव च।
नन्दाथ ललिता तद्वत्तीर्थं मायापुरी शुभा ॥१०॥

तथा मित्रपदं नाम ततः केदारमुत्तमम्।
गङ्गासागरमित्याहुः सर्वतीर्थमयं शुभम् ॥११॥

तीर्थं ब्रह्मसरस्तद्वच्छतद्रुसलिले ह्रदे।
तीर्थं तु नैमिषं नाम सर्वतीर्थफलप्रदम् ॥१२॥

गङ्गोद्भेदस्तु गोमत्यां यत्रोद्भूतः सनातनः।
तथा यज्ञवराहस्तु देवदेवश्च शूलभृत् ॥१३॥

यत्र तत्काञ्चनं द्वारमष्टादशभुजो हरः।
नेमिस्तु हरिचक्रस्य शीर्णा यत्राभवत् पुरा ॥१४॥

तदेतन्नैमिषारण्यं सर्वतीर्थनिषेवितम्।
देवदेवस्य तत्रापि वाराहस्य तु दर्शनम् ॥१५॥

यः प्रयति स पूतात्मा नारायणपदं व्रजेत्।
कृतशौचं महापुण्यं सर्वपापनिषूदनम् ॥१६॥

यत्रास्ते नारसिंहस्तु स्वयमेव जनार्दनः।
तीर्थमिक्षुमती नाम पितृणां वल्लभं सदा ॥१७॥

सङ्गमे यत्र तिष्ठन्ति गङ्गायाः पितरः सदा।
कुरुक्षेत्रं महापुण्यं सर्वतीर्थसमन्वितम् ॥१८॥

तथा च सरयूः पुण्या सर्वदेवनमस्कृता।
इरावती नदी तद्वत् पितृतीर्थाधिवासिनी ॥१९॥

यमुना देविका काली चन्द्रभागा दृषद्वती।
नदी वेणुमती पुण्या परा वेत्रवती तथा ॥२०॥

पितृणां वल्लभा ह्येताः श्राद्धे कोटिगुणा मताः।
जम्बूमार्गं महापुण्यं यत्र मार्गो हि लक्ष्यते ॥२१॥

अद्यापि पितृतीर्थं तत् सर्वकामफलप्रदम्।
नीलकुण्डमिति ख्यातं पितृतीर्थं द्विजोत्तमाः ॥२२॥

पुण्यमय दशाश्वमेधिक तीर्थ, गङ्गाद्वार (हरिद्वार), नन्दा, ललिता तथा मङ्गलमयी मायापुरी (ऋषिकेश)—ये सभी तीर्थ भी उसी प्रकार पितरों को प्रिय हैं। मित्रपद (तीर्थ) भी श्रेष्ठ है। उत्तम केदारतीर्थ और सर्वतीर्थमय एवं मङ्गलप्रद गङ्गासागर तीर्थ को भी पितृप्रिय कहा गया है। उसी तरह शतद्रु (सतलज) नदी के अन्तर्गत कुण्ड में स्थित ब्रह्मसर तीर्थ भी श्रेष्ठ है। नैमिषारण्य सम्पूर्ण तीर्थों का एकत्र फल प्रदान करने वाला है। यह पितरों को (बहुत) प्रिय है। यहीं गोमती नदी में गङ्गा का सनातन स्रोत प्रकट हुआ है। यहाँ त्रिशूलधारी महादेव और सनातन यज्ञ वराह विराजते हैं। यहाँ अष्टादश भुजाधारी शंकर की प्रतिमा है। यहाँ का काञ्चनद्वार प्रसिद्ध है। यहाँ पूर्वकाल में भगवान् विष्णु द्वारा दिये गये कर्मचक्र की नेमि शीर्ण होकर गिरी थी। यह सम्पूर्ण तीर्थों द्वारा निषेवित नैमिषारण्य नामक तीर्थ है। यहाँ देवाधिदेव भगवान् वाराह का भी दर्शन होता है। जो वहाँ की यात्रा करता है, वह पवित्रात्मा होकर नारायण पद को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण पापों का

विनाशक एवं महान् पुण्यशाली कृतशौच नामक तीर्थ है, जहाँ भगवान् जनार्दन नृसिंह रूप से विराजमान रहते हैं। तीर्थ भूता इक्षुमती (काली नदी) पितरों को सदा प्रिय है। (कन्नौज के पास इस इक्षुमती के साथ) गङ्गाजी के संगम पर पितर लोग सदा निवास करते हैं। सम्पूर्ण तीर्थों से युक्त कुरुक्षेत्र नामक महान् पुण्यप्रद तीर्थ है। इस प्रकार समस्त देवताओं द्वारा नमस्कृत पुण्यसलिला सरयू, पितृ-तीर्थों की अधिवासिनीरूपा इरावती नदी, यमुना, देविका (देग), काली (कालीसिंध), चन्द्रभागा (चनाब), दृषद्वती (गग्गर), पुण्यतोया वेणुमती (वेण्वा) नदी तथा सर्वश्रेष्ठा वेत्रवती (बेतवा)—ये नदियाँ पितरों को परम प्रिय हैं। इसलिये श्राद्ध के विषय में करोड़ों गुना फलदायिनी मानी गयी हैं। हे द्विजवरो! जम्बूमार्ग (भडोंच) नामक तीर्थ महान् पुण्यदायक एवं सम्पूर्ण मनोऽभिलषित फलों का प्रदाता है, यह पितरों का प्रिय तीर्थ है। वहाँ से पितृलोक जाने का मार्ग अभी-भी दिखायी पड़ता है। नीलकुण्ड तीर्थ भी पितृतीर्थ रूप से विख्यात है ॥१०-२२॥

तथा रुद्रसरः पुण्यं सरो मानसमेव च।
मन्दाकिनी तथाच्छोदा विपाशाथ सरस्वती ॥२३॥
पूर्वमित्रपदं तद्वद् वैद्यनाथं महाफलम्।
क्षिप्रा नदी महाकालस्तथा कालञ्जरं शुभम् ॥२४॥
वंशोद्भेदं हरोद्भेदं गङ्गोद्भेदं महाफलम्।
भद्रेश्वरं विष्णुपदं नर्मदाद्वारमेव च ॥२५॥
गयापिण्डप्रदानेन समान्याहुर्महर्षयः।
एतानि पितृतीर्थानि सर्वपापहराणि च ॥२६॥
स्मरणादपि लोकानां किमु श्राद्धकृतां नृणाम्।
ओंकारं पितृतीर्थं च कावेरी कपिलोदकम् ॥२७॥
सम्भेदश्चण्डवेगायास्तथैवामरकण्टकम्।
कुरुक्षेत्राच्छतगुणं तस्मिन् स्नानादिकं भवेत् ॥२८॥
शुक्रतीर्थं च विख्यातं तीर्थं सोमेश्वरं परम्।
सर्वव्याधिहरं पुण्यं शतकोटिफलाधिकम् ॥२९॥
श्राद्धे दाने तथा होमे स्वाध्याये जलसंनिधौ।
कायावरोहणं नाम तथा चर्मण्वती नदी ॥३०॥
गोमती वरुणा तद्वत्तीर्थमौशनसं परम्।
भैरवं भृगुतुङ्गं च गौरीतीर्थमनुत्तमम् ॥३१॥
तीर्थं वैनायकं नाम भद्रेश्वरमतः परम्।
तथा पापहरं नाम पुण्याथ तपती नदी ॥३२॥
मूलतापी पयोष्णी च पयोष्णीसङ्गमस्तथा।
महाबोधिः पाटला च नागतीर्थमवन्तिका ॥३३॥
तथा वेणा नदी पुण्या महाशालं तथैव च।
महारुद्रं महालिङ्गं दशार्णा च नदी शुभा ॥३४॥

इसी प्रकार पुण्यप्रद रुद्रसर, मानससर, मन्दाकिनी, अच्छोदा (अच्छावत), विपाशा (व्यास नदी), सरस्वती, पूर्वमित्रपद, महान् फलदायक वैद्यनाथ, शिप्रा नदी, महाकाल, मङ्गलमय कालञ्जर, वंशोद्भेद, हरोद्भेद, महान् फलप्रद गङ्गोद्भेद, भद्रेश्वर, विष्णुपद और नर्मदाद्वार—ये सभी पितृप्रिय तीर्थ हैं। इन तीर्थों में श्राद्ध करने से गया तीर्थ में पिण्ड-प्रदान के तुल्य ही फल प्राप्त होता है—ऐसा महर्षियों ने कहा है। ये सभी पितृतीर्थ जब स्मरणमात्र कर लेने से लोगों के सम्पूर्ण पापों को नष्ट करते हैं, तब (वहाँ जाकर) श्राद्ध करने वाले मनुष्यों के पापनाश की तो बात ही क्या है। इसी तरह ओंकार पितृतीर्थ है। कावेरी, कपिलोदका, चण्डवेगा और नर्मदा का संगम तथा अमरकण्टक—इन पितृतीर्थों में स्नान आदि करने से कुरुक्षेत्र से सौगुने अधिक फल की प्राप्ति होती है। शुक्रतीर्थ भी पितृतीर्थ रूप से विख्यात है तथा सर्वोत्तम सोमेश्वरतीर्थ स्नान, श्राद्ध, दान, हवन तथा स्वाध्याय करने पर समस्त व्याधियों का विनाशक, पुण्यप्रदाता और सौ करोड़ गुना फल से भी अधिक फलदायी है। कायावरोहण (गुजरात का कारावन) नामक तीर्थ, चर्मण्वती (चम्बल) नदी, गोमती, वरुणा (वरणा), उसी प्रकार औशनस नामक उत्तम तीर्थ, भैरव, (केदारनाथ के पास) भृगुतुङ्ग, सर्वश्रेष्ठ गौरीतीर्थ, वैनायक नामक तीर्थ, उसके बाद भद्रेश्वरतीर्थ तथा पापहर नामक तीर्थ, पुण्यसलिला तपती नदी, मूलतापी, पयोष्णी तथा पयोष्णी-संगम, महाबोधि, पाटला, नागतीर्थ, अवन्तिका (उज्जैनी) तथा पुण्यतोया वेणानदी, महाशाल, महारुद्र, महालिङ्ग, और मङ्गलमयी दशार्णा (धसान) नदी तो अत्यन्त ही शुभ हैं ॥२३-३४॥

शतरुद्रा शताह्वा च तथा विश्वपदं परम्।
अङ्गारवाहिका तद्वन्नदौ तौ शोणघर्घरौ ॥ ३५ ॥

कालिका च नदी पुण्या वितस्ता च नदी तथा।
एतानि पितृतीर्थानि शस्यन्ते स्नानदानयोः ॥ ३६ ॥

श्राद्धमेतेषु यद् दत्तं तदनन्तफलं स्मृतम्।
द्रोणी वाटनदी धारासरित् क्षीरनदी तथा ॥ ३७ ॥

गोकर्णं गजकर्णं च तथा च पुरुषोत्तमः।
द्वारका कृष्णतीर्थं च तथार्बुदसरस्वती ॥ ३९ ॥

नदी मणिमती नाम च गिरिकर्णिका।
धूतपापं तथा तीर्थं समुद्रो दक्षिणस्तथा ॥ ३८ ॥

एतेषु पितृतीर्थेषु श्राद्धमानन्त्यमश्नुते।
तीर्थं मेघङ्करं नाम तथा स्वयमेव जनार्दनः ॥ ४० ॥

यत्र शार्ङ्गधरो विष्णुर्मेखलायामवस्थितः।
तथा मन्दोदरीतीर्थं तीर्थं चम्पा नदी शुभा ॥ ४१ ॥

तथा सामलनाथश्च महाशालनदी तथा।
चक्रवाकं चर्मकोटं तथा जन्मेश्वरं महत् ॥ ४२ ॥

अर्जुनं त्रिपुरं चैव सिद्धेश्वरमतः परम्।
श्रीशैलं शांकरं तीर्थं नरसिंहमतः परम्॥ ४३॥

महेन्द्रं च तथा पुण्यमथ श्रीरङ्गसंज्ञितम्।
एतेष्वपि सदा श्राद्धमनन्तफलदं स्मृतम्॥ ४४॥

दर्शनादपि चैतानि सद्यः पापहराणि वै।
तुङ्गभद्रा नदी पुण्या तथा भीमरथी सरित्॥ ४५॥

भीमेश्वरं कृष्णवेणा कावेरी कुड्मला नदी।
नदी गोदावरी नाम त्रिसंध्या तीर्थमुत्तमम्॥ ४६॥

तीर्थं त्रैयम्बकं नाम सर्वतीर्थनमस्कृतम्।
यत्रास्ते भगवानीशः स्वयमेव त्रिलोचनः॥ ४७॥

श्राद्धमेतेषु सर्वेषु कोटिकोटिगुणं भवेत्।
स्मरणादपि पापानि नश्यन्ति शतधा द्विजाः॥ ४८॥

शतरुद्रा, शताह्वा तथा श्रेष्ठ विश्वपद, अङ्गारवाहिका, उसी प्रकार शोण और घर्घर (घाघरा) नामक दो नद, पुण्यजला कालिका नदी तथा वितस्ता (झेलम) नदी—ये पितृतीर्थ स्नान और दान के लिए प्रशस्त माने गये हैं। इनमें जो श्राद्ध आदि कर्म किया जाता है, वह अनन्त फलदायक कहा गया है। द्रोणी, वाटनदी, धारानदी, क्षीरनदी, गोकर्ण, गजकर्ण, पुरुषोत्तम-क्षेत्र, द्वारका, कृष्णतीर्थ तथा अर्बुदगिरि (आबू), सरस्वती, मणिमती नदी गिरिकर्णिका, धूतपापतीर्थ तथा दक्षिण समुद्र—इन पितृतीर्थों में किया गया श्राद्ध अनन्त फलदायक होता है। इसके पश्चात् मेघङ्कर नामक तीर्थ (गुजरात में) है, जिसकी मेखला में शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले स्वयं जनार्दन भगवान् विष्णु स्थित हैं। इसी प्रकार मन्दोदरीतीर्थ तथा मङ्गलमयी चम्पा नदी, सामलनाथ, महाशाल नदी, चक्रवाक, चर्मकोट, महान् तीर्थ जन्मेश्वर, अर्जुन, त्रिपुर इसके बाद सिद्धेश्वर, श्रीशैल (मल्लिकार्जुन), शाङ्करतीर्थ, इसके पश्चात् नारसिंहतीर्थ, महेन्द्र तथा पुण्यप्रद श्रीरङ्गनामक तीर्थ हैं। इनमें भी किया गया श्राद्ध सदा अनन्त फलदाता माना गया है तथा ये दर्शनमात्र से ही तुरन्त पापों को हर लेते हैं। पुण्यसलिला तुङ्गभद्रा नदी तथा भीमरथी नदी, भीमेश्वर, कृष्णवेणा, कावेरी, कुड्मला नदी, गोदावरी नदी, त्रिसंध्यानामक उत्तम तीर्थ तथा समस्त तीर्थों द्वारा नमस्कृत त्रैयम्बकनामक तीर्थ, जहाँ त्रिनेत्रधारी भगवान् शङ्कर स्वयं ही निवास करते हैं—इन सभी तीर्थों में किया गया श्राद्ध करोड़ों-करोड़ों गुना फलदायक होता है। हे ब्राह्मणो! इन तीर्थों का स्मरण मात्र करने से पाप-समूह सैकड़ों टुकड़ों में चूर-चूर होकर नष्ट हो जाते हैं॥ ३५-४८॥

श्रीपर्णी ताम्रपर्णी च जयातीर्थमनुत्तमम्।
तथा मत्स्यनदी पुण्या शिवधारं तथैव च॥ ४९॥

भद्रतीर्थं च विख्यातं पम्पातीर्थं च शाश्वतम्।
पुण्यं रामेश्वरं तद्वदेलापुरमलंपुरम्॥ ५०॥

अङ्गारकं च विख्यातमामर्दकमलम्बुषम् ।
आम्रातकेश्वरं तद्वदेकाम्रकमतः परम् ॥ ५१ ॥

गोवर्धनं हरिश्चद्रं कृपुचन्द्रं पृथूदकम् ।
सहस्राक्षं हिरण्याक्षं तथा च कदली नदी ॥ ५२ ॥

रामाधिवासस्तत्रापि तथा सौमित्रिसङ्गमः ।
इन्द्रकीलं महानादं तथा च प्रियमेलकम् ॥ ५३ ॥

एतान्यपि सदा श्राद्धे प्रशस्तान्यधिकानि तु ।
एतेषु सर्वदेवानां सांनिध्यं दृश्यते यतः ॥ ५४ ॥

दानमेतेषु सर्वेषु दत्तं कोटिशताधिकम् ।
बाहुदा च नदी पुण्या तथा सिद्धवनं शुभम् ॥ ५५ ॥

तीर्थं पाशुपतं नाम नदी पार्वतिका शुभा ।
श्राद्धमेतेषु सर्वेषु दत्तं कोटिशतोत्तरम् ॥ ५६ ॥

तथैव पितृतीर्थं तु यत्र गोदावरी नदी ।
युता लिङ्गसहस्रेण सर्वान्तरजलावहा ॥ ५७ ॥

जामदग्न्यस्य तत् तीर्थं क्रमादायातमुत्तमम् ।
प्रतीकस्य भयाद् भिन्नं यत्र गोदावरी नदी ॥ ५७ ॥

तत् तीर्थं हव्यकव्यानामप्सरोयुगसंज्ञितम् ।
श्राद्धाग्निकार्यदानेषु तथा कोटिशताधिकम् ॥ ५९ ॥

तथा सहस्रलिङ्गं च राघवेश्वरमुत्तमम् ।
सेन्द्रफेना नदी पुण्या यत्रेन्द्रः पतितः पुरा ॥ ६० ॥

निहत्य नमुचिं शक्रस्तपसा स्वर्गमाप्तवान् ।
तत्र दत्तं नरैः श्राद्धमनन्तफलदं भवेत् ॥ ६१ ॥

तीर्थं तु पुष्करं नाम शालग्रामं तथैव च ।
सोमपानं च विख्यातं यत्र वैश्वानरालयम् ॥ ६२ ॥

तीर्थं सारस्वतं नाम स्वामितीर्थं तथैव च ।
मलन्दरा नदी पुण्या कौशिकी चन्द्रिका तथा ॥ ६३ ॥

वैदर्भी चाथ वैणा च पयोष्णी प्राङ्मुखा परा ।
कावेरी चोत्तरा पुण्या तथा जालंधरो गिरिः ॥ ६४ ॥

एतेषु श्राद्धतीर्थेषु श्राद्धमानन्त्यमश्नुते ।

इसी प्रकार श्रीपर्णी, ताम्रपर्णी, सर्वश्रेष्ठ जयातीर्थ, पुण्यतोया मत्स्य नदी, शिवधार, सुप्रसिद्ध भद्रतीर्थ, सनातन पम्पातीर्थ, पुण्यमय रामेश्वर, एलापुर, अलम्पुर, अङ्गारक, प्रख्यात आमर्दक, अलम्बुष (अलम्बुषा देवी का स्थान), अम्रातकेश्वर एवं एकाम्रक (भुवनेश्वर) हैं। इसके बाद गोवर्धन, हरिचन्द्र, कृपुचन्द्र, पृथूदक, सहस्राक्ष,

हिरण्याक्ष, कदली नदी, रामाधिवास, उसमें भी सौमित्रिसंगम, इन्द्रकील, महानाद तथा प्रियमेलक—ये सभी श्राद्ध में सदा सर्वाधिक प्रशस्त माने गये हैं। चूँकि इन तीर्थों में सम्पूर्ण देवताओं का सांनिध्य देखा जाता है, इसलिए इन सभी में दिया गया दान सैकड़ों कोटि गुना से भी अधिक फलदायी होता है। पुण्यजला बाहुदा (धवला) नदी, मङ्गलमय सिद्धवन, पाशुपतनामक तीर्थ तथा शुभदायिनी पार्वतिका नदी—इन सभी तीर्थों में किया गया श्राद्ध सौ करोड़ गुना से भी अधिक फलदाता होता है। उसी प्रकार यह भी एक पितृतीर्थ है, जहाँ सहस्रों शिवलिङ्गों से युक्त एवं अन्तर में सभी नदियों का जल प्रवाहित करनेवाली गोदावरी नदी बहती है। वहीं पर जामदग्न्य का वह उत्तम तीर्थ क्रमशः आकर सम्मिलित हुआ है, जो प्रतीक के भय से पृथक् हो गया था। गोदावरी नदी में स्थित हव्यकव्य-भोजी पितरों का वह परम प्रिग्रतीर्थ अप्सरोयुग नाम से प्रसिद्ध है। यह भी श्राद्ध, हवन और दान आदि कार्यों में सैकड़ों कोटि गुने से अधिक फल देनेवाला है तथा सहस्रलिङ्ग, उत्तम राघवेश्वर और पुण्यतोया इन्द्रफेना नदी नामक तीर्थ है, जहाँ पूर्वकाल में इन्द्र का पतन हो गया था तथा पुनः उन्होंने अपने तपोबल से नमुचि का वध करके स्वर्गलोक को प्राप्त किया था। वहाँ मनुष्यों द्वारा किया गया श्राद्ध अनन्त फलदायक होता है। पुष्कर नामक तीर्थ, शालग्राम और जहाँ वैश्वानर का निवास स्थान है, वह सुप्रसिद्ध सोमपानतीर्थ, स्वामितीर्थ, मलन्दरा नदी, कौशिकी और चन्द्रिका—ये पुण्यजला नदियाँ हैं। वैदर्भी, वैणा, पूर्वमुख बहनेवाली श्रेष्ठा पयोष्णी, उत्तरमुख बहने वाली पुण्यसलिला कावेरी तथा जालंधर गिरि—इन श्राद्ध सम्बन्धी तीर्थों में किया गया श्राद्ध अनन्त फलदायक होता है ॥ ४९-६४½ ॥

लोहदण्डं तथा तीर्थं चित्रकूटस्तथैव च ॥ ६५ ॥
विन्ध्ययोगश्च गङ्गायास्तथा नदीतटं शुभम्।
कुब्जाम्रं तु तथा तीर्थमुर्वशीपुलिनं तथा ॥ ६६ ॥
संसारमोचनं तीर्थं तथैव ऋणमोचनम्।
एतेषु पितृतीर्थेषु श्राद्धमानन्त्यमश्नुते ॥ ६७ ॥
अट्टहासं तथा तीर्थं गौतमेश्वरमेव च।
तथा वसिष्ठं तीर्थं तु हारीतं तु ततः परम् ॥ ६८ ॥
ब्रह्मावर्तं कुशावर्तं हयतीर्थं तथैव च।
पिण्डारकं च विख्यातं शङ्खोद्धारं तथैव च ॥ ६९ ॥
घण्टेश्वरं बिल्वकं च नीलपर्वतमेव च।
तथा च धरणीतीर्थं रामतीर्थं तथैव च ॥ ७० ॥
अश्वतीर्थं च विख्यातमनन्तं श्राद्धदानयोः।

उसी प्रकार लोहदण्डतीर्थ, चित्रकूट, विन्ध्ययोग, गङ्गानदी का मंगलमय तट, कुब्जाम्र (ऋषिकेश) तीर्थ, उर्वशीपुलिन, संसारमोचन तीर्थ तथा ऋणमोचन—इन पितृतीर्थों में श्राद्ध का फल अनन्त हो जाता है। अट्टहासतीर्थ, गौतमेश्वर, वसिष्ठतीर्थ,

उसके बाद हारीततीर्थ, ब्रह्मावर्त, कुशावर्त, हयतीर्थ (द्वारका के पास) प्रख्यात पिण्डारक, शङ्खोद्धार, घण्टेश्वर, बिल्वक, नीलपर्वत, धरणीतीर्थ, रामतीर्थ तथा अश्वतीर्थ (कन्नौज)—ये सब भी श्राद्ध एवं दान के लिए अनन्त फलदायकरूपसे विख्यात हैं ॥ ६५-७०½ ॥

तीर्थं वेदशिरो नाम तथैवौघवती नदी ॥ ७१ ॥

तीर्थं वसुप्रदं नामच्छागलाण्डं तथैव च।
एतेषु श्राद्धदातारः प्रयान्ति परमं पदम् ॥ ७२ ॥

तथा च बदरीतीर्थं गणतीर्थं तथैव च।
जयन्तं विजयं चैव शक्रतीर्थं तथैव च ॥ ७३ ॥

श्रीपतेश्च तथा तीर्थं तीर्थं रैवतकं तथा।
तथैव शारदातीर्थं भद्रकालेश्वरं तथा ॥ ७४ ॥

वैकुण्ठतीर्थं च परं भीमेश्वरमथापि वा।
एतेषु श्राद्धदातारः प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ७५ ॥

तीर्थं मातृगृहं नाम करवीरपुरं तथा।
कुशेशयं च विख्यातं गौरीशिखरमेव च ॥ ७६ ॥

नकुलेशस्य तीर्थं च कर्दमालं तथैव च।
दिण्डिपुण्यकरं तद्वत् पुण्डरीकपुरं तथा ॥ ७७ ॥

सप्तगोदावरं तीर्थं सर्वतीर्थेश्वरेश्वरम्।
तत्र श्राद्धं प्रदातव्यमनन्तफलमीप्सुभिः ॥ ७८ ॥

वेदशिरनामक तीर्थ, उसी तरह ओघवती नदी, वसुप्रदनामक तीर्थ एवं छागलाण्डतीर्थ—इन तीर्थों में श्राद्ध प्रदान करने वाले लोग परमपद को प्राप्त हो जाते हैं। वदरीतीर्थ, गणतीर्थ, जयन्त, विजय, शक्रतीर्थ, श्रीपतितीर्थ, रैवतकतीर्थ, शारदातीर्थ, भद्रकालेश्वर, वैंकुण्ठतीर्थ, श्रेष्ठ भीमेश्वरतीर्थ—इन तीर्थों में श्राद्ध करने वाले लोग परमगति को प्राप्त हो जाते हैं। मातृगृह नामक तीर्थ, करवीरपुर, कुशेशय, सुप्रसिद्ध गौरी-शिखर, नकुलेश तीर्थ, कर्दमाल, दिण्डिपुण्यकर, उसी तरह पुण्डरीकपुर तथा समस्त तीर्थेश्वरों का भी अधीश्वर सप्त गोदावरी तीर्थ—इन तीर्थों में अनन्त फल-प्राप्ति के इच्छुकों का श्राद्ध प्रदान करना चाहिए ॥ ७१½-७८ ॥

एष तूद्देशतः प्रोक्तस्तीर्थानां संग्रहो मया।
वागीशोऽपि न शक्नोति विस्तरात् किमु मानुषः ॥ ७९ ॥

सत्यं तीर्थं दयातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
वर्णाश्रमाणां गेहेऽपि तीर्थं तु समुदाहृतम् ॥ ८० ॥

एतत्तीर्थेषु यच्छ्राद्धं तत् कोटिगुणमिष्यते।
यस्मात्तस्मात् प्रयत्नेन तीर्थे श्राद्धं समाचरेत् ॥ ८१ ॥

प्रातःकालो मुहूर्तांस्त्रीन् सङ्गवस्तावदेव तु ।
मध्याह्नस्त्रिमुहूर्तः स्यादपराह्नस्ततः परम् ॥ ८२ ॥

सायाह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्याच्छ्राद्धं तत्र न कारयेत् ।
राक्षसी नाम सा वेला गर्हिता सर्वकर्मसु ॥ ८३ ॥

अह्नो मुहूर्त्ता विख्याता दश पञ्च च सर्वदा ।
तत्राष्टमो मुहूर्त्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः ॥ ८४ ॥

मध्याह्ने सर्वदा यस्मान्मन्दोभवति भास्करः ।
तस्मादनन्तफलदस्तदारम्भो भविष्यति ॥ ८५ ॥

मध्याह्नः खड्गपात्रं च तथा नेपालकम्बलः ।
रूप्यं दर्भास्तिला गावो दौहित्रश्चाष्टमः स्मृतः ॥ ८६ ॥

पापं कुत्सितमित्याहुस्तस्य संतापकारिणः ।
अष्टावेते यतस्तस्मात् कुतपा इति विश्रुताः ॥ ८७ ॥

ऊर्ध्वं मुहूर्त्तात् कुतपाद्यन्मुहूर्तंचतुष्टयम् ।
मुहूर्तपञ्चकं चैतत् स्वधाभवनमिष्यते ॥ ८८ ॥

विष्णोर्देहसमुद्भूताः कुशाः कृष्णास्तिलास्तथा ।
श्राद्धस्य रक्षणायालमेतत्प्राहुर्दिवौकसः ॥ ८९ ॥

तिलोदकाञ्जलिर्देयो जलस्थैस्तीर्थवासिभिः ।
सदर्भहस्तेनैकेन श्राद्धमेवं विशिष्यते ॥ ९० ॥

श्राद्धसाधनकाले तु पाणिनैकेन दीयते ।
तर्पणं तूभयेनैव विधिरेष सदा स्मृतः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार मैंने तीर्थ के इस संग्रह का संक्षेप में वर्णन किया; वैसे इनका विस्तृत वर्णन करने में तो बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं, फिर मनुष्य की तो गणना ही क्या है ? सत्यतीर्थ, दयातीर्थ तथा इन्द्रिय-निग्रह तीर्थ—ये सभी वर्णाश्रम-धर्म मानने वालों के घर में भी तीर्थरूपसे बतलाये गये हैं। चूँकि इन तीर्थों में जो श्राद्ध क्रिया जाता है, वह कोटिगुना फलदायक होता है, अतः प्रयत्नपूर्वक तीर्थों में श्राद्ध-कार्य सम्पन्न करना चाहिए। प्रातःकाल तीन मुहूर्त तक का काल संगव कहलाता है। उसके बाद तीन मुहूर्त तक का काल मध्याह्न और उसके बाद उतने ही समय तक अपराह्न है। फिर तीन मुहूर्त तक सायंकाल होता है, उसमें श्राद्ध नहीं करना चाहिये। सायं-काल का समय राक्षसी वेला नाम से प्रसिद्ध है। यह सभी कार्यों में निन्दित है। एक दिन में पंद्रह मुहूर्त होते हैं, यह तो सदा से विख्यात है। उनमें जो आठवाँ मुहूर्त है, वह कुतप नाम से प्रसिद्ध है। चूँकि मध्याह्न के समय सूर्य सदा मन्द हो जाते हैं, इसलिए उस समय अनन्त फलदायक उस (कुतप) का आरम्भ होता है। मध्याह्न काल, खड्गपात्र, नेपालकम्बल, चाँदी, कुश, तिल, गौ और आठवाँ दौहित्र (कन्या का पुत्र)—ये आठों चूँकि पाप को, जिसे कुत्सित कहा जाता है, संतप्त करने वाले हैं,

इसलिए 'कुतप' नाम से विख्यात हैं। इस कुतप मुहूर्त के उपरान्त चार मुहूर्त अर्थात् कुल पाँच मुहूर्त स्वधा-वाचन के लिए उत्तम काल हैं। कुश तथा काला तिल—ये दोनों भगवान् विष्णुके शरीरसे प्रादुर्भूत हुए हैं, अतः ये श्राद्ध की रक्षा करने में सर्वसमर्थ हैं—ऐसा देवगण कहते हैं। तीर्थवासियों को जल में प्रवेश करके एक हाथ में कुश लेकर तिलसहित जलाञ्जलि देनी चाहिए। ऐसा करने से श्राद्ध की विशेषता बढ़ जाती है। श्राद्ध करते समय (पिण्ड आदि तो) एक ही हाथ से दिया जाता है, परन्तु तर्पण दोनों हाथों से किया जाता है—यह विधि सदा से प्रचलित है ॥ ७९-९१ ॥

सूत उवाच

पुण्यं पवित्रमायुष्यं सर्वपापविनाशनम्।
पुरा मत्स्येन कथितं तीर्थश्रद्धानुकीर्तनम्।
शृणोति यः पठेद् वापि श्रीमान् संजायते नरः ॥ ९२ ॥
श्राद्धकाले च वक्तव्यं तथा तीर्थनिवासिभिः।
सर्वपापोपशान्त्यर्थमलक्ष्मीनाशनं परम् ॥ ९३ ॥
इदं पवित्रं यशसो निधानमिदं महापापहारं च पुंसाम्।
ब्रह्मार्करुद्रैरपि पूजितं च श्राद्धस्य महात्म्यमुशन्ति तज्ज्ञाः ॥ ९४ ॥

सूतजी कहते हैं—हें ऋषियों ! पूर्वकाल में मत्स्य भगवान् ने इस तीर्थ-श्राद्ध का वर्णन किया था। यह पुण्यप्रद, परम पवित्र, आयुवर्धक तथा सम्पूर्ण पापों का विनाशक है। जो मनुष्य इसे सुनता है अथवा स्वयं इसका पाठ करता है, वह श्रीसम्पन्न हो जाता है। तीर्थनिवासियों द्वारा समस्त पापों की शान्ति के निमित्त श्राद्ध के समय इस परम श्रेष्ठ दरिद्रताविनाशक (श्राद्ध-माहात्म्यरूप) प्रसङ्ग का पाठ करना चाहिए। यह श्राद्ध-माहात्म्य परम पवित्र, यश का आश्रयस्थान, पुरुषों के महान्-से-महान् पापों का विनाशक तथा ब्रह्मा, सूर्य और रुद्र द्वारा भी पूजित (सम्मानित) है ॥ ९२-९४ ॥

ऋषय ऊचुः

कथं गच्छत्यमावास्यां मासि मासि दिवं नृपः।
ऐलः पुरूरवाः सूत तर्पयेत कथं पितॄन्।
एतदिच्छामहे श्रोतुं प्रभावं तस्य धीमतः ॥ १ ॥

ऋषियों ने पूछा—सूत जी ! इला-नन्दन महाराज पुरूरवा प्रति मास की अमावास्या को किस प्रकार स्वर्ग लोक में जाते हैं और वहाँ अपने पितरों को कैसे तृप्त करते हैं ? उन बुद्धिमान् नरेश के इस प्रभाव को हम लोग सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

सूत उवाच

एतदेव तु पप्रच्छ मनुः स मधुसूदनम्।
सूर्यपुत्राय चोवाच यथा तन्मे निबोधत ॥ २ ॥

सूत जी कहते हैं—ऋषियो ! पूर्वकाल में महाराज मनु ने भगवान् मधुसूदन से यही प्रश्न किया था। उस समय भगवान् ने उन सूर्य-पुत्र मनु के प्रति जो कुछ कहा था, वही मैं बतला रहा हूँ, आपलोग ध्यान देकर सुनिये ॥ २ ॥

मत्स्य उवाच

तस्य चाहं प्रवक्ष्यामि प्रभावं विस्तरेण तु ।
ऐलस्य दिवि संयोगं सोमेन सह धीमता ॥ ३ ॥

सोमाच्चैवामृतप्राप्तिः पितॄणां तर्पणं तथा ।
सौम्या बर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्तास्तथैव च ॥ ४ ॥

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च नक्षत्राणां समागतौ ।
अमावास्यां निवसत एकस्मिन्नथ मण्डले ॥ ५ ॥

तदा स गच्छति द्रष्टुं दिवाकरनिशाकरौ ।
अमावास्याममावास्यां मातामहपितामहौ ॥ ६ ॥

अभिवाद्य तु तौ तत्र कालापेक्षः स तिष्ठति ।
प्रचस्कन्द ततः सोममर्चयित्वा परिश्रमात् ॥ ७ ॥

ऐलः पुरूरवा विद्वान् मासि श्राद्धचिकीर्षया ।
ततः स दिवि सोमं वै ह्युपतस्थे पितॄनपि ॥ ८ ॥

द्विलवं कुहुमात्रं च तावुभौ तु निधाय सः ।
सिनीवालीप्रमाणाल्पकुहूमात्रव्रतोदये ॥ ९ ॥

कुहूमात्रं पित्रुद्देशं ज्ञात्वा कुहूमुपासते ।
तमुपास्य ततः सोमं कलापेक्षी प्रतीक्षते ॥ १० ॥

स्वधामृतं तु सोमाद् वै वसंस्तेषां च तृप्तये ।
दशभिः पञ्चभिश्चैव स्वधामृतपरिस्रवैः ।
कृष्णपक्षभुजां प्रीतिर्दुह्यते परमांशुभिः ॥ ११ ॥

सद्योऽभिक्षरता तेन सौम्येन मधुना च सः ।
निवापेष्वथ दत्तेषु पित्र्येण विधिना तु वै ॥ १२ ॥

स्वधामृतेन सौम्येन तर्पयामास वै पितॄन् ।
सौम्या बर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्तास्तथैव च ॥ १३ ॥

ऋतुरग्निः स्मृतो विप्रैर्ऋतुं संवत्सरं विदुः ।
जज्ञिरे ऋतवस्तस्मादृतुभ्यो ह्यार्तवाऽभवन् ॥ १४ ॥

पितरोऽऽर्तवोऽर्धमासा विज्ञेया ऋतुसूनवः ।
पितामहास्तु ऋतवो ह्यमावास्याब्दसूनवः ।
प्रपितामहाः स्मृता देवाः पञ्चाब्दा ब्रह्मणः सुताः ॥ १५ ॥

मत्स्यभगवान् ने कहा— राजन् ! मैं इला-पुत्र पुरूरवा का प्रभाव, स्वर्गलोक में उसका बुद्धिमान् चन्द्रमा के साथ संयोग, उन चन्द्रमा से अमृत की उपलब्धि तथा पितृतर्पण की बात विस्तारपूर्वक बतला रहा हूँ। सौम्य, बर्हिषद, काव्य तथा अग्निष्वात्तसंज्ञक पितरों तथा नक्षत्रों पर विचरण करते हुए सूर्य और चन्द्रमा जिस

समय अमावास्या तिथि को एक मण्डल अर्थात् एक राशि पर स्थित होते हैं, उस समय वह प्रत्येक अमावास्या को सूर्य और चन्द्रमा का दर्शन करने के लिये स्वर्ग में जाता है और वहाँ मातामह (नाना) और पितामह (बाबा)—दोनों को अभिवादन कर काल की प्रतीक्षा करता हुआ कुछ दिन तक ठहरा रहता है। चन्द्रमा से अमृत के क्षरण होने पर उससे परिश्रमपूर्वक पितरों की पूजा करके लौटता है। किसी महीने में श्राद्ध करने की इच्छा से इला-नन्दन विद्वान् पुरूरवा स्वर्गलोक में चन्द्रमा और पितरों के निकट गया और दो लवमात्र कुहू अमावास्या में उसने दोनों को स्थापित किया; क्योंकि पितृ-व्रत में जब सिनीवाली का प्रमाण थोड़ा तथा कुहू (अमावास्या) प्रशस्त मानी गयी है। अतः कुहू का समय प्राप्त हुआ जान कर वह पितरों के उद्देश्य से कुहू की उपासना करता है। उसकी उपासना करने के पश्चात् वह काल की प्रतीक्षा करता हुआ चन्द्रमा की भी प्रतीक्षा करता है। वहाँ रहते हुए उसे पितरों की तृप्ति के लिये चन्द्रमा से स्वधारूप अमृत प्राप्त होता है। चन्द्रमा की पन्द्रह किरणों से स्वधामृत का क्षरण होता है। कृष्णपक्ष में श्राद्धभोजी पितरों का उन श्रेष्ठ किरणों से बड़ा प्रेम रहता है तथा अन्य पितर उनसे द्वेष करते हैं। पुरूरवा तुरन्त अभिक्षरित हुए उस उत्तम मधु को पितृ-श्राद्ध की विधि के अनुसार श्राद्ध के समय पितरों को प्रदान करता है। इस प्रकार वह उत्तम स्वधामृत से सौम्य, बर्हिषद्, काव्य तथा अग्निष्वात्त पितरों को तृप्त करता रहता है। महर्षियोंने ऋतु को अग्नि बतलाया है और ऋतु को संवत्सर भी कहते हैं। उस संवत्सर से ऋतु की उत्पत्ति होती है और ऋतुओं से उत्पन्न हुए पितर आर्तव कहलाते हैं। आर्तव और अर्धमास पितरों को ऋतु का पुत्र तथा ऋतु स्वरूप पितामह और अमावास्या को संवत्सर का पुत्र जानना चाहिये। प्रपितामह और पञ्च संवत्सररूप देवगण ब्रह्मा के पुत्र माने गये हैं ॥३-१५॥

सौम्या बर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्ता इति त्रिधा।
गृहस्था ये तु यज्वानो हविर्यज्ञार्तवाश्च ये।
स्मृता बर्हिषदस्ते वै पुराणे निश्चयं गताः ॥ १६ ॥

गृहमेधिनश्च यज्वानो अग्निष्वात्तार्तवाः स्मृताः।
अष्टकापतयः काव्याः पञ्चाब्दांस्तु निबोधत ॥ १७ ॥

तेषु संवत्सरो ह्यग्निः सूर्यस्तु परिवत्सरः।
सोमस्त्विड्वत्सरश्चैव वायुश्चैवानुवत्सरः ॥ १८ ॥

रुद्रस्तु वत्सरस्तेषां पञ्चाब्दा ये युगात्मकाः।
कालेनाधिष्ठितस्तेषु चन्द्रमाः स्रवते सुधाम् ॥ १९ ॥

एते स्मृता देवकृत्याः सोमपाश्चोष्मपाश्च ये।
तांस्तेन तर्पयामास यावदासीत् पुरूरवाः ॥ २० ॥

यस्मात्प्रसूयते सोमो मासि मासि विशेषतः।
ततः स्वधामृतं तद्वै पितृणां सोमपायिनाम्।
एतत् तदमृतं सोममवाप मधु चैव हि ॥ २१ ॥

ततः पीतसुधं सोमं सूर्योऽसावेकरश्मिना ।
आप्यायते सुषुम्णेन सोमं तु सोमपायिनम् ॥ २२ ॥

निःशेषं वै कलाः पूर्वा युगपद्व्यापयन्पुरा ।
सुषुम्णाऽऽप्यायमानस्य भागं भागमहःक्रमात् ॥ २३ ॥

कलाः क्षीयन्ति कृष्णास्ताः शुक्ला ह्याप्याययन्ति च ।
एवं सा सूर्यवीर्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनुः ॥ २४ ॥

पौर्णमास्यां स दृश्येत शुक्लः सम्पूर्णमण्डलः ।
एवमाप्यायितः सोमः शुक्लपक्षेऽप्यहःक्रमात् ।
देवैः पीतसुधं सोमं पुरा पश्चात्पिबेद् रविः ।। २५ ॥

पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्करः ।
आप्याययत्सुषुम्णेन भागं भागमहःक्रमात् ॥ २६ ॥

सुषुम्णाप्यायमानस्य शुक्ला वर्धयन्ति वै कलाः ।
तस्माद्ध्रसन्ति वै कृष्णाः शुक्ला ह्याप्याययन्ति च ॥२७॥

एवमाप्यायते सोमः क्षीयते च पुनः पुनः ।
समृद्धिरेवं सोमस्य पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ॥ २८ ॥

इत्येष पितृमान् सोमः स्मृतस्तद्वत्सुधात्मकः ।
कान्तः पञ्चदशैः सार्धं सुधामृतपरिस्रवैः ॥ २९ ॥

सौम्य बर्हिषद्, काव्य और अग्निष्वात्त—पितरों के ये तीन भेद हैं। इनमें जो गृहस्थ, यज्ञकर्ता और हवन करने वाले हैं, वे आर्तव पितर पुराण में बर्हिषद् नाम से निश्चित किये गये हैं। गृहस्थाश्रमी और यज्ञकर्ता आर्तव पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। अष्टकापति आर्तव पितरों को काव्य कहा जाता है। अब पञ्चाब्दों को सुनिये। इनमें अग्नि संवत्सर, सूर्य परिवत्सर, सोम इड्वत्सर, वायु अनुवत्सर और रुद्र वत्सर हैं। ये पञ्चाब्द युगात्मक होते हैं। समयानुसार इन पर स्थित हुए चन्द्रमा अमृत का क्षरण करते हैं। ये देवकर्म कहे जाते हैं। जब तक पुरूरवा वहाँ रहता था, तब तक वह जो सोमप और ऊष्मप पितर हैं, उनको भी उसी अमृत से तृप्त करता था। चूँकि चन्द्रमा प्रत्येक मास में विशेषरूप से अमृत का क्षरण करते हैं और वह सोमपायी पितरों को स्वधामृत रूप से प्राप्त होता है, इसीलिए वह अमृतस्वरूप मधु सोम को प्राप्त होता है। इस प्रकार पितरों द्वारा चन्द्रमा का अमृत पी लिए जाने पर सूर्यदेव अपनी एकमात्र सुषुम्ना नाम की किरण द्वारा उन सोमपायी चन्द्रमा को पुनः परिपूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार सूर्य सुषुम्णा द्वारा पूर्ण किए जाते हुए चन्द्रमा की पहले की सम्पूर्ण कलाओं को दिन के क्रम से थोड़ा-थोड़ा करके पूर्ण करते हैं। चन्द्रमा की कलाएँ कृष्णपक्ष में क्षीण हो जाती हैं और शुक्लपक्ष में वे पुनः पूर्ण हो जाती हैं। इस प्रकार सूर्य के प्रभाव से चन्द्रमा का शरीर पूर्ण होता रहता है। इसी कारण शुक्लपक्ष में दिन के क्रम से परिपूर्ण किये गये चन्द्रमा का सम्पूर्ण मण्डल पूर्णिमा तिथि को श्वेत वर्ण का दिखायी पड़ता है। पहले

देवगण चन्द्रमा से स्रवित हुए अमृत को पीते हैं, उसके बाद सूर्य भी सोम का पान करते हैं। सूर्य अपनी एक किरण से पन्द्रह दिनों तक सोम को पीते हैं और पुनः दिन के क्रम से थोड़ा-थोड़ा कर सुषुम्णा किरण द्वारा उसे पूर्ण कर देते हैं। इसी कारण शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की कलाएँ बढ़ती हैं और कृष्णपक्ष में वे क्षीण होती हैं, यही इनका क्रम है। इस प्रकार चन्द्रमा पन्द्रह दिनों तक बढ़ते हैं और पुनः पन्द्रह दिन तक क्षीण होते रहते हैं। चन्द्रमा की इस प्रकार की समृद्धि और ह्रास शुक्लपक्ष एवं कृष्णपक्ष के आश्रय से होते हैं। इस प्रकार सुधामृतस्रावी पन्द्रह किरणों से सुशोभित ये चन्द्रमा सुधात्मक एवं पितृमान् कहे जाते हैं ॥ १६-२९ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पर्वाणां संधयश्च याः।
यथा ग्रथ्नन्ति पर्वाणि आवृत्तादिक्षुवेणुवत् ॥ ३० ॥
तथाब्दमासाः पक्षाश्च शुक्लाः कृष्णास्तु वै स्मृताः।
पौर्णमास्यास्तु यो भेदो ग्रन्थयः संधयस्तथा ॥ ३१ ॥
अर्धमासस्य पर्वाणि द्वितीयाप्रभृतीनि च।
अग्न्याधानक्रिया यस्तान्नीयन्ते पर्वसन्धिषु ॥ ३२ ॥
तस्मात्तु पर्वणो ह्यादौ प्रतिपद्यादिसंधिषु।
सायाह्ने अनुमत्याश्च द्वौ लवौ काल उच्यते।
लवौ द्वावेव राकायाः कालो ज्ञेयोऽपराह्णिकः ॥ ३३ ॥
प्रकृतिः कृष्णपक्षस्य कालेऽतीतेऽपराह्णिके।
सायाह्ने प्रतिपद्येष स कालः पौर्णमासिकः ॥ ३४ ॥
व्यतीपाते स्थिते सूर्ये लेखादूर्ध्वे युगान्तरम्।
युगान्तरोदिते चैव चन्द्रे लेखोपरि स्थिते ॥ ३५ ॥
पूर्णमासव्यतीपातो यदा पश्येत्परस्परम्।
तौ तु वै प्रतिपद्यावत्तस्मिन्काले व्यवस्थितौ ॥ ३६ ॥
तत्कालं सूर्यमुद्दिश्य दृष्ट्वा संख्यातुमर्हसि।
स चैव सत्क्रियाकालः षष्ठः कालोऽभिधीयते ॥ ३७ ॥
पूर्णेन्दुः पूर्णपक्षे तु रात्रिसंधिषु पूर्णिमा।
तस्मादाप्यायते नक्तं पौर्णमास्यां निशाकरः ॥ ३८ ॥
यदान्योन्यवतो पाते पूर्णिमां प्रेक्षते दिवा।
चन्द्रादित्योऽपराह्णे तु पूर्णत्वात्पूर्णिमा स्मृता ॥ ३९ ॥
यस्मात्तामनुमन्यन्ते पितरो दैवतैः सह।
तस्मादनुमतिर्नाम पूर्णत्वात् पूर्णिमा स्मृता ॥ ४० ॥
अत्यर्थं राजते यस्मात्पौर्णमास्यां निशाकरः।
रञ्जनाच्चैव चन्द्रस्य राकेति कवयो विदुः ॥ ४१ ॥
अमा वसेतामृक्षे तु यदा चन्द्रदिवाकरौ।
एका पञ्चदशी रात्रिरमावस्या ततः स्मृता ॥ ४२ ॥

इसके बाद अब मैं पर्वों की जो सन्धियाँ हैं, उनका वर्णन कर रहा हूँ। जैसे गन्ने और बाँस में गोलाकार गाँठें बनी रहती हैं, वैसे ही वर्ष, मास, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, अमावस्या और पूर्णिमा के भेद—ये सभी पर्व की ग्रन्थियाँ और संधियाँ हैं। (प्रत्येक पक्ष में) प्रतिपद्-द्वितीया आदि पन्द्रह तिथियाँ होती हैं। चूँकि अग्न्याधान आदि क्रियाएँ पर्व-संधियों में सम्पन्न की जाती हैं, अतः उन्हें (अमा, पूर्णिमा) पर्व की तथा प्रतिपदा की संधियों में करना चाहिये। चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि के दो लव को पर्वकाल कहा जाता है तथा राका के दूसरे दिन में आने वाले दो लव को पर्वकाल जानना चाहिये। कृष्णपक्ष के अपराह्णिक काल के व्यतीत हो जाने पर सायं-काल में प्रतिपदा के योग में जो काल आता है, उसे पौर्णमासिक कहते हैं। सूर्य के लेखा (विषुव) के ऊपर व्यतीपात में स्थित होने पर युगान्तर कहलाता है। उस समय चन्द्रमा लेखा के ऊपर स्थित युगान्तर में उदित होते हैं। इस प्रकार जब चन्द्रमा और व्यतीपात परस्पर एक दूसरे को देखें और प्रतिपदा तिथि तक उसी अवस्था में स्थित रहें तो उस समय सूर्य के उद्देश्य से उस समय को देखकर गणना करनी चाहिए। उसे सत्क्रियाकाल नामक छठा काल कहते हैं। शुक्लपक्ष के पूर्ण होने पर रात्रि को संधि में जब पूर्णचन्द्र उदय होते हैं, तब उसे पूर्णिमा कहते हैं। इसीलिए चन्द्रमा पूर्णिमा को रात में अपनी सभी कलाओं से पूर्ण हो जाते हैं। पूर्णिमा तिथि की ह्रास-वृद्धि होती रहती है, अतः यदि वृद्धि के समय दूसरे दिन सूर्य और चन्द्र दिन में पूर्णिमा में दीखते हैं तो वह तिथि पूर्ण होने के कारण पूर्णिमा कहलाती है। यदि दूसरे दिन प्रतिपदा का योग होने में चन्द्रमा की एक कला हीन हो गयी तो उस पूर्णिमा को अनुमति कहते हैं। यह अनुमति देवताओं सहित पितरों को परम प्रिय है। चूँकि पूर्णिमा की रात में चन्द्रमा अत्यन्त सुशोभित होते हैं, इसलिए चन्द्रमा को प्रिय होने के कारण उस पूर्णिमा को विद्वानों ने राका नाम से अभिहित किया है। कृष्णपक्ष की पंद्रहवीं रात्रि को जब सूर्य और चन्द्र एक साथ एक नक्षत्र पर स्थित होते हैं, तब उसे अमावास्या कहा जाता है ॥ ३०-४२ ॥

उद्दिश्यताममावास्यां यदा दर्शं समागतौ।
अन्योन्यं चन्द्रसूर्यौ तु दर्शनाद् दर्श उच्यते ॥ ४३ ॥
द्वौ द्वौ लवावमावास्यां स कालः पर्वसन्धिषु।
द्व्यक्षरः कुहुमात्रश्च पर्वकालस्तु स स्मृतः ॥ ४४ ॥
दृष्टचन्द्रा त्वमावास्या मध्याह्नप्रभृतीह वै।
दिवा तदूर्ध्वं रात्र्यां तु सूर्ये प्राप्ते तु चन्द्रमाः।
सूर्येण सहसोद्गच्छेत्ततः प्रातस्तनात्तु वै ॥ ४५ ॥
समागम्य लवौ द्वौ तु मध्याह्नान्निपतन् रविः।
प्रतिपच्छुक्लपक्षस्य चन्द्रमाः सूर्यमण्डलात् ॥ ४६ ॥
निर्मुच्यमानयोर्मध्ये तयोर्मण्डलयोस्तु वै।
स तदान्वाहुतेः कालो दर्शस्य च वषट्क्रियाः।
एतदृतुमुखं ज्ञेयममावास्यां तु पार्वणम् ॥ ४७ ॥

दिवा पर्वं त्वमावास्यां क्षीणेन्दौ धवले तु वै ।
तस्माद् दिवा त्वमावास्यां गृह्यते यो दिवाकरः ॥ ४८ ॥

कुह्वेति कोकिलेनोक्तं यस्मात्कालात् समाप्यते ।
तत्कालसंज्ञिता ह्येषा अमावास्या कुहूः स्मृता ॥ ४९ ॥

सिनीवालीप्रमाणं तु क्षीणशेषो निशाकरः ।
अमावास्या विशत्यर्कं सिनीवाली तदा स्मृता ॥ ५० ॥

अनुमतिश्च राका च सिनीवाली कुहूस्तथा ।
एतासां द्विलयः कालः कुहूमात्रा कुहूः स्मृता ॥ ५१ ॥

इत्येष पर्वसन्धीनां कालो वै द्विलवः स्मृतः ।
पर्वणां तुल्यकालस्तु तुल्याहुतिवषट्क्रियाः ॥ ५२ ॥

चन्द्रसूर्यव्यतीपाते समे वै पूर्णिमे उभे ।
प्रतिपत्प्रतिपन्नस्तु पर्वकालो द्विमात्रकः ॥ ५३ ॥

कालः कुहूसिनीवाल्यो समृद्धो द्विलवः स्मृतः ।
अर्कनिर्मण्डले सोमे पर्वकालः कलाः स्मृताः ॥ ५४ ॥

यस्मादापूर्यते सोमः पञ्चदश्यां तु पूर्णिमा ।
दशभिः पञ्चभिश्चैव कलाभिर्दिवसक्रमात् ॥ ५५ ॥

तस्मात् पञ्चदशे सोमे कला वै नास्ति षोडशी ।
तस्मात् सोमस्य विप्रोक्तः पञ्चदश्यां मया क्षयः ॥ ५६ ॥

इत्येते पितरो देवाः सोमपाः सोमवर्धनाः ।
आर्तवा ऋतवोऽथाब्दा देवास्तान्भावयन्ति हि ॥ ५७ ॥

उस अमावास्या को लक्ष्य कर जब सूर्य और चन्द्रमा दर्शन पर आ जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को देखते हैं, तब उसे दर्श कहते हैं। अमावास्या में पर्वसंधि के अवसर पर दो-दो लव पर्वकाल कहलाते हैं।

इनमें प्रतिपदा के योगवाला पर्वकाल कुहू कहलाता है। जिस दिन दोपहर तक अमावास्या में चन्द्रमा का सम्पर्क बना रहे और उसके बाद रात्रि के प्राप्त होने पर चन्द्रमा सहसा सूर्य के निकट पहुँच जाँय, पुनः प्रातः काल सूर्यमण्डल से पृथक् हो जायँ तो शुक्लपक्ष की प्रतिपदा में प्रातःकाल दो लव पर्वकाल कहलाता है। इस प्रकार सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल के पृथक् होते समय अमावास्या के उस मध्यवर्ती काल को अन्वाहुति कहते हैं। इसमें पितरों के निमित्त वषट्कियाएँ की जाती हैं। इसे ऋतुमुख और अमावास्या को पार्वण जानना चाहिए। दिन में जब क्षीण चन्द्रमा सूर्य के साथ मिलते हैं, तब अमावास्या का वह काल पर्वकाल कहलाता है। इसीलिए दिन में अमावास्या के उस पर्वकाल में सूर्य के पहुँचने पर सूर्य गृहीत हो जाते हैं अर्थात् सूर्य-ग्रहण लगता है। कोयल द्वारा उच्चरित 'कुहू' शब्द जितने समय में समाप्त होता है, अमावास्या का उतना मुख्य काल 'कुहू' नाम से कहा जाता है। सिनीवाली का

प्रमाण यह है कि जब क्षीण चन्द्रमा सूर्य से प्रवेश करते हैं, तब वह अमावास्या सिनीवाली कही जाती है। अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू—इनका दो लवकाल पर्वकाल होता है। कुहू शब्द के उच्चारणपर्यन्त काल को कुहू कहते हैं। इस प्रकार पर्वसन्धियों का यह काल दो लव का बतलाया जाता है और यह पर्वों के समान फल-दायक होता है। इसमें हवन और वषट्क्रियाएँ की जाती हैं। चन्द्रमा और सूर्य का व्यतिपात पर स्थित होना तथा दोनों (अमावास्या और पूर्णिमा) पूर्णिमाएँ—ये सभी एक-से पुण्यदायक हैं। प्रतिपदा के संयोग से उत्पन्न होनेवाला पर्वकाल दो लव का होता है। इसी प्रकार कुहू और सिनीवाली के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ पर्वकाल भी दो लव का ही माना जाता है। चन्द्रमा जब सूर्यमण्डल से बाहर होते हैं, तब वह पर्वकाल एक कला का बतलाया जाता है। चूँकि दिन के क्रम से पंद्रहवीं तिथिको चन्द्रमा पन्द्रह कलाओं द्वारा पूर्ण किये जाते हैं, इसलिए उस तिथि को पूर्णिमा कहते हैं। इस प्रकार चन्द्रमा पन्द्रह कलाओं वाले ही हैं, उनमें सोलहवीं कला नहीं है। इसी कारण मैंने पन्द्रहवीं तिथि को चन्द्रमा का क्षय बतलाया है। इस प्रकार ये सोमपायी देव-पितर सोम की वृद्धि करने वाले हैं और ऋतु एवं अब्द से सम्बन्धित आर्तवसंज्ञक देवगण उन्हीं के परिपोषक हैं ॥ ४३-५७ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पितृश्राद्धभुजस्तु ये।
तेषां गतिं च सत्तत्त्वं प्राप्तिं श्राद्धस्य चैव हि ॥ ५८ ॥

न मृतानां गतिः शक्या ज्ञातुं वा पुनरागतिः।
तपसा हि प्रसिद्धेन किं पुनर्मांसचक्षुषा ॥ ५९ ॥

अत्र देवान्पितॄंश्चैते पितरो लौकिकाः स्मृताः।
तेषां ते धर्मसामर्थ्यात्स्मृताः सायुज्यगा द्विजैः ॥ ६० ॥

यदि वाश्रमधर्मेण प्रज्ञानेषु व्यवस्थितान्।
अन्ये चात्र प्रसीदन्ति श्रद्धायुक्तेषु कर्मसु ॥ ६१ ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा यज्ञेन प्रजया भुवि।
श्राद्धेन विद्यया चैव चान्नदानेन सप्तधा ॥ ६२ ॥

कर्मस्वेवेषु ये सक्ता वर्तन्त्या देहपातनात्।
देवैस्ते पितृभिः सार्द्धमूष्मपैः सोमपैस्तथा।
स्वर्गता दिवि मोदन्ते पितृमन्त उपासते ॥ ६३ ॥

प्रजावतां प्रसिद्धैषा उक्ता श्राद्धकृतां च वै।
तेषां निवापे दत्तं हि तत्कुलीनैस्तु बान्धवैः ॥ ६४ ॥

मासश्राद्धं हि भुञ्जनास्तेऽप्येते सोमलौकिकाः।
एते मनुष्याः पितरो मासश्राद्धभुजस्तु वै ॥ ६५ ॥

तेभ्योऽपरे तु ये त्वन्ये सङ्कीर्णाः कर्मयोनिषु।
भ्रष्टाश्चाश्रमधर्मेषु स्वधास्वाहाविवर्जिताः ॥ ६६ ॥

भिन्ने देहे दुरापन्नाः प्रेतभूता यमक्षये ।
स्वकर्माण्यनुशोचन्तो यातनास्थानमागताः ॥ ६७ ॥

दीर्घाश्चैवातिशुष्काश्च श्मश्रुलाश्च विवाससः ।
क्षुत्पिपासाभिभूतास्ते विद्रवन्ति त्वितस्ततः ॥ ६८ ॥

सरित्सरस्तडागानि पुष्करिण्यश्च सर्वशः ।
परानान्यभिकांक्षन्तः काल्यमाना इतस्ततः ॥ ६९ ॥

स्थानेषु पात्यमाना ये यातनास्थेषु तेषु वे ।
शाल्मल्यां वैतरण्यां च कुम्भीपाकेद्धवालुके ॥ ७० ॥

असिपत्रवने चैव पात्यमानाः स्वकर्मभिः ।
तत्रस्थानां तु तेषां वै दुःखितानामशायिनाम् ॥ ७१ ॥

तेषां लोकान्तरस्थानां बान्धवैर्नामगोत्रतः ।
भूमावसव्यं दर्भेषु दत्ताः पिण्डास्त्रयस्तु वै ।
प्राप्तांस्तु तर्पयन्त्येव प्रेतस्थानेष्वधिष्ठितान् ॥ ७२ ॥

इसके बाद अब मैं जो श्राद्धभोजी पितर हैं, उनकी गति, उनका उत्तम तत्त्व तथा उनके निमित्त दिये गये श्राद्ध की प्राप्ति का वर्णन कर रहा हूँ। मृतकों के आवागमन का रहस्य तो उत्कृष्ट तपोबलसम्पन्न तपस्वी भी नहीं जान सकते, फिर चर्मचक्षुधारी साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है। इन श्राद्धभोजियों में देवता और पितर दोनों हैं। इनमें जो अपने धर्म के बल से सायुज्य मुक्ति को प्राप्त कर चुके हैं अथवा आश्रम-धर्म का पालन करते हुए ज्ञान-प्राप्ति में लगे हुए हैं और श्रद्धायुक्त कर्मों के सम्पन्न होने पर प्रसन्न होते हैं, उन्हें महर्षिगण लौकिक पितर कहते हैं। ब्रह्मचर्य, तप, यज्ञ, संतान, श्राद्ध, विद्या और अन्नदान—ये भूतल पर प्रधान धर्म कहे गये हैं। जो लोग मृत्युपर्यन्त इन सातों धर्मों का पालन करते हुए इनमें आसक्त रहते हैं, वे ऊष्मप तथा सोमप देवताओं और पितरों के साथ स्वर्ग लोक में जाकर आनन्द का उपभोग करते हुए पितरों की उपासना करते हैं। ऐसी प्रसिद्धि उन सन्तानयुक्त श्राद्धकर्ताओं के लिए कही गयी है, जिनके लिए उनके कुलीन भाई-बन्धुओं ने दान के अवसर पर श्राद्ध आदि प्रदान किया है। मासिक श्राद्ध में भोजन करने वाले पितर चन्द्रलोकवासी हैं। वे मासश्राद्धभोजी पितर मनुष्यों के पितर हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य लोग कर्मानुसार प्राप्त हुई योनियों में कष्ट झेल रहे हैं, आश्रम धर्म से भ्रष्ट हो गये हैं, जिनके लिए स्वाहा-स्वधा का प्रयोग हुआ ही नहीं है, जो शरीर के नष्ट होने पर यमलोक में प्रेत होकर दुर्गति भोग रहे हैं, नरक-स्थान पर पहुँच कर अपने कर्मों पर पश्चात्ताप करते हैं, लम्बे शरीर वाले, अत्यन्त कृशकाय, लम्बी दाढ़ियों से युक्त, वस्त्रहीन और भूख एवं प्यास से व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ते हैं, नदी, सरोवर, तड़ाग और जलाशयों पर सब ओर दूसरों के द्वारा दिये गये अन्न की ताक में इधर-उधर घूमते रहते हैं, शाल्मली, वैतरणी, कुम्भीपाक, तप्तवालुका और असिपत्रवन नामक भीषण नरकों में अपने कर्मानुसार गिराये जाते हैं तथा उन नरकों में पड़े हुए जो निद्रारहित हो दुःख भोग रहे हैं, उन

लोकान्तर में स्थित जीवों के लिए उनके भाई-बन्धुओं द्वारा यहाँ भूतल पर जब उनका नाम-गोत्र उच्चारण कर अपसव्य होकर कुशों पर तीन पिण्ड प्रदान किये जाते हैं, तब प्रेतस्थानों में स्थित होने पर भी वे पिण्ड उन्हें प्राप्त होकर तृप्त करते हैं ॥ ५८-७२ ॥

अप्राप्ता यातनास्थानं प्रभ्रष्टा ये च पञ्चधा ।
पश्चाद्ये स्थावरान्ते वै भूतानीके स्वकर्मभिः ॥ ७३ ॥

नानारूपासु जातीनां तिर्यग्योनिषु मूर्तिषु ।
यदाहारा भवन्त्येते तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

तस्मिंस्तस्मिंस्तदाहारे श्राद्धे दत्तं तु प्रीणयेत् ।
काले न्यायागतं पात्रे विधिना प्रतिपादितम् ।
प्राप्नुवन्त्यन्नमादत्तं यत्र यत्रावतिष्ठति ॥ ७५ ॥
यथा गोषु प्रनष्टासु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा श्राद्धेषु दृष्टान्तो मन्त्रः प्रापयते तु तम् ॥ ७६ ॥
एवं ह्यविकलं श्राद्धं श्रद्धादत्तं मनुर्ब्रवीत् ।
सनत्कुमारः प्रोवाच पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ॥ ७७ ॥

गतागतज्ञः प्रेतानां प्राप्ति श्राद्धस्य चैव हि ।
कृष्णपक्षहस्त्वहस्तेषां शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ७८ ॥
इत्येते पितरो देवा देवाश्च पितरश्च वै ।
अन्योऽन्यपितरो ह्येते देवाश्च पितरो दिवि ॥ ७९ ॥

एते तु पितरो देवा मनुष्याः पितरश्च ये ।
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ॥ ८० ॥
इत्येष विषयः प्रोक्तः पितॄणां सोमपायिनाम् ।
एतत्पितृमहत्त्वं हि पुराणे निश्चयं गतम् ॥ ८१ ॥

इत्येष सोमसूर्याभ्यामैलस्य च समागमः ।
अवाप्ति श्रद्धया चैव पितॄणां चैव तर्पणम् ॥ ८२ ॥

पर्वणां चैव यः कालो यातनास्थानमेव च ।
समासात्कीर्तितस्तुभ्यं सर्ग एष सनातनः ॥ ८३ ॥

वैरूप्यं येन तत्सर्वं कथितं त्वेकदेशिकम् ।
अशक्यं परिसंख्यातुं श्रद्धेयं भूतिमिच्छता ॥ ८४ ॥

स्वायम्भुवस्य देवस्य एष सर्गो मयेरितः ।
विस्तरेणानुपूर्वाच्च भूयः किं कथयामि वः ॥ ८५ ॥

जो नरकों में न जाकर पाँच प्रकार से विभक्त होकर भ्रष्ट हो चुके हैं अर्थात् जो मृत्यु के उपरान्त अपने कर्मों के अनुसार स्थावर, भूत-प्रेत अनेकों प्रकार की जातियों, तिर्यग्योनियों एवं अन्य जन्तुओं में जन्म ले चुके हैं, वहाँ उन-उन

योनियों में वे जैसे आहार वाले होते हैं उन्हीं-उन्हीं योनियों उसी आहार के रूप में परिणत होकर श्राद्ध में दिया गया पिण्ड उन्हें तृप्त करता है। यदि श्राद्धोपयुक्त काल में न्यायोपार्जित अन्न (मृतकों के निमित्त) विधिपूर्वक सत्पात्र को दान किया जाता है तो वह अन्न वे मृतक जहाँ-कहीं भी रहते हैं, उन्हें प्राप्त होता है। जैसे बछड़ा गौओं में विलीन हुई अपनी माँको ढूँढ़ निकालता है, उसी प्रकार श्राद्धों में प्रयुक्त हुआ मन्त्र (दान की वस्तुओं को) उस जीव के पास पहुँचा देता है। इस प्रकार विधानपूर्वक श्रद्धासहित दिया गया श्राद्ध-दान उस जीव को प्राप्त होता है—ऐसा मनु ने कहा है। साथ ही महर्षि सनत्कुमार ने भी, जो प्रेतों के गमनागमन के ज्ञाता हैं, दिव्य चक्षु से देखकर श्राद्ध की प्राप्ति के विषय में ऐसा ही बतलाया है। कृष्णपक्ष उन पितरों का दिन है तथा शुक्लपक्ष शयन करने के लिए उनकी रात्रि है। इस प्रकार ये पितृदेव और देवपितर स्वर्ग लोक में परस्पर एक-दूसरे के देवता और पितर हैं। यह तो स्वर्गीय देवों और पितरों की बात हुई। मनुष्यों के पितर पिता, पितामह और प्रपितामह हैं। इस प्रकार मैंने सोमपायी पितरों के विषय में वर्णन कर दिया। पितरों का यह महत्त्व पुराणों में निश्चित किया गया है। इस प्रकार मैंने इला-नन्दन पुरूरवा का चन्द्रमा और सूर्य के साथ समागम, पितरों को श्रद्धापूर्वक दी गयी वस्तु की प्राप्ति, पितरों का तर्पण, पर्व-काल और यातनास्थान (नरक) का संक्षिप्त वर्णन आपको सुना दिया, यही सनातन सर्ग है। इसका विस्तार बहुत बड़ा है। मैंने संक्षेप में ही इसका वर्णन किया है; क्योंकि पूर्ण रूप से वर्णन करना तो असम्भव है। इसलिए कल्याणकामी को इसपर श्रद्धा रखनी चाहिए ॥ ७३-८५ ॥

मत्स्य उवाच

एतद्वंशभवा विप्राः श्राद्धे भोज्याः प्रयत्नतः।
पितृणां वल्लभं यस्मादेषु श्राद्धं नरेश्वर ॥ १ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पितृभिर्याः प्रकीर्तिताः।
गाथाः पार्थिवशार्दूल कामयद्भिः पुरे स्वके ॥ २ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं यो नो दद्याज्जलाञ्जलिम्।
नदीषु बहुतोयासु शीतलासु विशेषतः ॥ ३ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं यः श्राद्धं नित्यमाचरेत्।
पयोमूलफलैर्भक्ष्यैस्तिलतोयेन वा पुनः ॥ ४ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं यो नो दद्यात्त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिभ्यां वर्षासु च मघासु च ॥ ५ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं खड्गमांसेन यः सकृत्।
श्राद्धं कुर्यात् प्रयत्नेन कालशाकेन वा पुनः ॥ ६ ॥

कालशाकं महाशाकं मधु मुन्यन्नमेव च।
विषाणवर्जा ये खड्गा आसूर्यं तदशीमहि ॥ ७ ॥

गयायां दर्शने राहोः खड्गमांसेन योगिनाम् ।
भोजयेत् कः कुलेऽस्माकं छायायां कुञ्जरस्य च ॥ ८ ॥

आकल्पकालिकी तृप्तिस्तेनास्माकं भविष्यति ।
दाता सर्वेषु लोकेषु कामचारो भविष्यति ॥ ९ ॥

आभूतसम्प्लवं कालं नात्र कार्या विचारणा ।
यदेतत्पञ्चकं तस्मादेकेनापि वयं सदा ॥ १० ॥

तृप्तिं प्राप्स्याम चानन्तां किं पुनः सर्वसम्पदा ।
अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं दद्यात् कृष्णाजिनं च यः ॥११॥

मत्स्यभगवान् ने कहा—नरेश्वर ! इन धर्म के वंश में उत्पन्न हुए विप्रों को श्राद्ध में प्रयत्नपूर्वक भोजन कराना चाहिए; क्योंकि इन ब्राह्मणों के सम्बन्ध से किया हुआ श्राद्ध पितरों को अतिशत प्रिय है। राजसिंह ! इसके बाद अब मैं उस गाथा का वर्णन कर रहा हूँ, जिसका अपने पुर में स्थित कामना करने वाले पितरों ने कथन किया था। क्या हम लोगों के वंश में कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो अधिक एवं शीतल जल वाली नदियों में जाकर हम लोगो को जलाञ्जलि देगा ? क्या हमारे कुल में कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो दूध, मूल, फल और खाद्य सामग्रियों से या तिलसहित जल से नित्य श्राद्ध करेगा ? क्या हमारे वंश में कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो वर्षा ऋतु के मघानक्षत्र की त्रयोदशी तिथि को मधु और घी से मिश्रित दूध में पका हुआ खाद्य पदार्थ हमें समर्पित करेगा ? क्या हमारे कुल में कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो कालशाक से श्राद्ध करेगा ? कालशाक, महाशाक, मधु और मुनिजनों के अनुकूल अन्नों को हम लोग सूर्यास्त से पूर्व ही ग्रहण करते हैं। हमारे कुल में उत्पन्न हुआ कौन व्यक्ति सूर्यग्रहण के अवसर पर अर्थात् राहु के दर्शन काल तक गयातीर्थमें एवं गजच्छायायोग में योगियों को फल के गूदे का भोजन करायेगा ? इन खाद्य पदार्थों से हम लोगों को कल्पपर्यन्त तृप्ति बनी रहती है और दाता प्रलयकालपर्यन्त सभी लोकों में स्वेच्छानुसार विवरण करता है—इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिए। पूर्वकथित इन पाँचों में से एक से भी हम लोग सदा अनन्त तृप्ति प्राप्त करते हैं, फिर सभी के द्वारा करने पर तो कहना ही क्या है ? क्या हमारे वंश में कोई ऐसा व्यक्ति उत्पन्न होगा, जो कृष्ण मृग-चर्म का दान देगा ? ॥ १-११ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं कश्चित् पुरुषसत्तमः ।
प्रसूयमानां यो धेनुं दद्याद् ब्राह्मणपुंगवे ॥ १२ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं वृषभं यः समुत्सृजेत् ।
सर्ववर्णविशेषेण शुक्लं नीलं वृषं तथा ॥ १३ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं यः कुर्याच्छ्रद्धयान्वितः ।
सुवर्णदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च ॥ १४ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं कश्चित् पुरुषसत्तमः ।
कूपारामतडागानां वापीनां यश्च कारकः ॥ १५ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं सर्वभावेन यो हरिम् ।
प्रयायाच्छरणं विष्णुं देवेशं मधुसूदनम् ॥ १६ ॥

अपि नः स कुले भूयात् कश्चिद् विद्वान् विचक्षणः ।
धर्मशास्त्राणि यो दद्याद् विधिना विदुषामपि ॥ १७ ॥

एतावदुक्तं तव भूमिपाल
श्राद्धस्य कल्पं मुनिसम्प्रदिष्टम् ।
पापापहं पुण्यविवर्धनं च
लोकेषु मुख्यत्वकरं तथैव ॥ १८ ॥

इत्येतां पितृगाथां तु श्राद्धकाले तु यः पितॄन् ।
श्रावयेत्तस्य पितरो लभन्ते दत्तमक्षयम् ॥ १९ ॥

क्या हमारे वंश में कोई ऐसा नरश्रेष्ठ पैदा होगा, जो ब्राह्मण श्रेष्ठ को ब्याती हुई गाय का दान देगा ? क्या हमारे वंश में कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो वृषभ का उत्सर्ग करेगा ? वह वृष विशेषरूप से सभी रङ्गों की अपेक्षा नील अथवा शुक्ल वर्ण का होना चाहिये। क्या हम लोगों के कुल में कोई ऐसा व्यक्ति उत्पन्न होगा, जो श्रद्धासम्पन्न होकर सुवर्ण-दान, गो-दान और पृथ्वी-दान करेगा ? क्या हमारे वंश में कोई ऐसा पुरुषश्रेष्ठ पैदा होगा, जो कूप, बगीचा, सरोवर और बावलियों का निर्माण करायेगा ? क्या हमारे कुल में कोई ऐसा व्यक्ति जन्म-ग्रहण करेगा, जो सभी प्रकार से मधु दैत्य के नाशक देवेश भगवान् विष्णु की शरण ग्रहण करेगा ? क्या हमारे कुल में कोई ऐसा प्रतिभाशाली विद्वान होगा, जो विद्वानों को विधिपूर्वक धर्मशास्त्र की पुस्तकों का दान देगा ? भूपाल ! मैंने इस प्रकार आप से मुनियों द्वारा कही गयी इस श्राद्ध-कर्म की विधि का वर्णन कर दिया। यह पापनाशिनी, पुण्य को बढ़ाने वाली एवं संसार में प्रमुखता प्रदान करने वाली है। जो श्राद्ध के समय पितरों को यह पितृगाथा सुनाता है, उसके पितर दिये गये पदार्थों को अक्षय रूप में प्राप्त करते हैं ॥ १२-१९ ॥

श्रीविष्णुपुराण में गृहस्थ सम्बन्धी कर्तव्याचार का वर्णन—

सगर उवाच

गृहस्थस्य सदाचारं श्रोतुमिच्छाम्यहं मुने ।
लोकादस्मात्परस्माच्च यमातिष्ठन्न हीयते ॥ १ ॥

सगर बोले—हे मुने ! मैं गृहस्थ के सदाचारों को सुनना चाहता हूँ, जिनका आचरण करने से वह इहलोक और परलोक दोनों जगह पतित नहीं होता ॥ १ ॥

और्व उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल सदाचारस्य लक्षणम् ।
सदाचारवता पुंसा जितौ लोकावुभावपि ॥ २ ॥

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः ।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारस्स उच्यते ॥ ३ ॥

सप्तर्षयोऽथ मनवः प्रजानां पतयस्तथा ।
सदाचारस्य वक्तारः कर्तारश्च महीपते ॥ ४ ॥

और्व बोले—हे पृथिवीपाल ! तुम सदाचार के लक्षण सुनो। सदाचारी पुरुष इहलोक और परलोक दोनों ही को जीत लेता है ॥ २ ॥ 'सत्' शब्द का अर्थ साधु है और साधु वही है जो दोषरहित हो। उस साधु पुरुष का जो आचरण होता है उसी को सदाचार कहते हैं ॥ ३ ॥ हे राजन् ! इस सदाचार के वक्ता और कर्ता सप्तर्षिगण, मनु एवं प्रजापति हैं ॥ ४ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय मनसा मतिमान्नृप ।
प्रबुद्धश्चिन्तयेद्धर्ममर्थं चाप्यविरोधिनम् ॥ ५ ॥

अपीडया तयोः काममुभयोरपि चिन्तयेत् ।
दृष्टादृष्टविनाशाय त्रिवर्गे समदर्शिता ॥ ६ ॥

परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप ।
धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च ॥ ७ ॥

हे नृप ! बुद्धिमान् पुरुष स्वस्थ चित्त से ब्राह्ममुहूर्त में जगकर अपने धर्म और धर्माविरोधी अर्थ का चिन्तन करे ॥ ५ ॥ तथा जिसमें धर्म और अर्थकी क्षति न हो ऐसे काम का भी चिन्तन करे। इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट अनिष्ट की निवृत्ति के लिये धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग के प्रति समान भाव रखना चाहिये। ६ ॥ हे नृप ! धर्मविरुद्ध अर्थ और काम दोनों का त्याग कर दे तथा ऐसे धर्म का भी आचरण न करे जो उत्तर काल में दुःखमय अथवा समाज-विरुद्ध हो ॥ ७ ॥

ततः कल्यं समुत्थाय कुर्यान्मूत्रं नरेश्वर ॥ ८ ॥
नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं भुवः ।
दूरादावसथान्मूत्रं पुरीषं च विसर्जयेत् ॥ ९ ॥
पादावनेजनोच्छिष्टे प्रक्षिपेन्न गृहाङ्गणे ॥ १० ॥
आत्मच्छायां तरुच्छायां गोसूर्याग्न्यनिलांस्तथा ।
गुरुद्विजादींस्तु बुधो नाधिमेहेत्कदाचन ॥ ११ ॥
न कृष्टे सस्यमध्ये वा गोव्रजे जनसंसदि ।
न वर्त्मनि न नद्यादितीर्थेषु पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥
नाप्सु नैवाम्भसस्तीरे श्मशाने न समाचरेत् ।
उत्सर्गं वै पुरीषस्य मूत्रस्य च विसर्जनम् ॥ १३ ॥
उदङ्मुखो दिवा मूत्रं विपरीतमुखो निशि ।
कुर्वीतानापदि प्राज्ञो मूत्रोत्सर्गं च पार्थिव ॥ १४ ॥
तृणैरास्तीर्य वसुधां वस्त्रप्रावृतमस्तकः ।
तिष्ठेन्नातिचिरं तत्र नैव किञ्चिदुदीरयेत् ॥ १५ ॥

हे नरेश्वर ! तदनन्तर ब्राह्ममुहूर्त में उठकर प्रथम मूत्रत्याग करे। ग्राम से नैर्ऋत्यकोण में जितनी दूर वाण जा सकता है उससे आगे बढ़कर अथवा अपने निवास-स्थान से दूर जाकर मल-मूत्र त्याग करे। पैर धोया हुआ और जूठा जल अपने घर के आँगन में न डाले ।। ८-१० ।। अपनी या वृक्ष की छाया के ऊपर तथा गौ, सूर्य, अग्नि, वायु, गुरु और द्विजातीय पुरुष के सामने बुद्धिमान् पुरुष कभी मल-मूत्रत्याग न करे ।। ११ ।। इसी प्रकार हे पुरुषर्षभ ! जुते हुए खेत में, सस्यसम्पन्न भूमि में, गौओं के गोष्ठ में, जन-समाज में, मार्ग के बीच में, नदी आदि तीर्थस्थानों में, जल अथवा जलाशय के तट पर और श्मशान में भी कभी मल-मूत्र का त्याग न करे ।। १२-१३ ।। हे राजन् ! कोई विशेष आपत्ति न हो तो प्राज्ञ पुरुष को चाहिये कि दिन के समय उत्तर-मुख और रात्रि के समय दक्षिण मुख होकर मूत्रत्याग करे ।। १४ ।। मल-त्याग के समय पृथिवी को तिनकों से और सिर को वस्त्र से ढाँप ले तथा उस स्थान पर अधिक समय तक न रहे और न कुछ बोले ही ।। १५ ।।

वल्मीकमूषिकोद्भूतां मृदं नान्तर्जलां तथा ।
शौचावशिष्टां गेहाच्च नादद्याल्लेपसम्भवाम् ।। १६ ।।

अणुप्राण्युपपन्नां च हलोत्खातां च पार्थिव ।
परित्यजेन्मृदो ह्येतास्सकलाश्शौचकर्मणि ।। १७ ।।

हे राजन् ! बाँबी की, चूहों द्वारा बिल से निकाली हुई, जल के भीतर की, शौच-कर्म से बची हुई, घर के लीपन की, चींटी आदि छोटे-छोटे जीवों द्वारा निकाली हुई और हल से उखाड़ी हुई—इन सब प्रकार की मृत्तिकाओं का शौच कर्म में उपयोग न करे ।। १६-१७ ।।

एका लिङ्गे गुदे तिस्रो दश वामकरे नृप ।
हस्तद्वये च सप्त स्युर्मृदश्शौचोपपादिकाः ।। १८ ।।

अच्छेनागन्धलेपेन जलेनाबुद्बुदेन च ।
आचामेच्च मृदं भूयस्तथादद्यात्समाहितः ।। १९ ।।

निष्पादिताङ्घ्रिशौचस्तु पादावभ्युक्ष्य तैः पुनः ।
त्रिःपिबेत्सलिलं तेन तथा द्विः परिमार्जयेत् ।। २० ।।

शीर्षण्यानि ततः खानि मूर्द्धानं च समालभेत् ।
बाहू नाभिं च तोयेन हृदयं चापि संस्पृशेत् ।। २१ ।।

स्वाचान्तस्तु ततः कुर्यात्पुमान्केशप्रसाधनम् ।
आदर्शाञ्जनमाङ्गल्यं दूर्वाद्यालम्भनानि च ।। २२ ।।

ततस्स्ववर्णधर्मेण वृत्त्यर्थं च धनार्जनम् ।
कुर्वीत श्रद्धासम्पन्नो यजेच्च पृथिवीपते ।। २३ ।।

सोमसंस्था हविस्संस्थाः पाकसंस्थास्तु संस्थिताः ।
धने यतो मनुष्याणां यतेतातो धनार्जने ।। २४ ।।

नदीनदतटाकेषु देवखातजलेषु च।
नित्यक्रियार्थं स्नायीत गिरिप्रस्रवणेषु च ॥ २५ ॥

कूपेषूद्धृततोयेन स्नानं कुर्वीत वा भुवि।
गृहेषूद्धृततोयेन ह्यथवा भुव्यसम्भवे ॥ २६ ॥

हे नृप! लिंग में एक बार, गुदा में तीन बार, बायें हाथ में दश बार, बायें हाथ में दस बार और दोनों हाथों में सात बार मृत्तिका लगाने से शौच सम्पन्न होता है ॥ १८ ॥ तदनन्तर गन्ध और फेन रहित स्वच्छ जल से आचमन करे तथा फिर सावधानतापूर्वक बहुत सी मृत्तिका ले ॥ १९ ॥ उससे चरण शुद्धि करने के अनन्तर फिर पैर धोकर तीन बार कुल्ला करे और दो बार मुख धोवे ॥ २० ॥ तत्पश्चात् जल लेकर शिरोदेश में स्थित इन्द्रियरन्ध्र, मूर्द्धा, बाहु, नाभि और हृदय को स्पर्श करे ।। २१ ॥ फिर भली प्रकार स्नान करने के अनन्तर केश सँवारे और दर्पण, अञ्जन तथा दूर्वा आदि मांगलिक द्रव्यों का यथाविधि व्यवहार करे ॥ २२ ॥ तदनन्तर हे पृथिवीपते! अपने वर्णधर्म के अनुसार आजीविका के लिये धनोपार्जन करे और श्रद्धा-पूर्वक यज्ञानुष्ठान करे ॥२३॥ सोमसंस्था, हविस्संस्था और पाकसंस्था—इन सब धर्म-कर्मों का आधार धन ही है। अतः मनुष्यों को धनोपार्जन का यत्न करना चाहिये ॥२४॥ नित्यकर्मों के सम्पादन के लिये नदी, नद, तडाग, देवालयों की बावड़ी और पर्वतीय झरनों में स्नान करना चाहिये ॥ २५ ॥ अथवा कुएँ से जल खींचकर उसके पास की भूमि पर स्नान करे और यदि वहाँ भूमि पर स्नान करना सम्भव न हो तो कुए से खींचकर लाये हुए जल से घर ही में नहा ले ॥ २६ ॥

शुचिवस्त्रधरः स्नातो देवर्षिपितृतर्पणम्।
तेषामेव हि तीर्थेन कुर्वीत सुसमाहितः ॥ २७ ॥

त्रिरपः प्रीणनार्थाय देवानामपवर्जयेत्।
ऋषीणां च यथान्यायं सकृच्चापि प्रजापतेः ॥ २८ ॥

पितॄणां प्रीणनार्थाय त्रिरपः पृथिवीपते।
पितामहेभ्यश्च तथा प्रीणयेत्प्रपितामहान् ॥ २९ ॥

मातामहाय तत्पित्रे तत्पित्रे च समाहितः।
दद्यात्पैत्रेण तीर्थेन काम्यं चान्यच्छृणुष्व मे ॥ ३० ॥

स्नान करने के अनन्तर शुद्ध वस्त्र धारण कर देवता, ऋषिगण और पितृगण का उन्हीं के तीर्थों से तर्पण करे ॥ २७ ॥ देवता और ऋषियों के तर्पण के लिये तीन-तीन बार तथा प्रजापति के लिये एक बार जल छोड़े ॥ २८ ॥ हे पृथिवीपते! पितृगण और पितामहों की प्रसन्नता के लिये तीन बार जल छोड़े तथा इसी प्रकार प्रपितामहों को भी सन्तुष्ट करे एवं मातामह (नाना) और उनके पिता तथा उनके पिता को भी सावधानतापूर्वक पितृ-तीर्थ से जल-दान करे। अब काम्य तर्पण का वर्णन करता हूँ, श्रवण करो ॥ २९-३० ॥

मात्रे प्रमात्रे तन्मात्रे गुरुपत्न्यै तथा नृप।
गुरूणां मातुलानां च स्निग्धमित्राय भूभुजे ॥ ३१ ॥
इदं चापि जपेदम्बु दद्यादात्मेच्छया नृप।
उपकाराय भूतानां कृतदेवादितर्पणम् ॥ ३२ ॥
देवासुरास्तथा यक्षा नागगन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकास्सिद्धाः कूष्माण्डाः पशवः खगाः ॥ ३३ ॥
जलेचरा भूनिलया वाय्वाहाराश्च जन्तवः।
तृप्तिमेतेन यान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः ॥ ३४ ॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ॥ ३५ ॥
ये बान्धवाबान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते तृप्तिमखिला यान्तु ये चास्मत्तोयकाङ्क्षिणः ॥ ३६ ॥
यत्र क्वचनसंस्थानां क्षुत्तृष्णोपहतात्मनाम्।
इदमाप्यायनायास्तु मया दत्तं तिलोदकम् ॥ ३७ ॥
काम्योदकप्रदानं ते मयैतत्कथितं नृप।
यद्दत्त्वा प्रीणयत्येतन्मनुष्यस्सकलं जगत्।
जगदाप्यायनोद्भूतं पुण्यमाप्नोति चानघ ॥ ३८ ॥

'यह जल माता के लिए हो, यह प्रमाता के लिए हो, यह वृद्धा प्रमाता के लिए हो; यह गुरुपत्नी को, यह गुरु को, यह मामा को, यह प्रिय मित्र को तथा यह राजा को प्राप्त हो—हे राजन्! यह जपता हुआ समस्त भूतों के हित के लिए देवादितर्पण करके अपनी इच्छानुसार अभिलषित सम्बन्धी के लिए जलदान करे ॥ ३१-३२ ॥ [देवादि-तर्पण के समय इस प्रकार कहे—] 'देव, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर और वायु-भक्षक आदि सभी प्रकार के जीव मेरे दिये हुए इस जल से तृप्त हों ॥ ३३-३४ ॥ जो प्राणी सम्पूर्ण नरकों में नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहे हैं उनकी तृप्ति के लिए मैं यह जलदान करता हूँ ॥ ३५ ॥ जो मेरे बन्धु अथवा अबन्धु हैं तथा जो अन्य जन्मों में मेरे बन्धु थे एवं और भी जो-जो मुझसे जल की इच्छा रखने वाले हैं वे सब मेरे दिये हुए जल से परितृप्त हों ॥ ३६ ॥ क्षुधा और तृष्णा से व्याकुल जीव कहीं भी क्यों न हों मेरा दिया हुआ यह तिलोदक उनको तृप्ति प्रदान करे' ॥ ३७ ॥ हे नृप! इस प्रकार मैंने तुमसे यह काम्यतर्पण का निरूपण किया, जिसके करने से मनुष्य सकल संसार को तृप्त कर देता है और हे अनघ! इससे उसे जगत् की तृप्ति से होने वाला पुण्य प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

दत्त्वा काम्योदकं सम्यगेतेभ्यः श्रद्धयान्वितः।
आचम्य च ततो दद्यात्सूर्याय सलिलाञ्जलिम् ॥ ३९ ॥

नमो विवस्वते ब्रह्मभास्वते विष्णुतेजसे।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मसाक्षिणे ॥ ४० ॥

इस प्रकार उपरोक्त जीवों को श्रद्धापूर्वक काम्यजल-दान करने के अनन्तर आचमन करे और फिर सूर्यदेव को जलाञ्जलि दे ॥ ३९ ॥ [उस समय इस प्रकार कहे—] 'भगवान् विवस्वान् को नमस्कार है जो वेद-वेद्य और विष्णु के तेजस्वरूप हैं तथा जगत् को उत्पन्न करनेवाले, अति पवित्र एवं कर्मों के साक्षी हैं' ॥ ४० ॥

ततो गृहार्चनं कुर्यादभीष्टसुरपूजनम्।
जलाभिषेकैः पुष्पैश्च धूपाद्यैश्च निवेदनम् ॥ ४१ ॥
अपूर्वमग्निहोत्रं च कुर्यात्प्राग्ब्रह्मणे नृप ॥ ४२ ॥
प्रजापतिं समुद्दिश्य दद्यादाहुतिमादरात्।
गुह्येभ्यः काश्यपायाथ ततोऽनुमतये क्रमात् ॥ ४३ ॥
तच्छेषं मणिके पृथ्वीपर्जन्येभ्यः क्षिपेत्ततः।
द्वारे धातुर्विधातुश्च मध्ये च ब्रह्मणे क्षिपेत् ॥ ४४ ॥
गृहस्य पुरुषव्याघ्र दिग्देवानपि मे शृणु ॥ ४५ ॥

तदनन्तर जलाभिषेक और पुष्प तथा धूपादि निवेदन करता हुआ गृहदेव और इष्टदेव का पूजन करे ॥ ४१ ॥ हे नृप ! फिर अपूर्व अग्निहोत्र करे, उसमें पहले ब्रह्मा को और तदनन्तर क्रमशः प्रजापति, गुह्य, काश्यप और अनुमति को आदरपूर्वक आहुतियाँ दे ॥ ४२-४३ ॥ उससे बचे हुए हव्य को पृथिवी और मेघ के उद्देश्य से उदकपात्र में, धाता और विधाता के उद्देश्य से द्वार के दोनों ओर तथा ब्रह्मा के उद्देश्य से घर के मध्य में छोड़ दे। हे पुरुषव्याघ्र ! अब मैं दिक्पालगण की पूजा का वर्णन करता हूँ, श्रवण करो ॥ ४४-४५ ॥

इन्द्राय धर्मराजाय वरुणाय तथेन्दवे।
प्राच्यादिषु बुधो दद्याद्धुतशेषात्मकं बलिम् ॥ ४६ ॥
प्रागुत्तरे च दिग्भागे धन्वन्तरिबलिं बुधः।
निर्वपेद्वैश्वदेवं च कर्म कुर्यादतः परम् ॥ ४७ ॥
वायव्यां वायवे दिक्षु समस्तासु यथादिशम्।
ब्रह्मणे चान्तरिक्षाय भानवे च क्षिपेद्बलिम् ॥ ४८ ॥
विश्वेदेवान्विश्वभूतानथ विश्वपतीन्पितॄन्।
यक्षाणां च समुद्दिश्य बलिं दद्यान्नरेश्वर ॥ ४९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में क्रमशः इन्द्र, यम, वरुण और चन्द्रमा के लिए हुतशिष्ट सामग्री से बलि प्रदान करे ॥४६॥ पूर्व और उत्तर-दिशाओं में धन्वन्तरि के लिए बलि दे तथा इसके अनन्तर बलिवैश्वदेव-कर्म करे ॥ ४७ ॥ बलिवैश्वदेव के समय वायव्यकोण में वायु को तथा अन्य समस्त

दिशाओं में वायु एवं उन दिशाओं को बलि दे, इसी प्रकार ब्रह्मा, अन्तरिक्ष और सूर्य को भी उनकी दिशाओं के अनुसार [अर्थात् मध्य में] बलि प्रदान करे ॥ ४८ ॥ फिर हे नरेश्वर ! विश्वेदेवों, विश्वभूतों, विश्वपतियों, पितरों और यक्षों के उद्देश्य से [यथा स्थान] बलि दान करे ॥ ४९ ॥

ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिभागे शुचौ बुधः ।
दद्यादशेषभूतेभ्यस्स्वेच्छया सुसमाहितः ॥ ५० ॥

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि
सिद्धास्सयक्षोरगदैत्यसङ्घाः ।
प्रेताः पिशाचास्तरवस्समस्ता
ये चान्नमिच्छन्ति मयात्र दत्तम् ॥ ५१ ॥

पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या
बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः ।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं
तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु ॥ ५२ ॥

येषां न माता न पिता न बन्धु-
र्नैवान्नसिद्धिर्न तथान्नमस्ति ।
तत्तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत्
ते यान्तु तृप्तिं मुदिता भवन्तु ॥ ५३ ॥

भूतानि सर्वाणि तथान्नमेत-
दहं च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति ।
तस्मादहं भूतनिकायभूत-
मन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम् ॥ ५४ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् व्यक्ति और अन्न लेकर पवित्र पृथिवी पर समाहित चित्त से बैठकर स्वेच्छानुसार समस्त प्राणियों को बलि प्रदान करे ॥ ५० ॥ [उस समय इस प्रकार कहे—] 'देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, सर्प, दैत्य, प्रेत, पिशाच, वृक्ष तथा और भी चींटी आदि कीट-पतङ्ग जो अपने कर्मबन्धन से बँधे हुए क्षुधातुर होकर मेरे दिये हुए अन्न की इच्छा करते हैं, उन सबके लिए मैं यह अन्न दान करता हूँ। वे इससे परितृप्त और आनन्दित हों ॥ ५१-५२ ॥ जिनके माता, पिता अथवा कोई और बन्धु नहीं हैं तथा अन्न प्रस्तुत करने का साधन और अन्न भी नहीं है उनकी तृप्ति के लिए पृथिवी पर मैंने यह अन्न रखा है; वे इससे तृप्त होकर आनन्दित हों ॥ ५३ ॥ सम्पूर्ण प्राणी, यह अन्न और मैं—सभी विष्णु हैं; क्योंकि उनसे भिन्न और कुछ है ही नहीं। अतः मैं समस्त भूतों का शरीररूप यह अन्न उनके पोषण के लिए दान करता हूँ ॥५४॥

चतुर्दशो भूतगणो य एष
तत्र स्थिता येऽखिलभूतसङ्घाः ।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥ ५५ ॥

इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धासमन्वितः ।
भुवि सर्वोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः ॥ ५६ ॥

श्वचाण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यान्नरेश्वर ।
ये चान्ये पतिताः केचिदपुत्राः सन्ति मानवाः ॥५७॥

यह जो चौदह प्रकार का भूत समुदाय है उसमें जितने भी प्राणिगण अवस्थित हैं उन सबकी तृप्ति के लिए मैंने यह अन्न प्रस्तुत किया है; वे इससे प्रसन्न हों ॥ ५५ ॥ इस प्रकार उच्चारण करके गृहस्थ पुरुष श्रद्धापूर्वक समस्त जीवों के उपकार के लिए पृथिवी में अन्नदान करे, क्योंकि गृहस्थ ही सबका आश्रय है ॥ ५६ ॥ हे नरेश्वर ! तदनन्तर कुत्ता, चाण्डाल, पक्षिगण तथा और जो भी कोई पतित एवं पुत्रहीन पुरुष हों उनकी तृप्ति के लिए पृथिवी में बलिभाग रखे ॥ ५७ ॥

ततो गोदोहमात्रं वै कालं तिष्ठेद् गृहाङ्गणे ।
अतिथिग्रहणार्थाय तदूर्ध्वं तु यथेच्छया ॥ ५८ ॥

अतिथिं तत्र सम्प्राप्तं पूजयेत्स्वागतादिना ।
तथासनप्रदानेन पादप्रक्षालनेन च ॥ ५९ ॥

श्रद्धया चान्नदानेन प्रियप्रश्नोत्तरेण च ।
गच्छतश्चानुयानेन प्रीतिमुत्पादयेद् गृही ॥ ६० ॥

अज्ञातकुलनामानमन्यदेशादुपागतम् ।
पूजयेदतिथिं सम्यङ् नैकग्रामनिवासिनम् ॥ ६१ ॥

अकिञ्चनसम्बन्धमज्ञातकुलशीलिनम् ।
असम्पूज्यातिथिं भुक्त्वा भोक्तुकामं व्रजत्यधः ॥ ६२ ॥

स्वाध्यायगोत्राचरणमपृष्ट्वा च तथा कुलम् ।
हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही ॥ ६३ ॥

पित्रर्थं चापरं विप्रमेकमप्याशयेन्नृप ।
तद्देश्यं विदिताचारसम्भूतिं पाञ्चयज्ञिकम् ॥ ६४ ॥

अन्नाग्रञ्च समुद्धृत्य हन्तकारोपकल्पितम् ।
निर्वापभूतं भूपाल श्रोत्रियायोपपादयेत् ॥ ६५ ॥

फिर गो-दोहन कालपर्यन्त अथवा इच्छानुसार इससे भी कुछ अधिक देर अतिथि ग्रहण करने के लिए घर के आँगन में रहे ॥ ५८ ॥ यदि अतिथि आ जाय तो उसका स्वागतादि से तथा आसन देकर और चरण धोकर सत्कार करे ॥ ५९ ॥ फिर श्रद्धापूर्वक भोजन कराकर मधुर वाणी से प्रश्नोत्तर करके तथा उसके जाने के समय पीछे-पीछे जाकर उसको प्रसन्न करे ॥ ६० ॥ जिसके कुल और नाम का कोई पता न हो तथा, अन्य देश से आया हो उसी अतिथि का सत्कार करे, अपने ही गाँव में रहने वाले पुरुष की अतिथिरूप से पूजा करनी उचित नहीं है ॥ ६१ ॥ जिसके पास कोई सामग्री न हो, जिससे कोई सम्बन्ध न हो, जिसके कुल-शील का कोई पता न हो

और जो भोजन करना चाहता हो उस अतिथि का सत्कार किए बिना भोजन करने से मनुष्य अधोगति को प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥ गृहस्थ पुरुष को चाहिए कि आये हुए अतिथि के अध्ययन, गोत्र, आचरण और कुल आदि के विषय में कुछ भी न पूछकर हिरण्यगर्भ-बुद्धि से उसकी पूजा करे ॥ ६३ ॥ हे नृप ! अतिथि-सत्कार के अनन्तर अपने ही देश के एक और पाञ्चयज्ञिक ब्राह्मण को जिसके आचार और कुल आदि का ज्ञान हो पितृगण के लिए भोजन करावे ॥ ६४ ॥ हे भूपाल ! [मनुष्ययज्ञ की विधि से 'मनुष्येभ्यो हन्त' इत्यादि मन्त्रोच्चारणपूर्वक] पहले ही निकाल कर अलग रखे हुए हन्तकार नामक अन्न से उस श्रोत्रिय ब्राह्मण को भोजन करावे ॥ ६५ ॥

दत्त्वा च भिक्षात्रितयं परिव्राड्ब्रह्मचारिणाम् ।
इच्छया च बुधो दद्याद्विभवे सत्यवारितम् ॥ ६६ ॥

इत्येतेऽतिथयः प्रोक्ताः प्रागुक्ता भिक्षवश्च ये ।
चतुरः पूजयित्वैतान्नृप पापात्प्रमुच्यते ॥ ६७ ॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ ६८ ॥

धाता प्रजापतिः शक्रो वह्निर्वसुगणोऽर्यमा ।
प्रविश्यातिथिमेते वै भुञ्जन्तेऽन्नं नरेश्वर ॥ ६९ ॥

तस्मादतिथिपूजायां यतेत सततं नरः ।
स केवलमघं भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते ह्यतिथिं विना ॥ ७० ॥

ततः स्ववासिनीदुःखिगर्भिणीवृद्धबालकान् ।
भोजयेत्संस्कृतान्नेन प्रथमं चरमं गृही ॥ ७१ ॥

अभुक्तवत्सु चैतेषु भुञ्जन्भुङ्क्ते स दुष्कृतम् ।
मृतश्च गत्वा नरकं श्लेष्मभुग्जायते नरः ॥ ७२ ॥

अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ह्यजपी पूयशोणितम् ।
असंस्कृतान्नभुङ्मूत्रं बालादिप्रथमं शकृत् ॥ ७३ ॥

अहोमी च कृमीन्भुङ्क्ते अदत्त्वा विषमश्नुते ॥ ७४ ॥

इस प्रकार [देवता, अतिथि और ब्राह्मण को] ये तीन भिक्षाएँ देकर, यदि सामर्थ्य हो तो परिव्राजक और ब्रह्मचारियों को भी बिना लौटाये हुए इच्छनुसार भिक्षा दे ॥ ६६ ॥ तीन पहले तथा भिक्षुगण—ये चारों अतिथि कहलाते हैं। हे राजन् ! इन चारों का पूजन करने से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ६७ ॥ जिसके घर से अतिथि निराश होकर लौट जाता है उसे वह अपने पाप देकर उसके शुभकर्मों को ले जाता है ॥ ६८ ॥ हे नरेश्वर ! धाता, प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वसुगण और अर्यमा—ये समस्त देवगण अतिथि में प्रविष्ट होकर अन्न भोजन करते हैं ॥ ६९ ॥ अतः मनुष्य को अतिथि-पूजा के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। जो पुरुष अतिथि के बिना भोजन करता है वह तो केवल पाप ही भोग करता है ॥ ७० ॥ तदनन्तर गृहस्थ पुरुष

पितृगृह में रहने वाली विवाहिता कन्या, दुखिया और गर्भिणी स्त्री तथा वृद्ध और बालकों को संस्कृत अन्न से भोजन कराकर अन्त में स्वयं भोजन करें ॥ ७१ ॥ इन सबको भोजन कराये बिना जो स्वयं भोजन कर लेता है वह पापमय भोजन करता है और अन्त में मर कर नरक में श्लेष्मभोजी कीट होता है ॥ ७२ ॥ जो व्यक्ति स्नान कियें बिना भोजन करता है वह मल भक्षण करता है, जप किए बिना भोजन करनेवाला रक्त और पूय पान करता है, संस्कारहीन अन्न खाने खाने वाला मूत्र पान करता है तथा जो बालक-वृद्ध आदि से पहले आहार करता है वह विष्ठाहारी है। इसी प्रकार बिना होम किए भोजन करनेवाला मानों कीड़ों को खाता है और बिना दान किए खानेवाला विषभोजी है ॥ ७३-७४ ।

तस्माच्छृणुष्व राजेन्द्र यथा भुञ्जीत वै गृही ।
भुञ्जतश्च यथा पुंसः पापबन्धनो न जायते ॥ ७५ ॥

इह चारोग्यविपुलं बलबुद्धिस्तथा नृप ।
भवत्यरिष्टशान्तिश्च वैरिपक्षाभिचारिका ॥ ७६ ॥

स्नातो यथावत्कृत्वा च देवर्षिपितृतर्पणम् ।
प्रशस्तरत्नपाणिस्तु भुञ्जीत प्रयतो गृही ॥ ७७ ॥

कृते जपे हुते वह्नौ शुद्धवस्त्रधरो नृप ।
दत्त्वातिथिभ्यो विप्रेभ्यो गुरुभ्यस्संश्रिताय च ।
पुण्यगन्धश्शस्तमाल्यधारी चैव नरेश्वर ॥ ७८ ॥

एकवस्त्रधरोऽथार्द्रपाणिपादो महीपते ।
विशुद्धवदनः प्रीतो भुञ्जीत न विदिङ्मुखः ॥ ७९ ॥

प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि न चैवान्यमना नरः ।
अन्नं प्रशस्तं पथ्यं च प्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैः ॥ ८० ॥

न कुत्सिताहृतं नैव जुगुप्सावदसंस्कृतम् ।
दत्त्वा तु भक्तं शिष्येभ्यः क्षुधितेभ्यस्तथा गृही ॥८१॥

प्रशस्तशुद्धपात्रे तु भुञ्जीताकुपितो द्विजः ॥ ८२ ॥

नासन्दिसंस्थिते पात्रे नादेशे च नरेश्वर ।
नाकाले नातिसङ्कीर्णे दत्त्वाग्रं च नरोऽग्नये ॥ ८३ ॥

मन्त्राभिमन्त्रितं शस्तं न च पर्युषितं नृप ।
अन्यत्र फलमूलेभ्यश्शुष्कशाखादिकात्तथा ॥ ८४ ॥

तद्वद्धारीतकेभ्यश्च गुडभक्ष्येभ्य एव च ।
भुञ्जीतोद्धृतसाराणि न कदापि नरेश्वर ॥ ८५ ॥

नाशेषं पुरुषोऽश्नीयादन्यत्र जगतीपते ।
मध्वम्बुदधिसर्पिभ्यस्सक्तुभ्यश्च विवेकवान् ॥ ८६ ॥

अतः हे राजेन्द्र ! गृहस्थ को जिस प्रकार भोजन करना चाहिए—जिस प्रकार भोजन करने से पुरुष को पाप-बन्धन नहीं होता तथा इह लोक में अत्यन्त आरोग्य, बल-बुद्धि की प्राप्ति और अरिष्टों की शान्ति होती है और जो शत्रुपक्ष का ह्रास करने वाली है—यह भोजन-विधि सुनो ।। ७५-७६ ।। गृहस्थ को चाहिए कि स्नान करने के अनन्तर यथाविधि देव, ऋषि और पितृगण का तर्पण करके हाथ में रत्न धारण किए पवित्रतापूर्वक भोजन करे ।। ७७ ।। हे ! नृप जप तथा अग्निहोत्र के अनन्तर शुद्ध वस्त्र धारण कर अतिथि, ब्राह्मण गुरुजन और अपने आश्रित (बालक एवं वृद्धों) को भोजन करा सुन्दर सुगन्ध युक्त उत्तम पुष्प माला तथा एक ही वस्त्र धारण किये हाथ-पाँव और मुँह धोकर प्रीतिपूर्वक भोजन करे । हे राजन् ! भोजन के समय इधर-उधर न देखे ।। ७८-७९ ।। मनुष्य को चाहिये कि पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख करके, अन्यमना न होकर उत्तम और पथ्य अन्न को प्रोक्षण के लिए रखे हुए मन्त्रपूत जल से छिड़क कर भोजन करे ।। ८० ।। जो अन्न दुराचारी व्यक्ति का लाया हुआ हो, घृणाजनक हो अथवा बलिवैश्वदेव आदि संस्कारशून्य हो उसको ग्रहण न करे । हे द्विज ! गृहस्थ पुरुष अपने खाद्य में से कुछ अंश अपने शिष्य तथा अन्य भूखे-प्यासों को देकर उत्तम और शुद्ध पात्र में शान्त चित्त से भोजन करे ।। ८१-८२ ।। हे नरेश्वर ! किसी बेत आदि के आसन (कुर्सी आदि) पर रखे हुए पात्र में, अयोग्य स्थान में, असमय (सन्ध्या आदि काल) में अथवा अत्यन्त संकुचित स्थान में कभी भोजन न करे । मनुष्य को चाहिये कि [परोसे हुए भोजन का] अग्र भाग अग्नि को देकर भोजन करे ।। ८३ ।। हे नृप ! जो अन्न मन्त्रपूत और प्रशस्त हो तथा जो बासी न हो उसी को भोजन करे । परन्तु फल, मूल और सूखी शाखाओं को तथा बिना पकाए हुए लेह्य (चटनी) आदि और गुड़ के पदार्थों के लिये ऐसा नियम नहीं है । हे नरेश्वर ! सारहीन पदार्थों को कभी न खाय ।। ८४-८५ ।। हे पृथिवीपते ! विवेकी पुरुष मधु, जल, दही, घी और सत्तू के सिवा और किसी पदार्थ को पूरा न खाय ।। ८६ ।।

अश्नीयात्तन्मयो भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम् ।
लवणाम्लौ तथा मध्ये कटुतिक्तादिकांस्ततः ।। ८७ ।।

प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नीयान्मध्ये कठिनभोजनः ।
अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलरोग्ये न मुञ्चति ।। ८८ ।।

अनिन्द्यं भक्षयेदित्थं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।
पञ्चग्रासं महामौनं प्राणाद्याप्यायनं हि तत् ।। ८९ ।।

भुक्त्वा सम्यगथाचम्य प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
यथावत्पुनराचामेत्पाणी प्रक्षाल्य मूलतः ।। ९० ।।

भोजन एकाग्रचित्त होकर करे तथा प्रथम मधुर-रस, फिर लवण और अम्ल (खट्टा) रस तथा अन्त में कटु और तीखे पदार्थों को खाय ।। ८७ ।। जो पुरुष पहले द्रव पदार्थों को, बीच में कठिन वस्तुओं को तथा अन्त में फिर द्रव पदार्थों को ही खाता है वह कभी बल तथा आरोग्य से हीन नहीं होता ।। ८८ ।। इस प्रकार वाणी का संयम

करके अनिषिद्ध अन्न भोजन करे। अन्न की निन्दा न करे। प्रथम पाँच ग्रास अत्यन्त मौन होकर ग्रहण करे, उनसे पञ्चप्राणों की तृप्ति होती है ॥ ८९ ॥ भोजन के अनन्तर भली प्रकार आचमन करे और फिर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके हाथों को उनके मूल देश तक धोकर विधिपूर्वक आचमन करे ॥ ९० ॥

स्वस्थः प्रशान्तचित्तस्तु कृतासनपरिग्रहः।
अभीष्टदेवतानां तु कुर्वीत स्मरणं नरः ॥ ९१ ॥

अग्निराप्याययेद्धातुं पार्थिवं पवनेरितः।
दत्तावकाशं नभसा जरयत्वस्तु मे सुखम् ॥ ९२ ॥

अन्नं बलाय मे भूमेरपामग्न्यनिलस्य च।
भवत्येतत्परिणतं ममास्त्वव्याहतं सुखम् ॥ ९३ ॥

प्राणापानसमानानामुदानव्यानयोस्तथा।
अन्नं पुष्टिकरं चास्तु ममाप्यव्याहतं सुखम् ॥ ९४ ॥

अगस्तिरग्निर्बडवानलश्च
भुक्तं मयान्नं जरयत्वशेषम्।
सुखं च मे तत्परिणामसम्भवं
यच्छन्त्वरोगो मम चास्तु देहे ॥ ९५ ॥

विष्णुस्समस्तेन्द्रियदेहदेही
प्रधानभूतो भगवान्यथैकः।
सत्येन तेनात्तमशेषमन्न-
मारोग्यदं मे परिणाममेतु ॥ ९६ ॥

विष्णुरत्ता तथैवान्नं परिणामश्च वै तथा।
सत्येन तेन मद्भुक्तं जीर्यत्वन्नमिदं तथा ॥ ९७ ॥

इत्युच्चार्य स्वहस्तेन परिमृज्य तथोदरम्।
अनायासप्रदायीनि कुर्यात्कर्माण्यतन्द्रितः ॥ ९८ ॥

सच्छास्त्रादिविनोदेन सन्मार्गादविरोधिना।
दिनं नयेत्ततस्सन्ध्यामुपतिष्ठेत्समाहितः ॥ ९९ ॥

तदनन्तर, स्वस्थ और शान्त-चित्त से आसन पर बैठकर अपने इष्टदेवों का चिन्तन करे ॥ ९१ ॥ [और इस प्रकार कहे—] "[प्राणरूप] पवन से प्रज्वलित हुआ जठराग्नि आकाश के द्वारा अवकाशयुक्त अन्न का परिपाक करे और (फिर अन्न रस से) मेरे शरीर के पार्थिव धातुओं को पुष्ट करे जिससे मुझे सुख प्राप्त होता हो ॥ ९१ ॥ यह अन्न मेरे शरीरस्थ पृथिवी, जल, अग्नि और वायु का बल बढ़ाने वाला हो और इन चारों तत्त्वों के रूप में परिणत हुआ यह अन्न ही मुझे निरन्तर सुख देने वाला हो ॥ ९३ ॥ यह अन्न मेरे प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान की पुष्टि करे तथा मुझे भी निर्बाध सुख की प्राप्ति हो ॥९४॥ मेरे खाये हुए सम्पूर्ण अन्न का अगस्ति नामक

अग्नि और बडवानल परिपाक करें, मुझे उसके परिणाम से होने वाला सुख प्रदान करें और उससे मेरे शरीर को आरोग्यता प्राप्त हो ॥ ९५ ॥ 'देह और इन्द्रियादि के अधिष्ठाता एकमात्र भगवान् विष्णु ही प्रधान हैं'—इस सत्य के बल से मेरा खाया हुआ समस्त अन्न परिपक होकर मुझे आरोग्यता प्रदान करे ॥ ९६ ॥ 'भोजन करने वाला, भोज्य अन्न और उसका परिपाक—ये सब विष्णु ही हैं'—इस सत्य भावना के बल से मेरा खाया हुआ यह अन्न पच जाय" ॥ ९७ ॥ ऐसा कहकर अपने उदर पर हाथ फेरे और सावधान होकर अधिक श्रम उत्पन्न न करने वाले कार्यों में लग जाय ॥ ९८ ॥ सच्छास्त्रों का अवलोकन आदि सन्मार्ग के अविरोधी विनोदों से शेष दिन को व्यतीत करे और फिर सायंकाल के समय सावधानतापूर्वक सन्ध्योपासना करे ॥ ९९ ॥

दिनान्तसन्ध्यां सूर्येण पूर्वामृक्षैर्युतां बुधः।
उपतिष्ठेद्यथान्याय्यं सम्यगाचम्य पार्थिव ॥ १०० ॥
सर्वकालमुपस्थानं सन्ध्ययोः पार्थिवेष्यते।
अन्यत्र सूतकाशौचविभ्रमातुरभीतितः ॥ १०१ ॥
सूर्येणाभ्युदितो यश्च त्यक्तः सूर्येण वा स्वपन्।
अन्यत्रातुरभावात्तु प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥ १०२ ॥
तस्मादनुदिते सूर्ये समुत्थाय महीपते।
उपतिष्ठेन्नरस्सन्ध्यामस्वपंश्च दिनान्तजाम् ॥ १०३ ॥
उपतिष्ठन्ति वै सन्ध्यां ये न पूर्वां न पश्चिमाम्।
व्रजन्ति ते दुरात्मानस्तामिस्रं नरकं नृप ॥ १०४ ॥

हे राजन्! बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि सायंकाल के समय सूर्य के रहते हुए और प्रातः काल तारागण के चमकते हुए ही भली प्रकार आचमनादि करके विधिपूर्वक सन्ध्योपासन करे ॥१००॥ हे पार्थिव! सूतक (पुत्र-जन्मादि से होनेवाला अशुचिता),अशोच मृत्युसे होने वाली अशुचिता), उन्माद, रोग और भय आदि कोई बाधा न हो तो प्रतिदिन ही सन्ध्योपासन करना चाहिए ॥ १०१ ॥ जो पुरुष रुग्णावस्था को छोड़ कर और कभी सूर्य के उदय अथवा अस्त के समय सोता है वह प्रायश्चित्त का भागी होता है ॥ १०२ ॥ अतः हे महीपते! गृहस्थ पुरुष सूर्योदय से पूर्व ही उठकर प्रातः सन्धा करे और सायंकाल में भी तत्कालीन सन्ध्यावन्दन करे; सोवे नहीं ॥ १०३ ॥ हे नृप! जो पुरुष प्रातः अथवा सायंकालीन सन्ध्योपासन नहीं करते वे दुरात्मा अन्धतामिस्र नरक में पड़ते हैं ॥ १०४ ॥

पुनः पाकमुपादय सायमप्यवनीपते।
वैश्वदेवनिमित्तं वै पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ॥ १०५ ॥
तत्रापि श्वपचादिभ्यस्तथैवान्नविसर्जनम् ॥ १०६ ॥
अतिथिं चागतं तत्र स्वशक्त्या पूजयेद् बुधः।
पादशौचासनप्रह्वस्वागतोक्त्या च पूजनम्।
ततश्चान्नप्रदानेन शयनेन च पार्थिव ॥ १०७ ॥

दिवातिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप।
तदेवाष्टगुणं पुंसस्सूर्योढे विमुखे गते ॥ १०८ ॥
तस्मात्स्वशक्त्या राजेन्द्र सूर्योढमतिथिं नरः।
पूजयेत्पूजिते तस्मिन्पूजितास्सर्वदेवताः ॥ १०९ ॥
अन्नशाकाम्बुदानेन स्वशक्त्या पूजयेत्पुमान्।
शयनप्रस्तरमहीप्रदानैरथवापि तम् ॥ ११० ॥

तदनन्तर, हे पृथिवीपते ! सायंकाल के समय सिद्ध किये हुए अन्न से गृहपत्नी मन्त्रहीन बलिवैश्वदेव करे; उस समय भी उसी प्रकार श्वपच आदि के लिए अन्न-दान किया जाता है ॥ १०५-१०६ ॥ बुद्धिमान् पुरुष उस समय आये हुए अतिथि का भी सामर्थ्यानुसार सत्कार करे। हे राजन् ! प्रथम पाँव धुलाने, आसन देने और स्वागत-सूचक विनम्रवचन कहने से, तथा फिर भोजन कराने और शयन कराने से अतिथि का सत्कार किया जाता है ॥ १०७ ॥ हे नृप ! दिन के समय अतिथि के लौट जाने से जितना पाप लगता है उससे आठगुना पाप सूर्यास्त के समय लौटने से होता है ॥१०८॥ अतः हे राजेन्द्र ! सूर्यास्त के समय आये हुए अतिथि का गृहस्थ पुरुष अपनी सामर्थ्यानुसार अवश्य सत्कार करे क्योंकि उसका पूजन करने से ही समस्त देवताओं का पूजन हो जाता है ॥ १०९ ॥ मनुष्य को चाहिए कि अपनी शक्ति के अनुसार उसे भोजन के लिए अन्न, शाक या जल देकर तथा सोने के लिए शय्या या घास-फूस का बिछौना अथवा पृथिवी ही देकर उसका सत्कार करे ॥ ११० ॥

कृतपादादिशौचस्तु भुक्त्वा सायं ततो गृही।
गच्छेच्छय्यामस्फुटितामपि दारुमयीं नृप ॥ १११ ॥
नाविशालां न वै भग्नां नासमां मलिनां न च।
न च जन्तुमयीं शय्यामधितिष्ठेदनास्तृताम् ॥ ११२ ॥
प्राच्यां दिशि शिरश्शस्तं याम्यायामथ वा नृप।
सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतं तु रोगदम् ॥ ११३ ॥

हे नृप ! तदनन्तर, गृहस्थ पुरुष सायंकाल का भोजन करके तथा हाथ-पाँव धोकर छिद्रादिहीन काष्ठमय शय्या पर लेट जाय ॥ १११ ॥ जो काफी बड़ी न हो, टूटी हुई हो, ऊँची-नीची हो, मलिन हो अथवा जिसमें जीव हों या जिस पर कुछ बिछा हुआ न हो उस शय्या पर न सोवे ॥ ११२ ॥ हे नृप ! सोने के समय सदा पूर्व अथवा दक्षिण की ओर शिर रखना चाहिए। इनके विपरीत दिशाओं की ओर शिर रखने से रोगों की उत्पत्ति होती है ॥ ११३ ॥

ऋतावुपगमश्शस्तस्स्वपत्न्यामवनीपते।
पुन्नामर्क्षे शुभे काले ज्येष्ठायुग्मासु रात्रिषु ॥ ११४ ॥
नाद्यूनां तु स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम्।
नानिष्टां न प्रकुपितां न त्रस्तां न च गर्भिणीम् ॥ ११५ ॥

नादक्षिणां नान्यकामां नाकामां नान्ययोषितम् ।
क्षुत्क्षामां नातिभुक्तां वा स्वयं चैभिर्गुणैर्युतः ॥ ११६ ॥

स्नातस्स्रग्गन्धधृक्प्रीतो नाध्मातः क्षुधितोऽपि वा ।
सकामस्सानुरागश्च व्यवायं पुरुषो व्रजेत् ॥ ११७ ॥

हे पृथिवीपते ! ऋतुकाल में अपनी ही स्त्री से सङ्ग करना उचित है। पुलिङ्ग नक्षत्र में युग्म और उनमें भी पीछे की रात्रियों में शुभ समय में स्त्री-प्रसङ्ग करे ॥११४॥ किन्तु यदि स्त्री अप्रसन्नता, रोगिणी, रजस्वला, निरभिलाषिणी, क्रोधिता, दुःखिनी अथवा गर्भिणी हो तो उसका सङ्ग न करे ॥ ११५ ॥ जो सीधे स्वभाव की न हो, पराभिलाषिणी अथवा निरभिलाषिणी हो, क्षुधार्ता हो, अधिक भोजन किये हुए हो अथवा पर-स्त्री हो उसके पास न जाय; और यदि अपने में ये दोष हों तो भी स्त्री गमन न करे ॥ ११६ ॥ पुरुष को उचित है कि स्नान करने के अनन्तर माला और गन्ध धारण कर काम और अनुरागयुक्त होकर स्त्रीगमन करे। जिस समय अति भोजन किया हो अथवा क्षुधित हो उस समय उसमें प्रवृत्त न हो ॥ ११७ ॥

चतुर्दश्यष्टमी चैव तथामा चाथ पूर्णिमा ।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च ॥ ११८ ॥

तैलस्त्रीमांससम्भोगी सर्वेष्वेतेषु वै पुमान् ।
विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं मृतः ॥ ११९ ॥

अशेषपर्वस्वेतेषु तस्मात्संयमिभिर्बुधैः ।
भाव्यं सच्छास्त्रदेवेज्याध्यानजप्यपरैर्नरैः ॥ १२० ॥

नान्ययोनावयोनौ वा नोपयुक्तौषधस्तथा ।
द्विजदेवगुरूणां च व्यवायी नाश्रमे भवेत् ॥ १२१ ॥

चैत्यचत्वरतीर्थेषु नैव गोष्ठे चतुष्पथे ।
नैव श्मशानोपवने सलिलेषु महीपते ॥ १२२ ॥

प्रोक्तपर्वस्वशेषेषु नैव भूपाल सन्ध्ययोः ।
गच्छेद्व्यवायं मतिमान्न मूत्रोच्चारपीडितः ॥ १२३ ॥

हे राजेन्द्र ! चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा और सूर्य की संक्रान्ति—ये सब पर्वदिन हैं ॥ ११८ ॥ इन पर्व दिनों में तैल, स्त्री अथवा मांस का भोग करने वाला पुरुष मरने पर विष्ठा और मूत्र से भरे नरक में पड़ता है ॥ ११९ ॥ संयमी और बुद्धिमान् पुरुषों को इन समस्त पर्व दिनों में सच्छास्त्रावलोकन, देवोपासना, यज्ञानुष्ठान, ध्यान और जप आदि में लगे रहना चाहिए ॥ १२० ॥ गौ-छाग आदि अन्य योनियों से, अयोनियों से औषध-प्रयोग से अथवा ब्राह्मण, देवता और गुरु के आश्रमों में कभी मैथुन न करे ॥ १२१ ॥ हे पृथिवीपते ! चैत्यवृक्ष के नीचे, आँगन में, तीर्थ में, पशुशाला में, चौराहे पर, श्मशान में, उपवन में अथवा जल में भी मैथुन करना उचित नहीं है ॥ १२२ ॥ हे राजन् ! पूर्वोक्त समस्त पर्वदिनों में प्रातःकाल और सायंकाल में तथा मल-मूत्र के वेग के समय बुद्धिमान् पुरुष मैथुन में प्रवृत्त न हो ॥ १२३ ॥

पर्वस्वभिगमोऽधन्यो दिवा पापप्रदो नृप।
भुवि रोगावहो नृणामप्रशस्तो जलाशये॥ १२४॥

परदारान्न गच्छेच्च मनसापि कथञ्चन।
किमु वाचास्थिबन्धोऽपि नास्ति तेषु व्यवायिनाम्॥ १२५॥

हे नृप! पर्वदिनों में स्त्रीगमन करने से धन की हानि होती है; दिन में करने से पाप होता है, पृथिवी पर करने से रोग होते हैं और जलाशय में स्त्री-प्रसङ्ग करने से अमंगल होता है॥ १२४॥ परस्त्री से तो वाणी से क्या, मन से भी प्रसङ्ग न करे, क्योंकि उनसे मैथुन करनेवालों को अस्थि-बन्धन भी नहीं होता [अर्थात् उन्हें अस्थि-शून्य कीटादि होना पड़ता है]॥ १२५॥

मृतो नरकमभ्येति हीयतेऽत्रापि चायुषः।
परदाररतिः पुंसामिह चामुत्र भीतिदा॥ १२६॥

इति मत्वा स्वदारेषु ऋतुमत्सु बुधो व्रजेत्।
यथोक्तदोषहीनेषु सकामेष्वनृतावपि॥ १२७॥

परस्त्री की आसक्ति पुरुष को इहलोक और परलोक दोनों जगह भय देनेवाली है; इहलोक में उसकी आयु क्षीण हो जाती है और मरने पर वह नरक में जाता है॥ १२६॥ ऐसा जानकर बुद्धिमान् पुरुष उपरोक्त दोषों से रहित अपनी स्त्री से ही ऋतुकाल में प्रसङ्ग करे तथा उसकी विशेष अभिलाषा हो तो बिना ऋतुकाल के भी गमन करे॥ १२७॥

औौर्व उवाच

देवगोब्राह्मणान्सिद्धान्वृद्धाचार्यांस्तथार्चयेत्।
द्विकालं च नमेत्सन्ध्यामग्नीनुपचरेत्तथा॥ १॥

सदाऽनुपहते वस्त्रे प्रशस्ताश्च महौषधीः।
गारुडानि च रत्नानि बिभृयात्प्रयतो नरः॥ २॥

प्रस्निग्धामलकेशश्च सुगन्धश्चारुवेषधृक्।
सितास्सुमनसो हृद्या बिभृयाच्च नरस्सदा॥ ३॥

किञ्चित्परस्वं न हरेन्नाल्पमप्यप्रियं वदेत्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयान्नान्यदोषानुदीरयेत्॥ ४॥

नान्यस्त्रियं तथा वैरं रोचयेत्पुरुषर्षभ।
न दुष्टं यानमारोहेत्कूलच्छायां न संश्रयेत्॥ ५॥

विद्विष्टपतितोन्मत्तबहुवैरादिकीटकैः।
बन्धकी बन्धकीभर्तुः क्षुद्रानृतकथैस्सह॥ ६॥

तथातिव्ययशीलैश्च परिवादरतैश्शठैः।
बुधो मैत्रीं न कुर्वीत नैकः पन्थानमाश्रयेत्॥ ७॥

नावगाहेज्जलौघस्य वेगमग्रे नरेश्वर।
प्रदीप्तं वेश्म न विशेन्नारोहेच्छिखरं तरोः॥ ८॥
न कुर्याद्दन्तसङ्घर्षं कुष्णीयाच्च न नासिकाम्।
नासंवृतमुखो जृम्भेच्छ्वासकासौ विसर्जयेत्॥ ९॥
नोच्चैर्हसेत्सशब्दं च न मुञ्चेत्पवनं बुधः।
नखान्न खादयेच्छिन्द्यान्न तृणं न महीं लिखेत्॥ १०॥
न श्मश्रु भक्षयेल्लोष्टं न मृद्नीयाद्विचक्षणः।
ज्योतींष्यमेध्यशस्तानि नाभिवीक्षेत च प्रभो॥ ११॥
नग्नां परस्त्रियं चैव सूर्यं चास्तमयोदये।
न हुङ्कुर्याच्छवं गन्धं शवगन्धो हि सोमजः॥ १२॥
चतुष्पथं चैत्यतरुं श्मशानोपवनानि च।
दुष्टस्त्रीसन्निकर्षं च वर्जयेन्निशि सर्वदा॥ १३॥
पूज्यदेवद्विजज्योतिश्छायां नातिक्रमेद् बुधः।
नैकश्शून्याटवीं गच्छेत्तथा शून्यगृहे वसेत्॥ १४॥
केशास्थिकण्टकामेध्यबलिभस्मतुषांस्तथा।
स्नानार्द्रधरणीं चैव दूरतः परिवर्जयेत्॥ १५॥
नानार्यानाश्रयेत्कांश्चिन्न जिह्मं रोचयेद् बुधः।
उपसर्पेन्न वै व्यालं चिरं तिष्ठेन्न वोत्थितः॥ १६॥
अतीव जागरस्वप्ने तद्वत्स्नानासने बुधः।
न सेवेत तथा शय्यां व्यायामं च नरेश्वर॥ १७॥
दंष्ट्रिणश्शृङ्गिणश्चैव प्राज्ञो दूरेण वर्जयेत्।
अवश्यायं च राजेन्द्र पुरोवातातपौ तथा॥ १८॥
न स्नायान्न स्वपेन्नग्नो न चैवोपस्पृशेद् बुधः।
मुक्तकेशश्च नाचामेद्देवाद्यर्चां च वर्जयेत्॥ १९॥
होमदेवार्चनाद्यासु क्रियास्वाचमने तथा।
नैकवस्त्रः प्रवर्तेत द्विजवाचनिके जपे॥ २०॥
नासमञ्जसशीलैस्तु सहासीत कथञ्चन।
सद्वृत्तसन्निकर्षो हि क्षणार्द्धमपि शस्यते॥ २१॥
विरोधं नोत्तमैर्गच्छेन्नाधमैश्च सदा बुधः।
विवाहश्च विवादश्च तुल्यशीलैर्नृपेष्यते॥ २२॥
नारभेत कलिं प्राज्ञश्शुष्कवैरं च वर्जयेत्।
अप्यल्पहानिस्सोढव्या वैरेणार्थागमं त्यजेत्॥ २३॥
स्नातो नाङ्गानि सम्मार्जेत्स्नानशाट्या न पाणिना।
न च निर्धूनयेत्केशान्नाचामेच्चैव चोत्थितः॥ २४॥
पादेन नाक्रमेत्पादं न पूज्याभिमुखं नयेत्।
नोच्चासनं गुरोरग्रे भजेताविनयान्वितः॥ २५॥

और्व बोले—गृहस्थ पुरुष को नित्यप्रति देवता, गौ, ब्राह्मण, सिद्धगण, वयोवृद्ध तथा आचार्य की पूजा करनी चाहिए और दोनों समय सन्ध्यावन्दन तथा अग्निहोत्रादि कर्म करने चाहिए ॥ १ ॥ गृहस्थ पुरुष सदा ही संयमपूर्वक रहकर बिना कहीं से कटे हुए दो वस्त्र, उत्तम औषधियाँ और गारुड (मरकत आदि विष नष्ट करने वाले) रत्न धारण करे ॥ २ ॥ वह केशों को स्वच्छ और चिकना रखे तथा सर्वदा सुगन्धयुक्त सुन्दर वेष और मनोहर श्वेतपुष्प धारण करे ॥ ३ ॥ किसी का थोड़ा-सा भी धन हरण न करे और थोड़ा-सा भी अप्रिय भाषण न करे। जो मिथ्या हो ऐसा प्रिय वचन भी कभी न बोले और न कभी दूसरों के दोषों को ही कहे ॥ ४ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! दूसरों की स्त्री अथवा दूसरों के साथ वैर करने में कभी रुचि न करे, निन्दित सवारी में कभी न चढ़े और नदीतीर की छाया का कभी आश्रय न ले ॥ ५ ॥ बुद्धिमान् पुरुष लोकविद्विष्ट, पतित, उन्मत्त और जिसके बहुत से शत्रु हों ऐसे परपीडक पुरुषों के साथ तथा कुलटा, कुलटा के स्वामी, क्षुद्र, मिथ्यावादी अति व्ययशील, निन्दापरायण और दुष्ट पुरुषों के साथ कभी मित्रता न करे और न कभी मार्ग में अकेला चले ॥ ६-७ ॥ हे नरेश्वर ! जल-प्रवाह के वेग में सामने पड़कर स्नान न करे, जलते हुए घर में प्रवेश न करे और वृक्ष की चोटी पर न चढ़े ॥ ८ ॥ दाँतों को परस्पर न घिसे, नाक को न कुरेदे तथा मुख को बन्द किये हुए जमुहाई न ले और न बन्द मुख से खाँसे या श्वास छोड़े ॥ ९ ॥ बुद्धिमान् पुरुष जोर से न हँसे और शब्द करते हुए अधोवायु न छोड़े; तथा नखों को न चबावे, तिनका न तोड़े और पृथिवी पर भी न लिखे ॥ १० ॥

हे प्रभो ! विचक्षण पुरुष मूँछ-दाढ़ी के बालों को न चबावे, दो ढेलों को परस्पर न रगड़े और अपवित्र एवं निन्दित नक्षत्रों को न देखे ॥ ११ ॥ नग्न परस्त्री को और उदय अथवा अस्त होते हुए सूर्य को न देखे तथा शव और शव-गन्ध से घृणा न करे क्योंकि शव-गन्ध सोम का अंश है ॥ १२ ॥ चौराहा, चैत्यवृक्ष, श्मशान, उपवन और दुष्टा स्त्री की समीपता—इन सब का रात्रि के समय सर्वदा त्याग करे ॥ १३ ॥ बुद्धिमान् पुरुष अपने पूजनीय देवता, ब्राह्मण और तेजोमय पदार्थों की छाया को कभी न लाँघे तथा शून्य वनखण्डी और शून्य घर में कभी अकेला न रहे ॥ १४ ॥ केश, अस्थि, कण्टक, अपवित्र वस्तु, बलि, भस्म, तुष तथा स्नान के कारण भींगी हुई पृथिवी का दूर ही से त्याग करे ॥ १५ ॥ प्राज्ञ पुरुष को चाहिए कि अनार्य व्यक्ति का सङ्ग न करे, कुटिल पुरुष में आसक्त न हो, सर्प के पास न जाय और जग पड़ने पर अधिक देर तक लेटा न रहे ॥ १६ ॥ हे नरेश्वर ! बुद्धिमान् पुरुष जागने, सोने, स्नान करने, बैठने, शय्यासेवन करने और व्यायाम करने में अधिक समय न लगावे ॥ १७ ॥ हे राजेन्द्र ! प्राज्ञ पुरुष दाँत और सींगवाले पशुओं को, ओस को तथा सामने की वायु और धूप को सर्वदा परित्याग करे ॥ १८ ॥ नग्न होकर स्नान, शयन और आचमन न करे तथा केश खोल कर आचमन और देव-पूजन न करे ॥ १० ॥ होम तथा देवार्चन आदि क्रियाओं में, आचमन में, पुण्याहवाचन में और जप में एक वस्त्र धारण करके प्रवृत्त न हो ॥ २० ॥ संशयशील व्यक्तियों के साथ कभी न रहे। सदाचारी पुरुषों का तो आधे क्षण का सङ्ग भी अति प्रशंसनीय होता है ॥ २१ ॥ बुद्धिमान् पुरुष उत्तम अथवा

अधम व्यक्तियों से विरोध न करे। हे राजन्! विवाह और विवाद सदा समान व्यक्तियों से ही होना चाहिए ॥ २२ ॥ प्राज्ञ पुरुष कलह न बढ़ावे तथा व्यर्थ वैर का भी त्याग करे। थोड़ी-सी हानि सह ले, किन्तु वैर से कुछ लाभ होता हो उसे भी छोड़ दे ॥ २३ ॥ स्नान करने के अनन्तर स्नान से भींगी हुई धोती अथवा हाथों से शरीर को न पोंछे तथा खड़े-खड़े केशों को न झाड़े और आचमन भी न करे ॥ २४ ॥ पैर के ऊपर पैर न रखे, गुरुजनों के सामने पैर न फैलावे और धृष्टतापूर्वक उनके सामने कभी उच्चासन पर न बैठे ॥ २५ ॥

अपसव्यं न गच्छेच्च देवागारचतुष्पथान्।
माङ्गल्यपूज्यांश्च तथा विपरीतान्न दक्षिणम् ॥ २६ ॥

सोमार्काग्न्यम्बुवायूनां पूज्यानां च न सम्मुखम्।
कुर्यान्निष्ठीवविण्मूत्रसमुत्सर्गं च पण्डितः ॥ २७ ॥

तिष्ठन्न मूत्रयेत्तद्वत्पथिष्वपि न मूत्रयेत्।
श्लेष्मविण्मूत्ररक्तानि सर्वदैव न लङ्घयेत् ॥ २८ ॥

श्लेष्मशिङ्घाणिकोत्सर्गो नान्नकाले प्रशस्यते।
बलिमङ्गलजप्यादौ न होमे न महाजने ॥ २९ ॥

योषितो नावमन्येत न चासां विश्वसेद् बुधः।
न चैवेर्ष्या भवेत्तासु न धिक्कुर्यात्कदाचन ॥ ३० ॥

मङ्गल्यपुष्परत्नाज्यपूज्याननभिवाद्य च।
न निष्क्रमेद् गृहात्प्राज्ञस्सदाचारपरो नरः ॥ ३१ ॥

चतुष्पथान्नमस्कुर्यात्काले होमपरो भवेत्।
दीनानभ्युद्धरेत्साधूनुपासीत बहुश्रुतान् ॥ ३२ ॥

देवालय, चौराहा, माङ्गलिक द्रव्य और पूज्य व्यक्ति—इन सबको बायीं ओर रख कर न निकाले तथा इनके विपरीत वस्तुओं को दायीं ओर रखकर न जाय ॥२६॥ चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, जल, वायु और पूज्य व्यक्तियों के सम्मुख पण्डित पुरुष मल-मूत्र-त्याग न करे और न थूके ही ॥ २७ ॥ खड़े-खड़े अथवा मार्ग में मूत्र-त्याग न करे तथा श्लेष्मा (थूक), विष्ठा, मूत्र और रक्त को कभी न लाँघे ॥ २८ ॥ भोजन, देव-पूजा, माङ्गलिक कार्य और जप-होमादि के समय तथा महापुरुषों के सामने थूकना और छींकना उचित नहीं है ॥ २९ ॥ बुद्धिमान् पुरुष स्त्रियों का अपमान न करे, उनका विश्वास भी न करे तथा उनसे ईर्ष्या और उनका तिरस्कार भी कभी न करे ॥ ३० ॥ सदाचार परायण प्राज्ञ पुरुष माङ्गलिक द्रव्य, पुष्प, रत्न, घृत और पूज्य व्यक्तियों का अभिवादन किए बिना कभी अपने घर से न निकले ॥ ३१ ॥ चौराहों को नमस्कार करे, यथासमय अग्निहोत्र करे, दीन-दुखियों का उद्धार करे और बहुश्रुत साधु पुरुषों का सत्संग करे ॥ ३२ ॥

देवर्षिपूजकस्सम्यक्पितृपिण्डोदकप्रदः ।
सत्कर्ता चातिथीनां यः स लोकानुत्तमान्व्रजेत् ॥ ३३ ॥

हितं मितं प्रियं काले वश्यात्मा योऽभिभाषते ।
स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान्नृपाक्षयान् ॥ ३४ ॥

धीमान्ह्रीमान्क्षमायुक्तो ह्यास्तिको विनयान्वितः ।
विद्याभिजनवृद्धानां याति लोकाननुत्तमान् ॥ ३५ ॥

अकालगर्जितादौ च पर्वस्वाशौचकादिषु ।
अनध्यायं बुधः कुर्यादुपरागादिके तथा ॥ ३६ ॥

शमं नयति यः क्रुद्धान्सर्वबन्धुरमत्सरी ।
भीताश्वासनकृत्साधुस्स्वर्गस्तस्याल्पकं फलम् ॥ ३७ ॥

वर्षातपादिषु च्छत्री दण्डी रात्र्यटवीषु च ।
शरीरत्राणकामो वै सोपानत्कस्सदा व्रजेत् ॥ ३८ ॥

नोर्ध्वं न तिर्यग्दूरं वा न पश्यन्पर्यटेद् बुधः ।
युगमात्रं महीपृष्ठं नरो गच्छेद्विलोकयन् ॥ ३९ ॥

जो पुरुष देवता और ऋषियों की पूजा करता है, पितृगण को पिण्डोदक देता है और अतिथि का सत्कार करता है वह पुण्यलोकों को जाता है ॥ ३३ ॥ जो व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर समयानुसार हित, मित और प्रिय भाषण करता है, हे राजन् ! वह आनन्द के हेतुभूत अक्षय लोकों को प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ बुद्धिमान्, लज्जावान्, क्षमाशील, आस्तिक और विनयी पुरुष विद्वान् और कुलीन पुरुषों के योग्य उत्तम लोकों में जाता है ॥ ३५ ॥ अकाल मेघगर्जन के समय, पर्व-दिनों पर, अशौच काल में तथा चन्द्र और सूर्य-ग्रहण के समय बुद्धिमान् पुरुष अध्ययन न करे ॥ ३६ ॥ जो व्यक्ति क्रोधित को शान्त करता है, सबका बन्धु है, मत्सरशून्य है, भयभीत को सान्त्वना देने वाला है और साधु-स्वभाव है उसके लिए स्वर्ग तो बहुत थोड़ा फल है ॥ ३७ ॥ जिसे शरीर-रक्षा की इच्छा हो वह पुरुष वर्षा और धूप में छाता लेकर निकले, रात्रि के समय और वन में दण्ड लेकर जाय तथा जहाँ कहीं जाना हो, सर्वदा जूते पहन कर जाय ॥ ३८ ॥ बुद्धिमान् पुरुष की ऊपर की ओर, इधर-उधर अथवा दूर के पदार्थों को देखते हुए नहीं चलना चाहिए, केवल युगमात्र (चार हाथ) पृथिवी को देखता हुआ चले ॥ ३९ ॥

दोषहेतूनशेषांश्च वश्यात्मा यो निरस्यति ।
तस्य धर्मार्थकामानां हानिर्नाल्पापि जायते ॥ ४० ॥
सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः ।
पापेऽप्यपापः परुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः ।
मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता ॥ ४१ ॥
ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे ।
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही ॥ ४२ ॥

तस्मात्सत्यं वदेत्प्राज्ञो यत्परप्रीतिकारणम् ।
सत्यं यत्परदुःखाय तदा मौनपरो भवेत् ॥ ४३ ॥

प्रियमुक्तं हितं नैतदिति मत्वा न तद्वदेत् ।
श्रेष्ठस्तत्र हितं वाच्यं यद्यप्यन्तमप्रियम् ॥ ४४ ॥

प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च ।
कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान्भजेत् ॥ ४५ ॥

जो जितेन्द्रिय दोष के समस्त हेतुओं को त्याग देता है उसके धर्म, अर्थ और काम की थोड़ी-सी भी हानि नहीं होती ॥ ४० ॥ जो विद्या-विनय-सम्पन्न, सदाचारी प्राज्ञ पुरुष पापी के प्रति पापमय व्यवहार नहीं करता, कुटिल पुरुषों से प्रिय भाषण करता है तथा जिसका अन्तःकरण मैत्री से द्रवीभूत रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठी में रहती है ॥ ४१ ॥ जो वीतराग महापुरुष कभी काम, क्रोध और लोभादि के वशीभूत नहीं होते तथा सर्वदा सदाचार में स्थित रहते हैं उनके प्रभाव से ही पृथिवी टिकी हुई है ॥ ४२ ॥ अतः प्राज्ञ पुरुष को वही सत्य कहना चाहिए जो दूसरों की प्रसन्नता का कारण हो। यदि किसी सत्य वाक्य के कहने से दूसरों को दुःख होता जाने तो मौन रहे ॥ ४३ ॥ यदि प्रिय वाक्य को भी अहितकर समझे तो उसे न कहे; उस अवस्था में तो हितकर वाक्य ही कहना अच्छा है, भले ही वह अत्यन्त अप्रिय क्यों न हो ॥४४॥ जो कार्य इहलोक और परलोक में प्राणियों के हित का साधक हो मतिमान् पुरुष मन, वचन और कर्म से उसी का आचरण करे ॥ ४५ ॥

और्व उवाच

सचैलस्य पितुः स्नानं जाते पुत्रे विधीयते ।
जातकर्म तदा कुर्याच्छ्राद्धमभ्युदये च यत् ॥ १ ॥

युग्मान्देवांश्च पित्र्यांश्च सम्यक्सव्यक्रमाद् द्विजान् ।
पूजयेद्भोजयेच्चैव तन्मना नान्यमानसः ॥ २ ॥

दध्यक्षतैस्सबदरैः प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
देवतीर्थेन वै पिण्डान्दद्यात्कायेन वा नृप ॥ ३ ॥

नान्दीमुखः पितृगणस्तेन श्राद्धेन पार्थिव ।
प्रीयते तत्तु कर्त्तव्यं पुरुषैस्सर्ववृद्धिषु ॥ ४ ॥

कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशेषु च वेश्मनः ।
नामकर्मणि बालानां चूडाकर्मादिके तथा ॥ ५ ॥

सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने ।
नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्प्रयतो गृही ॥ ६ ॥

पितृपूजाक्रमः प्रोक्तो वृद्धावेष सनातनः ।
श्रूयतामवनीपाल प्रेतकर्मक्रियाविधिः ॥ ७ ॥

और्व बोले—पुत्रके उत्पन्न होने पर पिता को सचैल (वस्त्रों सहित) स्नान करना चाहिए। उसके पश्चात् जात-कर्म-संस्कार और आभ्युदयिक श्राद्ध करने चाहिए॥ १॥ फिर तन्मयभाव से अनन्यचित्त होकर देवता और पितृगण के लिए क्रमशः दायीं और बायीं ओर बिठा कर दो-दो ब्राह्मणों का पूजन करे और उन्हें भोजन करावे॥ २॥ हे राजन्! पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख करके दधि, अक्षत और बदरी फल से बने हुए पिण्डों को देव-तीर्थ या प्रजापति-तीर्थ से दान करे॥ ३॥ हे पृथिवीनाथ! इस आभ्युदयिक श्राद्ध से नान्दीमुख नामक पितृगण प्रसन्न होते हैं अतः सब प्रकार की अभिवृद्धि के समय पुरुषों को इसका अनुष्ठान करना चाहिए॥ ४॥ कन्या और पुत्र के विवाह में, गृह-प्रवेश में, बालकों के नामकरण तथा चूडाकर्म आदि संस्कारों में, सीमन्तोन्नयन-संस्कार में और पुत्र आदि के मुख देखने के समय गृहस्थ पुरुष एकाग्रचित्त से नान्दीमुख नामक पितृगण का पूजन करे॥ ५-६॥ हे पृथिवीपाल! आभ्युदयिक श्राद्ध में पितृपूजा का यह सनातन क्रम तुमको सुनाया, अब प्रेतक्रिया की विधि सुनो॥ ७॥

प्रेतदेहं शुभैः स्नानैस्स्नापितं स्रग्विभूषितम्।
दग्ध्वा ग्रामाद्बहिः स्नात्वा सचैलस्सलिलाशये॥ ८॥
यत्र तत्र स्थितायैतदमुकायेति वादिनः।
दक्षिणाभिमुखा दद्युर्बान्धवास्सलिलाञ्जलीन्॥ ९॥

बन्धु-बान्धवों को चाहिए कि भली प्रकार स्नान कराने के अनन्तर पुष्प-मालाओं से विभूषित शव का गाँव के बाहर दाह करें और फिर जलाशय में वस्त्रसहित स्नान कर दक्षिण-मुख होकर 'यत्र तत्र स्थितायैतदमुकाय' आदि वाक्य का उच्चारण करते हुए जलाञ्जलि दें॥ ८-९॥

प्रविष्टाश्च समं गोभिर्ग्रामं नक्षत्रदर्शने।
कटकर्म ततः कुर्युर्भूमौ प्रस्तरशायिनः॥ १०॥
दातव्योऽनुदिनं पिण्डः प्रेताय भुवि पार्थिव।
दिवा च भक्तं भोक्तव्यममांसं मनुजर्षभ॥ ११॥
दिनानि तानि चेच्छातः कर्तव्यं विप्रभोजनम्।
प्रेता यान्ति तथा तृप्तिं बन्धुवर्गेण भुञ्जता॥ १२॥
प्रथमेऽह्नि तृतीये च सप्तमे नवमे तथा।
वस्त्रत्यागबहिस्स्नाने कृत्वा दद्यात्तिलोदकम्॥ १३॥

तदनन्तर, गोधूलि के समय तारा-मण्डल के दीखने लगने पर ग्राम में प्रवेश करें और कटकर्म (अशौच कृत्य) सम्पन्न करके पृथिवी पर तृणादि की शय्या पर शयन करें॥ १०॥ हे पृथिवीपते! मृत पुरुष के लिए नित्यप्रति पृथिवी पर पिण्डदान करना चाहिए और हे पुरुषश्रेष्ठ! केवल दिन के समय मांसहीन भात खाना चाहिए॥ ११॥ अशौच काल में, यदि ब्राह्मणों की इच्छा हो तो उन्हें भोजन कराना चाहिए, क्योंकि उस समय ब्राह्मण और बन्धुवर्ग के भोजन करने से मृत जीव की तृप्ति होती है॥ १२॥ अशौच के पहले-तीसरे, सातवें अथवा नवें दिन वस्त्र त्याग कर और बहिर्देश में स्नान करके तिलोदक दे॥ १३॥

चतुर्थेऽह्नि च कर्तव्यं तस्यास्थिचयनं नृप।
तदूर्ध्वमङ्गसंस्पर्शस्सपिण्डानामपीष्यते ॥ १४ ॥
योग्यास्सर्वक्रियाणां तु समानसलिलास्तथा।
अनुलेपनपुष्पादिभोगादन्यत्र पार्थिव ॥ १५ ॥
शय्यासनोपभोगश्च सपिण्डानामपीष्यते।
भस्मास्थिचयनादूर्ध्वं संयोगो न तु योषिताम् ॥ १६ ॥
बाले देशान्तरस्थे च पतिते च मुनौ मृते।
सद्यश्शौचं तथेच्छातो जलाग्न्युद्बन्धनादिषु ॥ १७ ॥
मृतबन्धोर्दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते।
दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥ १८ ॥
विप्रस्यैतद् द्वादशाहं राजन्यस्याप्यशौचकम्।
अर्धमासं तु वैश्यस्य मासं शूद्रस्य शुद्धये ॥ १९ ॥
अयुजो भोजयेत्कामं द्विजानन्ते ततो दिने।
दद्याद्दर्भेषु पिण्डं च प्रेतायोच्छिष्टसन्निधौ ॥ २० ॥
वार्यायुधप्रतोदास्तु दण्डश्च द्विजभोजनात्।
स्प्रष्टव्योऽनन्तरं वर्णैः शुद्धेरन्ते ततः क्रमात् ॥ २१ ॥

हे नृप ! अशौच के चौथे दिन अस्थिचयन करना चाहिए; उसके अनन्तर अपने सपिण्ड बन्धुजनों का अंग-स्पर्श किया जा सकता है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! उस समय से समानोदक पुरुष चन्दन और पुष्पधारण आदि क्रियाओं के सिवा [पञ्चयज्ञादि] और सब कर्म कर सकते हैं ॥ १५ ॥ भस्म और अस्थिचयन के अनन्तर सपिण्ड पुरुषों द्वारा शय्या और आसन का उपयोग तो किया जा सकता है किन्तु स्त्री-संसर्ग नहीं किया जा सकता है ॥ १६ ॥ बालक, देशान्तर स्थित व्यक्ति, पतित और तपस्वी के मरने पर तथा जल, अग्नि और उद्बन्धन (फाँसी लगाने) आदि द्वारा आत्मघात करने पर शीघ्र ही अशौच की निवृत्ति हो जाती है ॥ १७ ॥ मृतक के कुटुम्ब का अन्न दश दिन तक न खाना चाहिए तथा अशौच काल में दान, परिग्रह, होम और स्वाध्याय आदि कर्मभी न करने चाहिए ॥१८॥ यह [दश दिन का] अशौच ब्राह्मण का है; क्षत्रिय का अशौच बारह दिन और वैश्य का पन्द्रह दिन रहता है तथा शूद्र की अशौच-शुद्धि एक मास में होती है ॥ १९ ॥ अशौच के अन्त में इच्छानुसार अयुग्म (तीन, पाँच, सात, नौ आदि) ब्राह्मणों को भोजन करावे तथा उनकी उच्छिष्ट (जूठन) के निकट प्रेत की तृप्ति के लिए कुशा पर पिण्ड दान करे ॥ २० ॥ अशौच-शुद्धि हो जाने पर ब्रह्मभोज के अनन्तर ब्राह्मण आदि चारों वर्णों को क्रमशः जल, शस्त्र, प्रतोद (कोड़ा) और लाठी का स्पर्श करना चाहिए ॥ २१ ॥

ततस्स्ववर्णधर्मा ये विप्रादीनामुदाहृताः।
तान्कुर्वीत पुमाञ्जीवेन्निजधर्मार्जनैस्तथा ॥ २२ ॥

तदनन्तर, ब्राह्मण आदि वर्णों के जो-जो जातीय धर्म बतलाये गये हैं उनका आचरण करे; और स्वधर्मानुसार उपार्जित जीविका से निर्वाह करे ॥ २२ ॥

मृताहनि च कर्तव्यमेकोद्दिष्टमतः परम् ।
आह्वानादिक्रियादैवनियोगरहितं हि तत् ॥ २३ ॥
एकोऽर्घ्यस्तत्र दातव्यस्तथैवैकपवित्रकम् ।
प्रेताय पिण्डो दातव्यो भुक्तवत्सु द्विजातिषु ॥ २४ ॥
प्रश्नश्च तत्राभिरतिर्यजमानैर्द्विजन्मनाम् ।
अक्षय्यममुकस्येति वक्तव्यं विरतौ तथा ॥ २५ ॥
एकोद्दिष्टमयो धर्म इत्थमावत्सरात्स्मृतः ।
सपिण्डीकरणं तस्मिन्काले राजेन्द्र तच्छृणु ॥ २६ ॥
एकोद्दिष्टविधानेन कार्यं तदपि पार्थिव ।
संवत्सरेऽथ षष्ठे वा मासे वा द्वादशेऽह्नि तत् ॥ २७ ॥
तिलगन्धोदकैर्युक्तं तत्र पात्रचतुष्टयम् ॥ २८ ॥
पात्रं प्रेतस्य तत्रैकं पैत्रं पात्रत्रयं तथा ।
सेचयेत्पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं ततस्त्रिषु ॥ २९ ॥
ततः पितृत्वमापन्ने तस्मिन्प्रेते महीपते ।
श्राद्धधर्मैरशेषैस्तु तत्पूर्वानर्चयेत्पितॄन् ॥ ३० ॥
पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा भ्राता वा भ्रातृसन्ततिः ।
सपिण्डसन्ततिर्वापि क्रियार्हो नृप जायते ॥ ३१ ॥
तेषामभावे सर्वेषां समानोदकसन्ततिः ।
मातृपक्षसपिण्डेन सम्बद्धा ये जलेन वा ॥ ३२ ॥
कुलद्वयेऽपि चोच्छिन्ने स्त्रीभिः कार्याः क्रिया नृप ॥ ३३ ॥
सङ्घातान्तर्गतैर्वापि कार्याः प्रेतस्य च क्रियाः ।
उत्सन्नबन्धुरिक्थाद्वा कारयेदवनीपतिः ॥ ३४ ॥
पूर्वाः क्रिया मध्यमाश्च तथा चैवोत्तराः क्रियाः ।
त्रिप्रकाराः क्रियाः सर्वास्तासां भेदं शृणुष्व मे ॥ ३५ ॥
आदाहवार्य्यायुधादिस्पर्शाद्यन्तास्तु याः क्रियाः ।
ताः पूर्वा मध्यमा मासि मास्येकोद्दिष्टसंज्ञिताः ॥ ३६ ॥
प्रेते पितृत्वमापन्ने सपिण्डीकरणादनु ।
क्रियन्ते याः क्रियाः पित्र्याः प्रोच्यन्ते ता नृपोत्तराः ॥ ३७ ॥
पितृमातृसपिण्डैस्तु समानसलिलैस्तथा ।
सङ्घातान्तर्गतैर्वापि राज्ञा तद्धनहारिणा ॥ ३८ ॥
पूर्वाः क्रियाश्च कर्तव्याः पुत्राद्यैरेव चोत्तराः ।
दौहित्रैर्वा नृपश्रेष्ठ कार्यास्तत्तनयैस्तथा ॥ ३९ ॥
मृताहनि च कर्तव्याः स्त्रीणामप्युत्तराः क्रियाः ।
प्रतिसंवत्सरं राजन्नेकोद्दिष्टविधानतः ॥ ४० ॥
तस्मादुत्तरसंज्ञायाः क्रियास्ताः शृणु पार्थिव ।
यथा यथा च कर्तव्या विधिना येन चानघ ॥ ४१ ॥

फिर प्रतिमास मृत्यु-तिथि पर एकोद्दिष्ट-श्राद्ध करे जो आवाहनादि क्रिया और विश्वेदेव सम्बन्धी ब्राह्मण के आमन्त्रण आदि से रहित होने चाहिए ॥ २३ ॥ उस समय एक अर्घ्यं और एक पवित्रक देना चाहिए तथा बहुत से ब्राह्मणों के भोजन करने पर भी मृतक के लिए एक ही पिण्ड-दान करना चाहिए ॥ २४ ॥ तदनन्तर, यजमान के 'अभिरम्यताम्' ऐसा कहने पर ब्राह्मणगण 'अभिरताः स्मः' ऐसा कहें और फिर पिण्ड-दान समाप्त होने पर 'अमुकस्य अक्षय्यमिदमुपतिष्ठाम्' इस वाक्य का उच्चारण करें ॥ २५ ॥ इस प्रकार एक वर्ष तक प्रतिमास एकोद्दिष्टकर्म करने का विधान है। हे राजेन्द्र ! वर्ष के समाप्त होने पर सपिण्डीकरण करे; उसकी विधि सुनो ॥ २६ ॥

हे पार्थिव ! इस सपिण्डीकरण कर्म को भी एक वर्ष, छः मास अथवा बारह दिन के अनन्तर एकोद्दिष्टश्राद्ध की विधि से ही करना चाहिए ॥ २७ ॥ इसमें तिल, गन्ध और जल से युक्त चार पात्र रखे। इनमें से एक पात्र मृत-पुरुष का होता है तथा तीन पितृगण के होते हैं। फिर मृत-पुरुष के पात्र स्थित जलादि से पितृगण के पात्रों का सिञ्चन करे ॥ २८-२९ ॥ इस प्रकार मृत-पुरुष को पितृत्व प्राप्त हो जाने पर सम्पूर्ण श्राद्धधर्मों के द्वारा उस मृत-पुरुष से ही आरम्भ कर पितृगण का पूजन करे ॥ ३० ॥ हे राजन् ! पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, भाई, भतीजा अथवा अपनी सपिण्ड सन्तति में उत्पन्न हुआ पुरुष ही श्राद्धादि क्रिया करने का अधिकारी होता है ॥ ३१ ॥ यदि इन सब का अभाव हो तो समानोदक की सन्तति अथवा मातृ-पक्ष के सपिण्ड अथवा समानोदक को इसका अधिकार है ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! मातृकुल और पितृकुल दोनों के नष्ट हो जाने पर स्त्री ही इस क्रिया को करे; अथवा [यदि स्त्री भी न हो तो] साथियों में ही कोई करे या बान्धवहीन मृतक के धन से राजा ही उसके सम्पूर्ण प्रेत-कर्म करे ॥ ३३-३४ ॥ सम्पूर्ण प्रेतकर्म तीन प्रकार के हैं—पूर्वकर्म, मध्यमकर्म तथा उत्तरकर्म। इनके पृथक्-पृथक् लक्षण सुनो ॥ ३५ ॥ दाह से लेकर जल और शस्त्र आदि के स्पर्शपर्यन्त जितने कर्म हैं उनको पूर्वकर्म कहते हैं तथा प्रत्येक मास में जो एकोद्दिष्ट श्राद्ध किया जाता है वह मध्यमकर्म कहलाता है ॥ ३६ ॥ और हे नृप ! सपिण्डीकरण के पश्चात् मृतक व्यक्ति के पितृत्व को प्राप्त हो जाने पर पितृकर्म किये जाते हैं वे उत्तर कर्म कहलाते हैं ॥ ३७ ॥ माता, पिता, सपिण्ड, समानोदक, समूह के लोग अथवा उसके धन का अधिकारी राजा पूर्वकर्म कर सकते हैं; किन्तु उत्तरकर्म केवल पुत्र, दौहित्र आदि अथवा उनकी सन्तान को ही करना चाहिए ॥ ३८-३९ ॥ हे राजन् ! प्रतिवर्ष मरण-दिन पर स्त्रियों का भी उत्तर कर्म एकोद्दिष्ट श्राद्ध की विधि से अवश्य करना चाहिए ॥ ४० ॥ अतः हे अनघ ! उन उत्तरक्रियाओं को जिस-जिसको जिस-जिस विधि से करना चाहिए, वह सुनो ॥ ४१ ॥

और्व उवाच

ब्रह्मेन्द्ररुद्रनासत्यसूर्याग्निवसुमारुतान् ।
विश्वेदेवान्पितृगणान्वयांसि मनुजान्पशून् ॥ १ ॥
सरीसृपानृषिगणान्यच्चान्यद्भूतसंज्ञितम् ।
श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन्प्रीणयत्यखिलं जगत् ॥ २ ॥

मासि मास्यसिते पक्षे पञ्चदश्यां नरेश्वर।
तथाष्टकासु कुर्वीत काम्यान्कालाञ्छृणुष्व मे ॥ ३ ॥

श्राद्धार्हमागतं द्रव्यं विशिष्टमथ वा द्विजम्।
श्राद्धं कुर्वीत विज्ञाय व्यतीपातेऽयने तथा ॥ ४ ॥

विषुवे चापि सम्प्राप्ते ग्रहणे शशिसूर्ययोः।
समस्तेष्वेव भूपाल राशिष्वर्के च गच्छति ॥ ५ ॥

नक्षत्रग्रहपीडासु दुष्टस्वप्नावलोकने।
इच्छाश्राद्धानि कुर्वीत नवसस्यागमे तथा ॥ ६ ॥

अमावास्या यदा मैत्रविशाखास्वातियोगिनी।
श्राद्धैः पितृगणस्तृप्तिं तथाप्नोत्यष्टवार्षिकीम् ॥ ७ ॥

और्व बोले—हे राजन्! श्रद्धासहित श्राद्धकर्म करने से मनुष्य ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, अश्विनीकुमार, सूर्य, अग्नि, वसुगण, मरुद्गण, विश्वेदेव, पितृगण, पक्षी, मनुष्य, पशु, सरीसृप, ऋषिगण तथा भूतगण आदि सम्पूर्ण जगत् को प्रसन्न कर देता है ॥ १-२ ॥ हे नरेश्वर! प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष की पञ्चदशी (अमावास्या) और अष्टका (हेमन्त और शिशिर ऋतुओं के चार महीनों की शुक्ला अष्टमियों) पर श्राद्ध करे। [यह नित्यश्राद्धकाल है] अब काम्यश्राद्ध का काल बतलाता हूं, श्रवण करो ॥ ३ ॥

जिस समय श्राद्धयोग्य पदार्थ या किसी विशिष्ट ब्राह्मण को घर में आया जाने, अथवा जब उत्तरायण या दक्षिणायन का आरम्भ या व्यतीपात हो तब काम्यश्राद्ध का अनुष्ठान करे ॥ ४ ॥ विषुवसंक्रान्ति पर, सूर्य और चन्द्रग्रहण पर, सूर्य के प्रत्येक राशि में प्रवेश करते समय, नक्षत्र अथवा ग्रह की पीडा होने पर, दुःस्वप्न देखने पर और घर में नवीन अन्न आने पर भी काम्यश्राद्ध करे ॥ ५-६ ॥ जो अमावास्या अनुराधा, विशाखा या स्वाति नक्षत्रयुक्ता हो उसमें श्राद्ध करने से पितृगण आठ वर्ष तक तृप्त रहते हैं ॥७॥

अमावास्या यदा पुष्ये रौद्रे चर्क्षे पुनर्वसौ।
द्वादशाब्दं तदा तृप्तिं प्रयान्ति पितरोऽर्चिताः ॥ ८ ॥

वासवाजैकपादर्क्षे पितृणां तृप्तिमिच्छताम्।
वारुणे वाप्यमावास्या देवानामपि दुर्लभा ॥ ९ ॥

नवस्वृक्षेष्वमावास्या यदैतेष्ववनीपते।
तदा हि तृप्तिदं श्राद्धं पितृणां शृणु चापरम् ॥ १० ॥

गीतं सनत्कुमारेण यथैलाय महात्मने।
पृच्छते पितृभक्ताय प्रश्रयावनताय च ॥ ११ ॥

तथा जो अमावास्या पुष्य, आर्द्रा या पुनर्वसु नक्षत्रयुक्त हो उसमें पूजित होने से पितृगण बारह वर्ष तक तृप्त रहते हैं ॥ ८ ॥ जो पुरुष पितृगण और देवगण को तृप्त करना चाहते हों उनके धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा अथवा शतभिषा नक्षत्रयुक्त अमावास्या अति

दुर्लभ है ॥ ९ ॥ हे पृथ्वीपते ! जब अमावास्या इन नौ नक्षत्रों से युक्त होती है उस समय किया हुआ श्राद्ध पितृगण को अत्यन्त तृप्तिदायक होता है। इनके अतिरिक्त पितृभक्त इलापुत्र महात्मा पुरूरवा के अति विनीत भाव से पूछने पर श्रीसनत्कुमारजी ने जिनका वर्णन किया था वे अन्य तिथियाँ भी सुनो ॥ १०-११ ॥

श्रीसनत्कुमार उवाच

वैशाखमासस्य च या तृतीया नवम्यसौ कार्तिकशुक्लपक्षे ।
नभस्यमासस्य च कृष्णपक्षे त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे ॥ १२ ॥

एता युगाद्याः कथिताः पुराणेष्वन्तपुण्यास्तिथयश्चतस्रः ।
उपप्लवे चन्द्रमसो रवेश्च त्रिष्वष्टकास्वप्ययनद्वये च ॥ १३ ॥

पानीयमप्यत्र तिलैर्विमिश्रं दद्यात्पितृभ्यः प्रयतो मनुष्यः ।
श्राद्धं कृतं तेन समासहस्रं रहस्यमेतत्पितरो वदन्ति ॥ १४ ॥

माघेऽसिते पञ्चदशी कदाचिदुपैति योगं यदि वारुणेन ।
ऋक्षेण कालस्स परः पितॄणां न ह्यल्पपुण्यैर्नृपलभ्यतेऽसौ ॥ १५ ॥

काले धनिष्ठा यदि नाम तस्मिन्भवेत्तु भूपाल तदा पितृभ्यः ।
दत्तं जलान्नं प्रददाति तृप्तिं वर्षायुतं तत्कुलजैर्मनुष्यैः ॥ १६ ॥

तत्रैव चेद्भाद्रपदा नु पूर्वा काले यथावत्क्रियते पितृभ्यः ।
श्राद्धं परां तृप्तिमुपेत्य तेन युगं सहस्रं पितरस्स्वपन्ति ॥ १७ ॥

श्रीसनत्कुमारजी बोले—वैशाखमास की शुक्ला तृतीया, कार्तिक शुक्ला नवमी, भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी तथा माघ मास की अमावास्या—इन चार तिथियों को पुराणों में 'युगाद्या' कहा है। ये चारों तिथियाँ अनन्त पुण्यदायिनी हैं। चन्द्रमा या सूर्य के ग्रहण के समय, तीन अष्टकाओं में, अथवा उत्तरायण या दक्षिणायन के आरम्भ में जो पुरुष एकाग्रचित्त से पितृगण को तिलसहित जल भी दान करता है वह मानो एक सहस्र वर्ष के लिए श्राद्ध कर देता है—यह परम रहस्य स्वयं पितृगण ही कहते हैं ॥ १२-१४ ॥ यदि कदाचित् माघ की अमावास्या का शतभिषानक्षत्र से योग हो जाय तो पितृगण की तृप्ति के लिए यह परम उत्कृष्ट काल होता है। हे राजन् ! अल्प पुण्यवान् पुरुषों को ऐसा समय नहीं मिलता ॥ १५ ॥ और यदि उस समय (माघकी अमावास्या में) धनिष्ठा नक्षत्र का योग हो तब तो अपने ही कुल में उत्पन्न हुए पुरुष द्वारा दिये हुए अन्नोदक से पितृगण का दश सहस्र वर्ष तक तृप्ति रहती है ॥ १६ ॥ तथा यदि उसके साथ पूर्वभाद्रपदनक्षत्र का योग हो और उस समय पितृगण के लिए श्राद्ध किया जाय तो उन्हें परम तृप्ति प्राप्त होती है और वे एक सहस्र युग तक शयन करते रहते हैं ॥ १७ ॥

गङ्गां शतद्रूं यमुनां विपाशां सरस्वतीं नैमिषगोमतीं वा।
तत्रावगाह्यार्चनमादरेण कृत्वा पितृणां दुरितानि हन्ति ॥ १८ ॥
गायन्ति चैतत्पितरः कदानु वर्षामघातृप्तिमवाप्य भूयः।
माघासितान्ते शुभतीर्थतोयैर्यास्याम तृप्तिं तनयादिदत्तैः ॥ १९ ॥
चित्तं च वित्तं च नृणां विशुद्धं शस्तश्च कालः कथितो विधिश्च।
पात्रं यथोक्तं परमा च भक्तिर्नृणां प्रयच्छन्त्यभिवाञ्छितानि ॥ २० ॥

गङ्गा, शतद्रू, यमुना, विपाशा, सरस्वती और नैमिषारण्यस्थिता गोमती में स्नान करके पितृगण का आदरपूर्वक अर्चन करने से मनुष्य समस्त पापों को नष्ट कर देता है ॥ १८ ॥ पितृगण सर्वदा यह गान करते हैं कि वर्षाकाल (भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी) के मघा नक्षत्र में तृप्त होकर फिर माघ की अमावस्या को अपने पुत्र-पौत्रादि द्वारा दी गयी पुण्य तीर्थों की जलाञ्जलि से हम कब तृप्ति लाभ करेंगे' ॥ १९ ॥ विशुद्ध चित्त, शुद्ध धन, प्रशस्त काल, उपर्युक्त विधि, योग्य पात्र और परम भक्ति—ये सब मनुष्य को इच्छित फल देते हैं ॥ २० ॥

पितृगीतान्तथैवात्र श्लोकांस्ताञ्छृणु पार्थिव।
श्रुत्वा तथैव भवता भाव्यं तत्रादृतात्मना ॥ २१ ॥
अपि धन्यः कुले जायादस्माकं मतिमान्नरः।
अकुर्वन्वित्तशाठ्यं यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति ॥ २२ ॥
रत्नं वस्त्रं महायानं सर्वभोगादिकं वसु।
विभवे सति विप्रेभ्यो योऽस्मानुद्दिश्य दास्यति ॥ २३ ॥
अन्नेन वा यथाशक्त्या कालेऽस्मिन्भक्तिनम्रधीः।
भोजयिष्यति विप्राग्र्यांस्तन्मात्रविभवो नरः ॥ २४ ॥
असमर्थोऽन्नदानस्य धान्यमामं स्वशक्तितः।
प्रदास्यति द्विजाग्र्येभ्यः स्वल्पाल्पां वापि दक्षिणाम् ॥ २५ ॥
तत्राप्यसामर्थ्ययुतः कराग्राग्रस्थितांस्तिलान्।
प्रणम्य द्विजमुख्याय कस्मैचिद्भूप दास्यति ॥ २६ ॥
तिलैस्सप्ताष्टभिर्वापि समवेतं जलाञ्जलिम्।
भक्तिनम्रस्समुद्दिश्य भुव्यस्माकं प्रदास्यति ॥ २७ ॥
यतः कुतश्चित्सम्प्राप्य गोभ्यो वापि गवाह्निकम्।
अभावे प्रीणयन्नस्माञ्छ्रद्धायुक्तः प्रदास्यति ॥ २८ ॥

हे पार्थिव ! अब तुम पितृगण के गाये हुए कुछ श्लोकों का श्रवण करो उन्हें सुनकर तुम्हें आदरपूर्वक वैसा ही आचरण करना चाहिए ॥ २१ ॥ [पितृगण कहते हैं]—'हमारे कुल में क्या कोई ऐसा मतिमान् धन्य पुरुष उत्पन्न होगा जो वित्तलोलुपता को छोड़कर हमें पिण्डदान देगा ॥ २२ ॥ जो सम्पत्ति होनेपर हमारे उद्देश्य से ब्राह्मणों को रत्न, वस्त्र, यान और सम्पूर्ण भोग सामग्री देगा ॥ २३ ॥ अथवा अन्न-वस्त्र मात्र

वैभव होने से जो श्राद्धकाल में भक्ति-विनम्र चित्त से उत्तम ब्राह्मणों को यथाशक्ति अन्न ही भोजन करायेगा ॥ २४ ॥ या अन्नदान में भी असमर्थ होने पर जो ब्राह्मणश्रेष्ठों को कच्चा धान्य और थोड़ी-सी दक्षिणा ही देगा ॥ २५ ॥ और यदि इसमें भी असमर्थ होगा तो किन्हीं द्विज-श्रेष्ठ को प्रणाम कर एक मुट्ठी तिल ही देगा ॥ २६ ॥ अथवा हमारे उद्देश्य से पृथिवी पर भक्ति-विनम्र चित्त से सात-आठ तिलों से युक्त जलाञ्जलि ही देगा ॥ २७ ॥ और यदि इसका भी अभाव होगा तो कहीं-न-कहीं से एक दिन का चारा लाकर प्रीति और श्रद्धापूर्वक हमारे उद्देश्य से गौ को खिलाएगा ॥ २८ ॥

सर्वाभावे वनं गत्वा कक्षमूलप्रदर्शकः ।
सूर्यादिलोकपालानामिदमुच्चैर्वदिष्यति ॥ २९ ॥

न मेऽस्ति वित्तं न धनं च नान्य-
च्छ्राद्धोपयोग्यं स्वपितन्नतोऽस्मि ।
तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयैतौ
कृतौ भुजौ वर्त्मनि मारुतस्य ॥ ३० ॥

और्व उवाच

इत्येतत्पितृभिर्गीतं भावाभावप्रयोजनम् ।
यः करोति कृतं तेन श्राद्धं भवति पार्थिव ॥ ३१ ॥

तथा इन सभी वस्तुओं का अभाव होने पर जो वन में जाकर अपने कक्षमूल (बगल) को दिखाता हुआ सूर्य आदि दिक्पालों से उच्चस्वर से यह कहेगा—॥ २९ ॥ 'मेरे पास श्राद्ध कर्म के योग्य न वित्त है, न धन है और न कोई अन्य सामग्री है, अतः मैं अपने पितृगण को नमस्कार करता हूँ, वे मेरी भक्ति से ही तृप्ति लाभ करें । मैंने अपनी दोनों भुजाएँ आकाश में उठा रखी हैं'' ॥ ३० ॥

और्व बोले—हे राजन् ! धन के होने अथवा न होने पर पितृगण ने जिस प्रकार बतलाया है वैसा ही जो पुरुष आचरण करता है वह उस आचार से विधिपूर्वक श्राद्ध ही कर देता है ॥ ३१ ॥

और्व उवाच

ब्राह्मणान्भोजयेच्छ्राद्धे यद्गुणांस्तान्निबोध मे ॥ १ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णष्षडङ्गवित् ।
वेदविच्छ्रोत्रियो योगी तथा वै ज्येष्ठसामगः ॥ २ ॥

ऋत्विक्स्वस्रेयदौहित्रजामातृश्वशुरास्तथा ।
मातुलोऽथ तपोनिष्ठः पञ्चाग्न्यभिरतस्तथा ।
शिष्यास्सम्बन्धिनश्चैव मातापितृरतश्च यः ॥ ३ ॥

एतान्नियोजयेच्छ्राद्धे पूर्वोक्तान्प्रथमे नृप ।
ब्राह्मणान्पितृतुष्ट्यर्थमनुकल्पेष्वनन्तरान् ॥ ४ ॥

मित्रध्रुक्कुनखी क्लीबश्श्यावदन्तस्तथा द्विजः ।
कन्यादूषयिता वह्निवेदोज्झस्सोमविक्रयी ॥ ५ ॥

अभिशस्तस्तथा स्तेनः पिशुनो ग्रामयाजकः ।
भृतकाध्यापकस्तद्वद्भृतकाध्यापितश्च यः ॥ ६ ॥

परपूर्वापतिश्चैव मातापित्रोस्तथोज्झकः ।
वृषलीसूतिपोष्टा च वृषलीपतिरेव च ॥ ७ ॥

तथा देवलकश्चैव श्राद्धे नार्हति केतनम् ॥ ८ ॥

औवं बोले—हे राजन् ! श्राद्धकाल में जैसे गुणशील ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए वह बतलाता हूँ, सुनो । त्रिणाचिकेत, त्रिमधु, त्रिसुपर्ण, छहों वेदाङ्गों के जानने वाले, वेदवेत्ता, श्रोत्रिय, योगी और ज्येष्ठसामग; तथा ऋत्विक्, भानजे, दौहित्र, जामाता, श्वसुर, मामा, तपस्वी, पञ्चाग्नि तापने वाले, शिष्य, सम्बन्धी और माता-पिता के प्रेमी इन ब्राह्मणों को श्राद्ध-कर्म में नियुक्त करे । इनमें से (त्रिणाचिकेत आदि) पहले कहे हुओं को पूर्व काल में नियुक्त करे और (ऋत्विक् आदि) पीछे बतलाए हुओं को पितरों की तृप्ति के लिए उत्तर कर्म में भोजन करावे ॥ १-४ ॥ मित्रघाती, स्वभाव से ही विकृत नखों वाला, नपुंसक, काले दाँतों वाला, कन्यागामी, अग्नि और वेद का त्याग करने वाला, सोमरस बेचने वाला, लोकनिन्दित, चोर, चुगलखोर, ग्रामपुरोहित, वेतन लेकर पढ़ाने वाला अथवा पढ़ने वाला, पुनर्विवाहिता का पति, माता-पिता का त्याग करने वाला, शूद्र की सन्तान का पालन करने वाला, शूद्रा का पति तथा देवोपजीवी ब्राह्मण श्राद्ध में निमन्त्रण देने योग्य नहीं है ॥५-८॥

प्रथमेऽह्नि बुधश्शस्ताञ्छ्रोत्रियादीन्निमन्त्रयेत् ।
कथयेच्च तथैवैषां नियोगान्पितृदैविकान् ॥ ९ ॥

ततः क्रोधव्यवायादीनायासं तैर्द्विजैस्सह ।
यजमानो न कुर्वीत दोषस्तत्र महानयम् ॥ १० ॥

श्राद्धे नियुक्तो भुक्त्वा वा भोजयित्वा नियुज्य च ।
व्यवायी रेतसो गर्त्ते मज्जयत्यात्मनः पितॄन् ॥ ११ ॥

तस्मात्प्रथममत्रोक्तं द्विजाग्र्याणां निमन्त्रणम् ।
अनिमन्त्र्य द्विजानेवमागतान्भोजयेद्यतीन् ॥ १२ ॥

श्राद्ध के पहले दिन बुद्धिमान् पुरुष श्रोत्रिय आदि विहित ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे और उनसे यह कह दे कि 'आपको पितृ-श्राद्ध में और आपको विश्वेदेव-श्राद्ध में नियुक्त होना है' ॥ ९ ॥ उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के सहित श्राद्ध करने वाला पुरुष उस दिन क्रोधादि तथा स्त्रीगमन और परिश्रम आदि न करे, क्योंकि श्राद्ध करने में यह महान् दोष माना गया है ॥ १० ॥ श्राद्ध में निमन्त्रित होकर या भोजन करके अथवा निमन्त्रण करके या भोजन कराकर जो पुरुष स्त्री-प्रसंग करता है वह अपने पितृगण को मानो वीर्य के कुण्ड में डुबोता है ॥ ११ ॥ अतः श्राद्ध के प्रथम दिन पहले तो उपरोक्त

गुणविशिष्ट द्विजश्रेष्ठों को निमन्त्रित करे और यदि उस दिन कोई अनिमन्त्रित तपस्वी ब्राह्मण घर आ जायँ तो उन्हें भी भोजन करावे ॥ १२ ॥

पादशौचादिना गेहमागतान्पूजयेद् द्विजान् ॥ १३ ॥
पवित्रपाणिराचान्तानासनेषूपवेशयत् ।
पितृणामयुजो युग्मान्देवानामिच्छया द्विजान् ॥ १४ ॥
देवानामेकमेकं वा पितृणां च नियोजयेत् ॥ १५ ॥
तथा मातामहश्राद्धं वैश्वदेवसमन्वितम् ।
कुर्वीत भक्तिसम्पन्नस्तन्त्रं वा वैश्वदैविकम् ॥ १६ ॥
प्राङ्मुखान्भोजयेद्विप्रान्देवानामुभयात्मकान् ।
पितृमातामहानां च भोजयेच्चाप्युदङ्मुखान् ॥ १७ ॥
पृथक्तयोः केचिदाहुः श्राद्धस्य करणं नृप ।
एकत्रैकेन पाकेन वदन्त्यन्ये महर्षयः ॥ १८ ॥
विष्टरार्थं कुशं दत्त्वा सम्पूज्यार्घ्यं विधानतः ।
कुर्यादावाहनं प्राज्ञो देवानां तदनुज्ञया ॥ १९ ॥
यवाम्बुना च देवानां दद्यादर्घ्यं विधानवित् ।
स्रग्गन्धधूपदीपांश्च तेभ्यो दद्याद्यथाविधि ॥ २० ॥
पितृणामपसव्यं तत्सर्वमेवोपकल्पयेत् ।
अनुज्ञां न ततः प्राप्य दत्त्वा दर्भान्द्विधाकृतान् ॥ २१ ॥
मन्त्रपूर्वं पितृणां तु कुर्याच्चावाहनं बुधः ।
तिलाम्बुना चापसव्यं दद्यादर्घ्यादिकं नृप ॥ २२ ॥

घर आये हुए ब्राह्मणों का पहले पाद-शुद्धि आदि से सत्कार करे; फिर हाथ धोकर उन्हें आचमन कराने के अनन्तर आसन पर बिठावे। अपनी सामर्थ्यानुसार पितृगण के लिये अयुग्म और देवगण के लिये युग्म ब्राह्मण नियुक्त करे अथवा दोनों पक्षों के लिये एक-एक ब्राह्मण की ही नियुक्ति करे ॥ १३-१५ ॥ और इसी प्रकार वैश्वदेव के सहित मातामह-श्राद्ध करे अथवा पितृपक्ष और मातामह-पक्ष दोनों के लिए भक्तिपूर्वक एक ही वैश्वदेव-श्राद्ध करे ॥ १६ ॥ देव-पक्ष के ब्राह्मणों को पूर्वाभिमुख बिठाकर और पितृ-पक्ष तथा मातामह-पक्ष के ब्राह्मणों को उत्तर मुख बिठाकर भोजन करावे ॥ १७ ॥ हे नृप ! कोई तो पितृ-पक्ष और मातामह-पक्ष के श्राद्धों को अलग-अलग करने के लिए कहते हैं और कोई महर्षि दोनों का एकसाथ एक पाक में ही अनुष्ठान करने के पक्ष में हैं ॥ १८ ॥ विज्ञ व्यक्ति प्रथम निमन्त्रित ब्राह्मणों के बैठने के लिए कुशा बिछाकर फिर अर्घ्यदान आदि से विधिपूर्वक पूजा कर उनकी अनुमति से देवताओं का आवाहन करे ॥ १९ ॥ तदनन्तर श्राद्धविधि को जानने वाला पुरुष यव-मिश्रित जल से देवताओं को अर्घ्यदान करे और उन्हें विधिपूर्वक

धूप, दीप, गन्ध तथा माला आदि निवेदन करे ॥ २० ॥ ये समस्त उपचार पितृ गण के लिये अपसव्य भाव से निवेदन करें; और फिर ब्राह्मणों की अनुमति से दो भागों में बँटे हुए कुशाओं का दान करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक पितृगण का आवाहन करे, तथा हे राजन्! अपसव्य-भाव से तिलोदक से अर्घ्यादि दे ॥ २१-२२ ॥

काले तत्रातिथिं प्राप्तमन्नकामं नृपाध्वगम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः कामं तमपि भोजयेत् ॥ २३ ॥
योगिनो विविधै रूपैर्नराणामुपकारिणः ।
भ्रमन्ति पृथिवीमेतामविज्ञातस्वरूपिणः ॥ २४ ॥
तस्मादभ्यर्चयेत्प्राप्तं श्राद्धकालेऽतिथिं बुधः ।
श्राद्धक्रियाफलं हन्ति नरेन्द्रापूजितोऽतिथिः ॥ २५ ॥

हे नृप! उस समय यदि कोइ भूखा पथिक अतिथिरूप से आ जाय तो निमन्त्रित ब्राह्मणों की आज्ञा से उसे भी यथेच्छ भोजन करावे ॥ २३ ॥ अनेक अज्ञात स्वरूप योगिगण मनुष्यों के कल्याण की कामना से नाना रूप धारण कर पृथिवीतल पर विचरते रहते हैं ॥ २४ ॥ अतः विज्ञ पुरुष श्राद्ध-काल में आये हुए अतिथि का अवश्य सत्कार करे। हे नरेन्द्र! उस समय अतिथि का सत्कार न करने से वह श्राद्ध-क्रिया के सम्पूर्ण फल को नष्ट कर देता है ॥ २५ ॥

जुहुयाद्व्यञ्जनक्षारवर्जमन्नं ततोऽनले ।
अनुज्ञातो द्विजैस्तैस्तु त्रिकृत्वः पुरुषर्षभ ॥ २६ ॥
अग्नये कव्यवाहाय स्वाहेत्यादौ नृपाहुतिः ।
सोमाय वै पितृमते दातव्या तदनन्तरम् ॥ २७ ॥
वैवस्वताय चैवान्या तृतीया दीयते ततः ।
हुतावशिष्टमल्पान्नं विप्रपात्रेषु निर्वपेत् ॥ २८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! तदनन्तर उन ब्राह्मणों की आज्ञा से शाक और लवणहीन अन्न से अग्नि में तीन बार आहुति दे ॥ २६ ॥ हे राजन्! उनमें से 'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा' इस मन्त्र से पहली आहुति, 'सोमाय पितृमते स्वाहा' इससे दूसरी और 'वैवस्वताय स्वाहा' इस मन्त्र से तीसरी आहुति दे। तदनन्तर आहुतियों से बचे हुए अन्न को थोड़ा-थोड़ा सब ब्राह्मणों के पात्रों में परोस दे ॥ २७-२८ ॥

ततोऽन्नं मृष्टमत्यर्थमभीष्टमतिसंस्कृतम् ।
दत्त्वा जुषध्वमिच्छातो वाक्यमेतदनिष्ठुरम् ॥ २९ ॥
भोक्तव्यं तैश्च तच्चित्तैर्मौनिभिस्सुमुखैः सुखम् ।
अक्रुद्ध्यता चात्वरता देयं तेनापि भक्तितः ॥ ३० ॥
रक्षोघ्नमन्त्रपठनं भूमेरास्तरणं तिलैः ।
कृत्वा ध्येयास्स्वपितरस्त एव द्विजसत्तमाः ॥ ३१ ॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
मम तृप्तिं प्रयान्त्वद्य विप्रदेहेषु संस्थिताः ॥ ३२ ॥
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
मम तृप्तिं प्रयान्त्वद्य होमाप्यायितमूर्तयः ॥ ३३ ॥
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
तृप्तिं प्रयान्तु पिण्डेन मया दत्तेन भूतले ॥ ३४ ॥
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
तृप्तिं प्रयान्तु मे भक्त्या मयैतत्समुदाहृतम् ॥ ३५ ॥
मातामहस्तृप्तिमुपैतु तस्य
तथा पिता तस्य पिता ततोऽन्यः।
विश्वे च देवाः परमां प्रयान्तु
तृप्तिं प्रणश्यन्तु च यातुधानाः ॥ ३६ ॥
यज्ञेश्वरो हव्यसमस्तकव्य-
भोक्ताव्ययात्मा हरिरीश्वरोऽत्र।
तत्सन्निधानादपयान्तु सद्यो
रक्षांस्यशेषाण्यसुराश्च सर्वे ॥ ३७ ॥

फिर रुचि के अनुकूल अति संस्कार युक्त मधुर अन्न सबको परोसे और अति मृदुल वाणी से कहे कि 'आप भोजन कीजिए' ॥ २९ ॥ ब्राह्मणों को भी तद्गतचित्त और मौन होकर प्रसन्न मुख से सुखपूर्वक भोजन करना चाहिए तथा यजमान को क्रोध और उतावलेपन को छोड़ कर भक्तिपूर्वक परोसते रहना चाहिए ॥ ३० ॥ फिर 'रक्षोघ्न' मन्त्र का पाठ कर श्राद्धभूमि पर तिल छिड़के तथा अपने पितृरूप से उन द्विजश्रेष्ठों का ही चिन्तन करे ॥ ३१ ॥ [और कहे कि] 'इन ब्राह्मणों के शरीर में स्थित मेरे पिता, पितामह और प्रपितामह आदि आज तृप्ति लाभ करें ॥ ३२ ॥ होम द्वारा सबल होकर मेरे पिता, पितामह और प्रपितामह आज तृप्ति लाभ करें ॥ ३३ ॥ मैंने जो पृथिवी पर पिण्ड दान किया है उससे मेरे पिता, पितामह और प्रपितामह तृप्ति लाभ करें ॥ ३४ ॥ [श्राद्धरूप से कुछ भी निवेदन कर सकने के कारण] मैंने भक्ति-पूर्वक जो कुछ कहा है उस मेरे भक्ति-भाव से ही मेरे पिता, पितामह और प्रपितामह तृप्ति लाभ करें ॥ ३५ ॥ मेरे मातामह (नाना), उनके पिता और उनके भी पिता तथा विश्वेदेवगण परम तृप्ति लाभ करें तथा समस्त राक्षसगण नष्ट हों ॥ ३६ ॥ यहाँ समस्त हव्य-कव्य के भोक्ता यज्ञेश्वर भगवान् हरि विराजमान हैं, अतः उनकी सन्निधि के कारण समस्त राक्षस और असुरगण यहाँ से तुरन्त भाग जायँ ॥ ३७ ॥

तृप्तेष्वेतेषु विकिरेदन्नं विप्रेषु भूतले।
दद्यादाचमनार्थाय तेभ्यो वारि सकृत्सकृत् ॥ ३८ ॥
सुतृप्तैस्तैरनुज्ञातस्सर्वेणान्नेन भूतले।
सतिलेन ततः पिण्डान्सम्यग्दद्यात्समाहितः ॥ ३९ ॥

पितृतीर्थेन सतिलं तथैव सलिलाञ्जलिम् ।
मातामहेभ्यस्तेनैव पिण्डांस्तीर्थेन निर्वपेत् ॥ ४० ॥

नक्षिणाग्रेषु दर्भेषु पुष्पधूपादिपूजितम् ।
स्वपित्रे प्रथमं पिण्डं दद्यादुच्छिष्टसन्निधौ ॥ ४१ ॥

पितामहाय चैवान्यं तत्पित्रे च तथापरम् ।
दर्भमूले लेपभुजः प्रीणयेल्लेपघर्षणैः ॥ ४२ ॥

पिण्डैर्मातामहांस्तद्वद्गन्धमाल्यादिसंयुतैः ।
पूजयित्वा द्विजाग्र्याणां दद्याच्चाचमनं ततः ॥ ४३ ॥

पितृभ्यः प्रथमं भक्त्या तन्मनस्को नरेश्वर ।
सुस्वधेत्याशिषा युक्तां दद्याच्छक्त्या च दक्षिणाम् ॥ ४४ ॥

दत्त्वा च दक्षिणां तेभ्यो वाचयेद्वैश्वदेविकान् ।
प्रीयन्तामिह ये विश्वेदेवास्तेन इतीरयेत् ॥ ४५ ॥

तथेति चोक्ते तैर्विप्रैः प्रार्थनीयास्तथाशिषः ।
पश्चाद्विसर्जयेद्देवान्पूर्वं पित्र्यान्महीपते ॥ ४६ ॥

मातामहानामप्येवं सह देवैः क्रमः स्मृतः ।
भोजने च स्वशक्त्या च दाने तद्वद्विसर्जने ॥ ४७ ॥

आपादशौचनात्पूर्वं कुर्याद्द्विजन्मसु ।
विसर्जनं तु प्रथमं पैत्रमातामहेषु वै ॥ ४८ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणों के तृप्त हो जाने पर थोड़ा-सा अन्न पृथिवी पर डाले और आचमन के लिए उन्हें एक-एक बार और जल दे ॥ ३८ ॥ फिर भली प्रकार तृप्त हुए उन ब्राह्मणों की आज्ञा होने पर समाहित चित्त से पृथिवी पर अन्न और तिल के पिण्ड-दान करे ॥ ३९ ॥ और पितृतीर्थ से तिल युक्त जलाञ्जलि दे तथा मातामह आदि को भी उस पितृतीर्थ से ही पिण्ड-दान करें ॥ ४० ॥ ब्राह्मणों की उच्छिष्ट (जूठन) के निकट दक्षिण की ओर अग्रभाग करके बिछाये हुए कुशाओं पर पहले अपने पिता के लिए पुष्प-धूपादि से पूजित पिण्ड-दान करें ॥ ४१ ॥ तत्पश्चात् एक पिण्ड पितामह के लिए और एक प्रपितामह के लिए दे और फिर कुशाओं के मूल में हाथ में लगे अन्न को पोंछ कर ['लेपभागभुजस्तृप्यन्ताम्' ऐसा उच्चारण करते हुए] लेपभोजी पितृगण को तृप्त करे ॥ ४२ ॥ इसी प्रकार गन्ध और मालादियुक्त पिण्डों से मातामह आदि का पूजन कर फिर द्विजश्रेष्ठों को आचमन करावे ॥ ४३ ॥ और हे नरेश्वर ! इसके पीछे भक्ति भाव से तन्मय होकर पहले पितृपक्षीय ब्राह्मणों का 'सुस्वधा' यह आशीर्वाद ग्रहण करता हुआ यथाशक्ति दक्षिणा दे ॥ ४४ ॥ फिर वैश्वदेविक ब्राह्मणों के निकट जा उन्हें दक्षिणा देकर कहें कि 'इस दक्षिणा से विश्वेदेवगण प्रसन्न हों' ॥ ४५ ॥ उन ब्राह्मणों के 'तथास्तु' कहने पर उनसे आशीर्वाद के लिए प्रार्थना करे और फिर पहले पितृपक्ष के और पीछे देवपक्ष के ब्राह्मणों को विदा करे ॥ ४६ ॥ विश्वेदेव-

गण के सहित मातामह आदि के श्राद्ध में भी ब्राह्मण-भोजन, दान और विसर्जन आदि की यही विधि बतलायी गयी है ॥ ४७ ॥ पितृ और मातामह दोनों ही पक्षों के श्राद्धों में पादशौच आदि सभी कर्म पहले देवपक्ष के ब्राह्मणों के करे परन्तु विदा पहले पितृ-पक्षीय अथवा मातामहपक्षीय ब्राह्मणों की ही करे ॥ ४८ ॥

विसर्जयेत्प्रीतिवचस्सम्मान्याभ्यर्थितांस्ततः ।
निवर्त्तेताभ्यनुज्ञात आद्वारंताननुव्रजेत् ॥ ४९ ॥
ततस्तु वैश्वदेवाख्यं कुर्यान्नित्यक्रियां बुधः ।
भुञ्ज्याच्चैव समं पूज्यभृत्यबन्धुभिरात्मनः ॥ ५० ॥

तदनन्तर, प्रीतिवचन और सम्मानपूर्वक ब्राह्मणों को विदा करे और उनके जाने के समय द्वार तक उनके पीछे-पीछे जाय तथा जब वे आज्ञा दें तो लौट आवे ॥ ४९ ॥ फिर विज्ञ पुरुष वैश्वदेव नामक नित्यकर्म करे और अपने पूज्य पुरुष, बन्धुजन तथा भृत्यगण के सहित स्वयं भोजन करे ॥ ५० ॥

एवं श्राद्धं बुधः कुर्यात्पित्र्यं मातामहं तथा ।
श्राद्धैराप्यायिता दद्युस्सर्वान्कामान्पितामहाः ॥ ५१ ॥
त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
रजतस्य तथा दानं कथासङ्कीर्तनादिकम् ॥ ५२ ॥
वर्ज्यानि कुर्वता श्राद्धं क्रोधोऽध्वगमनं त्वरा ।
भोक्तुरप्यत्र राजेन्द्र त्रयमेतन्न शस्यते ॥ ५३ ॥

बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार पैत्र्य और मातामहश्राद्ध का अनुष्ठान करे । श्राद्ध से तृप्त होकर पितृगण समस्त कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं ॥ ५१ ॥ दौहित्र (लड़की का लड़का), कुतप (दिन का आठवाँ मुहूर्त) और तिल—ये तीन तथा चाँदी का दान और उसकी बातचीत करना—ये सब श्राद्धकाल में पवित्र माने गये हैं ॥ ५२ ॥ हे राजेन्द्र ! श्राद्धकर्ता के लिए क्रोध, मार्गगमन और उतावलापन--ये तीन बातें वर्जित हैं; तथा श्राद्ध में भोजन करने वालों को भी इन तीनों का करना उचित नहीं ॥ ५३ ॥

विश्वेदेवास्सपितरस्तथा मातामहा नृप ।
कुलं चाप्यायते पुंसां सर्वं श्राद्धं प्रकुर्वताम् ॥ ५४ ॥
सोमाधारः पितृगणो योगाधारश्च चन्द्रमाः ।
श्राद्धे योगिनियोगस्तु तस्माद्भूपाल शस्यते ॥ ५५ ॥
सहस्रस्यापि विप्राणां योगी चेत्पुरतः स्थितः ।
सर्वान्भोक्तॄंस्तारयति यजमानं तथा नृप ॥ ५६ ॥

हे राजन् ! श्राद्ध करनेवाले पुरुष से विश्वेदेवगण, पितृगण, मातामह तथा कुटुम्बीजन—सभी सन्तुष्ट रहते हैं ॥ ५४ ॥ हे भूपाल ! पितृगण का आधार चन्द्रमा है और चन्द्रमा का आधार योग है, इसलिए श्राद्ध में योगिजन को नियुक्त करना अति उत्तम है ॥ ५५ ॥ हे राजन् ! यदि श्राद्धभोजी एक सहस्र ब्राह्मणों के सम्मुख एक योगी भी हो तो वह यजमान के सहित उन सब का उद्धार कर देता है ॥ ५६ ॥

और्व उवाच

हविष्यमत्स्यमांसैस्तु शशस्य नकुलस्य च ।
सौकरच्छागलैणेयरौरवैर्गवयेन च ॥ १ ॥

औरभ्रगव्यैश्च तथा मासवृद्धया पितामहाः ।
प्रयान्ति तृप्तिं मांसैस्तु नित्यं वार्ध्रीणसामिषैः ॥ २ ॥

खड्गमांसमतीवात्र कालशाकं तथा मधु ।
शस्तानि कर्मण्यत्यन्ततृप्तिदानि नरेश्वर ॥ ३ ॥

गयामुपेत्य यः श्राद्धं करोति पृथिवीपते ।
सफलं तस्य तज्जन्म जायते पितृतुष्टिदम् ॥ ४ ॥

प्रशान्तिकास्सनीवाराश्श्यामाका द्विविधास्तथा ।
वन्यौषधीप्रधानास्तु श्राद्धार्हाः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

यवाः प्रियङ्गवो मुद्गा गोधूमा व्रीहयस्तिलाः ।
निष्पावाः कोविदाराश्च सर्षपाश्चात्र शोभनाः ॥ ६ ॥

और्व बोले—हवि, मत्स्य, शशक (खरगोश), नकुल, शूकर, छाग, कस्तूरिया मृग, कृष्ण मृग, गवय (वनगाय) और मेष के मांसों से तथा गव्य (गौ के दूध-घी आदि) से पितृगण क्रमशः एक-एक मास अधिक तृप्ति लाभ करते हैं और वार्ध्रीण पक्षी के मांस से सदा तृप्त रहते हैं ॥ १-२ ॥ हे नरेश्वर ! श्राद्धकर्म में गेंडे का मांस कालशाक और मधु अत्यन्त प्रशस्त और अत्यन्त तृप्तिदायक हैं ॥ ३ ॥ हे पृथिवीपते ! जो पुरुष गया में जाकर श्राद्ध करता है उसका पितृगण को तृप्ति देनेवाला वह जन्म सफल हो जाता है ॥ ४ ॥ हे पुरुष श्रेष्ठ ! देवधान्य, नीवार और श्याम तथा श्वेत वर्ण के श्यामाक (समा) एवं प्रधान-प्रधान वनौषधियाँ श्राद्ध के उपयुक्त द्रव्य हैं ॥ ५ ॥ जौ, काँगनी, मूँग, गेहूं, धान, तिल, मटर, कचनार और सरसों इन सब का श्राद्ध में होना अच्छा है ॥ ६ ॥

अकृताग्रयणं यच्च धान्यजातं नरेश्वर ।
राजमाषानणूंश्चैव मसूरांश्च विसर्जयेत् ॥ ७ ॥

अलाबुं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं पिण्डमूलकम् ।
गान्धारककरम्बादिलवणान्यौषराणि च ॥ ८ ॥

आरक्ताश्चैव निर्यासाः प्रत्यक्षलवणानि च ।
वर्ज्यान्येतानि वै श्राद्धे यच्च वाचा न शस्यते ॥ ९ ॥

नक्ताहृतमनुच्छिन्नं तृप्यते न च यत्र गौः ।
दुर्गन्धि फेनिलं चाम्बु श्राद्धयोग्यं न पार्थिव ॥ १० ॥

क्षीरमेकशफानां यदौष्ट्रमाविकमेव च ।
मार्गं च माहिषं चैव वर्जयेच्छ्राद्धकर्मणि ॥ ११ ॥

हे राजेश्वर ! जिस अन्न से नवान्न यज्ञ न किया गया हो तथा बड़े उड़द, छोटे उड़द, मसूर, कद्दू, गाजर, प्याज, शलजम, गान्धारक (शालिविशेष) बिना तुष के गिरे हुए धान्य का आटा, ऊसर भूमि में उत्पन्न हुआ लवण, हींग आदि कुछ-कुछ लाल रंग की वस्तुएँ, प्रत्यक्ष लवण और कुछ अन्य वस्तुएँ जिनका शास्त्र में विधान नहीं है श्राद्धकर्म में त्याज्य हैं ॥ ७-९ ॥ हे राजन् ! जो रात्रि के समय लाया गया हो, अप्रतिष्ठित जलाशयका हो, जिसमें गौ तृप्त न हो सकती हो ऐसे गड्ढे का अथवा दुर्गन्ध या फेनयुक्त जल श्राद्ध के योग्य नहीं होता ॥ १० ॥ एक खुरवालों का, ऊँटनी का, भेड़ का, मृगी का तथा भैंस का दूध श्राद्ध-कर्म में काम में न ले ॥ ११ ॥

षण्ढापविद्धचाण्डालपापिपाषण्डिरोगिभिः ।
कृकवाकुश्वनग्नैश्च वानरग्रामसूकरैः ॥ १२ ॥

उदक्यासूतकाशौचिमृतहारैश्च वीक्षिते ।
श्राद्धे सुरा न पितरो भुञ्जते पुरुषर्षभ ॥ १३ ॥

तस्मात्परिश्रिते कुर्याच्छ्राद्धं श्रद्धासमन्वितः ।
उर्व्यां च तिलविक्षेपाद्यातुधानान्निवारयेत् ॥ १४ ॥

नखादिना चोपपन्नं केशकीटादिभिर्नृप ।
न चैवाभिषवैर्मिश्रमन्नं पर्युषितं तथा ॥ १५ ॥

श्रद्धासमन्वितैर्दत्तं पितृभ्यो नामगोत्रतः ।
यदाहारास्तु ते जातास्तदाहारत्वमेति तत् ॥ १६ ॥

श्रूयते चापि पितृभिर्गीता गाथा महीपते ।
इक्ष्वाकोर्मनुपुत्रस्य कलापोपवने पुरा ॥ १७ ॥

अपि नस्ते भविष्यन्ति कुले सन्मार्गशीलिनः ।
गयामुपेत्य ये पिण्डान्दास्यन्त्यस्माकमादरात् ॥ १८ ॥

अपि नस्स कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां वर्षासु च मघासु च ॥ १९ ॥

गौरीं वाप्युद्वहेत्कन्यां नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ।
यजेत वाश्वमेधेन विधिवद्दक्षिणावता ॥ २० ॥

हे पुरुषर्षभ ! नपुंसक, अपविद्ध (सत्पुरुषों द्वारा बहिष्कृत), चाण्डाल, पापी, पाषण्डी, रोगी, कुक्कुट, श्वान, नग्न (वैदिक कर्म को त्याग देनेवाला पुरुष), वानर, ग्राम्यशूकर, रजस्वला-स्त्री, जन्म अथवा मरण के अशौच से युक्त व्यक्ति और शव ले जानेवाले पुरुष—इनमें से किसी की भी दृष्टि पड़ जाने से देवगण अथवा पितृगण कोई भी श्राद्ध में अपना भाग नहीं लेते ॥ १२-१३ ॥ अतः किसी घिरे हुए स्थान में श्रद्धापूर्वक श्राद्धकर्म करे तथा पृथिवी में तिल छिड़क कर राक्षसों को निवृत्त कर दे ॥ १४ ॥

हे राजन् ! श्राद्ध में ऐसा अन्न न दे जिसमें नख, केश या कीड़े आदि हों, या जो निचोड़कर निकाले हुए रस से युक्त हो या बासी हो ॥ १६ ॥ श्रद्धायुक्त व्यक्तियों

द्वारा नाम और गोत्र के उच्चारणपूर्वक दिया हुआ अन्न पितृगण को वे जैसे आहार के योग्य होते हैं वैसा ही होकर उन्हे मिलता है ॥ १६ ॥ हे राजन् ! इस सम्बन्ध में एक गाथा सुनी जाती है जो पूर्वकाल में मनुपुत्र महाराज इक्ष्वाकु के प्रति पितृगण ने कलाप उपवन में कही थी ॥ १७ ॥

'क्या हमारे कुल में ऐसे सन्मार्ग-शील व्यक्ति होंगे जो गया में जाकर हमारे लिए आदरपूर्वक पिण्डदान करेंगे ? ॥ १८ ॥ क्या हमारे कुल में कोई ऐसा पुरुष होगा जो वर्षाकाल की मघा नक्षत्रयुक्त त्रयोदशी को हमारे उद्देश्य से मधु और घृतयुक्त पायस (खीर) का दान करेगा ? ॥ १९ ॥ अथवा गौरी कन्या से विवाह करेगा, नीला वृषभ छोड़ेगा या दक्षिणासहित विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञ करेगा ?' ॥ २० ॥

श्राद्धप्रसङ्ग में विभिन्न शास्त्रीय दृष्टि :—

श्राद्धप्रयोजनमस्य श्रद्धा अण् "ङचूदिभ्य उपसंख्यानम्" पा० ५।१।१० इस वार्तिक से अण् प्रत्यय के द्वारा यह शब्द सिद्ध होता है। शास्त्रविधान से युक्त पितरों के उद्देश्य से किये गये अनुष्ठान को कहा जाता है।

संस्कृतव्यञ्जनाढ्यञ्च पयोदधिघृतान्वितम् ।
श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते ॥

इस पुलस्त्य वचन के अनुसार श्रद्धापूर्वक प्रदत्त संस्कृत अन्नादि श्राद्ध शब्द से कहा जाता है।

वराहपुराण में श्राद्ध के प्रसङ्ग में लिखा गया है कि धरणी ने वराह से जिज्ञासा की कि पितृयज्ञ का क्या प्रयोजन है, किस प्रकार वे पूजित होते हैं और प्रथम किसने यह अनुष्ठान किया था ? वराह ने कहा—मनु के वंश में अत्रेय नामक एक मुनि थे, उनका पुत्र निमि था। इस निमि का धर्मपरायण एक पुत्र था, इसने हजार वर्षों तक तपस्या के बाद पञ्चत्व को प्राप्त किया। अनन्तर निमि ने पुत्र के उद्देश्य से विविध फल आदि उत्तम पदार्थों के द्वारा श्राद्ध किया। उसी समय नारद ने आकर कहा तुम्हारा यह अनुष्ठान पितृयज्ञ है—यह स्वयम्भू मुनि ने कहा था। वहाँ पर इसका विस्तृत विवरण उपलब्ध है, यह श्राद्धोत्पत्ति नामक अध्याय के नाम से प्रसिद्ध है।

मृत्यु के बाद पितरों की प्रेतत्व की प्राप्ति होने पर इस कर्म के द्वारा उनके प्रेतत्व से विमुक्ति होती है। अतः पितृयज्ञ के सम्पादन की दृष्टि से दारसंग्रह अवश्य कर्तव्य माना गया है। श्राद्ध में भोजन के लिए एकमात्र आत्मज्ञानी श्रोत्रिय ब्राह्मण ही अधिकारी है। श्राद्ध में मित्रता प्रयुक्त भोजन को प्रशस्त नहीं माना गया है। इस प्रकार विस्तृत विवरण के साथ भोजन के लिए प्रशस्त विप्रों का वर्णन दिया गया है। गुणसम्पन्न तीन ब्राह्मणों का निमन्त्रण कर भोजन कराना प्रशस्त माना गया है। निमन्त्रित विप्र के शरीर में पितृगण प्रवेश करते हैं, वेदाध्ययन, स्त्रीगमन आदि श्राद्ध तो रात्रि में निषिद्ध माना गया है। श्राद्धकर्ता के लिए भी ब्रह्मचर्य आदि का विधान किया गया है। देव और पितृकार्य में निमन्त्रित व्यक्ति यदि श्राद्ध भोजन एवं ब्रह्मचारी नहीं रहता है तो वह श्राद्धकर्ता के पाप से संलिप्त होता है। (मनु संहिता अ० ३)।

अपने स्थान पर ही श्राद्ध करना चाहिए या भूमिपति को पितरों को भोज्य आदि पदार्थों से सर्वथा परितृप्त करना आवश्यक है या भूमि की दक्षिणा देनी चाहिए। नैमिषारण्य में श्राद्ध करना प्रशस्त है।

परकीयगृहे यस्तु स्वान् पितॄन् तर्पयेज्जडः।
तद्भूमिस्वामिनस्तस्य हरन्ति पितरो बलात्॥

अग्रभागं ततस्तेभ्यो दद्यात् मूल्यञ्च जीवताम्।
श्राद्धस्य पूजितो देशो गया गङ्गा सरस्वती॥

कुरुक्षेत्रं प्रयागश्च नैमिषं पुष्कराणि च। इत्यादि, (श्राद्धतत्त्व) आगे भी "अटव्यः पर्वता पुण्या नद्यस्तीर्थानि यानि च" लिखकर पुण्या अटव्यः नैमिषाद्या यह विवरण किया गया है।

श्राद्ध के समय वास्तुदेव की पूजा करनी चाहिए, अन्यथा राक्षसगण हरण कर लेते हैं। शालग्राम शिला के समक्ष श्राद्ध करने से पितरों को विशेष तृप्ति मिलती है।

शालग्रामशिलाग्रे च यच्छ्राद्धं क्रियते नृभिः।
तस्य ब्रह्मान्तिकं स्थानं तृप्ताश्च पितरो दिवि॥ (श्राद्धतत्त्व)

श्राद्ध के द्वारा पितरों की तृप्ति से अभीष्ट की सिद्धि होती है। वर प्रार्थना कितनी प्रशस्त है—यह इन मन्त्रों के देखने से ही अवागत होता है—

दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् बहुदेयञ्च नोऽस्त्विति॥

अन्नञ्च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि।
याचितारश्च नः सन्त मा च याचिस्म कश्चन॥

अर्थात् हे पितृगण! हमारे कुल में संख्या की वृद्धि हो, अध्ययन-अध्यापन और यागादि के अनुष्ठान से वेदशास्त्रों की सम्यक् आलोचना हो, मेरे पुत्र-पौत्र आदि वंश परम्परा चिरकाल तक विस्तृत हो, वेद पर अटल श्रद्धा रहे जिससे मेरा कुल तिरोहित न हो, दान करने के लिए देय द्रव्यों का कभी असद्भाव न हो, बहुत अन्न हो और अतिथि की प्राप्ति हो। इतना ही नहीं कितनी उदात्त उदार भावना के साथ पितृयज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है, इसका निदर्शन एक ही मन्त्र से हो रहा है क्योंकि, "येऽबान्धवा बान्धावश्च येऽन्यजन्मनि बान्धावाः" सभी की तृप्ति अभीष्ट रहती है, अतः बन्धुत्वभाव का चरम परम उत्कर्ष श्राद्धानुष्ठान में उपलब्ध है। पितृयज्ञ के द्वारा पितरों की तृप्ति होने से वे सभी आपत्तियों के निराकरण में समर्थ होते थे।

महामहोपाध्याय डॉ॰ योगेन्द्रनाथ वागची के सम्मुख किसी जटिल प्रश्नों के समाधान में कठिनाइयाँ उपस्थित होने पर वे अपने पितरों का स्मरण कर उनके समाधान में समर्थ होते थे।

स्वधा शब्द पितरों के उद्देश्य से कहा जाता है, अमरकोषकार ने कहा है पितरों के उद्देश्य से हवि के त्याग में स्वधा शब्द का प्रयोग होता है। "पितृभ्यः स्वधा"

यह प्रयोग भी अतिशय प्रसिद्ध है। पितरों के उद्देश्य से इस शब्द के उच्चारण के लिए पितरों ने वर प्रदान किया है।

ब्रह्मा च मानसीं कन्यां ससृजे तां मनोहराम्।
स्वधाभिधानां सुदतीं लक्ष्मीलक्षणसंयुताम्॥
पितृभ्यस्तां ददौ ब्रह्मा तुष्टेभ्यस्तुष्टिरूपिणीम्।
ब्राह्मणानामुपदेशं चकार लोकनायकः॥
स्वधान्तं मन्त्रमुच्चार्यं पितृभ्यो देहि चेति च।
क्रमेण तेन विप्राश्च पित्रे दानं ददुः पुरा॥ (ब्रह्मवै० पुराण)

स्वधा आत्मनिहिति है, अर्थात् अपने में अपना रहना स्व में स्व की स्थिति। दूसरा भाव "स्वाहा" है। हवन के धूम में अपने को देवता में मिलाने की भावना है। देवता के साथ ऐक्य प्राप्ति। पितृयान और देवयान प्रसिद्ध है। जिसमें मुनिमार्ग और ऋषिमार्ग आभासित है। ऋग्वेद में कहा गया है:—सूर्य द्वार भेदन कर जहाँ जाया जाता है, जो "आनीद् अवातं स्वधया तद् एकम्"। (ऋग्वेद १०।८८।१५।१०।१२९।१७)

अथर्ववेद में श्राद्ध का विशिष्ट वर्णन है। संक्षेप में उसका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—हे यम ! इस कर्म में अङ्गिरा नाम के पितरों के साथ आप यहाँ पधारें, विरूप नामक महर्षि के यज्ञार्ह गोत्रज के साथ आप यहाँ आयें, यहाँ आकर आप तृप्त हों, मैं केवल आपको नहीं आपके पिता दिवस्वान् सूर्य को भी बुला रहा हूँ। आपके साथ वे भी आकर इस विस्तीर्ण कुश के आसन पर बैठ कर हविः स्वीकार करें, अतः आपको बुला रहा हूँ।

"अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरागहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् वर्हिष्यानिषध॥ (अथर्व० १८।१।९)

अनन्तर विशिष्ट राजा के रूप में अवस्थित यमराज का वर्णन कर अपने पितरों के सुख की कामना की गई है।

"हे अग्ने ! तुम इस मृत प्रेत को हवि के रूप में स्वीकार कर पितृलोक तक पहुँचा दो, पितामह आदि को जीवन काल तक अग्नि के हविः के रूप में समर्पण नहीं किया जाता है, अतः पितृलोक में स्थित पितर यहाँ के मनुष्यों से भिन्न और समर्थ हैं, आयुष्मान् अपने घर लौट जाय एवं प्रेत सुन्दर तेजस्वी शरीर धारण कर पितृलोक में प्रवेश करें।

"अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो आहुतश्चरति स्वधावान्।
वायुर्वसान उपयातु शेषः सङ्गच्छतां तन्वा सुवर्चाः॥ (अथर्व० १८।९।१९)

इसी प्रकार अनेक मन्त्रों से पितरों के लिए सुखदायक पवन एवं गमन काल में घृत की नहर और शहद की धाराएँ तृप्त्यर्थ कही गई है, पितरों के लिए अग्नि को सम्बोधन कर यह भी कहा गया है कि अग्नि ही उनको जानता है, स्वधाशब्द के उच्चारण से तृप्त होने वाले पितृगण अपने पुत्र-पौत्रों के द्वारा सम्पादित श्राद्ध में पिण्ड ग्रहण करे।

येऽग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितमजुषन्ताम् ॥
(अथर्व० १८।२।५)

शतपथ ब्राह्मण के २।४।२।१९ में श्राद्ध के विषय में विस्तृत समीक्षा उपलब्ध है।

मनु ने पितृगणों का विचार करते हुए कहा है—हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के पुत्र हैं और उनके मरीचि आदि पुत्र है, उन ऋषियों के पुत्र सोमपा आदि पितृगण कहे गये हैं। विराट् के पुत्र सोमसद् साध्यों के पितर और विख्यात मरीचि के पुत्र अग्निष्वात्त देवताओं के पितर हैं। अग्निपक्व चरु, पुरोडाश आदि का आस्वादन करने वाले पितर अग्निष्वात्त कहे जाते हैं, ये इन्द्र आदि देवगण के पितर हैं, मरीचि से उत्पन्न होने के कारण मारीच नाम से भी ये प्रसिद्ध हैं। देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर वर्हिषद् कहे जाते हैं, ये अत्रि ऋषि की सन्तान हैं, ब्राह्मणों के सोमपा, क्षत्रियों के हविर्भुज, वैश्यों के आज्यपा और शूद्रों के सुकाली पितर हैं। आशय यह है कि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में सोमपान करने वाले इन्द्र आदि ही ब्राह्मणों के पितर हैं, क्षत्रियों के चरु, पुरोडाश आदि हवि के ग्रहण करने वाले देवता पितर हैं, वैश्यों के आधार, आज्यभाग, प्रयाज आदि अवान्तर यज्ञीय कर्मों के देवगण पितर हैं और शूद्रों के सुकाली देव पितर हैं, ये समय से यज्ञ आदि के सम्पूर्ण करने में सहायक होते हैं, सोमपा भृगु ऋषि की सन्तान हैं, हविर्भुज अङ्गिरा के पुत्र हैं, आज्यपा पुलस्त्य के पुत्र हैं और सुकाली वसिष्ठ के पुत्र हैं, अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, वर्हिषाद्, अग्निष्वात्त और सौम्य ये भी ब्राह्मणों के पितृगण हैं। मरीचि आदि ऋषिगण से पितृगण, पितृगण से देवता और मनुष्य की उत्पत्ति है, इसी क्रम से अशेष चराचर जगत् की उत्पत्ति है। देवगण से पितर पूर्ववर्ती हैं, अतः पितृगण सम्बद्ध कर्म देव सम्बन्धी अनुष्ठानों से कथमपि न्यून नहीं हैं, क्योंकि जन्मना की दृष्टि से इनकी ज्येष्ठता इनकी श्रेष्ठता का कारण है।

"मनोर्हिरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ मनु० ३।१८४ ॥

विराट् सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ मनु० ३।१८५ ॥

देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता वर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ मनु० ३।१८६ ॥

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपानाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ मनु० ३।१८७ ॥

अग्निदग्धाऽनग्निदग्धान् काव्यान् वर्हिषदस्तथा।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ मनु० ३।१८९ ॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ मनु० ३।१९१

पित्र्य-कर्म के लिये स्वधा शब्द का उच्चारण कर आहुति की जाती है, पिण्ड-दान, जलदान जो भी कृत्य किये जाते हैं, वे अपसव्य होकर किये जाते हैं, बाये हाथ या दोनों हाथों से पितृकार्य नहीं किये जाते हैं, देवकार्य से पूर्व पित्र्यकार्य नहीं होता है, अपितु देवकार्य पूर्व में होने से द्विजातियों के लिए पितृकार्य की पूर्णता मानी जाती है। आशय यह है कि पित्र्यकार्य के अंग के रूप में ही पित्र्यकार्य का सम्पादन होता है। अतः, द्विजाति वर्ग पित्र्य कार्य की रक्षा के लिए अङ्गभूत देव कार्य का प्रथम सम्पादन करें, अन्यथा रक्षाहीन श्राद्ध राक्षस के द्वारा लुप्त हो जाता है। श्राद्ध के आरम्भ में आवाहन और अन्त में विसर्जन देवकार्य के रूप में ही किया जाता है। सामान्य पिता, पितामह आदि का ही ग्रहण होने पर मनुस्मृति का सिद्धान्त सर्वथा सार हीन हो जायगा। इस प्रकार पितरों का विशिष्ट वर्णन स्मृतियों में जो प्राप्त है, वही प्रकृत स्तोत्रों के द्वारा रुचि ने निर्दिष्ट किया है, अतः मार्कण्डेयपुराण का यह अध्याय अतिशय महत्त्वपूर्ण एवं तुलनीय है।

सुमन्तु ने कहा है कि इस जगत् में श्राद्ध की अपेक्षा कल्याणप्रद अन्य कोई अनुष्ठान नहीं है। अतः श्राद्ध का परित्याग नहीं करना चाहिये।

श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः॥

ब्रह्मवैवर्त्त में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—"श्राद्ध-कार्य देवकार्य से अधिक महत्त्वशाली है। इतना सत्य है कि देवकार्य से पित्र्यकार्य साङ्गोपाङ्गता सिद्ध होती है। शुभ कार्य और देवकार्य के पूर्व में नान्दीमुख श्राद्ध का अनुष्ठान किया जाता है।

देवकार्यादपि सदा पितृकार्यं विशिष्यते।
देवताभ्यः पितृणां हि पूर्वमाप्यायनं शुभम्॥

यमस्मृति में कहा है—पितरों, देवों, ब्राह्मणों और अग्नि की जो पूजा करते हैं, वे प्राणिमात्र अन्तरात्मा सन्निहित व्यापक भगवान् विष्णु की ही आराधना करते हैं।

ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्च हुताशनान्।
सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते॥

ब्रह्मपुराण—विधिपूर्वक अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार श्राद्ध करता है, वह ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सभी प्राणियों की तृप्ति प्रदान करता है।

यो वा विधानतः श्राद्धं कुर्यात् स्वविभवोचितम्।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्प्रीणाति मानवः॥

स्कन्दपुराण के नागर खण्ड में कहा गया है—श्राद्ध सम्पादन करते समय प्रयुक्त किसी वस्तु का कोई अंश उच्छिष्ट होने पर व्यर्थ नहीं होता है, अतः, राजन्! श्राद्ध अवश्य करना चाहिए।

श्राद्धे तु क्रियमाणे वै न किञ्चित् व्यर्थतां व्रजेत्।
उच्छिष्टमपि राजेन्द्र! तस्माच्छ्राद्धं समाचरेत्॥

साधन सम्भार न रहने पर भी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक शाक आदि से ही श्राद्ध का अनुष्ठान करे, श्राद्ध करने से परिवार में कोई दुःखी नहीं होता है।—यह ब्रह्म पुराण में कहा गया है।

तस्माच्छाद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति॥

आचार्य आपस्तम्ब ने भी श्राद्ध का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है— "भगवान् मनु ने श्राद्ध शब्द को एक कर्म विशेष का वाचक माना है, इस कर्म को करने से प्रजा का कल्याण होता है। इस कर्म के देवता पितर हैं, ब्राह्मण आहवनीय अग्नि का कार्य करते हैं, जिस प्रकार देवों तक हविः पहुचाने के लिए हविः अग्नि को समर्पित होती है, वैसे ही भोजन ब्राह्मण को समर्पित होता है, इससे पितृगण तृप्त होते हैं। "अथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच, प्रजानिःश्रेयसार्थम्। तत्र पितरो देवताः ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे"। वृहस्पति के वचनानुसार दूध, घी, शहद आदि के विभिन्न पक्वान्न, व्यञ्जन आदि को श्रद्धापूर्वक ब्राह्मण-भोजन ही श्राद्ध है।

"संस्कृतं व्यञ्जनाद्यं च पयोमधुघृतान्वितम्।
श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते॥"

ब्राह्म पुराण के अनुसार श्रद्धापूर्वक पितरों के उद्देश्य से ब्राह्मण को भोजन कराना ही श्रद्ध है।

मरीचि ने कहा है कि प्रेत जिनका सपिण्डीकरण श्राद्ध नहीं हुआ है उनको एवं पितरों को जिनका सपिण्डीकरण श्राद्ध हो चुका है, उनके उद्देश्य से अपना प्रिय भोजन श्रद्धापूर्वक कराना श्राद्ध है।

नृसिंहपुराण में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि दिव्य पितरों, देवताओं, अपने पितरों, ऋषियों और मनुष्यों का हव्य-कव्य आदि के द्वारा श्राद्ध करना चाहिए। अग्नि में हवन करने से देवताओं को और ब्राह्मणों को भोजन कराने से पितरों को हव्य-कव्य प्राप्त होता है। नरकस्थ पितरों का पृथ्वी पर तीन पिण्डों के प्रदान करने से उद्धार होता है।

दिव्यपितृभ्यो देवेभ्यः स्वपितृभ्यस्तथैव च।
दत्त्वा श्राद्धमृषिभ्यश्च मनुष्येभ्यस्तथात्मनः॥

अग्नौ हुतेन देवस्थाः पितृस्थाः द्विजतर्पणैः।
नरकस्थाश्च तृप्यन्ति पिण्डैर्दत्तैस्त्रिभिर्भुवि॥

मनु के अनुसार पितर वसुगण, पितामह रुद्रगण, प्रपितामह आदित्यगण सनातन काल से कहे जाते हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार वसु, रुद्र और आदित्य इन तीन वर्गों में विभक्त पितृगण ही श्राद्ध के देवगण हैं। श्राद्ध में इनके तृप्त होने पर ये श्राद्ध करने वाले के पितरों को भी तृप्त करते हैं।

"वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्राँश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहाँस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥ (मनु० ३।२८४)

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः ।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥ (याज्ञ० आ० २६९)

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहः ॥ (याज्ञ० आ० २६०)

महाभारत के अनुसार पिता, पितामह और प्रपितामह के निमित्त किये जाने वाले पिण्ड में मैं ही विद्यमान रहता हूँ। अन्तर्यामी व्यापक वासुदेव ही इसके ग्राहक होते हैं।

पितापितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
अहमेवात्र विज्ञेयस्त्रिषु पिण्डेषु संस्थितः ॥ (महा० शा० ३४५।२१)

वस्तुतः तेजःस्वरूप पितृगण ही रश्मि के द्वारा इसे ग्रहण कर तृप्त होते हैं। वसु, वसिष्ठ, कश्यप आदि सभी शब्द देव अर्थात् दीप्ति के वाचक हैं।

जिन पितरों का नाम गोत्र रहता है, उनको गोत्र और नाम से बुलाना चाहिए, किन्तु, वसु प्रभृतिका नामगोत्र न होने से उन पितरों देवरूप में माना जाता है। हेमाद्रि आदि निबन्धकारों की दृष्टि से पितरों की दो प्रकार से उत्पत्ति वर्णित है। साक्षात् ब्रह्मासे उत्पन्न प्रथम कोटि के दिव्य पितृगण और ऋषि आदि के क्रम से उत्पन्न दूसरी कोटि के हैं। विष्णुपुराण के अनुसार प्रथम कोटि का वर्णन करते हुए लिखा गया है :—"अनन्तर ब्रह्मा ने आंशिक सत्त्वगुणमय अन्य शरीर-ग्रहण किया जिसे पितृवत् मानकर पितृगण की रचना की। पितृगण की रचना के बाद उस शरीर को छोड़ दिया।

सत्यमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम् ।
पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे ॥ (विष्णु०)

वाराहपुराण के अनुसार "ब्रह्मा परमेष्ठी जब आत्मयोग में लीन हुए तब उनके शरीर से धूमवर्ण की कान्तिवाली तन्मात्राएँ निकलीं, इन्होंने उन तपस्वियों का आकार ग्रहण किया जो ऊपर आकाश में जाकर यह कहकर विचरण करने लगे कि हम क्या खायें, क्या पियें, इन तपस्वियों को अचानक देखकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पितामह ब्रह्म ने उनसे कहा आप लोग गृहस्थों के पितर हैं।

तस्यात्मनि तदा योगं गतस्य परमेष्ठिनः ।
तन्मात्रानिर्ययुर्देहाद् धूमवर्णकृतत्विषः ॥

वायुपुराण के अनुसार अग्नि का नाम ऋत है, यही संवत्सर है, इस ऋत अग्नि से ऋतुएँ उत्पन्न होती हैं और ऋतु से आर्तव नाम के पितर उत्पन्न होते हैं। फलतः, ऋतु पितामह और मास का प्रतिनिधि है। आर्तव इनके पुत्र हैं, इन्हीं को प्रपितामह कहा गया है। ये पाँच वर्ष के देवगण ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं,

संवत्सर आदि शब्द इन्हीं के अभिमानी देवगण के बोधक हैं। संवत्सर प्रजापति या ऋत है। ऋत से ऋतु और ऋतु से सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि है, ऋषियों से पितरों की उत्पत्ति है।

ऋतमग्निस्तु यः प्रोक्तः स तु संवत्सरो मतः।
जज्ञिरे ऋतवस्तस्मात् ऋतुभ्यश्चार्तवस्तथा॥
ऋतुः पितामहा मासा आर्तवाश्चास्य सूनवः।
प्रपितामहाश्च वै देवाः पञ्चाब्दाः ब्रह्मणः स्मृताः॥

ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्माण्ड पुराण में ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न पितर मरीचि आदि ऋषियों के पितर हैं और ब्रह्मा के शरीर से अव्यवहित जिन पितरों की स्थिति है वे मरीचि के पुत्रों से सम्बद्ध हैं।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में पितरों के सात गणों का उल्लेख मिलता है। यथा :— सुभास्वर, वर्हिषद्, अग्निष्वात्त, क्रव्याद, उपहूत, अज्यपा और सुकाली। इनमें तीन मूर्तिहीन और चार मूर्तिमान् हैं। अतः पितृकन्या के द्वारा देखे गये सूक्ष्म पितरों का वर्णन ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में मिलता है। यह पितृकन्या इस व्यभिचार के कारण योगभ्रष्ट होकर गिर पड़ी, यद्यपि उसमें मन की कल्पना के अनुसार रूप बदल लेने की सामर्थ्य थी। ऐसा होते समय उसने अन्य पितरों से प्रार्थना की तो आकाश से गिरते समय त्रसरेणु प्रमाण के तीन विमानों को देखा और उनमें बैठे हुए पितरों को भी देखा, जो अत्यन्त सूक्ष्म आकार के थे और अग्नि के समान प्रकाशमान थे; ऐसा अवगत होता था कि अग्नि का आश्रयभूत था।

वायुपुराण के अनुसार देवताओं के पितृगण, लौकिक पितृगण, सौम्यदेव, याजक, अयाजक और अयोनिज देवगण थे। सभी पितृगण देवता ही हैं। अतः देवता के रूप में भावना करे। हेमाद्रि में "ऋतुरूपा पितरः" इसकी व्याख्या के प्रसङ्ग में शतपथ के वचन को उद्धृत करते हुए कहा है, बड़े-बड़े यज्ञों के सम्पादन करने से शक्ति-सम्पन्न देवताओं ने वृत्रासुर का वध किया। इस युद्ध में जिन असुरों का नाश किया, उनको पितृयज्ञ करके सन्तुष्ट किया, क्योंकि, उन्होंने पितृलोक को प्राप्त किया था। यह पितृयज्ञ वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में व्यक्त होता है और शरद, हेमन्त और शिशिर में उन पितरों को संप्रेरित करता है, सोमरस से तृप्त होने वाले पितर सोमवान्, पके हुए अन्न से जिनकी तृप्ति होती है वे वर्हिषद और जो प्रत्यक्ष रूप में इन दोनों का ग्रहण नहीं करते, अग्नि ही इनके उद्देश्य से पदार्थों को ग्रहण करता है, ये अग्निष्वात्त पितर कहलाते हैं।

महाहविषा ह वै वृत्रं जघ्नुः..........यानेवैषां तस्मिन् संग्रामेऽघ्नस्तन् पितृयज्ञेन समैरयन्त। पितरो वै त आसन्। तस्मात् पितृयज्ञो नाम तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा एते ते ये व्यजयन्त शरद्धेमन्तः शिशिरस्त उ ते यान् पुनः समैरयन्त तद्ये सोमेनेजानास्ते पितरः सोमवन्तोऽथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो वर्हिषदः, ये ततो नान्यतरच्च न यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः। एत उ ते पितरः।; (हेमाद्रि परिशिष्टे अ० १)

ब्रह्मपुराण के अनुसार तिरछे लटके हुए मुखवाले प्राणियों के प्रति ब्रह्मा ने कहा—आप सभी गृहस्थों के पितर बनें, जिनका मुख ऊपर था, वे नान्दीमुख नामक पितर हैं।

"तान् दृष्ट्वा स ब्रह्मा तिर्यक्संस्थान् अधोमुखान्।
भवन्तः पितरः सन्तु सर्वेषां गृहमेधिनाम्।
ऊर्ध्ववक्त्रास्तु ये तत्र ते नान्दीमुखसंज्ञिताः॥"

नन्दिपुराण में कहा गया है—हे वत्स ! ब्रह्मा ने तपस्या के द्वारा पाँच प्रकार की देवयोनियों को पितरों के नाम से निर्मित किया। ये पितर सभी विषयों के ज्ञाता तथा पवित्र मूर्ति के थे। ये अग्निष्वात्त, र्वाहिषद्, काव्य, सुकाली और याम्य हैं। पितृयज्ञ कर्ता इन्हीं पाँच में किसी योनि को प्राप्त करते हैं। स्कन्दपुराण के नागर खण्ड में भी अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, आज्यपा, सोमपा, रश्मिपा, उपहूत, स्वादुषद् और नान्दीमुख ये विभिन्न पितृगण हैं। इनकी उत्पत्ति देवों से होती है। आदित्य, वसु, रुद्र, नासत्य, अश्विनीकुमार ये नान्दीमुख नामक पितरों को छोड़ कर सभी को सन्तुष्ट करते हैं।

मासिक श्राद्ध में भोजन करने वाले पितरों का नाम हारीत में लिखा गया है :—सोम, यम, अङ्गिरा, सोमपा, र्वाहिषद्, अग्निष्वात्त, हुताद नामक षड्विध गण चन्द्रमा, ऋतु, मृतव्यक्तिदाहक अग्नि, सोमोपहूत, प्राक्सोम और अनीजान ब्राह्मण।

वायुपुराण के अनुसार पितरों की दो कोटियाँ हैं :—एक देवताओं के पितर और लौकिक पिता, मनुष्यों के पिता। सौम्य, यज्वा और अयोनिज इन तीनों पितरों की देवगण विधिपूर्वक सेवा करते हैं। मनुष्ययोनि के लौकिक पितर इनसे भिन्न हैं। इनको पिता, पितामह आदि शब्दों से कहा जाता है। सोमरस की आहुति को ग्रहण करनेवाले पितर सोमवान् और कुशा पर कव्य-ग्रहण करने वाले र्वाहिषद् हैं। देह-त्याग के समय यज्ञादि शुभ कर्मों के सम्पादक अग्निष्वात्त है।

देवकार्य और पितृकार्य को न करने वाले, दुरात्मा आदि जो आश्रम-धर्मों से भ्रष्ट होकर स्वधाकार एवं स्वाहाकार से वर्जित हैं, वे भी पितर हैं, वे नरक में या किसी पशुयोनि में रहकर कर्म विपाक का फल भोगते हैं। कतिपय बाह्लीक, ऊष्मपा और दिवाकीर्त्य कहे जाते हैं। इनका कृष्णपक्ष में दिन और शुक्लपक्ष में रात्रि होती है, उस समय ये सो जाते हैं।

स्कन्दपुराण के नागर खण्ड के अनुसार स्वर्ग में रहकर भी जिनका श्राद्ध नहीं किया जाता है, वे दुःखी रहते हैं। जिनका श्राद्ध किया जाता है। वे देव-सुख भोगते हैं।

नन्दिपुराण के अनुसार पितरों की गुह्य संज्ञा है। इस जगत् का दिव्य पिता विष्णु है, जो यज्ञ के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मा पितामह और रुद्र प्रपितामह हैं, अग्निष्वात्त श्राद्ध के अधिष्ठातृदेव हैं, इनकी पूजा देवरूप की भावना से होती है और ये अपूर्व ऐहिक पारलौकिक फल को देते हैं। पितृतर्पण एवं श्राद्ध करने वालों को पिता आदि के स्वरूप निरूपण के द्वारा यह अवगत है। कतिपय पितर प्रसिद्ध नहीं गुप्त रखे गये हैं।

विष्णु को निमित्त बनाकर पितरों को, ब्रह्मा को निमित्त बनाकर पितामहों को, रुद्र को निमित्त बनाकर प्रपितामह को दिव्य मनोरम स्थान की प्राप्ति करता है।

वराहपुराण में पितरों को सम्बोधित कर कहा है—आपलोगों के अधिपति यमराज हैं, सोम अध्यात्म तत्त्व हैं, अग्नि अधियज्ञ तत्त्व है। अग्नि, वायु और सूर्य लोक आपके रहने के स्थान हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये आपके अधिपुरुष हैं, आप योगी हैं, योगमय आपका शरीर है, योगशास्त्र के आधार हैं, क्योंकि नियमपूर्वक योगशास्त्र के विषय का पालन करते हैं। प्राणिमात्र का कल्याण करते हुए आप विचरण करते हैं।

भविष्य पुराण के अनुसार श्राद्धानुष्ठान करने वाला व्यक्ति अविरुद्ध का प्रतिनिधि है। श्राद्धकर्ता का पिता प्रद्युम्न, पितामह सङ्कर्षण और प्रपितामह वासुदेव का प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्मृतियों के अनुसार प्रथम पिण्ड को वरुण का, दूसरे को प्रजापति का, तीसरे को अग्नि का प्रतिनिधि माना गया है।

प्रथमो वरुणः देवः प्राजापत्यस्तथापरः।
तृतीयोऽग्निः स्मृतः पिण्ड एष पिण्डविधिः स्मृतः॥

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार सोमपा पितर अत्यन्त प्रकाशमान् ब्रह्मा के पुत्र हैं, इनकी कोई मूर्ति नहीं हैं और ये ब्रह्मलोक में विचरण करते हैं। वर्हिषद् मरीचि के पुत्र हैं, ये देवलोक में रहते हैं और पूजा करने वाले की सभी कामनाओं की पूर्ति करते हैं। अग्निष्वात्त पितृगण प्रकाशमय लोक में रहते हैं, ये पुलस्त्य ऋषि के पुत्र हैं और मनुष्यों की श्रीवृद्धि करते हैं। क्रव्याद, उपहूत, आज्यपा और सुकाली नाम के पितृगण क्रमशः शुक्र, अंगिरा, कर्दम प्रजापति और वसिष्ठ के पुत्र हैं, ये क्रमशः ज्योतिष्मान्, मरीचि, तेजस्वी और मानस लोक में निवास करते हैं।

मत्स्य और पद्म पुराण के अनुसार मरीचि ऋषि से उत्पन्न पितरों का निवास स्थान सूर्य मण्डल है, जहाँ अंगिरा के पुत्र हविष्मान् नामके पितृगण निवास करते हैं, ये राजाओं के पूज्य पितृगण हैं, ये स्वर्ग और मोक्ष दोनों को देने वाले हैं। सुस्वधानामक पितृगण कर्दम प्रजापति के पुत्र हैं, ये आज्यपा पितृगणों के लोक में निवास करते हैं। ये सनातन लोक हैं यहीं भास्वर पितृगण निवास करते हैं। ब्रह्म पुराण के अनुसार वसिष्ठ प्रजापति के पुत्र सुकाल है, तीनो वर्णों को इनकी पूजा करनी चाहिए। यद्यपि मार्कण्डेय आदि पुराणों के अनुसार शूद्र के पितर कहे गये हैं क्योंकि उत्तम वर्णों की आज्ञा लेकर शूद्र के लिए सभी पितरों की पूजा का विधान है।

सुकाला नाम पितरो वसिष्ठस्य प्रजापतेः।
तेऽपि याज्यास्त्रिभिर्वर्णैर्न शूद्रेण पृथक् श्रुतेः॥
वर्णोत्तमाभ्यनुज्ञातः शूद्रः सर्वान् पितृन् यजेत्।

"शूद्राणां सुकालिनः" इस श्रुति एवं मार्कण्डेय पुराण के अनुसार शूद्रों के लिए सुकाली पूज्य अवगत होते हैं, किन्तु पुराण के द्वारा वेदों का उपबृंहण पूर्वोक्त रूप में किया गया है।

यह सत्य है कि मेधातिथि आदि के अनुसार अग्निष्वात्त आदि पितरों का देवतात्व प्रतिपादन करने वाला वाक्य अर्थवाद है। किन्तु पूर्वोक्त प्रसङ्ग में इनका देवतात्व प्रतिपादन है, अतः "आदित्यो यूपः" के अनुसार आदित्य के प्रतिनिधि के रूप में यूप की प्रशंसा के समान पितरों की प्रशंसा के लिए देवतात्व का आरोप है।

यह आक्षेप कि श्राद्ध वैदिक या स्मार्त कर्म नहीं है, पुराणों की देन है। क्योंकि राजा निमि स्वयं कहता है कि शोकाभिभूत होकर मैंने यह कार्य किया है, मेरी बुद्धि, स्मृति शक्ति नष्ट हो गई थी, मैंने लिखा ही है कि श्राद्ध की इससे पूर्व चर्चा नहीं थी, किन्तु पूर्व कल्प में विद्यमान वेदों के समान ही इसकी स्मृति उद्‌बुद्ध होती है। उसी का निदर्शन वराह पुराण है।

इस संक्षिप्त निरूपण के आधार पर प्रकृत मार्कण्डेय पुराण की चर्चा है और तर्पण आदि की व्यवस्था समर्थित है।

।। इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण के सन्तानबेवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।।



अष्टनवतितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्तस्मान्नदीमध्यात्समुत्तस्थौ मनोरमा ।
प्रम्लोचा नाम तन्वङ्गी तत्समीपे वराप्सराः ।।१।

सा चोवाच महात्मानं रुचिं सुमधुराक्षरम् ।
प्रश्रयावनता सुभ्रूः प्रम्लोचा वै वराप्सराः ।।२।

अतीवरूपिणी कन्या मत्सुतां तपतां वर ।
जाता वरुणपुत्रेण पुष्करेण महात्मना ।।३।

तां गृहाण मया दत्तां भार्य्यार्थे वरवर्णिनीन् ।
मनुर्महामतिस्तस्यां समुत्पत्स्यति ते सुतः ।।४।

मार्कण्डेय उवाच—

तथेति तेन साऽप्युक्ता तस्मात्तोयाद्वपुष्मतीम् ।
उज्जहार ततः कन्यां मालिनीं नाम नामतः ।।५।

नद्याश्च पुलिने तस्मिन् स रुचिर्मुनिसत्तमः ।
जग्राह पाणिं विधिवत् समानाय्य महामुनीम् ।।६।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इसके बाद उस नदी के मध्य से प्रम्लोचा नाम की मन को प्रिय लगने वाली कृशाङ्गी सुन्दर अप्सरा रुचि के समीप आई ।।१।।

वह सुन्दर भौओं वाली सुन्दरी अप्सरा ने विनयावनत होकर प्रिय मधुर वाणी में महात्मा रुचि से कहा ।।२।।

हे तपस्विश्रेष्ठ ! वरुण के पुत्र महात्मा पुष्कर से उत्पन्न एक अतिशय सुन्दरी मेरी पुत्री है । मैं उस सुन्दर स्वरूप वाली कन्या भार्या के रूप में आपको प्रदान करती हूँ; उसे वरण करें, उस कन्या से अतिशय बुद्धिमान् मनु नामक तुम्हारा पुत्र उत्पन्न होगा ।।३-४।।

मार्कण्डेय ने कहा—

ऐसा ही होगा, इस प्रकार रुचि की सम्मति प्राप्त करने पर उस नदी के मध्य जल से मालिनी नाम की कन्या प्रकट हुई ।।५।।

उस नदी के तट पर मुनिश्रेष्ठ रुचि ने अनेक महामुनियों को बुलाकर विधिपूर्वक उस कन्या के साथ पाणिग्रहण किया ।।६।।

तस्यां तस्य सुतो जज्ञे महावीर्य्यो महामतिः ।
रौच्योऽभवत् पितुर्नाम्ना ख्यातोऽत्र वसुधातले ।।७।
तस्य मन्वन्तरे देवास्तथा सप्तर्षयश्च ये ।
तनयाश्च नृपाश्चैव ते सम्यक् कथितास्तव ।।८।
धर्मवृद्धिस्तथारोग्यं धनधान्यसुतोद्भवः ।
नृणां भवत्यसन्दिग्धमस्मिन्मन्वन्तरे श्रुते ।।९।
पितृस्तवं तथा श्रुत्वा पितृणाञ्च तथा गुणान् ।
सर्वान् कामानवाप्नोति तत्प्रसादान्महामुने ।।१०।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे मालिनीपरिणायपूर्वकं रौच्यमन्वन्तर-समाप्तिवर्णनं नामाऽष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

उस कन्या से अतिशय पराक्रमी और बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ जो पिता के नाम से रौच्य के रूप में पृथिवी में प्रसिद्ध हुआ ॥७॥

उस रौच्य के मन्वन्तर जो देवगण एवं सप्तर्षि हुए और उसके पुत्र जो राजा हुए थे उनका भी मैंने भली-भाँति तुम से वर्णन किया है ॥८॥

इस मन्वतर की कथा के श्रवण से मनुष्यों की धर्मवृद्धि, रोगनाश, धन-धान्य और पुत्र की उत्पत्ति होती है—इसमें सन्देह नहीं है ॥९॥

हे महामुने ! इस पितृस्तव एवं पितरों, के गुणों का श्रवण कर उनकी कृपा से (मनुष्य) सभी कामनाओं को प्राप्त करता है ॥१०॥



पर्यालोचन

तन्त्र में गार्हस्थ्य प्रशंसा :—

तंत्र में गार्हस्थ्य जीवन की अतिशय प्रशंसा मिलती है। साधारण गृहस्थ भी एक साधक की कोटि में आता है जो किसी विषय की साधना करता है वह साधक शब्द से कहा जाता है। गृहस्थ की साधना में साधना के आधार पर उच्च-नीच उन्नत और निम्न स्तर का भेद पाया जाता है। निम्नस्तर के साधक गृहस्थ राग-द्वेष, वासना और कामना के वशीभूत होते हैं उनकी देवाराधना योगचर्या पञ्चमहायज्ञ आदि का लक्ष्य भोगमात्र होता है। अद्वयतत्त्व की साधना में प्रवृत्त नहीं होते इनमें आराध्य, आराधक, जगत्-जगदीश्वर सभी में भेद होता है।[1] तांत्रिक साधना को प्रधान रूप से गृहस्थ की साधना कही जाय तो अत्युक्ति नहीं है, गृहस्थ से तात्पर्य पत्नी से युक्त गृहस्थ से है। मत्स्यसूक्त में कहा गया है कि पत्नीरहित व्यक्ति की गति नहीं होती है उनकी सभी क्रियायें निष्फल होती हैं। भार्य्याविहीन व्यक्ति देवतार्चन महायज्ञ का सम्पादन नहीं करता है। एक चक्रवाले रथ, एक पर वाले पक्षी के समान ही भार्य्याविहीन मनुष्य की सभी क्रियायें व्यर्थ होती हैं।

अदारस्य गतिर्नास्ति सर्वास्तस्याफलाः क्रिया।
सुरार्चनं महायज्ञं हीनभार्य्यो विवर्जयेत्॥
एकचक्ररथो यद्वदेकपक्षो यथा खगः।
आहार्योऽपि नरस्तद्वदयोग्यः सर्वकर्मसु[2]॥

तंत्रशास्त्र में गृहस्थों के उन्नत आदर्श का निर्देश मिलता है। आदर्श गृहस्थ किसी भी देश में रहे वह श्रेष्ठ नागरिक तथा देश का गौरव माना जाता है। महानिर्वाणतंत्रानुसार गृहस्थ ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मज्ञान-परायण होता है अर्थात्। व्यापक रूप में प्राणिमात्र के प्रति ब्रह्मभावना कर सभी के हित में अपना जीवनयापन करता है। वह जो भी कार्य सम्पादित करता है, वह ब्रह्म में समर्पण की भावना से करता है, वह मिथ्या नहीं बोलता है शठता नहीं करता है। देवपूजा और अतिथि-सेवा में सन्नद्ध रहता है। माता और पिता को साक्षात् प्रत्यक्ष देवता के रूप में मानता है। गृहस्थ सभी चेष्टाओं से उनकी सेवा में अपने को अर्पित किये रहता है। विद्या और धन के अहंकार में मत्त होकर जो माता-पिता की अवहेलना करता है, वह सर्वधर्म बहिष्कृत घोर नरकगामी होता है। माता-पिता-पुत्र-स्त्री और अतिथि इनको छोड़कर कण्ठगत प्राण होने पर भी गृहस्थ स्वयं भोजन नहीं करता है। गृहस्थ सैकड़ों कष्ट सहन करके भी आत्मीय स्वजन की यथाशक्ति प्रसन्नता का साधन करता है यही तो सनातन धर्म है—

ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थः स्यात् ब्रह्मज्ञानपरायणः।
यद्यत् कर्म प्रकुर्वीत तद् ब्रह्मणि समर्पयेत्॥

---

1. Principales of Tāntra, Page 688,
२. प्राणतोषिणी पृष्ठ 84.

न मिथ्या भाषणं कुर्यात् न च शाठ्यं समाचरेत् ।
मत्वा गृही निसेवेत सदा सर्वप्रयत्नतः ॥

विद्याधनमदोन्मत्तो यः कुर्यात् पितृहेलनम् ।
स याति नरकं घोरं सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥

मातरं पितरं पुत्रदारानतिथिसोदरान् ।
हित्वा गृही न भुञ्जीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥

एषामर्थे महेशानि कृत्वा कष्टसतान्यपि ।
प्रीणयेत् सततं शक्त्या धर्मो ह्येष सनातनः ॥
(महात० ८।२३-२५, ३२, ३३, ३७)

स्त्री के प्रति कर्त्तव्य के सम्बन्ध में गृहस्थों के लिए विशेष निर्देश तंत्र में दिया गया है। अपनी स्त्री की ताड़ना गृहस्थ कभी भी न करे, उसका पालन अतिशय उदार भाव से करना चाहिए। भयंकर कष्ट पड़ने पर भी पतिव्रता साध्वी स्त्री का परित्याग न करे। अपनी स्त्री के रहने पर मन में विकृति आने पर भी अन्य स्त्री का सम्पर्क न करे, क्योंकि यह नरक का साधन होता है।

न भार्यान् ताडयेत् क्वापि मातृवत् पालयेत् सदा ।
न त्यजेत् घोर-कष्टेपि यदि साध्वी पतिव्रता ॥

स्थितेषु स्वीयदारेषु स्त्रियमन्यं न संस्पृशेत् ।
दुष्टेन चेतसा विद्वानन्यथा नारकी भवेत् ॥
(महानिर्वाण त० ८।३९-४०)

तंत्र के ये सभी विधान वास्तविक और मनस्तत्त्वसम्मत हैं। अन्य स्त्री के सम्बन्ध में इस प्रकार की विविध सतर्कता का निर्देश महानिर्वाण तंत्र आदि का मुख्यतम विषय है। तंत्रशास्त्र में भार्या का विशेष गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है। क्योंकि निर्वाण तंत्र में अपनी पत्नी को सदा पूज्य और देवता के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

'निजकान्ता सदा पूज्या निजकान्ता हि देवता।'
(प्राणतोषिणी ७।१ पृ० ४८९)

साधारणतया संसार में कन्या की अपेक्षा पुत्र के प्रति अधिक प्रेम रहता है और उसका लालन-पालन भी विशेष रूप से किया जाता है। किन्तु तंत्रशास्त्र के अनुसार पुत्र और पुत्री दोनों ही का लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा समान रूप से करने का निर्देश है।

"कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः।"
(महातंत्र ८।४७)

गृहस्थमात्र पिता, माता, स्त्री, पुत्र, कन्या, भ्राता, बहन, भान्जा, भाई के पुत्र आदि का ही भरण-पोषण न करे अपि तु ज्ञाति बन्धु एवं भृत्यों का भी भरण-पोषण करे। इतना ही नहीं अपने धर्म में निरत अपने ग्रामवासी अभ्यागत उदासीन का भी पालन गृहस्थ को करना चाहिए। वित्तशाली गृहस्थ के द्वारा ऐसा आचरण न किये जाने पर वह घृणित पापी पशु के रूप में गिनने योग्य होता है।

(म० नि० तंत्र ८।४८-५०)

गृहस्थ साधक निद्रा, आलस्य, शरीर के प्रति यत्न, केश विन्यास, वस्त्र और भोजनादि में अतिशय आसक्त न हो। उसे मिताहारी, मितनिद्र, मितवाक् मितमैथुन, कपटादि-शून्य, नम्र बाह्याभ्यान्तर-पवित्रतासम्पन्न, आलस्यरहित एवं सभी कर्मों में उद्योग सम्पन्न रहे। शत्रु के प्रति वीरतासम्पन्न तथा बन्धु-बान्धव और गुरुजनों के प्रति विनीत रहे। घृणा योग्य व्यक्ति का सम्मान और मानी का अपमान न करे। लोगों के साथ सम्पर्क रखे वार्तालाप और आलोचना करे, सौहार्द व्यवहार प्रवृत्ति एवं प्रकृति की जानकारी कर उनका विश्वास करे। यथा समय क्षुद्र शत्रु से भय रखे एवं उचित अवसर पर अपना प्रभाव व्यक्त करे। किन्तु धर्मलङ्घन कदापि कर्त्तव्य नहीं है। धर्मज्ञ गृहस्थ अपना स्वयं यश पौरुष का प्रकाश न करे। परोपकार के लिए जो करता है, उसे व्यक्त न करे। यशस्वी गृहस्थ किसी हीन उद्देश्य से न तो विवाद में प्रवृत्त हो और न जहाँ पराजय सुनिश्चित है वहां भी विवाद न करे। साथ ही अपने से छोटे या बड़े से भी विवाद न करे।

निद्रालस्यं देहयत्नं केशविन्यासमेव च।
आसक्तिमशने वस्त्रे नातिरिक्तं समाचरेत्॥

युक्ताहारो युक्तनिद्रो मितवान् मितमैथुनः।
स्वेच्छानम्रः सुचिरदक्षो युक्तः स्यात् सर्वकर्मसु॥

शूरः शत्रौ विनीतःस्यात् बान्धवे गुरुसन्निधौ।
जुगुप्सितान् न मन्येत नावमन्येत मानिनः॥

सौहार्दं व्यवहारं च प्रवृत्तिं प्रकृतिं नृणाम्।
सहवासेन तर्कैश्च विदित्वा विश्वसेत् ततः॥

त्रसेद् द्वेष्टुरपि क्षुद्रात् समयं वीक्ष्य बुद्धिमान्।
प्रदर्शयेत् आत्मभावान्नैव धर्मं विलङ्घयेत्॥

स्वीयं यशः पौरुषश्च गुप्तये कथितं च यत्।
कृतं यदुपकाराय धर्मज्ञो न प्रकाशयेत्॥

जुगुप्सितप्रवृत्तौ च निश्चितेऽपि पराजयेत्।
गुरुणा लघुना चापि यशस्वी न विवादयेत्॥

(म० त० ८।५१-५७)

गृहस्थ अवस्था के अनुसार विद्या, धन, यश का अर्जन करें व्यसन, असत्सङ्ग और मिथ्याद्रोह का परित्याग करें, अवस्था के अनुसार चेष्टा और समयानुसार क्रिया करे।

गृहस्थ योग-क्षेमरत अर्थात् अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति में एवं प्राप्य वस्तु के रक्षण में सचेष्ट रहे। वह दक्ष धार्मिक एवं बन्धुओं का प्रिय हो, उसकी वार्ता एवं हँसी परिमित रहे, विशेष रूप से गुरुजनों के सामने वह सावधान रहे।[1] गृहस्थ को जितेन्द्रिय, प्रसन्नात्मा, सुचिन्तक, दृढ़व्रत, अप्रमत्त और दीर्घदर्शी होना चाहिए। इन्द्रिय के व्यवहार में विचारशील रहना चाहिए। सत्य मृदु प्रिय एवं हितकर कथा धीर गृहस्थ को करनी चाहिए। अपने उत्कर्ष का प्रचार और दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

जितेन्द्रियः प्रसन्नात्मा सुचिन्त्यः स्यात् दृढव्रतः।
अप्रमत्तो दीर्घदर्शी मात्रास्पर्शान् विचारयेत्॥
सत्यं मृत्युप्रियं धीरो वाक्यं हितकरं वदेत्।
आत्मौत्कर्ष्यं तथा निन्दां परेषां परिवर्जयेत्॥
(म० त० ८।६१-६२)

गृहस्थ को जनकल्याण की दृष्टि से भी कार्य करना चाहिए। जो गृहस्थ मार्ग के समीप जलाशय, वृक्ष के विश्रामगृह एवं सेतु का निर्माण कराता है उसे त्रिलोक-विजयी कहा जाता है।

जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि।
सेतुः प्रतिष्ठितो येन तेन लोकत्रयं जितम्॥
(म० त० ८।८३)

जो गृहस्थ धर्माचरण करता है शास्त्र में उसकी गुरुता का निर्देश किया गया है। जिस गृहस्थ के प्रति माता-पिता प्रसन्न रहते हैं, बन्धु अनुरक्त रहते हैं, संसार जिसका यशोगान करता है। वह त्रिलोकविजयी जो सत्यव्रत, दीनों के प्रति दयाशील, काम, क्रोध जिसके वश में है वह त्रिलोकविजयी होता है, जो दूसरे की स्त्री के प्रति आक्रुष्ट, जो दूसरें की सम्पत्ति के प्रति आकांक्षारहित है जो दम्भ और मात्सर्य से शून्य है वह त्रिलोकविजयी कहलाता है। जो गृहस्थ रण में नहीं डरता है, जो असंशयात्मा, श्रद्धावान् संभव आचारपरायण शिवशासन में अवस्थित रहता है वह त्रिलोकविजयी है। जो तत्त्वज्ञानी गृहस्थ सभी के प्रति समदृष्टि और लोकयात्रा के लिए कर्म करता है वह तीनों लोक का विजयी है।

संतुष्टौ पितरौ यस्मिन् ननु रक्ता सुहृद्गणाः।
गायन्ति यदि यशो लोकास्तेन लोकत्रयं जितम्॥
सत्यमेव व्रतं यस्य दया दिनेषु सर्वथा।
कामक्रोधौ वशे यस्य तेन लोकत्रयं जितम्॥

१, म० त० ८।७८-८०

विरक्तः परदारेषु निष्प्रियः परवस्तुषु।
दम्भमात्सर्यहीनो यस तेन लोकत्रयं जितम्॥
न बिभेति रणाद् यो वै संग्रामेप्यपरान्मुखः।
धर्मयुद्धे मृतो वापि तेन लोकत्रयं जितम्॥
असंशयात्मा सुश्रद्धः शांम्भवाचार्यतत्परः।
मच्छासने हितो यश्च तेन लोकं त्रयं जितम्॥
ज्ञानिनां लोकयात्रायै सर्वत्र समदृष्टिना।
प्रियन्ते येन कर्माणि तेन लोकं त्रयं जितम्॥
(म० त० ८।६४-६९)

इसो प्रकार और भी कहा गया है कि जो गृहस्थाश्रम में रहकर तत्त्वज्ञानरत रहता है वह सभी पापों से रहित साक्षात् शिव सदृश है।

गृहस्थाश्रममासाद्य तत्त्वज्ञानेषु यः रतः।
न समुक्तः सर्वपापेभ्यः स तु साक्षात्महेश्वरः॥

इसी प्रकार गृहस्थाश्रम किसी भी दृष्टि से हेय नहीं माना गया है।

गृहस्थाश्रम :—

क्रम की दृष्टि से गृहस्थाश्रम द्वितीयाश्रम के रूप में आता है, परन्तु महत्त्व की दृष्टि से इसका प्रथम स्थान हैं। अन्य सभी आश्रम इसी आश्रम पर आधारित माने गये हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि जिस प्रकार प्राणवायु का आश्रय लेकर सब प्राणी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर सभी आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम) चलते हैं। धर्मसूत्रों के अनुसार आरम्भ में केवल एक ही आश्रम था वह था गृहस्थाश्रम। पुराणों में प्राप्त कतिपय वर्णनों से ज्ञात होता है कि गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों को स्रोत माना गया था। मनु ने गृहस्थाश्रम को बहुत महत्त्व दिया है। मनु के अनुसार ये चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति (संन्यास) गृहस्थ आश्रम से उत्पन्न हुए हैं। यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार सभी नदी और नद समुद्र में स्थिति को पाते (मिलते) हैं उसी प्रकार सभी आश्रम वाले (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) गृहस्थ में ही स्थिति (भिक्षा लाभादि से आश्रय) को पाते हैं। इस आश्रम में पति और पत्नी एक दूसरे के प्रति संयुक्त होकर धर्म के अनुसार व्यवहार करते हैं, इसीलिए इस आश्रम को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ दोनों कहा गया है। व्यास जी का कहना है कि गृहस्थ धर्म का अनुसरण करने वाले को अपने गृह में ही कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, हरिद्वार और केदार तीर्थ की प्राप्ति हो जाती है। गृहस्थ आश्रम की तुलना माता से की गयी है और की गयी है कि जिस प्रकार माता का आधार पाकर सभी प्राणी जीवित रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थाश्रम के आधार से अन्य सभी आश्रम जीवित रहते हैं। गृहस्थ आश्रम में ही देवताओं, पितरों और अतिथियों के लिए आयोजन होता है तथा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की पूर्ति होती है।

गृहस्थ की आयु तथा अवधि

मनु ने पच्चीस वर्ष की आयु के बाद ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का विधान किया है। यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में तब प्रवेश करे जब वह तीन वेदों का अध्ययन पूरा कर ले, यदि तीन वेदों का अध्ययन न पूरा कर सके तो, दो वेदों का अध्ययन पूरा कर ले और यदि वह दो वेदों का भी अध्ययन न कर सके तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए कम से कम एक वेद का अध्ययन पूर्ण करना अनिवार्य है। सामान्यतः पच्चीस-पचास वर्ष के बीच का भाग गृहस्थाश्रम में व्यतीत करने का विधान है। पच्चीस वर्ष का समय धनोपार्जन, परिवार के भरण-पोषण, दान-पुण्य तथा अन्य सामाजिक कार्यों के लिए पर्याप्त माना गया है।

गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य

गृहस्थाश्रय में प्रवेश करते ही व्यक्ति के जीवन में उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों के प्रति जागरुकता की भावना का उदय होता है। मनु के अनुसार गृहस्थ को सामान्य धर्मों का सेवन करना अत्यन्त आवश्यक है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध-त्याग ये दस सामान्य धर्म माने गये हैं। याज्ञवल्क्य भी इस सामान्य धर्म के आचरण को स्वीकार करते हैं। गृहस्थ को अपने परिवार के संचालन में धार्मिक आधार पर अर्थोपार्जन का निर्देश दिया गया है। इस आश्रम के पालन से व्यक्ति धर्म का अर्जन करता है, क्योंकि परलोक में माता-पिता, पुत्र, भार्या और सम्बन्धी नहीं जाते, वह अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है तथा स्वयं ही पाप-पुण्य का फल भोगता है। उसके साथ केवल धर्म ही जाता है अतः परलोक में अपनी सहायता के लिए धर्म का उत्तरोत्तर संचय करना शुभ माना गया है। इस प्रकार इस आश्रम में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग को अधिक प्रधानता मिली है। गृहस्थ के लिए अतिथि-सत्कार को बहुत महत्त्व दिया गया है, यदि कोई गृहस्थ किसी अतिथि को असन्तुष्ट लौटा देता है तो उसका सम्पूर्ण पुण्य नष्ट हो जाता है अतः अतिथि की सेवा करना अनिवार्य माना गया है। मनुस्मृति में केवल अपने लिए ही भोजन बनाना अनुचित माना गया है। जिस गृहस्थ के घर में शक्ति के अनुसार आसन, भोजन, शैय्या, जल, फल-फूल से अतिथि की पूजा नहीं होता, वहाँ कोई अतिथि निवास नहीं करता। किन्तु इसके साथ ही साथ मनु ने पाखण्डी, विरुद्धकर्मी, शठ, हेतुवादी, वकवृत्ति जैसे अतिथियों की सेवा न करने का भी निर्देश दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म-शास्त्रों में गृहस्थ जीवन को श्रेयस्कर माना गया है। सदाचार, सच्चरित्रता, पवित्रता, सदायशता आदि गृहस्थ के आदर्श आचरण के रूप में स्वीकार्य हैं।

परिवार

परिवार सभी सामाजिक संस्थाओं में सर्वाधिक सार्वभौम संस्था है। परिवार की उत्पत्ति मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही हुई है। वस्तुतः समाज का मूल परिवार में है। जिसकी रचना स्त्री तथा पुरुषों के नियन्त्रित संसर्ग के द्वारा हुई है। सामाजिक मर्यादाओं से युक्त स्त्री-पुरुष के पारस्परिक यौन-सम्बन्धों अथा अधिकारों एवं कर्त्तव्यों

की संस्कृति की पद्धति विवाह है। परिवार तथा विवाह को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। विवाह परिवार का एक अभिन्न अंग है। सामान्य प्रचलित मान्यताओं के अनुसार मनुष्य विवाह करने के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

परिवार का विकास

परिवार के विकास के मूल में कुछ मानवीय प्रवृत्तियाँ रही हैं। मौरगां एवं वेस्टमार्क ने अपने सिद्धान्तों के द्वारा परिवार की उत्पत्ति को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। मौरंगा के अनुसार एक ऐसी स्थिति भी मानवीय सभ्यता के ऊषाकाल में रही है, जब यौन सम्बन्ध बिल्कुल स्वच्छन्द थे। धीरे-धीरे इस प्रवृत्ति में सुधार हुआ और पितृमूलक परिवारों की उत्पत्ति हुई। वेस्टमार्क का विश्वास है कि आदिकाल में नारी ही बच्चों की उत्पत्ति का कारण मानी जाती थी। सम्बन्धों पर उतना नियन्त्रण नहीं था। अतः उत्तराधिकार के निर्धारण के लिए पहले मातृमूलक परिवारों की उत्पत्ति हुई। बाद में पितृमूलक परिवार भी अस्तित्व में आये। परिवार मानवीय प्रवृत्ति एवं सामाजिक आवश्यकताओं का फल है। इन्हीं प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहा है। परिवार के विकास के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जितना परिवर्तन मानवीय समाज, उसकी प्रविधि एवं दूसरी अन्य संस्थाओं में हुआ है उतना परिवर्तन परिवार के कार्य प्रविधि एवं रचना में नहीं हुआ है।

परिवार के मूल में कुछ शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताएं हैं। ये आवश्यकताएं मनुष्य की प्रवृत्ति के अंग के रूप में है। मेकाइवर एवं पेज के अनुसार परिवार ही एक ऐसी संस्था हैं जो प्राथमिक रूप से मनुष्य की तीन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यौन आवश्यकता सन्तानोत्पत्ति, पालन-पोषण एवं सामाजीकरण की आवश्यकता तथा पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है।

परिवार की परिभाषा

मैकाइवर तथा पेज ने परिभाषा देते हुए कहा है कि परिवार यौन सम्बन्धों से परिभाषित समूह हैं जो लघु होते हुए भी सन्तानोत्पत्ति एवं उनके पालन-पोषण के लिए सक्षम होता है। मैकाइवर परिवार को एक समिति के रूप में मानते हैं। इनके अनुसार विवाह एक संस्था एवं परिवार एक समिति है।

वरजैस और लॉक के अनुसार, परिवार एक ऐसा समूह है जो विवाह, रक्त, अथवा दत्तक सम्बन्धों द्वारा संगठित होता है। इस प्रकार एक कुटुम्ब की रचना होती है जिसमें पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र एवं पुत्री तथा भाई एवं बहन के बीच तथा उनके सामाजिक कार्यों के क्षेत्र में अन्तःक्रिया एवं अन्तःसंचार होता है, जिससे या तो एक सामान्य संस्कृति का जन्म होता है या उसमें निरन्तरता आती है।

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि परिवार पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों एवं सहयोग, बच्चों के प्रजनन तथा पारस्परिक सहानुभूति की भावना पर आधारित समूह है। परिवार समाज की प्राथमिक इकाई है, जो व्यक्ति के चरित्र निर्माण

एवं सामाजिक सुदृढ़ता को शक्तिशाली बनाए रखती है। परिवार में ही मनुष्य का जन्म होता है तथा इसी के माध्यम से उसमें पारस्परिक स्नेह, सहानुभूति, सहयोग तथा एकता का विकास होता है। परिवार के ही मध्य व्यक्तित्व की रचना होती है। व्यक्ति का समाजीकरण परिवार से ही आरम्भ होता है। उचित-अनुचित का ज्ञान, नैतिक-प्रवृत्ति, पूर्वकल्पित कार्य करने का ढंग तथा स्नेह सहानुभूति का प्रारम्भिक ज्ञान पारिवारिक पर्यावरण में ही आरम्भ होता है और व्यक्तित्व के विकास में इनकी अमिट छाप पड़ती है।

परिवार के द्वारा सामाजिक परम्पराएं एवं प्रथाएं सुरक्षित रहती हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रदान की जाती है। "यंग" के अनुसार परिवार के मध्य शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तत्त्वों का संगम होता है और वे व्यक्ति को जीवन आरम्भ करने तथा विकसित होने में सहायक होते हैं।

भारतीय समाज व्यवस्था में गृहस्थाश्रम का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस आश्रम के द्वारा व्यक्ति पूर्ण पारिवारिक जीवन के मध्य अपने पुरुषार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। आधुनिक विचारकों की दृष्टि में परिवार यौन एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की एक संस्था है। इस मत में अर्थ तथा काम को तुष्ट करने वाली संस्था के रूप में परिवार का लक्ष्य इतना सीमित हो जाता है कि उसमें अस्थिरता तथा अवांक्षित गतिशीलता का आ जाना आवश्यक सा प्रतीत होता है। धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण में परिवार के मूल में अर्थ तथा काम के साथ ही साथ धर्म तथा मोक्ष का विचार कुछ इस प्रकार की आध्यात्मिक उच्चता प्रदान करता है जो सामाजिक व्यवस्था को अधिक स्थिर तथा स्थायी बना देता है। धर्मशास्त्र की व्यवस्था में पत्नी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली एक नारी ही नहीं अपितु धर्मपत्नी तथा सहधर्मिणी है। पत्नी के अभाव में धर्म-कार्य सम्पादित नहीं हो सकते हैं। दूसरी ओर पितृ-ऋण से मुक्ति के लिए पुत्रोत्पत्ति आवश्यक है। धर्म की यह मान्यता धर्मशास्त्रीय परिवार प्रणाली का आधार है। व्यक्ति का स्वयं में कोई अस्तित्व नहीं है। सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिए उसे दूसरों का सहयोग अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में धर्मशास्त्रों के समाज की इकाई व्यक्ति नहीं अपितु परिवार है। विवाह केवल दो व्यक्तियों का मिलन नहीं अपितु दो परिवारों का सम्बन्ध है जो एक दूसरे के सुख-दुःख के भागीदार एवं हितचिन्तक बनते हैं। भारतीय समाज-व्यवस्था में सामान्य रूप से विवाह तथा परिवार की एकता में अग्नि का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और पाणि-ग्रहण-संस्कार में अग्नि को ही साक्षी बनाया जाता है।

भारतीय-समाज व्यवस्था में व्यक्ति का पारिवारिक जीवन दीक्षा के उपरान्त आरम्भ होता है। पाणिग्रहण संस्कार के उपरान्त व्यक्ति को उन सभी कृत्यों की पूर्ति करनी पड़ती है जिससे कुलधर्म का पालन हो एवं उसका निरन्तर विकास हो। पारिवारिक जीवन में 'पंच महायज्ञ' का विशेष स्थान है। उसकी पूर्ति के द्वारा व्यक्ति तीनों ऋणों से मुक्त हो सकता है। मनु के अनुसार ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूत-यज्ञ तथा नृयज्ञ ये पंच महायज्ञ हैं। एक ओर पंचमहायज्ञों के साथ सामाजिक पक्ष

संयुक्त है जिसमें गृहस्थ अन्य भूतों अथवा प्राणियों की सुख-सुविधा के लिए अपनी सुविधा का त्याग करता है, दूसरी ओर वैयक्तिक पक्ष भी है यह आत्म शुद्धिकरण की एक प्रक्रिया है। मनु के अनुसार यज्ञ तथा इन्द्रिय-निग्रह दम्पतियों के लिए अनिवार्य है। पारिवार धर्म सम्पादन का एक स्थल है। मृत्यु के बाद गृहस्थ के साथ कोई सम्बन्धी नहीं जाता सब यहीं रह जाते हैं केवल धर्म ही उसके साथ जाता है। प्रत्येक व्यक्ति:अकेला आया है, अकेला जायेगा। वह अपने शुभ या अशुभ कर्मों का फल भी एकाकी ही भोगता है।

मनु की पारिवारिक व्यवस्था जहाँ एक ओर पूर्ण सुखवादी है और मनुष्य को गृहस्थ जीवन का पूर्ण आनन्द उठाने के लिए प्रेरित करती है वहीं दूसरी ओर त्याग एवं संयम की पथ प्रदर्शिका है क्योंकि इसके व्यवस्थापक इस बात से परिचित हैं कि पूर्ण सांसारिकता में लिप्त व्यक्ति अपने वास्तविक उद्देश्य को भूल सकता है। इसलिए उसे त्याग, संयम एवं नैतिकता के परिप्रेक्ष्य में अपने जीवन में सुखभोग का प्रयत्न करना चाहिए जिससे उसे अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की ओर अग्रसर होने का समुचित अवसर प्राप्त हो सके।

पति-पत्नी

परिवार की रचना के मूल में पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध है। इनके सम्बन्धों की मधुरता पर ही पारिवारिक जीवन की सफलता निर्भर करती है। मनु का कथन है कि मृत्यु पर्यन्त पारस्परिक विश्वास ही पति-पत्नी का सबसे बड़ा धर्म है। एक बार परिणय सूत्र में आबद्ध हो जाने के पश्चात् पति-पत्नी का यह कर्त्तव्य है कि उनमें कोई विभेद न उत्पन्न हो और वे एक दूसरे के प्रति आस्थावान् बने रहें; भारतीय शास्त्रकारों ने प्रायः एक पत्नीव्रत की सराहना की है। इनका विश्वास है कि वैवाहिक सम्बन्ध का महत्त्व मात्र लौकिक ही नहीं अपितु पारलौकिक भी है। मनुस्मृति में पति को निर्देशित किया गया है कि वह केवल अपनी पत्नी में ही अनुरक्त रहे। सभी धार्मिक कृत्यों का सम्पादन पति-पत्नी को साथ करना चाहिए जिससे मृत्यु के पश्चात् भी उन्हें सुख प्राप्त हो सके। मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि यदि पहली पत्नी धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में पूर्ण सक्षम है और उससे पुत्रोत्पत्ति हो चुकी है तो पति को दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। सामान्य रूप से मनु की व्यवस्था में विवाह विच्छेद के लिए कोई स्थान नहीं हैं, क्योंकि विवाह दम्पत्ति का पारस्परिक चयन एवं रुचि का प्रश्न न होकर कर्म, धर्म एवं संस्कार की देन है और यह जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहने वाला सम्बन्ध है।

भारतीय समाज व्यवस्था में पत्नी के ऊपर पति के अधिकार की प्रायः विशेष चर्चा की जाती है, ये अधिकार पति को अपने कर्त्तव्यों के बदले में प्राप्त होते हैं। पति का अर्थ है जो उसकी रक्षा करे। पति को भर्ता भी कहा गया है जिसका अर्थ होता है जो भरण-पोषण करे। साथ ही साथ उसे स्वामी की भी संज्ञा दी गई है। इस प्रकार पत्नी की सम्पूर्ण दायित्त्व पति के ऊपर आ जाता है। इसलिए शास्त्रों ने यह निर्देश

दिया है कि रक्षा, भरण-पोषण आदि का पत्नी को पति की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए एवं उसकी सेवा में निरत रहना चाहिए। पत्नी का कल्याण उसकी पति-भक्ति एवं सेवा पर आधारित है। मनुस्मृति में कहा गया है कि पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह पति की पूजा करे। यदि वह दुश्चरित्र एवं गुणरहित भी है तब भी उसे देवता की तरह समझना चाहिए। इस बात की पुष्टि याज्ञवल्क्य ने भी की है। मनुस्मृति के अनुसार पत्नी के लिए न कोई यज्ञ है और न व्रत। पति की सेवा मात्र से ही उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

विवाह

धर्मशास्त्रों में विवाह एक धार्मिक संस्कार के रूप में स्वीकृत है। समाज दर्शन की दृष्टि से समाज की प्रथम इकाई परिवार के सर्जन में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी प्रकार के समाज में सामाजिक व्यवस्था के लिए विवाह किसी न किसी रूप में स्वीकृत है। किन्तु धर्मशास्त्रकर्ताओं के समाज दर्शन में इसका न केवल शारीरिक, मानसिक और सामाजिक महत्त्व है अपितु इसका धार्मिक और आध्यात्मिक महत्त्व भी स्वीकार किया गया है। आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश की प्रथम सीढ़ी विवाह है। इसके द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में पदार्पण करता है। ऐसे तो धर्मशास्त्रों में आश्रमों के सम्बन्ध में विकल्प, बाध और समुच्चय सिद्धान्तों की चर्चा की गई है और ब्रह्मचर्य के बाद कहीं-कहीं सीधे वानप्रस्थ या संन्यास को भी अनुमोदित किया गया है। किन्तु बहुमत आश्रमों के समुच्चय पक्ष का समर्थक प्रतीत होता है। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए विवाह एक अनिवार्य धार्मिक संस्कार का रूप धारण कर धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में आता है।

मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि पुरुष अकेले पूर्ण पुरुष नहीं है वह अधूरा है, उसे पूर्ण होने के लिए अपने शरीर के साथ अपने अर्धाङ्गिनी की आवश्यकता है और इन दोनों का मिल जाना ही पुरुष की पूर्णता नहीं है अपितु इन दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र से ही इन्हें पूर्णता प्राप्त होती है। इस प्रकार स्त्री, स्वदेह और पुत्र ये तीनों मिलकर पूर्ण पुरुष बनता है। वास्तव में पति और पत्नी दो नहीं हैं जो पति है वही पत्नी है, और जो पत्नी है वही पति है ये दोनों एक ही पुरुष के दो अर्धाङ्ग हैं। समस्त आश्रमों का मूल गृहस्थाश्रम और गृहस्थाश्रम का मूल विवाह है। इसलिए विवाह सभी आश्रमों को आश्रय देने वाला धार्मिक संस्कार और धार्मिक संस्था है। घर पुरुष से नहीं स्त्री से शोभा और सम्पन्नता प्राप्त करता है। स्त्री से ही बढ़ता और विकसित होता है। इसलिए गृहस्थ जीवन का मूल विवाह है। विवाह स्त्री और पुरुष का केवल मिलन ही नहीं है अपितु उन दोनों का सामाजिक और आध्यात्मिक पूर्णता का भी आधार है, इस दृष्टि से विवाह का निर्देश पितरों ने दिया है।

धर्मशास्त्रों में विवाह का शाब्दिक अर्थ वधू को उसके पिता के घर से विशेष रूप से ले जाना है अथवा वधू को किसी विशेष कार्य के लिए अर्थात् पत्नी बनाने के लिए ले जाना है। धर्मशास्त्रों में विवाह के लिए अनेक शब्द प्रचलित हैं जिनका कुछ विशेष तात्पर्य है जैसे उद्वाह, परिणय, उपयम, पाणिग्रहण आदि।

उद्वाह का अर्थ है—वधू को उसके पिता के घर से ले जाना; परिणय का अर्थ है—चारो ओर घूमना अर्थात् अग्नि की परिक्रमा करना अथवा प्रदक्षिणा करना; उपयम का अर्थ है—किसी को निकट लाकर उसे अपना बनाना तथा पाणिग्रहण—का अर्थ है, वधू का हाथ ग्रहण करना। विवाह का मूल अर्थ वर द्वारा वधू को अपने घर ले जाने से है किन्तु अपने रूढ़िगत अर्थ में विवाह उन सभी समारोहों और कर्मकाण्डों का प्रतीक है जो वर—रक्षा से लेकर द्विरागमन और सुहाग रात तक किये जाते हैं तथा जिनके द्वारा नर-नारी समाज द्वारा मान्य पति-पत्नी के सम्बन्ध में बँधकर माता-पिता की भूमिका ग्रहण करते हैं और परस्पर सामाजिक आभारों और अधिकारों को निभाते हैं। विवाह का यह मूल रूप विभिन्न रूपों में विकसित हुआ। धर्मशास्त्रों में विवाह साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य माना गया है क्योंकि इसके बिना अनेक धार्मिक कृत्यों का सम्पादन सम्भव नहीं है। पितृ-ऋण से मुक्ति के लिए तथा गृहस्थ धर्म के पालन के लिए भी इसकी अनिवार्यता सिद्ध है।

विवाह के उद्देश्य

भारतीय सामाजिक परिवेश में विवाह का उद्देश्य अत्यन्त पवित्र एवं गौरवशाली है, इसके माध्यम से मनुष्य अपने समस्त सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। धर्मशास्त्रों में धर्म का अनुष्ठान, पुत्र की प्राप्ति एवं रति का सुख विवाह के प्रधान उद्देश्य माने गये हैं। वस्तुतः मनुष्य को धर्म सुख, पुत्र सुख, और रति सुख विवाह से ही समुचित रूप में उपलब्ध होते हैं।

धर्म का अनुष्ठान

विवाह का प्रथम उद्देश्य धार्मिक कृत्यों का सम्पादन है, जो पत्नी के रहने पर ही सम्भव होता है। बिना पत्नी के व्यक्ति का कोई भी धार्मिक कृत्य पूरा नहीं माना जाता क्योंकि सभी धार्मिक कार्यों में पत्नी की उपस्थिति अपेक्षित है।

ऋग्वेद काल से ही यह मान्यता रही है कि विवाह ही व्यक्ति को गृहस्थ बनाता है तथा देवताओं के निमित्त यज्ञ करने की योग्यता प्रदान करता है। पति के जीवन में पत्नी की अनिवार्यता को देखते हुए याज्ञवल्क्य ने पत्नी के मरने के बाद धार्मिक कार्यों के निमित्त दूसरे विवाह का समर्थन किया है।

धार्मिक कार्यों में यज्ञों का महत्त्व सर्वाधिक है। गृहस्थाश्रम के लिए पाँच प्रकार के यज्ञों का विधान किया गया है। जैसे—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और अतिथियज्ञ। इन यज्ञों के सम्पन्न करने में मनुष्य के साथ उसकी पत्नी का होना अनिवार्य माना गया है। इन पञ्च महायज्ञों के अतिरिक्त इष्टि के सम्पादन में भी पत्नी की आवश्यकता होती है। इष्टि वह यज्ञ है जिसको यजमान अपनी पत्नी के द्वारा चार पुरोहितों की सहायता से सम्पादित करता है। अग्निहोत्र के लिए भी पत्नी का होना आवश्यक माना गया है क्योंकि यह गृहस्थ ही कर सकता है। अग्निहोत्र को प्रातः एवं सायं दो बार जीवन पर्यन्त या संन्यासी होने तक करने का विधान है। इसी प्रकार अन्य यज्ञों और धार्मिक कृत्यों में पत्नी को पति के साथ बैठने का विधान किया गया

है। पद्मपुराण में यह स्पष्ट किया गया है कि जो व्यक्ति अपनी गुणवती, सहधर्मिणी पत्नी को त्यागकर धार्मिक कृत्य करता है उसका समस्त धर्म निष्फल हो जाता है। पाणिनि के प्रयोग से भी यह विदित होता है कि यज्ञ में साथ बैठने वाली स्त्री को ही पत्नी कहा जाता है।

इन विशुद्ध धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त गृहस्थ जीवन में अनेक धार्मिक संस्कार अनुष्ठान, पूजा, व्रत आदि करने का विधान है। इन समस्त कृत्यों में पत्नी का होना अनिवार्य माना गया है तथा पत्नी हीन व्यक्ति को जब तक दूसरा विवाह न कर ले इन कृत्यों के अयोग्य कहा गया है।

विवाह के प्रकार

धर्मशास्त्रों में विवाह के आठ प्रकार माने गये हैं, जैसे—ब्राह्मण, प्राजापत्य, आर्ष, देव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच। किन्तु इनके नाम और क्रम में धर्म-शास्त्रों में काफी मतभेद है। कुछ स्थलों पर ब्राह्मदेव, आर्ष एवं प्राजापत्य, कुछ अन्य स्थलों पर ब्राह्मदेव, प्राजापत्य एवं आर्ष आया है। आश्वलायन ने पैशाच को 'राक्षस' से पहले रखा है। मानव गृहसूत्र में ब्राह्म और शौल्क (आसुर) दो ही नामों की चर्चा है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने प्राजापत्य और पैशाच को छोड़कर केवल छः प्रकार के विवाहों की चर्चा की है। वसिष्ठ धर्मसूत्र में ब्राह्म, देव, आर्ष, गान्धर्व, क्षात्र एवं मानुष (अन्तिम दो क्रमशः राक्षस एवं असुर के सूचक हैं) का ही उल्लेख है। याज्ञवल्क्य ने प्राजापत्य को काय विवाह भी कहा है। इन आठ प्रकार के विवाहों में मनु ने ब्राह्मण के लिए प्रारम्भ से छः विवाह (ब्रह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गन्धर्व), क्षत्रिय के लिए अन्त वाले चार प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व, पैशाच और राक्षस) तथा वैश्य एवं शूद्र के लिए राक्षस रहित केवल तीन प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व और पैशाच) का विधान किया है। मनु ने अन्य मत का उल्लेख करते हुए ब्राह्मण के लिए प्रथम चार विवाह (ब्राह्म, देव, आर्ष एवं प्राजापत्य) को प्रशस्त विवाह माना है। क्षत्रिय के लिए एक राक्षस विवाह तथा वैश्य एवं शूद्र के लिए केवल आसुर विवाह को श्रेष्ठ माना गया है। अन्त वाले विवाह पाँच प्रकारों में (प्राजापत्य, आसुर, राक्षस, पैशाच) से तीन प्रकार के विवाह (प्राजापत्य, गान्धर्व एवं राक्षस) धर्मयुक्त कहे गये हैं। दो प्रकार के विवाह आसुर और पैशाच अधर्मयुक्त माने गये हैं। इसलिए मनु का निर्देश है कि आसुर और पैशाच को कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। विकल्प के रूप में मनु ने गान्धर्व तथा राक्षस विवाह को अलग-अलग या मिले-जुले रूप में क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त माना है।

ब्राह्म विवाह

ब्राह्म विवाह वह है जिसमें पिता किसी योग्य वेदपारंगत, सच्चरित्र तथा श्रुतिशीलवान वर को आमन्त्रित कर आभूषणों से युक्त कन्या को दान में देता है। इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब का कहना है कि ब्राह्म विवाह में वर के कुल आचरण, धर्म में आस्था, विद्या, स्वास्थ्य के विषय से जानकारी प्राप्त कर पिता अपनी शक्ति के

अनुसार कन्या को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करता है तथा प्रजा की उत्पत्ति तथा साथ-साथ धर्म सम्पादन के लिए वर को कन्या प्रदान करता है। ब्राह्म विवाह में याज्ञवल्क्य ने वर को बुलाकर कन्या को यथाशक्ति आभूषण आदि से अलंकृत कर प्रदान करने की वात कही है। इस विवाह की प्रशंसा में याज्ञवल्क्य का कहना है कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने से पूर्व दस पीढियों तथा आगे वाली दस पीढियों एवं अपने को स्वयं मिलाकर कुल इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करता है।

ब्राह्म विवाह का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित पहलू दृष्टिगोचर होते हैं। कन्या के माता-पिता के द्वारा वर का चयन तथा उसे आमन्त्रित करना; कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार वस्त्र आभूषण अलंकार आदि प्रदान करना तथा धर्म और सन्तानोत्पत्ति की विवाह का मुख्य प्रयोजन स्वीकार करना। इस विवाह में दोनों पक्ष में किसी पर किसी प्रकार का दबाव नहीं होता अपितु दोनों पक्षों की स्वतन्त्र सहमति होती है।

देव विवाह

जब पिता यज्ञ कराने वाले किसी पुरोहित को वस्त्राभूषण से अलंकृत एवं सुसज्जित अपनी कन्या दान करता है तो उसे देव-विवाह कहा जाता है। आपस्तम्ब के अनुसार इस विवाह में पिता कन्या को किसी एक ऋत्विज को प्रदान करता है जो श्रौतयज्ञ का पुरोहित होता है। याज्ञवल्क्य ने केवल इतना ही कहा है कि यज्ञ में अनुष्ठान कराने वाले ऋत्विज को कन्या का दान करना देव विवाह कहलाता है। इस विवाह की प्रक्रिया के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इस विवाह में कन्या पिता के द्वारा दी जाती है तथा जिस व्यक्ति को दी जाती है, वह व्यक्ति यज्ञ कराने में दक्ष होता है। कन्या के देने का अवसर भी यज्ञ ही होता है। कुछ लोगों ने उस यज्ञ को "श्रौतयज्ञ" स्वीकार किया है किन्तु मनु उसे ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ मानते हैं। याज्ञवल्क्य ने अत्यधिक सामान्य रूप से उसे केवल यज्ञ कहा है। मनु ने कन्या को वस्त्राभूषण से अलंकृत करने की बात कही है किन्तु याज्ञवल्क्य इस सम्बन्ध में मौन हैं। याज्ञवल्क्य इस विवाह की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने से पूर्व सात पीढ़ियों और अपने से बाद जिसमें स्वयं भी शामिल हो, कुल चौदह पीढ़ियों को पवित्र करता है।

आर्ष विवाह

जब कन्या का पिता धर्म-कार्य की सिद्धि के लिए वर से एक बैल और एक गाय अथवा इनकी दो जोड़ी लेकर विधिपूर्वक कन्या का दान कर देता है तब उसे आर्ष विवाह कहते हैं। यहाँ यह एक विचारणीय प्रश्न है कि वर से लिया गया पशु कन्या का मूल्य है अथवा नहीं। मनु के टीकाकार कुल्लूक इसे कन्या का मूल्य नहीं मानते। उनके अनुसार ये पशु या तो धर्म आदि की सिद्धि के लिए दिये जाते हैं अथवा कन्या को ही देने के लिए दिये जाते हैं, इसलिए इसे मूल्य या शुल्क मानना उचित नहीं है। जैमिनी, शबर और आपस्तम्ब भी इसे मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं करते

हैं। साधारणतया उस युग के माता-पिता के मन में यह इच्छा रहती थी कि उनकी कन्या का विवाह किसी ऋषि से हो जाये। इस बात का पता लगाना कि ऋषि विवाह के लिए उत्सुक हैं अथवा नहीं यह एक कठिन कार्य था। उक्त दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए धर्मशास्त्रों ने विवाह के लिए इच्छुक ऋषि से एक गाय या बैल अथवा इनके जोड़े, लेने का विधान किया है। जिससे यह प्रमाणित हो जाय कि ऋषि विवाह के लिए उत्सुक हैं। अतः वर द्वारा प्राप्त वह उपहार मूल्य नहीं कहा जा सकता। आर्ष विवाह की महत्ता बतलाते हुए याज्ञवल्क्य का कहना है कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र तीन पहले और तीन बाद की कुल छः पीढ़ियों को पवित्र करता है।

इस विवाह की विशेषता यह है कि इसमें कन्या माता-पिता के द्वारा किसी ऋषि को दी जाती है तथा विवाह की स्वीकृति के रूप में ऋषि से कन्या का पिता बैल या गाय के जोड़े लेता है।

प्राजापत्य विवाह

इस विवाह के अन्तर्गत वर की विधिवत् पूजा करके कन्या का दान दिया जाता है तथा वर-वधू को यह निर्देश दिया जाता है कि गृहस्थ जीवन में दोनों मिल कर धर्म का आचरण करें। याज्ञवल्क्य इसे 'काय विवाह' भी कहते हैं तथा यह मानते हैं कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र अपनो पीढ़ी को तथा अपने पहले के छः पीढ़ी को तथा अपने बाद की छः पीढ़ी को पवित्र करता है। जीवन पर्यन्त पत्नी के साथ धर्म की अभिवृद्धि की कामना, बिना पत्नी की अनुमति से दूसरा विवाह न करना तथा पारिवारिक जीवन की स्वस्थता प्राजापत्य विवाह का मूलाधार माना गया है।

आसुर विवाह

जब कन्या के माता-पिता कन्या के बदले में वर से धन या द्रव्य प्राप्त कर कन्या को विवाह के लिए उसे समर्पित करते हैं और वह उस कन्या को स्वीकार करता है तो उसे आसुर विवाह कहा जाता है। आसुर और आर्ष दोनों में वर पक्ष से कुछ लेने की बात कही गई है। किन्तु आर्ष में इस बात का निषेध किया गया है कि वर से प्राप्त धन कन्या का शुल्क है। परन्तु आसुर विवाह की प्रक्रिया को देखने से यह लगता है कि यहाँ द्रव्य कन्या के मूल्य के रूप में लिया जाता है। महाभारत में यह कहा गया कि प्रायः धन से कन्या को खरीद कर और उसके सम्बन्धियों को धन का प्रलोभन देकर जो विवाह सम्पन्न किया जाता है वह आसुर विवाह है।

गन्धर्व विवाह

जब युवक और युवती परस्पर प्रेमवश अपने माता-पिता की उपेक्षा करके विवाह कर लेते हैं तब उसे गान्धर्व विवाह कहा जाता है। मनु का कहना है कि वर और कन्या अपनी इच्छानुसार काम के वशीभूत होकर संयुक्त हो जाते हैं तो उसे गान्धर्व विवाह कहा जाता है। यह विवाह वर और कन्या के कामुक अभिलाषा से

सम्पन्न होता है। अतः इसे मैथुन्य विवाह भी कहा गया है। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह गान्धर्व विवाह का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। मनु गान्धर्व विवाह को सभी वर्णों के लिए धर्म सम्मत मानते हैं। वात्स्यायन इस विवाह को आदर्श विवाह या सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

राक्षस विवाह

शक्ति या बल प्रयोग के द्वारा सम्बन्धियों को मारकर, घायल कर, घर-द्वार तोड़कर जब रोती विलखती हुई कन्या को बलपूर्वक छीन लिया जाता है तो इस प्रकार से प्राप्त कन्या से सम्बन्ध स्थापित करने को राक्षस विवाह कहा जाता है। कुल्लूक ने इस विवाह को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कन्या का बलपूर्वक अपहरण कर लेना और उसके साथ विवाह कर लेना ही राक्षस विवाह है, किन्तु यदि अपहरण-कर्ता के बल और.शक्ति से डर कर कन्या के माता-पिता, भाई-बन्धु अपहरणकर्ता का विरोध नहीं करते तो ऐसी स्थिति में माता-पिता, भाई-बन्धु को मारना-पीटना आवश्यक नहीं है। किन्तु यदि कन्यापक्ष के लोग विरोध करते हैं तब अपहरणकर्ता को उन्हें मारने-पीटने की आवश्यकता होती है अथवा कन्या पक्ष के पूर्ण विनाश की भी आवश्यकता हो सकती है। ऐसी स्थिति में वह मकान तोड़कर रोती विलखती कन्या का अपहरण कर उसक साथ विवाह कर सकता है।

पैशाच विवाह

यह विवाह अत्यन्त निन्दनीय और गर्हित माना गया है। इस विवाह में सोती हुई, मदहोश अथवा उन्मत्त कन्या के साथ जब कोई कामुक व्यक्ति मैथुन कर उसे अपवित्र कर उसके साथ विवाह कर लेता है तो वह पैशाच विवाह कहा जाता है। स्मृतियों में इस विवाह की बड़ी भर्त्संना की गई है। याज्ञवल्क्य ने इसे छल और कपट पर आधारित विवाह बतलाया है। धर्मशास्त्रों में इसे अत्यन्त जघन्य और अधम बताया गया है। मनु ने भी इसे निकृष्ट ही माना है।

उक्त आठ प्रकार के विवाहों में प्रथम चार विवाह पिता द्वारा या किसी अभिभावक द्वारा कन्यादान देकर सम्पन्न किए जाते हैं। यहाँ 'दान' शब्द का प्रयोग गौण अर्थ में किया गया है जिसका तात्पर्य है कि पिता अपने उत्तरदायित्व का भार तथा कन्या के नियंत्रण का भार पति को सौंप देता है। मनु ने यह स्पष्ट किया है कि सभी प्रकार के दान ब्राह्मणों में जल के साथ किधा जाता है इसीलिए प्रथम चार प्रकार के विवाहों में कन्या का दान भी संकल्पयुक्त होने से दान माना जाता है। प्रथम प्रकार के विवाह को सम्भवतः ब्राह्म इसलिए कहा जाता है कि यह विवाह अत्यधिक पवित्र या वेद स्वीकृत है। यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ पवित्र, वेद या धर्म किया गया है। आर्ष विवाह में वर से एक जोड़ा पशु लिया जाता है अतः ब्राह्म विवाह की अपेक्षा यह कम महत्त्व का है। देव विवाह केवल ब्राह्मणों में ही अधिक प्रचलित रहा होगा क्यों कि पौरोहित्य का कार्य ब्राह्मण ही करते थे। इस विवाह को देव नाम

इसलिए दिया गया होगा कि यज्ञ में देवों की पूजा होती है और यह विवाह यज्ञ में ही सम्पन्न होता है। यह विवाह भी ब्रह्म विवाह की अपेक्षा कम महत्व का है क्योंकि इस विवाह में कन्या का पिता कन्या का दान कर अपने मन में इस लाभ की भावना रखता है कि उसका यज्ञ भली भांति सम्पादित हो जाय उसको यह विश्वास है कि कन्या पाकर पुरोहित प्रसन्न होगा और अत्यधिक निष्ठा से यज्ञ में लगा रहेगा। विवाह के सभी प्रकारों में कन्या एवं वर को सभी धार्मिक कृत्य साथ-साथ करने पड़ते हैं। पत्नी, पति में कभी पृथक्त्व नहीं पाया जाता। पाणिग्रहण के उपरान्त वे सारे धार्मिक कृत्य साथ-साथ ही सम्पादित करते हैं। प्राजापत्य विवाह में पत्नी के जीते जी पति को गृहस्थ रहने संन्यासी न बनने, दूसरा विवाह न करने आदि का वचन देना पड़ता है। प्राजापत्य विवाह भी ब्रह्म विवाह से निम्न स्तर का है। क्योंकि इसमें कन्यापक्ष की ओर से शर्तं लगी रहती है जबकि ब्राह्म विवाह में वर स्वयं प्रतिवचन देता है कि धर्म, अर्थ एवं काम तीनों पुरुषार्थों में वह सदैव अपनी पत्नी के साथ रहेगा।

आसुर विवाह में कन्या तथा कन्या के मूल्य का द्रव्य का सौदा होता है। इस सौदे में कन्यापक्ष को वर तथा वर के कुल और गुण की अपेक्षा द्रव्य पर ध्यान अधिक रहता है। इसलिए यह विवाह स्वीकृत नहीं माना गया है। आर्ष और आसुर विवाह में मुख्य अन्तर यह है कि आर्ष विवाह में एक जोड़ा पशु देने की एक व्यवहारिक सीमा बाँध दी गई है किन्तु आसुर विवाह में कन्या के मूल्य के रूप में प्राप्त होने वाले द्रव्य की कोई सीमा नहीं है। वह कन्या के रूप तथा . वरपक्ष की आवश्यकता के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। गान्धर्व में पिता द्वारा दान की कोई बात नहीं है प्रत्युत उस काल तक के लिए कन्या पिता को उसके अधिकार से वंचित कर देती है। धर्मशास्त्रों में ऋषियों ने विवाह को एक संस्कार का रूप दिया हे। इसके मुख्य उद्देश्यों में धार्मिक कृत्यों द्वारा सद्गुणों की प्राप्ति एवं सन्तानोत्पत्ति तथा काम की तृप्ति की चर्चा की जाती है। किन्तु गान्धर्व विवाह में केवल काम-पिपासा की शान्ति की बात प्रमुख है अतः प्रथम चार प्रकार के विवाहों (ब्राह्म, देव, आर्ष और प्राजापत्य) की तुलना में इसे निकृष्ट माना गया है और कुछ सीमा तक अस्वीकृत भी किया गया है। इसका नाम गान्धर्व इसीलिए पड़ा है कि गन्धर्वों को कामातुर माना गया है जैसा कि तैत्तिरीय संहिता के इस कथन से 'गन्धर्व लोग स्त्रियों की अत्यधिक कामना करने वाले होते हैं (स्त्री कामा वै गन्धर्वाः)' स्पष्ट होता है। गान्धर्व विवाह में इतना अवश्य है कि इसमें कन्या की स्वीकृति ले ली जाती है। राक्षस और पैशाच विवाह में कन्यादान का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इन दोनों विवाहों में कन्यादान का विरोध स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। राक्षस विवाह में यह स्पष्ट दीखता है कि कन्या को लुटेरे की भाँति ववंश उठाकर ले जाया जाता है। राक्षस लोग अपने क्रूर एवं शक्तिशाली कार्यों के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध रहे हैं। इसीलिये विवाह को जिसमें बल-प्रयोग होता है राक्षस विवाह की संज्ञा दी गयी है। पिशाच लोग लुक छिप कर ही दुष्कर्म करते हैं अतः धोखा देकर किए जाने वाले विवाह को पैशाच विवाह की संज्ञा दी गई है।

धर्मशास्त्रों में राक्षस विवाह और पैशाच विवाह की मान्यता से यह प्रमाणित नहीं होता कि किसी भ्रष्ट कन्या के विवाह को ऋषियों ने वैधता प्रदान की है। उससे केवल इतना ही प्रकट होता है कि उस युग में कन्या के अपहरण के ये दोनों प्रकार प्रचलित थे किन्तु ये विवाह के वास्तविक प्रकार नहीं थे। यही कारण है कि ऋषियों ने पैशाच विवाह की बहुत ही भर्त्सना की है। आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ ने पैशाच एवं प्राजापत्य के नाम को विवाहों की सूची से निकाल दिया है इससे यह प्रकट होता है कि उनके काल में विवाहों के इन प्रकारों का अन्त हो चुका था। वसिष्ठ के मत में अपहृत कन्या यदि मन्त्रों से अभिषिक्त होकर विवाहित न हो सकी हो तो उसका पुनर्विवाह किया जा सकता है। स्मृतियों में कन्या के भविष्य एवं कल्याण के लिए अपहरणकर्ता एवं बलत्कार करने वाले को होम एवं सप्तपदी करने को कहा गया है, जिससे कन्या को विवाहित होने की वैधता प्राप्त हो जाए। यदि अपहरणकर्ता या बलात्कार कर्ता ऐसा करने को तैयार न हो तो कन्या का विवाह दूसरे से किया जा सकता है तथा अपहरणकर्ता या बलत्कारकर्ता को भीषण दण्ड भुगतना पड़ता है। मनु का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति की किसी कन्या से संभोग करता है, तो उसे लड़की के पिता को यदि पिता चाहे तो शुल्क देना पड़ सकता है। इस सम्बन्ध में मेधातिथि ने यह स्पष्टीकरण किया है कि यदि पिता धन नहीं चाहता है तो प्रेमी को चाहिए कि वह राजा को धन, दण्ड के रूप में दे। कन्या उसे दी जा सकती है, किन्तु यदि कन्या का प्यार उस व्तक्ति से न रह गया हो तो उसका विवाह दूसरे व्यक्ति से हो सकता है। किन्तु यदि प्रेमी स्वयं उसे स्वीकार करना न चाहता हो तो बल-प्रयोग के साथ उसे स्वीकृत कराया जाए।

अन्य धर्मग्रन्थों में गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच विवाह के लिए होम और सप्तपदी को आवश्यक माना गया है। महाभारत में यह स्पष्ट किया गया है कि स्वयंवर के पश्चात् भी धार्मिक कृत्य किया जाना चाहिए। सर्वप्रथम आश्वलायन ने ही आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है तथा होम और सप्तपदी की व्यवस्था दी है।

विविध वर्णों के लिए इन आठ प्रकार के विवाहों के सम्बन्ध में कतिपय मत प्रकाशित किए गए हैं। अधिकांश धर्मशास्त्रों में प्रथम चार अर्थात् ब्राह्म, देव, आर्ष और प्राजापत्य को स्वीकृत किया है इन्हें प्रशस्त या धर्म माना है। प्रायः सभी ने ब्राह्म विवाह को श्रेष्ठ और उसके बाद वाले को क्रमशः कम श्रेष्ठ बतलाया है। सभी के मत में पैशाच को निकृष्टतम माना गया है। एक मत से ब्राह्मणों के लिए प्रथम चार उपयुक्त विवाह हैं। पर दूसरे मत से प्रथम छः ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त माने गए हैं। अन्तिम चार क्षत्रियों के लिए गान्धर्व, आसुर एवं पैशाच वैश्यों और शूद्रों के लिए स्वीकृत विवाह है। तीसरे मत के अनुसार प्राजापत्य एवं गान्धर्व सभी वर्णों के लिए है तथा पैशाच एवं आसुर किसी वर्ण के लिए नहीं है। किन्तु मनु के मत में आसुर, वैश्य और शूद्रों के लिए मान्य है। मनु ने यह भी कहा है कि गान्धर्व एवं राक्षस क्षत्रियों के लिए उपयुक्त हैं। इन दोनों का मिश्रण भी क्षत्रियों के लिए ठीक है। मनु ने वैश्यों और शूद्रों

के लिए आसुर एवं पैशाच की व्यवस्था की है और यह कारण बतलाया है कि वैश्य एवं शूद्र अपनी स्त्रियों को नियंत्रण में नहीं रख पाते और स्वयं खेती-बारी या सेवा कार्य में लगे रहते हैं। कामसूत्र के आरम्भ में ब्राह्म को सर्वश्रेष्ठ माना गया है किन्तु अन्त में अपने विषय के प्रतिपादन के लिए गान्धर्व को ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

एक विवाह एवं बहु विवाह

धर्मशास्त्रों को देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि एक पत्नी विवाह एवं एक पति विवाह आदर्श विवाहके रूप में स्वीकृत था, तथापि बहुपत्नी विवाह व्यवहारिक रूप से और बहु पति विवाह परिस्थितिवश मान्य था। एक विवाह की आदर्शरूपता के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। धर्मपत्नी (दम्पति) आदि शब्द से भी यही ध्वनित होता है कि एक पति की एक ही पत्नी हो सकती है और एक ही पत्नी धर्मपत्नी का स्थान ग्रहण कर सकती है। यही कारण है कि पत्नी को पुरुष की अर्द्धांगिनी माना गया है। वेद-काल में भी एक विवाह को आदर्श की दृष्टि से देखा जाता रहा है। आपस्तम्ब ने भी धर्म-प्रजा-युक्त पत्नी के रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह करने का निषेध किया है। नारद का कहना है कि जो पति अपनी अनुकूल मधुभाषिणो गृहकार्य में कुशल साध्वी सन्तानयुक्त पत्नी का परित्याग करता है उसे कठोर राजदण्ड मिलना चाहिए। इसने यह स्पष्ट होता है कि एक पत्नी और एक पुरुष का सम्बन्ध मणिकाञ्चन संयोग माना जाता था जो जन्म-जन्मान्तर तक के लिए मान्य था।

किन्तु भारतीय समाज के इतिहास को देखने से ऐसा लगता है कि आदिकाल से बहु विवाह (बहु पत्नी विवाह) की प्रथा प्रचलित रही है। धर्मशास्त्रों में भी किसी परिस्थिति विशेष में पुरुष को एक से अधिक पत्नियाँ रखने का विधान किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि, एक यूप में दो रसनाएँ बाँधी जा सकती हैं अतः एक पुरुष की दो पत्नियाँ हो एक रसना दो यूपों में नही बाँधी जा सकती इसलिए एक पत्नी के दो पति नहीं हो सकते। पुरुष को एक से अधिक पत्नी रखने का विधान विशेषकर पुत्र के अभाव की स्थिति में था किन्तु बहुपत्नीत्व-प्रथा राजाओं और सम्पन्न व्यक्तियों के यहाँ अधिक प्रचलित थी। राजाओं की साधारणतया चार प्रकार की पत्नियों का उल्लेख मिलता है। महिषी (प्रधान रानी), परिवृका (प्रभावशालिनी), वावाता (व्यक्तिगत रूप से प्रिय) तथा पालागली (सबसे निम्न व्यक्ति की कन्या)।

परवर्ती धर्मशास्त्रों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि पत्नी का महत्त्व धर्म और सन्तान दोनों के लिए था अतः यदि पत्नी धर्म और प्रजा दोनों से युक्त हो तो पुरुष को दूसरी शादी करने का निषेध किया गया है। किन्तु धर्म अथवा प्रजा दोनों में से एक का भी अभाव हो तो दूसरी स्त्री से विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी।

कौटिल्य ने पुत्रहीन पति को दूसरो पत्नी करने तक आठ वर्ष की प्रतीक्षा करने के लिए कहा है। स्मृतियों में बहुभार्या पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों का विचार है कि विवाह धर्म-कार्य के अतिरिक्त काम का

भी शमन करता है, इसलिए अनुलोम के अनुसार ब्राह्मण चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो और शूद्र एक पत्नी रख सकता है। याज्ञवल्क्य ने विवेचन किया है कि रोगग्रस्त, धूर्त, वन्ध्या, मदिरा सेवन करने वाली, अत्यधिक व्यय करने वाली, अप्रियवादिनी, पति से द्वेष रखने वाली पत्नी के रहते हुए भी पुरुष दूसरी शादी कर सकता है। रामायण और महाभारत के अध्ययन से विदित होता है कि उस युग में एक से अधिक पत्नी वाले पतियों की बहुलता थी।

हिन्दू-समाज में बहुपतित्व का उतना प्रचलन नहीं था जितना कि बहुपत्नीत्व का। वैदिक ग्रन्थों से ऐसा विदित होता है कि उस युग में सम्भवतः एक पत्नी के अनेक पति हो जाया करते थे। वेदों में बहुपतित्व को स्पष्ट करने वाले अनेक उदाहरण मिलते हैं। अथर्ववेद में एक स्थल पर एक स्त्री के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पतियों में ब्राह्मण पति को अत्यन्त माननीय कहा गया है। महाभारत में भी पाँच पाण्डवों के साथ द्रौपदी का विवाह बहुपतित्व का उदाहरण है।

अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह

प्राचीन काल में अनुलोम विवाह विहित माने जाते थे किन्तु प्रतिलोम विवाह की भर्त्सना की जाती थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करने का विधान किया गया है तथा असवर्ण विवाह की भर्त्सना की गयी है। मनु ने अपने ही वर्ण में विवाह करने को सर्वोत्तम माना है किन्तु अनुलोम विवाह की स्वीकृति देकर असवर्ण विवाह का भी समर्थन किया है। अनुलोम विवाह की स्वीकृति के साथ यह प्रश्न विवादास्पद रहा है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय पुरुष शूद्र स्त्री को पत्नी बना सकता है अथवा नहीं। विष्णु धर्मसूत्र में कहा गया है कि द्विजाति यदि शूद्रा से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से धार्मिक गुण नहीं प्राप्त होते। इससे केवल कामुकता की तुष्टि हो सकती है। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण या क्षत्रिय के अपने या अपने से नीचे के वर्ण से विवाह सम्बन्ध करने को तो कहा है किन्तु द्विजातियों को शूद्र कन्या से विवाह का निषेध किया है। साथ ही साथ मनु और याज्ञवल्क्य ने यह भी कहा है कि यदि किसी ब्राह्मण को चारों वर्ण वाली पत्नियों से पुत्र हो तो ब्राह्मणी पुत्र को दस में चार भाग मिलते हैं, क्षत्राणी पुत्र को तीन, वैश्या पुत्र को दो तथा शूद्रा पुत्र को एक भाग मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनु और याज्ञवल्क्य ब्राह्मण एवं शूद्रा के विवाह का समर्थन करते हैं तथा उनकी सन्तान को पारशव नाम से सम्बोधित करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन स्मृतिकारों ने ब्राह्मण का क्षत्री या वैश्य कन्या से विवाह सम्बन्ध बिना किसी सन्देह एवं विवाद के मान लिया है। किन्तु ब्राह्मण एवं शूद्र कन्या के विवाह सम्बन्ध के विषय में मतैक्य नहीं है। ऐसे विवाह होते अवश्य थे। किन्तु उसकी मान्यता नहीं थी अतः उसकी भर्त्सना की जाती थी। प्रतिलोम विवाह धर्मशास्त्रों को मान्य नहीं था इस विवाह में उच्च वर्ण की कन्या का निम्न वर्ण के पुरुष के साथ विवाह होता था इससे उत्पन्न सन्तान को

वर्णसंकर, निष्कृष्ट और अस्पृश्य कहा जाता था। धर्मशास्त्रों के इतिहास में इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इससे लगता है कि समाज में ऐसे विवाह हो जाया करते थे किन्तु सामाजिक मान्यता न मिलने के कारण ऐसे विवाहों को भी प्रोत्साहन नहीं मिल सका।

सवर्ण और असवर्ण विवाह

धर्मशास्त्रों में सवर्ण और असवर्ण दोनों प्रकार को कन्याओं के साथ विवाह करने का विधान मिलता है। जहाँ वर और कन्या दोनों एक वर्ण के होते हैं वहाँ विवाह सवर्ण विवाह कहलाता है। किन्तु वर और कन्या के वर्ण में अन्तर होने पर विवाह असवर्ण विवाह कहलाता है। यद्यपि धर्मशास्त्रों में सवर्ण विवाह को आदर और महत्त्व की दृष्टि से देखा गया है फिर भी असवर्ण विवाह की यथार्थता को अस्वीकार नहीं किया गया। असवर्ण विवाह के सामान्यतया दो भेद हो जाते हैं. अनुलोम विवाह और प्रतिलोम विवाह। अनुलोम विवाह में उच्च वर्ण का वर अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह करता है किन्तु प्रतिलोम विवाह में निम्न वर्ण का वर अपने से उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करता है। इनकी सामाजिक स्थिति और स्वरूप के सम्बन्ध में ऊपर चर्चा किया जा चुका है। जहाँ तक सवर्ण विवाह का प्रश्न है वह प्रारम्भ से मान्य रहा और उसकी मान्यता धीरे-धीरे और भी दृढ होती गई है। इस सवर्ण विवाह के अन्तर्गत तीन प्रमुख निषेध आते हैं, अर्थात् सवर्ण होते हुए भी जहाँ वर और कन्या में विवाह को शास्त्र द्वारा स्वीकृति नहीं प्राप्त होती। एक है—सगोत्र विवाह और दूसरा है सपिण्ड विवाह तथा तीसरा है सप्रवर विवाह। इन तीनों विवाहों पर धर्मशास्त्रों ने विशेष रूप से प्रतिबन्ध लगाया है।

सगोत्र विवाह का निषेध

धर्मशास्त्रों में सगोत्र विवाह का निषेध किया गया है। गोत्र शब्द का अर्थ साधारणतया पूर्व पुरुष समझा जाता है। किन्तु गोत्र शब्द के और भी अर्थ होते हैं जैसे गौशाला, व्यक्तियों का समूह आदि। पाणिनि ने गोत्र शब्द की व्याख्या वंश या कुल के अर्थ में किया है। वस्तुतः गोत्र उस आदि पुरुष के लिए प्रयुक्त किया गया है जिसके नाम पर कुल या वंश का प्रचलन होता है तथा जो विद्या, धन, शौर्य, उदारता आदि गुणों के लिए विख्यात होता है। धर्मशास्त्रों के इतिहास को देखने से ऐसा लगता है कि गोत्र की अवधारणा का विकास उत्तर वैदिक काल तक पूर्ण हो चुका था तथा धर्मशास्त्रों ने सगोत्र विवाह को वर्जित कर दिया था। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव, कात्यायन, गौतम, काश्यप आदि ऋषियों के नाम पर गोत्रों की चर्चा की गई है। लगता है कि कालांतर में इन्हीं ऋषियों के नाम पर वंशगत गोत्र का विकास हुआ है। प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में समान गोत्र वाली कन्या से विवाह करना वर्जित माना गया है। उनके अनुसार द्विजातियों को अपने गोत्र से बाहर ही विवाह करने का विधान किया गया है।

सपिण्ड विवाह का निषेध

धर्मशास्त्रों ने सपिण्ड विवाह का भी निषेध किया है। पिण्ड का अर्थ होता है शरीर। इस प्रकार सपिण्ड का अर्थ समान शरीर के अंश वाले व्यक्ति से लिया जाता है। व्यक्तियों में सपिंडता का सम्बन्ध इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि दोनों में एक ही शरीर के वंश विद्यमान हैं। इस प्रकार बालक अपने पिता, पितामह, प्रपितामह आदि के साथ सपिण्ड सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। उसी प्रकार बालक अपनी माता, मातामह, मातुल, मौसी आदि के साथ सपिण्ड सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। यही बात बालिका के पक्ष में भी लागू होता है। रक्त सम्बन्ध से सम्बद्ध व्यक्ति सपिण्ड के अन्तर्गत आते हैं प्रायः पिता से सात पीढ़ी और माता से पाँच पीढ़ी के भीतर के लोग सपिण्ड कहे जाते हैं। विवाह निश्चित समय करते समय इसका ध्यान रखना आवश्यक होता है। वर से सात पीढ़ी और कन्या से पांच पीढ़ी का अन्तर अपेक्षित माना गया है। इस नियम के अन्तर्गत ममेरे, फुफेरे, मौसेरे भाई-बहन के विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। इसीलिए मनु ने इन तीनों प्रकार के बहनों के साथ विवाह करने का निषेध किया है। धर्मसूत्रों में सपिण्ड विवाह का स्पष्ट निषेध मिलता है। इनके अनुसार पिता के पक्ष में सात पीढ़ी तथा माता के पक्ष में पाँच पीढ़ी तक विवाह वर्जित माना गया है। गौतम ने सपिण्डता के नियम का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को भ्रष्ट और पतित माना है। बौधायन ने दक्षिणात्यों में प्रचलित ऐसे विवाहों का संकेत किया है जहाँ लोग मामा और बुआ की लड़की से विवाह करते हैं। मनु ने भी सपिण्ड विवाह का निषेध किया है तथा सपिण्ड में पिता के पक्ष से सात और माता के पक्ष से चार पीढ़ी की गणना की है। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से पिता से सात पीढ़ी तथा माता से पाँच पीढ़ी तक विवाह न करने का संकेत किया है। अन्य स्मृतियों में भी प्रायः इसी का समर्थन प्राप्त होता है।

स्मृतियों के टीकाकर भी असपिण्ड विवाह का समर्थन करते हुए उसका तार्किक आधार प्रस्तुत करते हैं। ऐसे टीकाकारों के दो वर्ग पाए जाते हैं। एक वर्ग उत्तर के टीकाकारों का है और दूसरा वर्ग दक्षिण के टीकाकारों का है। उत्तर के टीकाकारों ने सपिण्ड विवाह का विरोध किया है जबकि दक्षिण के टीकाकारों ने सपिण्ड विवाह का समर्थन किया है। देवण्ण भट्ट, पराशर तथा माधव जैसे टीकाकारों ने सपिण्ड विवाह का समर्थन किया है तथा मेधातिथि, विश्वरूप और विज्ञानेश्वर आदि टीकाकारों ने सपिण्ड विवाह का प्रबल विरोध किया है और ऐसे विवाह करने वाले को अधम बताया है।

सप्रवर विवाह का निषेध

धर्मशास्त्रों में सप्रवर विवाह का भी निषेध किया गया है। सप्रवर विवाह सगोत्र विवाह से मिलता-जुलता है। प्रवर आर्षेया के रूप में प्रारम्भ हुआ जो होता के याज्ञिक कार्य से सम्बद्ध था। साधारणतया प्रवर का अर्थ वरण करने योग्य आह्वान करने योग्य या प्रार्थनीय है। धीरे-धीरे यह शब्द पूर्वज ऋषि नामों से सम्बद्ध होता गया। पुरोहित याज्ञिक कार्य करते समय अपने सर्वश्रेष्ठ ऋषि पूर्वज के नामों का स्मरण करते थे। जो उनके समुदाय के प्रतीक होते थे। ये ऋषि व्यक्ति के पूर्वज के रूप में उसके आध्यात्मिक सांस्कारिक और सामाजिक व्यवस्थाओं से धीरे-धीरे जुड़ते गए जो बाद में चलकर प्रवर के जनक के रूप में विकसित हुए। इस प्रकार प्रवर का सम्बन्ध रक्त से न होकर व्यक्ति की पारस्परिक, धार्मिक और सामाजिक प्रक्रियाओं से हुआ। साधारणतया प्रवर ब्राह्मण समाज में ही अधिक विकसित हुआ। क्योंकि धार्मिक, याज्ञिक और आध्यात्मिक कार्य विशेष रूप से ब्राह्मण ही किया करते थे। समान प्रवर में विवाह करने को पाप माना गया है। ऐसा विवाह करने वाले ब्राह्मण को चाण्डाल उत्पन्न करने वाला कहा गया है।

पुनर्विवाह करने वाली स्त्री

धर्मशास्त्रों में स्त्री के लिए पुनर्विवाह करना वर्जित है। किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि इस विवाह के बाद समाज में उनका स्थान समान्यतया निम्न स्तर का ही रहता था। ऐसी स्त्री को परपूर्वा स्त्री कहा जाता था। जिन विशेष परिस्थितियों में स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी उनमें पति का मर जाना, बहुत दिनों तक प्रवास में रहना, सम्बन्ध विच्छेद हो जाना या संतान उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाना प्रमुख थे। वैदिक साहित्य को देखने से तो ऐसा लगता है कि उस काल में पुनर्विवाह का प्रचलन था। पति की मृत्यु पर स्त्री को दूसरा विवाह करने का पूर्ण अधिकार था। धर्मशास्त्रकारों ने भी स्त्री को यह राय दी है कि पति के मरने पर अपने देवर को अपना पति बना ले। ऐसी स्त्री को 'पुनर्भूत' कहा जाता था। कौटिल्य का मत है कि पति के विदेश चले जाने पर या संन्यास ले लेने पर या उसकी मृत्यु हो जाने पर सात बार रजस्वला होने के बाद अपुत्रवती स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार है। कौटिल्य ने यह भी व्यवस्था दी है कि पति के विदेश चले जाने पर सात तीर्थों तक अगर उससे कह कर गया हो तो एक वर्ष तक, विदेश से उसका समाचार न मिलने पर पाँच तीर्थों तक और समाचार मिलने पर दस तीर्थों तक प्रतीक्षा करने के बाद धर्माधिकारी की

अनुमति से स्त्री पुनर्विवाह अपने मन के अनुसार कर सकती है। मनुस्मृति के देखने से ऐसा लगता है कि मनु पुनर्विवाह के प्रति बहुत उदार नहीं हैं। उन्होंने स्त्रियों के लिए कठोर नियमों का विधान किया है, वे यह मानते हैं कि पति के पतित, क्लीव और उन्मत्त होने पर स्त्री को उसकी सेवा ही करनी चाहिए। उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। नारद के मत में पति के नपुंसक होने पर स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार है।

याज्ञवल्क्य ने अन्य पूर्विका स्त्री को दो प्रकार का माना है—एक पुनर्भूत और दूसरी-स्वैरिणी। वैवाहिक विधि से जिसका संस्कार होता है वह पुनर्भूत कहलाती है। किन्तु जो स्त्री अपने प्रथम पति का त्यागकर बिना विवाह की विधि के किसी सवर्ण पुरुष का आश्रय ले लेती है वह स्वैरिणी कहलाती है। याज्ञवल्क्य ने पुनर्भू का भी दो भेद माना है। क्षता (पुरुषोपभुक्ता) और दूसरी अक्षता (अभुक्ता)। जो विवाहित स्त्री वास्तविक रूप में कन्या और अक्षत योनि होती है किन्तु मात्र परिणय के कारण दूषित मानी जाती है वह दुसरा विवाह संस्कार कराने के कारण अक्षता पुनर्भूत कहलाती है। यदि स्त्री प्रथम विवाह के बाद पुरुष के द्वारा उपभुक्त हो चुकी है और किसी कारणवश पुनर्विवाह करती है तो उसे क्षतापुनर्भू कहा जाता है। बौधायन ने पुनर्भू के सात प्रकार होने की चर्चा की है। वाग्दत्ता, मनोदत्ता, वर के साथ अग्नि परिगता, भुक्ता, सप्तपदगता, गृहीतगर्भा तथा प्रसूता। पराशर ने पति के विनष्ट होने, मरने, पतित होने, नपुंसक होने, संन्यासी हो जाने पर स्त्री को दूसरे पति के साथ विवाह करने की अनुमति प्रदान की है।

इन तथ्यों से ऐसा लगता है कि विधवा अथवा सधवा दोनों प्रकार की स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति प्राप्त थी किन्तु इस प्रकार के विवाह की सामाजिक मान्यता होते हुए भी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं थी इसलिए इस प्रकार का विवाह व्यापक प्रचलन का स्वरूप ग्रहण न कर सका और धीरे-धीरे लुप्तप्राय हो गया।

वर एवं वधू की अपेक्षित विशेषताएँ

वर-वधू का चुनाव उसकी योग्यता एवं गुणों के आधार पर किया जाता है। मनु का कहना है कि श्रेष्ठ सुन्दर और योग्य वर मिल जाय तो कन्या का विवाह, विवाह की अवस्था होने के पूर्व भी किया जा सकता है। वर के गुणों में उसका वंश, उत्तम चरित्र, सुन्दरता, यश, विद्या, सनाथता एवं धन आदि सात गुण आवश्यक माने गये हैं। वर के अन्य गुणों में उसका अखण्ड ब्रह्मचारी होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। वर के अन्य गुणों में उत्तम स्वास्थ्य, सर्वप्रियता, नवयौवन, बुद्धिमत्ता आदि

प्रमुख माने गये हैं। मनु ने वेदाध्ययन पर विशेष बल दिया है उनके अनुसार सभी वेदों का पण्डित दो वेद अथवा कम से कम एक वेद का पण्डित जिसका ब्रह्मचर्य लुप्त न हुआ हो वर के लिए श्रेष्ठ माना गया है। शास्त्रकारों ने वर के चुनाव में उसके पुरुषत्व पर अधिक बल दिया है। नारद का कहना है कि स्त्री की सृष्टि सन्तान के लिए हुई है, स्त्री क्षेत्र है पुरुष बीजी। क्षेत्र बलवान को प्राप्त होना चाहिए बलशून्य को क्षेत्र कभी भी नहीं देना चाहिए। मनु का कहना है कि क्षेत्र और बीज में बीज की प्रधानता है क्योंकि समस्त प्राणियों की उत्पत्ति बीज से ही होती है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि योग्य वर न मिले तो भले ही कन्या पिता के घर आजीवन रह जाए किन्तु गुणहीन वर को उसे कदापि नहीं देना चाहिए।

वर के समान वधू के गुण और योग्यताओं पर धर्मशास्त्रों ने प्रकाश डाला है। कन्या के गुणों में बुद्धिमत्ता, सुन्दरता, सुशीलता, स्वास्थ्य तथा उत्कृष्ट विचार आदि प्रमुख हैं। कन्या की योग्यताओं का निर्धारण तीन आधारों पर किया जाता है। उसकी शारीरिक विशेषता, बौद्धिक विशेषता एवं आचरणगत विशेषता। मिताक्षरा ने कन्या के तीन गुणों को विशेष महत्त्व दिया है। प्रथम वर से कम आयु का होना, द्वितीय अनन्य पूर्विका अर्थात् किसी अन्य के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित न होना और तीसरा माता बनने की क्षमता रखना। भारद्वाज का कथन है कि विवाह के लिए चयन करते समय कन्या के वित्त, रूप, प्रज्ञा और बान्धव इन चार गुणों पर विचार करना चाहिए। कन्या के गुणों का निर्देश करते हुए मनु ने स्पष्ट किया है कि कन्या को अतिरिक्त अंगों से रहित अविकलांगो, सुन्दर नाम वाली, हंसगामिनी, गजगामिनी, सूक्ष्म रोमवाली, पतले-पतले दातों वाली तथा सुकुमार शरीर वाली होना चाहिए।

विवाह के अयोग्य वर एवं वधू

धर्मशास्त्रों में जिस प्रकार वर और वधू की अपेक्षित अर्हताओं का वर्ण मिलता है, उसी प्रकार उनकी अयोग्यताओं का जिनके कारण उन्हें विवाह के लिए वर्जित किया गया है का निरूपण भी प्राप्त होता है। साधारणतः वर के लिए शरीर, मन और बुद्धि से भयंकर रोगग्रस्त होने पर विवाह करने का निषेध किया गया है। नपुंसक और पतित वर को भी विवाह के अयोग्य माना गया है। नारद ने चौदह प्रकार के अयोग्य वरों का उल्लेख किया है प्रव्रजित (सन्यस्त) लोकविद्विष्टः, मित्रों तथा सम्बन्धियों से परित्यक्त, विजातीय, क्षयरोगी, लिंगस्थ, गुप्तवेशधारी, उदरी (पेटू या बड़े पेट वाला), प्रमत्त (पागल), पतितकुष्ठी, सगोत्र, अन्ध-बधिर, अपस्मार रोगी आदि। मनु ने सामान्य नियम के अनुसार नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बहरा,

पागल, जड़, गूंगा और किसी इन्द्रिय से शून्य को विवाह के अयोग्य माना है क्योंकि ये वास्तव में पैतृक धन के भागीदार नहीं होते हैं केवल भोजन, वस्त्र का ही अधिकार प्राप्त है। पर इनके सम्बन्ध में मनु ने यह उदारता दिखलाई है कि यदि यह विवाह करना चाहें तो विवाह कर सकते हैं और नपुंसक का क्षेत्रज पुत्र तथा पतित का औरस पुत्र पैतृक धन का उत्तराधिकारी हो सकता है।

धर्मशास्त्रों में दोष युक्त कन्या को विवाह के लिए अयोग्य माना है। कन्या के दोषों या अवगुणों का वर्णन करते हुए मनु ने कहा है कि भूरे वर्ण वाली, न्यूनाधिक अंगोंवाली, नित्य रोगी रहने वाली, बिल्कुल रोम रहित अथवा अत्यधिक रोम वाली, वाचाल तथा भूरी आँखों वाली कन्या विवाह के लिए अयोग्य है। इसी प्रकार नक्षत्र, पेड, नदी, पहाड़, पक्षी, सर्प, दूत या दासी के नामों वाली तथा भयंकर नाम वाली कन्या को भी विवाह के लिए अयोग्य माना है। विष्णु पुराण में कन्या की अयोग्यताओं की चर्चा करते हुए कहा गया है कि कम या अधिक केश वाली, अत्यन्त साँवली या पाण्डुवर्ण वाली, अधिक या कम अंगों वाली, अपवित्र, अकुलीन या रोगिणी कन्या विवाह के अयोग्य होती है। साथ ही साथ दुष्ट स्वभाव वाली, कटुभाषिणी, मूँछ-दाढ़ी वाली, पुरुष के समान आकार वाली, कर्ण कटु स्वर वाली, गोल नेत्र वाली, जाँघों पर बाल वाली, ऊँच गुल्फे वाली तथा हँसते समय जिसके गाल में गड्ढे पड़ जाते हैं, जिसकी कान्ति अत्यन्त मलिन हो, आँख रक्तवर्ण के हों, हाथ-पैर भारी हों, अत्यन्त नाटी हो, दाँतों में अधिक अन्तर हो, दाँत बाहर निकले हों, ऐसी कन्या भी विवाह के लिए अयोग्य मानी गई है।

विवाह की आयु

वर-वधू के विवाह की आयु के विषय में धर्मशास्त्रों में मतभेद मिलता है। यद्यपि वर की आयु के विषय में कोई विशेष मतभेद नहीं है क्योंकि उसे प्रथम आश्रम के कर्त्तव्यों को समाप्त करके ही द्वितीय आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार है अतः इसके लिए यह कहा जा सकता है कि वह लगभग पच्चीस वर्ष की आयु ब्रह्मचर्याश्रम में पूर्ण करके ही गृहस्थ होने की आज्ञा गुरु से प्राप्त करेगा। तथापि कन्या की आयु के विषय में कोई निश्चित मत प्राप्त नहीं होता। मनु ने तीस वर्ष के पुरुष के लिए बारह वर्ष की कन्या के साथ तथा चौबीस वर्ष के पुरुष को आठ की कन्या के साथ विवाह करना अच्छा समझा है।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में अल्प वय वाली कन्या के विवाह का विधान मिलता है। धर्मशास्त्रों में यह कहा गया है कि कन्या का विवाह रजोदर्शन अथवा वस्त्र पहनने (लज्जा करने) की अवस्था के पूर्व ही कर देना चाहिए।

कन्या के विवाह के लिए कम आयु के निर्धारण के दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो उसमें मानसिक विकास न होने से अपने भावी पति के सम्बन्ध में विशेष कल्पना का न होना और दूसरा पारिवारिक अभियोजन की क्षमता और पवित्रता। कन्या यदि अधिक उम्र की हो जाती है तो उसके मन में अपने भावी पति के प्रति एक कल्पनात्मक चित्र अंकित हो जाता है और यदि उस चित्र के अनुरूप उसे पति नहीं मिल सका तो उसे असन्तोष होता है उसके आदर्श के अनुकूल पति न होने से पति के प्रति होने वाले कर्त्तव्यो में उतनी जागरुकता सम्भव नहीं हो पाती जितना अपेक्षित है। साथ ही साथ पति से अतिरिक्त यदि कोई पुरुष उसकी कल्पना से मिलता है तो उसके मन में आकर्षण का हो जाना स्वाभाविक है। स्त्री को पति के प्रति अत्यधिक अनुरक्त बनाने के लिए ही धर्मशास्त्रों ने अल्प वय की कन्या के विवाह का निर्देश किया है। दूसरी ओर अधिक उम्र हो जाने के कारण कन्या को अपने पति के परिवार में अभियोजन की कठिनाई होती है। क्योंकि अपने माता-पिता के घर में उसके अनेक ऐसे अभ्यास हो जाते हैं जिन्हें पति घर में छोड़ना कठिन हो जाता है और जिन्हें छोड़े बिना वहाँ अभियोजन होना सम्भव नहीं लगता। धर्मशास्त्रों की दृष्टि में स्त्री को योग्य सन्तान करने का एकमात्र आधार माना गया है जिसके लिए धर्मशास्त्रों में स्त्री के यौन पवित्रता पर विशेष ध्यान दिया गया है। विवाह के लिए कम वय का निर्धारण इस दृष्टि से भी उपयुक्त माना गया है।

इस प्रसङ्ग में पितरों की कृपा से वरुण पुत्र पुष्कर से उत्पन्न एवं परस्पर विवाह के लिए तत्पर मालिनी के साथ कन्या की माता एवं वर के पितरों के साक्ष्य में यह विवाह होता है, अतः यह प्रशस्त विवाह है[1]।

॥ इस प्रकार अन्ठानवेवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥



---

१. यह विषय "धर्मशास्त्रों का समाज दर्शन के ग्रन्थ" से पृ० १६१ से २८८ पृ० कतिपय अंश लिए गये हैं।

नवनवतितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः परं तु भौत्यस्य समुत्पत्तिं निशामय।
देवानृषींस्तथा पुत्रांस्तथैव वसुधाधिपान् ॥१॥
बभूवाङ्गिरसः शिष्यो भूतिर्नाम्नातिकोपनः।
चण्डशापपूरोऽल्पेऽर्थे मुनिरागस्य सौम्यवाक् ॥२॥
तस्याश्रमे मातारिश्वा न ववावतिनिष्ठुरम्।
नातितापं रविश्चक्रे पर्ज्जन्यो नातिकर्दमम् ॥३॥
नातिशीतश्च शीतांशुः परिपूर्णोऽपि रश्मिभिः।
चकार भीत्या वै तस्य कोपनस्यातितेजसः ॥४॥
ऋतवश्च क्रमं त्यक्त्वा वृक्षेष्वाश्रमजन्मसु।
तस्य पुष्पफलञ्चक्रुराज्ञया सार्वकालिकम् ॥५॥
ऊहुरापश्च छन्देन तस्याश्रमसमीपगाः।
कमण्डलुगताश्चैव तस्य भीता महात्मनः ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इसके बाद भौत्यनामक मनु की उत्पत्ति एवम् उस मन्वन्तर के देवगण, ऋषिगण और उस मन्वन्तर के वसुधाधिपति पुत्रों के विषय में सुने ॥१॥

मुनिश्रेष्ठ अङ्गिरा को भूति नाम का एक पुत्र था, वह अतिशय क्रोधी, साधारण सी बात पर ही भयङ्कर अभिशापदायक एवम् निरपराध व्यक्ति को भी वे कटु शब्दों का प्रयोग कर देते थे ॥२॥

उस क्रोधी स्वभाव, अतिशय तेजस्वी ऋषि के भय से उनके आश्रम में वायु अतिशय निष्ठुरता से प्रवाहित नहीं होती थी, सूर्य अतिशय प्रखर ताप प्रदान करने का साहस नहीं करते थे, पर्जन्यदेव भी अर्थात् जलाधिदेव भी अतिशय जल की वृष्टि से अतिशय पङ्किल (कीचड़) भूमि नहीं करते थे, परिपूर्ण चन्द्र भी अपनी किरणों से अतिशय शैत्य नहीं करते थे ॥३-४॥

उनकी आज्ञा के अनुसार ऋतुएँ अपने क्रम का त्याग कर उनके आश्रम के वृक्ष सभी समय फल और पुष्प की उत्पत्ति करते थे ॥५॥

महात्मा भूति के भय से आश्रम के समीप के जल उनकी इच्छा के अनुसार क्षणमात्र में पुनः-पुनः कमण्डलु में भर जाता था ॥६॥

नातिक्लेशसहो विप्र सोऽभवत्कोपनो भृशम् ।
अपुत्रश्च महाभागः स तपस्यकरोन्मनः ॥७॥
पुत्रकामो यताहारः शीतवातानलाहतः ।
तपस्यामि विचिन्त्येति तपस्येव मनो दधे ॥८॥
तस्येन्दुनातिशीताय नाति तापाथ भास्करः ।
अभवन्मातरिश्वा च ववौ नाति महामुने ! ॥९॥
आपीड्यमानो द्वन्द्वैश्च सभूतिर्मुनिसत्तमः ।
अनवाप्याभिलाषन्तं तपसः सन्यवर्त्तत ॥१०॥
तस्य भ्राता सुवर्चाऽभूद्यज्ञे तेनाभिमन्त्रितः ।
यियासुः शान्तिनामानं शिष्यमाह महामतिम् ॥११॥
प्रशान्तमक्षप्रतिमं विनीतं गुरुकर्मणि ।
सदोद्युक्तं शुभाचारमुदारं मुनिसत्तमम् ॥१२॥

भूतिरुवाच—

अहं यज्ञं गमिष्यामि भ्रातुः शान्ते सुवर्चसः ।
तेनाहूतस्त्वया चेह यत्कर्त्तव्यं श्रृणुष्व तत् ॥१३॥

हे विप्र ! अतिशयक्रोधी वह मुनि विशेष कष्ट को सहन करने में समर्थ नहीं थे, फिर भी पुत्रहीन होने के कारण उन्होंने तपस्या करने का मन में संकल्प किया ॥७॥

वह पुत्र की कामना वाला ऋषि संयत भोजन अर्थात् परिमित आहार कर शीत, और उष्ण वायु के क्लेशों को सहन करते हुए तपस्या में ही मनोयोगपूर्वक लगे रहे ॥८॥

हे महामुने ! उनकी तपस्या के समय न तो चन्द्र अपनी हिम किरणों से शीतलता फैलाता, न सूर्य अपनी प्रखर किरणों से ताप उत्पन्न करता और वायु भी प्रबल वेग से प्रवाहित नहीं होता था ॥९॥

वह मुनि श्रेष्ठ भूति शीत उष्ण आदि क्लेशों से सन्तप्त होकर भी अभीष्ट की प्राप्ति न होने के कारण तपस्या से निवृत्त हो गये ॥१०॥

सुवर्चा नामक उनका एक भाई था, उसने मुनि को यज्ञ में आमन्त्रित किया, यज्ञ में सम्मिलित होने की इच्छा करके परम बुद्धिमान्, प्रशान्त, अक्ष के समान विनीत-भाव से गुरु के कार्यों के साधन में सतत उद्यत, शुभाचार सम्पन्न उदार शान्तिनामक मुनिश्रेष्ठ को बुलाकर कहा ॥११-१२॥

महामुनि भूति ने कहा—

हे शान्ते ! भाई सुवर्चा ने निमन्त्रण दिया है, अतः उनके यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए जा रहा हूँ, यहाँ पर तुम्हें जो करना है, वह कह रहा हूँ, सुनो ॥१३॥

प्रति जागरणं वह्नेस्त्वया कार्यं ममाश्रमे।
तथा तथा प्रयत्नेन यथाग्निर्न शमं व्रजेत् ॥१४॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्याज्ञाप्य तथेत्युक्तो गुरुः शिष्येण शान्तिना।
जगाम यज्ञं तं भ्रातुराहूतः स यवीयसा ॥१५॥
स च शान्तिर्वनाद्यावत्समित्पुष्पफलादिकम्।
उपानयति भूत्यर्थं गुरोस्तस्य महात्मनः ॥१६॥
अन्यच्च कुरुते कर्म गुरुभक्तिवशानुगः।
प्रशान्तस्तावदनलो योऽसौ भूतिपरिग्रहः ॥१७॥
तं दृष्ट्वा सोऽनलं शान्तं शान्तिरत्यन्तदुःखितः।
भीतश्च भूतेर्बहुधा चिन्तामाप महामतिः ॥१८॥
किं करोमि कथं वात्र भविताऽऽगमनं गुरोः।
मयाद्य प्रतिपत्तव्यं किं कृते सुकृतं भवेत् ॥१९॥
प्रशान्ताग्निमिमं धिष्ट्यं यदि पश्यति मे गुरुः।
ततो मां विषमे ह्यद्य व्यसने सन्नियोक्ष्यति ॥२०॥

तुम मेरे आश्रम में अग्नि को सदा प्रदीप्त रखना, यह अग्नि किसी भी तरह शान्त न हो, इसमें सावधान रहना ॥१४॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

गुरु के आदेश को सुन कर शान्ति ने कहा, गुरुदेव! ऐसा ही करूँगा—यह कहने पर, भूति अपने छोटे भाई से आहूत होकर, उस यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए चले गये ॥१५॥

वह शान्ति जब महात्मा गुरु की अग्नि के सम्बर्द्धन-रक्षण के लिए वन से लकड़ी, पुष्प-फल आदि को लाने के लिए चला गया एवं गुरु की भक्ति के अधीन अन्य कार्यों का भी सम्पादन किया, उसी मध्य में मुनिश्रेष्ठ भूति से परिगृहीत अग्नि शान्त हो गई ॥१६-१७॥

वह महामति शान्ति अग्न को बुझी हुई अर्थात् शान्त देखकर अत्यन्त दुःखी हुआ एवम् भूति के भय से डर कर सोचने लगा, क्या करूँ, यहाँ कैसे गुरुदेव का आगमन होगा ? इस समय मेरा क्या कर्तव्य है ? क्या करने से अच्छा होगा ? ॥१८-१९॥

यदि मेरे गुरुदेव इस अग्नि को कुण्ड में निर्वापित = बुझी हुई देखेंगे तो निश्चय ही मुझे विषम = भयङ्कर संकट में डाल देंगे ॥२०॥

यदन्यमग्निमत्राहमग्निस्थाने करोमि तत् ।
सर्वं प्रत्यक्षदृग्भस्म सोऽवश्यं मां करिष्यति ॥२१।
सोऽहं पापो गुरोस्तस्य निमित्तं कोपशापयोः ।
तथात्मानं न शोचामि यथा पापं कृतं गुरोः ॥२२।
दृष्ट्वा प्रशान्तमनलं नूनं शप्स्यति मां गुरुः ।
अथ वा पावकः क्रुद्धस्तथावीर्यो हि स द्विजः ॥२३।
यस्य प्रभावाद् बिभ्यन्तो देवास्तिष्ठन्ति शासने ।
कृतागसं समां युक्त्या कया नाधर्षयिष्यति ॥२४।

मार्कण्डेय उवाच—

बहुधैवं विचिन्त्याऽसौ भीतस्तस्य सदा गुरोः ।
ययौ मतिमतां श्रेष्ठः शरणं जातवेदसम् ॥२५।
स चकार तदा स्तोत्रं सप्तार्चेर्यतमानसः ।
स चैकचित्तो मेदिन्यां न्यस्तजानुः कृताञ्जलिः ॥२६।

यदि मैं इस अग्नि कुण्ड में अन्य अग्निदेव को प्रतिष्ठित करता हूँ तो प्रत्यक्षद्रष्टा मेरे गुरुदेव अवश्य ही मुझे भस्म कर देंगे ॥२१॥

मैं पापात्मा हूँ कि गुरुदेव के कोप और शाप का भाजन हो रहा हूँ—इसकी मुझे चिन्ता नहीं है, किन्तु दुःख इसलिए हो रहा है कि गुरु के सम्मुख मैं पाप करूँगा ॥२२॥

गुरुदेव अग्नि को प्रशान्त देखकर मुझे अवश्य ही शाप देंगे या अग्निदेव ही क्रुद्ध होंगे, अर्थात् उनके भय से क्रुद्ध होकर मुझे शाप देंगे, क्योंकि, मेरे द्विज गुरुदेव का वैसा असाधारण प्रभाव है ॥२३॥

जिसके प्रभाव से डर कर उनकी इच्छा के अधीन रहते हैं, वे हमको अपराधी समझ कर कौन सा दण्ड न देंगे ? ॥२४॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

गुरु के भय से डरा हुआ वह बुद्धिमानों में श्रेष्ठ शान्ति इस तरह अनेक प्रकार से विचार करता हुआ वेद के आविर्भाव कर्ता अग्निदेव की शरण में उपस्थित हुआ ॥२५॥

वह शान्ति चित्त को संयत कर अर्थात् एकाग्र तन्मय मानस होकर पृथिवी पर घुटना टेक कर हाथ जोड़कर सातशिखाओं से समन्वित अग्निदेव का स्तोत्र पाठ करने लगा ॥२६॥

शान्तिरुवाच—

ॐ नमः सर्वभूतानां साधनाय महात्मने ।
एकद्विपञ्चधिष्ण्याय राजसूये षडात्मने ॥२७॥
नमः समस्तदेवानां वृत्तिदाय सुवर्चसे ।
शुक्ररूपाय जगतामशेषाणां स्थितिप्रदः ॥२८॥
त्वं मुखं सर्वदेवानां त्वयात्तुं भगवान् हविः ।
प्रीणयत्यखिलान्देवान् त्वत्प्राणाः सर्वदेवताः ॥२९॥
हुतं हविस्त्वय्यमलमेधत्वमुपगच्छति ।
ततश्च जलरूपेण परिणाममुपैति यत् ॥३०॥
तेनाखिलौषधी जन्म भवत्यनिलसारथे ! ।
ओषधीभिरशेषाभिः सुखं जीवन्ति जन्तवः ॥३१॥
वितन्वते नरा यज्ञान् त्वत्सृष्टास्वोषधीषु च ।
यज्ञैर्देवास्तथा दैत्यास्तद्वद्रक्षांसि पावक ! ॥३२॥

शान्ति स्तोत्र पाठ करने लगा—

जो प्राणिमात्र का जीवनाधायक है, जो महान् आत्मा है, जो एक, दो और पाँच स्वरूप धारी है एवं जो राजसूय यज्ञ में छः स्वरूप को धारण करने वाला है, उस अग्निदेव को मेरा नमन है ॥२७॥

जो सभी देवगणों को वृत्ति = जीवन प्रदान करता है जो अतिशय तेजस्वी है, जो सम्पूर्ण विश्व को स्थिति प्रदान करता है, उस शुक्ररूपी अग्निदेव को नमस्कार है ॥२८॥

तुम ही सभी देवों के मुख स्वरूप हो, तुम्हारे द्वारा भगवान् घृतपान कर अर्थात् स्वाहारूप में आहुति ग्रहण कर सभी देवों को सन्तुष्ट करते हैं ॥२९॥

हे अग्निदेव ! तुम ही सभी देवों के प्राणस्वरूप हो, तुम में हवनीय द्रव्य आहुति के द्वारा निर्मल मेघस्वरूप में परिणति प्राप्त करता है और वह जल रूप में परिणत होता है ॥३०॥

हे वायुदेव सारथि ! जल के ही द्वारा सभी औषधियों की उत्पत्ति होती है और इन औषधियों से ही प्राणिमात्र सुखपूर्वक जीवन धारण करते हैं ॥३१॥

हे पावक ! तुम्हारे द्वारा उत्पन्न की गई औषधियों से मनुष्य यज्ञ करते हैं और उन यज्ञों से देव, दैत्य और राक्षसगण सन्तृप्त होते हैं ॥३२॥

आप्यायन्ते च ते यज्ञास्त्वदाधारा हुताशन !
अतः सर्वस्य योनिस्त्वं वह्ने ! सर्वमयस्तथा ॥३३॥
देवता दानवा यक्षा दैत्या गन्धर्वराक्षसाः ।
मानुषाः पशवो वृक्षामृगपक्षिसरीसृपाः ॥३४॥
आप्याप्यन्ते त्वया सर्वे सम्वर्ध्यन्ते च पावक ! ।
त्वत्त एवोद्भवं यान्ति त्वय्यन्ते च तथा लयम् ॥३५॥
अपः सृजसि देव ! त्वं त्वमत्सि पुनरेव ताः ।
पच्यमानास्त्वया ताश्च प्राणिनां पुष्टिकारणम् ॥३६॥
देवेषु तेजोरूपेण कान्त्या सिद्धेष्ववस्थितः ।
विषरूपेण नागेषु वायुरूपः पतत्रिषु ॥३७॥
मनुजेषु भवान् क्रोधो मोहः पक्षिमृगादिषु ।
अवष्टम्भोऽसि तरुषु काठिन्यं त्वं महीं प्रति ॥३८॥
जले द्रवत्वं भगवान् जवरूपी तथाऽनिले ।
व्यापित्वेन तथैवाग्ने ! नभस्यात्मा व्यवस्थितः ॥३९॥
त्वमग्ने ! सर्वभूतानामन्तश्चरसि पालयन् ।
त्वमेकबाहुः कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ॥४०॥

हे हुताशन ! क्योंकि तुम ही उन यज्ञों के आधार स्वरूप हो, अतः हे बह्ने ! तुम ही सभी के उत्पादक और सर्वमय हो। हे पावक ! देवता, दानव, यक्ष, दैत्य, गन्धर्व, राक्षस, मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी और सरीसृपगण तुम्हारे ही द्वारा सन्तृप्त होते हैं, वे सदा तुमसे स्थिति धारण करते हैं अर्थात् प्राण सम्बन्धयुक्त होते हैं तुम से ही उद्भूत होते हैं और तुम में लय प्राप्त करते हैं ॥३३-३५॥

हे देव ! तुम ही जल की सृष्टि करते हो और पुनः उसका पान भी करते हो, तुम ही उस जल को पचाकर उससे प्राणिमात्र की पुष्टि करते हो, अर्थात् तुम्हारे पच्यमान जल प्राणिमात्र का पुष्टिकारक होता है। हे भगवन् अग्ने ! तुम देवों में दीप्ति रूप में, सिद्धों में कान्तिरूप में, नागों में विष के रूप में, पक्षियों में वायु के रूप में वर्तमान रहते हो ॥३६-३७॥

हे देव ! तुम ही मनुष्यों के क्रोध में, पक्षी और पशुओं में मोहरूप में, वृक्षों में अवष्टम्भरूप में, पृथिवी में काठिन्यरूप में एवं जल में द्रवत्व के रूप में, वायु में वेगरूप में, आकाश में व्यापकत्पररूप में अपने को व्यवस्थित अर्थात् वर्तमान रखते हो ॥३८-३९॥

हे अग्ने ! तुम ही सभी प्राणियों का पालन करते हुए अन्दर में विचरण करते हो, मनीषिगण = या क्रान्तद्रष्टा कविगण तुमको एक के रूप में वर्णन करते हैं और पुनः त्रिविध रूप में भी निर्दिष्ट करते हैं ॥४०॥

त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञमाद्यमकल्पयन् ।
त्वया सृष्टमिदं विश्वं वदन्ति परमर्षयः ।।४१।
त्वामृते हि जगत् सर्वं सद्यो नश्येद्धुताशन ! ।
तुभ्यं कृत्वा द्विजः पूजां स्वकर्मविहितां गतिम् ।।४२।
प्रयाति हव्यकव्याद्यैः स्वधास्वाहाभ्युदीरणात् ।
परिणामात्मवीर्य्या हि प्राणिनाममरार्चित ! ।।४३।
दहन्ति सर्वभूतानि ततो निष्क्रम्यहेतयः ।
जातवेदस्तवैवेयं विश्वसृष्टिर्महाद्युते ! ।।४४।
तवैव वैदिकं कर्म सर्वभूतात्मकं जगत् ।
नमस्तेऽनल ! पिङ्गाक्ष ! नमस्तेऽस्तु ! हुताशन ! ।।४५।
पावकाद्य नमस्तेऽस्तु नमस्ते हव्यवाहन ! ।
त्वमेव भुक्तपीतानां पाचनाद्विश्वपावकः ।।४६।
शस्यानां पाककर्त्ता त्वं पोष्टा त्वं जगतस्तथा ।
त्वमेव मेधस्त्वं वायुस्त्वं बीजं शस्यहेतुकम् ।।४७।

कवियों ने तुम्हारे आठ प्रकार के स्वरूपों की कल्पना कर आद्य यज्ञ की कल्पना की है, तुम्हारे ही द्वारा जगत् की सृष्टि होती है—यह परम ऋषियों का कथन है ।।४१।।

हे हुताशन ! तुम्हारे विना अशेष जगत् सद्यः अर्थात् क्षण भर में ही विनष्ट हो जायगा, द्विजगण हव्य-कव्य आदि के द्वारा पूजाकर स्वधा स्वाहा का उच्चारण से अपने कर्मों के अनुरूप उत्तम गति को प्राप्त करते हैं ।।४२।।

हे देवगणपूजित अग्निदेव ! क्योंकि, प्राणियों के परिणाम = क्लेश स्वरूपा वीर्यस्वरूपा अग्निशिखा ही है इसलिए ये तुमसे ही निकलकर प्राणियों को दग्ध = सन्तप्त करती है । हे महाद्युति सम्पन्न जातवेद ! यह विश्व तुम्हारी ही सृष्टि है ।। ४३-४४ ।।

हे अग्निदेव ! वैदिक कर्म एवं सर्वभूतात्मक जगत् तुम्हारे ही अधीन है, हे पिङ्गाक्ष अनल ! तुमको नमस्कार करता हूँ, हे हुताशन ! तुमको नमस्कार है ।। ४५ ।।

हे आद्य ! हे पावक ! तुमको नमस्कार है, हे हव्यवाहन ! तुमको प्रणाम करता हूँ । तुमही खाये और पीये हुए द्रव्यों के पाककर्ता होने से जगत् के पावक हो ।

तुम ही शस्य के पाक करने वाले हो एवं जगत् के पुष्टि विधान करने वाले हो । तुम ही मेघ हो, तुम ही वायु हो, तुम ही शस्य को उत्पन्न करने वाले बीजस्वरूप हो ।। ४६-४७ ।।

पोषाय सर्वभूतानां भूतभव्यभवोह्यसि ।
त्वं ज्योतिः सर्वभूतेषु त्वमादित्यो विभावसुः ॥४८॥
त्वमहस्त्वं तथा रात्रिरुभे सन्ध्ये तथा भवान् ।
हिरण्यरेतास्त्वं वह्ने ! हिरण्योद्भवकारणम् ॥४९॥
हिरण्यगर्भश्च भवान् हिरण्यसदृशप्रभः ।
त्वं मुहूर्त्तं क्षणाश्च त्वं त्वं त्रुटिस्त्वं तथा लवः ॥५०॥
कलाकाष्ठानिमेषादिरूपेणाऽसि जगत्प्रभो ! ।
त्वमेतदखिलं कालः परिणामात्मको भवान् ॥५१॥
या जिह्वा भवतः काली कालनिष्ठाकरी प्रभो ।
भयान्न पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥५२॥
करालीनामा मया जिह्वा महाप्रलयकारणम् ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥५३॥

सभी भूतों के पोषण करने के लिए भूत, भविष्य और वर्तमान स्वरूप हो, तुम सभी भूतों में दीप्तिस्वरूप हो, तुमही आदित्य स्वरूप सूर्य हो । तुम ही दिन हो, तुम ही रात्रि हो, तुम ही दोनों सन्ध्या हो । हे ब्रह्म ! तुम ही हिरण्यरेता एवं सुवर्ण को उत्पन्न करने वाले हो । तुमही हिरण्यगर्भ एवं सुवर्ण सदृश कान्ति से युक्त हो । तुम ही मुहूर्त हो, तुम ही क्षण हो, तुम ही त्रुटि हो, तुम ही लव हो ॥ ४८-५० ॥

इस पद्य के अनुवाद में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मत प्रदर्शन किया है—

१—डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री :—"हे अमरार्चित ! प्राणियों को परिणाम आत्मवीर्य स्वरूप ।

२—श्री वृन्दादास "हे देवताओं से पूजित अग्निदेव ! सभी प्राणियों का आत्मा और पराक्रम आपही से है ।

३—भारत धर्म महामण्डल :—देव पूजित अग्निदेव ! प्राणियों की परिणामिनी अवस्था में अर्थात् उनकी अन्तिम अवस्था में तुमसे अत्युग्र शिखा से उत्पन्न होकर समस्त जीवों को दग्ध कर देती है ।

हे जगत्प्रभो ! तुमही कला, काष्ठा निमेष के रूप में परिणात्मक अनन्त काल हो ॥ ५१ ॥

हे प्रभो ! तुम्हारी कालकी आधारस्वरूपा काली जिह्वा देव ! उससे पापमय और ऐहिक महामय से मेरी रक्षा करो ॥ ५२ ॥

महाप्रलय की कारणस्वरूपा जो कराली नामकी तुम्हारी उससे ऐहिक महाभय और पापों से मेरी रक्षा करो ॥ ५३ ॥

मनोजवा च या जिह्वा लघिमा गुणलक्षणा ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥५४।
करोति कामं भूतेभ्यो या ते जिह्वा सुलोहिता ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥५५।
सधूम्रवर्णा या जिह्वा प्राणिनां रोगदायिका ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥५६।
स्फुलिङ्गिनी च या जिह्वा यतः सकलपुद्गला ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥५७।
या ते विश्वा सदा जिह्वा प्राणिनां शर्मदायिनी ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥५८।
पिङ्गाक्ष ! लोहितग्रीव ! कृष्णवर्णहुताशन ! ।
त्राहि मां सर्वदोषेभ्यः संसारादुद्धरेह माम् ॥५९।
प्रसीद वह्ने ! सप्तार्चिः कृशानोः हव्यवाहन ! ।
अग्निपावकशुक्रादिनामाष्टभिरुदीरितः ॥६०।

लघिमा गुण से विशिष्ट मनोजवा नाम की जो तुम्हारी जिह्वा है, उससे ऐहिक महाभय और पापों से हमलोगों की रक्षा करो ॥ ५४ ॥

सुलेहिता नाम की जो तुम्हारी जिह्वा है, जो प्राणियों की कामनाओं को पूर्ण करती है, उसके द्वारा ऐहिक महाभय और पापों से मेरी रक्षा करो ॥ ५५ ॥

प्राणियों के रोगों को नाश करने वाली सधूम्रवर्णा नामकी जो तुम्हारी जिह्वा है, उसके द्वारा ऐहिक महाभय और पापों से हमलोगों की रक्षा करो ॥ ५६॥

सभी पुद्गल अर्थात् मूल द्रव्य जिससे उत्पन्न होते हैं उस तुम्हारी स्फुलिङ्गिनी नाम की जिह्वा के द्वारा मेरे ऐहिक महाभय और पापों से रक्षा करो ॥ ५७ ॥

प्राणिमात्र का मङ्गल करने वाली तुम्हारी विश्वा नाम की जिह्वा के द्वारा ऐहिक महाभय और पापों से मेरी रक्षा करो ॥ ५८ ॥

हे हुताशन ! तुम्हारे नेत्र पिङ्गलवर्ण ग्रीवालोहित वर्ण और देहावयव कृष्णवर्ण के हैं तुम हमारे सभी प्रकार के दोषों से मेरी रक्षा करो एवं इस संसार से मेरा उद्धार करो ॥ ५९ ॥

हे वह्निदेव ! हे सप्तार्चि हे हव्यवाहन हे कृशानु हे अग्नि तुम पावक शुक्र आदि आठ नामों से वर्णित किये जाते हो, तुम हमपर प्रसन्न हो ॥ ६० ॥

अग्नेऽग्रे सर्वभूतानां समुद्भूतविभावसो ! ।
प्रसीद हव्यवाहाख्य ! अभीष्टुत मयाव्यय ! ।।६१।

त्वमक्षयो वह्निरचिन्त्यरूपः
समृद्धिमान् दुष्प्रसहोऽतितीव्रः ।
त्वमव्ययं भीममशेषलोकं
समूर्तको हन्त्यथ वाऽतिवीर्य्यः ।।६२।

त्वमुत्तमं सत्त्वमशेषसत्त्व !
हृत्पुण्डरीकस्त्वमनन्तमीड्यम् ।
त्वया ततं विश्वमिदं चराचरं
हुताशनैको बहुधा त्वमत्र ।।६३।

त्वमक्षयः सगिरिवना वसुन्धरा
नभः ससोमार्कमहर्दिवाऽखिलम् ।
महोदधेर्जठरगतश्च वाडवो
भवान् विभूत्या परया करे स्थितः ।।६४।

हुताशनस्त्वमिति सदाऽभिपूज्यसे
महाक्रतौ नियमपरैर्महर्षिभिः ।

हे अग्ने ! तुम सभी प्राणियों में आगे उत्पन्न हो, हे विभावशो, हे अव्यय, मेरे द्वारा स्तुत होकर तुम प्रसन्न हो ।। ६१ ।।

हे वह्ने ! तुम्हारा कभी भी नाश नहीं हो सकता, तुम्हारा स्वरूप अचिन्त्य है तुम समृद्धि सम्पन्न असह्य, अतितीव्र मूर्तिमान होते हुए भी तुम ऐसे बलशाली हो कि अक्षय भीमस्वरूप सम्पूर्ण जगत् का नाश करने वाले हो ।। ६२ ।।

हे हुताशन ! तुम उत्तम सत्त्व और प्राणियों के हृत् पुण्डरीक हो और सभी के उपास्य अनन्त ब्रह्मस्वरूप हो । तुम ब्रह्मस्वरूप में इस चराचर विश्व को परिव्याप्त कर स्थित हो तथा तुम एक होकर भी अनेक रूप में इस संसार में अवस्थित हो ।।६३।।

हे अनल ! तुम अक्षय होकर भी गिरिवन समन्वित वसुन्धरा स्वरूप हो तुम्ही चन्द्र सूर्य समन्वित अखिल गगनस्वरूप हो, तुम्ही दिन-रात्रि आदि निखिलकालस्वरूप हो । तुम्हीं महासमुद्र में बडवाग्नि के रूप में हो तथा तुम्ही परमविभूति के द्वारा सभी किरणों में परिव्याप्त रहते हो ।। ६४ ।।

हे हुताशन ! तुम हुत, हवि द्रव्य का भोजन करते हो, यह अवगत कर नियम परायण महर्षिगण महायज्ञ में तुम्हारी सर्वदा पूजन करते हैं एवम् तुम उनके पूजित

अभिष्टुतः पिबसि च सोममध्वरे
वषट्कृतान्यपि च हवींषि भूतये ॥६५।
त्वं विप्रैः सततमिहेड्यसे फलार्थैः
वेदाङ्गेष्वथ सकलेषु गीयसे त्वम् ।
त्वद्धेतोर्यजनपरायणा द्विजेन्द्रा-
वेदाङ्गान्यधिगमयन्ति सर्वकाले ॥६६।
त्वं ब्रह्मा यजनपरास्तथैव
विष्णुर्भूतेशः सुरपतिरर्य्यमा जलेशः ।
सूर्येन्दू सकल सुरासुराश्च हव्यैः
सन्तोष्याभिमतफलान्यथाप्नुवन्ति ॥६७।
अर्चिभिः परममहोपघातदुष्टं
संस्पृष्टं तव शुचि जायते समस्तम् ।
स्नानानां परममतीव भस्मना सत्
सन्ध्यायां मुनिभिरतीव सेव्यसे तत् ॥६८।
प्रसीद वह्ने ! शुचिनामधेयः
प्रसीद वायो ! विमलातिदीप्ते ।

होकर जगत् के कल्याण हेतु यज्ञ में सोम और वषट्कार सहित सभी हवि द्रव्यों का पान करते हो ॥ ६५ ॥

सभी वेदांगों में तुम्हारा ही गुणगान है। यज्ञपरायण द्विज श्रेष्ठ गण तुम्हारे ही लिए सदा वेदाङ्गों का अध्ययन करते हैं ॥ ६६ ॥

तुम ही यजनपरायण ब्रह्मा हो, विष्णु और भूतनाथ महादेव हो, सुरपति इन्द्र तथा अर्यमा जलपति वरुण, सूर्य, चन्द्र सभी तुम्ही हो। सुर और असुर गण सभी द्रव्यों के द्वारा तुमको संतुष्ट कर अभिष्ट फलों को प्राप्त करते हैं ॥ ६७ ॥

अतिशय उपघातों से दुष्ट सभी वस्तुयें तुम्हारी शिखाओं से स्पर्श कर पवित्र हो जाती हैं। विविधस्नानों में भस्मस्नान ही सर्वश्रेष्ठ है; इसलिए मुनिगण सन्ध्या के समय स्नान करते हैं ॥ ६८ ॥

हे वह्ने ! तुम शुचि नामधारी हो, तुम इस नाम के कारण ही हम पर प्रसन्न हो, तुम विमल और अति प्रवल वायु स्वरूप हो। अतः उसी रूप में मुझपर प्रसन्न

प्रसीद मे पावक वैद्युताग्ने !
प्रसीद हव्याशना पाहि मां त्वम् ।।६९।

यत्ते वह्ने ! शिवरूपं ये च ते सप्तहेतयः ।
तैः पाहि नः स्तुतो देवः पिता पुत्रमिवात्मजम् ।।७०।

॥ इति श्रीमार्कंण्डेयपुराणे अग्निस्तोत्रं नाम नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

हो । हे पावक ! तुम वैद्युत अग्नि आदि नामों से कहे जाते हो । तुम उसी रूप में मुझपर प्रसन्न हो । हे हव्याशन ! तुम मुझपर प्रसन्न हो और मेरी रक्षा करो ॥ ६९ ॥

हे वह्ने ! तुम्हारा जो मङ्गलमय स्वरूप है एवं जो तुम्हारी सात ज्वालाएँ (जिह्वा या शिखायें) हैं, हे देव मेरे द्वारा स्तुत होकर उन सात शिखाओं के द्वारा पिता जैसे पुत्र की रक्षा करता है वैसे ही तुम मेरी रक्षा करो ॥ ७० ॥



पर्यालोचन

अग्नि—

प्राचीन युग में भारत और ईरान के लिए अग्नि बहुत प्रधान देवता था। यद्यपि वेद में इन्द्र के सूक्तों की संख्या प्रायः २५० है, तथापि अग्नि की भी करीब २०० संख्या है। सभी मण्डलों में अग्नि का मुख्यतम स्थान है। वैदिक भारतीयों की दृष्टि में इन्द्र की अपेक्षा अग्नि का महत्त्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जीवन में अग्नि का सहयोग देखते हुए यह होना भी आवश्यक है। जीवन के चारों आश्रमों में अग्नि की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई है। मात्र भारत ही नहीं अन्य स्थानों में भी अग्नि की स्तुति उपलब्ध होती है। अंग्रेज कवि मेरी हाविट (Mary Howitt) ने अपनी कविता में अग्नि को सच्चे मित्र के रूप में माना है।

'A fire's a good companionable friend'

अग्नि देवता अपने उपासक जनों का सहयोग करने में कभी भी असफल नहीं होते हैं। वह रक्षक सुरक्षित रखने वाला और संवादवाहक भी है।

यह अपने उपासक के लिए गृहसम्बन्धी ही सुविधा नहीं देता है, उनको जीवन में अग्रेसर एवं धनी और अमरत्व की प्राप्ति कराता है। अमरत्व का वही रक्षक है। अग्नि ब्राह्मणस्वरूप है। इसकी उत्पत्ति आकाश या जल से मानी गयी है ? 'यदग्ने दिविजा अस्यप्सजा वा सहस्कृत। तंत्वा गीर्भिर्हवामहे'। (VIII 43.28).

अग्नि का तीन जन्म कहा है। प्रथम स्थिति आकाश में सूर्य के रूप में, द्वितीय स्थिति याज्ञिक अग्नि के रूप में "जातवेदस" और तृतीय स्थिति जल में जो प्रकाश के रूप में अभिव्यक्त है। "दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः। तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एवं जरते स्वाधीः।" (X 45.1.) अग्नि कभी द्यावा पृथिवी का पुत्र और कभी द्यौः का सूनु कहा गया है। 'अपां नपात्' के नाम से अग्नि एक स्वतन्त्र देवता है। अग्नि का जन्मस्थान स्वर्ग है जहाँ से उसको मातरिश्वा ने मानव कल्याण के लिए भूतल पर लाया।

प्रो० मैकडोनल ने कहा है कि ऊपर वर्णन के अनुसार अग्नि का तीन जन्म वर्णित किया गया है।[1] अनेक स्थानों में अग्नि के तीन प्रकार के जन्म ऋचाओं में कहे गये हैं —

---

१. पूर्वोक्त ऋक् का अर्थ इन शब्दों में मैकडोनल ने लिखा है—From heaven first Agni was born the second time from us (=men,) Thirdly in the waters. (Vedic Mythology, P. 93)
भगवद्दत्त ने इसमें मैकडानल की भूल का निर्देश किया है—इस मन्त्र में दिवः शब्द एक विशेष संज्ञा है। यजुर्वेद १२।१८ में पढ़ी गई इस ऋचा का अर्थ वाजसनेय याज्ञवल्क्य के शिष्य माध्यन्दिन ने शतपथ ब्राह्मण में इन शब्दों में दी है। दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः इति। प्राणो वै दिवः। प्राणाद् वा एष

"त्रीणि जाना परिभूषन्त्यस्य" 1.95.3, "त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः" (IV. I. 7.) "अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानः; (iii. 20.7.) "त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषे" (1.146.1.) "अग्ने त्री ते वाजिना त्रीषधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ते ऋतजात पूर्वीः। तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन्" (iii. 20.2) vedic mythology, P. 93.

क्रमशः यह विचारधारा आगे बढ़ती गई और एक ही अग्निदेव की भिन्न देवों के रूप में स्थिति की कल्पना अथर्ववेद की ऋचाओं में पल्लवित हुई—

अग्निदेव सायंकाल में वरुण, प्रातः उदय लेता हुआ मित्र, वह सविता होकर अन्तरिक्ष से गमन करता है। इन्द्र होकर आकाश के मध्य में चमकता है।

सवरुणः सायमग्निर्भवति समित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥
(AV. XIII. 3.13)

इसी प्रकार अग्नि का सभी प्रधान देवों के रूप में ऋग्वेद में वर्णन मिलता है।

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वमग्ने राजावरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।
(ऋ० ११.१)

अग्नि को अध्वर्यु ने यजुः कहा है, कारण यही सबका योग करता है। छन्दोगने साम कहा है, कारण, इसमें सब समान हैं। बह्वृचों ने उक्थ, कारण, यही सबको उठाता है। यातुवेत्ता यातु कहता है, कारण इसी से सब प्राप्त होता है। सर्प विष, देवता ऊर्ग्, मनुष्य रयी, असुरमाया, देववेत्ता देवजन, गन्धर्व रूप अप्सरायें गन्ध। (शत०ब्रा०, १०.५.२.२०)

इन सभी वर्णनों के बाद यह मनना ही होगा कि अग्नि पुरोहित है, यज्ञिष्ठ, पुरोहित, ऋत्विक्, होता और ब्राह्मण यही है। यह अतिशय शीघ्रगामी दूत है।

दर्शपूर्णमासादि कर्मों के अनुष्ठान में तीन अग्नि की अपेक्षा होती है—आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिण। वैदिक प्रक्रिया के अनुसार अश्वत्थ और शमीकाष्ठ के मन्थन से अग्नि का निष्पादन होता है। इस काष्ठ को अरणि कहा जाता है। अग्नि-निष्पादन को

प्रथममजायत। अस्मद् द्वितीयं परि जातवेदा इति। यदेनमदो द्वितीयं पुरुष विद्योऽजनयत्। तृतीयम् अप्स्विति। यदेनमदसृतृतीयम् अद्भ्योऽजनयत्।
अग्नि का प्रथम जन्म प्राण या वायु से। द्वितीय जन्म गर्भ अथवा अण्ड हिरण्यगर्भ से हुआ। वह हिरण्यगर्भ पुरुष अथवा पुरुषवित् था।
जातवेद अग्नि जातवेद मध्यम स्थानीय अग्नि है। ऐग्लिङ्ग ने इसका The knower of brings अर्थ कर अर्थ स्पष्ट किया है। तृतीय जन्म–तीसरा जन्म आपसे अर्थात् जल से हुआ। आज वैज्ञानिक युग में यही बिजली है।

आधान कहा जाता है। आधान की पूर्णाहुति, होम और (इष्टि) यज्ञ से समाप्त होती है। इनमें अन्तिम इष्टि पक्ष में तीन इष्टियों का अनुष्ठान होता है, पवमान इष्टि शब्द से इसका अभिधान किया जाता है। द्वितीय इष्टि के स्वष्टकृत् नामक कर्म विशेष के अनुष्ठान में 'अग्निमीले' इस ऋक् का याज्यत्व रूप में विनियोग होता है। यज्ञ में प्रधान देवता के उद्देश्य से हविः का प्रदान होने से अतिशय उपयुक्त हविः विशेष से अग्नि को उद्देश्य कर सम्पादित यागविशेष स्विष्टकृत् कहा जाता है।

हविः प्रदान के समय पढ़ा जाने वाला मन्त्र यात्या कहा जाता है। फलतः, द्वितीय पवमान इष्टि में स्विष्टकृद्याग में हविः प्रदान के समय पठनीय यह ऋक् है।

महाभारत में अग्नि के लिए तेजः और ज्योतिः शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। 'ज्योतिर्भूते जले चापि लीने ज्योतिषि चानिले' (शा०प०३५७।१४)।

जल का प्रत्येक कण ज्योति रूप हो गया। तब ये ज्योतिर्भूत [विद्युत् युक्त] आपः वायु में लीन हो गए।

पवमान, पावक और शुचि ये तीन रूप में अग्नि की स्थिति कही गई है। त्रिवृदग्नि पाठ की प्रतिध्वनि वायुपुराण में ५३।५ से आरम्भ होती है। इसी प्रकार ब्रह्माण्डपुराण और मत्स्यपुराण में भी इसकी चर्चा मिलती है—

अतः परं त्रिविधस्याग्नेः वक्ष्येऽहं समुद्भवम्।
दिव्यस्य भौतिकस्याग्नेर् अब्योनेः पार्थिवस्य च ॥६॥
व्युष्टायां तु रजन्यां वै ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः।
अव्याकृतमिदं त्वासीन्नैशेन तमसावृतम् ॥७॥
सर्वभूतावशिष्टेऽस्मिन् लोके नष्टविशेषणे।
स्वयंभूर्भगवांस्तत्र लोकतन्त्रार्थसाधकः ॥८॥
खद्योतवत्स व्यचरदाविर्भावचिकीर्षया।
सोऽग्निं दृष्ट्वाथ लोकादौ पृथिवीजलसंश्रितम् ॥९॥
संवृत्य तं प्रकाशार्थं त्रिधा व्यभजदीश्वरः।
पवमानस्तु लोकेऽस्मिन् पार्थिवः सोऽग्निरुच्यते ॥१०॥
यश्चासौ तपते सूर्ये शुचिरग्निस्तु स स्मृतः।
वैद्युतोऽब्जस्तु विज्ञेयस्तेषां वक्ष्येऽथ लक्षणम् ॥११॥
वैद्युतो जठरः सौरो ह्यपांगमास्त्रयोऽग्नयः।
तस्मादपः पिबन् सूर्यो गोभिर्दीप्यत्यसौ दिवि ॥१२॥
वैद्युतेन समाविष्टो वार्ष्यो नाद्भिः प्रशाम्यति।
मानवानां च कुक्षिस्थो नाद्भिः शाम्यति पावकः ॥
तस्मात्सौरो वैद्युतश्च जाठरश्चाप्यबिन्धनः ॥१३॥
निर्मथ्यः पवमानः स्याद् वैद्युतः पावकः स्मृतः।
यश्चासौ तपते सूर्ये शुचिरग्निरसौ स्मृतः ॥

(कौर्म पु०)

पावक = वैद्युताग्नि, पवमान = निर्मंथ्याग्नि, शुचि = सौराग्नि। पावक का पुत्र हव्यवाहन है—यह देवता की ओर रहते हैं और पवमान का पुत्र सहरक्षस् है—यह असुर की ओर रहता है।

अग्नि की पत्नी स्वाहा के गर्भ से पावक, पवमान और शुचि नामक तीन पुत्रों की उत्पत्ति हुई है। अग्नि की दूसरी पत्नी का नाम वसुधारा है। इससे ४५ पुत्र की उत्पत्ति हुई है।

मत्स्यपुराण में अग्नि-वंश का वर्णन तथा उनके भेदोपभेद का कथन

ये पूज्याः स्युर्द्विजातीनामग्नयः सूत सर्वदा।
तानिदानीं समाचक्ष्वतद्वंशं चानुपूर्वशः॥ १॥

ऋषियों ने पूछा—सूतजी! जो अग्नि द्विजातियों के लिए सदा परम पूज्य माने गए हैं, अब उनका तथा उनके वंश का आनुपूर्वी वर्णन अब कीजिए॥ १॥

सूत उवाच

योऽसावग्निरभिमानी स्मृतः स्वायम्भुवेऽन्तरे।
ब्रह्मणो मानसः पुत्रस्तस्मात् स्वाहा व्याजायत॥ २॥

पावकं पवमानं च शुचिरग्निश्च यः स्मृतः।
निर्मथ्यः पावमानोऽग्निर्वैद्युतः पावकात्मजः॥ ३॥

शुचिरग्निः स्मृतः सौरः स्थावराश्चैव ते स्मृताः।
पवमानात्मजो ह्यग्निः कव्यवाहन उच्यते॥ ४॥

पावकिः सहरक्षस्तु हव्यवाहः शुचेः सुतः।
देवानां हव्यवाहोऽग्निः पितृणां कव्यवाहनः॥ ५॥

सहरक्षोऽसुराणां तु त्रयाणां ते त्रयोऽग्नयः।
एतेषां पुत्रपौत्रश्च चत्वारिंशन्नवैव च॥ ६॥

प्रवक्ष्ये नामतस्तान् वै प्रविभागेन तान् पृथक्।
पावनो लौकिको ह्यग्निः प्रथमो ब्रह्मणश्च यः॥ ७॥

ब्रह्मौदनाग्निस्तत्पुत्रो भरतो नाम विश्रुतः।
वैश्वानरः सुतस्तस्य वहन् हव्यं समाः शतम्॥ ८॥

सम्भृतोऽथर्वणः पुत्रो मथितः पुष्करादधि।
सोऽथर्वा लौकिको ह्यग्निर्दध्यङ्ङाथर्वणः सुतः॥ ९॥

भृगोः प्रजायताथर्वा दध्यङ्ङाथर्वणः स्मृतः।
तस्य ह्यलौकिको ह्यग्निर्दक्षिणाग्निः स वै स्मृतः॥१०॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें जो ये अग्निके अभिमानी देवता कहे गये हैं, वे ब्रह्माके मानस पुत्र हैं। स्वाहाने उनके संयोगसे पावक (दक्षिणाग्नि), पवमान (गार्हपत्य) और शुचि (आहवनीय) नामक तीन पुत्रोंको जन्म

दिया, जो अग्नि भी कहलाते हैं। उनमेंसे पावकको वैद्युत (जलबिजलीसे उत्पन्न), पवमानको निर्मथ्य (निर्मन्थन करनेपर उत्पन्न) और शुचिको सौर (सूर्यके सम्बन्धसे उत्पन्न) अग्नि कहा जाता है। ये सभी अग्नि स्थावर (स्थिर स्वभाववाले) माने गये हैं। पवमानके पुत्र जो अग्नि हुए, उन्हें कव्यवाहन कहा जाता है। पावकके पुत्र सहरक्ष और शुचिके पुत्र हव्यवाहन हुए। देवताओंके अग्नि हव्यवाह हैं, जो ब्रह्माके प्रथम पुत्र हैं। सहरक्ष असुरोंके अग्नि हैं तथा पितरोंके अग्नि कव्यवाहन हैं। इस प्रकार ये तीनों देव-असुर-पितर—इन तीनोंके पृथक्-पृथक् अग्नि हैं। इनके पुत्र-पौत्रोंकी संख्या ऊनचास है। उनको मैं विभागपूर्वक पृथक्-पृथक् नाम निर्देशानुसार बतला रहा हूँ। सर्वप्रथम पावन नामक लौकिक अग्निदेव हुए, जो ब्रह्माके पुत्र हैं। उनके पुत्र ब्रह्मौदनग्नि हुए, जो भरत नामसे भी विख्यात हैं। वैश्वानर नामक अग्नि सौ वर्षोंतक हव्यको वहन करते रहे। पुष्कर (या आकाश) को मन्थन करनेपर अथर्वाके पुत्ररूपमें जो अग्नि उत्पन्न हुए, वे दध्यङ्ङाथर्वणके नामसे प्रसिद्ध हुए। उन्हींको दक्षिणाग्नि भी कहा जाता है। भृगुसे अथर्वाकी और अथर्वासे अङ्गिराकी उत्पत्ति बतलायी जाती है। उनसे अलौकिक अग्निकी उत्पत्ति हुई, जिसे दक्षिणाग्नि भी कहते हैं॥ २-१०॥

अथ यः पवमानस्तु निर्मथ्योऽग्निः स उच्यते।
स च वै गार्हपत्योऽग्निः प्रथमो ब्रह्मणः स्मृतः॥ ११॥

ततः सभ्यावसथ्यौ च संशत्यास्तौ सुतावुभौ।
ततः षोडश नद्यस्तु चक्रमे हव्यवाहनः।
यः खल्वाहवनीयोऽग्निरभिमानी द्विजैः स्मृतः॥ १२॥

कावेरीं कृष्णवेणां च नर्मदां यमुनां तथा।
गोदावरीं वितस्तां च चन्द्रभागामिरावतीम्॥ १३॥

विपाशां कौशिकीं चैव शतद्रुं सरयूं तथा।
सीतां मनस्विनीं चैव ह्लादिनीं पावनां तथा॥ १४॥

तासु षोडशधाऽऽत्मानं प्रविभज्य पृथक् पृथक्।
तदा तु विहरंस्तासु धिष्ण्येच्छः स बभूव ह॥ १५॥

स्वाभिधानस्थिताधिष्ण्यास्तासूत्पन्नाश्च धिष्णवः।
धिष्ण्येषु जज्ञिरे यस्मात् ततस्ते धिष्णवः स्मृताः॥ १६॥

इत्येते वै नदीपुत्रा धिष्ण्येषु प्रतिपेदिरे।
तेषां विहरणीया ये उपस्थेयाश्च ताञ्शृणु।
विभुः प्रवाहणोऽग्नीध्रस्तत्रस्था धिष्णवोऽपरे॥ १७॥

विहरन्ति यथास्थानं पुण्याहे समुपक्रमे।
अनिर्देश्यानिवार्याणामग्नीनां शृणुत क्रमम्॥ १८॥

वासवोऽग्निः कृशानुर्यो द्वितीयोत्तरवेदिकः।
सम्राडग्निसुतो ह्यष्टावुपतिष्ठन्ति तान् द्विजाः॥ १९॥

पर्जन्यः पवमानस्तु द्वितीयः सोऽनुदृश्यते।
पावकोष्णः समूह्यस्तु वोत्तरे सोऽग्निरुच्यते॥ २०॥

हव्यसूदो ह्यसम्मृज्यः शामित्रः स विभाव्यते।
शतधामा सुधाज्योती रौद्रैश्वर्यः स उच्यते॥ २१॥

ब्रह्मज्योतिर्वसुधामा ब्रह्मस्थानीय उच्यते।
अजैकपादुपस्थेयः स वै शालामुखो यतः॥ २२॥

अनिर्देश्यो ह्यहिर्बुध्न्यो बहिरन्ते तु दक्षिणे।
पुत्रा ह्येते वासवस्य उपस्थेया द्विजैः स्मृताः॥ २३॥

हम पहले कह चुके हैं कि जो पवमान अग्नि हैं, वे ही निर्मंथ्य नाम से भी कहे जाते हैं। वे ही ब्रह्मा के प्रथम पुत्र गार्हपत्य अग्नि हैं। फिर संशति से सभ्य और आवसथ्य—इन दो पुत्रों की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर आहवनीय नामक अग्नि ने जिन्हें ब्राह्मणों ने अग्नि के अभिमानी देवता नाम से अभिहित किया है, अपने को सोलह भागों में विभक्त कर कावेरी, कृष्णवेणा, नर्मदा, यमुना, गोदावरी, वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा, इरावती, विपाशा, कौशिकी (कोसी), शतद्रु (सतलज), सरयू, सीता, मनस्विनी, ह्लादिनी तथा पावना—इन सोलह नदियों के साथ पृथक्-पृथक् विहार किया। उनके साथ विहार करते समय अग्नि को स्थान-प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हो गयी थी, इसलिए उन नदियों के गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र उस इच्छा के अनुसार धिष्णु (या धिष्ण्य) कहलाये। चूंकि वे यज्ञीय अग्नि के स्थापन योग्य स्थान पर पैदा हुए थे, इसलिए धिष्णु नाम से कहे जाने लगे। इस प्रकार ये सभी नदी-पुत्र विधिष्ण्य (यज्ञीय अग्नि के स्थापन योग्य स्थान) में उत्पन्न हुए थे। अब इनके विहार एवं उपासना योग्य स्थान का वर्णन कर रहा हूँ, उन्हें सुनिये। यज्ञादि पुण्य अवसर के उपस्थित होने पर विभु, प्रवाहण, अग्नीध्र आदि अन्याय विष्णु वहाँ उपस्थित होकर यथास्थान विचरते रहते हैं। अब अनिर्देश्य और अनिवार्य अग्नियों के क्रम को सुनिये। वासव नामक अग्नि, जिसे कृशानु भी कहते हैं, यज्ञ की दूसरी वेदी के उत्तर भाग में स्थित होते हैं। उन्हीं अग्नि का एक नाम सम्राट भी है। इन अग्नि के आठ पुत्र हैं, जिनकी विप्रगण उपासना करते हैं। पवमान नामक जो द्वितीय अग्नि हैं, वे पर्जन्य के रूप में देखे जाते हैं और उत्तर दिशा में स्थित पावक नामक अग्नि को समूह्य अग्नि कहा जाता है। असम्मृज्य हव्यसूद अग्नि को शमित्र कहा जाता है। शतधामा अग्नि सुधाज्योति हैं, इन्हें रौद्रैश्वर्य नाम से अभिहित किया जाता है। ब्रह्मज्योति अग्नि को वसुधाम और ब्रह्मस्थानीय भी कहते हैं। अजैकपाद् उपासनीय अग्नि हैं, इन्हें शालामुख भी कहा जाता है। अहिर्बुध्न्य अनिर्देश्य अग्नि हैं। ये वेदी की दक्षिण दिशा में परिधि के अन्त में स्थित होते हैं। वासव नामक अग्नि के ये आठों पुत्र ब्राह्मणों द्वारा उपासनीय बतलाये गये हैं॥ ११-२३॥

ततो विहरणीयांस्तु वक्ष्याम्यष्टौ तु तान् सुतान् ।
होत्रियस्य सुतो ह्यग्निर्बर्हिषो हव्यवाहनः ॥ २४ ॥
प्रशंस्योऽग्निः प्रचेतास्तु द्वितीयः संसहायकः ।
सुतो ह्यग्नेर्विश्ववेदा ब्राह्मणाच्छंसिरुच्यते ॥ २५ ॥
अपां योनिः स्मृतः स्वाम्भः सेतुर्नाम विभाव्यते ।
धिष्ण्य आहरणा ह्येते सोमेनेज्यन्त वै द्विजैः ॥ २६ ॥
ततो यः पावको नाम्ना यः सद्भिर्योग उच्यते ।
अग्निः सोऽवभृथो ज्ञेयो वरुणेन सहेज्यते ॥ २७ ॥
हृदयस्य सुतो ह्यग्नेर्जठरेऽसौ नृणां पचन् ।
मन्युमाञ्जठरश्चाग्निर्विद्धाग्निः सततं स्मृतः ॥ २८ ॥
परस्परोत्थितो ह्यग्निर्भूतानीह विभुर्दहन् ।
अग्नेर्मन्युमतः पुत्रो घोरः संवर्तकः स्मृतः ॥ २९ ॥
पिबन्नपः स वसति समुद्रे वडवामुखे ।
समुद्रवासिनः पुत्रः सहरक्षो विभाव्यते ॥ ३० ॥
सहरक्षस्तु वै कामान् गृहे स वसते नृणाम् ।
क्रव्यादग्निः सुतस्तस्य पुरुषान् योऽत्ति वै मृतान् ॥ ३१ ॥
इत्येते पावकस्याग्नेर्द्विजैः पुत्राः प्रकीर्तिताः ।
ततः सुतास्तु सौवीर्याद् गन्धर्वैरसुरैर्हृताः ॥ ३२ ॥
मथितो यस्त्वरण्यां तु सोऽग्निराप समिन्धनम् ।
आयुर्नाम्ना तु भगवान् पशौ यस्तु प्रणीयते ॥ ३३ ॥
आयुषो महिमान् पुत्रो दहनस्तु ततः सुतः ।
पाकयज्ञेष्वभीमानी हुतं हव्यं भुनक्ति यः ॥ ३४ ॥
सर्वस्माद् देवलोकाच्च हव्यं कव्यं भुनक्ति यः ।
पुत्रोऽस्य स हितो ह्यग्निरद्भुतः स महायशाः ॥ ३५ ॥
प्रायश्चित्तेष्वभीमनी हुतं हव्यं भुनक्ति यः ।
अद्भुतस्य सुतो वीरो देवांशस्तु महान् स्मृतः ॥ ३६ ॥
विविधाग्निस्ततस्तस्य तस्य पुत्रो महाकविः ।
विविधाग्निसुतादर्कादग्नयोऽष्टौ सुताः स्मृताः ॥ ३७ ॥

अब मैं उन आठ विहरणीय अग्नि-पुत्रों का वर्णन कर रहा हूँ। बर्हिष् नामक होत्रिय अग्नि के पुत्र हव्यवाहन अग्नि हैं। इसके पश्चात् प्रचेता नामक प्रशंसनीय अग्नि की उत्पत्ति हुई, जिनका दूसरा नाम संसहायक है। पुनः अग्नि पुत्र विश्ववेदा हुए, जिन्हें ब्राह्मणाच्छंसि भी कहा जाता है। जल से उत्पन्न होने वाले प्रसिद्ध स्वाम्भ अग्नि सेतु नाम से भी अभिहित होते हैं। इन धिष्ण्यसंज्ञक अग्नियों का यज्ञ में यथास्थान आवाहन होता है और ब्राह्मण लोग सोम-रस द्वारा इनकी पूजा करते हैं। तत्पश्चात् जो पावक नामक अग्नि हैं, जिन्हें सत्पुरुषगण योग नाम से पुकारते हैं, उन्हीं को अवभृथ अग्नि समझना चाहिए। उनकी वरुण के साथ पूजा होती है। हृदय नामक

अग्नि के पुत्र मन्युमान् हैं, जिन्हें जठराग्नि भी कहते हैं। ये मनुष्यों के उदर में स्थित रहकर भक्षित पदार्थों को पचाते हैं। परस्पर के संघर्ष से उत्पन्न हुए प्रभावशाली अग्नि को, जो जगत् में निरन्तर प्राणियों को जलाते रहते हैं, विद्धाग्नि कहते हैं। मन्युमान् अग्नि के पुत्र संवर्तक हैं, जो अत्यन्त भयंकर बताये जाते हैं। वे समुद्र में बडवामुख द्वारा निरन्तर जलपान करते हुए निवास करते हैं। समुद्रवासी संवर्तक अग्नि के पुत्र सहरक्ष बतलाये जाते हैं। सहरक्ष मनुष्यों के घरों में निवास करते हैं और उनकी सभी कामनाओं को सम्पन्न करते रहते हैं। सहरक्ष के पुत्र क्रव्यादग्नि हैं, जो मरे हुए पुरुषों का भक्षण करते हैं। इस प्रकार ये सभी ब्राह्मणों द्वारा पावक नामक अग्नि के पुत्र बतलाये गये हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य पुत्र हैं, उन्हें सौवीर्य से गन्धर्वों और असुरों ने हरण कर लिया था। अरणी में मन्थन करने से जो अग्नि उत्पन्न होता है, वह तो ईंधन के आश्रित रहता है। पृथु-योनि के लिये जिन अग्नि की नियुक्ति हुई है, उन ऐश्वर्यशाली अग्नि का नाम आयु है। आयु के पुत्र महिमान् और उनके पुत्र दहन हैं, जो पाकयज्ञों के अभिमानी देवता हैं। वे ही उन यज्ञों में हवन किये गये हविको खाते हैं। दहन के पुत्र अद्भुत नामक अग्नि हैं, जो समस्त देवलोकों में दिये गये हव्य एवं कव्यका भक्षण करते हैं। वे महान् यशस्वी और जनता के हित-कारी हैं। ये प्रायश्चित्तनिमित्तक यज्ञों के अभिमानी देवता हैं, इसी कारण उन यज्ञों में हवन किये गये हव्य को खाते हैं। अद्भुत के पुत्र वीर नामक अग्नि हैं, जो देवांश से उद्भूत और महान् कहे जाते हैं। उनके पुत्र विविधाग्नि हैं और विविधाग्नि के पुत्र महाकवि हैं। विविधाग्नि के दूसरे पुत्र अर्क से आठ अग्नि-पुत्रों की उत्पत्ति बतलायी जाती है ॥ ३८-४० ॥

काम्यास्विष्टिष्वभीमानी रक्षोहा यतिकृच्च यः।
सुरभिर्वसुमान् नादो ह्यर्यश्वश्चैव रुक्मवान् ॥ ३८ ॥

प्रवर्ग्यः क्षेमवांश्चैव इत्यष्टौ च प्रकीर्तिताः।
शुच्यग्नेस्तु प्रजा ह्येषा अग्नयश्च चतुर्दश ॥ ३९ ॥

इत्येते ह्यग्नयः प्रोक्ताः प्रणीता ये हि चाध्वरे।
समनीते तु सर्गे ये यामैः सह सुरोत्तमैः ॥ ४० ॥

स्वायम्भुवेऽन्तरे पूर्वमग्नयस्तेऽभिमानिनः।
एते विहरणीयेषु चेतनाचेतनेष्विह ॥ ४१ ॥

स्थानाभिमानिनोऽग्नीध्रा प्रागासन् हव्यवाहनाः।
काम्यनैमित्तिकाद्यास्ते ये ते कर्मस्ववस्थिताः ॥ ४२ ॥

पूर्वे मन्वन्तरेऽतीते शुक्रैर्यामैश्च तैः सह।
एते देवगणैः सार्धं प्रथमस्यान्तरे मनोः ॥ ४३ ॥

इत्येता योनयो ह्युक्ताः स्थानाख्या जातवेदसाम्।
स्वारोचिषादिषु ज्ञेयाः सवर्णान्तेषु सप्तसु ॥ ४४ ॥

तैरेवं तु प्रसंख्यातं साम्प्रतानागतेष्विह ।
मन्वन्तरेषु सर्वेषु लक्षणं जातवेदसाम् ॥ ४५ ॥
मन्वन्तरेषु सर्वेषु नानारूपप्रयोजनैः ।
वर्तन्ते वर्तमानैश्च यामैर्देवैः सहाग्नयः ॥ ४६ ॥
अनागतैः सुरैः सार्धं वत्स्यन्तोऽनागतास्त्वथ ।
इत्येष प्रचयोऽग्नीनां मया प्रोक्तो यथाक्रमम् ।
विस्तरेणानुपूर्व्या च किमन्यच्छ्रोतुमिच्छथ ॥ ४७ ॥

कामना-पूर्ति के निमित्त किये जानेवाले यज्ञों के जो अभिमानी देवता हैं, उनका नाम रक्षोहा अग्नि है। उनका दूसरा नाम यतिकृत भी है। इनके अतिरिक्त सुरभि, वसुरत्न, नाद, हर्यश्व, रुक्मवान्, प्रवर्ग्य और क्षेमवान्—ये आठ अग्नि कहे गये हैं। ये सभी शुचि नामक अग्नि की संतान हैं, जिनकी संख्या चौदह है। इस प्रकार मैंने उन सभी अग्नियों का वर्णन कर दिया, जिनका यज्ञ-कार्य में प्रयोग किया जाता है। प्रलय-काल में ये सभी अग्निपुत्र याम नामक श्रेष्ठ देवताओं के साथ स्वायम्भुव मन्वन्तर में सभी चेतन एवं अचेतन विहरणीय पदार्थों के अभिमानी देवता थे। इस पूर्व मन्वन्तर के समाप्त हो जाने पर पुनः प्रथम मन्वन्तर में ये सभी अग्निगण शुक्र एवं याम नामक देबगणों के साथ स्थानाभिमानी देवता बनकर अग्नीध्र नामक अग्नि के साथ हव्य-वहन का कार्य करते थे और काम्य एवं नैमित्तिक आदि जो यज्ञ किये जाते थे, उन कर्मों में अवस्थित रहते थे। इस प्रकार मैंने अग्नियों की स्थाननाम्नी योनियों का वर्णन कर दिया। उन्हें स्वारोचिष् मन्वन्तर से लेकर सावर्णि मन्वन्तर तक के सातों लोकों में वर्तमान जानना चाहिये। ऋषियों ने वर्तमान एवं भविष्य में आने वाले सभी मन्वन्तरों में इसी प्रकार अग्नियों के लक्षण का वर्णन किया है। ये सभी अग्नि समस्त मन्वन्तरों में नाना प्रकार के रूप और प्रयोजनों से समन्वित हो वर्तमानकालीन याम नामक देवताओं के साथ वर्तमान थे और इस समय भी हैं तथा भविष्य में भी उत्पन्न होकर इन नये उत्पन्न होनेवाले देवगणों के साथ निवास करेंगे। इस प्रकार मैं अग्नियों के वंश-समूह का क्रमशः विस्तारपूर्वक आनुपूर्वी वर्णन कर चुका। अब आप लोग और क्या सुनना चाहते हैं? ॥३८-४७॥

"आर्या ज्योतिःअग्निः", ज्योतिः की प्राप्ति की इच्छा ही आर्यत्व का विशिष्ट लक्षण है। सूर्य के रूप में पवित्र दीप्ति को देखते हैं, यह नित्य हंसस्वरूप में आकाश में विराजमान है, आदित्य देव हम लोगों के जीवन एवं प्राण हैं, इनकी प्रसूति या प्रचो-दना ही हम लोगों की समस्त साधना के फलस्वरूप में अप् या सिद्धि का मूलाधार है। "इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तममुच्यते बृहत्" (१०।११०।३) "जीव असुर्नः", "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि" पृथिवी में सूर्य का ताप एवं आलोक भू लोक से आ रहा है। इस ज्योति का उत्स पृथिवी में अग्नि के रूप में प्राप्त है।

जैसे द्युलोक में सूर्य है, वैसे ही पृथिवी में अग्नि है, ये दोनों कान्तिमयी ज्योति हम लोगों के लिए नित्य प्रत्यक्ष है। "अग्निः शुक्लेन शोचिषा बृहत् सूरो अरोचत

(अग्नि = सूर्य), दिवि सूर्यो अरोचन", (ऋ० ५।५६।५) अनुक्रमणिका में सूर्य और वैश्वानर अग्नि देवता हैं, विवस्वान् अग्नि है (४।९।४) अग्निः स्वयं विवस्वान्" (ऋ० ७।९।३) ज्योति ही देवता का स्वरूप है। इनमें एक देवता सबसे नीचे और एक देवता सबसे ऊपर या परम है, यहाँ के देवता की साधना ही उस परम देवता की प्राप्ति का साधन है। यह ज्योति का उद्गमन ही आर्यों का परम पुरुषार्थ है। पार्थिव अग्नि के कतिपय वैशिष्ट्य के आधार पर इसके अध्यात्म स्वरूप की दीप्ति हो जाती है। अग्नि में आलोक है ताप है, ये दोनों यथाक्रम में प्रज्ञा और प्राणशक्ति के प्रतीक हैं। अग्नि की शिखा कभी-भी स्वभावतः निम्नगामी नहीं होती है। यह अध्यात्म चेतना की ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा का द्योतक है, शिखा ऊपर को उठती है शून्य में मिल जाती है, अभीप्सा का शेष परिणाम भी तेजःस्वरूप ब्रह्म में निर्वाण है। अग्नि में काष्ठ में निगूढ़ रहती है, उसके अग्नि का आभास प्रथम नहीं मिलता है। किन्तु मन्थन से एवं अन्य तेज के संस्पर्श से उस इन्धन में ही इन्धन से ही अग्नि का आविर्भाव होता है एवं क्रमशः इन्धन को आत्मसात् कर अग्निमय कर देता है, दिव्य भावना में मनुष्य भी देवमय होता है, ब्रह्ममय होता है, इस वैशिष्ट्य की उपमा यह प्रत्यक्ष देवता अग्नि ही है। "पार्थिवाद् दारुणो धूमस्तस्माद् अग्निस्त्रयीमयः, तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम्।" (१।२।२४)

मनुष्य के शरीर में जब तक प्राण रहता है तब तक ताप भी रहता है। यह ताप ही प्राणाग्नि का ताप है, चेतना के विस्फोरण में या उद्दीपन में यह ताप श्रेष्ठ है, यही प्रज्ञा एवं सृष्टि की मूलभूत तपशक्ति है। यह तप ही मनुष्य को दीप्ति प्रदान करता है, और उसके स्वः लोक का साधन होता है। "तपसा ये अवाधृष्यास् तपसा ये स्वर ययुः" (१०।१५४।२) सुषुप्ति में मन नहीं रहता है, किन्तु प्राण रहता है—ताप के रूप में। यह प्राणाग्नि का मनोरथ के बाद एक निगूढ़ आनन्द चिन्मय सत्ता का साक्षात्कार प्राप्त करता है। "प्राणाग्नय एवास्मिन् पुरे जाग्रति" (४।२) अत्रैषदेवः अवप्नान् न पश्यत्यथ तदेतस्मिञ्छरीर एतत् सुखं भवति"। (४।६) योग निद्रा के प्रसङ्ग में कहा गया है—स्वप्न भूमि में महिमा का अनुभव एवं सुषुप्ति में तेज के द्वारा स्वप्न का अभिभव होता है, तीन भूमियों में क्रमशः सत्, चित् और आनन्द की उपलब्धि होती है। संहिता में अग्नि = आयु (Life) "आयुर्नः प्राणः"। मर्त्य में अग्नि ही अमृतज्योतिः, अन्धकार के गहन में आलोक का इशारा है। अधिभूत अग्नि ही अध्यात्म रूप है, हम लोगों के आधार में स्थित इस अग्नि को चिदग्नि कहा जा सकता है, जो ध्रुव एवं सर्वत्र निपण्ण रहता हुआ यहाँ आविर्भूति होता है, अमर्त्य होकर शरीर के साथ बढ़ता है। "अयं स जज्ञे ध्रुव अनिपत्तोऽमर्त्याम् तन्वावर्धमानः"। ६।९।४) वैदिक देवता का स्वरूप सर्वथा परिस्फुट नहीं है क्योंकि, अमूर या अमूर्त यह एक संज्ञा है। अग्नि के लिए यहां संज्ञा विशेष रूप में कही जाती है। भौतिक अग्नि इन्द्रिय ग्राह्य है, किन्तु उसका दिव्य रूप अतीन्द्रिय है बुद्धिग्राह्य है। भौतिक अग्नि उसी दिव्य का प्रतीक है। संहिता में इसके स्वरूप वर्णन में भौतिक अग्नि का उपमान के रूप में व्यक्त होता है। घृत के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

घृत शब्द क्षरण, दीपन और सेचन अर्थ को कहने वाले धृ धातु से विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। अग्नि की उष्मा के सम्पर्क से तरलता साधन घृत उदक है, दो अर्थ मिलकर ज्योतिः की धारा ही घृत' है। अनुक्रमणिका में देवता "सूर्यो वा आपो वा गावो वा घृतस्तुतिर्वा। घृणिः अग्नि का विशेषण है। उपच्छायाम् इव घृणेरगम्य शर्म, (शरण) ते वयम्, अग्ने हिरण्यसदृशम् (६।१६।३८) घृत पाँच अमृतों में एक है, "पयः आप्यायनी चेतना की शुभ्र धारा है। तमः एवं रजः से सत्त्व के आविर्भाव की उपमा दी जाती है। घनीभूत दही है, प्रज्वलित घृत है, उसका आनन्दमय सौम्य का चेतना में रूपान्तर मधु है उसका घनीभूत स्वरूप शर्करा है। घृत अग्नि के संस्पर्श में आत्ममात्र अग्नि में रूपान्तरित होता है। पूर्वोक्त विवरण के अनुसार घृत का एक विशिष्ट अर्थ ज्योतिर्मय है। इसी के आधार पर घृत प्रतीक, घृतप्रतिष्ठ, घृत-निर्णिक्, घृतकेश, ये सभी ज्योतिर्मय रूप का व्यञ्जक है।

अग्नि की शिखा को मुख जिह्वा या दाँत के रूप में कल्पना की गई है। ऋग्वेद में तीन जिह्वा का वर्णन है किन्तु अन्यत्र सात हैं। तीन देवपात ऋचा देवा-विष्ट है। सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः (१७।७९) ये सात काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुचि हैं। इन तीन और सात के साथ त्रिलोक और सप्तलोक का समन्वय है। "त्रिमूर्धानं सप्तरश्मि गृणीषे" (१।१४९।१) इस प्रकार तीन मूर्धा एवं सात रश्मि चार या हजार आँख का वर्णन है। अग्नि के अस्त्र का विशेष उल्लेख नहीं है। एकत्र ही अस्ना या धानुकी कहा गया है।

अग्नि की अनेक पशुओं के साथ भी तुलना की गई है। सहस्ररेता वृषभ, वृषभ, अश्व, सुपर्ण, श्येन या हंस। पक्षवान् दिव्य सुवर्ण सूर्य अग्नि या वाण अर्थात् तेजःपुञ्ज है। "दिव्यं सुपर्णम्" (१।१५४।५२) श्येन सोम का 'आहर्ता है। अग्नि भी वही है। वैदिक देवगण रथचारी होते हैं। अग्नि विद्युद्रथ, ज्योतीरथ, चन्द्ररथ, हिरण्यरथ, सुरथ है, उसका रथ भानुमान् है, उसका घोड़ा जैसे लाल वैसेही श्यामल और सुनहला भी है, वह घृत पृष्ठ है, प्राण चञ्चल है। वायु ताडित और मन के इशारा पर उसको रथ में जोड़ा जाता है। फलतः, अग्नि की शिखा की अश्वरूप में कल्पना है।

अध्यात्म दृष्टि से आत्मा रथी, देह रथ और इन्द्रियाँ वाणी है। (कठोप० १।३।३२४) वस्तुतः चैतन्याधिष्ठित जड़ और प्राण का रूपक है वाहन पशु है और प्राण पशु है।

अग्नि का पुरुष के रूप में वर्णन है, उसकी भौतिक मूर्ति एक अमूर्तभाव का ही वहन करती है। इसकी विशिष्ट व्यज्जना ज्योति रूप में होती है, वह पुन्ज ज्योति है, आकाश में ध्रुव ज्योति और मर्त्य के आधार पर अमृत ज्योति है। सर्वत्र भासमान वृहत् ज्योति है, चतुर्थ स्वज्योति है—यही उसका स्वरूप है। प्रभात की बेला में अन्धकार भेदन है आकाश में अरुणिमा के बाद क्रमशः सूर्य की शुभ्र ज्योति

परिव्याप्त होती है। इसी प्रकार काष्ठ में अग्नि का आविर्भाव, प्रथम श्याम धूम, अनन्तर रक्तशिखा, अन्त में काष्ठ को आत्मसात् कर अग्नि की शुभ्र ज्योति होती है। द्युलोक और भूलोक में ज्योति के उद्गम की एक ही रीति है। अध्यात्म चेतना में भी यही प्रकार है—यही कारण है कि आर्यों में आलोक या संवित् की पिपासा उद्बुद्ध होती है। द्युलोक में दीप्ति की अनायास आविर्भूति होती है, किन्तु, अग्नि का आविर्भाव सहज नहीं है। अग्नि में ज्योतिः का शक्ति स्वरूप है। अग्नि में शक्ति का प्रकाश न हो तो द्युलोक में भी सूर्य की दीप्ति ही न हो। अध्यात्म दृष्टि से 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" बलहीन इस आत्मा को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है। अग्नि की ज्योतिः शक्ति ही पारिभाषिक रूप में 'शोचिः' या तपः है। देवताओं में अग्नि शोचिष्ठ है एवं तपिष्ठ है। "शोचिष्ठ' (ऋ० ५।२४।४) सूर्यं को भी शोचिषत्' कहा गया है। 'तपिष्ठ' (६।५।४) निरुक्त में भी "तपः ज्वलतो नामधेये"। (१।१७) इस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में शुच् एवं तप् दो धातुओं का प्रयोग विशेष रूप में मिलता है। दोनों धातुओं में दीप्ति के साथ ज्वाला की व्यञ्जना रहती है। अग्नि के इस देदीप्यमान शिखा की सुन्दर वर्णना शंयुवार्हस्पत्य की मन्त्रमाला में है। "वीर्य वर्षी तुम अग्नि जराहीन महान् होकर अर्चि में प्रकाशित हो अजस्र शोचि मे ज्वल-ज्वल करते रहते हो, हे शुचे! सुदीप्ति में सन्दीपन होते हो। प्रभावों से आपूरित किया है द्युलोक और भूलोक दोनों को ही। श्यामल रात के अन्धकार को हटाकर अरुण पीयूषवर्षी दिखाई पड़ता है, अहाँ! अरुण पीयूषवर्षिन्। तुम्हारी शिखा महान् है। हे अग्नि! तुम्हारी शुभ्र शोचि को लेकर, हें देवगण! भरद्वाज काष्ठ में व्याप्त हैं, हे युवतमा! हे शुक्ल! प्राण के संवेग में दीप्त हो हम लोगों के प्रद्योत में दीप्त हो।

अग्नि की इस ज्योतिः शक्ति स्वरूप इन्धन को जिस प्रकार अग्निमय करते हो वैसे ही चिदग्नि भी अपने आधार के अघ = पाप या मालिन्य को जलाकर शुचि और चिन्मय कर दे, इसीलिए अग्नि की पावक यह संज्ञा है। यह पवमान सोम, जो चाञ्चल्य शून्य है, पावक है, वह अपनी शक्ति से हम लोगों को आज पवित्र करे, जो पावनी अर्चि के अभ्यन्तर में व्याप्त है, उससे हमारी भावना को पवित्र करो, तुम्हारी पावनी अर्चिष्मती है उससे हमारी भावना को पवित्र करो, भावना की प्रेरणा दो, हे देव! सविता और तुम मिल कर प्रेरणा देकर हमको पवित्र करो, अपनी निर्झरित आलोक से पवित्र करो, इस प्रकार पवित्र करने की भावना अग्नि के द्वारा की गई है अग्नि की दक्षता या क्रियानैपुण्य, सविता का सव या प्रचोदना, सोम का धाम या कला में उपचय, अपचय तथा आनन्द प्रस्रवण—ये तीन पवित्र हैं। अग्नि का यह अघमर्षण स्वरूप आङ्गिरस सूक्त में परिव्यक्त है। ऋषि ने कहा है—"अथ नः शोशुचद अघम्" मेरे मालिन्य को जला दो। प्राण-संवेश के उद्देश्य में जल उठे मेरा सभी मालिन्य, सुक्षेत्र और सुपथ हो यह चाहता हूँ, उन्हें आलोकित करो—इसीलिए तुम्हारी पूजा कर रहा हूँ। सबको दबाने वाले अग्निदेव की प्रभा सभी दिशाओं में आलोकित है। तुम विश्वतोमुख हो नाविक के समान भवसागर से पार करो, हम लोगों को नदी के उस पार ले जाओ सभी मालिन्य को दूर करो। इस सूक्त में 'पथ' से देवयान और 'स्वस्ति' से

पारमार्थिक सत्ता विवक्षित है। "स नः सिन्धुम् इव नावयाति पर्षा स्वस्तये अप नः शोशुचद् अघम्" (१।९७।१।५-८) जैसे धूमरूपी कुण्डली से मुक्त अग्नि-शिखा की द्युलोक में उत्क्रान्ति होती है, वैसे ही हम लोगों की अग्निष्वात्ता आधार की शुचिता भी ऊर्ध्वमुख हो, मैं देवकाम होऊँ। देवता की प्राप्ति अर्थात् आदित्य द्युति या अग्नि की विशाल ज्योति की ही प्राप्ति है। इसीलिए संहिता में अग्नि की स्वर्विद् संज्ञा है। अर्थात् अग्नि के यजन से स्वः या तुरीय पुञ्जज्योति की प्राप्ति उनके द्वारा होती है। स्वः अग्नि या उपनिषद् की भाषा में चेतना का अनिर्वाध वैपुल्य ब्रह्म है। यह अवर देवता ही वृहत् होकर परम देवता को प्राप्त करता है जो आत्म-चैतन्य रूप में वृहज्जयोति विराजमान है।

जीवन के पूर्वाह्न में प्राण का सहज प्रचय आयुका प्रतरण चित् ज्योति का अवाध उदयन है। संहितामें आदित्यायन ही छन्दमें अग्नि का वर्धन है। शिशु अग्नि चेतना के स्फुलिङ्ग रूप में वेदि में क्रमशः बढ़ता है। मनुष्य की युवावस्था उसका ही यौवन है। किन्तु मनुष्य में ताप का क्षय है, किन्तु अग्नि का क्षय नहीं है, इसलिए अग्नि की विशिष्ट संज्ञा 'अजर' 'युवा' और 'यविष्ठ' है। अग्निदेव की उपासना से उनका यौवन हममें संग्रहीत होता है, इसीलिए वह 'वयोधधा' है, वह 'वृद्धवयः' या 'सुविपुल तारुण्य' होने से मर्त्य जीवन का प्रदीप्त पुरोहित है। प्राण के सहज तारुण्य से मनुष्य में अमृतत्व का आश्वास जागता है, यदि वार्द्धक्य न हो तो मृत्यु भी न रहे। यमको नचिकेता ने स्पष्ट कहा है "स्वर्गे लोके न भयं किञ्चिदस्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति" (क० उ० १।१।१२) चिज्ज्योति होने से सभी देवता अमृत है, किन्तु प्रत्यक्ष अमृत चेतना अग्नि में है, अतः अमृतत्व की एषणा अग्नि से प्राप्त होती है, क्योंकि, वह अमृत, अक्षर, सभी मर्त्य विभूतिका परमाणु उत्स यही है। अतः काल की दृष्टि से नित्य सव से पूर्व्य प्रत्न प्रथम, साध्य एवं साधन दोनों रूपों में ही अग्निका प्राथम्य है। इष्ट की भावना का परम व्योम में उत्तीर्ण कराना ही साध्य की अवधि है। अग्नि ही आदिदेव है और सभी देवता उसकी विभूति हैं। अग्नि यज्ञ या उत्सर्ग का प्रथम साधन है, साधना के पथ में वही हमलोगों का नेता है या पुरोगामी है एवं पुरोहित है, जैसे आदि में वैसे ही अन्तमें है, देवयान के सम्पूर्ण पथ में वही परिव्याप्त है। देवता परम निरुपाधिक है। यह अवगत कराने के लिए ही ऋकसंहिता में अग्नि को असुर संज्ञा दी गयी है, जैसे शून्यता का देवता वरुण असुर हैं वैसे ही उसका भाई अग्नि असुर है। पृथ्वी से अभीप्सा की ऊर्ध्व शिखा द्युलोक में आदित्य के मध्यदिन की दीप्ति में पहुँचती है और वह आगे चलकर वारुणी महाशून्यता में मिल जाती है। परम पुरुष के रूप में जो वरुण है परमा प्रकृति के रूप में वही अदिति है। विश्वोत्तीर्णता में एवं विश्वात्मकता में अग्नि भी अदिति है। अदिति के रूप में वह एक अखण्ड सर्वरूप को धारण करता है जो परम व्योम में अदिति का गर्भाशय एवं दक्ष का गर्भस्थान है असत् और सत् जहाँ युगनद्ध हो जाता है वहाँ अग्नि हम लोगों के सामने दीप्ति रूप में प्रथम उत्पन्न होता है। आदि प्राण स्पन्दन में विषम वीर धेनु स्वरूप होता है। अग्नि का यह परम परिचय पृथ्वी से परम व्योम पर्यन्त पार्थिव चेतना के स्फुलिङ्ग से महापरिनिर्वाण के अनिर्वाध वैपुल्य पर्यन्त परिव्याप्त के रूप में उसका अधिकार है। जीवन यापन का आदि और अन्त यह अग्नि ही है। अग्नि का स्वरूप हमलोगों की

अभीप्सा या परम अयन है। शुद्ध सन्मात्र में और चेतना की अन्तर्वृत्ति में स्थित होती है। उस समय स्व में स्व का धारण अर्थात् अपने में अपना रहना संहिता में स्वधा संज्ञा है। अग्नि ही स्वधावान् है। आदि छन्द से उत्पन्न होकर वह स्वयं आनन्दमय सिसृक्षा का साधन होता है। यही सूची हिरण्मय परमदीप्तिमय आत्म विकरण में स्थित होता है, इसीलिये स्वधा उसका उल्लास और शक्ति का आश्रय होता है। सत्ता का विच्छुरण ही प्रज्ञा है। यह व्योम में आलोक के समान है। इसीलिये अग्नि को विद्वान् के रूप में अवगत किया जाता है। प्रज्ञा और विद्या का समाहार ही विद्वत्ता का परिचायक है "प्रजानन विद्वान्" (ऋ० ३।२९।१६) अग्नि के ज्ञान का जहाँतक प्रश्न है वह सभी मार्ग का, ऋत का, छन्द और सत्यस्वरूप का भी ज्ञाता हैं। मर्त्य एवं दिव्य जन्म को वह जानता है। अग्नि ही भूलोक और द्यूलोक के मध्य में दूत के रूप में चलता है। वह अमृतत्व के सिद्धि के लिये शक्ति और वज्र तेज का आहरण करता है। प्रातिभ संविद् की प्राप्ति के लिये देवता का प्रसाद चित् और अचित् मर्त्यों में पृथक् कर देता है। विष्णु के रूप में अग्नि की स्थिति बहुधा वेद में वर्णित है, अतः परम पद का ज्ञाता और रक्षक भी है। ऋत्विक् और ऋतुपति होते हुए भी ऋतुचक्र का आवर्तन और देव रहस्य का वह ज्ञाता है।

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्मः याँ उ च न प्रविद्मः त्वं वेत्थ यति ते जातवेदाः। (ऋ० १०।१५।१३) वह वाणी के गुह्यतम नाम को जानता है तपपूर्वक अङ्गिरा ने इनकी सृष्टि की है। वस्तुतः विश्ववेदाः के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञाता उसे माना गया है। देवताओं के रहस्य को हमलोग नहीं जानते हैं। वे ही इसको अच्छो तरह से जानते हैं। बौद्ध-प्रस्थान में भी यह भावना सुदृढ़ है मृत्युक्षण के वाद लोकान्तर में जन्म होता है। अतः मृत्यु नामकी वस्तुतः कोई चीज नहीं है। अग्नि के लिये जातवेदाः शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। यास्क ने इसकी व्याख्या करते हुये लिखा है जातवेदाः कस्मात् ? जातानि वेद, जातानि वैनम्विदुः जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा, जातधनः, जातविद्या वा, जातप्रज्ञानः यत्तज्जातः पशून् अविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् (७।१९) संहिता में इसके दो सूक्त है जहाँ अग्नि ने स्वयं कहा है कि मैं जन्म से ही जातवेदा हूँ। नाम की व्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में यह आभास मिलता है कि देवता अग्नि के सभी जन्मों को जानते है और अग्नि देवता के सभी जन्म को जानते है। मर्त्यों के लिये यह विषय गुह्य है। पितृगण जहाँ हैं और जहाँ नहीं है इस विषय को हमलोग जाने या न जाने किन्तु इस विषय को अग्निदेव अच्छी तरह से जानते हैं। जातवेदा होने के कारण देवलोक में, पितृलोक में, मर्त्यलोक में जो उत्पन्न होता है उसको जो जानता है वही जातवेदा है। एक जगह यह भी व्यक्त किया गया है कि मर्त्य एवं दिव्य उभय जन्म का वेत्ता ही जातवेदा है। इस विषय को ऐतरेय व्राह्मण में परिष्कृत रूप देते हुये कहा गया है कि जातवेदा प्राण है, क्योंकि सभी विषय को वह जानता है अर्थात् जातवेदा प्रत्येक प्राणियों में निहित प्राणचेतना है, अतः उसकी उत्क्रान्ति के प्रत्येक पर्व का अर्थात् विभिन्न जन्म में चेतना के विभिन्न जन्म का वह साक्षी है। ऐसा अवगत होता है कि यज्ञ में प्रथम आविर्भूत दिव्य अग्नि की विशिष्ट संज्ञा जातवेदा है। विश्वामित्र के अग्नि मन्थन सूक्त में कहा गया है कि दो अरणियों में निहित जातवेदा सुनिहित गर्भ है। वह प्रतिदिन गर्भस्थ जन्तु को जाग्रत

रखता है। उसी अग्नि मन्थन में अग्नि को दीप्ति के रूप में वर्णन करते हुए वैश्वानर का अव्यक्त देव से जन्म और भुवन के मस्तकस्वरूप परम व्योम में उसका निवास माना गया है। धी या ध्यान चेतना उसी का उत्स है। वह चेतना के वैपुल्य का विधाता है। यह जातवेदा यज्ञ और जीवन के आदि और अन्त में विराजमान रहता है। अन्त्येष्टि की अग्नि की विशिष्ट संज्ञा जातवेदा है। दिव्य अग्नि देही के अज अंश को प्रतप्त कर ऊर्ध्वलोक में दिव्यरूप की प्राप्ति कराता है, अतः दिव्य जन्म का वेत्ता होने से यह जातवेदा है। अग्नि का जो प्रज्ञान उसके द्वारा वह देवयान पथ का दिशा-निर्देशक होता है, जिसका परिणाम आनन्द चेतना सौम्य की प्राप्ति है। इसीलिये उसे जागृति या नित्य जाग्रत कहा गया है। इस विशेषण के आधार पर अग्नि को सौम्य निरूढ़ माना जाता है। फलतः साधना के आदि में अग्नि और अन्त में सौम्य रूप में है। इन दो समयों में देवता जाग्रत रहता है। इन देवताओं में अनवद्य देव अग्नि, माता पृथ्वी और पिता द्यु को देदीप्यमान कर देता है। द्युलोक की जो उत्तुङ्गता है अर्थात् लोकोत्तर आनन्द नाक धाम है वैश्वानर की सहायता से ही वहाँ आगमन किया जाता है। इसीलिये अध्यात्म-दृष्टि से अग्नि को समनस्कत्व और सदासूचित कहा गया है।

अग्नि का कवि के रूप में बहुधा वर्णन मिलता है। यह कवि शब्द का प्रयोग अग्नि और सोम के लिये आता है। परम देवता की वेदानुसार संज्ञा कवि है और यह जगत् उसका अजर अमर काव्य है। यास्क के अनुसार 'कवि' शब्द क्रान्तदर्शन अर्थ का बोधक है। यथायथ रूप से अर्थ का जाननेवाला कवि कहलाता है। ऋग्वेद में कहा है—नव्यं नव्यं तन्तुम् आतन्वत दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदितयः (ऋ० १।१५९।४) हृदय स्थल को समुद्र कहा गया है। तन्तु प्रज्ञान की रश्मि है और नवीन-नवीन तन्तु का विस्तार द्युलोक और भूलोक तक करना ही कवित्व है। यास्क ने कहा है—"ऋषिर्दर्शनात्" जिसके हृदय से भाव या वाणी की धारा निकलती है और द्युलोक की ओर प्रवाहित होती है वही ऋषि है। कवि भी जिसकी दृष्टि बहुत दूर तक पहुँचती है उसे ही कहा गया है। इस प्रकार गत्यर्थक कव् धातु से निष्पन्न कवि शब्द ऋषि का समानार्थक है। अभिप्रायार्थक कु धातु से इसकी निष्पत्ति मानने पर कवि शब्द विप्र का समानार्थक है। इसीलिये संहिता में कवि शब्द ऋषि और विप्र शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार हृदय की आकूति में चञ्चल और क्रान्तदर्शी ही कवि है। देवता और यजमान के मध्य में आकूति सेतु है। श्रद्धा और आकूति को देवता की प्राप्ति के हेतु सम्पादन करने वाला ही कवि कहलाता है। श्रद्धा के कारण हृदय में आकूति की जो सृष्टि है वही दीप्ति है जो चिदग्नि का स्फुरण है। अग्नि सत्यधर्मा, स्वधावान् है, विश्व का सम्राट् है समुद्र ही वसन है, द्युलोक का अन्त और मेघमाला उसकी दीप्ति से प्रकाशित रहता है। इस प्रकार अग्नि का काव्य में या कवि धर्म में प्रज्ञान के साथ सामर्थ्य अभिव्यक्त हो रहा है। देवयान का वही मार्गदर्शक है। उसकी प्रज्ञा दृष्टि से क्रतु का स्वरूप अन्तः के ज्वालामयी अभीप्सा का आभास होता है इसे ही उत्तरायण की उद्दीपना कहा जा सकता है। इस तरह ये प्रज्ञा और शक्ति दोनों का आश्रय कवि है। अग्नि की मत्तता और मधु स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये उसकी मन्द्र संज्ञा है—"मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्" इससे मन्द्र होता के रूप में बहुधा वर्णित मिलता है। यह देवता के उद्देश्य आनन्द का

आह्वान है अर्थात् ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा का आनन्दमय आकूति है, इसीलिये मन्द्रजिह्वः, मधुवचाः यह अग्निशिखा का बोधक है। सोमगत मद का जो सौम्य मधु में परिणाम है, अग्नि उसका धारक एवं वाहक है, इसीलिए वेद में वायु मित्र और इन्द्र के साथ अग्नि के मधुपान की चर्चा की गयी है। इस प्रकार पृथ्वी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वायु और इन्द्र द्युस्थानीय देवता मित्र सर्वतो भास्वर आदित्य चेतना की द्युति का समन्वय है, अर्थात् अग्नि अभीप्सा की ऊर्ध्व शिखा, वायु शुद्ध-प्राण, इन्द्र शुद्ध-मन और मित्र चेतना का देदीप्यमान स्वरूप। इसीलिये मित्र का सात धाम, यज्ञ के सप्तधाम आदि का वर्णन समन्वित होता है। अग्नि की अन्य संज्ञा गोपा है। गोपा शब्द रक्षक अर्थ का बोधक है। आकाश में उषा का आलोक के साथ नवीन जीवन की सूचना सूर्योदय से मिलती है और अग्नि उस आलोक की रक्षा करता है। इसीलिये नित्य जाग्रत गोपा के रूप में अग्निदेव का वर्णन मिलता है। ग्रीक के दार्शनिक चेतना में सर्वप्रथम प्रचेतनाहीन अव्याहृत सलिल से आरम्भ होता है। उसी आधार के मध्य से आलोक का प्रथम आभास मिलता है। ज्ञान की क्रिया के रूप में यह पार्थक्य है। चेतना की यह क्रिया चित्ति है और प्रथम प्रकाश पूर्वचित्ति है। उस चित्त में एक अपरूप विस्मयकारी चित्त का दर्शन मिलता है और उस अन्धतामिस्र का विदीर्ण करते हुए अग्नि का आविर्भाव होता है। इसीलिये सूर्य के समान यह चित्रभानुः चितमहाः, चित्रशोची, चित्रश्रवस्तम, चिन्मयविस्मय ज्योतिः का बोधक होता है।

गुण से ही कर्म का परिचय मिलता है। गुण भाव का आश्रयण करता है एवं कर्म शक्ति का आश्रयण करता है। भाव की विश्रान्ति में सभी देव एक स्वरूप है, भले ही भिन्न नामों से उनका आह्वान किया जाय। शक्ति के स्फुरण में सूर्य की रश्मि के विच्छुरण के समान उनके वैचित्र्य और वैशिष्ट्य का उद्बोध होता है। अग्नि का प्रधान कर्म दौत्य है। मनुष्य और देवों के मध्य वे दूत हैं। पृथिवी स्थानीय देवता होने से मनुष्य के साथ इसका अतिशय सम्बन्ध है। इसीलिए वह गृहपति या अतिप्रिय अतिथि है। अतिशय समीप का देवता अग्नि और अतिशय दूर का देवता सूर्य है। "कविः प्रशस्तो अतिथिः शिरो नः" (५।१।८) वह अमूर्त कवि है, हम लोगों का शिवमय अतिथि है। ७।९।३) अग्निचैतन्य और विश्वचैतन्य के मध्य में अभोप्सा की ऊर्ध्वशिखा अतन्द्र और निःशब्द वार्ता वह है। "अन्तर्विम्वा अध्वनो देवयानान् अतन्द्रो। दूतो अभवो हविर्वाट्" १।७२।७) तुम्हारे गति शील रथ का घोड़ा शब्द शून्य होकर चलता है, उसी के आश्रयण से दौत्यकार्य का सम्पादन करते हो (१।७४।७), अनादिकाल से ही मनुष्य दौत्य अर्थात् सूचना के लिए इनको स्वीकार करता है, यज्ञ की सिद्धि की कामना से अपने कर्तव्य को जानते हैं। द्युलोक और भूलोक दोनों के मध्य में उनकी सम्यक् चेतना परिव्याप्त है। द्युलोक में आरोहण के पर्वों की खबर उनसे अतिरिक्त को नहीं है। प्राण की समस्त धारा जहाँ आकर सम्मिलित होती है, वहीं अग्नि का आविर्भाव होता है। यह ऐसा सफल दूत है जो देवत्व को जगा देता है। हम लोगों के आत्मदान की अपेक्षा इनके दौत्य में रहती है। अमृत देवता के उद्देश्य से समिध् और हविः की आहुति देने वाला व्यक्ति होता है। देवता को इसकी सूचना देनेवाला ऋत्विक् और अध्वर्यु है। अध्यात्म जीवन के उषाकाल से ही आत्मदान की प्रेरणा

श्रद्धा का उन्मेष जागता है। ऋत के चिरन्तन सम्यक् दर्शन कराने की इच्छा से आलोक अग्नि दूत रूप में प्रत्यक्ष होता है। यह मर्त्य देव की द्युलोक के दूत के रूप में आहुति के उपचार से यजन करते हैं। दीप्ति स्वरूप देव के सहयोग से समन्वित होता है। लोक और लोकोत्तर के मध्य में उसका अभिसरण होने लगता है। अभीप्सा की शिखा के रूप में देवता उद्दीप्त होता है और मनुष्य के लिए दूत के रूप में आता हैं। समिद्ध चित्त की देवयानी अभीप्सा मनुष्य के दूत के रूप में होती है और देवदूत के रूप से चित्त में ही परम आवेश की स्थिति रहती है। पूर्व में श्रद्धा अनन्तर रुचि, वैष्णवों की अवधारणा में प्रथम देव की भक्तों के लिए उत्कण्ठा अनन्तर देव के लिए भक्तों की उत्कण्ठा रहती है। हव्यवहन के लिए अग्नि को समिद्ध किया जाता है। वही अग्निसमिद्धेन्धन उस दिन अकस्मात् सार्थक हो उठता है, जब तक वह तरुणतम अग्नि देवता का दूत होकर गभीरतम प्रज्वलचक्षु हो जाता है। मंत्र चेतना का प्रेरक होकर आविर्भूत होता है। विवश्वान और मातरिष्वा के मध्य में अग्नि का प्रथम आविर्भाव द्युलाक में होता है "त्वं अग्ने प्रथमो मातरिष्वन् आविर्भव!" (ऋ० १।३१।३) अग्नि को प्रदीप्त करने वाला वरुणमित्र और अर्यमा हैं, उन्हीं का वह दौत्यकार्य सम्पादन करता है। मानव के लिए देवगण विश्व की समस्त सम्पदा को इनके द्वारा प्रेरित करते हैं। क्योंकि देवता जानते हैं कि मर्त्यों में अमृत चेतना की नाभि या मध्यविन्दु अग्नि है। समस्त मालिन्य को दग्ध कर निरञ्जन स्वरूप में सर्वात्मभाव की योग्यता की घोषणा इसके द्वारा प्राप्त की जाती है।

देवज्योति के मूल में विवश्वान के रूप में परमज्योति है। अतः संहिता में विवश्वान का दूत इसे कहा गया है। अग्नि-समिन्धन की प्रेरणा प्राप्त होती है उस परम चैतन्य से। देव यजनभूमि में दुस्साहस और प्रज्ञा के वीर्य्य की उत्पत्ति होती है और देवता के पास हम लोगों का आह्वान प्राप्त होता है। इस तरह अग्नि विवश्वान का अमृत दूत हैं। विवश्वान का यह क्षिप्र गमन शाली दूत उपासकों के सम्मुख उपस्थित होता है। देवात्मभाव के लिए विश्वभुवन में यह प्राणवान रहता है। यह ऋषि अथवा व्रतचारियों के मूर्धन्यकमल का मन्थन करता है और वहाँ एक दीप्ति की आभा विखेरता है। यम का काम्य प्रियजन विवश्वान का दूत जीवन की प्रभा के रूप में परिव्याप्त हो जाता है। उपासक का ही नहीं अपितु यह अमृत ज्योति सभी लोगों का दूत है। प्रबुद्ध जीवन की ऊषा में देवकामनावान के आधार में समिद्ध वह कवि है, सचेता है, आनन्दमय है, कामना को प्राप्ति हेतु उत्कण्ठित है। आवेग कम्प्र और वरेण्य है। अग्नि की दीप्ति के लिए जो अरणि मन्थन है वह मात्र बाह्यमंथन ही नहीं अपितु देह के मध्य में भी एक अध्यात्म मंथन है। यह पूर्व में ही कहा गया है कि अग्नि ऋषि अथवा मूर्धन्यकमल से उस अग्नि को निर्मथित करते है और हृदय में वर्तमान कमल में प्रतिष्ठित करते हैं। युद्ध के धनञ्जय का यही प्रतीक है वेद में कहा गया है— "पाथ्यो वृषा समीधे द्युहन्तमं धनञ्जयं रणे रणे"। (६।१६-१४) मंत्र भावना में एक क्रम है अथवा के मंथन के फलस्वरूप आधार में चिदग्नि का आवेश होता है यहाँ से आकर गूहा प्रतिष्ठित होता है और वृत्र के निवारण के द्वारा धनञ्जय दस्युहा अग्नि आनन्दमय हो उठता है। यहाँ पर अग्नि प्राण वाक् और मनोदृष्टिका प्रतीक है।

प्राण सिद्ध है और मन तथा वाक् उसका साधन है। इसीलिए इस अमूर्त ज्योति को आन्धर्तामिश्र से आगत मानते हैं। यही दृशद्वती सरस्वती है। उपनिषद् के ध्यान निर्मन्थन के द्वारा देवदर्शन का यहीं संकेत प्राप्त होता है। इन्धन के आश्रय से मंथन से उत्पन्न अग्नि संवर्धित होता है। अग्निमंथन का सहचरित कर्मफल अग्नि-समिन्धन है। इस अग्नि को जन्मावस्था में समिद्धावस्था में मित्र कहा गया है। "त्वं अग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः (ऋ० ५।३।१) यह अग्नि के सर्वदेवमयत्व की विवृत्ति वरुण अव्यक्त ज्योति का देवता और मित्र व्यक्त ज्योति का है। इसलिए आविर्भाव काल में वरुण और प्रज्वलित दीप्ति में मित्र और समिद्ध अग्नि विश्वरुचि है। इसीलिए यज्ञीय वृक्ष के काष्ठ से इसे समिद्ध किया जाता है। अर्थात् द्रव्ययज्ञ के मूल में ज्ञान यज्ञ सम्पर्कित विशेष दृष्टि से प्रतिष्ठित है।इसीलिए संहिता और ब्राह्मण में समिद्ध (दीप्ति) का असाधारण गुरुत्व वर्णित है। यही पृथ्वी से द्युलोक जाने की सरणि है। अतः मृत्युकाल में भी इस यज्ञाग्नि को आधार बनाया जाता है, अतः अध्यात्म दृष्टि से यह प्राणस्वरूप है। यही कारण है कि जीवनरूपी यज्ञ में सवित्री (तेजस्विता) की दीक्षा में अन्तेवासी ब्रह्मचारी के चिए समिध के आहरण की सूचना है, जिसे उपनिषद् की भाषा में समित्पाणि कहा गया है। इस प्रकार समिन्धन वाणी की प्रतिष्ठा के लिए वाचिक और मानसिक कर्म है। देह मन के अर्राण में प्राण रूप में निहित देवता ध्यान-निमंन्थन से आविर्भूत होता है और जाग्रत् चित्त में संदीप्त रहता है।

अग्नि मेरे जीवन-यज्ञ का पुरोहित है, चेतना के पुरोभाग में अवस्थित रहता है। सिद्धि के लिए अभीप्सा की शिखा के रूप में अन्तर्हृदय में उसका प्रथम आविर्भाव होता है। उत्त रायण पथ से अध्यात्म दृष्टि से आत्म-ज्योति का विश्व-ज्योति में रूपान्तरित कर आधान करता है।

आहित अग्नि का दिव्य कर्म यज्ञ की साधना है, केतु बोधि की झलक है। जीवन को चिन्मयता का सम्पादक ही विश्व का केतु होता है। विद्या की साधना ही यज्ञानुष्ठान है, धी या ध्यानचित्तता की प्रेषणा ही देवता का प्रसाद है। मनुष्य के जीवन यज्ञ में अग्नि ही दिव्य ऋत्विक् है। इसीलिए यज्ञ का नेता, नियन्ता या वृहत् अध्व का ईशान है। दिव्य सामर्थ्य ही देवतात्मभाव का स्वाभाविक परिणाम है। आलोक मूल-मन्त्र उषा की प्रथम रत्नच्छटा जब आकाश में परिव्याप्त होती है। अनन्तर देदीप्यमान आदित्य का अवभासन होता है अग्नि की प्रद्योतरूपता चेतना के रूप में सतत परिव्याप्त रहती है।

इस प्रकार के विश्लेषण एवं वैदिक संहिताओं के आधार पर चेतना के स्रोत स्वरूप वह्नि की सर्वत्र स्थिति है। उषस् अग्नि के ऊपर के रूप में विकरण सुलभ है। अग्नि की विभिन्न संज्ञा आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक-आधार पर प्राप्त है। सौचीक, रक्षोहा, द्रविणोदा वैश्वानर, आप्री देवगण, इध्म, तनूनपात्, नराशंस, ईल, बर्हिः, देवी का द्वार, उषा आदि है। पृथिवी स्थानीय देवता अग्नि है सोमयाग के तीन सवनों में अग्नि प्रातः सवन है। ऋतुओं में वसन्त है, स्तोमो में त्रिवृत् है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयमहापुराण के निन्यानवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ॥

शततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

एवं स्तुतस्ततस्तेन भगवान् हव्यवाहनः ।
ज्वालामालावृतस्तत्र तस्यासीदग्रतो मुने ! ॥१।
देवो बिभावसुः प्रीतः स्तोत्रेणानेन वै द्विज ! ।
तं शान्तिमाह प्रणतं मेघगम्भीरवागथ ॥२।

अग्निरुवाच—

परितुष्टोऽस्मि ते विप्र ! भक्त्या या ते स्तुतिः कृता ।
वरं ददामि भवते प्रार्थ्यतां यत्तवेप्सितम् ॥३।

शान्तिरुवाच—

भगवन् ! कृतकृत्योऽस्मि यत्त्वां पश्यामि रूपिणम् ।
तथापि भक्तिनम्रस्य भवता श्रूयतां मम ॥४।
भ्रातृयज्ञं गतो देव ममाचार्यो निजाश्रमात् ।
आगतश्चाश्रमं धिष्ट्यं त्वत्सनाथं स पश्यतु ॥५।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे मुने ! शान्ति के द्वारा इस प्रकार स्तवन करने पर भगवान् हव्यवाहन अग्नि ज्वालामालाओं से परिव्याप्त वहाँ उसके समक्ष प्रकट हुए ॥१॥

हे द्विज ! देव विभावसु शान्ति के इस स्तोत्र-पाठ से प्रसन्न होकर उस प्रणत शान्ति से मेघ के समान गम्भीरवाणी में कहा ॥२॥

हे विप्र ! भक्तिपूर्वक तुम्हारे द्वारा की गई स्तुति से मैं अतिशय सन्तुष्ट अर्थात् प्रसन्न हूँ, मैं तुमको वर प्रदान कर रहा हूँ, जो अभीष्ट हो उसे माँग लो ॥३॥

शान्ति ने कहा—

हे भगवन् ! आपका मूर्तिमान् स्वरूप में दर्शन प्राप्त कर कृतकृत्य हुआ, किन्तु, मैं भक्ति से अवनत होकर निवेदन कर रहा हूँ, आप सुने ॥४॥

हे देव ! मेरे गुरुदेव अपने आश्रम से भाई के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए गये हैं, आश्रम में आने पर वे अग्निकुण्डको आपसे प्रतिष्ठित अर्थात् अग्नि से युक्त देखे ॥५॥

ममापराधात् सन्त्यक्तं धिष्ट्यं यत्ते विभावसो ! ।
तत्त्वयाधिष्ठितं सोऽद्य पूर्ववत् पश्यतां द्विजः ॥६।

तथान्यदपि मे देव प्रसादं कुरुते यदि ।
पुत्रो विशिष्टो भवतु तदपुत्रस्य मे गुरोः ॥७।

यथा च मैत्रीं तनये स करिष्यति मे गुरुः ।
तथा समस्तसत्त्वेषु भवत्वस्य मनो मृदु ॥८।

पश्यतां स्तोष्यते येन प्रीतिं यातोऽसि मेऽव्यय ! ।
स्तोत्रेण तस्य वरदो भवेथा मत्प्रसादितः ॥९।

मार्कण्डेय उवाच—

एतत् [1]श्रुत्वा वचस्तस्य तमाह द्विजसत्तमम् ।
स्तोत्रेणाऽऽराधितो भूयो गुरुभक्त्या च पावकः ॥१०।

अग्निरुवाच—

गुरोरर्थे यतो ब्रह्मन् याचितं ते वरद्वयम् ।
नात्मार्थं तेन मे प्रीतिस्त्वय्यतीव महामुने ! ॥११।

भविष्यत्येतदखिलं गुरोर्यत् प्रार्थितं त्वया ।
मैत्रीसमस्तभूतेषु पुत्रश्चास्य भविष्यति ॥१२।

हे विभावसो ! मेरे अपराध के कारण जो आपने अग्निकुण्ड का परित्याग कर दिया था, वह द्विज उस अग्निकुण्ड को आज आपके द्वारा पूर्ववत् अधिष्ठित रूप में देखें ॥६॥

हे देव ! यदि आप की मुझ पर कृपा है तो मेरा दूसरा निवेदन यह है कि पुत्र-हीन मेरे गुरु को विशिष्ट अर्थात् गुणसम्पन्न पुत्र हो ॥७॥

साथ ही गुरु देवका जैसा वात्सल्य अपने पुत्र के प्रति हो वैसा ही मधुर स्नेह अर्थात् कोमल चित्त सभी प्राणियों के प्रति भी हो ॥८॥

हे अव्यय ! मुझ पर आप प्रसन्न हुए यह जान कर जो इस स्तोत्र से आपकी स्तुति करता है, मेरे द्वारा प्रसन्न किये गये आप, उसे भी वर प्रदान करें ॥९॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

गुरुभक्ति एवं इसे स्तोत्र से आराधित पावक ने द्विजश्रेष्ठ शान्ति की वाणी को सुन कर उससे कहा ॥१०॥

अग्निदेव ने कहा—

हे ब्रह्मन् ! तुमने गुरु के लिए दो वरों की प्रार्थना की है, किन्तु, अपने लिए कुछ भी प्रार्थना नहीं की है, हे महामुने ! इसलिए मैं तुम से अतिशय प्रसन्न हूँ ॥११॥

तुमने गुरु के लिए जो प्रार्थना की है; वे सभी पूर्ण होंगी, सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव एवं पुत्र की उत्पत्ति भी होगी ॥१२॥

---

१. एतच्छ्रुत्वा इति पुस्तकान्तर पाठः ।

मन्वन्तराधिपः पुत्रो भौत्यो नाम भविष्यति ।
महाबलो महावीर्यो महाप्राज्ञो गुरुस्तव ॥१३।
अनेन यश्च स्तोत्रेण स्तोष्यते मां समाहितः ।
तस्याभिलषितं सर्वं पुण्यश्चास्य भविष्यति ॥१४।
यज्ञेषु पर्वकालेषु तीर्थेज्याहोमकर्मसु ।
धर्माय पठतामेतन्मम पुष्टिकरं परम् ॥१५।
अहोरात्रकृतं पापं श्रुतमेतत् सकृद् द्विज ! ।
नाशयिष्यत्यसन्दिग्धं मम तुष्टिकरं परम् ॥१६।
अहोमकालदोषादीन्नयोग्यैरपि तत्कृतैः ।
ये दोषास्तानिदं सद्यः शमयिष्यति संश्रुतम् ॥१७।
पौर्णमास्याममावस्यां पर्वस्वन्येषु प्रस्तवः ।
ममैव संश्रुतो मर्त्यैर्भविता पापनाशनः ॥१८।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा भगवानग्निः पश्यतस्तस्य वै मुने ! ।
बभूवादर्शनः सद्यो दीपस्थो निर्वृतो तथा ॥१९।

तुम्हारे गुरु अतिशय बुद्धिमान् हैं, उनको महाबलशाली महावीर्यवान् भौत्य नामक पुत्र होगा, जो मन्वन्तराधिपति होगा ॥१३॥

जो व्यक्ति समाहित चित्त होकर इस स्तोत्र से स्तवन करेगा, उसकी सभी प्रकार की कामनाएँ पूर्ण होंगी और पुण्य का सञ्चय भी होगा ॥१४॥

यज्ञों में, पर्वकाल में, तीर्थ, पूजा, होम कर्मों में धर्मार्थ मेरा यह स्तोत्र-पाठ करने से मेरे लिए परम पुष्टिकर होगा ॥१५॥

हे द्विज ! एक बार इस स्तोत्र के सुनने से दिन-रात में किये गये सभी पाप नष्ट हो जायेंगे—इसमें सन्देह नहीं है। यह स्तोत्र मुझे अतिशय सन्तोष-जनक है ॥१६॥

होम का समय बीत जाने पर या अनधिकारी व्यक्ति के होमादि का सम्पादन करने पर जो दोष होता है वे इस स्तव को भलीभाँति सुनने पर उसी क्षण वह दोष शान्त हो जायेगा ॥१७॥

पूर्णिमा अमावस्या अथवा अन्य पर्व के समय इस श्रेष्ठ स्तव को भलीभाँति सुनने पर मर्त्यलोक के मानवों का सभी पाप नष्ट हो जाता है ॥१८॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे मुने ! जैसे दीपस्थ अग्नि सहसा निवृत्त हो जाती है वैसे ही भगवान् अग्निदेव भी यह कह कर देखते-देखते उसके सम्मुख ही सहसा अन्तर्हित हो गये ॥१९॥

स च शान्तिर्गते वह्नौ परितुष्टेन चेतसा ।
हर्षरोमाञ्चिततनुः प्रविवेशाश्रमं गुरोः ॥२०॥
जाज्वल्यमानं तत्राऽसौ गुरुधिष्ण्ये हुताशनम् ।
ददर्श पूर्ववत् प्राप ततः स परमां मुदम् ॥२१॥
एतस्मिन्नन्तरे सोऽपि गुरुस्तस्य महात्मनः ।
भ्रातुर्यवीयसो यज्ञादाजगाम स्वमाश्रमम् ॥२२॥
तस्याग्रतश्च शिष्योऽसौ चक्रे पादाभिवन्दनम् ।
गृहीतासनपूजश्च तमाह स तदा गुरुः ॥२३॥
वत्सातिहार्दं त्वयि मे तथान्येषु च जन्तुषु ।
न वेद्मि किमिदं त्वञ्चेद्वत्सैतत्कथयाशु मे ॥२४॥
ततः स शान्तिस्तत्सर्वमाचार्याय महामुने ! ।
अग्निनाशादिकं विप्रः समाचष्टे यथातथम् ॥२५॥
तच्छ्रुत्वा स परिष्वज्य स्नेहार्द्रनयनो गुरुः ।
शिष्याय प्रददौ वेदान् साङ्गोपाङ्गान् महामुने ! ॥२६॥

वह्नि देव के अन्तर्हित हो जाने पर शान्ति ने आनन्द से पुलकित रोमराशि होकर गुरु के आश्रम में प्रवेश किया ॥२०॥

इसके बाद वह शान्ति गुरु के अग्निकुण्ड में पूर्ववत् जाज्वल्यमान अग्नि देव को देखकर अतिशय प्रसन्न हुआ ॥२१॥

इसी समय उस महात्मा शान्ति के गुरु भी अपने छोटे भाई के यज्ञ से अपने आश्रम में लौट आए ॥२२॥

आगे आकर उस शिष्य ने अपने गुरु के चरणों की वन्दना की, अनन्तर गुरु ने आसन और पूजा स्वीकार कर उससे कहा ॥२३॥

हे वत्स ! तुम्हारे प्रति एवं अन्य जन्तुओं के प्रति भी मेरा अतिशय मैत्रीभाव सम्पन्न हो गया है, कैसे यह हुआ, यह नहीं जानता हूँ, यदि तुम जानते हो तो कहो ॥२४॥

हे महामुने ! इसके बाद शान्ति नामक उस विप्रने अग्निनाशादि से लेकर उन सभी घटनाओं को आचार्य को यथार्थ रूप में निवेदित किया ॥२५॥

हे महामुने ! उस गुरु ने इन सभी घटनाओं को सुनकर स्नेहाश्रु प्रवाहित करते हुए शिष्य का आलिङ्गन कर, उसको साङ्गोपाङ्ग वेद विद्या प्रदान की ॥२६॥

भौत्यो नाम मनुस्तस्यपुत्रो भूतेरजायत ।
तस्य मन्वन्तरे देवानृषीन् भूपांश्च मे शृणु ॥२७॥
भविष्यस्य भविष्यांस्तु गदतो मम विस्तरात् ।
देवेन्द्रो यश्च भविता तस्य विख्यातकर्मणः ॥२८॥
चाक्षुषाश्च कनिष्ठाश्च पवित्रा भ्राजिरास्तथा ।
धारावृकाश्च इत्येते पञ्च देवगणाः स्मृताः ॥२९॥
शुचिरिन्द्रस्तदा तेषां त्रिदशानां भविष्यति ।
महाबलो महावीर्यः सर्वैरिन्द्रगुणैर्युतः ॥३०॥
आग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च शुचिर्मुक्तोऽथ माधवः ।
शुक्रोऽजितश्च सप्तैते तदा सप्तर्षयः स्मृताः ॥३१॥
गुरुर्गभीरो ब्रध्नश्च भरतोऽनुग्रहस्तथा ।
स्त्रीमानो च प्रतीरश्च विष्णुः सङ्क्रन्दनस्तथा ॥३२॥
तेजस्वी सुबलश्चैव भौत्यस्यैते मनोः सुताः ।
चतुर्दश मयैतत्ते मन्वन्तरमुदाहृतम् ॥३३॥
श्रुत्वा मन्वन्तराणीत्थं क्रमेण मुनिसत्तम ! ।
पुण्यमाप्नोति मनुजस्तथा क्षीणाञ्च सन्ततिम् ॥३४॥

इसके बाद उस भूति को भौत्य नामक पुत्र मनु ने जन्म-ग्रहण किया, उस विख्यातकर्मा भावी मनु के मन्वन्तर में जो देवगण, ऋषिगण, राजगण एवं जो इन्द्र होगें उनके विषय में विस्तारपूर्वक मैं कह रहा हूँ, तुम सुनो ॥२७-२८॥

चाक्षुष, कनिष्ठ, पवित्र, भ्राजिर और धारावृक ये पाँच प्रकार के देवगण होंगे। इन्द्र के सभी गुणों से विभूषित महाबली महापराक्रमी 'शुचि' इन्द्र होगा ॥३०॥

आग्नीध्र, अग्निवाहु, शुचि, मुक्त, माधव, शक्र, अजित ये सात ऋषि ही सप्तर्षि होंगे ॥३१॥

गुरु, गभीर, ब्रघ्न, भरत, अनुग्रह, स्त्रीमानी, प्रतीर, विष्णु, संक्रन्दन, तेजस्वी और सुबल ये भौत्यनामक मनु के पुत्र होंगे। इस प्रकार चौदह मन्वन्तरों का वर्णन मैंने तुम्हारे सम्मुख किया ॥३२-३३॥

हे मुनिसत्तम ! क्रम के अनुसार इस मन्वन्तरों को सुनने से मनुष्य पुण्यों के अर्जन में समर्थ होता है और उसका वंश कभी-भी क्षीण नहीं होता है ॥३४॥

श्रुत्वा मन्वन्तरं पूर्वं धर्ममाप्नोति मानवः ।
स्वारोचिषस्य श्रवणात्सर्वकामानवाप्नुते ॥३५।
औत्तमेर्धनमाप्नोति ज्ञानञ्चाप्नोति तामसे ।
रैवते च श्रुते बुद्धि सुरूपां विन्दते स्त्रियम् ॥३६।
आरोग्यश्चाक्षुषे पुंसां श्रुते वैवस्वते बलम् ।
गुणवत्पुत्रपौत्रन्तु सूर्यसावर्णिके श्रुते ॥३७।
माहात्म्यं ब्रह्मसावर्णे धर्मसावर्णिके शुभम् ।
मतिमाप्नोति मनुजो रुद्रसावर्णिके जयम् ॥३८।
ज्ञातिश्रेष्ठो गुणैर्युक्तो दक्षसावर्णिके श्रुते ।
निशातयत्यरिबलं रौच्यं श्रुत्वा नरोत्तम ! ॥३९।
देवप्रसादमाप्नोति भौत्ये मन्वन्तरे श्रुते ।
तथाग्निहोत्रं पुत्रांश्च गुणयुक्तानवाप्नुते ॥४०।
सर्वाण्यनुक्रमाद्यश्च शृणोति मुनिसत्तम ! ।
मन्वन्तराणि तस्यापि श्रूयतां फलमुत्तमम् ॥४१।

स्वायम्भुव इस प्रथम मन्वन्तर को सुनने से मनुष्य धर्म-लाभ करता है। स्वारोचिष इस द्वितीय मन्वन्तर को सुननेसे मनुष्य की सभी कामनाएँ सिद्ध होती हैं। उत्तम इस तृतीय मन्वन्तर को सुनने से धन की प्राप्ति होती है। रैवत इस पञ्चम मन्वन्तर को सुनने से बुद्धि और सुन्दरी स्त्री की प्राप्ति होती है। चाक्षुष इस षष्ठ मन्वन्तर को सुनने से मनुष्य आरोग्य प्राप्त करता है। वैवस्वत इस सप्तम मन्वन्तर के सुनने से बल की प्राप्ति होती है। सूर्यसावर्णिक इस अष्टम मन्वन्तर के सुनने से गुणी पुत्र और पौत्र को प्राप्त करता है। ब्रह्म सावर्णनामक नवम मन्वन्तर के सुनने से महात्म्य प्राप्त करता है। धर्मसावर्णिक नामक दशम मन्वन्तर के सुनने से मङ्गल की प्राप्ति होती है। रुद्रसावर्णिक नामक मन्वन्तर के सुनने से अच्छी मति और जय की प्राप्ति होती है। हे नरोत्तम ! दक्षसावर्णिक मन्वन्तर के सुनने से मनुष्य बन्धु-बान्धवों के मध्य में श्रेष्ठ और गुण सम्पन्न होता है। रौच्य नामक तेरहवें मन्वन्तर के सुनने से शत्रु के सामर्थ्य को ध्वस्त करने में समर्थ होता है, भौत्यनामक चौदहवें मन्वन्तर के सुनने से देवप्रसाद अग्निहोत्र का फल एवं गुणवान् पुत्र को प्राप्त करता है ॥३१-४०॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! स्वायम्भुव मन्वन्तर से लेकर क्रमशः सभी मन्वन्तरों के सुनने से जिन उत्तम फलों की प्राप्ति होती है, उनको सुने ॥४१॥

तत्र देवानृषीनिन्द्रान्मनूंस्तत्तनयान्नृपान् ।
वंशांश्च श्रुत्वा सर्वेभ्यः पापेभ्यो विप्रमुच्यते ॥४२॥
देवर्षीन्द्रनृपाश्चान्ये तन्मन्वन्तराधिपाः ।
ते प्रीयन्ते तथाः प्रीताः प्रयच्छन्ति शुभां मतिम् ॥४३॥
ततः शुभां मतिं प्राप्य कृत्वा कर्म तथाशुभम् ।
शुभाङ्गतिमवाप्नोति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥४४॥
सर्वे स्युर्ऋतवः क्षेम्याः सर्वे सौम्यास्तथा ग्रहाः ।
भवन्त्यसंशयं श्रुत्वा क्रमान्मन्वन्तरस्थितिम् ॥ ४५॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे चतुर्दशमन्वन्तरसमाप्तिवर्णनं नाम शततमोऽध्यायः ॥

हे विप्र ! उन मन्वन्तरों के देवगण, ऋषिगण, इन्द्रों, मनुओं, राजाओं, उनके वंशजों के वृत्तान्त को सुननेसे मनुष्यगण सभी पापों से मुक्त हो जाता है। देवगण, ऋषिगण, इन्द्र, नृपगण एवं मन्वन्तर के अधिपतिगण प्रसन्न होते हैं एवं प्रसन्न होकर अच्छी बुद्धि प्रदान करते हैं, सुन्दर मति को प्राप्त कर उत्तम कर्मों का सम्पादन करने से जबतक चौदह इन्द्र रहते हैं तबतक मनुष्यों को शुभगति प्राप्त होती है। क्रमशः मन्वन्तरों की स्थिति सुनने से सभी ऋतुएँ कल्याणकर होती हैं एवं सभी ग्रह अनुकूल और प्रसन्न होते हैं—इसमें सन्देह नहीं है ॥४२-४५॥

पर्यालोचन

इस अध्याय में चतुर्दश मन्वन्तर का उपसंहार करते हुए इसके फल का निरूपण किया गया है। इसे समाधान शब्द से कहा जाता है। शान्ति की गुरुभक्ति का अपूर्व निरूपण इसका वैशिष्ट्य है पुत्र की उत्पत्ति प्रसङ्ग में व्यंग्यात्मक रीति से मानव जगत् ऋषि हो या तपस्वी जीव मात्र के प्रति उसका यथानुरूप श्रद्धा, प्रेम और स्नेह से चित्त की द्रुति आवश्यक है। शान्ति नामक शिष्य ने शान्ति के लिए चित्तद्रुति एवं विशेष अनुराग की अनिवार्य अग्निदेव के द्वारा गुरु के लिए उसी की तृतीय वरदान के रूप में याचना की है।

यह ध्यान देने की बात है कि मारुति ने भी लङ्का दाह के समय उद्विग्न होकर यह कहने को वाध्य हो जाता है कि यदि वह क्रोध पर विजय न प्राप्त कर आवेश और आवेग में जनक नन्दिनी का भी दहन कर दिया तो समूल घात ही कर दिया एवं सृष्टि का मूल उत्सको ही सर्वथा विनष्ट कर दिया। गुरुदेव के लिए पुत्र की प्राप्ति के बाद भी यदि अनुराग की उपलब्धि नहीं होती है तो निश्चित ही पुत्र के द्वारा विकास क्रम किसी भी क्षण अवरुद्ध हो सकता है, अतः, जीवानुराग की विशेष महत्ता मानी गई है।

इस चतुर्दश मन्वन्तर के उपसंहारात्मक अध्याय में फल श्रुति के साथ उन सभी विषयों का निर्देश कर दिया है, जिनकी जीवनयात्रा-निर्वाह के लिए अनिवार्यता है। इन चरित्रों के अध्ययन से उसी की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। पुराण की रचना एवं उसके पाठ का यही फल है। मन्वन्तर सम्बन्धी चर्चा पूर्व अध्यायों में विस्तार से आ गई है। अतः, उस विषय की पुनरावृत्ति अपेक्षित नहीं है।

चौदह मनुओं में अन्तिम मनुओं के नाम में पुराणों का मतभेद है। (१) स्वायम्भुव मनु, (२) स्वरोचिष मनु, (३) उत्तम मनु, (४) तामस मनु, (५) रैवत, (६) चाक्षुष मनु, (७) वैवस्वत मनु, (८) सावर्णि सनु, (९) दक्षसावर्णि मनु, (११) धर्मसावर्णि मनु, (१२) रुद्रसावर्णि मनु, (१३) देवसावर्णि मनु, (१४) इन्द्रसावर्णि मनु।

अन्तिम दो मनुओं में विष्णुपुराण और मार्कण्डेयपुराण में भेद है। विष्णुपुराण में रुचि तथा भौम हैं और मार्कण्डेयपुराण में रौच्य तथा औत्य हैं।

सभी मनुओं का सम्बन्ध सूर्य से ही हे। सूर्य अर्थात् दीप्ति किन्तु मार्कण्डेय में तेजःपुञ्ज के रूप में देवी का आगमन और इसक बाद अप्सरा और अग्निदेव की आराधना से इसकी उत्पत्ति वर्णित है। अग्नि का स्वरूप तो वर्णित किया गया है। जहाँ तक अप्सरा का प्रश्न है, यह भी जल से उत्पन्न है और तेजोमयी सृष्टि है। इस प्रसंग में अप्सरा का अर्थ को विद्वानों ने प्रस्तुत किया है, अवगति के लिए लिख रहा हूँ। फलतः सावर्णि की जगह पितरों के अनुरोध रुचि के द्वारा मानिनी अप्सरा के सम्बन्ध से रौच संवत्सर हुआ और भूति कें द्वारा अग्नि देव की कृपा से भौम मन्वन्तर हुआ।

इस प्रकार मार्कण्डेयमहापुराण का चतुर्दश मन्वन्तर-कथन नामक सौवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥



एकाधिकशततमोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

भगवन् ! कथिता सम्यक् त्वया मन्वन्तरस्थितिः ।
क्रमाद्विस्तरतस्त्वत्तो मया चैवावधारिता ॥१॥
ब्रह्माद्यमखिलं वंशं भूभुजां द्विजसत्तम ! ।
श्रोतुम्ममेच्छतः सम्यक् भगवन् प्रब्रवीहि मे ॥२॥

मार्कण्डेय उवाच—

शृणु वत्स ! नृपाणां त्वमशेषाणां समुद्भवम् ।
चरितं च जगन्मूलमादौ कृत्वा प्रजापतिम् ॥३॥
अयं हि वंशो भूपालैरनेकक्रतुकर्तृभिः ।
संग्रामजिद्भिर्धर्मज्ञैः शतसङ्ख्यैरलङ्कृतः ॥४॥
श्रुत्वा चैषां नरेन्द्राणां चरितानि महात्मनाम् ।
उत्पत्तयश्च पुरुषः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५॥
मनुर्यत्र तथेक्ष्वाकुरनरयो भगीरथः ।
अन्ये च शतशो भूपाः सम्यक् पालितभूमयः ॥६॥
धर्मज्ञा यज्विनः शूराः सम्यक् परमवेदिनः ।
श्रुते तस्मिन् पुमान् वंशे पापौघाद्विप्रमुच्यते ॥७॥

क्रौष्टुकि ने कहा :—

भगवन् ! मन्वन्तर की स्थिति के विषय में आपने सभी बातें भली भाँति समझा कर कही है, मैंने भी उसे क्रमशः विस्तारपूर्वक आपके द्वारा अवगत कर लिया है ॥ १ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्मा से प्रारम्भ कर अशेष राजवंशों के विषय में सुनने की मेरी इच्छा हो रही है, हे भगवन् ! आप उसे भली-भाँति वर्णन करें ॥ २ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

हे वत्स ! जगत् के मूलभूत प्रजापति ब्रह्मा से आरम्भ कर सभी राजाओं की उत्पत्ति एवं उनका चरित्र सुनो ॥ ३ ॥

अनेक यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले, संग्रामों में विजयी धर्मतत्त्ववेत्ता सैंकड़ों भूपालों से यह वंश आलङ्कृत है, इन महात्मा नरश्रेष्ठों की उत्पत्ति और चरित्रों को सुनकर मानव सभी पापों से छुटकारा प्राप्त करता है ॥४-५॥

जिस वंश में मनु, इक्ष्वाकु, अनरण्य, भगीरथ एवं इसी प्रकार के अन्य सैकड़ों धर्मज्ञ, यज्ञकर्ता, शूर, परमज्ञानी पृथिवीपालों ने जन्म-ग्रहण कर भली-भाँति पृथिवी का पालन किया है, उस वंश का वृत्तान्त सुनने से मानव पापों से मुक्त होता है ॥६-७॥

तदयं श्रूयतां वंशो यतो वंशाः सहस्रशः।
भिद्यन्ते मनुजेन्द्राणामवरोहा यथा वटात् ॥८॥
ब्रह्मा प्रजापतिः पूर्वं सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अङ्गुष्ठाद्दक्षिणाद्दक्षमसृजदद्द्विजसत्तम ! ॥९॥
वामाङ्गुष्ठाच्च तत्पत्नीं जगत्सूतिकरो विभुः।
ससर्ज भगवान् ब्रह्मा जगतां कारणं परम् ॥१०॥
अदितिस्तस्य दक्षस्य कन्याजायत शोभना।
तस्याञ्च कश्यपो देवं मार्त्तण्डं समजीजनत् ॥११॥
ब्रह्म स्वरूपं जगतामशेषाणां वरप्रदम्।
आदिमध्यान्तभूतञ्च सर्गस्थित्यन्तकर्मसु ॥१२॥
यतोऽखिलमिदं यस्मिन्नशेषञ्च स्थितं द्विज !।
यत्स्वरूपं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् ॥१३॥
यः सर्वभूतः सर्वात्मा परमात्मा सनातनः।
अदित्यामभवाद् भास्वान् पूर्वमाराधितस्तया ॥१४॥

यतः इस वंश से हजारों मानवश्रेष्ठों का उसी प्रकार से वंश उत्पन्न हुआ है, जैसे वट से उत्पन्न अवरोह जटाएँ उत्पन्न होकर स्वतन्त्र वट-वृक्ष के रूप में हो गई हैं, अतः इस वंश के वृत्तान्त को अवश्य ही सुनना चाहिए ॥ ८ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! प्रारम्भ काल में प्रजापति ब्रह्मा ने अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से दक्षिण अङ्गुष्ठ से दक्ष प्रजापति की सृष्टि की ॥ ९ ॥

अनन्तर जगत् की सृष्टि करने वाले व्यापक भगवान् ब्रह्मा ने जगत् की सृष्टि के लिए बायें अंगूठे से जगत् की मूल कारण स्वरूपा दक्ष की पत्नी की सृष्टि की ॥ १० ॥

उस दक्ष को अदिति नाम की सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई, उसके गर्भ से कश्यप ने मार्तण्डदेव को उत्पन्न किया ॥ ११ ॥

हे द्विज ! ब्रह्मस्वरूप, सम्पूर्ण जगत् वर प्रदान करने वाले सृष्टि, स्थिति और प्रलय में जो क्रमशः आदि, मध्य और अवसान अर्थात् अन्तःस्वरूप है, जिससे यह निखिल जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें अशेष जगत् स्थित है, देव, असुर और मनुष्य से समन्वित जगत् जिसका स्वरूप है और जो सर्वभूत स्वरूप है, जो सर्वात्मा एवं जो सनातन परमात्मा है, वह दीप्तिमान् सूर्य देव ने पूर्व में ही अदिति से आराधित होकर उसके गर्भ में जन्म ग्रहण किया ॥ १२-१४ ॥

क्रौष्टुकिरुवाच—

भगवन् ! श्रोतुमिच्छामि यत् स्वरूपं विवस्वतः ।
यत्कारणश्चादिदेवः सोऽभवत् कश्यपात्मजः ॥१५॥
यथा चाराधितो देव्या सोऽदित्या कश्यपेन च ।
आराधितेन चोक्तं यत्तेन देवेन भास्वता ॥१६॥
प्रभावश्चावतीर्णस्य यथावन्मुनिसत्तम ! ।
भवता कथितं सम्यक् श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ॥१७॥

मार्कण्डेय उवाच—

विस्पष्टा परमा विद्या ज्योतिर्भा शाश्वती स्फुटा ।
कैवल्यं ज्ञानमाविर्भूः प्राकाम्यं संविदेव च ॥१८॥
बोधश्चावगतिश्चैव स्मृतिर्विज्ञानमेव च ।
इत्येतानीह रूपाणि तस्य रूपस्य भास्वतः ॥१९॥
श्रूयताञ्च महाभाग ! विस्तराद् गदतो मम ।
यत् पृष्टवानसि रवेराविर्भावो यथाभवत् ॥२०॥

क्रौष्टुकि ने कहा —

हे भगवन् ! विवस्वान् भास्कर का जो स्वरूप है एवं जिस कारण से वे आदि देव कश्यप के पुत्र हुए, कश्यप और आदिति देवी से जिस प्रकार आराधित हुए और आराधित होकर भगवान् भास्कर देव ने जो कहा, वे सभी वृत्तान्त एवं उत्पन्न उन भास्कर देव का क्या प्रभाव है इस विषय में आपने जो कुछ कहा है, हे मुनिश्रेष्ठ ! वे सभी निखिल बातें विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ १५-१७ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

विस्पष्टा, परमा विद्या, ज्योतिः, शाश्वती और प्रकाशिता, दीप्ति, कैवल्य, ज्ञान, आविर्भाव, प्राकाम्य, संवित्, बोध, अवगति, स्मृति और विज्ञान ये सभी सूर्य के स्वरूप हैं ॥ १८-१९ ॥

इस पद्य के व्याख्यान में महामहोपाध्याय पञ्चानन तर्करत्न आदि ने ऐसा ही व्याख्यान किया है, किन्तु, 'भा' को शाश्वती और स्फटा से सम्बद्ध न कर स्वतन्त्र रूप से भी भा अर्थात् दीप्ति को उनका स्वरूप माना जा सकता है ।

हे महाभाग ! तुमने जिज्ञासा की है कि रवि का आविर्भाव कैसे हुआ ? विस्तार-पूर्वक मैं इसे कह रहा हूँ, सुनो ॥ २० ॥

३०

निष्प्रभेऽस्मिन्निरालोके सर्वतस्तमसावृते ।
बृहदण्डमभूदेकमक्षरं कारणं परम् ॥२१।
तद्‌बिभेद तदन्तःस्थो भगवान् प्रपितामहः ।
पद्मयोनिः स्वयं ब्रह्मा यः स्त्रष्टा जगतां प्रभुः ॥२२।
तन्मुखादोमिति महानभूच्छब्दो महामुने ! ।
ततो भूस्तु भुवस्तस्मात् ततश्च स्वरनन्तरम् ॥२३।
एता व्याहृतयस्तिस्त्रः स्वरूपं तद्विवस्वतः ।
ओमित्यस्मात् स्वरूपात्तु सूक्ष्मरूपं रवेः परम् ॥२४।
ततो महरिति स्थूलं जनं स्थूलतरं ततः ।
ततस्तपस्ततः सत्यमिति मूर्त्तानि सप्तधा ॥२५।
स्थितानि तस्य रूपाणि भवन्ति न भवन्ति च ।
स्वभावभावयोर्भावं यतो गच्छन्ति संशयम् ॥२६।
आद्यन्तं यत्परं सूक्ष्ममरूपं परमं स्थितम् ।
ओमित्युक्तं मया विप्र तत्परं ब्रह्म तद्वपुः ॥२७।

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे वंशानुकीर्तनं नामैकाधिकशततमोऽध्यायः ॥

सृष्टि से पूर्व में जब कुछ नहीं था, तब यह जगत् दीप्तिहीन आलोकशून्य सर्वत्र अन्धकार से आच्छादन था, उस समय परम कारण क्षय रहित एक बृहत् अण्ड उत्पन्न हुआ ॥ २१ ॥

उस अण्ड के मध्य में स्थित भगवान् प्रपितामह पद्मयोनि जो जगत् के स्त्रष्टा हैं, उस प्रभु ब्रह्मा ने स्वयं उस अण्ड का भेदन किया ॥ २२ ॥

हे महामुने ! उस समय ब्रह्मा के मुख से 'ॐ' यह महाशब्द निकला, इस ॐङ्कार से प्रथम "भू" इसके बाद 'भुवः' और इसके बाद 'स्वः' उत्पन्न हुआ ॥ २३ ॥

ये तीन प्रकार की व्याहृतियाँ ही भगवान् सूर्य का स्वरूप हैं, इस 'ॐ' स्वरूप से ही रवि का परम सूक्ष्म स्वरूप हुआ, अनन्तर उससे स्थूल रूप "महः" पुनः उससे भी स्थूलतर रूप 'जनः' अनन्तर उसकी अपेक्षा भी स्थूलतम रूप 'तपः' इसके बाद उसकी अपेक्षा भी स्थूल रूप सत्य, उद्‌भूत हुआ, सूर्य के ये ही सात प्रकार के मूर्त अर्थात् स्थूल स्वरूप है ॥ २४-२५ ॥

भगवान् भास्कर के सात रूप रहने पर भी कभी ये व्यक्त होते हैं और कभी अप्रकाशित रहते हैं, कारण, उसके स्वभाव और भाव के अस्तित्व सन्दिग्ध हो जाते हैं ॥ २६ ॥

हे विप्र ! इस विश्व के आदि और अन्त में जो रूप विहीन परम सूक्ष्म परमात्मा रहता है, मैंने जिसे ॐङ्कार शब्द से कहा है—वह वही है, हे विप्र ! वह परब्रह्म ही मार्तण्ड देव का स्वरूप है ॥ २७ ॥

पर्यालोचन

सूर्य :—

प्रेरणा एवं गति अर्थ के वाचक 'सृ' धातु से "राजसूयसूर्यमृषोद्येति" (पा. ३।१। ११४) इस सूत्र से क्यप् प्रत्ययके द्वारा सूर्य शब्द सिद्ध होता है। सरति आकाशे, सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति आकाश में गमन करता है, लोक को प्रेरणा देता है।

भगवान् सूर्य सभी के एकमात्र उपास्य देवता हैं। प्रतिदिन गायत्री के द्वारा ही यह व्यक्त है कि भूः, भुवः, और स्वः ये तीनों लोक इन्हीं से सृष्ट है।

अदिति की पूर्व आराधना से ही अदिति के गर्भ से इनकी उत्पत्ति है। जिनका विस्तृत वर्णन इस प्रसङ्ग में स्तुति के रूपमें किया गया है।

सूर्य की उत्पत्ति का वर्णन भविष्यपुराणके ब्राह्मपर्व में, वराहपुराण में आदित्योत्पत्ति अध्यायमें, विष्णुपुराण के द्वितीय अंशके दशम अध्याय में, कूर्म पुराण के ४० अध्यायमें मत्स्यपुराण के एक सौ अध्याय में, ब्रह्मवैवर्त पुराणके श्रीकृष्ण-जन्म-खण्ड के ऊनसठ अध्यायमें सूर्य की उत्पत्ति आदि का कुछ भेद के साथ वर्णन किया गया है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार ब्रह्माण्ड के मध्य स्थल में सूर्य की स्थिति कही गई है। स्वर्ग और मर्त्य के अन्तर ही ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित है। सूर्य और अण्डगोलक इन दो के मध्य के स्थान का परिमाण पचीस कोटियोजन कहा गया है। मार्तण्ड शब्द के द्वारा अचेतन = मृत अण्ड में वैराज रूप में उनका प्रवेश विवक्षित है, इसीलिए मार्तण्ड नाम से विख्यात है। दूसरी बात यह है कि हिरण्मय अण्ड से उत्पत्ति होने के कारण हिरण्य गर्भ है। दिशा, आकाश, पृथिवी, योग स्थान, मोक्ष स्थान, नरक अतल आदि सभी लोक सूर्य के कारण विभक्त हैं, सभी प्राणियों एवं ऋतुओं के एकमात्र यही अधिष्ठाता हैं।

सूर्य का वेदमय रथ एक मुहूर्त में ऐन्द्रादि चार पुरियों के चारो तरफ ३४ लाख आठ सौ योजन का भ्रमण करता है। इस रथ का एक चक्र है, उसका संवत्सर नाम है, द्वादश मास अर्थात् बारह आर अर्थात् अन्तभाग है। ६ ऋतुएँ उसकी ६ नेमि हैं, तीन चातुर्मास्य नाभि है। उनके अक्ष का एक भाग सुमेरु पर्वत के मस्तक पर एवं अन्त भाग मानसोत्तर पर्वतपर सूर्य रथ पर स्थापित होने से तैल यन्त्र के चक्र के समान प्रतिदिन परिवर्तन करता है। सूर्य रथ का दो अक्ष है, प्रथम अक्ष सुमेरु से मानसोत्तर तक विस्तृत है, उसका परिमाण एक करोड साढे सन्तावन लक्ष योजन है। द्वितीय अक्ष का परिमाण उसका चतुर्थांश है, = चालीस लाख साढे सैंतीस हजार योजन है। प्रथम अक्ष में द्वितीय अक्ष का पूर्व भाग निबद्ध है। तैल यन्त्र के समान ध्रुवलोक में वायु पाश के द्वारा उसके ऊपर का भाग संलग्न है। इस रथ पर रथी के बैठने का स्थान छत्तीस लाख योजन विस्तृत है, उसका चौथा भाग ऊँचा एवं इस रथ के युग के परिमाण की संख्या के समान योजन का है। इसके गायत्री आदि सात छन्द सात अश्व हैं। ये अश्व अरुण के द्वारा संयोजित होकर सूर्य देव को वहन कर भ्रमण

करता है। अरुण सारथि के रूप में आगे स्थित है। अंगूठे के परिमाण वाले साठ हजार बालखिल्य गण सूर्य के आगे बैठ कर उनकी स्तुति करते हैं, इसी प्रकार देव, ऋषि आदि की स्तुति के द्वारा इनको सन्तुष्ट करते हैं।

इस प्रसंग में परीक्षित ने शुकदेव के इस वर्णन के विषय में यह प्रश्न किया था कि, सूर्य सुमेरु और ध्रुव का प्रदक्षिण कर भ्रमण करता हुआ सभी राशियों के अभिमुख और अप्रदक्षिण में गमन करता है—यह विरुद्ध प्रतीत होता है। उसके समाधान में शुक देव ने कहा था कि जैसे कुलाल-चक्र एक ओर मुख कर भ्रमण करता हुआ उस चक्र में आश्रित चींटियाँ जैसे दूसरी ओर मुखकर घूमती हैं, उनकी अन्य देश में अन्य प्रकार से गति उपलब्ध होती है उसी तरह काल-चक्र ध्रुव और सुमेरु का प्रदक्षिण कर भ्रमण करता है, वह एक नक्षत्र और राशिचक्र में उपलक्षित होने पर भी भिन्न-भिन्न चक्र में भ्रमण करने वाला सूर्य आदि ग्रहों की अन्य रूप में गति होने में क्या दोष है? वह प्रसिद्ध काल रूपी साक्षात् आदिपुरुष ही लोक के कल्याण के लिए, कर्म की शुद्धि के लिए अपने वेदमय शरीर को बारह प्रकार से विभक्त कर सूर्य रूप में हो गया है, ६ ऋतुओं में कर्मों के योग के अनुसार शीत, उष्ण आदि का विधान करता है। सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आत्मा है। स्वर्ग और पृथिवी के मध्य में आकाश मण्डल है उसके मध्य में स्थित काल-चक्र में स्थित होकर बारह राशियों का योग करता है। मेष आदि राशियों के अनुसार ही बारह मासों का नामकरण है, ये मास संवत्सर के अवयव हैं। मास भिन्न-भिन्न रूप में होते हैं, चान्द्र मास दो पक्षों का एक मास, सौर मास में सूर्य की सत्ता से दो नक्षत्रों का योग काल एक मास होता है। यह एक मास पित्र्य मान के अनुसार दिन-रात होता है, अर्थात् पितृ लोक के परिमाण में कृष्ण पक्ष दिन और शुक्ल पक्ष रात्रि, सूर्य जितने समय तक संवत्सर के छठे भाग अर्थात् दो राशियों का योग करता है उस समग को ऋतु कहा जाता है, अतः ऋतु भी संवत्सर का अवयव है, इस प्रकार सूर्य जितने समय जब तक आकाश-मण्डल के अर्द्धभाग में भ्रमण करता है अर्थात् छः मास तक भोग करता है—वह अयन है। सूर्य जब तक स्वर्ग मण्डल और पृथिवी मण्डल ये दो मण्डल नभो-मण्डल के साथ सम्पूर्ण रूप में भ्रमण करता हुआ भोग करता है—वह संवत्सर है। यह संवत्सर सूर्य की मन्द, तीव्र और समान गतियों से सम्वत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर इन पाँच नामों में विभक्त है। चन्द्रमा दोनों पक्षों में सूर्य के संवत्सर एवं सत्ता से दो दिनों में सूर्य का एक मास और एक-एक दिन में सूर्य का एक-एक पक्ष होता है, चन्द्र-मण्डल की सभी कलाएँ वृद्धिशील होती हैं, तब देवताओं का दिन एवं क्षयशील स्थिति में पितरों का दिन होता है। इस प्रकार शुक्ल और कृष्ण पक्ष के द्वारा देव और पितरों से सम्बन्धित दिन और रात का विधान करता है, अन्न और अमृतमय चन्द्र जीवका प्राण है। देव, पितृ, मनुष्य आदि के प्राण को यह पुष्ट करता है।

सूर्य को ही केन्द्रस्थ कर सभी ग्रह अवस्थित हैं। नक्षत्र गण अनेक लक्षों की दूरी पर अवस्थित सुमेरु के दक्षिण दिक् काल चक्र में योजित होकर भ्रमण करते हैं, अभिजित् नक्षत्र के साथ ये अट्ठाइस हैं।

इस प्रकार सूर्य से ही दिन, रात, मास, पक्ष, ऋतु, अयन, वत्सर, सुख, दुःख, वृष्टि, अनावृष्टि आदि होते हैं। इनका विधायक सूर्य है। सूर्य ही प्रत्यक्ष देवता है अतः इनकी उपासना विधेय है। विस्तृत ज्ञान के लिए भागवत ५।२०-३० देखें।

पाश्चात्य दृष्टि से यह एक पदार्थमय मण्डल है। यह इतना उत्तप्त है कि इसके अभ्यन्तर में स्थित पदार्थ सदा ही इस प्रकार वाष्पीय अवस्था में परस्पर विच्छिन्न भाव में अवस्थित हैं कि इनमें किसी प्रकार के रासायनिक संयोग घटित नहीं होते हैं। इसका गुरुत्व और घनत्व बहुत अधिक है। इसका अंश इस प्रकार संविष्ट और संश्लिष्ट है, आकर्षण के कारण ही यह दृढ़ता है। आलोक मण्डल (Photosphere) परि-वेष्टित सूर्य को जो हम लोग देख रहे हैं, वह अंश मात्र है। ग्रहण के समय के पर्यवेक्षण से यह सिद्ध है कि आलोक के बाहर भी दो विभिन्न आवरण हैं। प्रथम का नाम वर्ण मण्डल (Chromosphere) यह प्रधानतया जलयान गठित है, द्वितीय अंश आभा-मण्डल (Corona) है, इन दो आवरणों के बाहर विषुव रेखा के समक्षेत्र में एक पदार्थ-मय विस्तार है, द्वितीय आवरण पदार्थ गठित है। Spectroscope गठन प्रणाली की अवगति के अनुसार दो मत आते हैं, प्रथम मत के अनुसार सूर्य का प्रकृत वायुमण्डल (Atmosphere) वर्ण मण्डल के द्वारा सीमाबद्ध एवं भू-पृष्ठ में उपलब्ध रासायनिक उपादान जन्य वाष्प से ही वायु-मण्डल संगठित है। समय-समय पर आभामण्डल और विषुव रेखा संक्रान्त का जो विस्तार देखा जाता है, इस मत के अनुसार वह सौर उपाङ्ग से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

द्वितीय मत के अनुसार यह वायुमण्डल आभासमण्डल के निकट सीमा अपर्यन्त विस्तृत है। नीचे की ओर उत्ताप अधिक अनुभूत होता है। आलोक मण्डल के समीप यह इतना अधिक है कि इस स्थान में रासायनिक उपादान परस्पर विच्छिन्न और आमान्त संहति से विच्युत होकर सूक्ष्माति सूक्ष्म अंश में परिणत होता है। फल नीचे की ओर प्रवहमान साष्पस्रोत क्रमशः अधिकतर अविमिश्र एवं ऊर्द्धप्रवाही क्रमशः अधिकतर विमिश्र होता है। इसीलिए इन सौर वायुमण्डल का प्रदेश जो अधिक शीतल है उस प्रदेश में हमलोगों के पार्थिव उपादानों का (Terrestrial Elements) अनुरूप वाष्प देखने को मिलती है एवं आभामण्डल के सीमान्त देश में यह वाष्प कठिन अवस्था में परिणत होता है। इन मतों के अनुसार सूर्य का माध्यमिक घनत्व (Meandensity) एक समान कभी भी नहीं हो सकता है। सौर वायुमण्डल यदि प्रस्तुत पक्ष में आलोक मण्डल के द्वारा सीमाबद्ध होकर रहता है, तब उसका घनत्व १०४४ के रूप में होगा। आभास मण्डल को भी इस वायुमण्डल के अनुपयुक्त करने पर एवं आलोक मण्डल से इसकी उच्चता आधा करोड़ माइल रखा जाय तो सूर्य का आयतन पूर्वोक्त मत के अनुरूप आयतन का दश गुणा अधिक होगा फलतः सूर्य का घनत्व १०४४।१० होगा।

सौर मण्डल के पदार्थ-पर्यवेक्षण में भी दो प्रकार का मत उपलब्ध है।

(१) लौह, ताम्र, जस्ता, निकेल, वारियम, सोडियम, कैलसियम, मागनेसियम माना है।

(२) जलयान, माङ्गोनिज, टाइटोनियम, कोबाल्ट, क्रोमियम, निकेल, मागनिशियम, कैलसियम, लौह और सोडियम माना गया है। अम्ल जान है या नहीं इसमें निश्चित नहीं था।

सूर्यमण्डल का अभ्यन्तर प्रदेश अदृश्य है, इसका ऊपरी भाग जिसे आलोक मण्डल कहा जाता है—उसे ही देखा जाता है। वर्णमण्डल और आभामण्डल के नाम से जो आवरणीय है, वह हम लोगों की दृष्टि से ग्राह्य नहीं है। प्रथम को speetroscope यन्त्र से देखा जाता है और द्वितीय को केवल पूर्ण ग्रहण के समय देखा जा सकता है, वर्णमण्डल रक्ताभ है, यह स्वयं देदीप्यमान वाष्प से गठित है। आभास मण्डल सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों की शृंङ्खलाशून्य समष्टि है। आलोक मण्डल न तो निरवच्छिन्न कठोर पदार्थ है और न गलित धातु के समान साधारण तरल पदार्थ ही है। इन दो प्रकार के पदार्थ होने पर प्रचण्ड भाव से ताप विकीरण कर सकता, और वह देखते-देखते शीतल हो जाता। जल के समान किसी स्वच्छ तरल पदार्थ से गठित मानने पर भी ताप फैल सकता था, वह पृष्ठ देश के कतिपय गज ऊपर से मात्र उद्भूत होता और कतिपय घण्टों और क्षणों में यह पृष्ठ देश ठण्डा हो जाता। आलोक मण्डल को गठित मानने पर सदा एक अवस्थाएँ होने से उत्ताप समाप्त कर क्रमशः शीतल होने लगता। अतः, जिस पदार्थ से ताप विकीरण होता है, उस पदार्थ का प्रति नियत ही एक स्रोत (convection current) प्रवाहित होता है—यह अवगत होता है।

सूर्यान्तर्गत प्रदेश अक्षरेखा के चारों ओर प्रतिनियत घूमकर निकलता है, किन्तु सभी प्रदेश एक वेग में नहीं निकलता है। अक्षरेखा वेष्टन करने पर मेरु समीपवर्ती प्रदेश में जितनी आवश्यकता है विषु रेखा के समीपवर्ती प्रदेश को उससे कम अपेक्षा होती है। क्योंकि, आलोक मण्डल का मेरु समीपवर्ती प्रदेश विषु रेखा से संलग्न प्रदेश से अधिकतर उत्तप्त अतिविच्छिन्नता लक्षित होती है। आलोक मण्डल में दाग भी है। इसकी उत्पत्ति के लिए भी अनेक मत हैं। पूर्व में ऐसा विश्वास था कि आलोक मण्डल के कलेवर में शीतल पदार्थ के पतन से उत्पन्न दाग या कन्दरा विशेष है, सौर मण्डल के निम्न प्रदेश से उत्तप्त वाष्प ऊपर की ओर उठता है और वह ऊपर के शीतल प्रदेश में जमकर सशक्त हो जाता है और इसके पतन से अवशिष्ट भाग में दाग की सृष्टि होती है। आलोक मण्डल के प्रायः सर्वत्र ही यह दाग देखने को मिलता है, किन्तु सभी दाग आयतन में समान नहीं हैं। अनेक छोटे-छोटे दाग मिलकर एक वृहत् दाग के रूप में दृष्टिगोचर होता है। शीतल पदार्थ के पतन से सूर्यमण्डल का यह विपर्यय होता है। सूर्य संक्रान्त वायुमण्डल के अपेक्षाकृत शीतल ऊद्ध्वंतर स्थान में उत्पन्न होता है। स्वयं विपर्यय संघटित करता है ऐसी बात नहीं है। पतन के समय वायुमण्डल के साथ संघर्ष होता है, उससे एक उत्ताप की सृष्टि होती है और उत्ताप से उत्तप्त होकर कतिपय वाष्प ऊपर की ओर उठता है और अन्त में शीतल होकर जो जम जाता है वह आलोक-मण्डल के ऊपर पड़कर नवीन गोल योग की सृष्टि करता है। इन दागों के कारण सूर्य-मण्डल का देश विशेष अन्धकार से

आच्छन्न प्रतीत होता है। मेरु प्रदेश के समीपवर्ती प्रदेश भी विचित्र दाग से परिपूर्ण प्रतीत होता है आलोक मण्डल के अन्य अंशों के साथ तुलना करने पर उसे दाग भी कम परिमाण में आलोक और ताप का विकीरण करते हैं। दाग के साथ सूर्य मण्डल में कतिपय गुम्बज का आकार (Facula) एवं अन्य प्रकार की स्फीति भी देखने को मिलती है। विश्वास है कि शीतल पदार्थ के पतन के समय वायुमण्डल के साथ जो संघर्ष होता है, इससे उत्तप्त होकर कुछ वाष्प ऊपर उठते हैं और वाष्प के इस ऊर्ध्व प्रवाह से इन स्फीतियों की सृष्टि होती है। Faculoe प्रधानतया सौर विषु रेखा के तीस डिग्री के मध्य में देखा जाता है, अन्य स्फीतियों सूर्य चक्र के प्रायः सभी स्थानों में देखने को मिलती हैं। दागों के साथ इनका एक विशेष सम्बन्ध है, दाग भी ३०० डिग्री के मध्य में ही देखने को मिलते हैं एवं विषु रेखा के निकट में दोनों ही कम परिमाण में दिखाई देते हैं। आलोक मण्डल मे कतिपय छिद्र एवं प्रच्छन्न दाग (valied spots) भी देखने को मिलता है।

हेल के द्वारा (Hale) प्रवर्त्तित प्रणाली के अनुसार Monochromatic आलोक से सूर्य-मण्डल का फोटोग्राफ लिया गया है। उससे अनेक विषयों की अवगति होती है।

वर्णमण्डल मे प्रधान रूप से जलयान, हेलियाम (Haliuam) एवं कैलसियम (Calcium) इन तीन धातुओं का अस्तित्व सिद्ध होता है। Halium एक खनिज पदार्थ है। लौह, मैगनेसियम एवं सोडियम आदि अन्य पदार्थ भी कम परिमाण में है। सूर्य के चारों ओर जो एक अद्भुत उपवलता देखने को मिलती है, वह आभास मण्डल नहीं है। वह उसका प्रक्षेपण Projection है। एक निर्दिष्ट स्थान में जो हमलोग देखते हैं वह असल आभामण्डल का ठीक रूप नहीं है। यह हम लोगों के नेत्र से आभामण्डल तक विस्तृत दृष्टि रेखा का दोनों ओर समीपस्थ भागों में पदार्थों का सम्मिलित क्रियाफल मात्र है, आभामण्डल में अनेक किरणों का जटिल सम्मिश्रण देखने को मिलता है, बहुधा रश्मियों के मध्य में कृष्ण रेखा भी दृष्टिगोचर होती है। आभामण्डल का spectrum निष्प्रभ और अविच्छिन्न अवगत होता है। किन्तु इसके ऊपर उज्ज्वल रेखा भी देखने को मिलती है। इसमें कृष्णवर्ण रेखा है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता है। करोना की उज्ज्वलता स्वतन्त्र है, इसके ऊपर सूर्य-रश्मि प्रतिफलित होकर इसकी उज्ज्वलता की वृद्धि करते हैं।

भारतीय सिद्धान्त :

ज्योतिष में सूर्य के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया गया है। ग्रहों में सूर्य प्रबल और तेजस्वी ग्रह है। इसके तेज के सम्मुख सभी ग्रह अस्तमित रहते हैं। सौर जगत् का यह प्रधान ग्रह और मध्य में अवस्थित है। पृथिवी इसके चतुर्दिक् परिभ्रमण करती है किन्तु इस गति का अनुभव हमलोगों को नहीं होता है। गति के सहज नियम के अनुसार अर्थात् किसी गतिशील वस्तु पर आरूढ़ होने पर अचल वस्तु को चलते हुए देखते हैं, इसी प्रकार सचल पृथिवी पर आरूढ़ होकर सूर्य भ्रमण कर रहा है— यह अवगत होता है। इसीलिए सूर्य का पूर्व में उदय और सायंकाल के पश्चिम में

उसका अस्त देखते हैं। जिस पथ से सूर्य का आकाश मण्डल में गमनागमन देखते हैं, वह वस्तुतः भूकक्ष या अयनमण्डल है। वह अण्डा चक्राकार है गोल नहीं है, स्थान स्थान में कुछ वक्रता है। उत्तर दक्षिण में कुछ दूर व्याप्त कर जो आर अर्थात् कल्पित चक्र उसको परिवेष्टन करता है—वह राशि-चक्र है। राशिचक्र और अयन क्रान्ति मण्डल बारह भागों में और तीन सौ साठ अंशों में विभक्त है। प्रत्येक भाग राशि है। प्रत्येक राशि का परिमाण तीस अंश है। ये राशियाँ निम्नलिखित हैं—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन। सूर्य एक वर्ष में इन बारह राशियों में भ्रमण करता है। प्रतिदिन एक अंश का गमन करता है, इस प्रकार ३६० दिनों में एक बार राशिचक्रों का परिभ्रमण हो जाता है। ये राशियाँ नक्षत्र पुञ्ज हैं। छियासठ नक्षत्र संयुक्त एक मेषाकार नक्षत्र पुञ्ज जो नभोमण्डल में दिखाई देता है, इस राशि चक्र के जिस भाग में नक्षत्र पुञ्ज अवस्थिति करता है—उसका नाम मेष राशि है। इसी प्रकार अन्य राशियों की अवगति करें। ये मेषादि राशियाँ अचल के रूप में प्रसिद्ध हैं, प्रायः तीन विकल को एक वात्सरिक गति है। आकाश मण्डल के मध्य खण्ड में राशिचक्र है, इस चक्र के उत्तर दक्षिण में असंख्य तारक हैं। इनका भी २७ नक्षत्र पुञ्जों के रूप में राशि चक्र का सूक्ष्मतम विभाजन है। इन नक्षत्रों का परिमाण १३ अंश बीस कला है। अतः दो नक्षत्रों में एक राशि हुई, सूर्य एक मास में दो नक्षत्रों का भोग करता है एवं तेरह दिन कतिपय दण्ड तक एक नक्षत्र का भोग करता है।

इन सत्ताइस नक्षत्रों में विशाखा, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढा, श्रवणा, पूर्व भाद्रपद, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, उत्तर फाल्गुनी और चित्रा बारह इन नक्षत्रों से वैशाख आदि बारह चान्द्र मासों का नाम होता है। विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से ज्येष्ठ, इत्यादि। सूर्य की सायन और निरयण गतिचक्रों का आदि अन्त नहीं है, किसी विशिष्ट निर्दिष्ट स्थान से उसका निरूपण सम्भव नहीं है। अश्विनी नक्षत्र के प्रथम अंश से राशि चक्र के आरम्भ का निरूपण किया गया है। पृथिवी के निरक्षवृत्तके समान इस चक्रके मध्य भाग में पूर्व पश्चिम में व्याप्त एक सरल रेखा की कल्पना है उसी का नाम विषुव रेखा है। प्रतिवर्ष अयन मण्डल के जिन दो स्थानों में विषुव रेखा मिलती है, उसको क्रान्तिपात कहा जाता है। क्रान्तिपात स्थल में सूर्य के आने पर दिन-रात समान हो जाता है। इस समय ९ या १० चैत्र या ९ या १० आश्विन मास में क्रान्तिपात होता है। अतः इन दो दिनों में दिन-रात समान रहता है। वासन्तिक और शारदीय क्रान्तिपात ही शक्ति साधना का समय है।

भारतीय ज्योतिष के अनुसार अश्विनी नक्षत्र के प्रथमांश में जो क्रान्तिपात होता है, सूर्य का उसके आगमन होने पर महाविषुव संक्रान्ति और चित्रा नक्षत्र के उत्कांशादि में क्रान्तिपात होने पर जल विषुव संक्रान्ति है। किन्तु इन क्षणों में इन दो स्थलों में विषुव रेखा के साथ अयनमण्डल का सम्मिलन नहीं होता है। पाश्चात्य देशीय के अनुसार प्रतिवर्ष ५० विकला १५ अनुफल है, भारतीय के अनुसार इस परिमाण में प्रतिवर्ष विषुव रेखा का सञ्चालन की कल्पना की जाती है, इस संचालन

को अयनांश कहा जाता है। अयनांश गणना की विभिन्नता का कारण यह है कि अश्विनी यद्यपि अचल नक्षत्र है तथापि उसकी तीन विकला का कुछ अधिक परिमाण में एक स्वाभाविक गति है। यह गति क्रान्तिपात के वार्षिक संचालन के योग करने पर इस संचालन का परिमाण ५४ विकला है। ९ या १० चैत्र एवं अश्विनी नक्षत्र के प्रथम अंश से प्रायः २१ अंश अन्तर में जो स्थान इस देश में मीन राशि के ९ अंश युक्त कह कर परिगणित होता है, उस स्थान में वासन्तिक क्रान्तिपात उपस्थित होने पर दिन और रात समान होता है। इसीलिए अन्य देशों में भी इस दिन से रवि का मेष संक्रमण एवं स्थान से मेष राशि का आरम्भ माना जाता है। यही सायन मत है।

चैत्र मास के ३० या ३१ दिन में सूर्य अश्विनी नक्षत्र के प्रथमांश में उपस्थित होता है, इस अंश से मेष राशि के आरम्भ की गणना करना ही निरयण है। सायन मत में एक अपरिवर्तनीय स्थान से मेष राशि का आरम्भ नहीं होता है। उसका प्रतिवर्ष स्थानान्तरण होता है, निरयण प्रणाली प्रकृष्ट है, क्योंकि अचल अश्विनी नक्षत्र से मेष संक्रान्ति को गणना करने पर एक ही स्थान से मेष के आरम्भ की गणना होती है। इन मतों में प्रमुख सायन मत में जिस क्षण के जिस दिन में मेष संक्रान्ति होती है। जिस क्षण जिस स्थान में मेषारम्भ सायन मत में होता है निरयण मत में उससे २१ अंश के बाद मेषारम्भ होता है। सायन मत में वासन्तिक क्रान्तिपात अयन मण्डल के कितनी भी दूरी पर पश्चिम में जाय पर मेषराशि का प्रारम्भ निर्दिष्ट रहेगा। फलतः, द्वादश राशि की सीमा कालक्रम में परिवर्तित होती है। निरयण मत में द्वादशराशि का कोई भी परिवर्तन नहीं होता है, मेष आदि बारह नक्षत्र पुञ्ज के अधीनस्थ जो मेष आदि द्वादश राशि निर्द्धारित हुई थी आज भी सभी राशियाँ उन्हीं स्थानों पर मुक्त होती है। राशि की स्थिरता के सम्बन्ध में निरयण मत उत्कृष्ट हैं।

पृथिवी के निरक्षवृत्त के समान राशिचक्र का भी एक निरक्षवृत्त कल्पित है। इसी कल्पित रेखा को विषुव रेखा कहते हैं। इस रेखा के उत्तर दक्षिण में २३ अंश २८ कला के अन्तर में दो बिन्दुओं की कल्पना की जाती है। इनमें एक उत्तरायणान्त बिन्दु है अर्थात् सूर्य के उत्तर की ओर जाने की शेष सीमा है, उसके बाद उत्तर में सूर्य का गमन सम्भव नहीं हैं। एक बिन्दु दक्षिणायनान्त विन्दु है, सूर्य के दक्षिण की ओर जाने की शेष सीमा है। इन दो बिन्दुओं के मध्य में कल्पित रेखा की अवस्थिति है, उसकी अयनान्त वृत्त-यह नाम है। सूर्य जिस मार्ग से उत्तर की ओर जाता है, उसको उत्तरायण कहा जाता है और जिस मार्ग से दक्षिण की ओर यात्रा करता है—वह दक्षिणायन है। मकरादियः राशि उत्तरायणकर्कादिधः दक्षिणायणः सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायन दो गतियाँ हैं, उत्तरायण के आरम्भ होने पर पृथिवी के निरक्ष वृत्त के उत्तरस्थित भारत के समान अन्य देशों में भी दिन के परिणाम की वृद्धि और रात्रि के परिमाण में कमी होती है। १३८१ वर्ष पूर्व माघ और श्रावण मास के प्रथम दिन अयन-परिवर्तन हुआ। प्रथम माघ को सूर्य की मकर राशि में प्रवेश और आषाढ़ के अन्त में सूर्य का मिथुन राशि के शेषांश में गत होने तक उत्तरायण एवं प्रथम श्रावण में सूर्य के

कर्क राशि में प्रवेश होने से पौष मास के शेष में सूर्य धनुः राशि के शेषांश में गत होने तक दक्षिणायन कहा जाता है। आज भी यही स्थिति है।

आजकल निर्दिष्ट समय से प्रायः २१ दिन पूर्व ही अयन का परिवर्तन हो जाता है। धनुः राशि के प्रायः ९ अंशमें आरम्भ होकर मिथुनराशि के प्रायः ९ अंश में उत्तरायण समाप्त होता है और मिथुन राशि के उक्त अंश से आरम्भ हो कर धनुः राशि के प्रायः ९ अंश में दक्षिणायन का अन्त होता है, अतः उत्तरायण और दक्षिणायन का आरम्भ और अन्त प्रायः ठीक निर्दिष्ट नहीं रहता है। राशिचक्र ३६० अंश में विभक्त है, सूर्य ३६५ नक्षत्र दिन १५ दण्ड, ३१ पल, ३१ विपल, २४ अनुपल में राशिचक्रका अतिक्रमण करता है—यही रवि की वार्षिक गति है। ५९ कला, ८ विकला राशिचक्र के उभय हेतु सूर्य की मध्यमा गति है। यह कभी तेज और कभी मन्द होती है—इसलिए उक्त गति को मध्यमागति कहा जाता है। सूर्य की दैनिक शीघ्रगति १ अंश, १ कला, ५ विकला है और वह एक मास प्रत्येक राशि का भोग करता है। सूर्य के समान अन्य ग्रह भी राशिचक्र में परिभ्रमण करते हैं, वे भी एक निर्दिष्ट गति के अनुसार योग करते हैं। सूर्य जिस दिन जिस अंश से भ्रमण करना आरम्भ करता है, २८ वर्ष के बाद उसी दिन उस पूर्व निर्दिष्ट स्थान में उपस्थित होता है। उस दिन से मास संख्या और संक्रान्ति आदि पुनः उसी तरह होने लगती है। चन्द्र भो उसी तरह प्रायः १९ वर्षों के बाद उस स्थान में आता है और उस समय से पूर्णिमा अमावस्या आदि तिथि और नक्षत्र पूर्वरूप में हो जाते हैं।

राशि चक्र में ही मङ्गलादि ग्रहों की वक्र और शीघ्र आदि गति कही गई है, वह सूर्य की स्थिति के अनुसार ही स्थिर होती है। सूर्य उनके द्वितीय राशिस्थ अर्थात् ६० अंश के मध्य में जब अवस्थित होता है, तब उनकी शीघ्र गति, तृतीय राशिस्थ ६० से ९० अंश मध्य में रहने पर सरल गति, चतुर्थ राशिस्थ ९० से १२० अंश मध्य में रहने पर मन्द गति, पञ्चम और षष्ठ राशिस्थ १२० से १८० अंश मध्य में रहने पर वक्रगति, सप्तम और अष्टम राशिस्थ १८० से २४० अंश मध्य में रहने पर अतिवक्रगति, नवम और दशम राशिस्थ २४०,से ३०० अंश मध्यमें रहने पर पुनः सरल गति एवं एकादश और द्वादश राशिस्थ ३०० अंश से ३६० अंश मध्य में रहने पर सूर्य से आकृष्ट होकर उनकी पुनः शीघ्र गति हो जाती है। सूर्य जिस राशि के जितने अंश में रहता है उसकी अपेक्षा लिखित अधिकांश में मङ्गल, वृहस्पति, शनि एवं वक्रगामी बुध और शुक्रकी अवस्थिति होने पर उनका पश्चिम दिशा में अस्त एवं अल्पांश में रहने पर पूर्व दिशा में उदय होता है। इसके वैपरीत्य में शीघ्रगामी बुध और शुक्र एवं चन्द्र इन तीन ग्रहों का सूर्यराश्यंश की अपेक्षा लिखित अल्पांश में स्थित होने पर उनका पूर्व दिशा में अस्त एवं अधिकांश में रहने पर पश्चिम दिशा में उदय होता है। सूर्यराश्यंश की अपेक्षा जिन ग्रहों का जितना अंश कम तथा अधिक होता है, उनका जिस दिशा में उदय और अस्त होता है वह निम्नलिखित रूप में अवगत किया जा सकता है :—

ग्रह	अल्पांश	उदय	अधिकांश	अस्त
मङ्गल	१७	पूर्व	१७	पश्चिम
वृहस्पति	११	,,	११	,,
शनि	१५	,,	१५	,,
बुध वक्री	१२	,,	१२	,,
शुक्रवक्री	८	,,	८	,,
चन्द्र	१२	,,	१२	,,
बुध शीघ्र	१४	,,	१४	,,
शुक्र शीघ्र	१०	,,	१०	,,

पश्चिम दिशा में अस्त होने से १५ दिन पूर्व वृहस्पति वृद्ध, १७ दिन अस्तमित, इसके बाद बाल्यावस्था प्राप्त होती, अर्थात् पूर्व दिशा में उदय एवं १५ दिनों के बाद बाल्यभाव समाप्त हो जाता है, शीघ्रगति विशिष्ट शुक्र अस्त होने पर पादान्त होता है, महास्त होने के १५ दिन पूर्व में वृद्ध एवं इसके बाद पूर्व दिशा में उदित हो कर ५ दिनों के मध्य में उसका बाल्य त्याग होता है, सूर्य के दीप्तांश के मध्य में किसी ग्रह के रहने पर सूर्य निज योग या आकर्षणशक्ति के प्रभाव से उसका समग्र बल अपहरण करता है, ये ग्रह सूर्य के प्रबल तेज में दग्ध या अस्तमित हो जाते हैं।

पुराणों के अनुरूप ज्योतिष में भी सूर्य के द्वारा ही काल शीत, ग्रीष्म आदि ऋतुएँ होती हैं, सूर्य के एक उदय से दूसरे उदय तक जो ६० दण्ड काल को **सावन दिन** कहा जाता है, ३० सावन दिन में **एक मास**, १२ सावन मास में **एक वर्ष** होता है, सूर्य राशिचक्र में मेष राशि के प्रथम अश्विनी नक्षत्र में प्रवेश कर जो ३६५ दिन, १५ दण्ड, ३१ पल, ३१ विपल, २४ अनुपल में समस्त राशिचक्र परिभ्रमणपूर्वक पुनः अश्विनी नक्षत्र में प्रत्यागमन करता है,इसका सौरवत्सर नाम है। राशिचक्र की वक्रिमा के कारण सूर्य का प्रत्येक राशिका भोग समय समान नहीं है। इसलिए सौर मास की विभिन्नता होती है। सौर वत्सर में ३६५ दिन का अधिक जो १५ दण्ड, ३१ पल, ३१ विपल, २४ अनुपल इस साधारण गणना में परित्यक्त होता है। इसलिए प्रत्येक चार वर्षो में एक दिन अधिक गृहीत होकर ३६६ दिन का वर्ष होता है। भारतीय परम्परा अधिमास और क्षयमास के आधार पर चान्द्र और सौर का समन्वय होता है।

जिस दिन वर्षारम्भ होता है, उसी दिन वर्ष का शेष होता है, अतः इसके बाद उस दिन के बाद दूसरे दिन शेष होता है। सूर्य की गति के अनुसार इसी रूप में दिन, मास और वर्ष होता है। सूर्य राशिचक्र के जिस अंश में स्थिति करता है चन्द्र की उससे १२ अंश के मध्य में उपस्थिति होने पर अमावस्या होती है, दोनों ग्रह समसूत्र में एक राशि में अवस्थित होने पर अमावस्या होती है। इसी प्रकार सूर्य का १५८ अंश से १८० अंश तक १२ अंशों के मध्य में चन्द्र के उपस्थित होने पर पूर्णिमा होती है एवं सूर्य से ठीक १८० अंशगत होने पर प्रकृत पूर्णिमा होती है।

इन विश्लेषणों से यह निश्चित है कि सूर्य ही सौर जगत् में प्रधान ग्रह है, इसी लिए उसको आदित्य कहा जाता है। आत्मा, दीप्ति, आरोग्य, क्षमता, सम्मान, मित्र और पद की वृद्धि का सम्पादक है। सूर्य की स्थान विशेष की स्थिति विभिन्न फलप्रद है। यथा :—

सूर्य भारतवर्ष के मध्य कलिंग देश का अधिपति है, पूर्व दिशा बली है। सूर्य का अधिक भाग मानव शरीर में होने पर सुगठन, स्थूल अस्थि, दृढ शरीर, विशाल नेत्र, गोलाकार मुखमण्डल, मधुरस्वर एवं अल्प कुञ्चित केश होता है।

रविका स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा गया है—रक्त श्याम मिश्रित वर्ण, पूर्व दिशा का स्वामी, पुरुषग्रह, क्षत्रियजाति, सत्त्वगुणसमन्वित, कटु रस, सिंहराशि, हस्त नक्षत्र, सप्तमी तिथि, ताम्र धातु, कलिंग देश का राजा, काश्यप गोत्र, द्वादशांगुल परिमित शरीर, पद्महस्तद्वय, पूर्वानन, सप्ताश्ववाहन, शिवाधिदैवत, वह्निप्रत्यधिदैवत। द्रष्टव्य ग्रहयज्ञ तत्त्व।

श्रीविष्णुपुराण में सूर्य, नक्षत्र एवं राशियों की व्यवस्था तथा कालचक्र, लोकपाल और गंगाविर्भाव का वर्णन

व्याख्यातमेतद्ब्रह्माण्डसंस्थानं तव सुव्रत।
ततः प्रमाणसंस्थाने सूर्यादीनां शृणुष्व मे॥ १॥

श्रीपराशरजी ने कहा—हे सुव्रत! मैंने तुमसे यह ब्रह्माण्डकी स्थिति कही, अब सूर्य आदि ग्रहों की स्थिति और उनके परिमाण सुनो॥ १॥

योजनानां सहस्राणि भास्करस्य रथो नव।
ईषादण्डस्तथैवास्य द्विगुणो मुनिसत्तम॥ २॥

सार्धकोटिस्तथा सप्त नियुतान्यधिकानि वै।
योजनानां तु तस्याक्षस्तत्र चक्रं प्रतिष्ठितम्॥ ३॥

त्रिनाभिमति पञ्चारे षण्णेमिन्यक्षयात्मके।
संवत्सरमये कृत्स्नं कालचक्रं प्रतिष्ठितम्॥ ४॥

हयाश्च सप्तच्छन्दांसि तेषां नामानि मे शृणु।
गायत्री च बृहत्युष्णिग्जगती त्रिष्टुबेव च।
अनुष्टुप्पङ्क्तिरित्युक्ता छन्दांसि हरयो रवेः॥ ५॥

चत्वारिंशत्सहस्राणि द्वितीयोऽक्षो विवस्वतः।
पञ्चान्यानि तु सार्धानि स्यन्दनस्य महामते॥ ६॥

अक्षप्रमाणमुभयोः प्रमाणं तद्युगार्द्धयोः।
ह्रस्वोऽक्षस्तद्युगार्द्धेन ध्रुवाधारो रथस्य वै।
द्वितीयेऽक्षे तु तच्चक्रं संस्थितं मानसाचले॥ ७॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! सूर्यदेव के रथ का विस्तार नौ हजार योजन है तथा इससे दूना उसका ईषा-दण्ड (जूआ और रथ के बीच का भाग) है ॥ २॥ उसका धुरा डेढ़ करोड़ सात लाख योजन लम्बा है जिसमें उसका पहिया लगा हुआ है ॥ ३ ॥ उस पूर्वाह्न, मध्याह्न और पराह्णरूप तीन नाभि, परिवत्सरादि पाँच अरे और षड्-ऋतुरूप छः नेमिवाले अक्षयस्वरूप संवत्सरात्मक चक्र में सम्पूर्ण कालचक्र स्थित है ॥ ४ ॥ सात छन्द ही उसके घोड़े हैं, उनके नाम सुनो—गायत्री, बृहती, उष्णिक्, जगती, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् और पंक्ति—ये छन्द ही सूर्य के सात घोड़े कहे गये हैं ॥ ५ ॥ हे महामते ! भगवान् सूर्य के रथ का दूसरा धुरा साढ़े पैंतालीस सहस्र योजन लम्बा है ॥ ६ ॥ दोनों धुरों के परिमाण के तुल्य ही उसके युगार्द्धों (जूओं) का परिमाण है, इनमें से छोटा धुरा उस रथ के एक युगार्द्ध (जूए) के सहित ध्रुव के आधार पर स्थित है और दूसरे धुरे का चक्र मानसोत्तर पर्वत पर स्थित है ॥ ७ ॥

मानसोत्तरशैलस्य पूर्वतो वासवी पुरी।
दक्षिणे तु यमस्यान्या प्रतीच्यां वरुणस्य च।
उत्तरेण च सोमस्य तासां नामानि मे शृणु ॥ ८ ॥

वस्वौकसारा शक्रस्य याम्या संयमनी तथा।
पुरी सुखा जलेशस्य सोमस्य च विभावरी ॥ ९ ॥

काष्ठां गतो दक्षिणतः क्षिप्तेषुरिव सर्पति।
मैत्रेय भगवान्भानुर्ज्योतिषां चक्रसंयुतः ॥ १० ॥

इस मानसोत्तरपर्वत के पूर्व में इन्द्र की, दक्षिण में यम की, पश्चिम में वरुण की और उत्तर में चन्द्रमा की पुरी है; उन पुरियों के नाम सुनो ॥ ८ ॥ इन्द्र की पुरी वस्वौकसारा है, यम की संयमनी है, वरुण की सुखा है तथा चन्द्रमा की विभावरी है ॥ ९ ॥ हे मैत्रेय ! ज्योतिश्चक्र के सहित भगवान् भानु दक्षिण-दिशा में प्रवेश कर छोड़े हुए वाण के समान तीव्र वेग से चलते हैं ॥ १० ॥

अहोरात्रव्यवस्थानकारणं भगवान्रविः।
देवयानः परः पन्था योगिनां क्लेशसङ्क्षये ॥ ११ ॥

दिवसस्य रविर्मध्ये सर्वकालं व्यवस्थितः।
सर्वद्वीपेषु मैत्रेय निशार्द्धस्य च सम्मुखः ॥ १२ ॥

उदयास्तमने चैव सर्वकालं तु सम्मुखे।
विदिशासु त्वशेषासु तथा ब्रह्मन् दिशासु च ॥ १३ ॥

यैर्यत्र दृश्यते भास्वान्स तेषामुदयः स्मृतः।
तिरोभावं च यत्रैति तत्रैवास्तमनं रवेः ॥ १४ ॥

नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।
उदयास्तमनाख्यं हि दर्शनादर्शनं रवेः ॥ १५ ॥

शक्रादीनां पुरे तिष्ठन् स्पृशत्येष पुरत्रयम् ।
विकोणौ द्वौ विकोणस्थस्त्रीन् कोणान्द्वे पुरे तथा ॥ १६ ॥

उदितो वर्द्धमानाभिरामध्याह्नात्तपन्रविः ।
ततः परं ह्रसन्तीभिर्गोभिरस्तं नियच्छति ॥ १७ ॥

भगवान् सूर्यदेव दिन और रात्रि की व्यवस्था के कारण हैं और रागादि क्लेशों के क्षीण हो जाने पर वे ही क्रममुक्तिभागी योगिजनों के देवयान नामक श्रेष्ठ मार्ग हैं ॥ ११ ॥ हे मैत्रेय ! सभी द्वीपों में सर्वदा मध्याह्न तथा मध्यरात्रि के समय सूर्यदेव मध्य आकाश में सामने को ओर रहते हैं ॥ १२ ॥ इसी प्रकार उदय और अस्त भी सदा एक-दूसरे के सम्मुख ही होते है। हे ब्रह्मन् ! समस्त दिशा और विदिशाओं में जहाँ के लोग (रात्रि का अन्त होने पर) सूर्य को जिस स्थान पर देखते हैं उनके लिए वहाँ उसका उदय होता है और जहाँ दिन के अन्त में सूर्य का तिरोभाव होता है वहीं उसका अस्त कहा जाता है ॥ १३-१४ ॥ सर्वदा एक रूप से स्थित सूर्यदेव का, वास्तव में न उदय होता है और न अस्त; बस, उनका देखना और न देखना ही उनके उदय और अस्त हैं ॥ १५ ॥ मध्याह्नकाल में इन्द्रादि में से किसी का पुरी पर प्रकाशित होते हुए सूर्यदेव (पार्श्ववर्ती दो पुरियों के सहित) तीन पुरियों और दो कोणों (विदिशाओं) को प्रकाशित करते हैं, इसी प्रकार अग्नि आदि कोणों में से किसी एक कोण में प्रकाशित होते हुए वे (पार्श्ववर्ती दो कोणों के सहित) तीन कोण और दो पुरियों को प्रकाशित करते हैं ॥ १६ ॥ सूर्यदेव उदय होने के अनन्तर मध्याह्नपर्यन्त अपनी बढ़ती हुई किरणों से तपते हैं और फिर क्षीण होती हुई किरणों से अस्त हो जाते हैं ॥ १७ ॥

उदयास्तमनाभ्यां च स्मृते पूर्वापरे दिशौ ।
यावत्पुरस्तात्तपति तावत्पृष्ठे च पार्श्वयोः ॥ १८ ॥
ऋतेऽमरगिरेर्मेरोरुपरि ब्रह्मणः सभाम् ।
ये ये मरीचयोऽर्कस्य प्रयान्ति ब्रह्मणः सभाम् ।
ते ते निरस्तास्तद्भासा प्रतीपमुपयान्ति वै ॥ १९ ॥
तस्माद्दिश्युत्तरस्यां वै दिवारात्रिः सदैव हि ।
सर्वेषां द्वीपवर्षाणां मेरुरुत्तरतो यतः ॥ २० ॥
प्रभा विवस्वतो रात्रावस्तं गच्छति भास्करे ।
विशत्यग्निमतो रात्रौ वह्निर्दूरात्प्रकाशते ॥ २१ ॥
वह्नेः प्रभा तथा भानुर्दिनेष्वाविशति द्विज ।
अतीव वह्निसंयोगादतः सूर्यः प्रकाशते ॥ २२ ॥
तेजसी भास्कराग्नेये प्रकाशोष्णस्वरूपिणी ।
परस्परानुप्रवेशादाप्यायेते दिवानिशम् ॥ २३ ॥

सूर्य के उदय और अस्त से ही पूर्व तथा पश्चिम दिशाओं की व्यवस्था हुई है। वास्तव में तो, वे जिस प्रकार पूर्व में प्रकाश करते हैं उसी प्रकार पश्चिम तथा पार्श्ववर्तिनी (उत्तर और दक्षिण) दिशाओं में भी करते हैं ॥ १८ ॥ सूर्यदेव देवपर्वत सुमेरु

के ऊपर स्थित ब्रह्माजी की सभा के अतिरिक्त और सभी स्थानों को प्रकाशित करते हैं; उनकी जो किरणें ब्रह्माजी की सभा में जाती हैं वे उसके तेज से निरस्त होकर उलटी लौट आती हैं ॥ १९ ॥ सुमेरुपर्वत समस्त द्वीप और वर्षों के उत्तर में है इसलिए उत्तर दिशा में (मेरुपर्वत पर) सदा (एक ओर) दिन और (दूसरी ओर) रात रहते हैं ॥ २० ॥ रात्रि के समय सूर्य के अस्त हो जाने पर उसका तेज अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है; इसलिए उस समय अग्नि दूर ही से प्रकाशित होने लगता है ॥ २१ ॥ इसी प्रकार, हे द्विज ! दिन के समय अग्नि का तेज सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है; अतः अग्नि के संयोग से ही सूर्य अत्यन्त प्रखरता से प्रकाशित होता है ॥ २२ ॥ इस प्रकार सूर्य और अग्नि के प्रकाश तथा उष्णतामय तेज परस्पर मिलकर दिन-रात में वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं ॥ २३ ॥

दक्षिणोत्तरभूम्यर्द्धे समुत्तिष्ठति भास्करे ।
अहोरात्रं विशत्यम्भस्तमः प्राकाश्यशीलवत् ॥ २४ ॥
आताम्रा हि भवन्त्यापो दिवा नक्तप्रवेशनात् ।
दिनं विशति चैवाम्भो भास्करेऽस्तमुपेयुषि ।
तस्माच्छुक्ला भवन्त्यापो नक्तमह्नः प्रवेशनात् ॥ २५ ॥

मेरु के दक्षिणी और उत्तरी भूम्यर्द्ध में सूर्य के प्रकाशित होते समय अन्धकारमयी रात्रि और प्रकाशमय दिन क्रमशः जल में प्रवेश कर जाते हैं ॥ २४ ॥ दिन के समय रात्रि के प्रवेश करने से ही जल कुछ ताम्रवर्ण दिखायी देता है, किन्तु सूर्य अस्त हो जाने से उसमें दिन का प्रवेश हो जाता है; इसलिये दिन के प्रवेश के कारण ही रात्रि के समय वह शुक्लवर्ण हो जाता है ॥ २५ ॥

एवं पुष्करमध्येन यदा याति दिवाकरः ।
त्रिंशद्भागन्तु मेदिन्यास्तदा मौहूर्तिकी गतिः ॥ २६ ॥
कुलालचक्रपर्यन्तो भ्रमन्नेष दिवाकरः ।
करोत्यहस्तथा रात्रिं विमुञ्चन्मेदिनी द्विज ॥ २७ ॥
अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः ।
ततः कुम्भं च मीनं च राशे राश्यन्तरं द्विज ॥ २८ ॥
त्रिष्वेतेष्वथ भुक्तेषु ततो वैषुवतीं गतिम् ।
प्रयाति सविता कुर्वन्नहोरात्रं ततः समम् ॥ २९ ॥
ततो रात्रिः क्षयं याति वर्द्धतेऽनुदिनं दिनम् ॥ ३० ॥
ततश्च मिथुनस्यान्ते परां काष्ठामुपागतः ।
राशिं कर्कटकं प्राप्य कुरुते दक्षिणायनम् ॥ ३१ ॥
कुलालचक्रपर्यन्तो यथा शीघ्रं प्रवर्त्तते ।
दक्षिणप्रक्रमे सूर्यस्तथा शीघ्रं प्रवर्त्तते ॥ ३२ ॥
अतिवेगितया कालं वायुवेगबलाच्चरन् ।
तस्मात्प्रकृष्टां भूमिं तु कालेनाल्पेन गच्छति ॥ ३३ ॥

सूर्यो द्वादशभिः शैघ्र्यान्मुहूर्तैर्दक्षिणायने ।
त्रयोदशार्द्धमृक्षाणामह्ना तु चरति द्विज ।
मुहूर्तैस्तावदृक्षाणि नक्तमष्टादशैश्चरन् ॥ ३४ ॥
कुलालचक्रमध्यस्थ यथा मन्दं प्रसर्पति ।
तथोदगयने सूर्यः सर्पते मन्दविक्रमः ॥ ३५ ॥
तस्माद्दीर्घेण कालेन भूमिमल्पां तु गच्छति ।
अष्टादशमुहूर्तं यदुत्तरायणपश्चिमम् ॥ ३६ ॥
अहर्भवति तच्चापि चरते मन्दविक्रमः ॥ ३७ ॥
त्रयोदशार्द्धमह्ना तु ऋक्षाणां चरते रविः ।
मुहूर्तैस्तावदृक्षाणि रात्रौ द्वादशभिश्चरन् ॥ ३८ ॥
अतो मन्दतरं नाभ्यां चक्रं भ्रमति वै यथा ।
मृत्पिण्ड इव मध्यस्थो ध्रुवो भ्रमति वै तथा ॥ ३९ ॥
कुलालचक्रनाभिस्तु यथा तत्रैव वर्तते ।
ध्रुवस्तथा हि मैत्रेय तत्रैव परिवर्तते ॥ ४० ॥

इस प्रकार जब सूर्य पुष्कर द्वीप के मध्य में पहुँच कर पृथ्वी का तीसवाँ भाग पार कर लेता है तो उसकी वह गति एक मुहूर्त की होती है। [अर्थात् उतने भाग के अतिक्रमण करने में उसे जितना समय लगता है वही मुहूर्त कहलाता है] ॥ २६ ॥ हे द्विज ! कुलाल-चक्र (कुम्हार के चाक) के सिरे पर घूमते हुए जीव के समान भ्रमण करता हुआ यह सूर्य पृथिवी के तीसों भागों का अतिक्रमण करने पर एक दिन-रात्रि करता है ॥ २७ ॥ हे द्विज ! उत्तरायण के आरम्भ में सूर्य सबसे पहले मकर राशि में जाता है, उसके पश्चात् वह कुम्भ और मीन राशियों में एक राशि से दूसरी राशि में जाता है ॥ २८ ॥ इन तीनों राशियों को भोग चुकने पर सूर्य रात्रि और दिन को समान करता हुआ वैषुवती गति का अवलम्बन करता है, [अर्थात् वह भूमध्य-रेखा के बीच में ही चलता है] ॥ २९ ॥ उसके अनन्तर नित्यप्रति रात्रि क्षीण होने लगती है और दिन बढ़ने लगता है। फिर [मेष तथा वृष राशि का अतिक्रमण कर] मिथुन राशि से निकलकर उत्तरायण की अन्तिम सीमा पर उपस्थित हो वह कर्कराशि में पहुँच कर दक्षिणायन का आरम्भ करता है ॥ ३०-३१ ॥ जिस प्रकार कुलाल चक्र के सिरे पर स्थित जीव अति शीघ्रता से घूमता है उसी प्रकार सूर्य भी दक्षिणायन को पार करने में अति शीघ्रता से चलता है ॥ ३२ ॥ अतः वह अति शीघ्रतापूर्वक वायु वेग से चलते हुए अपने उत्कृष्ट मार्ग को थोड़े समय में ही पार कर लेता है ॥ ३३ ॥ हे द्विज ! दक्षिणायन में दिन के समय शीघ्रतापूर्वक चलने से उस समय के साढ़े तेरह नक्षत्रों को सूर्य बारह मुहूर्तों में पार कर लेता है, किन्तु रात्रि के समय (मन्दगामी होने से) उतने ही नक्षत्रों को अठारह मुहूर्तों में पार करता है ॥ ३४ ॥ कुलाल-चक्र के मध्य में स्थित जीव जिस प्रकार धीरे-धीरे चलता है उसी प्रकार उत्तरायण के समय सूर्य मन्द गति से चलता है ॥ ३५ ॥ इसलिये उस समय वह थोड़ी-सी भूमि भी अति दीर्घ काल में

पार करता है, अतः उत्तरायण का अन्तिम दिन अठारह मुहूर्त का होता है, उस दिन भी सूर्य अति मन्द गति से चलता है और ज्योतिश्चक्रार्ध के साढ़े तेरह नक्षत्रों को एक दिन में पार करता है किन्तु रात्रि के समय वह उतने ही (साढ़े तेरह) नक्षत्रों को बारह मुहूर्तों में ही पार कर लेता है ॥ ३६-३८ ॥ अतः जिस प्रकार नाभि देश में चक्र के मन्द-मन्द घूमने से वहाँ मृत्-पिण्ड भी मन्दगति से घूमता है उसी प्रकार ज्योतिश्चक्र के मध्य में स्थित ध्रुव अति मन्द गति से घूमता है ॥ ३९ ॥ हे मैत्रेय ! जिस प्रकार कुलाल-चक्र की नाभि अपने स्थान पर ही घूमती रहती है, उसी प्रकार ध्रुव भी अपने स्थान पर ही घूमता रहता है ॥ ४० ॥

उभयोः काष्ठयोर्मध्ये भ्रमतो मण्डलानि तु ।
दिवा नक्तं च सूर्यस्य मन्दा शीघ्रा च वै गतिः ॥ ४१ ॥

मन्दाह्नि यस्मिन्नयने शीघ्रा नक्तं तदा गतिः ।
शीघ्रा निशि यदा चास्य तदा मन्दा दिवा गतिः ॥ ४२ ॥

एकप्रमाणमेवैष मार्गं याति दिवाकरः ।
अहोरात्रेण यो भुङ्क्ते समस्ता राशयो द्विज ॥ ४३ ॥

षडेव राशीन् यो भुङ्क्ते रात्रावन्याश्च षड्दिवा ॥ ४४ ॥

राशिप्रमाणजनिता दीर्घह्रस्वात्मता दिने ।
तथा निशायां राशीनां प्रमाणैर्लघुदीर्घता ॥ ४५ ॥

दिनादेर्दीर्घह्रस्वत्वं तद्भोगेनैव जायते ।
उत्तरे प्रक्रमे शीघ्रा निशि मन्दा गतिर्दिवा ॥ ४६ ॥

दक्षिणे त्वयने चैव विपरीता विवस्वतः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार उत्तर तथा दक्षिण सीमाओं के मध्य में मण्डलाकार घूमते रहने से सूर्य की गति दिन अथवा रात्रि के समय मन्द अथवा शीघ्र हो जाती है ॥ ४१ ॥ जिस अयन में सूर्य की गति दिन के समय मन्द होती है उसमें रात्रि के समय शीघ्र होती है तथा जिस समय रात्रि-काल में शीघ्र होती है उस समय दिन में मन्द हो जाती है ॥४२॥ हे द्विज ! सूर्य को सदा एक बराबर मार्ग ही पार करना पड़ता है; एक दिन-रात्रि में यह समस्त राशियों का भोग कर लेता है ॥ ४३ ॥ सूर्य छः राशियों को रात्रि के समय भोगता है और छः को दिन के समय । राशियों के परिमाणानुसार ही दिन का बढ़ना-घटना होता है तथा रात्रि की लघुता-दीर्घता भी राशियों के परिमाण से ही होती है ॥ ४४-४५ ॥ राशियों के भोगानुसार ही दिन अथवा रात्रि की लघुता अथवा दीर्घता होती है । उत्तरायण में सूर्य की गति रात्रि काल में शीघ्र होती है तथा दिन में मन्द । दक्षिणायन में उसकी गति इसके विपरीत होती है ॥ ४६-४७ ॥

उषा रात्रिः समाख्याताव्युष्टिश्चाप्युच्यते दिनम् ।
प्रोच्यते च तथा सन्ध्या उषाव्युष्टयोर्यदन्तरम् ॥ ४८ ॥
सन्ध्याकाले च सम्प्राप्ते रौद्रे परमदारुणे ।
मन्देहा राक्षसा घोराः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम् ॥ ४९ ॥

प्रजापतिकृतः शापस्तेषां मैत्रेय रक्षसाम् ।
अक्षयत्वं शरीराणां मरणं च दिने दिने ॥ ५० ॥

ततः सूर्यस्य तैर्युद्धं भवत्यत्यन्तदारुणम् ।
ततो द्विजोत्तमास्तोयं सङ्क्षिपन्ति महामुने ॥ ५१ ॥

ॐकारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।
तेन दह्यन्ति ते पापा वज्रीभूतेन वारिणा ॥ ५२ ॥

अग्निहोत्रे हूयते या समन्त्रा प्रथमाहुतिः ।
सूर्यो ज्योतिः सहस्रांशुस्तया दीप्यति भास्करः ॥ ५३ ॥

ओङ्कारो भगवान्विष्णुस्त्रिधामा वचसां पतिः ।
तदुच्चारणतस्ते तु विनाशं यान्ति राक्षसाः ॥ ५४ ॥

वैष्णवोंऽशः परः सूर्यो योऽन्तर्ज्योतिरसम्प्लवम् ।
अभिधायक ॐकारस्तस्य तत्प्रेरकः परः ॥ ५५ ॥

तेन सम्प्रेरितं ज्योतिरोङ्कारेणाथ दीप्तिमत् ।
दहत्यशेषरक्षांसि मन्देहाख्यान्यघानि वै ॥ ५६ ॥

तस्मान्नोल्लङ्घनं कार्यं सन्ध्योपासनकर्मणः ।
स हन्ति सूर्यं सन्ध्याया नोपास्तिं कुरुते तु यः ॥ ५७ ॥

ततः प्रयाति भगवान्ब्राह्मणैरभिरक्षितः ।
बालखिल्यादिभिश्चैव जगतः पालनोद्यतः ॥ ५८ ॥

रात्रि उषा कहलाती है तथा दिन व्युष्टि (प्रभात) कहा जाता है; इन उषा तथा व्युष्टि के बीच के समयको सन्ध्या कहते हैं ॥ ४८ ॥ इस अति दारुण और भयानक सन्ध्या-काल के उपस्थित होने पर मन्देहा नामक भयंकर राक्षसगण सूर्य को खाना चाहते हैं ॥ ४९ ॥ हे मैत्रेय ! उन राक्षसों को प्रजापति का यह शाप है कि उनका शरीर अक्षय रहकर भी मरण नित्यप्रति हो ॥ ५० ॥ अतः सन्ध्या-काल में उनका सूर्य से अति भीषण युद्ध होता है; हे महामुने ! उस समय द्विजोत्तमगण जो ब्रह्मस्वरूप ॐकार तथा गायत्री से अभिमन्त्रित जल छोड़ते हैं उस वज्रस्वरूप जल से वे दुष्ट राक्षस दग्ध हो जाते हैं ॥ ५१-५२ ॥ अग्निहोत्र में जो 'सूर्यो ज्योतिः' इत्यादि मन्त्र से प्रथम आहुति दी जाती है उससे सहस्रांशु दिननाथ देदीप्यमान हो जाते हैं ॥ ५३ ॥ ॐकार विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप तीन धामों से युक्त भगवान् विष्णु हैं तथा सम्पूर्ण वाणियों (वेदों) का अधिपति हैं, उसके उच्चारणमात्र से ही वे राक्षसगण नष्ट हो जाते हैं ॥ ५४ ॥ सूर्य विष्णु भगवान् का अति श्रेष्ठ अंश और विकाररहित अन्तर्ज्योतिः स्वरूप है। ॐकार उसका वाचक है और वह उसे उन राक्षसों के वध में अत्यन्त प्रेरित करने वाला है ॥ ५५ ॥ उस ॐकार की प्रेरणा से अति प्रदीप्त होकर वह ज्योति मन्देहा नामक सम्पूर्ण पापी राक्षसों को दग्ध कर देती है ॥ ५६ ॥ इसलिये सन्ध्योपासनकर्म का उल्लंघन कभी न करना चाहिये। जो पुरुष सन्ध्योपासन नहीं करता वह भगवान्

सूर्य का घात करता है ॥ ५७ ॥ तदनन्तर [उन राक्षसों का वध करने के पश्चात्] भगवान् सूर्य संसार के पालन में प्रवृत्त हो बालखिल्यादि ब्राह्मणों से सुरक्षित होकर गमन करते हैं ॥ ५८ ॥

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव
त्रिंशच्च काष्ठा गणयेत्कलां च ।
त्रिंशत्कलश्चैव भवेन्मुहूर्त-
स्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेते ॥ ५९ ॥

ह्रासवृद्धी त्वहर्भागैर्दिवसानां यथाक्रमम् ।
सन्ध्या मुहूर्तमात्रा वै ह्रासवृद्धयोः समा स्मृता ॥ ६० ॥

रेखाप्रभृत्यथादित्ये त्रिमुहूर्तगते रवौ ।
प्रातः स्मृतस्ततः कालो भागश्चाह्नः स पञ्चमः ॥ ६१ ॥

तस्मात्प्रातस्तनात्कालात्त्रिमुहूर्तस्तु सङ्गवः ।
मध्याह्नस्त्रिमुहूर्तस्तु तस्मात्कालात्तु सङ्गवात् ॥ ६२ ॥

तस्मान्माध्याह्निकात्कालादपराह्ण इति स्मृतः ।
त्रय एव मुहूर्तास्तु कालभागः स्मृतो बुधैः ॥ ६३ ॥

अपराह्णे व्यतीते तु कालः सायाह्न एव च ।
दशपञ्चमुहूर्ता वै मुहूर्तास्त्रय एव च ॥ ६४ ॥
दशपञ्चमुहूर्तं वै अहर्वैषुवतं स्मृतम् ॥ ६५ ॥

वर्द्धते ह्रसते चैवाप्ययने दक्षिणोत्तरे ।
अहस्तु ग्रसते रात्रिं रात्रिर्ग्रसति वासरम् ॥ ६६ ॥

शरद्वसन्तयोर्मध्ये विषुवं तु विभाव्यते ।
तुलामेषगते भानौ समरात्रिदिनं तु तत् ॥ ६७ ॥

कर्कटावस्थिते भानौ दक्षिणायनमुच्यते ।
उत्तरायणमप्युक्तं मकरस्थे दिवाकरे ॥ ६८ ॥

पन्द्रह निमेषकी एक काष्ठा होती है और तीस काष्ठा की एक कला गिनी जाती है। तीस कलाओं का एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्तों के सम्पूर्ण रात्रिदिन होते हैं ॥ ५९ ॥ दिनों का ह्रास अथवा वृद्धि क्रमशः प्रातःकाल, मध्याह्नकाल आदि दिवसांशों के ह्रास-वृद्धि के कारण होते हैं; किन्तु दिनों के घटते-बढ़ते रहने पर भी सन्ध्या सर्वदा समान भाव से एक मुहूर्त की ही होती है ॥ ६० ॥ उदय से लेकर सूर्य की तीन मुहूर्त की गति के काल को 'प्रातःकाल' कहते हैं, यह सम्पूर्ण दिन का पाँचवाँ भाग होता है ॥ ६१ ॥ इस प्रातःकालके अनन्तर तीन मुहूर्त का समय 'सङ्गव' कहलाता है तथा सङ्गवकाल के पश्चात् तीन मुहूर्त का 'मध्याह्न' होता है ॥ ६२ ॥ मध्याह्नकाल से पीछे का समय 'अपराह्ण' कहलाता है इस काल-भाग को भी बुधजन तीन मुहूर्त का ही बताते हैं ॥ ६३ ॥ अपराह्ण के बीतने पर 'सायाह्न' आता है। इस प्रकार (सम्पूर्ण दिन में) पन्द्रह मुहूर्त और (प्रत्येक दिवसांश में) तीन मुहूर्त होते हैं ॥ ६४ ॥

वैषुवत दिवस पन्द्रह मुहूर्त का होता है, किन्तु उत्तरायण और दक्षिणायन में क्रमशः उसके वृद्धि और ह्रास होने लगते हैं। इस प्रकार उत्तरायण में दिन रात्रि का ग्रास करने लगता है और दक्षिणायन में रात्रि दिन का ग्रास करती रहती है ॥६५-६६॥ शरद् और वसन्त ऋतु के मध्य में सूर्य के तुला अथवा मेषराशि में जाने पर 'विषुव' होता है। उस समय दिन और रात्रि समान होते हैं ॥ ६७ ॥ सूर्य के कर्कराशि में उपस्थित होने पर दक्षिणायन कहा जाता है और उसके मकरराशि पर आने से उत्तरायण कहलाता ॥ ६८ ॥

त्रिंशन्मुहूर्तं कथितमहोरात्रं तु यन्मया।
तानि पञ्चदश ब्रह्मन् पक्ष इत्यभिधीयते ॥ ६९ ॥

मासः पक्षद्वयेनोक्तो द्वौ मासौ चार्कजावृतुः।
ऋतुत्रयं चाप्ययनं द्वेऽयने वर्षसंज्ञिते ॥ ७० ॥

संवत्सरादयः पञ्च चतुर्मासविकल्पिताः।
निश्चयः सर्वकालस्य युगमित्यभिधीयते ॥ ७१ ॥

संवत्सरस्तु प्रथमो द्वितीयः परिवत्सरः।
इद्वत्सरस्तृतीयस्तु चतुर्थश्चानुवत्सरः।
वत्सरः पञ्चमश्चात्र कालोऽयं युगसंज्ञितः ॥ ७२ ॥

हे ब्रह्मन्! मैंने जो तीस मुहूर्त के एक रात्रि-दिन कहे हैं ऐसे पन्द्रह रात्रि-दिवस का एक 'पक्ष' कहा जाता है ॥ ६९ ॥ दो पक्ष का एक मास होता है, दो सौर-मास की एक ऋतु और तीन ऋतु का एक अयन होता है तथा दो अयन ही (मिलाकर) एक वर्ष कहे जाते हैं ॥ ७० ॥ (सौर, सावन, चान्द्र तथा नाक्षत्र—इन) चार प्रकार के मासों के अनुसार विविध रूप से कल्पित संवत्सरादि पाँच प्रकार के वर्ष 'युग' कहलाते हैं। यह युग ही (मलमासादि) सब प्रकार के काल-निर्णय का कारण कहा जाता है ॥ ७१ ॥ उनमें पहला संवत्सर, दूसरा परिवत्सर, तीसरा इद्वत्सर, चौथा अनुवत्सर और पाँचवाँ वत्सर है। यह काल 'युग' नाम से विख्यात है ॥ ७२ ॥

यः श्वेतस्योत्तरः शैलः शृङ्गवानिति विश्रुतः।
त्रीणि तस्य तु शृङ्गाणि यैरयं शृङ्गवान्स्मृतः ॥७३॥

दक्षिणं चोत्तरं चैव मध्यं वैषुवतं तथा।
शरद्वसन्तयोर्मध्ये तद्भानुः प्रतिपद्यते।
मेषादौ च तुलादौ च मैत्रेय विषुवत्स्थितः ॥७४॥

तदा तुल्यमहोरात्रं करोति तिमिरापहः।
दशपञ्चमुहूर्तं वै तदेतदुभयं स्मृतम् ॥७५॥

प्रथमे कृत्तिकाभागे यदा भावस्वांस्तदा शशी।
विशाखानां चतुर्थेऽशे मुने तिष्ठत्यसंशयम् ॥७६॥

विशाखानां यदा सूर्यश्चरत्यंशं तृतीयकम्।
तदा चन्द्रं विजानीयात्कृत्तिकाशिरसि स्थितम् ॥७७॥

तदैव विषुवाख्योऽयं कालः पुण्योऽभिधीयते।
तदा दानानि देयानि देवेभ्यः प्रयतात्मभिः ॥७८॥
ब्राह्मणेभ्यः पितृभ्यश्च मुखमेतत्तु दानजम्।
दत्तदानस्तु विषुवे कृतकृत्योऽभिजायते ॥७९॥
अहोरात्रार्द्धमासास्तु कलाः काष्ठाः क्षणास्तथा।
पौर्णमासी तथा ज्ञेया अमावास्या तथैव च।
सिनीवाली कुहूश्चैव राका चानुमतिस्तथा ॥८०॥
तपस्तपस्यौ मधुमाधवौ च
शुक्रः शुचिश्चायनमुत्तरं स्यात्।
नभोनभस्यौ च इषस्तथोर्ज-
स्सहःसहस्याविति दक्षिणं तत् ॥८१॥

श्वेतवर्षके उत्तरमें जो शृंगवान् नामसे विख्यात पर्वत है उसके तीन शृंग हैं, जिनके कारण यह शृंगवान् कहा जाता है ॥ ७३ ॥ उनमेंसे एक शृंग उत्तरमें, एक दक्षिणमें तथा एक मध्यमें है। मध्यशृंग ही 'वैषुवत' है। शरत् और वसन्तऋतुके मध्यमें सूर्य इस वैषुवतशृंगपर आते हैं; अतः हे मैत्रेय! मेष अथवा तुलाराशिके आरम्भमें तिमिरापहारी सूर्यदेव विषुवत्पर स्थित होकर दिन और रात्रिको समान-परिमाण कर देते हैं। उस समय ये दोनों पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्तके होते हैं ॥ ७४-७५ ॥ हे मुने! जिस समय सूर्य कृत्तिका नक्षत्रके प्रथम भाग अर्थात् मेषराशिके अन्तमें तथा चन्द्रमा निश्चय ही विशाखाके चतुर्थांश [अर्थात् वृश्चिकके आरम्भ] में हों; अथवा जिस समय सूर्य विशाखा के तृतीय भाग अर्थात् तुला के अन्तिमांश का भोग करते हों और चन्द्रमा कृत्तिका के प्रथम भाग अर्थात् मेषान्त में स्थित जान पड़े तभी यह 'विषुव' नामक अति पवित्र काल कहा जाता है; इस समय देवता, ब्राह्मण और पितृगणके उद्देश्य से संयतचित होकर दानादि देने चाहिये। यह समय दानग्रहण के लिये मानव देवताओं के खुले हुए मुख के समान है। अतः 'विषुव' काल में दान करने-वाला मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है ॥ ७६-७९ ॥ यागादिके काल-निर्णयके लिये दिन, रात्रि, पक्ष, कला, काष्ठा और क्षण आदिका विषय भली प्रकार जानना चाहिये। राका और अनुमति दो प्रकारकी पूर्णमासी तथा सिनीवाली और कुहू दो प्रकार की अमावस्या होती हैं ॥ ८० ॥ माघ-फाल्गुन, चैत्र-वैशाख तथा ज्येष्ठ-आषाढ़—ये छः मास उत्तरायण होते हैं और श्रावण-भाद्र, आश्विन-कार्तिक तथा अगहन-पौष—ये छः दक्षिणायन कहलाते हैं ॥ ८१ ॥

लोकालोकश्च यश्शैलः प्रागुक्तो भवतो मया।
लोकपालास्तु चत्वारस्तत्र तिष्ठन्ति सुव्रताः ॥८२॥
सुधामा शङ्खपाच्चैव कर्दमस्यात्मजो द्विज।
हिरण्यरोमा चैवान्यश्चतुर्थः केतुमानपि ॥८३॥
निर्द्वन्द्वा निरभिमाना निस्तन्द्रा निष्परिग्रहाः।
लोकपालाः स्थिता ह्येते लोकालोके चतुर्दिशम् ॥८४॥

मैंने पहले तुमसे जिस लोकालोक पर्वत का वर्णन किया है, उसीपर चार व्रतशील लोकपाल निवास करते हैं ॥ ८२ ॥ हे द्विज ! सुधामा, कर्दम के पुत्र शंखपाद और हिरण्यरोमा तथा केतुमान्—ये चारों निर्द्वन्द्व, निरभिमान, निरालस्य और निष्परिग्रह लोकपालगण लोकालोक पर्वत की चारों दिशाओं में स्थित हैं ॥ ८३-८४ ॥

उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम् ।
पितृयानः स वै पन्था वैश्वानरपथाद्बहिः ॥८५॥

तत्रासते महात्मान ऋषयो येऽग्निहोत्रिणः ।
भूतारम्भकृतं ब्रह्म शंसन्तो ऋत्विगुद्यताः ।
प्रारभन्ते तु ये लोकस्तेषां पन्थाः स दक्षिणः ॥ ८६ ॥

चलितं ते पुनर्ब्रह्म स्थापयन्ति युगे युगे ।
सन्तत्या तपसा चैव मर्यादाभिः श्रुतेन च ॥८७॥

जायमानास्तु पूर्वे च पश्चिमानां गृहेषु वै ।
पश्चिमाश्चैव पूर्वेषां जायन्ते निधनेष्विह ॥८८॥

एवमावर्तमानास्ते तिष्ठन्ति नियतव्रताः ।
सुवितुर्दक्षिणं मार्गं श्रिता ह्याचन्द्रतारकम् ॥८९॥

जो अगस्त्य के उत्तर तथा अजवीथि के दक्षिण में वैश्वानरमार्ग से भिन्न [मृगवीथि नामक] मार्ग है वही पितृयानपथ है ॥ ८५ ॥ उस पितृयानमार्ग में महात्मा-मुनिजन रहते हैं। जो लोग अग्निहोत्री होकर प्राणियों की उत्पत्ति के आरम्भक ब्रह्म (वेद) की स्तुति करते हुए यज्ञानुष्ठान के लिये उद्यत हो कर्म का आरम्भ करते हैं वह (पितृयान) उनका दक्षिणमार्ग है ॥ ८६ ॥ वे युग-युगान्तर में विच्छिन्न हुए वैदिक धर्मकी, सन्तान तपस्या वर्णाश्रम-मर्यादा और विविध शास्त्रोंके द्वारा पुनः स्थापना करते हैं ॥ ८७ ॥ पूर्वतन धर्मप्रवर्तक ही अपनी उत्तरकालीन सन्तान के यहाँ उत्पन्न होते हैं और फिर उत्तरकालीन धर्म-प्रचारकगण अपने यहाँ सन्तानरूपसे उत्पन्न हुए अपने पितृगण के कुलों में जन्म लेते हैं ॥ ८८ ॥ इस प्रकार, वे व्रतशील महर्षिगण चन्द्रमा और तारागण की स्थितिपर्यन्त सूर्य के दक्षिणमार्ग में पुनः-पुनः आते-जाते रहते हैं ॥ ८९ ॥

नागवीथ्युत्तरं यच्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम् ।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयानश्च च स्मृतः ॥९०॥

तत्र ते वशिनः सिद्धा विमला ब्रह्मचारिणः ।
सन्ततिं ते जुगुप्सन्ति तस्मान्मृत्युर्जितश्च तैः ॥९१॥

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
उदक्पन्थानमर्यम्णः स्थितान्याभूतसम्प्लवम् ॥९२॥

तेऽसम्प्रयोगाल्लोभस्य मैथुनस्य च वर्जनात् ।
इत्येभिः कारणै शुद्धास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे ॥९४॥

आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं विभाव्यते।
त्रैलोक्यस्थितिकालोऽयमपुनर्मार उच्यते ॥९५॥

ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां पापपुण्यकृतो विधिः।
आभूतसम्प्लवान्तन्तु फलमुक्तं तयोर्द्विज ॥९६॥

नागवीथि के उत्तर और सप्तर्षियों के दक्षिण में जो सूर्यका उत्तरीय मार्ग है उसे देवयानमार्ग कहते हैं ॥ ९० ॥ उसमें जो प्रसिद्ध निर्मलभाव और जितेन्द्रिय ब्रह्मचारिगण निवास करते हैं वे सन्तान की इच्छा नहीं करते, अतः उन्होंने मृत्युको जीत लिया है ॥ ९१ ॥ सूर्य के उत्तरमार्ग में अस्सी हजार ऊर्ध्वरेता मुनिगण प्रलय-कालपर्यन्त निवास करते हैं ॥ ९२ ॥ उन्होंने लोभके असंयोग, मैथुन के त्याग, इच्छा और द्वेषकी अप्रवृत्ति, कर्मानुष्ठानके त्याग, काम-वासना के असंयोग और शब्दादि विषयों के दोष-दर्शन इत्यादि कारणों से शुद्धचित्त होकर अमरता प्राप्त कर ली है ॥ ९३-९४ ॥ भूतों के प्रलयपर्यन्त स्थिर रहने को ही अमरता कहते हैं। त्रिलोकी की स्थितितक के इस कालको ही अपुनर्मार (पुनर्मृत्युरहित) कहा जाता है ॥ ९५ ॥ हे द्विज ! ब्रह्महत्या और अश्वमेधयज्ञ से जो पाप और पुण्य होते हैं उनका फल प्रलयपर्यन्त कहा गया है ॥ ९६ ॥

यावन्मात्रे प्रदेशे तु मैत्रेयावस्थितो ध्रुवः।
क्षयमायाति तावत्तु भूमेराभूतसम्प्लवात् ॥ ९७ ॥

ऊर्ध्वोत्तरमृषिभ्यस्तु ध्रुवो यत्र व्यवस्थितः।
एतद्विष्णुपदं दिव्यं तृतीयं व्योम्नि भासुरम् ॥ ९८ ॥

निर्धूतदोषपङ्कानां यतीनां संयतात्मनाम्।
स्थानं तत्परमं विप्र पुण्यपापपरिक्षये ॥ ९९ ॥

अपुण्यपुण्योपरमे क्षीणाशेषाप्तिहेतवः।
यत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१००॥

धर्मध्रुवाद्यस्तिष्ठन्ति यत्र ते लोकसाक्षिणः।
तत्साष्ट्योत्पन्नयोगेद्धास्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०१॥

यत्रोतमेतत्प्रोतं च यद्भूतं सचराचरम्।
भाव्यं च विश्वं मैत्रेय तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०२॥

दिवीव चक्षुराततं योगिनां तन्मयात्मनाम्।
विवेकज्ञानदृष्टं च तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०३॥

यस्मिन्प्रतिष्ठितो भास्वान्मेढीभूतः स्वयं ध्रुवः।
ध्रुवे च सर्वज्योतींषि ज्योतिःष्वम्भोमुचो द्विज ॥१०४॥

मेघेषु सङ्गता वृष्टिर्वृष्टेः सृष्टेश्च पोषणम्।
आप्यायनं च सर्वेषां देवादीनां महामुने ॥१०५॥

ततश्चाज्याहुतिद्वारा पोषितास्ते हविर्भुजः।
वृष्टेः कारणतां यान्ति भूतानां स्थितये पुनः ॥१०६॥

एवमेतत्पदं विष्णोस्तृतीयममलात्मकम्।
आधारभूतं लोकानां त्रयाणां वृष्टिकारणम् ॥१०७॥

हे मैत्रेय ! जितने प्रदेश में ध्रुव स्थित है, पृथिवी से लेकर उस प्रदेशपर्यन्त सम्पूर्ण देश प्रलयकाल में नष्ट हो जाता है ॥ ९७ ॥ सप्तर्षियों से उत्तर दिशामें ऊपर की ओर जहाँ ध्रुव स्थित है वह अति तेजोमय स्थान ही आकाश में विष्णुभगवान् का तीसरा दिव्यधाम है ॥ ९८ ॥ हे विप्र ! पुण्य-पापके क्षीण हो जानेपर दोष-पंकशून्य संयतात्मा मुनिजनों का यही परमस्थान है ॥ ९९ ॥ पाप-पुण्यके निवृत्त हो जाने तथा देह-प्राप्ति के सम्पूर्ण कारणों के नष्ट हो जाने पर प्राणिगण जिस स्थान पर जाकर फिर शोक नहीं करते वही भगवान् विष्णु का परमपद है ॥ १०० ॥ जहाँ भगवान् की समानऐश्वर्यतासे प्राप्त हुए योगद्वारा सतेज होकर धर्म और ध्रुव आदि लोकसाक्षिगण निवास करते हैं वही भगवान् विष्णुका परमपद है ॥ १०१ ॥ हे मैत्रेय ! जिसमें यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान चराचर जगत् ओतप्रोत हो रहा है वही भगवान् विष्णुका परमपद है ॥ १०२ ॥ जो तल्लीन योगिजनों को आकाशमण्डल में देदीप्यमान सूर्यके समान सबके प्रकाशकरूप से प्रतीत होता है तथा जिसका विवेक-ज्ञान से ही प्रत्यक्ष होता है वही भगवान् विष्णुका परमपद है ॥ १०३ ॥ हे द्विज ! उस विष्णुपद में ही सबके आधारभूत परमतेजस्वी ध्रुव स्थित है, तथा ध्रुवजी में समस्त नक्षत्र, नक्षत्रों में मेघ और मेघों में वृष्टि आश्रित है। हे महामुने ! उस वृष्टि से ही समस्त सृष्टिका पोषण और सम्पूर्ण देव-मनुष्यादि प्राणियों की पुष्टि होती है ॥ १०४-१०५ ॥ तदनन्तर गौ आदि प्राणियों से उत्पन्न दुग्ध और घृत आदिकी आहुतियों से परितुष्ट अग्निदेव ही प्राणियों की स्थिति के लिये पुनः वृष्टि के कारण होते हैं ॥ १०६ ॥ इस प्रकार विष्णु भगवान् का यह निर्मल तृतीय लोक (ध्रुव) ही त्रिलोकी का आधारभूत और वृष्टिका आदिकारण है ॥ १०७ ॥

ततः प्रभवति ब्रह्मन्सर्वपापहरा सरित्।
गङ्गा देवाङ्गनाङ्गानामनुलेपनपिञ्जरा ॥१०८॥
वामपादाम्बुजाङ्गुष्ठनखस्रोतोविनिर्गताम्।
विष्णोर्बिभर्ति यां भक्त्या शिरसाहर्निशं ध्रुव ॥१०९॥
ततः सप्तर्षयो यस्याः प्राणायामपरायणाः।
तिष्ठन्ति वीचिमालाभिरुह्यमानजटा जले ॥११०॥
वार्योघैः सन्ततैर्यस्याः प्लावितं शशिमण्डलम्।
भूयोऽधिकतरां कान्तिं वहत्येतदुह क्षये ॥१११॥
मेरुपृष्ठे पतत्युच्चैर्निष्क्रान्ता शशिमण्डलात्।
जगतः पावनार्थाय प्रयाति च चतुर्दिशम् ॥११२॥
सीता चालकनन्दा च चक्षुर्भद्रा च संस्थिता।
एकैव या चतुर्भेदा दिग्भेदगतिलक्षणा ॥११३॥

भेदं चालकनन्दाख्यं यस्याः शर्वोऽपि दक्षिणम् ।
दधार शिरसा प्रीत्या वर्षाणामधिकं शतम् ॥११४॥
शम्भोर्जटाकलापाच्च विनिष्क्रान्तास्थिशर्कराः ।
प्लावयित्वा दिवं निन्ये या पापान्सगरात्मजान् ॥११५॥
स्नातस्य सलिले यस्याः सद्यः पापं प्रणश्यति ।
अपूर्वपुण्यप्राप्तिश्च सद्यो मैत्रेय जायते ॥११६॥
दत्ताः पितृभ्यो यत्रापस्तनयैः श्रद्धयान्वितैः ।
समाशतं प्रयच्छन्ति तृप्तिं मैत्रेय दुर्लभाम् ॥११७॥
यस्यामिष्ट्वा महायज्ञैर्यज्ञेशं पुरुषोत्तमम् ।
द्विज भूयाः परां सिद्धिमवापुर्दिवि चेह च ॥११८॥
स्नानाद्विधूतपापश्च यञ्जलैर्यतयस्तथा ।
केशवासक्तमनसः प्राप्ता निर्वाणमुत्तमम् ॥११९॥
श्रुताऽभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीताऽवगाहिता ।
या पावयति भूतानि कीर्तिता च दिने दिने ॥१२०॥
गङ्गा गङ्गेति यैर्नाम योजनानां शतेष्वपि ।
स्थितैरुच्चारितं हन्ति पापं जन्मत्रयार्जितम् ॥१२१॥
यतः सा पावनायालं त्रयाणां जगतामपि ।
समुद्भूता परं तत्तु तृतीयं भगवत्पदम् ॥१२२॥

हे ब्रह्मन् ! इस विष्णुपद से ही देवांगनाओं के अंगरागसे पाण्डुरवर्ण हुई-सी सर्वपापापहारिणी श्रीगंगाजी उत्पन्न हुई हैं ॥ १०८ ॥ विष्णुभगवान्के वाम चरण-कमल के अंगूठे के नखरूप स्रोत से निकली हुई उन गंगाजीको ध्रुव दिन-रात अपने मस्तकपर धारण करता है ॥ १०९ ॥ तदनन्तर जिनके जलमें खड़े होकर प्राणायाम-परायण सप्तर्षिगण उनकी तरंगभंगो से जटाकलाप के कम्पायमान होते हुए, अघमर्षण-मन्त्रका जप करते हैं तथा जिनके विस्तृत जलसमूह से आप्लावित होकर चन्द्रमण्डल क्षयके अनन्तर पुनः पहले से भी अधिक कान्ति धारण करता है, वे श्रीगंगाजी चन्द्र-मण्डल से निकलकर मेरुपर्वत के ऊपर गिरती हैं और संसारको पवित्र करने के लिये चारों दिशाओं में जाती हैं ॥ ११०–११२ ॥ चारों दिशाओं में जाने से वे एक ही सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा इन चार भेदोंवाली हो जाती हैं ॥ ११३ ॥ जिसके अलक-नन्दा नामक दक्षिणीय भेदको भगवान् शंकर ने अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सौ वर्ष से भी अधिक अपने मस्तकपर धारण किया था, जिसने श्रीशंकर के जटाकलाप से निकलकर पापी सगरपुत्रों के अस्थिचूर्णको आप्लावित कर उन्हें स्वर्ग में पहुँचा दिया । हे मैत्रेय ! जिसके जल में स्नान करने से शीघ्र ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और अपूर्व पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ ११४-११६ ॥ जिसके प्रवाह में पुत्रों द्वारा पितरों के लिये श्रद्धापूर्वक किया हुआ एक दिनका भी तर्पण उन्हें सौ वर्षतक दुर्लभ तृप्ति देता है ॥ ११७ ॥ हे द्विज ! जिसके तटपर राजाओं ने महायज्ञों से यज्ञेश्वर भगवान् पुरुषोत्तम का यजन करके इहलोक और स्वर्गलोक में परमसिद्धि लाभ की है ॥ ११८ ॥ जिसके जल में

३३

स्नान करने से निष्पाप हुए यतिजनों ने भगवान् केशव में चित्त लगाकर अत्युत्तम निर्वाणपद प्राप्त किया है ॥ ११९ ॥ जो अपना श्रवण, इच्छा, दर्शन, स्पर्श, जलपान, स्नान तथा यशोगान करने से ही नित्यप्रति प्राणियों को पवित्र करती रहती है ॥१२०॥ तथा जिसका 'गंगा, गंगा' ऐसा नाम सौ योजनकी दूरी से भी उच्चारण किये जाने पर [जीव के] तीन जन्मों के सञ्चित पापों को नष्ट कर देता है ॥ १२१ ॥ त्रिलोकीको पवित्र करने में समर्थ वह गंगा जिससे उत्पन्न हुई है, वही भगवान् का तीसरा परमपद है ॥ १२२ ॥

श्री विष्णु पुराण में ज्योतिश्चक्र और शिशुमारचक्र का वर्णन

तारामयं भगवतः शिशुमाराकृति प्रभोः ।
दिवि रूपं हरेर्यत्तु तस्य पुच्छे स्थितो ध्रुवः ॥ १ ॥
सैष भ्रमन् भ्रामयति चन्द्रादित्यादिकान् ग्रहान् ।
भ्रमन्तमनु तं यान्ति नक्षत्राणि च चक्रवत् ॥ २ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहैः सह ।
वातानीकमयैर्बन्धैर्ध्रुवे बद्धानि तानि वै ॥ ३ ॥

आकाश में भगवान् विष्णु का जो शिशुमार (गिरगिट अथवा गोधा) के समान आकार वाला तारामय स्वरूप देखा जाता है उसके पुच्छ-भाग में ध्रुव अवस्थित है ॥ १ ॥ यह ध्रुव स्वयं घूमता हुआ चन्द्रमा और सूर्य आदि ग्रहों को घुमाता है। उस भ्रमण शील ध्रुव के साथ नक्षत्र गण भी चक्र के समान घूमते रहते हैं ॥ २ ॥ सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र और अन्यान्य समस्त ग्रहगण वायु-मण्डलमयी डोरी से ध्रुव के साथ बँधे हुए हैं ॥ ३ ॥

शिशुमाराकृति प्रोक्तं यद्रूपं ज्योतिषां दिवि ।
नारायणोऽयनं धाम्नां तस्याधारः स्वयं हृदि ॥ ४ ॥
उत्तानपादपुत्रस्तु तमाराध्य जगत्पतिम् ।
स तारा शिशुमारस्य ध्रुवः पुच्छे व्यवस्थितः ॥ ५ ॥
आधारः शिशुमारस्य सर्वाध्यक्षो जनार्दनः ।
ध्रुवस्य शिशुमारस्तु ध्रुवे भानुर्व्यवस्थितः ॥ ६ ॥
तदाधारं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् ॥ ७ ॥
येन विप्र विधानेन तन्ममैकमनाः शृणु ।
विवस्वानष्टभिर्मासैरादायापो रसात्मिकाः ।
वर्षत्यम्बु ततश्चान्नमन्नादप्यखिलं जगत् ॥ ८ ॥
विवस्वानंशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतो जलम् ।
सोमं पुष्णात्यथेन्दुश्च वायुनाडीमयैर्दिवि ।
नालैर्विक्षिपतेऽभ्रेषु धूमाग्न्यनिलमूर्तिषु ॥ ९ ॥
न भ्रश्यन्ति यतस्तेभ्यो जलान्यभ्राणि तान्यतः ।
अभ्रस्थाः प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिताः ।
संस्कारं कालजनितं मैत्रेयासाद्य निर्मलाः ॥ १० ॥

मैंने तुमसे आकाश में ग्रहगण के जिस शिशुमार स्वरूप का वर्णन किया है, अनन्त तेज के आश्रय स्वयं भगवान् नारायण ही उसके हृदयस्थित आधार है ॥ ४ ॥ उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने उन जगत्पति की आराधना करके तारामय शिशुमार के पुच्छस्थान में स्थिति प्राप्त की है ॥ ५ ॥ शिशुमार के आधार सर्वेश्वर श्रीनारायण हैं, शिशुमार ध्रुव का आश्रय है और ध्रुव सूर्य देव स्थित हैं तथा हे विप्र ! जिस प्रकार देव, असुर और मनुष्यादि के सहित यह सम्पूर्ण जगत् सूर्य के आश्रित है, वह तुम एकाग्र होकर सुनो।

सूर्य आठ मास तक अपनी किरणों से छः रसों से युक्त जल को ग्रहण करके उसे चार महींनों में बरसा देता है उससे अन्न की उत्पत्ति होती है और अन्न ही से सम्पूर्ण जगत् पोषित होता है ॥ ६-८ ॥ सूर्य अपनी तीक्ष्ण रश्मियों से संसार का जल खींचकर उससे चन्द्रमा का पोषण करता है और चद्रमा आकाश में वायु मयी नाड़ियों के मार्ग से उसे धूम, अग्नि और वायुमय मेघों में पहुँचा देता है ॥ ९ ॥ यह चन्द्रमा द्वारा प्राप्त जल मेघों से तुरन्त ही भ्रष्ट नहीं होता इसलिये 'अभ्र' कहलाता है। हे मैत्रेय ! कालजनित संस्कार के प्राप्त होने पर यह अभ्रस्थ जल निर्मल होकर वायु की प्रेरणा से पृथिवी पर बरसने लगता है ॥ १० ॥

सरित्समुद्रभौमास्तु तथापः प्राणिसम्भवाः।
चतुष्प्रकारा भगवानादत्ते सविता मुने ! ॥ ११ ॥
आकाशगङ्गासलिलं तथादाय गभस्तिमान्।
अनभ्रगतमेवोर्व्यां सद्यः क्षिपति रश्मिभिः ॥ १२ ॥
तस्य संस्पर्शनिर्धूतपापपङ्को द्विजोत्तम !।
न याति नरकं मर्त्यो दिव्यं स्नानं हि तत्स्मृतम् ॥ १३ ॥
दृष्टसूर्यं हि यद्वारि पतत्यभ्रैर्विना दिवः।
आकाशगङ्गासलिलं तद्गोभिः क्षिप्यते रवेः ॥ १४ ॥
कृत्तिकादिषु ऋक्षेषु विषमेषु च यद्दिवः।
दृष्टार्कपतितं ज्ञेयं तद्गाङ्गं दिग्गजोज्झितम् ॥ १५ ॥
युग्मर्क्षेषु च यत्तोयं पतत्यर्कोज्झितं दिवः।
तत्सूर्यरश्मिभिः सर्वं समादाय निरस्यते ॥ १६ ॥
उभयं पुण्यमत्यर्थं नृणां पापभयापहम्।
आकाशगङ्गासलिलं दिव्यं स्नानं महामुने ॥ १७ ॥
यत्तु मेघैः समुत्सृष्टं वारि तत्प्राणिनां द्विज।

हे मुने ! भगवान् सूर्य देव नदी, समुद्र, पृथिवी तथा प्राणियों से उत्पन्न—इन चार प्रकार के जलों का आकर्षण करते हैं ॥ ११ ॥ तथा आकाश गंगा के जल को ग्रहण करके वे उसे बिना मेघादि के अपनी किरणों से ही तुरन्त पृथिवी पर बरसा देते हैं ॥ १२ ॥ हे द्विजोत्तम ! उसके स्पर्शमात्र से पाप-पंक के घुल जाने से मनुष्य नरक में नहीं जाता। अतः वह दिव्यस्नान कहलाता है ॥ १३ ॥ सूर्य के दिखलायी देते हुए, बिना

मेघों के ही जो जल बरसता है वह सूर्य की किरणों द्वारा बरसाया हुआ आकाश गंगा का ही जल होता है ॥ १४ ॥ कृति का आदि विषम (अयुग्म) नक्षत्रों में जो जल सूर्य के प्रकाशित रहते हुए बरसता है उसे दिग्गजों द्वा रा बरसाया हुआ आकाश गंगा का जल समझना चाहिए ॥ १५ ॥ [रोहिणी और आर्द्रा आदि] सम संख्यावाले नक्षत्रों में जिस जल को सूर्य बरसाता है वह सूर्य रश्मियों द्वारा [आकाश गंगा से] ग्रहण करके ही बरसाया जाता है ॥ १६ ॥ हे महामुने ! आकाश गंगा के ये [सम तथा विषम नक्षत्रों में बरसने वाले] दोनों प्रकार के जलमय दिव्य स्नान अत्यन्त पवित्र और मनुष्यों के पाप भय को दूर करने वाले हैं ॥ १७ ॥

पुष्णात्योषधयः सर्वा जीवनायामृतं हि तत् ॥१८॥

तेन वृद्धिं पराँ नीतः सकलश्चौषधीगणः ।
साधकः फलपाकान्तः प्रजानां द्विज जायते ॥ १९ ॥

तेन यज्ञान्यथाप्रोक्तान्मानवाः शास्त्रचक्षुषः ।
कुर्वन्त्यहरहस्तैश्च देवानाप्याययन्ति ते ॥ २० ॥

एवं यज्ञाश्च वेदाश्च वर्णाश्च वृष्टिपूर्वकाः ।
सर्वे देवनिकायाश्च सर्वे तगणाश्च ये ॥ २१ ॥

वृष्ट्या धृतमिदं सर्वमन्नं निष्पाद्यते यया ।
सापि निष्पाद्यते वृष्टिः सवित्रा मुनिसत्तम ॥ २२ ॥

आधारभूतः सवितुर्ध्रुवो मुनिवरोत्तम ।
ध्रुवस्य शिशुमारोऽसौ सोऽपि नारायणात्मकः ॥ २३ ॥

हृदि नारायणस्तस्य शिशुमारस्य संस्थितः ।
बिभर्ता सर्वभूतानामादिभूतः सनातनः ॥ २४ ॥

हे द्विज ! जो जल मेघों द्वारा बरसाया जाता है वह प्राणियों के जीवन के लिये अमृतरूप होता है और ओषधियों का पोषण करता है ॥१८॥ हे विप्र ! उस वृष्टि के जल से परम वृद्धि को प्राप्त होकर समस्त ओषधियाँ और फल पकने पर सूख जानेवाले [गोधूम, यव आदि अन्न] प्रजावर्ग के [शरीर की उत्पत्ति एवं पोषण आदि के] साधक होते हैं ॥१९॥ उनके द्वारा शास्त्रविद् मनोषिगण नित्यप्रति यथा विधि यज्ञानुष्ठान करके देवताओं को सन्तुष्ट करते हैं ॥२०॥ इस प्रकार सम्पूर्ण यज्ञ, वेद, ब्राह्मणादि वर्ण, समस्त देवसमूह और प्राणिगण वृष्टि के ही आश्रित हैं ॥२१॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! अन्न को उत्पन्न करनेवाली वृष्टि ही इन सबको धारण करती है तथा उस वृष्टि की उत्पत्ति सूर्य से होती है ॥२२॥

हे मुनिवरोत्तम ! सूर्य का आधार ध्रुव है, ध्रुव का शिशुमार है तथा शिशुमार के आश्रय श्रीनारायण हैं ॥२३॥ उस शिशुमार के हृदय में श्रीनारायण स्थित हैं जो समस्त प्राणियों के पालनकर्ता तथा आदि भूत सनातन पुरुष हैं ॥२४॥

श्रीविष्णु पुराण के अनुसार द्वादश सूर्यों के नाम एवं अधिकारियों का वर्णन।

साशीतिमण्डलशतं काष्ठयोरन्तरं द्वयोः।
आरोहणावरोहाभ्यां भानोरब्देन या गतिः ॥ १ ॥

स रथोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैऋर्षिभिस्तथा।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च ग्रामणीसर्पराक्षसैः ॥ २ ॥

धाता क्रतुस्थला चैव पुलस्त्यो वासुकिस्तथा।
रथभृद्ग्रामणीर्हेतिस्तुम्बुरुश्चैव सप्तमः ॥ ३ ॥

एते वसन्ति वै चैत्रे मधुमासे सदैव हि।
मैत्रेय स्यन्दने भानोः सप्त मासाधिकारिणः ॥ ४ ॥

अर्यमा पुलहश्चैव रथौजाः पुञ्जिकस्थला।
प्रहेतिः कच्छवीरश्च नारदश्च रथे रवेः ॥ ५ ॥

माधवे निवसन्त्येते शुचिसंज्ञे निबोध मे ॥ ६ ॥

मित्रोऽत्रिस्तक्षको रक्षः पौरुषेयोऽथ मेनका।
हाहा रथस्वनश्चैव मैत्रेयैते वसन्ति वै ॥ ७ ॥

वरुणो वसिष्ठो नागश्च सहजन्या हूहू रथः।
रथचित्रस्तथा शुक्रे वसन्त्याषाढसंज्ञके ॥ ८ ॥

आरोह और अवरोह के द्वारा सूर्य की एक वर्ष में जितनी गति है उस सम्पूर्ण मार्ग की दोनों काष्ठाओं का अन्तर एक सौ अस्सी मण्डल है ॥१॥ सूर्य का रथ [प्रति मास] भिन्न-भिन्न आदित्य, ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, सर्प और राक्षस गणों से अधिष्ठित होता है ॥२॥ हे मैत्रेय ! मधुमास चैत्र में सूर्य के रथ में सर्वदा धाता नामक आदित्य, क्रतुस्थला अप्सरा, पुलस्त्य ऋषि, वासुकि सर्प, रथभृत् यक्ष, हेति राक्षस और तुम्बुरु गन्धर्व ये सात मासाधिकारी रहते हैं ॥३-४॥ तथा अर्यमा नामक आदित्य, पुलह ऋषि, रथोजा यक्ष, पुञ्जिकस्थला अप्सरा, प्रहेति राक्षस, कच्छवीर सर्प और नारद नामक गन्धर्व—ये वैशाख-मास में सूर्य के रथ पर निवास करते हैं। हे मैत्रेय ! अब ज्येष्ठ मास में [निवास करनेवालों के नाम] सुनो ॥५-६॥ उस समय मित्र नामक आदित्य, अत्रि ऋषि, तक्षक सर्प, पौरुषेय राक्षस, मेनका अप्सरा, हाहा गन्धर्व और रथस्वन नामक यक्ष—ये उस रथ में वास करते हैं ॥७॥ तथा आषाढ़-मासमें वरुण नामक आदित्य, वसिष्ठ ऋषि, नाग सर्प, सहजन्या अप्सरा, हूहू गन्धर्व, रथ राक्षस और रथचित्र नामक यक्ष उस में रहते हैं ॥८॥

इन्द्रो विश्वावसुः स्रोत एलापुत्रस्तथाङ्गिराः।
प्रम्लोचा च नभस्येते सर्पिश्चार्के वसन्ति वै ॥ ९ ॥

विवस्वानुग्रसेनश्च भृगुरापूरणस्तथा।
अनुम्लोचा शङ्खपालो व्याघ्रो भाद्रपदे तथा ॥ १० ॥

पूषा वसुरुचिर्वातो गौतमोऽथ धनञ्जयः ।
सुषेणोऽन्यो घृताची च वसन्त्याश्वयुजे रवौ ॥ ११ ॥

विश्वावसुर्भरद्वाजः पर्जन्यैरावतौ तथा ।
विश्वाची सेनजिच्चापः कार्तिके च वसन्ति वै ॥ १२ ॥

अंशकाश्यपतार्क्ष्यास्तु महापद्मस्तथोर्वशी ।
चित्रसेनस्तथा विद्युन्मार्गशीर्षेऽधिकारिणः ॥ १३ ॥

क्रतुर्भगस्तथोर्णायुः स्फूर्जः कर्कोटकस्तथा ।
अरिष्टनेमिश्चैवान्य पूर्वचित्तिर्वराप्सराः ॥ १४ ॥

पौषमासे वसन्त्येते सप्त भास्करमण्डले ।
लोकप्रकाशनार्थाय विप्रवर्याधिकारिणः ॥ १५ ॥

त्वष्टाथ जमदग्निश्च कम्बलोऽथ तिलोत्तमा ।
ब्रह्मोपेतोऽथ ऋतजिद् धृतराष्ट्रोऽथ सप्तमः ॥ १६ ॥

माघमासे वसन्त्येते सप्त मैत्रेय भास्करे ।
श्रूयतां चापरे सूर्ये फाल्गुने निवसन्ति ये ॥ १७ ॥

श्रावण-मासमें इन्द्र नामक आदित्य, विश्वावसु गन्धर्व, स्रोत यक्ष, एलापुत्र सर्प, अंगिरा ऋषि, प्रम्लोचा अप्सरा और सर्पि नामक राक्षस सूर्य के रथ में बसते हैं ॥९॥ तथा भाद्रपद में विवस्वान् नामक आदित्य, उग्रसेन गन्धर्व, भृगु ऋषि, आपूरण यक्ष, अनुम्लोचा अप्सरा, शंखपाल सर्प और व्याघ्र नामक राक्षस का उसमें निवास होता है ॥१०॥

आश्विन-मास में पूषा नामक आदित्य, वसुरूचि गन्धर्व, वात राक्षस, गौतम ऋषि, धनञ्जय सर्प, सुषेण-गन्धर्व और घृताची नाम की अप्सरा का उस में वास होता है ॥११॥ कार्तिक-मास में उस में विश्वावसु नामक गन्धर्व, भरद्वाज ऋषि, पर्जन्य आदित्य, ऐरावत सर्प, विश्वाची अप्सरा, सेनजित् यक्ष तथा आप नामक राक्षस रहते हैं ॥१२॥

मार्गशीर्ष के अधिकारी अंश नामक आदित्य, काश्यप ऋषि, तार्क्ष्य यक्ष, महापद्म सर्प, उर्वशी अप्सरा, चित्रसेन गन्धर्व और विद्युत् नामक राक्षस हैं ॥१३॥ हे विप्रवर ! पौष-मास में क्रतु ऋषि, भग आदित्य, ऊर्णायु गन्धर्व, स्फूर्ज राक्षस, कर्कोटक सर्प, अरिष्टनेमि यक्ष तथा पूर्वचित्ति अप्सरा जगत् को प्रकाशित करने के लिये सूर्यमण्डल में रहते हैं ॥१४-१५॥

हे मैत्रेय ! त्वष्टा नामक आदित्य, जमदग्नि ऋषि, कम्बल सर्प, तिलोत्तमा अप्सरा, ब्रह्मोपेत राक्षस, ऋतजित् यक्ष और धृतराष्ट्र गन्धर्व—ये सात माघ-मास में भास्कर मण्डल में रहते हैं। अब, जो फाल्गुनमास में सूर्य के रथ में रहते हैं उनके नाम सुनो ॥१६-१७॥

विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् ।
विश्वामित्रस्तथा रक्षो यज्ञोपेतो महामुने ॥ १८ ॥

हे महामुने ! वे विष्णु नामक आदित्य, अश्वतर सर्प, रम्भा अप्सरा, सूर्यवर्चा गन्धर्व, सत्यजित् यक्ष, विश्वामित्र ऋषि और यज्ञोपेत नामक राक्षस हैं ॥ १८ ॥

मासेष्वेतेषु मैत्रेय वसन्त्येते तु सप्तकाः ।
सवितुर्मण्डले ब्रह्मन्विष्णुशक्त्युपबृंहिताः ॥ १९ ॥
स्तुवन्ति मुनयः सूर्यं गन्धर्वैर्गीयते पुरः ।
नृत्यन्त्यप्सरसो यान्ति सूर्यस्यानु निशाचराः ॥ २० ॥
वहन्ति पन्नगा यक्षैः क्रियतेऽभीषुसङ्ग्रहः ॥ २१ ॥
बालखिल्यास्तथैवैनं परिवार्य समासते ॥ २२ ॥
सोऽयं सप्तगणः सूर्यमण्डले मुनिसत्तम ।
हिमोष्णवारिवृष्टीनां हेतुः स्वसमयं गतः ॥ २३ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार विष्णु भगवान् की शक्ति से तेजोमय हुए ये सात-सात गण एक-एक मास तक सूर्यमण्डल में रहते हैं ॥ १९ ॥ मुनिगण सूर्य की स्तुति करते हैं, गन्धर्व सम्मुख रहकर उनका यशोगान करते हैं, अप्सराएँ नृत्य करती हैं, राक्षस रथ के पीछे चलते हैं, सर्प अहन करने के अनुकूल रथ को सुसज्जित करते हैं और यक्षगण रथ की बागडोर सँभालते हैं तथा नित्यसेवक बालखिल्यादि इसे सब ओर से घेरे रहते हैं ॥ २०-२२ ॥ हे मुनिसत्तम ! सूर्यमण्डल के ये सात-सात गण ही अपने-अपने समय पर उपस्थित होकर शीत, ग्रीष्म और वर्षा आदि के कारण होते हैं ॥ २३ ॥

श्री विष्णुपुराण में सूर्य शक्ति का वर्णन :

यदेतद्भगवानाह गणः सप्तविधो रवेः ।
मण्डले हिमतापादेः कारणं तन्मया श्रुतम् ॥ १ ॥
व्यापारश्चापि कथितो गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
ऋषीणां बालखिल्यानां तथैवाप्सरसां गुरो ॥ २ ॥
यक्षाणां च रथे भानोर्विष्णुशक्तिधृतात्मनाम् ।
किं चादित्यस्य यत्कर्म तन्नात्रोक्तं त्वया मुने ॥ ३ ॥
यदि सप्तगणो वारि हिममुष्णं च वर्षति ।
तत्किमत्र रवेर्येन वृष्टिः सूर्यादितीर्यते ॥ ४ ॥
विवस्वानुदितो मध्ये यात्यस्तमिति किं जनः ।
ब्रवीत्येतत्समं कर्म यदि सप्तगणस्य तत् ॥ ५ ॥

भगवन् ! आपने जो कहा कि सूर्यमण्डल में स्थित सातों गण शीत-ग्रीष्म आदि के कारण होते हैं, सो मैंने सुना ॥ १ ॥ हे गुरो ! आपने सूर्य के रथ में स्थित और विष्णु-शक्ति से प्रभावित गन्धर्व, सर्प, राक्षस, ऋषि, बालखिल्यादि, अप्सरा तथा यक्षों के तो पृथक्-पृथक् व्यापार बतलाये, किन्तु हे मुने ! यह नहीं बतलाया कि सूर्य का कार्य

क्या है ? ॥ २-३ ॥ यदि सातों गण ही शीत, ग्रीष्म और वर्षा के करने वाले हैं तो फिर सूर्य का क्या प्रयोजन है ? और यह कैसे कहा जाता है कि वृष्टि सूर्य से होती है ? ॥ ४ ॥ यदि सातों गणों का यह वृष्टि आदि कार्य समान ही है तो 'सूर्य उदय हुआ, अब मध्य में है, अब अस्त होता है' ऐसा लोग क्यों कहते हैं ? ॥ ५ ॥

मैत्रेय ! श्रूयतामेतद्यद्भवान्परिपृच्छति ।
यथा सप्तगणेऽप्येकः प्राधान्येनाधिको रविः ॥ ६ ॥
सर्वशक्तिः परा विष्णोर्ऋग्यजुःसामसंज्ञिता ।
सैषा त्रयी तपत्यंहो जगतश्च हिनस्ति या ॥ ७ ॥
सैष विष्णुः स्थितः स्थित्यां जगतः पालनोद्यतः ।
ऋग्यजुःसामभूतोऽन्तः सवितुर्द्विज तिष्ठति ॥ ८ ॥
मासि मासि रविर्यो यस्तत्र तत्र हि सा परा ।
त्रयीमयी विष्णुशक्तिरवस्थानं करोति वै ॥ ९ ॥
ऋचः स्तुवन्ति पूर्वाह्णे मध्याह्नेऽथ यजूंषि वै ।
बृहद्रथन्तरादीनि सामान्यह्नः क्षये रविम् ॥ १० ॥
अङ्गमेषा त्रयी विष्णोर्ऋग्यजुःसामसंज्ञिता ।
विष्णुशक्तिरवस्थानं सदादित्ये करोति सा ॥ ११ ॥

हे मैत्रेय ! जो कुछ तुमने पूछा है उसका उत्तर सुनो, सूर्य सात गणों में से ही एक हैं तथापि उनमें प्रधान होने से उनकी विशेषता है ॥ ६ ॥ भगवान् विष्णु की जो सर्वशक्तिमयी ऋक् , यजुः, साम नाम की परा शक्ति है वह वेदत्रयी ही सूर्य को ताप प्रदान करती है और (उपासना किये जाने पर) संसार के समस्त पापों को नष्ट कर देती है ॥ ७ ॥ हे द्विज ! जगत् की स्थिति और पालन के लिये वे ऋक् , यजुः और सामरूप विष्णु सूर्य के भीतर निवास करते हैं ॥ ८ ॥ प्रत्येक मास में जो-जो सूर्य होता है उसी-उसी में वह वेदत्रयीरूपिणी विष्णु की परा शक्ति निवास करती है ॥ ९ ॥ पूर्वाह्ण में ऋक् , मध्याह्न में बृहद्रथन्तरादि यजुः तथा सायंकाल में सामश्रुतियाँ सूर्य की स्तुति करती हैं ॥ १० ॥ यह ऋक्‌यजुः—सामस्वरूपिणी वेदत्रयी भगवान् विष्णु का ही अङ्ग है । यह विष्णु-शक्ति सर्वदा आदित्य में रहती है ॥ ११ ॥

न केवलं रवेः शक्तिर्वैष्णवी सा त्रयीमयी ।
ब्रह्माथ पुरुषो रुद्रस्त्रयमेतत्त्रयीमयम् ॥ १२ ॥
सर्गादौ ऋङ्मयो ब्रह्मा स्थितौ विष्णुर्यजुर्मयः ।
रुद्रः साममयोऽन्ताय तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ १३ ॥
एवं सा सात्त्विकी शक्तिर्वैष्णवी या त्रयीमयी ।
आत्मसप्तगणस्थं तं भास्वन्तमधितिष्ठति ॥ १४ ॥
तया चाधिष्ठितः सोऽपि जाज्वलीति स्वरश्मिभिः ।
तमः समस्तजगतां नाशं नयति चाखिलम् ॥ १५ ॥
स्तुवन्ति चैनं मुनयो गन्धर्वैर्गीयते पुरः ।
नृत्यन्त्योऽप्सरसो यान्ति तस्य चाणु निशाचराः ॥ १६ ॥

यह त्रयीमयी वैष्णवी शक्ति केवल सूर्य ही की अभिष्ठात्री हो, सो नहीं; बल्कि ब्रह्मा, विष्णु और महादेव भी त्रयीमय ही हैं ॥ १२ ॥ सर्ग के आदि में ब्रह्मा ऋङ्मय है, उसकी स्थिति के समय विष्णु यजुर्मय है तथा अन्तकाल में रुद्र साममय है। इसीलिये सामगान की ध्वनि अपवित्र मानी गयी है ॥ १३ ॥ इस प्रकार, वह त्रयीमयी सात्त्विकी वैष्णवी शक्ति अपने सप्तगणों में स्थित आदित्य में ही (अतिशयरूप से) अवस्थित होती है ॥ १४ ॥ उससे अधिष्ठित सूर्यदेव भी अपनी प्रखर रश्मियों से अत्यन्त प्रज्वलित होकर संसार के सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट कर देते हैं ॥ १५ ॥

वहन्ति पन्नगा यक्षैः क्रियतेऽभीषुसङ्ग्रहः।
बालखिल्यास्तथैवैनं परिवार्य समासते ॥ १७ ॥

नोदेता नास्तमेता च कदाचिच्छक्तिरूपधृक्।
विष्णुर्विष्णोः पृथक् तस्य गणस्सप्तविधोऽप्ययम् ॥ १८ ॥

स्तम्भस्थदर्पणस्येव योऽयमासन्नतां गतः।
छायादर्शनसंयोगं स तं प्राप्नोत्यथात्मनः ॥ १९ ॥

एवं सा वैष्णवी शक्तिर्नैवापैति ततो द्विज।
मासानुमासं भास्वन्तमध्यास्ते तत्र संस्थितम् ॥ २० ॥

उन सूर्यदेव की मुनिगण स्तुति करते हैं, गन्धर्वगण उनके सम्मुख यशोगान करते हैं, अप्सराएँ नृत्य करती हुई चलती हैं, राक्षस रथ के पीछे रहते हैं, सर्पगण रथका साथ सजाते हैं और यक्ष घोड़ों की बागडोर सँभालते हैं तथा बालखिल्यादि रथ को सब ओर से घेरे रहते हैं ॥ १६-१७ ॥ त्रयीशक्तिरूप भगवान् विष्णु का न कभी उदय होता है और न अस्त (अर्थात् वे स्थायी रूप से सदा विद्यमान रहते हैं) ये सात प्रकार के गण तो उनसे पृथक् हैं ॥ १८ ॥ स्तम्भ में लगे हुए दर्पण के निकट जो कोई जाता है उसी को अपनी छाया दिखायी देने लगती है ॥ १९ ॥ हे द्विज ! इसी प्रकार वह वैष्णवी शक्ति सूर्य के रथ से कभी चलायमान नहीं होती और प्रत्येक मास में पृथक्-पृथक् सूर्य के (परिवर्तित होकर) उसमें स्थित होने पर वह उसकी अधिष्ठात्री होती है ॥ २० ॥

पितृदेवमनुष्यादीन्स सदाप्याययन्प्रभुः।
परिवर्तत्यहोरात्रकारणं सविता द्विज ॥ २१ ॥

सूर्यरश्मिः सुषुम्ना यस्तर्पितस्तेन चन्द्रमाः।
कृष्णपक्षेऽमरैः शश्वत्पीयते वै सुधामयः ॥ २२ ॥

पीतं तं द्विकलं सोमं कृष्णपक्षक्षये द्विज।
पिबन्ति पितरस्तेषां भास्करात्तर्पणं तथा ॥ २३ ॥

हे द्विज ! दिन और रात्रि के कारणस्वरूप भगवान् सूर्य पितृगण, देवगण और मनुष्यादि को सदा तृप्त करते घूमते रहते हैं ॥ २१ ॥ सूर्यकी जो सुषुम्ना नाम की किरण है उससे शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा का पोषण होता है और फिर कृष्णपक्ष में उस

अमृतमय चन्द्रमा की एक-एक कला का देवगण निरन्तर पान करते हैं ॥ २२ ॥ हे द्विज ! कृष्णपक्ष के क्षय होने पर (चतुर्दशी के अनन्तर) दो कलायुक्त चन्द्रमा का पितृ-गण पान करते हैं। इस प्रकार सूर्यद्वारा पितृगण का तर्पण होता है ॥ २३ ॥

आदत्ते रश्मिभिर्यन्तु क्षितिसंस्थं रसं रविः।
तमुत्सृजति भूतानां पुष्ट्यर्थं सस्यवृद्धये ॥ २४ ॥

तेन प्रीणात्यशेषाणि भूतानि भगवान्रविः।
पितृदेवमनुष्यादीनेवमाप्याययत्यसौ ॥ २५ ॥

पक्षतृप्तिं तु देवानां पितॄणां चैव मासिकीम्।
शश्वत्तृप्तिं च मर्त्यानां मैत्रेयार्कः प्रयच्छति ॥ २६ ॥

सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी से जितना जल खींचता है उस सबको प्राणियों की पुष्टि और अन्न की वृद्धि के लिये बरसा देता है ॥ २४ ॥ उससे भगवान् सूर्य समस्त प्राणियों को आनन्दित कर देते हैं और इस प्रकार वे देव, मनुष्य और पितृगण आदि सभी का पोषण करते हैं ॥ २५ ॥ हे मैत्रेय ! इस रीति से सूर्यदेव देवताओंकी पाक्षिक, पितृगण की मासिक तथा मनुष्यों की नित्यप्रति तृप्ति करते रहते हैं ॥ २६ ॥

श्रीपराशर उवाच

श्री विष्णुपुराण में नवग्रहों का वर्णन तथा लोकान्तर-सम्बन्धी व्याख्यान का उपसंहार :

रथस्त्रिचक्रः सोमस्य कुन्दाभास्तस्य वाजिनः।
वामदक्षिणतो युक्ता दश तेन चरत्यसौ ॥ १ ॥

वीथ्याश्रयाणि ऋक्षाणि ध्रुवाधारेण वेगिना।
ह्रासवृद्धिक्रमस्तस्य रश्मीनां सवितुर्यथा ॥ २ ॥

अर्कस्येव हि तस्याश्वाः सकृद्युक्ता वहन्ति ते।
कल्पमेकं मुनिश्रेष्ठ ! वारिगर्भसमुद्भवाः ॥ ३ ॥

क्षीणं पीतं सुरैः सोममाप्याययति दीप्तिमान्।
मैत्रेयैककलं सन्तं रश्मिनैकेन भास्करः ॥ ४ ॥

क्रमेण येन पीतोऽसौ देवैस्तेन निशाकरम्।
आप्याययत्यनुदिनं भास्करो वारितस्करः ॥ ५ ॥

सम्भृतं चार्धमासेन तत्सोमस्थं सुधामृतम्।
पिबन्ति देवा मैत्रेय सुधाहारा यतोऽमराः ॥ ६ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च।
त्रयस्त्रिंशत्तथा देवाः पिबन्ति क्षणदाकरम् ॥ ७ ॥

कलाद्वयावशिष्टस्तु प्रविष्टः सूर्यमण्डलम्।
अमाख्यरश्मौ वसति अमावास्या ततः स्मृता ॥ ८ ॥

अप्सु तस्मिन्नहोरात्रे पूर्वं विशति चन्द्रमाः।
ततो वीरुत्सु वसति प्रयात्यर्कं ततः क्रमात् ॥ ९ ॥

छिनत्ति वीरुधो यस्तु वीरुत्संस्थे निशाकरे।
पत्रं वा पातयत्येकं ब्रह्महत्यां स विन्दति ॥ १० ॥

सोमं पञ्चदशे भागे किञ्चिच्छिष्टे कलात्मके।
अपराह्णे पितृगणा जघन्यं पर्युपासते ॥ ११ ॥

पिबन्ति द्विकलाकारं शिष्टा तस्य कला तु या।
सुधामृतमयी पुण्या तामिन्दोः पितरो मुने ॥ १२ ॥

चन्द्रमा का रथ तीन पहियों वाला है, उसके वाम तथा दक्षिण ओर कुन्द-कुसुम के समान श्वेतवर्ण दश घोड़े जुते हुए हैं। ध्रुव के आधार पर स्थित उस वेगशाली रथ से चन्द्रदेव भ्रमण करते हैं, और नागवीथि पर आश्रित अश्विनी आदि नक्षत्रों का भोग करते हैं। सूर्य के समान इनकी किरणों के भी घटने-बढ़ने का निश्चित क्रम है ॥ १-२ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ! सूर्य के समान समुद्रगर्भ से उत्पन्न हुए उसके घोड़े भी एक बार जोत दिये जाने पर एक कल्पपर्यन्त रथ खींचते रहते हैं ॥ ३ ॥ हे मैत्रेय! सुरगण के पान करते रहने से क्षीण हुए कलामात्र चन्द्रमा का प्रकाशमय सूर्यदेव अपनी एक किरण से पुनः पोषण करते हैं ॥ ४ ॥ जिस क्रम से देवगण चन्द्रमा का पान करते हैं उसी क्रम से जलापहारी सूर्यदेव उन्हें शुक्लपक्ष प्रतिपदा से प्रतिदिन पुष्ट करते हैं ॥ ५ ॥ हे मैत्रेय! इस प्रकार आधे महीने में एकत्रित हुए चन्द्रमा के अमृत को देवगण फिर पीने लगते हैं, क्योंकि देवताओं का आहार तो अमृत ही है ॥ ६ ॥ तैंतीस हजार, तैंतीस सौ, तैंतीस (३३३३३) देवगण चन्द्रस्थ अमृत का पान करते हैं ॥ ७ ॥ जिस समय दो कलामात्र रहा हुआ चन्द्रमा सूर्यमण्डल में प्रवेश करके उसकी अमा नामक किरण में रहता है वह तिथि अमावास्या कहलाती है ॥ ८ ॥ उस दिन रात्रि में वह पहले तो जल में प्रवेश करता है, फिर वृक्ष-लता आदि में निवास करता है और तदनन्तर क्रमसे सूर्य में चला जाता है ॥ ९ ॥ वृक्ष और लता आदि में चन्द्रमा की स्थिति के समय (अमावास्या को) जो उन्हें काटता है अथवा उनका एक पत्ता भी तोड़ता है उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है ॥ १० ॥ केवल पन्द्रहवीं कलारूप यत्किञ्चित् भाग के बच रहने पर उस क्षीण चन्द्रमा को पितृगण मध्याह्नोत्तर काल में चारों ओर से घेर लेते हैं ॥ ११ ॥ हे मुने! उस समय उस द्विकलाकार चन्द्रमा की बची हुई अमृतमयी एक कला का वे पितृगण पान करते हैं ॥ १२ ॥

निस्सृतं तदमावास्यां गभस्तिभ्यः सुधामृतम्।
मासः तृप्तिमवाप्याग्र्यां पितरः सन्ति निर्वृताः।
सौम्या बर्हिषदश्चैव अग्निष्वात्ताश्च ते त्रिधा ॥ १३ ॥

एवं देवान् सिते पक्षे कृष्णपक्षे तथा पितॄन्।
वीरुधश्चामृतमयैः शीतैरप्परमाणुभिः ॥ १४ ॥
वीरुधौषधिनिष्पत्त्या मनुष्यपशुकीटकान्।
आप्याययति शीतांशुः प्राकाश्याह्लादनेन तु ॥ १५ ॥

अमावास्या के दिन चन्द्र-रश्मि से निकले हुए उस सुधामृत का पान करके अत्यन्त तृप्त हुए सौम्य, बर्हिषद् और अग्निष्वात्ता तीन प्रकार के पितृगण एकमासपर्यन्त सन्तुष्ट रहते हैं ॥ १३ ॥ इस प्रकार चन्द्रदेव शुक्लपक्ष में देवताओं की और कृष्णपक्ष में पितृगण की पुष्टि करते हैं तथा अमृतमय शीतल जलकणों से लता-वृक्षादि का और लता-ओषधि आदि उत्पन्न कर तथा अपनी चन्द्रिका द्वारा आह्लादित कर वे मनुष्य, पशु, एवं कीट-पतंगादि सभी प्राणियों का पोषण करते हैं ॥ १४-१५ ॥

वाय्वग्निद्रव्यसम्भूतो रथश्चन्द्रसुतस्य च ।
विशङ्गैस्तुरगैर्युक्तः सोऽष्टाभिर्वायुवेगिभिः ॥ १६ ॥

सवरूथः सानुकर्षो युक्तो भूसम्भवैर्हयैः ।
सोपासङ्गपताकस्तु शुक्रस्यापि रथो महान् ॥ १७ ॥

अष्टाश्वः काञ्चनः श्रीमान्भौमस्यापि रथो महान् ।
पद्मरागारुणैरश्वैः संयुक्तो वह्निसम्भवैः ॥ १८ ॥

अष्टाभिः पाण्डुरैर्युक्तो वाजिभिः काञ्चनोरथः ।
तस्मिंस्तिष्ठति वर्षान्ते राशौ राशौ बृहस्पतिः ॥ १९ ॥

आकाशसम्भवैरश्वैः शबलैः स्यन्दनं युतम् ।
तमारुह्य शनैर्याति मन्दगामी शनैश्वरः ॥ २० ॥

चन्द्रमा के पुत्र- बुध का रथ वायु और अग्नि मय द्रव्य का बना हुआ है और उसमें वायु के समान वेगशाली आठ पिशंगवर्ण घोड़े जुते हैं ॥ १६ ॥ वरूथ, अनुकर्ष, उपासङ्ग और पताका तथा पृथिवी से उत्पन्न हुए घोड़े सहित शुक्र का रथ भी अति महान् है ॥ १७ ॥ तथा मङ्गल का अति शोभायमान सुवर्ण-निर्मित महान् रथ भी अग्नि से उत्पन्न हुए, पद्मराग-मणि के समान, अरुणवर्ण, आठ घोड़े से युक्त है ॥ १८ ॥ जो आठ पाण्डुरवर्ण घोड़ों से युक्त सुवर्ण का रथ है उसमें वर्ष के अन्त में प्रत्येक राशि में वृहस्पति जी विराजमान होते हैं ॥ १९ ॥ आकाश से उत्पन्न हुए विचित्रवर्ण घोड़ों से युक्त रथ में आरुढ़ होकर मन्दगामी शनैश्चरजी धीरेःधीरे चलते हैं ॥ २० ॥

स्वर्भानोस्तुरगा ह्यष्टौ भृङ्गाभा धूसरं रथम् ।
सकृद्युक्तास्तु मैत्रेय वहन्त्यविरतं सदा ॥ २१ ॥

आदित्यान्निस्सृतो राहुः सोमं गच्छति पर्वसु ।
आदित्यमेति सोमाच्च पुनः सौरेषु पर्वसु ॥ २२ ॥

तथा केतुरथस्याश्वा अप्यष्टौ वातरंहसः ।
पलालधूमवर्णाभा लाक्षारसनिभारुणाः ॥ २३ ॥

राहु का रथ धूसर (मटियाले) वर्ण का है उसमें भ्रमर के समान कृष्ण वर्ण आठ घोड़े जुते हुए हैं। हे मैत्रेय ! एक बार जोत दिये जाने पर वे घोड़े निरन्तर चलते रहते हैं ॥ २१ ॥ चन्द्रपर्वो (पूर्णिमा) पर यह राहु सूर्य से निकल कर चन्द्रमा के पास आता है तथा सौरपर्वो (अमावास्या) पर यह चन्द्रमा से निकल कर सूर्य के निकट जाता है

॥ २२ ॥ इसी प्रकार केतु के रथ के वायु वेग शाली आठ घोड़े भी पुआल के धुएँ की सी आभावाले तथा लाख के समान लाल रङ्ग के हैं ॥ २३ ॥

एते मया ग्रहाणां वै तवाख्याता रथा नव।
सर्वे ध्रुवे महाभाग ! प्रबद्धा वायुरश्मिभिः ॥ २४ ॥
ग्रहर्क्षताराधिष्ण्यानि ध्रुवे बद्धान्यशेषतः।
भ्रमन्त्युचित्तचारेण मैत्रेयानिलरश्मिभिः ॥ २५ ॥
यावन्त्यश्चैव तारास्तास्तावन्तो वातरश्मयः।
सर्वे ध्रुवे निबद्धास्ते भ्रमन्तो भ्रामयन्ति तम् ॥ २६ ॥
तैलपीडा यथा चक्रं भ्रमन्तो भ्रामयन्ति वै।
तथा भ्रमन्ति ज्योतींषि वातविद्धानि सर्वशः ॥ २७ ॥
अलातचक्रवद्यान्ति वातचक्रेरितानि तु।
यस्माज्ज्योतींषि वहति प्रवहस्तेन स स्मृतः ॥ २८ ॥

हे महाभाग ! मैंने तुमसे यह नवों ग्रहों के रथों का वर्णन किया; ये सभी वायुमयी डोरी से ध्रुव के साथ बँधे हुए हैं ॥ २४ ॥ हे मैत्रेय ! समस्त ग्रह, नक्षत्र और तारामण्डल वायुमयी रज्जु से ध्रुव के साथ बँधे हुए यथोचित प्रकार से घूमते रहते हैं ॥ २५ ॥ जितने तारागण हैं उतनी ही वायु मयी डोरियां हैं। उनसे बँधकर वे सब स्वयं घूमते तथा ध्रुव को घुमाते रहते हैं ॥ २६ ॥ जिस प्रकार तेली लोग स्वयं घूमते हुए कोल्हू को भी घुमाते रहते हैं उसी प्रकार समस्त ग्रहगण वायु से बँध कर घूमते रहते हैं ॥ २७ ॥ क्योंकि इस वायुचक्र से प्रेरित होकर समस्त ग्रहगण अलातचक्र (बनैती) के समान घूमा करते हैं, इसलिये यह 'प्रवह' कहलाता है ॥ २८ ॥

शिशुमारस्तु यः प्रोक्तः स ध्रुवो यत्र तिष्ठति।
सन्निवेशं च तस्यापि शृणुष्व मुनिसत्तम ॥ २९ ॥
यदह्ना कुरुते पापं तं दृष्ट्वा निशि मुच्यते।
यावन्त्यश्चैव तारास्ताः शिशुमाराश्रिता दिवि।
तावन्त्येव तु वर्षाणि जीवत्यभ्यधिकानि च ॥ ३० ॥
उत्तानपादस्तस्याधो विज्ञेयो ह्युत्तरो हनुः।
यज्ञोऽधरश्च विज्ञेयो धर्मो मूर्द्धानमाश्रितः ॥ ३१ ॥
हृदि नारायणश्चास्ते अश्विनौ पूर्वपादयोः।
वरुणश्चार्यमा चैव पश्चिमे तस्य सक्थिनी ॥ ३२ ॥
शिश्नः संवत्सरस्तस्य मित्रोऽपानं समाश्रितः ॥ ३३ ॥
पुच्छेऽग्निश्च महेन्द्रश्च कश्यपोऽथ ततो ध्रुवः।
तारका शिशुमारस्य नास्तमेति चतुष्टयम् ॥ ३४ ॥
इत्येष सन्निवेशोऽयं पृथिव्या ज्योतिषां तथा।
द्वीपानामुदधीनां च पर्वतानां च कीर्तितः ॥ ३५ ॥
वर्षाणां च नदीनां च ये च तेषु वसन्ति वै।
तेषां स्वरूपमाख्यातं संक्षेपः श्रूयतां पुनः ॥ ३६ ॥

जिस शिशुमार चक्र का पहले वर्णन कर चुके हैं, तथा जहाँ ध्रुव स्थित है, हे मुनिश्रेष्ठ ! अब तुम उसकी स्थिति का वर्णन सुनो ॥ २९ ॥ रात्रि के समय उनका दर्शन करने से मनुष्य दिन में जो कुछ पापकर्म करता है उनसे मुक्त हो जाता है तथा आकाशमण्डल में जितने तारे इसके अश्रित हैं उतने ही अधिक वर्ष वह जीवित रहता है ॥ ३० ॥ उत्तानपाद उसकी ऊपर की हनु (ठोड़ी) हैं और यज्ञ नीचे की तथा धर्म ने उसके मस्तक पर अधिकार कर रखा है ॥ ३१ ॥ उसके हृदय-देश में नारायण हैं, दोनों चरणों में अश्विनीकुमार हैं तथा जंघाओं में वरुण और अर्यमा हैं ॥ ३२ ॥ संवत्सर उसका शिश्न हैं, मित्र ने उसके अपान-देश को आश्रित कर रखा है, तथा अग्नि, महेन्द्र, कश्यप और ध्रुव पुच्छभाग में स्थित हैं । शिशुमारके पुच्छभाग में स्थित ये अग्नि आदि चार तारे कभी अस्त नहीं होते ॥ ३३-३४ ॥ इस प्रकार मैंने तुम से पृथिवी, ग्रहगण, द्वीप, समुद्र, पर्वत, वर्ष और नदियों का तथा जो-जो उनमें बसते हैं उन सभी के स्वरूप का वर्णन कर दिया । अब इसे संक्षेप से फिर सुनो ॥ ३५-३६ ॥

यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरा ।
पद्माकारा समुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता ॥ ३७ ॥

ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु-
र्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च ।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं
यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य ॥ ३८ ॥

ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसा-
वशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदा-
ञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥ ३९ ॥

यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्वं
कर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम् ।
तदा हि सङ्कल्पतरोः फलानि
भवन्ति नो वस्तुषु वस्तु भेदाः ॥ ४० ॥

हे विप्र ! भगवान् विष्णु का जो मूर्तरूप जल है उससे पर्वत और समुद्रादि के सहित कमल के समान आकार वाली पृथिवी उत्पन्न हुई ॥ ३७ ॥ हे विप्रवर्य ! तारागण, त्रिभुवन, वन, पर्वत, दिशाएँ, नदियाँ और समुद्र सभी भगवान् विष्णु ही हैं तथा और भी जो कुछ है अथवा नहीं है वह सब भी एकमात्र वे ही हैं ॥ ३८ ॥ क्योंकि भगवान् विष्णु ज्ञानस्वरूप हैं इसलिये वे सर्वमय हैं, परिच्छिन्न पदार्थाकार नहीं हैं । अतः इन पर्वत, समुद्र और पृथिवी आदि भेदों को तुम एकमात्र विज्ञान का ही विलास जानो ॥३९॥ जिस समय जीव आत्मज्ञान के द्वारा दोषरहित होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने से अपने शुद्ध-स्वरूप में स्थित हो जाता है उस समय आत्मवस्तु में संकल्प वृक्ष के फलरूप पदार्थ-भेदों की प्रतीति नहीं होती ॥ ४० ॥

वस्त्वस्ति किं कुत्रचिदादिमध्य-
पर्यन्तहीनं सततैकरूपम् ।
यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूयो
न तत्तथा तत्र कुतो हि तत्त्वम् ॥ ४१ ॥

मही घटत्वं घटतः कपालिका
कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः ।
जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयै-
रालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु ॥ ४२ ॥

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चि-
त्क्वचित्कदाचिद्द्विज ! वस्तुजातम् ।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेद-
विभिन्नचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम् ॥ ४३ ॥

ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोक-
मशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ।
एकं सदैकं परमः परेशः
स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥ ४४ ॥

हे द्विज ! कोई भी घटादि वस्तु है ही कहाँ ? आदि, मध्य और अन्त से रहित नित्य एक रूप चित् ही तो सर्वत्र व्याप्त है। जो वस्तु पुनः-पुनः बदलती रहती है, पूर्ववत् नहीं रहती, उसमें वास्तविकता ही क्या है ? ॥४१॥ देखो, मृत्तिका ही घटरूप हो जाती है और फिर वही घट से कपाल, कपाल से चूर्ण रज और रज से अणुरूप हो जाती है। तो फिर बताओ अपने कर्मों के वशीभूत हुए मनुष्य आत्मस्वरूप को भूल कर इसमें कौन-सी सत्य वस्तु देखते हैं ॥ ४२ ॥ अतः हे द्विज ! विज्ञान से अतिरिक्त कभी कहीं कोई पदार्थादि नहीं हैं। अपने-अपने कर्मों के भेद से भिन्न-भिन्न चित्तों द्वारा एक ही विज्ञान नाना प्रकार से मान लिया गया है ॥ ४३ ॥ वह विज्ञान अति विशुद्ध, निर्मल, निःशोक और लोभादि समस्त दोषों से रहित है। वही एक सत्स्वरूप परम परमेश्वर वासुदेव है, जिससे पृथक् और कोई पदार्थ नहीं है ॥ ४४ ॥

सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो
ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत् ।
एतत्तु यत्संव्यवहारभूतं
तत्रापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते ॥ ४५ ॥

यज्ञः पशुर्वह्निरशेषऋत्वि-
क्सोमः सुराः स्वर्गमयश्च कामः ।
इत्यादिकर्माश्रितमार्गदृष्टं
भूरादिभोगाश्च फलानि तेषाम् ॥ ४६ ॥

यच्चैतद्भुवनगतं मया तवोक्तं
सर्वत्र व्रजति हि तत्र कर्मवश्यः ।
ज्ञात्वैवं ध्रुवमचलं सदैकरूपं
तत्कुर्याद्विशति हि येन वासुदेवम् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार, मैंने तुमसे यह परमार्थ का वर्णन किया है, केवल एक ज्ञान ही सत्य है, उससे भिन्न और सब असत्य है। इसके अतिरिक्त जो केवल व्यवहारमात्र है उस त्रिभुवन के विषय में भी मैं तुमसे कह चुका ॥ ४५ ॥ [इस ज्ञान-मार्ग के अतिरिक्त] मैंने कर्म-मार्ग-सम्बन्धी यज्ञ, पशु, वह्नि, समस्त ऋत्विक्, सोम, सुरगण, तथा स्वर्गमय कामना आदि का भी दिग्दर्शन करा दिया। भूर्लोकादि के सम्पूर्ण भोग इन कर्म-कलापों के ही फल हैं ॥ ४६ ॥ यह जो मैंने तुमसे त्रिभुवनगत लोकों का वर्णन किया है इन्हीं में जीव कर्मवश घूमा करता है ऐसा जानकर इससे विरक्त हो मनुष्य को वही करना चाहिये जिससे ध्रुव, अचल एवं सदा एक रूप भगवान् वासुदेव में लीन हो जाय ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेय महापुराण का "वंशानुकीर्त्तनवर्णनम्" नामक १०१वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥



द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

तस्मादण्डाद्विभिन्ना तु ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।
ऋचो बभूवुः प्रथमं प्रथाद्वदनान्मुने ॥१॥
जपापुष्पनिभाः सद्यस्तेजो रूपान्तसंहताः ।
पृथक् पृथग्विभिन्नाश्च रजो रूपवहास्ततः ॥२॥
यजूंषि दक्षिणाद्वक्त्रादनिरुद्धानि काञ्चनम् ।
यादृग्वर्णन्तथावर्णान्यसंहति - धराणि च ॥३॥
पश्चिमं यद्विभोर्वक्त्रं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
आविर्भूतानि सामानि ततश्छन्दांसि तान्यथ ॥४॥
अथर्वाणमशेषञ्च भृङ्गाञ्जनचयप्रभम् ।
यावद्घोरस्वरूपन्तदाभिचारिकशान्तिकम् ॥५॥
उत्तरात् प्रकटीभूतं वदनात्तस्य वेधसः ।
सुखसत्त्वतमः प्रायं सौम्यासौम्यस्वरूपवत् ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

उस अण्डे के फटने पर उस अण्ड के मध्य में अवस्थित अव्यक्त-जन्मा ब्रह्मा के प्रथम मुख से जपापुष्प के समान (रक्त वर्ण उडहुल के समान) तेजोमयी रजःस्वरूप धारण किये हुए, ऋचायें सद्यः प्रकाशित हुई, यद्यपि वे परस्पर भिन्न थी, तथापि अन्ततः एकरूप में सुसङ्गता थी ॥१-२॥

उस ब्रह्मा के दक्षिण मुख से काञ्चन वर्ण के समान वर्णवाली परस्पर संहति रहित अर्थात् एक दूसरे से न मिलने वाली धारा प्रवाह रूप में अर्थात् अनिरुद्धभाव में यजुर्वेद की ऋचाएँ अभिव्यक्त होने लगी ॥३॥

अनन्तर परमेष्ठी ब्रह्मा के पश्चिम दिशावाला जो मुख था, उससे सभी सामवेद आविर्भूत हुए जो छन्दोमय थे, अर्थात् गीत्यात्मक थे ॥४॥

इसके बाद ब्रह्मा के उत्तर मुख से भ्रमर और कज्जल सदृशकृष्णकान्ति विशिष्ट मारण उच्चाटनाआदि आभिचारिक और शान्तिकारक घोर स्वरूप सुख, सत्त्व और तमः प्रधान सौम्य और असौम्य स्वरूप अशेष अथर्ववेद प्रकट हुए ॥५-६॥

ऋचो रजोगुणाः सत्त्वं यजुषाञ्च गुणा मुने ! ।
तमोगुणानि सामानि तमः सत्त्वमथर्वसु ॥७॥
एतानि ज्वलमानानि तेजसाऽप्रतिमेन वै ।
पृथक् पृथगवस्थानं भाञ्जि पूर्वमिवाभवन् ॥८॥
ततस्तदाद्यं यत् तेज ओमित्युक्त्वाभिशब्दयते ।
तस्य स्वभावाद्यत्तेजस्तत् समावृत्य संस्थितम् ॥९॥
यथा यजुर्मयं तेजस्तद्वत् साम्नां महामुने ! ।
एकत्वमुपयातानि परे तेजसि संश्रये ॥१०॥
शान्तिकं पौष्टिकञ्चैव तथा चैवाभिचारिकम् ।
ऋगादिषु लयं ब्रह्मन् त्रितयं त्रिष्वथागमत् ॥११॥
ततो विश्वमिदं सद्यस्तमोनाशात् सुनिर्मलम् ।
विभावनीयं विप्रर्षे तिर्यगूर्द्ध्वमधस्तथा ॥१२॥
ततस्तन्मण्डलीभूतं छान्दसं तेज उत्तमम् ।
परेण तेजसा ब्रह्मन्नेकत्वमुपयाति तत् ॥१३॥

हे मुने ! सभी ऋचायें रजोगुण से समन्वित है, सभी यजुः सत्त्वगुणान्वित हैं, सभी साम तमोगुणान्वित हैं, और सम्पूर्ण अथर्व सत्त्व और तमोगुणान्वित हैं ॥७॥

ये सभी अप्रतिम अतुलनीय तेज से दे दीप्यमान होकर पूर्ववत् पहिले ही की तरह पृथक्-पृथक् रूप से अवस्थित हो गये ॥८॥

इसके वह आद्य तेज जो 'ॐ' शब्द से कहा जाता है, उसके स्वभाव से उत्पन्न तेज को सम्यक् आवरण कर अवस्थित हो गया ॥९॥

हे महामुने ! इसी प्रकार वह साममय दीप्ति और यजुर्मय दीप्ति को भी आवृत किया, और सभी तेजो राशि "ॐङ्कार" स्वरूप परम मूल तेज का आश्रयण कर एक अखण्ड स्वरूप हो गये ॥१०॥

हे ब्रह्मन् ! इसके बाद ऋक् आदि तीनों वेद में शान्तिक, पौष्टिक एवं आभिचारिक ये त्रिविध अथर्ववेद भी लीन हो गये ॥ ११ ॥

हे विप्रर्षे ! अनन्तर अन्धकार का नाश हो जाने पर यह विश्व उसी क्षण में सुनिर्मल हो गया, और उससे ऊद्र्ध्व, नीचे और दोनों पार्श्वभाग प्रकाशित हो गये ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मन् ! अनन्तर वह वैदिक अर्थात् छान्दस उत्तम तेज मण्डलाकार होकर श्रेष्ठ परमतेज ऊङ्कार के साथ एकाकार हो गये ॥ १३ ॥

आदित्यसञ्ज्ञामगमदादावेव यतोऽभवत् ।
विश्वस्यास्य महाभाग ! कारणञ्चाव्ययात्मकम् ।।१४।
प्रातर्मध्यन्दिने चैव तथा चैवापराह्णिके ! ।
त्रयी तपति साकाले ऋग्यजुः सामसञ्ज्ञिता ।।१५।
ऋचस्तपन्ति पूर्वाह्णे मध्याह्ने च यजूंषि वै ।
सामानि चापराह्णे वै तपन्ति मुनिसत्तम ! ।।१६।
शान्तिकं ऋक्षु पूर्वाह्णे यजुःष्वन्तरपौष्टिकम् ।
विन्यस्तं साम्नि सायाह्ने आभिचारिकमन्ततः ।।१७।
मध्यन्दिनेऽपराह्णे च स मे चैवाभिचारिकम् ।
अपराह्णे पितृणान्तु साम्ना कार्य्याणि तानि वै ।।१८।
विसृष्टौ ऋङ्मयो ब्रह्मा स्थितो विष्णुर्यजुर्मयः ।
रुद्रः साममयोऽन्ते च तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ।।१९।
तदेवं भगवान् भास्वान् वेदात्मावेदसंस्थितः ।
वेदविद्यात्मकश्चैव परः पुरुष उच्यते ।।२०।

हे महाभाग ! इस प्रकार यह तेज आदि में अर्थात् प्रथम में उत्पन्न होने के कारण आदित्य नाम से अभिहित हुआ, यही इस विश्व का अव्ययात्मक कारण है ।। १४ ।।

ऋक्, यजुः और साम नाम की ये त्रयी ही प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल में ताप अर्थात् दीप्ति प्रदान करते हैं ।। १५ ।।

हे मुनिश्रेष्ठ ! उन तीनों में प्रातः सभी ऋचाएँ, मध्याह्न में यजुः और सायंकाल में सभी साम ताप प्रदान करते हैं, पूर्वाह्न में ऋक्मन्त्रों मेंचाओं शान्तिकर्म, मध्याह्न में सभी यजु मन्त्रों में पुष्टि सम्बन्धी, एवं सायाह्न में साममंत्रों में आभिचारिक कर्मों का सम्पादन किया करते हैं ।। १६-१७ ।।

मध्याह्न और सायाह्न दोनों समयों में ही आभिचारिक कार्य करें एवं अपराह्न में ही साम के द्वारा पितृगणों के कार्यों को करना चाहिए ।। १८ ।।

सृष्टि के समय में ब्रह्मा ऋङ्मय स्थिति के समय विष्णु यजुर्मय एवं अन्त अर्थात् संहार काल में रुद्र साममय रूप में कहे जाते हैं, इसीलिए सायंकाल को अशुचि (अपवित्र) कहा जाता है ।।१९।।

इस तरह वेदात्मा, वेद संस्थित और वेद विद्यामय भगवान् भास्वान् (भास्कर) परम पुरुष कहे जाते हैं ।।२०।।

स्वर्गस्थित्यन्तहेतुश्च रजः सत्त्वादिकान् गुणान् ।
आश्रित्य ब्रह्मविष्ण्वादिसञ्ज्ञामभ्येति शाश्वतः ॥२१॥

देवैः सदेड्यः स तु वेदमूर्त्तिरमूर्त्तिराद्योऽखिलमर्त्यमूर्तिः ।
विश्वाश्रयं ज्योतिरवेद्यधर्म्मा वेदान्तगम्यः परमः परेभ्यः[1] ॥२२॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे मार्त्तण्डमाहात्म्यवर्णनं नाम
द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

सृष्टि स्थिति और प्रलय को करने वाले ये शाश्वत आदित्य सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण का आश्रयण कर ब्रह्मा, विष्णु और शिव संज्ञा को प्राप्त करते हैं ॥२१॥

सदा देवों से पूज्य वह देव (दीप्ति मूर्ति) निराकार अशेष प्राणियों की मूर्ति के स्वरूप में मूर्तिमान् दीप्ति स्वरूप आदि पुरुष वह भगवान् आदित्य विश्व का आश्रय स्वरूप अवेद्यधर्मा, वेदान्तैकगम्य एवं श्रेष्ठों में परम श्रेष्ठ है ॥२२॥



---

१. 'परेशः' पुस्तकान्तर पाठ है ।

पर्यालोचन

सृष्टि-प्रक्रिया

वेद के मन्त्र कर्मकाण्ड के विषयों से ही परिपूर्ण हैं। इनमें दार्शनिक तत्त्वों की आलोचना नहीं है। दार्शनिक विषयों का मूलाधार उपनिषद् ही है, यह सामान्य धारणा है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से मन्त्रों का परीक्षण करने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि सभी दर्शनों की आधारभूमि संहिता-मन्त्र ही हैं। सृष्टि-प्रक्रिया एवं न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों का बीज वेदमन्त्रों में ही मिल जाता है। वेद के परवर्ती आचार्य गौतम, कपिल, कणाद आदि ने वेद-प्रदर्शित मोक्षमार्ग का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं, उपनिषद्-भाग में उपलब्ध विद्याओं का मूलाधार भी वेद के मन्त्रभाग ही हैं। वेद मन्त्र और ब्राह्मण-भाग में विभक्त है। वेद के मन्त्रभाग की व्याख्या ही ब्राह्मण-भाग है। मन्त्र शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य जैमिनि ने कहा है: **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या।** (जै० सू०, २।१।३२) इस सूत्र के भाष्य में शबरस्वामी ने मन्त्र के अनेक लक्षणों का प्रतिपादन किया है और उपसंहार में कहा है कि वेद-सम्प्रदाय के रक्षक 'अभियुक्त' वेद के जिन अंशों को मन्त्र कहकर व्यवहार में लाते हैं, अर्थात् मन्त्र कहकर अध्ययन-अध्यापन करते हैं, वे ही मन्त्र हैं। शब्दों के अर्थ-निर्णय में शिष्टों का व्यवहार ही प्रमाण है। वैदिक, जिनमें मन्त्र-व्यवहार करते हैं, वे ही मन्त्र शब्द के अर्थ हैं। भारतीयेतर व्यक्ति मन्त्र के निर्णायक कभी नहीं हो सकते। वेद के मन्त्रभागों में ही मन्त्र शब्द का पुनः-पुनः प्रयोग मिलता है। जैसे: **मन्त्रं मनसा वनोषि तम्** (ऋ० सं०, १।२।३४।१३); **मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्** (१।३।२०।५); **मन्त्रं वोचेमाग्नये** (ऋ० सं० १।५।२।१।१) इत्यादि। इस प्रकार, वेद के मन्त्रभाग में ही मन्त्र शब्द का उल्लेख मिलता है।

वेद के मन्त्र ऋक्-मन्त्र, यजुः-मन्त्र और साम-मन्त्र के भेद से तीन प्रकार के हैं। वेद में ईश्वर की अनेक प्रकार से उपासना प्रतिपादित की गई है। ईश्वर की, सभी प्राणियों के पिता, पुत्र, ज्येष्ठ और कनिष्ठ भ्राता के रूप में उपासना की गई है। जगत् के स्रष्टा एवं प्रलयकर्त्ता के रूप में एक ईश्वर की कल्पना की गई है—विश्वकर्मा परमेश्वर प्रलय की स्थिति में पृथ्वी आदि सात भुवनों का, अग्नि में आहुति के प्रक्षेप के समान अपनी आत्मा में उपसंहार करता है। हमारे जनक सर्वज्ञ परमेश्वर प्रलय के समय सभी भुवनों का उपसंहार कर संहारकर्त्ता के रूप में एकाकी रह जाता है। इस मन्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्त का विवेचन **आत्मा वा इदमग्र आसीत्, सदेव सोम्येदमग्र आसीत्** इत्यादि वाक्यों के द्वारा उपनिषद् में किया गया है।

इस मन्त्र की भिन्न रूप में भी व्याख्या मिलती है; सातों भुवनों का संहार करके अवस्थित वह परमेश्वर **बहु स्यां प्रजायेय** इस प्रकार की जगत्-सिसृक्षा और भोगाभिलाषा से अपने प्राथमिक निष्प्रपंच रूप को आच्छादित कर अपने द्वारा सृष्ट सभी प्राणियों के हृदय में जीव-स्वरूप में प्रविष्ट होता है। **स तपोऽतप्यत; स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत; तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** इत्यादि उपनिषद्-वाक्य उक्त विषय को

ही आधार मानकर कहे गये हैं। उक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है कि जो परमेश्वर संसार का संहार करनेवाला है, वही सृष्टिकर्त्ता भी है। वही प्राणियों के हृदय में जीव-रूप में प्रकाशमान है एवं वह ईश्वर एक ही है। न्यायभाष्यकार ने भी ईश्वर को पिता कहा है।

अन्य ऋक्-मन्त्रों में जगत् की सृष्टि दुर्विज्ञेय कही गई है। इस भौतिक सृष्टि का कौन उपादानकारण है और कौन निमित्तकारण, इस विषय में कौन व्यक्ति क्या कह सकता है ? मन्त्र में 'कुतः' शब्द का दो बार प्रयोग होने से उपादानकारण और निमित्तकारण की सूचना मिलती है। अतः, वेद में दो कारणों को ही स्वीकार किया गया है। यदि यह कहा जाय कि देवता जानते हैं, वे ही इन दो कारणों का प्रकाशन कर सकते हैं; क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, इसके उत्तर में यही कहना है कि जगत् की सृष्टि के बाद ही देवताओं की सृष्टि हुई है, कारण, भूत-भौतिक-निर्माण के बाद ही देवता की सृष्टि होने से देव-पूर्व सृष्टि का ज्ञान देवता को कैसे हो सकता है ? अतः, देवता या मनुष्य कोई भी नहीं जानता की समग्र संसार की सृष्टि किस कारण से होती है। इस मन्त्र का निर्देश **'दृश्यते तु'** (ब्र० सू०, २।३।८) इस ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में भी किया गया है।

उक्त मन्त्र के द्वारा जगत् की सृष्टि दुर्विज्ञेय कही गई है और इसी के आधार पर मीमांसकों ने यह निर्णय किया कि जगत् की सृष्टि किस कारण-विशेष से हुई है, यह सिद्ध नहीं हो सकता। यह जगत् वर्त्तमान के समान ही अतीत में भी था **(न कदाचिदनीदृशं जगत्)**। पूर्व में जगत् प्रलीन था और बाद में कारण-विशेष से जगत् की सृष्टि हुई है, यह बात नहीं है। मीमांसक, ईश्वर के द्वारा जगत् की सृष्टि नहीं मानते हैं। जगन्मात्र की सृष्टि को ही दुर्विज्ञेय नहीं कहा गया है, वरन् जगत् के धारयिता को भी दुर्विज्ञेय कहा गया है। जिस उपादान से जगत् की सृष्टि हुई है, उस उपादान-कारणभूत परमात्मा को दुर्विज्ञेय मानने के कारण ही सांख्याचार्यों ने प्रकृति को जगत् की सृष्टि का कारण माना है और नैयायिकों ने परमाणु को।

यह प्रश्न जटिल-सा प्रतीत होता है कि जगत् का उपादान क्या होगा ? अद्वितीय परमेश्वर के द्वारा अधिष्ठान और उपादान के बिना सृष्टि ही नहीं हो सकती। लोक-दृष्टि के अनुसार, परमेश्वर की सृष्टि में आक्षेप-प्रदर्शन कर कुम्भकार के समान ईश्वर भी जगत् की सृष्टि में निमित्तकारण है, यह प्रतिपादन किया गया है। घट निर्माण करने की इच्छा करता हुआ कुम्भकार अपनी कर्मशाला में घट के आरम्भक मृत्तिका-द्रव्य से दण्ड-चक्र आदि उपकरणों की सहायता लेकर घट का निर्माण करता है, वैसे ही ईश्वर भी जगत् का निर्माण करता होगा। किन्तु जगत् की सृष्टि में यह साम्य नहीं है। कारण, प्रलयकाल में ईश्वर के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं रह जाती, अतः किस आधार पर और किन कारणों से जगत् की सृष्टि करेगा ? किन्तु परमेश्वर की सृष्टि में कोई अधिष्ठान और कोई आरम्भक द्रव्य अवश्य ही है, इसी का निर्णय ऋग्वेद के निम्नांकित मन्त्र में किया गया है :

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणम्
कतमत् स्वित् कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा
विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥
(ऋ० सं०, ८।३।१६।२; तै० सं०, ४।६।२।४)

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सत् या असत् कुछ भी द्युलोक आदि का उपादान नहीं हो सकता। यद्यपि सर्वद्रष्टा विश्वकर्मा परमेश्वर अपनी महिमा से द्युलोक और भूलोक की सृष्टि करता है, तथापि परमेश्वर की सृष्टि में अधिष्ठान और आरम्भण की अवश्य ही अपेक्षा होगी। वह आरम्भण क्या है? ईश्वर की सृष्टि में उसका अधिष्ठान और सृष्ट वस्तु का उपादान क्या है?

'शिवमहिम्नःस्तोत्र' के निम्नांकित श्लोकार्द्ध में इसी सन्दर्भ की ओर संकेत किया गया है :

किमीहः किं कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।

उपर्युद्धृत ऋक्-मंत्र के बाद ही ऋक्संहिता के कतिपय अन्य मन्त्रों में भी इसका समाधान प्रदर्शित किया गया है: ईश्वर सर्वात्मक है एवं कुम्भकार आदि से विलक्षण है। उसे अधिष्ठान आदि की अपेक्षा नहीं है। ऋक्संहिता के ८।३।१६।३ मन्त्र में, परमेश्वर के द्वारा निर्मित जगत् की सृष्टि में अधिष्ठान क्या है और उपादान क्या है, इन दो प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। जगत् का स्रष्टा परमेश्वर सर्वात्मक है, अतः वह अधिष्ठान और उपादान की अपेक्षा के बिना ही जगत् की सृष्टि करने में समर्थ है। परमेश्वर सर्वतः व्यासचक्षु, विश्वतोमुख एवं विश्वतस्पात् है। इस तरह का भगवान् अपने में ही तीनों लोकों की सृष्टि करता है। किस प्रकार सृष्टि करता है, इस प्रश्न के उत्तर में मन्त्र में कहा गया है कि दोनों बाहुओं के द्वारा द्युलोक को और गमनशील चरणों के द्वारा पृथ्वी को अच्छी तरह प्रेरित करता है। ईश्वर के द्वारा निर्मित चतुर्दश-भुवनात्मक जगत् में द्युलोक की प्रधानता के कारण श्रुति में इन्हीं दो लोकों का निर्देश किया जाता है। द्युलोक-भूलोक का उत्पादन कर स्वप्रकाशदेव परमेश्वर एक असहाय रूप में अवस्थित होता है। भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में भी कहा है :

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिसमन्वितम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(गीता, १३।१४)

आचार्य उदयन ने 'न्यायकुसुमांजलि' के पंचम स्तवक में, तृतीया कारिका की व्याख्या में इस मन्त्र को उद्धृत किया है। 'मुक्तावली' के मंगल-श्लोक में भी इस मन्त्र का चौथा पाद उद्धृत किया गया है। इस मन्त्र के उद्धार से ही ऋग्वेद के साथ न्याय की सृष्टि-प्रक्रिया का समर्थन प्रदर्शित होता है। आचार्य उदयन ने कहा है, इस मन्त्र में परमेश्वर के छह विशेषण दिये गये हैं। प्रथम विशेषण के द्वारा ईश्वर को सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा कहा गया है। 'विश्वतश्चक्षुः' के द्वारा ही हमलोगों को प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, हमलोगों की आँख सर्वतोव्याप्त नहीं है, इसलिए हमलोग अल्पज्ञ हैं और ईश्वर 'सर्वतो व्याप्तचक्षु' होने से उसे सर्वविषयक प्रत्यक्षज्ञान है। ईश्वर का सर्वविषयक प्रत्यक्षज्ञान नित्य है, वह इन्द्रियजन्य नहीं है। 'पश्यत्यचक्षुः' इस पद के द्वारा यही कहा गया है। यदि कोई 'सर्वतो व्याप्तचक्षुः' होगा, तो अवश्य ही उसे सर्वविषयक प्रत्यक्षज्ञान होगा। ईश्वर को भी सर्वविषयक प्रत्यक्षज्ञान है, इसलिए इसको 'विश्वतश्चक्षुः' कहा गया है। अनित्य चाक्षुष ज्ञान की उत्पत्ति में चक्षु की अपेक्षा होने पर भी ईश्वर का प्रत्यक्षज्ञान नित्य होने से उसके लिए चक्षु की अपेक्षा नहीं होती। यही कारण है कि **चक्षुषा दृष्टेरुपलक्षणात्** यह कहा गया है। चक्षु शब्द का प्रयोग, ईश्वर को चक्षु है, यह सूचित करने के लिए नहीं; वरन् उसको सर्वविषयक अपरोक्ष ज्ञान है, इसी सूचना के लिए ही किया गया है।

'विश्वतोमुखः' इस द्वितीय विशेषण के द्वारा परमेश्वर के सर्वकर्त्तृत्व का प्रदर्शन होता है। प्राणिमात्र के हितों का अनुशासनकर्त्ता परमेश्वर ही है। हित के उपदेष्टृत्व के समर्थन के लिए ही मन्त्र सर्वज्ञत्व का प्रदर्शन किया गया है। आचार्य उदयन ने तृतीय स्तवक की अट्ठारहवीं कारिका में परमात्मा के उपदेष्टृत्व-रूप सर्ववक्तृत्व का समर्थन किया है। पतंजलसूत्र में भी परमेश्वर को आदि उपदेष्टा कहा गया है। **(पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्, पा० सू०, १।२६)** इसलिए, उदयनाचार्य ने कहा है कि **मुखेन वागुपलक्षणात्**।

'विश्वतोबाहुः' इस तृतीय विशेषण के द्वारा ईश्वर को सभी कार्यों का सहकारी कारण व्यक्त किया गया है। यही कारण है कि ईश्वर को सर्वकर्त्ता कहा गया है। साधारणतया हाथ के द्वारा ही लोग कार्य करते हैं। ईश्वर सभी कार्यों का साधारण कारण है, इसीलिए उसको 'विश्वतोबाहुः' कहा गया है। केवल ईश्वर को हाथ है, इसकी सूचना के लिए 'विश्वतोबाहुः' नहीं कहा गया है। 'अपाणिपादः', 'अशरीरी' इत्यादि विशेषण ईश्वर के लिए दिये गये हैं। इसीलिए, बाहुना सहकारित्वोपलक्षणात् यह आचार्य ने कहा है।

'विश्वतस्पात्' इस चतुर्थ विशेषण के द्वारा ईश्वर का सर्वव्यापकत्व घोषित किया गया है। सर्वगत द्रव्य को ही विभुद्रव्य या सर्वव्यापक द्रव्य कहा गया है। संसार में गमन चरणसाध्य होने से ईश्वर को सर्वगतत्वसाधारण के लिए 'विश्वतस्पात्' कहा गया है। ईश्वर को चरण है, यह प्रतिपादन के लिए उक्त विशेषण नहीं कहा गया है। इसलिए, आचार्य उदयन ने 'पदा व्याप्तेरूपलक्षणात्' यह कहा है।

'सं बाहुभ्यां धमति' इस पंचम विशेषण में बाहु शब्द के द्वारा धर्म और अधर्म इन दो प्रधान कारणों को निर्देश किया गया है। धर्म और अधर्म सभी कार्यों का बीजभूत है। धर्म और अधर्म का वाहु शब्द के द्वारा श्रुति में क्यों निर्देश हुआ है, इस प्रश्न के उत्तर में उदयन ने कहा है : 'तौ हि लोकयात्रावहनाद् बाहू'। लोकयात्रा शब्द का अर्थ लोक व्यवहार होता है।

'सः पतत्रेः' इस षष्ठ विशेषग के द्वारा परमाणु-रूप आरम्भक द्रव्य का निर्देश किया गया है। सर्वज्ञ ईश्वर अधिष्ठाता है एवं धर्माधर्मरूप अदृष्ट और परमाणु-समूह उसका अधिष्ठेय है। अचेतन, अदृष्ट ईश्वरकर्त्तृक परमाणु आदि चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य का जनक होता है। चेतन के द्वारा अधिष्ठित हुए बिना अचेतन जड पदार्थ कार्य का जनक नहीं हो सकता। लोक में भी चेतन कुम्भकार आदि से अनधिष्ठित अचेतन दण्ड-चक्र आदि घटादि कार्य के जनक नहीं होते। इसी प्रकार, अचेतन आरम्भक परमाणु ईश्वराधिष्ठित होकर ही कार्य का जनक होता है। अदृष्ट परमाणु आदि में परमाणु ही प्रधान कारण है, परमाणु ही आरम्भक द्रव्य या समवायिकरण है। समवायिकरण प्रधान होता है एवं असमवायिकरण और निमित्तकारण अप्रधान होता है। श्रुति में 'पतत्र' शब्द के द्वारा प्रधान, अर्थात् परमाणु का ही निर्देश किया गया है। मन्त्र में 'सन्धमति' शब्द का अर्थ 'संयोजयति' होता है। परमात्मा के धर्म और अधर्म-स्वरूप दो हाथों के द्वारा परमाणुओं का संयोग किया जाता है। धर्म और अधर्म के आधार पर आरम्भक परमाणुओं में क्रिया उत्पादन कर संयुक्त करते हैं। संयुक्त परमाणु द्वय से द्व्यणुक उत्पन्न होता है और तीन द्व्यणुक से त्र्यणुक उत्पन्न होता है। इसी प्रकार, परमाणु से महद्द्रव्य उत्पन्न होता है। आचार्य उदयन ने इसी ऋग्वेद के मन्त्र के आधारं पर परमाणुकारणवाद का समर्थन किया है। इस प्रकार, आरम्भवाद की वेदमूलकता सिद्ध होती है। इसी मन्त्र के आधार पर आचार्य उदयन ने ईश्वर को श्रुति सिद्ध प्रदर्शित किया है।

इस मन्त्र में आचार्य उदयन ने 'पतत्र' शब्द के द्वारा परमाणु का निर्देश किया है। पतनशील वस्तु को 'पतत्र' कहा जाता है। आचार्य ने 'पतन्तीति' कर्तृवाच्य

प्रत्यय के द्वारा पतत्र शब्द की सिद्धि कर गतिशील परमाणु का प्रतिपादन किया है : ते हि 'गतिशीलत्वात्पतत्रव्यपदेशाः पतन्तीति'। प्रलय-दशा में स्थित परमाणु में ईश्वरेच्छा से गति आ जाती है। अतः, पतत्र शब्द से परमाणु का निर्देश है। प्रशस्तपादभाष्य की, सृष्टिसंहार की टीका में आचार्य ने लिखा है : प्रलय-दशा में चार महाभूतों के संक्षोभजन्य वेग से उत्पन्न परमाणु के कर्म प्रवाह की निवृत्ति नहीं होती है। प्रलय में परमाणु की क्रिया न रहने पर अखण्ड महाकाल की अवच्छेदक उपाधि के अभाव में सृष्टिकाल का समपरिमाण प्रलयकाल ही नहीं होगा और प्रलयकाल के अवसान के बिना सृष्टि भी नहीं हो सकेगी। (किरणावली, पृ० ९२-९३) सेतुटीका में भी कहा है कि प्रलय में परमाणु के गतिशील रहने से ही पतत्र शब्द से इसका व्यवहार होता है। इतना सत्य है कि क्रिया रहने पर भी प्रलय में संयोग-विभाग नहीं रहता है। पद्मनाभ मिश्र के अनुसार, आरम्भक संयोग नहीं रहता है। इस तरह, वेदान्त और सांख्य के अनुरूप न्याय की सृष्टि-प्रक्रिया भी श्रुतिसिद्ध है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेय महापुराण में मार्तण्ड माहात्म्य नामक एक सौ दो वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥१०२॥



त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

तस्य सन्ताप्यमाने तु तेजसोर्द्ध्वमधस्तथा ।
सिसृक्षुश्चिन्तयामास पद्मयोनिः पितामहः ॥१॥
सृष्टिः कृतापि मे नाशं प्रयास्यत्यभितेजसः ।
भास्वतः सृष्टि - संहारस्थितिहेतोर्महात्मनः ॥२॥
अप्राणाः प्राणिनः सर्वे आपः शुष्यन्ति तेजसा ।
न चाम्भसा विना सृष्टिर्विश्वस्याऽस्य भविष्यति ॥३॥
इति सञ्चिन्त्य भगवान् स्तोत्रं भगवतो रवेः ।
चकार तन्मयो भूत्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ॥४॥

ब्रह्मोवाच—

नमस्ये यन्मयं सर्वमेतत्सर्वमयश्च यः ।
विश्वमूर्तिः परं ज्योतिर्यत्तद्ध्यायन्ति योगिनः ॥५॥
य ऋङ्मयो यो यजुषान्निधानं साम्नाञ्चयो योनिरचिन्त्यशक्तिः ।
त्रयीमयो स्थूलतयार्द्धमात्रा परमस्वरूपो गुणपारयोग्यः ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

अनन्तर आदित्य के तेज से ऊपर नीचे सर्वत्र सन्तप्यमान होने पर सृष्टि करने की इच्छा रखने वाले भगवान् पद्मयोनि पितामह अतिशय चिन्तित हो गये ॥१॥

सृष्टि करने पर भी सृष्टि, स्थिति और संहार के कारण महात्मा आदित्य के तीव्रतेज से मेरी सृष्टि नष्ट हो जायगी ॥२॥ उनके प्रखर तेज से सभी प्राणिवर्ग प्राण-हीन एवं जल सूख रहा है, साथ ही जल के अभाव में विश्व की सृष्टि भी नहीं हो सकती है ॥३॥ लोक पितामह ब्रह्मा यह सोच कर तन्मय भाव भगवान् भास्कर की स्तुति करने लगे ॥२-४॥

ब्रह्मा ने कहा—

जो अशेष जगत् का आत्म स्वरूप एवं जो सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप में विद्यमान है, विश्व ही जिसकी मूर्ति है तथा योगिगण जिस इन्द्रियातीत परम ज्योति का ध्यान करते हैं, मैं उसको नमस्कार करता हूँ ॥५॥

जो अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न ऋग्वेदमय है जो यजुर्वेद का निधान अर्थात आधार स्वरूप है, जो सामवेद का उत्पत्ति का निदान है, जो स्थूलता से त्रयीमय, जो अर्द्धमात्रा

त्वां सर्वहेतुं परमञ्च वेद्यमाद्यं परं ज्योतिरवह्निरूपम्[1] ।
स्थूलञ्च देवात्मतया नमस्ये भास्वन्तमाद्यं परमं परेभ्यः ।।७।
सृष्टिं करोमि यदहं तव शक्तिराद्या
तत्प्रेरितो जलमहीपवनाग्निरूपाम् ।
तद्देवतादिविषयां प्रणवाद्यशेषां
नात्मेच्छया स्थितिलयावपि तद्वदेव ।।८।
वह्निस्त्वमेव जलशोषणतः पृथिव्याः
सृष्टिं करोमि जगताञ्च तथाद्यपाकम् ।
व्यापी त्वमेव भगवन् ! गगनस्वरूपं
त्वं पञ्चधा जगदिदं परिपासि विश्वम् ।।९।
यज्ञैर्यजन्ति परमात्मविदो भवन्तं
विष्णुस्वरूपमखिलेष्टिमयं विवस्वन् ! ।
ध्यायन्ति चापि यतयो नियतात्मचित्ताः
सर्वेश्वरं परममात्मविमुक्तिकामाः ।।१०।
नमस्ते देवरूपाय यज्ञरूपाय ते नमः ।
परब्रह्मस्वरूपाय चिन्त्यमानाय योगिभिः ।।११।

अर्थात् सूक्ष्म स्वरूप है, जो पर ब्रह्म स्वरूप और गुणातीत है आगे वही सभी का कारणस्वरूप, परमपूज्य, परमवेद्य है। अवह्नि रूप परम ज्योति देवतात्म रूप में स्थूल स्वरूप है, श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर है, आदि पुरुष है, उस भगवान् भास्वान् को मैं नमस्कार करता हूँ ।। ६-७ ।।

हे देव ! तुम्हारी शक्ति आद्या है, क्योंकि उस शक्ति के द्वारा प्रेरित होकर, जल, पृथिवी, वायु और अग्नि स्वरूप विविध देवों एवं प्रणव आदि अशेष सृष्टियों को करती है, इसी प्रकार अपनी इच्छा से स्थिति और प्रलय नहीं करता है, अपितु तुम्हारी शक्ति से प्रेरित होकर ही करता है ।। ८ ।।

हे भगवन् ! तुम वह्निस्वरूप हो, तुम्हारे द्वारा पृथिवी का जल शोषण करने पर मैं जगत् की सृष्टि एवं आद्य-पाक सम्पन्न करता हूँ, तुम सर्व व्यापक गगनस्वरूप हो, तुम पञ्चभूतात्मक इस जगत् की रक्षा करते हो ।। ९ ।।

हे विवस्वन् ! परमात्म वेत्ता लोग अखिल यज्ञमय विष्णु के रूप में तुम्हारी ही यज्ञ के द्वारा अर्चना करते हैं। अपने मोक्ष की अभिलाषा करने वाले यतिगण संयतमन से परम सर्वेश्वर जानकर तुम्हारा ही ध्यान करते हैं ।। १० ।। देवस्वरूप तुमको प्रणाम है, यज्ञस्वरूप योगियों के द्वारा चिन्तनीय परब्रह्मस्वरूप तुमको प्रमाण है ।। ११ ।।

---

१. अवेद्यरूपम् पुस्कान्त पाठः ।

उपसंहर तेजो यत् तेजसः संहतिस्तव ।
सृष्टेर्विघाताय विभो ! सृष्टौ चाहं समुद्यतः ॥१२।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्येवं संस्तुतो भास्वान् ब्रह्मणा सर्गकर्तृणा ।
उपसंहृतवाँस्तेजः परं स्वल्पमधारयत् ॥१३।
चकार च ततः सृष्टिं जगतः पद्मसम्भवः ।
तथा तेषु महाभागः पूर्वकल्पान्तरेषु वै ॥१४।
देवासुरादीन् मर्त्यांश्च पश्वादीन् वृक्षवीरुधः ।
ससर्ज पूर्ववद् ब्रह्मा नरकांश्च महामुने ! ॥१५।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे आदित्यस्तववर्णनं नाम त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

हे विभो ! तुम अपने तेज अपने में समाहित करो, मैं सृष्टि के लिए उद्यत हूँ, तुम्हारा यह दीप्ति समूह सृष्टि का विधातक है ॥ १२ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

भगवान् भास्वान् सृष्टि कर्ता ब्रह्मा के द्वारा संस्तुत होकर अपने परम तेज को अपने में समाहित किया स्वल्प परिमाण में ही तेज को धारण किया ॥ १३ ॥

अनन्तर महाभाग पद्मसम्भव ब्रह्माने पूर्वकल्प के समान इस कल्प में भी जगत् की सृष्टि की ॥ १४ ॥

हे महामुने ! ब्रह्माने पूर्व की तरह ही देव, असुर, नर, वृक्ष, लता आदि और नरकों की सृष्टि की ॥१५॥



पर्यालोचन

वैदिक साहित्य—सामान्य परिचय

भारतवर्ष का सांस्कृतिक अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है किहिन्दू भावना की ही यहाँ प्रधानता है। आचार्य रामेन्द्र सुन्दर ने हिन्दू समाज को वेदपन्थी समाज के अपर पर्याय के रूप में माना है, क्योंकि यह वैदिक शासन को स्वीकार करता है। किन्तु हिन्दू संस्कृति एक मिश्रितसंस्कृति है, जिसमें सभी प्राणवन्त संस्कृतियाँ समाहित हैं। वेद हिन्दू के लिए मूर्धन्य ग्रन्थ है। यह धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। वेद के साथ आर्य के श्वास-प्रश्वास समाहित हैं। यह आज की हिन्दू संज्ञा विदेशियों की देन है, जो सिन्धु से सम्बद्ध है। सिन्धुधौत देश ही इसका मूलाधार है। इसमें सन्देह का अवसर नहीं कि वैदिकों ने कहीं भी अपना परिचय हिन्दू शब्द से नहीं दिया। ब्राह्मण शब्द से ऋषियों ने बहुधा अपना परिचय दिया है। साथ ही आर्य शब्द से भी उनका परिचय मिलता है। वस्तुतः उन तीन संज्ञाओं को तीन पर्व का द्योतक माना जा सकता है। उनमें आर्य संस्कृति मूल है और ये काल विवर्तन के रूप में उद्भूत हैं। आर्य संस्कृति अखण्ड या अविमिश्र भावना को वहन नहीं करती ? उसके मध्य में अनेक संस्कृतियाँ मधुमिश्रण के रूप अपने को विसर्जित कर इसको और उन्नत ही किया है। यह एक ऐसी लचीली संस्कृति है, जहाँ अनेक संस्कृतियाँ अपने को विसर्जित कर देती हैं। आर्य संस्कृति में वैदिक, अवैदिक एवं अनार्य तीनों ही भावनाएँ सन्निहित हैं। इतना ही नहीं, अनेक वैदेशिक भावना भी इसमें समयानुसार सन्निहित रही हैं। यही कहा जा सकता है कि गङ्गोत्री के गङ्गा प्रवाह में जैसे अनेक नदियों के अथवा अशुद्ध, अपवित्र जल अविच्छिन्न रूप से स्थान पाते रहे किन्तु वह गङ्गा ही है, वैसे ही आर्य संस्कृति भी अनेक संस्कृतियों को आत्मसात् करके अवस्थित है। आर्यों ने अपनी संस्कृति का परिचय वेद में प्रतिष्ठित किया है। यह वेद शब्द मात्र ऋग्वेद संहिता के ८।१९।५ में ही प्रयुक्त मिलता है। अनेक साधनाङ्गों के साथ अथर्व संहिता में बहुधा प्रयोग उपलब्ध है। दिव्य शक्ति की प्रेरणा और वाक् की विभूति इसे कहा का सकता है। वाक् की प्रेरणा में ऋषि हृदय से यह उच्चारण की बाध्यता के कारण वेद की उपलब्धि है। इसकी अपर संज्ञा श्रुति भी है। जो भी हो, वेद एक ज्ञान का वाहन है जहाँ अध्यात्म-प्रेरणा के उत्स, धर्म की अलौकिक दीप्ति उपलब्ध है। यह तो सत्य है कि श्रद्धा के आवेश में अवेस्ता त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान—किसी को भी प्राकृत मनुष्य की उक्ति नहीं वरन् ईश्वराविष्ट पुरुष की वाणी माना गया है। वेद का आविर्भाव होता है, उसका वक्ता नहीं है।

मन्त्र और ब्राह्मण के भेद से वेद का द्विधा विभाग है। वेद की अभिव्यक्ति को ब्राह्मण में प्रस्फुटित किया गया है। इसे द्वैपायन कृष्ण ने चार भागों में विभक्त किया जो आज ऋक् यजुष् सात अथर्व के रूप में उपलब्ध है। प्रत्येक संहिता के साथ उसका अनुयायी ब्राह्मण भाग रहता है जिसे दूसरे शब्दों में ब्रह्म-सम्पर्कित विचार कहा जा सकता है। ब्रह्म मन्त्र और विद्या का अपर पर्याय है।

है। मीमांसकों ने ब्राह्मण का कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया है, इष्टार्थ के प्रेरक मन्त्र हैं और अतिरिक्त सभी ब्राह्मण हैं। मन्त्र-संहिता और ब्राह्मण-साहित्य भाषा की दृष्टि से विभिन्न उपलब्ध होते हैं। संहिता की दृष्टि से वेद के मन्त्रों का चार भाग किया गया है। इसीलिए इसे चतुर्वेद कहा जाता है। किन्तु वेद को त्रयी भी कहा जाता है। यह भेद प्राचीनतम है, क्योंकि ऋ० वे० १०.१०.९ में यह भेद सुस्पष्ट अभिहित है। छन्दोबद्ध ऋक् है, गीतात्मक साम है, इसके अतिरिक्त यजुः है। अनन्तर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के रूप में भी विभाग किया जाता है। शुद्ध ब्राह्मण कर्मकाण्ड का धारक है। आरण्यक, उपनिषद् ज्ञानकाण्ड का वाहक है। तीनों के मूलाधार मन्त्र हैं। कर्म और ज्ञान दोनों सहचरित हैं। ज्ञान कर्म का प्रवर्तक है और कर्म के परिणाम में ज्ञान स्पष्ट होता है। ब्राह्मण से उपनिषद् पर्यन्त कर्म का ज्ञानाभिमुखी भाव स्पष्ट है। क्योंकि उपनिषद् भी ब्राह्मण के अन्तर्गत है। किन्तु उपनिषद् की भावना में सबलता के कारण ज्ञान की ही प्रधानता हो गई और कर्म गौण हो गया। श्रुति के विरुद्ध स्मृति का नाम आता है। श्रुति अपौरुषेय है और स्मृति पुरुष निर्मित है। स्मृतियों में आध्यात्मिक एवं वैषयिक सभी भावनाओं को स्थान मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मयज्ञ का एक विवरण मिलता है, जिसमें स्वाध्याय या दैनन्दिन अध्येतव्य विषयों की तालिका मिलती है। उसमें ऋक्, यजुः, साम, अथर्वाङ्गिरस, अनुशासन-विद्या, वाकोवाक्य, इतिहासपुराण, गाथा एवं नाराशंसी निर्दिष्ट होने से सभी वैदिक साहित्य के अन्तर्गत हैं। विद्याओं के मध्य में सर्पविद्या, देवयजनविद्या एवं माया का उल्लेख मिलता है। वाकोवाक्य शब्द से मीमांसा एवं तर्क की उत्पत्ति है। नाराशंसी वीर प्रशान्ति है। इतिहास एवं पुराण को पञ्चम वेद कहा है। गाथा मन्त्र रचना की धारा है। यही प्राचीन स्वाध्याय है। श्रुति और स्मृति दोनों इसके अन्तर्गत हैं। बोध ही इसका उत्स है। इसी क्रम में न्याय और मीमांसा का उद्भत्र होता है। इस वैदिक साहित्य का शाखा भेद भी था। शाखा शब्द समग्र का बोधक है, अंश का नहीं। कोई भी शाखा हो, उसमें वेद की समग्र भावना और साधना का ही धारावाहिक परिचय मिलता है। शौनक के मत मे ऋग्वेद की ५ शाखायें, यजुर्वेद की ८६, सामवेद की १००० शाखाएँ और अथर्ववेद की ९ और यजुर्वेद की १०० शाखा कही गई है। प्रत्येक शाखा का संहिता भाग, ब्राह्मण एवं कल्पसूत्र होना उचित है। किन्तु आज इसका व्यतिक्रम मिलता है। किसी शाखा की संहिता, तो किसी शाखा का ब्राह्मण। ऋग्वेद को आश्वलायन शाखा महाराष्ट्र में चलती है किन्तु उनकी संहिता शाकल शाखा की है, ब्राह्मण ऐतरेय शाखा का है केवल कल्पसूत्र आश्वलायन शाखा का मिलता है। ऋक् संहिता की शाकल, शाङ्खायन और वाष्कल-तीन शाखायें मिलती हैं। कौषीतकि और शाङ्खायन एक ही शाखा नहीं है। प्राचीन श्लोक के अनुसार आश्वालायन शाकल के ही शिष्य-थे। इस संहिता में बालखिल्य के साथ १०२८ सूक्त में १०५५२ ऋचायें हैं। शाकल संहिता में १० मण्डलमें इसका विभाग है, किन्तु वाष्कल संहिता में आठ अष्टक विभाग है। मन्त्र संग्रह का नियम मिलने के कारण शाकल संहिता का विभाग युक्तियुक्त है। मण्डल का उपविभाग अनुवाक एवं अष्टक का अध्याय है। वाष्कल संहिता के ८ अष्टक का ६४ अध्याय है। शाकल संहिता

में अनुवाक की संख्या ८५ है। प्रत्येक अध्याय की सूक्त संख्या प्रायः समान है। किन्तु अनुवाक की सूक्त संख्या अनियमित है। अनुवाक या अध्याय दोनों पाठ के अपर पर्याय हैं। ऋक् संहिता के प्रथम और दशम मण्डल में विभिन्न वंशीय ऋषियों के मन्त्र संग्रहीत हैं, दोनों मण्डलों की सूक्त संख्या १९१ है। द्वितीय से सप्तम पर्यन्त प्रत्येक मण्डल में एक वंश के ऋषि का मन्त्र है। इसलिए ये छः आर्षमण्डल कहे जाते हैं। अष्टम मण्डल विभिन्न ऋषियों के रचित प्रगीथों का संग्रह है। इसलिए प्रगीथ मण्डल भी प्रकीर्ण मण्डल है। नवम मण्डल सोम मन्त्र का संग्रह है और विभिन्न ऋषियों की अभिव्यक्ति है। अतः यह भी प्रकीर्ण मण्डल ही कहा जायेगा। आधुनिक मनीषियों ने ८ मण्डल को प्राचीनतम भाग माना है, प्रगीथ और सोम मण्डल को परिशिष्ट और प्रथम और दशम मण्डल को परवर्ती काल की रचना माना है। इसके समर्थन में भाषा को आधार बनाया गया है। किन्तु भाव के आधार पर भी इन्होंने क्रमिक विकास के दर्शाने का असफल प्रयास किया है, क्योंकि ऋक् संहिता में भाव एक परिमण्डल ही है। दशम मण्डल में जो दार्शनिक भावनाओं का परिचय मिलता है, उसका आभास आर्षमण्डल में नहीं है, यह कथन सत्य नहीं है। आर्षमण्डल के ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज एवं वसिष्ठ हैं। इनके प्रत्येक मण्डल अग्निसूक्त से आरम्भ होते हैं। यह सत्य है कि सोममण्डल का प्रारम्भ सोम मन्त्र से होता है और प्रगीथमण्डल के आरम्भ में भी अग्निसूक्त नहीं है। आर्षमण्डल के देवता के विन्यास की एक रीति है। अग्निसूक्त, उसके बाद इन्द्र सूक्त उसके बाद अन्य देवताओं के सूक्त। ऋग्वेद के अनुष्ठान एवं साधना की दृष्टि से अग्नि, इन्द्र एवं सोम—इस वेद के तीन प्रधान देवता हैं। सोमसूक्त सोममण्डल में संकलित है। देवताओं के सूक्त छन्द के क्रम के अनुसार दिए गए हैं। जगती छन्द का सूक्त पहले रहता है और गायत्री छन्द का अन्त में रहता है। प्रगीथ मण्डल का दूसरा नाम उद्‌गीथ मण्डल भी है। स्वाभाविक भी है, क्योकि सोमयाग में उद्‌गाता का अधिक काम रहता है। इसके अधिकांश ऋषि कण्ववंशीय हैं। आर्षमण्डल प्रगीथमण्डल और सोममण्डल का सङ्कलन तन्त्र विद्या को इङ्गित करता है। देवताओं का आवाहन प्रशस्ति और उनके उद्देश्य से गान और उनको सोमपान कराना—यह यज्ञ की मूलरीति है। यथाक्रम होता, उद्‌गाता एवं अध्वर्यु इस काम को करते हैं। सोमयाग के ४ ऋत्विक् होते हैं—होता, उद्‌गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा, आर्षमण्डल का विशेष भाग प्रशस्ति संग्रह है। पवमान गुणविशिष्ट सोम कहलाता है। पार्थिव सोमलता संस्कृत एवं पूत होने पर अमृतरस-प्रवाहिनी होती है। उस समय उसके देवता पवमान सोम होते हैं। सोम का पावन अध्वर्यु का काम है। इसलिए सोममण्डल के साथ उसका योग सुस्पष्ट है। मन्त्रद्रष्टा प्राचीन ऋषिवंशियों के प्रवर्तक के रूप में कई ऋषियों का नाम मिलता है। भृगु, विश्वामित्र, गौतम, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, कण्व, कश्यप और अङ्गिरा। प्रथम सात वंशों के ऋषियों का यथाक्रम में द्वितीय से अष्टम मण्डल के द्रष्टा के रूप में निर्देश है। ऋक् संहिता में इन सभी का नाम प्राप्त होता है। देवताओं में अग्नि एवं इन्द्र की प्रधानता है। दशम मण्डल के सूक्तों के सन्निवेश का एक वैशिष्ट्य है। प्रथम बड़ा और उसके बाद छोटे-छोटे सूक्तों का निर्देश है। छन्द के प्रयोग में भी दशम मण्डल का वैशिष्ट्य है। गायत्री की अपेक्षा

अनुष्टुप् का व्यवहार अधिक है। संहिता को अधिकृत स्वरूप में रखने के लिए अनेक पाठों का प्रवर्तन किया गया है। उनमें संहितापाठ मूल है। संहिता का वर्ण स्वर का विकार रहता है, व्याकरण की सन्धि का नियम रहता है—यह संहितापाठ है। सन्धि को अलग कर जो पाठ होता है वह पद पाठ है। शाकल संहिता के पदपाठ के रचयिता शाकल्य है। संहितापाठ और पदपाठ को मिलाकर क्रमपाठ होता है। क्रमपाठ से ८ पाठ की सृष्टि होती हैं—जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड और घन।

सामसंहिता की ३ शाखायें मिलती हैं—राणायनीय, कौथुम और जैमिनीय या तलवकार। कौथुम संहिता का दो भाग है—आर्थिक और गान। आर्थिक के प्रायः सभी मन्त्र शाकल संहिता से लिए गए हैं। ९९ मन्त्र शाकल संहिता में नहीं मिलते। आर्थिक का भी दो भाग है—पूर्वार्थिक और उत्तरार्थिक। पूर्वार्थिक में स्वतन्त्र रूप से मन्त्र सङ्गृहीत हैं और उत्तरार्थिक में यागविधि के अनुसार समन्वित हैं। पूर्वार्थिक में मन्त्र स्वतन्त्र हैं, उत्तरार्थिक में सूक्त के आकार में है। उत्तरार्थिक की स्वरलिपि ऊहगान में है। ऊहगान का दूसरा नाम ऊहरहस्य भी है। साम के पाँच भाग है—जो भक्ति शब्द से कहे जाते हैं। प्रस्ताव जिसका गान करने वाला प्रस्तोता, उद्गीत जिसका गायक उद्गाता, प्रतिहर जिसका गायक प्रतिहर्ता, उपद्रव जिसका गाता उद्गाता। सब मिलकर अन्त में निधन। ॐकार के उच्चारण का गान होता है जिसे हिङ्कार कहते हैं। ॐकार या हिङ्कार को लेकर गान सप्तभक्ति है। वेद में तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित। सामसंहिता के आर्थिक ग्रन्थपाठ के समय ये तीनों स्वर लगाये जाते हैं। नारद की शिक्षा के अनुसार ये स्वर पञ्चम मध्यम गान्धार ऋषभ षड्ज निषाद और धैवत शब्द के समान है।

यजुः संहिता—

यजुर्वेद को कण्ववेद या अध्वर्युवेद भी कहा जाता है। यज्ञ ही कर्म है। देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग यज्ञ है। त्यागकर्ता यजमान है और इस जटिल अनुष्ठान को निष्पन्न करने वाला ऋत्विक् हैं। देवता का आवाहन और प्रशस्ति पाठ, स्तुतिज्ञान एवं उनको उद्देश्य कर होम द्रव्य की आहुति-दान यही तीन यज्ञ का मुख्य साधन है। प्रशस्तिपाठकर्ता होता, स्तुतिगान कर्ता उद्गाता। गेय मन्त्र का संकलन सामसंहिता है। आहुति देने वाला अध्वर्यु है। इन मन्त्रों का सङ्कलन यजुः संहिता है। ऋग्वेद की भाषा में अध्वर्यु यज्ञ का शरीर-निर्माण करता है। जिन मन्त्रों की सहायता से यह कार्य किया जाता है वे यजुष् हैं। यजुः संहिता की दो धारायें हैं—कृष्ण और शुक्ल। मन्त्र और ब्राह्मण का एक साथ जहाँ निर्देश है वह कृष्ण है, जिस संहिता में केवल मन्त्र का संग्रह है वह—शुक्ल है। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के अन्त में कहा गया है—"आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते"—अर्थात् वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने आदित्य से इस शुक्ल यजुष् को प्राप्त कर इसकी व्याख्या की है। आदित्य को भावना से भास्कर होने के कारण यह शुक्ल है। एक ही मन्त्र भावना और तात्पर्यनिरूपण के आधार पर एक सम्प्रदाय में कृष्ण और दूसरे में शुक्ल हो जाता है। शुक्ल यजुर्वेद के वृहदारण्यकोपनिषद् के वंश ब्राह्मण

से ज्ञात होता है कि वेद के दो सम्प्रदाय थे—ब्रह्म और आदित्य (बृहदा० ६.५) ब्रह्म सम्प्रदाय की आचार्य-शिष्य परम्परा प्रजापति से सांजीवीपुत्र है, आदित्य सम्प्रदाय की आदित्य अम्भृषी वाक् कश्यप आदि क्रम में चौदहवें पुरुष याज्ञवल्क्य होते हैं और अन्त में सांजीवी पुत्र आते हैं। ऐसा अवगत होता है कि सांजीवी पुत्र के समय ये दोनों एक हो गए हैं। पुराण में याज्ञवल्क्य विदर्भशाकल्य से ऋग्वेद पढ़ने जाते हैं, उनसे झगड़ा हो जाता है तदनन्तर वैशम्पायन से यजुर्वेद पढ़ने जाते हैं, उन्हें भी छोड़ देते हैं और आदित्य की उपासना से चारों वेद प्राप्त करते हैं (वि०पु० ३.५, भागवत १२.६, देवी पुराण ९.५)। आत्म पुराण और स्कन्दपुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य ने आदित्य से चारों वेद पढ़ा था मात्र शुक्ल यजुर्वेद नहीं। इसीलिए शङ्कराचार्य ने याज्ञवल्क्य को चतुर्वेदी कहा (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य ३.१.२)। गीता में "अयात् यामसंज्ञोऽयं कृत्स्नकर्म-प्रकाशकः" यह कहा गया है (गी० ४.१८)। कृत्स्न कर्म पारिभाषिक ही कर्म में अकर्म, अकर्म में कर्म देखने वाला कृत्स्नकर्मकृत् कहा जाता है। याज्ञवल्क्य दर्शन से उसका समन्वय होता है। याज्ञवल्क्य का ब्राह्मवाद बौद्ध भावना का परवर्ति काल में परि-पोषक रहा है। बौद्ध भावना के मूल में सांख्य की प्रेरणा है। सांख्य प्रवर्तक कपिल का शिष्य आसुरि है और याज्ञवल्क्य का शिष्य भी आसुरि है। यदि दोनों की एकता को छोड़कर याज्ञवल्क्य शिष्य और कपिल शिष्य—दोनों ही कपिल मत के समर्थक और प्रचारक हैं तो याज्ञवल्क्य का ही मत मूलाधार होता है।

यह कहा जा सकता है कि आर्य भावना की दो मूलधाराएँ हैं—एक ऋषि प्रवर्तित एक मुनि प्रवर्तित। कपिल मुनिधारा के प्रथम और सिद्ध हैं। इसीलिए गीता में 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गी० १०.२६) कहा गया है। इनका दर्शन सांख्यदर्शन है। याज्ञवल्क्य के अक्षरवर्णवाद में सांख्यभावना अनुस्यूत है। मुनिधर्म एवं प्रव्रज्या दोनों ही उनके अङ्गीकृत हैं (बृ० उ० ३.५.१; ४.४.२२; ४.५.२)। सांख्य का २५ तत्त्व ब्रह्मतत्त्व का अङ्गीभूत है (बृ० उ० ४.४.१७)। सांख्य योग का नारीविज्ञान सुपरिचित था (बृ० उ० ४.२.३; ३.२०)। प्रत्यग् दृष्टि से अक्षर ब्रह्मवाद एवं सांख्य का कैवल्य-वाद ये दोनों ही मौन अनुभव की दिशायें हैं और याज्ञवल्क्य ऋषिधारा के बाहर हैं। कुरु पाञ्चाल के भाग को याज्ञिक ब्राह्मणों के प्रति उनकी अवज्ञा से सुस्पष्ट है (बृ० उ० ३.९.१८)। जनक के स्वभाव में उनके साथ में वादानुवाद से ही यह संकेत मिल रहा है। गीता के बाद या सांजीवीपुत्र के समय से ब्रह्म-सम्प्रदाय आदित्य-सम्प्रदाय एक हो गये। याज्ञवल्क्य के जीवन काल में ही स्त्री-प्रज्ञा—कात्यायनी, मैत्रेयी, गार्गी—इन तीन का आविर्भाव हो जाता है। केनोपनिषद् में हेमवती उमा के अतिरिक्त नारी का प्रसङ्ग नहीं आता है। वस्तुतः वंश ब्राह्मण में सुप्रजनन नारी की प्रधानता होने से मातृ नाम का परिचय मिलता है। क्योंकि गर्भाधान की यज्ञ के रूप में ही गणना की जाती है। पौराणिक दृष्टि इस विचार से समन्वयता करती है कि—नारी पृथिवी नारी ऋक् नारी आद्याशक्ति। इसका विस्तृत स्थान तन्त्र में मिलता है। इसकी प्रधानता में एक दृष्टि और भी लक्ष्य करने योग्य है कि पिता पण्डित दुहिता की कामना करता है—"अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत" (बृ० उ० ६.४.१७)।

शङ्कराचार्य ने पण्डिता की व्याख्या गृहकर्मनिपुणा के रूप में की है। यह सभी अम्भृनी और वाक् का प्रभाव है। सर्मपिणी या विद्युत्विसर्पिणी के रूप में वाक् विश्वामित्र की इष्टदेवता है (ऋ० वे० ३.५३.१५ टीका)। आदित्य-सम्प्रदाय में विश्वामित्र और याज्ञवल्क्य दोनों का सम्बन्ध है।

शुक्लयजुर्वेद की दो शाखायें हैं—वाजसनेयी और माध्यन्दिन। वाजसनेयिसंहिता के शेष में पुरुष सूक्त, सर्वमेध मन्त्र, शिवसंकल्पादि मन्त्र अध्यात्मवाद का परिचायक है और अन्त में ईशोपनिषद् है।

अथर्ववेद संहिता :

अथर्ववेद संहिता को त्रयी विद्या का परिशिष्ट या उसके परिपूरक के रूप में माना जाता है। अथर्ववेद के प्रवर्तक के रूप में तीन ऋषियों का नाम पाया जाता है—अथर्वा, अङ्गिरस् और भृगु। यही तीन ऋक् संहिता के प्राचीन पितृपुरुष के रूप में माने जाते हैं, यथा—"अङ्गिरसो नः पितरो न वग्वाऽथर्वाणो भृगवः सोम्यासः तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सोमनसे स्याम्" (ऋ० वे० १०.१४.६)। अथर्वा और अङ्गिरा ये दोनों यज्ञविधि और अग्निविद्या के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। भृगु ने द्युलोक की अग्नि को भूलोक में मनुष्यों के मध्य में प्रतिष्ठित किया (ऋ० वे० १.५८.६)। अथर्वा एवं भृगु अग्निविद्या के प्रवर्तक हैं, किन्तु अग्नि स्वयं ही अङ्गिरा है। इन तीनों के मूल में अग्नि की दीप्ति की ध्वनि मिलती है। अथर्व संहिता के मन्त्रों का एक पञ्चमांश ऋक्संहिता से लिया गया है, जो पादबद्ध मन्त्र हैं। अथर्व-संहिता का एक षष्ठांश यजुर्वेद के मन्त्रों के समान गद्य में रचित है। मन्त्र रचना की जो धारा तीनों वेद में मिलती है, अथर्ववेद में भी उसी की अनुवृत्ति है, किन्तु दोनों के विनियोग में बहुत भेद है। तीन वेदों का विनियोग श्रौतकर्म में है। देवता के साथ सायुज्य के द्वारा अमृतत्व प्राप्ति ही लक्ष्य है। अथर्ववेद का प्रधान विनियोग गृह्यकर्म में है। अनेक शान्तिक और पौष्टिक क्रियाओं के द्वारा देवशक्ति की सहायता से अभ्युदय की प्राप्ति लक्ष्य है। इनसे अतिरिक्त अथर्व संहिता का एक अन्य वैशिष्ट्य है—उपनिषद् भावना। अथर्व संहिता की शौनक शाखा के ७३१ सूक्तों में ५९८७ मन्त्र हैं। सूक्त बीस काण्डों एवं काण्ड प्रपातक तथा अनुवादों में विभक्त हैं। संहिता के सम्पादन में एक विशिष्ट परिकल्पना का परिचय मिलता है। प्रथम से पञ्चम काण्ड पर्यन्त प्रत्येक काण्ड में एक ही समान सूक्तों का संग्रह है। किन्तु उनकी दीर्घता क्रमशः बढ़ती चलती है। षष्ठ काण्ड में सूक्तों की मन्त्र-संख्या कम हो गई है। सप्तम काण्ड परिशिष्ट के समान है। एक या दो मन्त्रों के ही सूक्त अधिक हैं, कहीं-कहीं दीर्घतर सूक्त भी हैं। सप्तम काण्ड तक अनेक आभ्युदायिक कर्मों के मन्त्र हैं। फलतः संहिता का यह भाग गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवन का पोषक तथा लोकहित के अनुकूल है। अधिक आयुलाभ के लिए ही ये आभ्युदायिक कर्म दिये गये हैं। भैषज्य अर्थात् आरोग्यकामना के लिए, शान्तिक अर्थात् भूतावेश आदि को दूर करने के लिए, पौष्टिक अर्थात् लक्ष्मीलाभ के लिए, सौमनस्य अर्थात् परस्पर मैत्री सम्पादन के लिए, आभिचारिक अर्थात् शत्रुनाश के लिए, प्रायश्चित्त एवं राजकर्म अर्थात् राष्ट्र के निरापद रूप एवं उन्नति के लिए दिये गये हैं। इनसे अतिरिक्त विवाह गर्भाधान आदि के भी अनेक मन्त्र इस भाग में दिये गये हैं।

आठवें से बारहवें काण्ड तक अथर्व संहिता का द्वितीय भाग है। इस भाग में भी आभ्युदयिक कर्मों के मन्त्र दिये गये हैं। किन्तु उपनिषद् भावना का ही इस भाग में विशेष स्थान है। वेद ब्राह्मण के आरण्यक अंश में जैसे यज्ञाङ्ग को लेकर रहस्योक्ति का प्राचुर्य देखा जाता है, यहाँ भी वैसा ही उपलब्ध होता है। सामान्य प्रतीक का अवलम्बन कर ऋषि का कविहृदय रहस्य मुखर हो उठता है यथा—ऋषसूक्त, अजसूक्त, गोसूक्त, औषधिसूक्त आदि। यही कारण है कि सूक्तों का आयतन भी प्रायः विशाल हो गया है। उपनिषद् के ब्रह्मवाद का काव्यरूप भी यहाँ उपलब्ध होता है इसके लिए मधुविद्या, आत्मसूक्त आदि दर्शनीय हैं। ब्राह्मणों में "य एवं वेद" उन वचनों के द्वारा ज्ञान की प्रशंसा या विद्या की स्तुति का परिचय पग-पग पर उपलब्ध होता है। ये उक्तियाँ प्रथमतः यहीं प्राप्त होती हैं। कामसूक्त के प्राणसूक्त को भी किसी क्रिया के साथ संयुक्त नहीं किया जा सकता वरन् यहाँ दार्शनिक कविचित्त का स्वतन्त्र उच्छ्वास उपलब्ध होता है। अथर्ववेद का भूमिसूक्त पृथिवी की स्तुति के रूप में समग्र वैदिक साहित्य की अतुलनीय उपलब्धि है। ब्रह्मचर्य सूक्त में ब्रह्मचारी की महिमा उदात्तकण्ठ से वर्णित है। गोसूक्त में बन्ध्या गो के ऊपर दो सूक्त हैं। इनमें रहस्यवाद की छाया सघन रूप से सन्ध्या भाषा की आदि जननी के रूप में उपलब्ध हैं। १३ से २० काण्ड अथर्व का तृतीय अंश है। इनमें १९ और २० परिशिष्ट अंश हैं। इनमें प्रत्येक काण्ड की विषयवस्तु का निर्देश है। काण्ड क्षुद्रायतन हैं। अष्टादश काण्ड विस्तृत है। त्रयोदश काण्ड में रोहित नाम से आदित्य का प्रसङ्ग है। आदित्य ही वैदिक देववाद का मूलाधार है। काण्ड के अन्त में ज्ञान की प्रशंसा है। अतः इसे उपनिषद् तत्त्व का प्रकाशक मानते हैं। चतुर्दश काण्ड विवाह प्रकरण है। पन्द्रहवें काण्ड में व्रात्यों की प्रशंसा है। १६वें काण्ड में शान्ति और स्वस्त्ययन के मन्त्र हैं। कतिपय दुःस्वप्न नाशक सूक्त हैं। यह काण्ड भी गद्य में रचित है। १७वाँ काण्ड आदित्य की स्तुति है। अठारहवें में पितृमेध प्रकरण है, जिसके अधिकांश मन्त्र ऋक् संहिता से लिये गये हैं। यह काण्ड पैप्पलाद संहिता में नहीं मिलता। इसके बाद दो काण्डों का उल्लेख अथर्व प्रातिशाख्य में नहीं मिलता। अतः मनीषियों का अनुमान है कि ये बाद में संयोजित किये गये हैं। १९वाँ काण्ड प्रकीर्ण सूक्तों का संग्रह है। इनमें भैषज्यविषयक तीन सूक्त हैं और छः दुःस्वप्ननाशक सूक्त हैं। कतिपय मणिधारण सूक्त इस काण्ड की विशेषता है। इनसे अतिरिक्त यज्ञ, दर्भ, काल, रात्रि, नक्षत्र, शान्ति इत्यादि इसमें वर्णित हैं। पुरुष सूक्त परिवर्तित रूप में यहाँ संगृहीत है। आत्म सूक्त में सद्वाक्यभाव का उल्लेख है—"वरदा वेदमातार" इसका उल्लेख भी इसी काण्ड में हैं, जिसमें गायत्री की उपासना की दृष्टि सुस्पष्ट है। क्योंकि अनुक्रमणिका में इस सूक्त की देवता गायत्री है। बीसवें काण्ड में अधिकांश मन्त्र ऋक् संहिता से लिये गये हैं। अष्टम मण्डल का अधिक मन्त्र इसमें संगृहीत है। कुन्ताय सूक्त इसका मौलिक अंश है जो दुर्बोध है। अथर्व संहिता में स्मार्त कर्म की प्रधानता है। सर्वविद् ब्रह्मा का सघन योग है। ब्रह्म प्रज्ञा और शक्ति दोनों का सन्निवेश है। श्रौतकर्म का लक्ष्य प्रज्ञा का उन्मेष देवता के सायुज्य में अमृतत्व या निःश्रेयस लाभ है। स्मार्त कर्म लक्ष्य अभ्युदयलाभ है। अभ्युदय और

निःश्रेयस में कोई विरोध नहीं है। दोनों ही ब्रह्मविद्या के फल हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद अखण्ड वेदविद्या के प्रकाशक हैं। भुक्ति-मुक्ति की समन्वय-भावना जो तन्त्र की उपलब्धि है, उसे आथर्वणविद्या सम्प्रदाय की अनुवृत्ति कहा जा सकता है। अथर्व में दार्शनिक रहस्योक्तियों का अभाव नहीं है। इस प्रकार यह तीन वेदों का उपजीव्य एवं सिद्धों की विभूति है।

ब्राह्मण

क्लीबलिङ्ग "ब्रह्म" शब्द से ब्राह्मण शब्द निष्पन्न होता है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बृहत् की चेतना या शक्ति है। मन्त्र एवं मन्त्रशक्ति दोनों ही ब्रह्म हैं। बृहत् का स्वरूप-निरूपण करते हुए ऋक्संहिता में उसके अनेक पर्याय उपलब्ध होते हैं—स्वः, ज्योतिः, परमं, व्योम, परमं पदम्, उरुलोकः, अमृतम्(द्रष्टव्य ऋ०सं० ९.११३; ७.११)। वस्तुतः यज्ञ एक क्रिया है जो भाव की द्योतक है। भाव की अभिव्यक्ति की दृष्टि से क्रिया का जन्म होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि द्रव्य एवं बाह्य उपकरणों के आधार पर जिस तरह यज्ञ सम्पादित होता है, वैसे ही ज्ञान या आन्तर्भाव की भूमि पर ही इसकी सम्पत्ति हो सकती है। ब्राह्मण के अध्ययन से यह सुदृढ़ है कि यज्ञ में एक रहस्यात्मक भावभूमि सन्निहित रहती है। कर्म और ज्ञान की समन्वय भूमि पर ही ब्राह्मण प्रतिष्ठित है। क्रिया के रहस्य का ज्ञान जितना अपेक्षित है, उपनिषद् ज्ञान भी उसी रूप में अपरिहार्य है। कर्म एवं ज्ञान का विरोध परवर्ती काल की देन है। पूर्वमीमांसा उत्तर मीमांसा का विभेद इनका भेदक आधार है। भाषा को मूलाधार बनाकर आधुनिक मनीषियों ने संहितायुग का परवर्ती युग ब्राह्मणयुग को माना है। किन्तु भाषा के साक्ष्य पर ऋक्संहिता से अथर्व संहिता की अर्वाचीनता सिद्ध होने पर भी विद्या की दृष्टि से दोनों के समसामयिक होने मे किसी तरह की बाधा अवगत नहीं होती। मन्त्र था, उसकी जिज्ञासा या मीमांसा नहीं थी—यह कथन साहसमात्र है। ऋग्वेद की श्रुतियाँ तत्त्वजिज्ञासा या ब्रह्मबोध का साक्षित्व वहन कर रही हैं। यजुर्वेद दूसरे शब्दों में कर्मवेद है। प्रयोगविज्ञान के समन्वय की उसके साथ स्वाभाविक प्रक्रिया है। अथर्वसंहिता में ऋग्वेद के मन्त्रों की उपलब्धि मन्त्र साहित्य के समसामयिक होने में दृढ़तर प्रमाण है। पद्यबन्ध का माधुर्य गद्यबन्ध में उपलब्ध नहीं है। किन्तु चरिष्णुमन का धर्म कालक्रम में परिवर्तित होता है। फलतः भाषा पद्य से गद्य रूप में प्रवाहमान होने लगती है। अतः भाषा की प्रवहमान धारा का यह शेष पर्व है। सूत्र-साहित्य के उद्भव के साथ ब्राह्मण धारा भी अवरुद्ध हो गई, किन्तु ज्ञानकाण्डीय ब्राह्मण की उपनिषद्धारा अक्षुण्ण रूप से बहती हुई पौराणिक पृष्ठों में अङ्कित होने लगी। कर्म को विधिवत् करने पर वह गद्य की एषणा से परिव्याप्त नित्य नूतन पथ का उन्मेष पाता है। इस तरह आर्यभावना या आर्य समाज आचार में स्थाणु और विचार में चरिष्णु होकर उपनिषद् तक गतिशील हो जाता है। मन्त्र और ब्राह्मण को अङ्गाङ्गिभाव से समन्वित माना जाय तो कोई आयुक्त नहीं। ब्राह्मण का प्रधान विषय यज्ञविधि है, किन्तु यह यज्ञविधि सहज रूप से उपलब्ध न होकर अर्थवाद से समन्वित रहती है। कभी संशय की स्थिति में मीमांसा और तत्वविज्ञान में उपनिषद् ब्राह्मण के

अङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस तरह आरण्यक और उपनिषद् को लेकर ब्राह्मण का विधिभाग परिपूर्ण होता है। यही उपनिषद् और आरण्यक कालक्रम में मीमांसा और वेदाङ्ग का मूलाधार हो जाता है। किन्तु सभी का मूलबीज संहिता की धारा में उपलब्ध है। दूसरे शब्दों में भ्रूण से शिशु, शिशु से युवा, युवा से वृद्ध ये चार भाग ही मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् हैं। ऋक्संहिता में देवता के प्रशस्ति मन्त्रों का सङ्कलन है। अतः इसके ब्राह्मण में होतृ कर्म की विज्ञप्ति और व्याख्या है। इसके दो माध्यम उपलब्ध हैं—ऐतरेय और शाङ्खायन। ऐतरेय ब्राह्मण का सङ्कलन महिदास ऐतरेय ने किया है। इसमें ४० अध्याय हैं। पाँच अध्याय लेकर एक-एक पञ्चिका है। प्रथम सोलह अध्यायों में अग्निष्टोम याग का विवरण मिलता है। अग्निष्टोम एक सोमयाग या निखिल सोमयाग का प्रकृतियाग है। ४ दिन की भूमिका के बाद एक दिन में याग होता है। अनन्तर दो अध्यायों में गवामयन याग का विवरण है। यह भी सोमयाग है। किन्तु यह ३६० दिन या एक चाँद संवत्सर में सम्पन्न होता है। १६ से २४ अध्याय में द्वादशाह का विवरण है। एक सोमयाग १२ दिन तक चलता है। २५ से ३२ अध्याय पर्यन्त अग्निहोत्र याग का वर्णन है। यह श्रौतयाग के मध्य में सबसे सरल विवेचन है। अग्निहोत्री को सम्पूर्ण जीवन म प्रात-दिन इस याग को करना पड़ता है। ब्राह्मण का अंश राजसूय यज्ञ का विवरण है। इसमें क्षत्रिय यजमान होता है। इस अंश में ही हरिश्चन्द्र रोहित और द्युमत्सेन का उपाख्यान आता है। चरैवेति चरैवेति यह गाथा इसी के अन्तर्गत है। यह सत्य है कि इसका बीज ऋक्संहिता में भी मिलता है (५.२.७;१.२७.१२, १३; २५।११)। आधुनिक पण्डितों की दृष्टि से प्रथम पाँच पञ्चिका ब्राह्मण का प्राचीनतम अंश माना गया है। दूसरा ब्राह्मण शांखायन है जिसमें ३० अध्याय हैं। प्रथम ६ अध्यायों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास एवं चातुर्मास याग का विवरण है। ये हविर्यज्ञ हैं। इनमें सामगान की आवश्यकता नहीं होती। अग्न्याधान करने पर आहिताग्नि होता है और परियाग का अधिकार प्राप्त होता है। अग्निहोत्र प्रतिदिन करना पड़ता है। दर्श और पौर्णमास अमावस्या और पूर्णिमा को करना पड़ता है। ये दोनों याग सभी अष्टयागों के प्रकृतियाग हैं। चातुर्मास्य याग एक वर्ष में ४ पर्वों में सम्पादित होता है। प्रथमपर्व का अनुष्ठान फाल्गुनी पूर्णिमा, दूसरा आषाढ़ पूर्णिमा, तृतीय पर्व कार्तिकी पूर्णिमा इसके बाद फाल्गुन के शुक्ल प्रतिपक्ष में चतुर्थ पर्व का अनुष्ठान होता है। शाङ्खायन ब्राह्मण के सप्तम अध्याय से शेष अध्यायों में सोमयाग का विवरण है। इस ब्राह्मण में श्रौतयज्ञ—एक विशिष्ट शृंखला में संयोजित है। ये यज्ञ आदित्य की गति का अनुसरण करते हैं। अहोरात्र पक्षद्वय मास या ऋतुपर्याय या संवत्सर को काल मानकर इसका सम्पादन होता है। आधुनिक मनीषियों ने ऐतरेय को प्राचीनतर माना है।

सामवेद : ब्राह्मण

सामवेद के ९ ब्राह्मणों में जैमिनीय शाखा का जैमिनीय या तलकार ब्राह्मण, कौथुकीय एवं राणायनीय शाखा का ताण्ड्य या पञ्चविंश या प्रौढ़ ब्राह्मण एवं मन्त्र या छान्दोग्य ब्राह्मण माना गया है। अन्य ब्राह्मण अनुब्राह्मण माने गए हैं। जैमिनीय

ब्राह्मण को प्राचीन ब्राह्मण के रूप में माना गया है। सायण के भाष्य में शात्यायन ब्राह्मण के अनेक उद्धरण मिलते हैं। ये जैमिनीय ब्राह्मण से मेल खाते हैं। सम्भवतः यह जैमिनीय ब्राह्मण का प्राचीन ब्राह्मण था जो इस समय मिलता है। जैमिनीय ब्राह्मण ८ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय में कर्मकाण्ड है। चौथे से सात अध्याय पर्यन्त उपनिषद् ब्राह्मण है। यह आरण्यक और उपनिषद् का साम्मिश्रण है। प्रसिद्ध तलवकार या केनोपनिषद् सप्तम अध्याय के एकादश खण्ड से आरम्भ होता है और २१ वें खण्ड में समाप्त होता है। इसके बाद अतिरिक्त सात खण्ड में सप्तम अध्याय शेष होता है। अष्टम अध्याय आर्षेय ब्राह्मण है। उसमें सामसंहिता का ग्रामगेय एवं आरण्यगेय गान के सामसमूहों के ऋषि इन्द्र देवता आदि की अनुक्रमणी है। आर्ष ब्राह्मण को एक अनुब्राह्मण माना जाता है। आचार्य शङ्कर ने अपने केनोपनिषद् की भाष्यभूमिका में जैमिनीय ब्राह्मण का जो विवरण प्रस्तुत किया है उसमें अध्यायक्रम भिन्न प्रकार का है। प्रथम ८ अध्याय में कर्मकाण्ड प्राणोपासना कर्माङ्ग सामोपासना गायत्र सामविषयक दर्शन एवं वंशक्रम की कथा और नवम अध्याय से पर ब्रह्मविषयक केनोपनिषद् सारब्रह्म निरूपित होता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण :

इसके सङ्कलयिता ताण्ड्य ऋषि हैं। ब्राह्मण में २५ अध्याय हैं। इसीलिए इसको पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहा जाता है। ताण्ड्य ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण का विषय एक ही है किन्तु जैमिनीय ब्राह्मण का आख्यान भाग ताण्ड्य ब्राह्मण से समृद्ध है और ऐतिहासिक मूल्य धारण करता है। कतिपय अतिप्राचीन तान्त्रिक अनुष्ठानों का विवरण उसमें मिलता है जिसे शिष्टाचारविगर्हित मानकर पञ्चविंश ब्राह्मण में छोड़ दिया गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण का प्रथम अध्याय यजुमंत्र की एक संहिता है। द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में विष्टुति या स्तोमरचना की पद्धति का वर्णन है। सामगान सोमयागमें ही होता है। अतः सामवेदीय ब्राह्मण में केवल सोमयाग का ही विवरण पाया जाता है। जो सोमयाग एक दिन में निष्पन्न होता है, वह एकाह है जैसे ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, अभिजित्, विश्वजित्, सर्वजित् आदि। २ दिन से ११ दिन तक जिस यज्ञ में लगता है उसको अहीन कहते हैं, जैसे—कई प्रकार के आर्तरात्र संस्थापक याग, त्रिरात्र, चतुरात्र, पञ्चरात्र, नवरात्र और ११ दिन में सम्पन्न होने वाला पौण्डरीक इत्यादि। ताण्ड्य ब्राह्मण ज्योतिष्टोम या अग्निष्टोम का प्रकारभेद है। ये सभी एकाह एवं अहीन याग के प्रकृति या आदर्श हैं। इसके बाद १२ दिन में होने वाला द्वादशाह याग है जिसको मीमांसक 'अहीन' एवं सत्र कहते हैं। सत्र में १३ दिन से २१ दिन, एक वर्ष, तीन वर्ष, १२ वर्ष, १०० वर्ष एवं १००० वर्ष तक चल सकता है। मनुष्य का समस्त जीवन ही यज्ञ है। विश्व की सृष्टि प्रजापति का यज्ञ है। यही इसका आशय है। संवत्सर सहाय गवामयन सभी सूत्रों की प्रकृति है। ताण्ड्य एवं जैमिनीय ब्राह्मण में उद्गाता के अनुसार विवरण मिलता है। ताण्ड्य ब्राह्मण के नवम अध्याय में सोमप्रायश्चित्त का वर्णन है। सत्रह अध्याय में

व्रात्यस्तोम नामक एकाह की कथा है। इस भाग का उद्देश्य वैदिक सम्प्रदाय में व्रात्यों को अन्तर्मुक्त करना है।

इस प्रसङ्ग में संक्षेप में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि वैदिक साहित्य के अनेक स्थानों में व्रात्यों के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है। भारतवर्ष की आर्यसाधना के विवर्तन का एक सुन्दर इतिहास यहाँ उपलब्ध होता है। भारतवर्ष की अध्यात्मभावना की अवगति के पक्ष में इसकी विशिष्ट उपयोगिता है। पौराणिक गाथाओं में भी वैदिक धारा का अवैदिक धारा के प्रतिनिधियों के साथ संघर्ष की ही चर्चा उपलब्ध होती है। राजभक्ति के पोषक वैदिक धारा के क्रम में आभिजात्य की मर्यादा का अर्जन करते हैं, जो ब्राह्मण्य धर्म के नाम से परिचित है।

ब्राह्मण्य धर्म मूलतः देववादी है। उनकी आचार और अनुष्ठान की पद्धतियाँ वैदिक श्रौत गृह्य धर्मसूत्र से उद्भूत ब्राह्मण्य स्मृति और पुराणों में पाते हैं। इन्हीं के द्वारा आर्यों का शासन होता रहा है। संस्कृत भाषा ही इस धारा की वाहक रही है। ब्राह्मण्य धर्म एक जीवन्त धर्म है। अतः प्राणशक्ति के प्रेरणास्रोतस्वरूप बाहर के अनेक गम्भीर तत्त्वों को उसने आत्मसात् किया है। उसके आत्मसात् के साथ ही उसे संस्कृत का रूप देकर चिर आचरित रीति को प्रदान करता है। ब्राह्मण वर्ग का अभिजात अंश वेद की भाषा में ब्रह्म या क्षत्र है। विश् (वैश्य) और साधारण जन अनभिजात कोटि में माने गये हैं। इन्हीं से त्रैवाण्डिक समाज की व्यवस्था का उद्भव हुआ। वैश्य वेदपन्थी हैं, किन्तु उनके धर्मविश्वास और धर्माचारण में सरलता स्वाभाविक है। वेदमार्गी आर्यों की साधना और भावना का, इतिहास और पुराण है प्रेरक, जिसे प्राचीन ब्राह्मण में पञ्चमवेद के नाम से गिना गया है। यह नितान्त असंगत है कि पौराणिक ब्राह्मण्य धर्म परवर्ती युग की धारणा का निदर्शन है। अथर्ववेद के भाव ऋग्वेद के समकालीन होने पर भी कतिपय वैशिष्ट्य के साथ उपस्थित होते हैं। त्रयी विद्या में वैदिकभावना का एक प्रकाश मिलता है। अथर्वाङ्गिरस् एवं इतिहास पुराण में इसकी दूसरे रूप में दीप्ति मिलती है। एक ही समाज में वैदिक भावना के नजदीक अवैदिक भावना का भी एक स्रोत मिलता है अवैदिक भी आर्य ही हैं किन्तु धर्मविश्वास एवं धर्माचरण में वे उनसे सर्वथा भिन्न हैं। न तो ये देववादी हैं और न क्रियाविशेषबहुल आधार के अनुष्ठान में ही निष्णात है। यह कहा जा सकता है कि आज के युग में ब्राह्मण्य और हिन्दू धर्म में जो पार्थक्य है, वैसा ही वैदिक आर्यों के समय में भी होगा। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण भी हिन्दू थे, किन्तु वे बुद्धिवादी थे। बुद्धिवादियों की प्राचीन संज्ञा बौद्ध या Rationalist है। संज्ञा के व्यापक अर्थ को मानकर व्यवहार करने पर यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि आर्यभावना प्राचीनतम युग से ही दो धाराओं में प्रवाहित थी एक ब्राह्मण्य और दूसरा बौद्ध। एक के दर्शन का नाम मीमांसा और दूसरे के दर्शन का नाम तर्क है। एक की सृष्टि वेदान्त और दूसरे की सृष्टि सांख्य सिद्धान्त है। एक का साधन श्रद्धा और दूसरे का तप है। एक का साधन याग और दूसरे का योग है। एक ब्रह्मवादी है दूसरा आत्मवादी। एक का साधक ऋषि है दूसरे का मुनि। एक के भजनीय देवता जैसा कि नेपाली भाषा में दे-भाजु कहा

जाता है। एक का अनुवह है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म, और दूसरा मानुष्यात् परतरं न हि" एक के लिए प्रमाण वेदश्रुति है तो दूसरे के लिए आर्ष। एक का माध्यम संस्कृत दूसरे का प्राकृत। ये दोनों परस्पर एक दूसरे पर आघात करते हुए आज भी प्रवाहमान् हैं। किन्तु भारतवर्ष की साधना भावना इस तरह ओतप्रोत है कि उनका पार्थक्य असम्भव है। अतः कोई भी प्रवृत्ति एक विरोध के रूप में आने पर भी इस भावना से प्रवाहित हो किसी को आराध्य बनाकर श्रद्धासुमन अर्पित करती है। आरम्भ में गणधर्म की भागवत और शैव दो धारायें थीं। शाक्त धारा दोनों के मध्य शक्ति संचार करती हुई इनको पुष्पित-पल्लवित करती थी। दोनों ही धारायें आर्य एवं आदिम धारायें हैं। व्रात्य शब्द संघ या गण का वाचक है यह व्रात् शब्द से निष्पन्न है। व्रात्य दलबद्ध होकर रहते थे और व्रात्यस्तोम के द्वारा ये याज्ञिक समाज में अन्तमुक्त होते थे। कात्यायन के अनुसार व्रात्य के विषय में व्यवहार्या भवन्ति यह कथन नितान्त सत्य है। ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार व्रात्यस्तोम के ४ भेद निर्दिष्ट हैं, जो हीन निन्दित कनिष्ठ एवं ज्येष्ठ व्रात्य को लक्ष्य कर कहे गए हैं। इस प्रकार ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार वेद-मार्ग के विरोधी व्रात्य माने गए हैं।

ताण्ड्यब्राह्मण का एक परिशिष्ट उपलब्ध होता है जो षड्विंश ब्राह्मण कहा जाता है। इसके ५ प्रपाठक हैं। तृतीय प्रपाठक में ५ नवीन यागों का विधान है— श्येन, इषु, सन्दांश, वज्र एवं विश्वदेव। तन्त्र की भाषा में यह रौद्र कर्म है। चतुर्थ प्रपाठक में ब्राह्मण की प्रातः-सन्ध्यानुष्ठान के सम्बन्ध में आलोचना की गई है। पंचम प्रपाठक अद्भुत ब्राह्मण है। तन्त्र का शान्तिकर्म इससे सामञ्जस्य रखता है। इसके दशम खण्ड में देवमन्दिर आदि का विधान किया गया है। सामवेद का एक प्रधान ब्राह्मण छान्दोग्य या मन्त्र या उपनिषद्ब्राह्मण कहलाता है। इसके १० प्रपाठक हैं। प्रथम दो प्रपाठक में ब्रीहकरण्ड के मन्त्रों का संग्रह है, शेष ८ प्रपाठक में छान्दोग्योपनिषद् है। इनके अतिरिक्त ५ और ब्राह्मण हैं जिन्हें अनुब्राह्मण कहा जाता है। सामविधान ब्राह्मण में कृच्छ्र चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तों का विधान है। इसमें तीन प्रपाठक हैं। आर्षेय ब्राह्मण हैं, इसके बाद दैवत ब्राह्मण हैं। इसमें तीन खण्ड हैं। इसके प्रथम खण्ड में साम का विधान या अन्त्यभाग के देवता का वर्णन है। द्वितीय खण्ड में छन्द के देवता का विवरण एवं तृतीय खण्ड में छन्द के नाम की व्युत्पत्ति है। साहित्योपनिषद ब्राह्मण ५ खण्ड में विभक्त है। अन्त में वंशब्राह्मण ३ खण्ड में विभक्त है। इसमें सामवेद के सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यों के वंशधारियों का विवरण है। सामवेद के आदिप्रवक्ता स्वयंभू, ब्रह्मा या श्रोता प्रजापति हैं। प्रजापति से इसका लाभ मृत्यु

करता है, मृत्यु से वायु, वायु से इन्द्र, इन्द्र से अग्नि और अग्नि के द्वारा ही कश्यप मनुष्यों में इस वेद का लाभ कराये। मार्कण्डेयपुराण में भी प्रजापतिक्रम में वेद का विस्तार प्रदर्शित है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण :

कृष्ण यजुर्वेद का मन्त्र और ब्राह्मण एक ही साथ दिया गया है। शुक्लयजुर्वेद में उसका पृथक्-पृथक् संकलन होता है। इसका विशेषण संक्षेप में पूर्व में ही दिया गया है। कृष्ण-यजुर्वेद की काठक संहिता के ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई भी ब्राह्मण नहीं मिलता। मैत्रायणी संहिता का कोई ब्राह्मण नहीं मिलता। तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के एकादश प्रपाठक में नचिकेता का उपाख्यान मिलता है। इसमें कठोपनिषद् की आख्यायिका का साम्य है। शुक्ल यजुर्वेद का अतिविपुल शतपथ ब्राह्मण है। १०० अध्यायों में होने क कारण इसे शतपथ कहा गया है। काण्व एवं माध्यन्दिन दो शाखाओं में इस ब्राह्मण की उपलब्धि होती है। काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाओं में माध्यन्दिन शाखा का प्राधान्य है। दूसरा सामान्य विवरण निम्नवत् हैं—शतपथ ब्राह्मण के प्रथम ९ काण्डों में वाजसनेयि संहिता की व्याख्या उपलब्ध होती है। द्वादश काण्ड का नाम मध्यम है। प्रथम काण्ड का विषय प्रकृति याग है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, पिण्डपितृ यज्ञ दाक्षणायन आदि हैं। चतुर्थ काण्ड में सोमयाग पञ्चम में वाजपेय और राजसूय, छठें से दशम तक अग्निचयन वर्णित है। एकादश में पशुबन्ध, पञ्च महायज्ञ आदि हैं। द्वादश में द्वादशाह सत्र, संवत्सर सत्र और सौत्रामणि याग। त्रयोदश में अश्वमेध पुरुषमेध सर्वमेध और पुरुषमेव। चतुर्दश में प्रवार्य एवं बृहदारण्यक शतपथ ब्राह्मण में शाण्डिल्य और याज्ञवल्क्य प्रधान हैं। आदित्य सम्प्रदाय प्रवर्त्तक हैं। श० ब्रा० में श्रमण का उल्लेख मिलता है (१४.७.१.२२) तैतिरीय आरण्यक में इनको वातरसना कहा गया है—"वातरसना ह वै ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः"। 'वातरसन शब्द का अर्थ दिगम्बर होता हैं अर्थात् प्राणायाम के द्वारा वे प्राणसंयम में समर्थ होते हैं। यज्ञानुष्ठान के बिना भी विद्या के द्वारा यज्ञसाध्य फल का लाभ करते हैं। वातरसन मुनि का उल्लेख ऋक्संहिता में भी मिलता है (१०।१३६)। इनको ऊर्ध्वसोता या ऊर्ध्वरेता कहते हैं। इस आर्य मुनिधारा का वहन श्रमणों ने किया। इसीलिए ब्राह्मण को प्रव्राज्य मुनिधारा में अर्हत्, बौद्ध, भिक्षु आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया। व्रात्यों की पूर्वचर्चा तुलनीय है। शतपथ में ही विदेहमाधव ने सदामिरा के उपर उपनिषद् भावना को प्रवाहित किया था। व्रात्य और ब्राह्मण्य संस्कृति के मिश्रण से व्युत्पन्न दार्शनिक चिन्तनधारा का विशिष्ट रूप विदेह याज्ञवल्क्य के संवाद में उपलब्ध होता

है। शतपथ ब्राह्मण में दो आख्यायिकायें उल्लेखनीय हैं—एक प्रजापति का दुहितृगमन और दूसरी पृथिवी का जलप्लावन। अथर्व संहिता का एक ही ब्राह्मण मिलता है जिसका नाम गोक्थ है इसके दो भाग हैं—पूर्व और उत्तर। पूर्व भाग में ५ प्रपाठक हैं, उत्तर भाग में ६।

आरण्यक :

संहिता के प्रधान ब्राह्मणों का शेष अंश ही आवश्यक है। यह नाम संहिता और ब्राह्मण में ही मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड के शेष छः अध्याय बृहदारण्यक हैं। विद्या की दृष्टि से ब्राह्मण की स्वाभाविक परिणति आरण्यक में और आरण्यक की उपनिषद् में होती है। ब्राह्मण में यज्ञविद्या है, आरण्यक में रहस्यविद्या और उपनिषद् में ब्रह्मविद्या। ऋग्वेद के ऐतरेयब्राह्मण का परिशिष्ट अंश ऐतरेयारण्यक है और शाङ्खायनब्राह्मण का शाङ्खायनारण्यक। आरण्यक अध्याय एवं काण्ड में विभक्त हैं। सामवेद के आरण्यक जैमिनीय ब्राह्मण के अन्तर्गत है और छान्दोग्योपनिषद् का प्रथम अंश है। इसमें अनेक उपासनाओं की अवतारणा की गई हैं। कृ०य० वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण का परिशेष तैत्तिरीयारण्यक है। सप्तम से नवम प्रपाठक तक तैत्तिरीयोपनिषद है। शु०य०वे० के शतपथब्राह्मण का शेष चतुर्दशकाण्ड का शेष बृहदारण्यक है। प्रथम तीन अध्याय में पूर्वार्थि हैं और छः अध्यायों में बृहदारण्यकोपनिषद है।

उपनिषद्

उपनिषद् की व्युत्पत्ति को लेकर के अनेक विचार उपलब्ध होते हैं किन्तु सभी विद्यायें आचार्य के समीप जाकर परिचर्या द्वारा प्राप्त करने का विधान है, अतः सभी विद्याएँ उपनिषद कही जा सकती हैं। उपनिषद् का सबसे प्राचीन उल्लेख शाक संहिता के खिलसूक्त में मिलता है। वहाँ एक ही साथ निषत् और उपनिषद् शब्द का उल्लेख मिलता है। महाभारत में भी ऐसा ही उल्लेख है पारिभाषिक अर्थ में निषत् शब्द संहिता और ब्राह्मण में पाया जाता है अर्थात् देवता का आवेश का अनुभव। ऋक् संहिता में भी उपनिषद् शब्द का विशेष अर्थ में ही प्रयोग मिलता है अर्थात् देवता को लक्ष्य कर सवित् निवेदन के आधार का प्रतीक अर्थात् नित्य सामीप्य की भावना। आरण्यक और उपनिषद् के आधार पर निगूढतत्त्व में उपनिषद् शब्द का प्रयोग मिलता है। फलतः देवत्व के सान्निध्य से विद्या की उपलब्धि होती है। शङ्कर के अनुसार अविद्या का नाश करने वाला ही उपनिषद है। उपलब्ध उपनिषदों की संख्यो अनन्त हैं, किन्तु १४ उपनिषदों को विशेष महत्त्व दिया गया है। विषयवस्तु के अनुसार विभिन्न

रूप में विभाजन उपलब्ध होता है। पौराणिक अनेक गाथाएँ जो वैदिक साहित्य से ली गई हैं और जो रहस्यात्मक विश्लेषण उसमें उपलब्ध होते हैं, वे इन्हीं के प्रभाव हैं।

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराण में आदित्यस्तव नामक एक सौ तीन अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ॥



चतुरधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

सृष्ट्वा जगदिदं ब्रह्मा प्रविभागमथाकरोत् ।
वर्णाश्रमसमुद्राद्रिद्वीपानां पूर्ववद्यथा ॥१॥
देवदैत्योरगादीनां रूपस्थानानि पूर्ववत् ।
देवेभ्य एव भगवानकरोत् कमलोद्भवः ॥२॥
ब्रह्मणस्तनयो योऽभून्मरीचिरिति विश्रुतः ।
कश्यपस्तस्य पुत्रोऽभूत् काश्यपो नाम नामतः ॥३॥
दक्षस्य तनया ब्रह्मन् तस्य भार्यास्त्रयोदश ।
बह्वस्तत्सुताश्चासन् देवदैत्योरगादयः ॥४॥
अदितिर्जनयामास देवांस्त्रिभुवनेश्वरान् ।
दैत्यान् दितिर्दनुश्चोग्रान् दानवानुरुविक्रमान् ॥५॥
गरुडारुणौ च विनता यक्षरक्षांसि वै खसा ।
कद्रुः सुषाव नागांश्च गन्धर्वान् सुषुवे मुनिः ॥६॥
क्रोधाया जज्ञिरे कुल्या रिष्टायाश्चाप्सरोगणाः ।
ऐरावतादीन्मातङ्गानिरा च सुषुवे द्विज ! ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

ब्रह्मा ने इस जगत् की सृष्टिकर पहिले की ही तरह वर्ण, आश्रम, समुद्र, पर्वत और द्वीपों का विभाग किया ॥ १ ॥

भगवान् कमलोद्भव ने देव, दैत्य और पक्षियों के रूप तथा स्थान का पहिले की ही तरह निर्मित कर दिया ॥ २ ॥

मरीचि के नाम से विख्यात जो ब्रह्मा के पुत्र थे, उनका पुत्र कश्यप और काश्यप नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन् ! दक्ष की तेरह कन्याएँ उनकी पत्नियाँ हुईं, उनके गर्भ से उनकी सन्तति के रूप में देव, दैत्य और पक्षी आदि की उत्पत्ति हुई ॥ ४ ॥

अदिति ने तीनों भुवन के प्रभु देवों को उत्पन्न किया, दिति ने दैत्यों को, मनु ने महाविक्रमशाली उग्र दानवों को, विनता ने गरुड और अरुण को, खसा ने यक्ष और राक्षस को, कद्रु ने नागों को मुनि ने गन्धर्वों का जन्म दिया ॥ ५-६ ॥

हे द्विज ! क्रोधा ने कुल्यगण को रिष्टा ने, अप्सराओं को इरा ने ऐरावत आदि हाँथियों को जन्म दिया ॥ ७ ॥

ताम्रा च सुषुवे श्येनी प्रमुखाः कन्यका द्विज ! ।
यासां प्रसूताः खगमाः श्येनभासशुकादयः ॥८॥
इलायाः पादपा जाताः प्रधाया यादसां गणाः ।
अदित्यां या समुत्पन्ना कश्यपस्येति सन्ततिः ॥९॥
तस्याश्च पुत्रदौहित्रैः पौत्रदौहित्रिकादिभिः ।
व्याप्तमेतज्जगत् सूत्या तेषां तासाञ्च वै मुने ! ॥१०॥
तेषां कश्यपपुत्राणां प्रधाना देवतागणाः ।
सात्त्विका राजसास्त्वेते तामसाश्च मुने ! गणाः ॥११॥
देवान् यज्ञभुजश्चक्रे तथा त्रिभुवनेश्वरान् ।
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥१२॥
तानबाधन्त सहिताः सपत्ना दैत्यदानवाः ।
राक्षसाश्च तथा युद्धं तेषामासीत् सुदारुणाम् ॥१३॥
दिव्यं वर्षसहस्रन्तु पराजीयन्त देवताः ।
जयिनश्चाऽभवन् विप्र ! बलिनो दैत्यदानवाः ॥१४॥
ततो निराकृतान् पुत्रान् दैतेयैर्दानवैस्तथा ।
हृतत्रिभुवनान् दृष्ट्वा अदितिर्मुनिसत्तम ॥१५॥

हे द्विज ! ताम्रा ने श्येनी आदि प्रमुख कन्याओं को जन्म दिया, उन कन्याओं से श्येन = बाज, भास, कबूतर, शुक आदि पक्षियों को उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

हे मुने ! इला से वृक्षों की उत्पत्ति हुई और प्रधा से पतङ्गे = पतङ्गगण उत्पन्न हुए, अदिति के गर्भ से कश्यप की जो सन्तानें थी, उनके पुत्रों, दौहित्रों, पुत्रियों दौह-दौहित्री आदि से एवं उनकी सन्तान से जगत् परिव्याप्त हो गया ॥ ९-१० ॥

हे मुने ! कश्यप की उन सन्ततियों में देवगण ही प्रधान थे, उनके सात्त्विक, राजस और तामस ये तीन गण थे ॥ ११ ॥

ब्रह्मज्ञों में श्रेष्ठ परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मा ने देवों को तीनों भुवनों का प्रभु एवं यज्ञभुक् बनाया ॥ १२ ॥

किन्तु विमाता दिति से उत्पन्न दैत्य, दानव और राक्षसगण मिल कर शत्रुता का आचरण करते हुए देवगण को विघ्न करने लगे, अतः, उनके साथ देवों का एक सहस्र दिव्य वर्षों तक भयङ्कर युद्ध हुआ, हे विप्र ! इस युद्ध में देवगण पराजित हुए और बलशाली दैत्य-दानवगण विजयी हुए ॥ १३-१४ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! अनन्तर दैत्य-दानवों के द्वारा त्रिभुवन का हरण किये जाने और पुत्रों को वहाँ से निकाले जाने से एवं यज्ञ के भाग से वञ्चित होने से अदिति शोकसे

आच्छिन्नयज्ञभागांश्च शुचा संपीडिता भृशम् ।
आराधनाय सवितुः परं यत्नं प्रचक्रमे ॥१६॥
एकाग्रानियताहारा परं नियममास्थिता ।
तुष्टाव तेजसां राशिं गगनस्थं दिवाकरम् ॥१७॥

अदितिरुवाच—

नमस्तुभ्यं परां सूक्ष्मां सौवर्णीं बिभ्रते तनुम् ।
धाम धामवतामीश ! धाम्नामाधार शाश्वत ! ॥१८॥
जगतामुपकाराय त्वामपस्तप गोपते ।
आददानस्य यद्रूपं तीव्रं तस्मै नमाम्यहम् ॥१९॥
ग्रहीतुमष्टमासेन कालेनेन्दुमयं रसम् ।
बिभ्रतस्तव यद्रूपमतितीव्रं नतास्मि तत् ॥२०॥
तमेव मुञ्चतः सर्वं रसं वै वर्षणाय यत् ।
रूपमाप्यायकं भास्वंस्तस्मै मेघाय ते नमः ॥२१॥

अतिशय पीडित होकर सवितृदेव की आराधना के लिए अतिशय प्रयत्नशील हुई ॥ १५-१६ ॥

अदिति विशिष्ट नियमों का पालन करती हुई एकाग्र नियमानुसार भोजन करती हुई गगन में स्थित तेजोराशि दिवाकर की स्तुति करने लगी ॥ १७ ॥

अदिति ने कहा—

हे शाश्वत ! तुम कमनीय सूक्ष्म कनक शरीरधारी हो, तुम साक्षात् दीप्ति स्वरूप हो, तुम तेजस्वियों में प्रधान हो, तुम नित्य विद्यमान और तेज के आधार हो, तुमको नमस्कार है ॥ १८ ॥

हे किरणपते ! जगत् के कल्याण के लिए सलिल ग्रहण अर्थात् शोषण के समय तुम्हारे जो प्रखर स्वरूप का आविर्भाव होता है उसको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ १९ ॥

आठ मास तक इन्दुमय रस का ग्रहण करने के लिए जिस अतिशय तीव्र रूप को धारण करते हैं उस प्रखर स्वरूप मूर्ति को मेरा नमस्कार है ॥ २० ॥

[रमेशचन्द्रपाल ने इस पद्य का अर्थ इस प्रकार किया है "तुम ताप और किरण के नियन्ता हो, तुम जगत् के उपकार के लिए सलिल ग्रहण के लिए समुद्यत होने पर, तुम्हारी जिन किरणों का आविर्भाव होता है, उसको मेरा नमस्कार है ॥ २० ॥]

हे भास्वन् ! उन रसों के वर्षण के समय जल का परित्याग करने के लिए तुम जिस तृप्ति प्रदान करने वाली मेघरूपा मूर्ति को धारण करते हो, तुम्हारी उस मेघमूर्ति को मेरा नमस्कार है ॥ २१ ॥

वार्युत्सर्गविनिष्पन्नमशेषञ्चौषधीगणम् ।
पाकाय तव यद्रूपं भास्करं तं नमाम्यहम् ॥२२॥
यच्च रूपं तवातीव हिमोत्सर्गादिशीतलम् ।
तत्कालशस्यपोषाय तरणे तस्य ते नमः ॥२३॥
नास्ति तीव्रञ्च यद्रूपं नातिशीतञ्च यत्तव ।
वसन्तर्त्तौ रवे सौम्यं तस्मै देवं ! नमो नमः ॥२४॥
आप्यायनमशेषाणां देवानाञ्च तथा परम् ।
पितृणाञ्च नमस्तस्मै शस्यानां पाकहेतवे ॥२५॥
यद्रूपं जीवनायैकं वीरूधाममृतात्मकम् ।
पीयते देवपितृभिस्तस्मै सोमात्मने नमः ॥२६॥
आभ्यां यदर्करूपाभ्यां रूपं विश्वमयन्तव ।
समेतमग्नीषोमाभ्यां नमस्तस्मै गणात्मने ॥२७॥

जल-वर्षण के द्वारा उत्पन्न सभी औषधियों के परिपाक के लिए तुम जिस मूर्ति को धारण करते हो, तुम्हारी उस भास्कर मूर्ति को मेरा नमस्कार है ॥ २२ ॥

हे तरणे ! अर्थात् हे सूर्य ? हेमन्त ऋतु के समय शस्य के पोषण के लिए तुम्हारा जो हिमवर्षण के द्वारा शीतल स्वरूप होता है, तुम्हारी उस मूर्ति को नमस्कार है ॥ २३ ॥

हे रवे ! वसन्त ऋतु में अतिशय प्रखर और अतिशय शीतल नहीं वरन् सौम्य स्वरूप धारण करने वाली मूर्ति है, हे देव ! तुम्हारी उस मूर्ति को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २४ ॥

तुम्हारा वह स्वरूप जो सभी देवों एवं पितरों के लिए परम प्रीति कर तथा शस्य का परिपाक सम्पादक है उस स्वरूप को नमस्कार है ॥ २५ ॥

अमृतमय तुम्हारा स्वरूप जो वृक्षों का जीवनाधायक है एवं सुधामय समझ कर जिसे देवगण और पितृगण पान करते हैं, उस सोम स्वरूप तुम्हें नमन है ॥ २६ ॥

हे अर्क ! अग्नि और सोम ये दो रूप मिल कर जो तुम्हारा विश्वमय स्वरूप है, उस गणात्म स्वरूप में तुम्हें नमस्कार है ॥ २७ ॥

[इसकी व्याख्या में कतिपय आचार्यों ने अर्क को रूप का विशेषण मान कर "अग्नि और सोम ये दो स्वरूप मिलकर जो तुम्हारा अर्क स्वरूप है, यह अर्थ किया है। म०म० पञ्चानन भट्टाचार्य को यही अभीष्ट है ॥ २७ ॥]

यद्रूपं ऋग्यजुः साम्नामैक्येन तपते तव।
विश्वमेतत् त्रयीसंज्ञं नमस्तस्मै विभावसो ! ॥२८।
यत्तु तस्मात्परं रूपं ओमित्युक्त्वाभिशब्दितम्।
अस्थूलानन्तममलं नमस्तस्मै सदात्मने ॥२९।

मार्कण्डेय उवाच—

एवं सा नियता देवी चक्रे स्तोत्रमहर्निशम्।
निराहारा विवस्वन्तमारिराधयिषुर्मुने ! ॥३०।
ततः कालेन महता भगवांस्तपनोऽम्बरे।
प्रत्यक्षतामगादस्या दाक्षायण्या द्विजोत्तम ! ॥३१।
सा ददर्श महाकूटं तेजसोऽम्बरसंश्रितम्।
भूमौ च संस्थितं भास्वत् ज्वालामालातिदुर्दृशम् ॥३२।
तं दृष्ट्वा सा तदा देवी साध्वसं परमं गता।
जगाद मे प्रसीदेति न त्वां पश्यामि गोपते ! ॥३३।

हे विभावसो ! ऋक्, यजुः और सोम ये तीन वेद मिल कर तुम्हारे त्रयी नामक स्वरूप को विश्व में दीप्ति प्रदान कर रहा है, तुम्हारे उस स्वरूप को नमस्कार है ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त इस स्वरूप की अपेक्षा भी श्रेष्ठतम स्वरूप ॐ के नाम से कीर्तित है, जो अतिशय सूक्ष्म विमल और अनन्त सर्वथा दोषादिशून्य सम्पर्क सर्व विराजमान है, तुम्हारे उस स्वरूप को नमस्कार है ॥ २९ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे मुने ! इस रूप में देवी अदिति ने नियमबन्धनपूर्वक निराहार होकर भास्कर की आराधना की कामना से अहर्निश स्तवन किया ॥ ३० ॥

हे द्विजोत्तम ! बहुत दिनों के बाद भगवान् भास्कर आकाश में ही इस अदिति दाक्षायणी को प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ३१ ॥

उसने देखा, पुञ्जीभूत दीप्ति आकाश और पृथिवी को परिव्याप्त कर अवस्थित है अतिशय प्रभा भास्वर अंशुमालाओं के कारण अतिशय दुर्दर्श है अर्थात् प्रखर किरणों की दीप्ति से जिसका दर्शन करना अतिशय कठिन है, उस स्वरूप में विराजमान भास्कर को पृथिवी पर भी प्रत्यक्ष गोचर किया ॥ ३२ ॥

इस स्वरूप के दर्शन से देवी अदिति के भीत अन्तःकरण में अतिशय भय का उद्रेक हुआ अर्थात् अतिशय भयभीत हो गई, उसने कहा—हे गोपते ! प्रसन्न हो, मैं तुझे नहीं देख पा रही हूँ ॥ ३३ ॥

यथा दृष्टवती पूर्वमम्बरस्थं सुदुर्दृशम् ।
निराहारा विवस्वन्तं तपन्तं तदनन्तरम् ॥३४।
सङ्गतं तेजसां तद्वदिह पश्यामि भूतले ।
प्रसादं कुरु पश्येयं यद्रूपं ते दिवाकर !
भक्तानुकम्पक विभो ! भक्ताऽहं पाहि मे सुतान् ॥३५।
त्वं धाता विसृजसि विश्वमेतत्
त्वं पासि स्थितिकरणाय सम्प्रवृत्तः ।
त्वय्यन्ते लयमखिलं प्रयाति तत्त्वं
त्वत्तोऽन्या न हि गतिरस्ति सर्वलोके ॥३६।
त्वं ब्रह्मा हरिरजसंज्ञितस्त्वमिन्द्रो
वित्तेशः पितृपतिरम्बुपतिः समीरः ।
सोमोऽग्निर्गगनपतिर्महीधरोऽब्धिः
किं स्तव्यं तव सकलात्मरूप धाम्नः ॥३७।

[इन दो पद्यों में आचार्यों ने सूर्य का पृथिवी पर आगमन की सूचना दी है किन्तु, ऐसा अवगत होता है कि उसकी प्रभामालाओं की परिव्याप्ति ही सर्वत्र उसकी स्थिति की सूचिका थी ॥]

पूर्व में निराहार होकर गगन में अवस्थित दर्शन करने में कठिन सूर्य को जिस रूप में दीप्ति और तपते हुए देखा था, अब इस क्षण भूतल पर भी उसी तरह तेजोराशि मूर्ति का दर्शन कर रही हूँ, हे दिवाकर ! मुझ पर प्रसन्न हो, तुम्हारे सहज रूप का मुझे दर्शन हो। हे विभो ! तुम भक्तों पर अनुकम्पा करते हो, मैं तुम्हारी भक्त हूँ, तुम मेरे पुत्रों की रक्षा करो ॥ ३४-३५ ॥

धाता के रूप में इस विश्व को तुम ही उत्पन्न करते हो, स्थिति के लिए सयत्न होने पर तुम ही इस विश्व का पालन करते हो, अन्त में अर्थात् प्रलय काल में तुममें ही अखिल तत्त्व लय प्राप्त करता है, अतः तुमसे अतिरिक्त इस लोक में अन्य गति नहीं है ॥ ३६ ॥

तुम ही ब्रह्मा, तुम ही हरि, तुम ही अज संज्ञक अर्थात् उत्पत्तिरहित महादेव, तुम ही इन्द्र, तुम ही धनद = कुबेर, तुम ही पितृपति (यम), जलपति (वरुण), वायु, चन्द्र, अग्नि, गगन, महीधर = पर्वत, समुद्र हो, तुम्हारा स्तवन मैं किन शब्दों में करूँ, निखिल तेजस्तत्त्व के तुम ही आत्म स्वरूप हो, अर्थात् दीप्ति तत्त्वों के मूलभूत हो ॥ ३७ ॥

यज्ञेश त्वामनुदिनमात्मकर्मसक्ताः
स्तुन्वन्तो विविधपदैर्द्विजा यजन्ति ।
ध्यायन्तो विनियतचेतसो भवन्तं
योगस्थाः परमपदं प्रयान्ति योगमूर्त्या ॥३८॥

तपसि पचसि विश्वं पासि भस्मीकरोषि
प्रकटयसि मयूखैर्ह्लादयस्यम्बुगर्भैः ।
सृजसि पुनरपि त्वं भावनास्वच्युतासु
प्रणमितसरमर्त्यैः पापकृद्भिस्त्वगम्यः ॥३९॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे दिवाकरस्तुतिर्नाम चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

हे यज्ञेश ! द्विजगण प्रतिदिन अपने कर्मों के सम्पादन में अनुरक्त विविध पदों से अर्थात् वैदिक छन्दोबद्धवाणी से तुम्हारी पूजा करते हैं, एवं विशिष्ट रूप में मन को संयत कर योगमार्ग में प्रवृत्त होकर तुम्हारा ही ध्यान करते हैं, योगर्द्धिसम्पन्न योगमूर्ति से परम पद की प्राप्ति करते हैं ॥ ३८ ॥

तुम ही विश्व में तापदाता, पाकविधाता, पालक और किरणों से प्रकाशित एवं भस्मीभूत करते हो, तुम ही किरणों को जल मध्य में विकरण आहृत्यादि और पुनः सृष्टि करते हो, सुरगण एवं मर्त्यगण तुमको ही प्रणाम करते हैं, पापकर्ता स्थिर भावना के द्वारा भी तुमको प्राप्त नहीं कर सकते हैं ॥ ३९ ॥



पर्यालोचन

वेद एवं वैदिक संस्कृति : एक सामान्य परिचय—

भारतवर्ष के इतिहास का उषाकाल वैदिक युग है। इससे पूर्व का इतिहास अन्धकार के गर्त में है। यदि कोई प्राचीन संस्कृति इससे पूर्व की हो तो वह इसी में जीर्ण-शीर्ण होकर अपना अस्तित्व समाप्त कर चुकी है। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष की समग्र आत्मचेतना वेद के मध्य में ही निहित है। भारतीय आत्म-चेतना का रूप अध्यात्म भावना में निहित है। पुरातत्त्व सम्बन्धी चर्चाएँ इतिहास के कतिपय पृष्ठों को उद्दीप्त भले ही करे, किन्तु उससे किसी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक मूल्यवान् अनुशीलन सम्भव नहीं। अतः मूल्यवान् उपादाय वैदिक साहित्य ही है। इसका साहित्यिक आयतन सहस्रव्यापी अनवच्छिन्न धारा के क्रम में अतिशय विशाल है। आज भी इस चेष्टा की विरति नहीं। आज वैदिक मूलाधार के परिप्रेक्ष्य में अनेक चिन्तनधारायें सुलभ कराने की चेष्टा मनीषियों के द्वारा चल रही है। कालक्रम, भाषा, आचार-व्यवहार के परिवर्तन का कारण अवश्य ही है, किन्तु भाव के अन्तर्निहित सत्य की क्रमिक अभिव्यक्ति का विवेचन करने पर अन्तः प्रकृति आज भी अभिव्यक्त है। काल का व्यवधान अनेक विषयों को दुर्बोध करा चुका है। पौराणिक साहित्य ने मित्र-भाव से इस दुर्बोधता को दूर करने का प्रयास किया है। वैदिक साहित्य का स्थूल दृष्टि से चार विभाग किया जा सकता है—

१. मन्त्र-संहिता २. ब्राह्मण ३. आरण्यक ४. उपनिषद्

प्राचीनतम विभाग मन्त्र और ब्राह्मण ही था क्योंकि "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्" यह प्रसिद्ध है। अनन्तर ऋत्विक्, होता, अध्वर्यु आदि की दृष्टि से वेद का चार विभाग प्रसिद्ध हुआ। इससे पूर्व जैमिनी के सूत्रकाल तक ऋक्, यजुष् और साम ये तीन ही वेद थे। मूलवेद जब मन्त्र और ब्राह्मण था, उसमें ब्राह्मण संहिता के उपव्याख्यान के रूप में माना गया। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण के ही अन्तर्गत हैं। इस भेद का मूलाधार अभिव्यक्ति की विभिन्नता है, कालिक पौर्वापर्य नहीं है। मन्त्र साहित्य का आरम्भ है और उपनिषद् उसका शेष है। भावप्रधान उपनिषद् अपेक्षाकृत सहज और सरल है और इसकी भाषा भी मन्त्र की अपेक्षा सुस्पष्ट है। मन्त्र की भाषा प्राचीन है और ब्राह्मण प्राचीनतम व्याख्या। इतना सत्य है धारावाहिक रूप में मन्त्र की व्याख्या उसका उद्देश्य नहीं है। ब्राह्मण भाग कर्म-मीमांसा ही है। इसे वेदार्थ मीमांसा के रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं। वेद मन्त्र के साथ क्रिया काण्ड का योग अतिशय सघन है। ब्राह्मण का उद्देश्य क्रियाकाण्ड को सुशृङ्खल और सुस्पष्ट करना है। इस प्रसङ्ग में ब्राह्मण में अनेक वेदमन्त्रों का उद्धार और स्थूलरूप से उसकी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। किन्तु इस व्याख्या में मन्त्र के रहस्य अर्थ की अभिव्यक्ति की विशेष चेष्टा नहीं की गई है क्योंकि ब्राह्मणात्मक व्याख्या में उसका विशेष प्रयोजन नहीं है। क्रिया के साथ मन्त्र के सम्बन्ध का बोध कराकर वे कृतकृत्य हो जाते हैं। उपनिषद् में वेद के रहस्यार्थ के बोध कराने की चेष्टा अपरिहार्य रूप से की जाती है।

इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि ज्ञान और कर्म के मध्य जो आज प्राचीर अर्थात् व्यवहित आवरण उपलब्ध हो रहा है यह वैदिक युग में नहीं था। यह परवर्ती काल की देन है। द्रव्य-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञ—दोनों में ज्ञान-यज्ञ की श्रेष्ठता रही है और सभी कर्म ज्ञान में हो परिसमाप्त होते हैं। वैदिक क्रिया-कलापों का भी वही लक्ष्य है, जिसकी विस्तृत भूमिका पौराणिक साहित्य के द्वारा उपलब्ध है। आत्म-चेतना का एक लोकोत्तर चिन्मय भूमि है, जिसकी प्राप्ति करना ही कर्म और ज्ञान की चरम सीमा है। यही चिन्मय भूमि स्वर्ग का अपर पर्याय है। स्वः एक ज्योतिर्मय अनुभव है। उस अनुभूति पर ज्ञानयज्ञ और द्रव्ययज्ञ—उभय साधनों से पहुँचा जा सकता है। मोक्ष और स्वर्ग—यह कोई विरुद्ध भावना नहीं वरन् व्यष्टिमय चिन्तनसे मुक्ति और स्वः के रूप में विश्व के साथ नादात्म्याभिव्यक्ति है। शुक्लयजुर्वेद जो कर्मकाण्ड का आधारग्रन्थ है, वही दोनों की एकता का मूलाधार है। वेद के शेष अध्याय में एक उपनिषद् का सन्निवेश है, जो ईशोपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है। यह उपनिषद् वेद के संहिताभाग में अन्तभुक्त है। इस उपनिषद् में १८ मन्त्र हैं, जिनमें उदार दृष्टि और विराट् समन्वय की चेष्टा परिलक्षित होती है। ऐसा अवगत होता है कि कर्मवेद के अन्त में सार्वभौम ज्ञान का प्रदीप जलाकर कर्मों की परिसमाप्ति तत्त्वज्ञान में प्रदर्शित कराने का यह ज्वलन्त प्रमाण है। याज्ञवल्क्य की कथा भी इस प्रसङ्ग में अविस्मरणीय है, जिसमें कृष्णययुर्वेद की धारा को शुक्लयजुर्वेद के रूप में प्रवाहित किया गया। कृष्ण अर्थात् अविद्यात्मक कर्म अर्थात् व्यष्टि के मूल में सम्पादित कर्म की समष्टि कर्म में रूपान्तरित करना है। याज्ञवल्क्य ने आर्यज्ञान साधना और कर्म साधना दोनों को चरम भूमि पर प्रतिष्ठित किया था—यह उपनिषद् के याज्ञवल्क्य और शुक्लयजुर्वेद के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य में तादात्म्य प्राप्त किया जा सकता है। वेद मन्त्र को कर्मपरक मानने के लिए जो भारतीय परम्परा अभ्यस्त है, उसमें एक रहस्यार्थ भी था और सम्प्रदायक्रम में वह सुरक्षित भी था, उसे सहज में ही अनुमान किया जा सकता है। मन्त्र के साथ मनन संयुक्त है, जो मोमांसा तक परिलक्षित होता है। वैदिक साहित्य एवं उसके विस्तार स्वरूप पुराण में जो अध्यात्म-साधना का एक रूप उपलब्ध है, उसके मूल में "देववाद" है। देववाद की भित्ति श्रद्धा है। श्रद्धा मानव चित्त की मौलिक वृत्ति है और इसके मूल में आवेश है। इसी के समीप मानव चित्त की अन्य वृत्ति भी हे, जिसे प्राचीन काल में "ऊहा" और परवर्ती काल में "तर्क" नाम से कहा जाता है। तर्क की दृष्टि प्रत्यक्वृत्त है और इसके मूल में जिज्ञासा है। साधना की दृष्टि से एवं तार्किक दृष्टि से यह आत्मवाद में पर्यवसित होती है। देवता और आत्मा दोनों ही अतीन्द्रिय हैं। अतः देवदर्शन या आत्मदर्शन दोनों का मार्ग अति प्राकृत है। इसीलिए तो स्वभाव के अनुसार मनुष्य देववादी या आत्मवादी होता है। आत्मवादी संशय को निमित्त बनाकर अध्यात्म भावना के सभी अस्पष्ट भावों की दूर करने का प्रयास करता है। आत्म प्रत्यय के मूल में आत्म प्रसारण की प्रेरणा रहने पर कदाचित् चेतना का चरम विस्फुरण सम्भव होता है कि यह सत्य है। देववादी भी इसी विस्तार को प्राप्त करता है। जैसे आत्मवादी आत्मपरायण होकर विश्व के

उपादान और निमित्त आत्म चेतना को सर्वत्र अनुस्यूत पाता है, वैसे ही देववादी भी भूतमात्र में देवत्व की उपलब्धि करता है और भूत को भगवान् के आत्म स्वरूप में मानता है अर्थात् विश्व को वासुदेवमय मानता है। फलतः दोनों ही व्यष्टि से परे समष्टि के कल्याण की भावना में अपने जीवन का उत्सर्ग करते हैं और इसे भगवत्सेवा के रूप में स्वीकार करते हैं। वेद की भाषा में एक आवेग कम्पित विप्र है और दूसरा पौरुषदृप्त नर है। एक के लिए प्राप्ति का साधन श्रद्धा और बोध है और दूसरे के लिए तर्क और बुद्धि है। इन मौलिक चित्तवृत्तियों के आधार पर साधना का दो मार्ग अनादिकाल से प्रवाहित है—दूसरे शब्दों में एक ऋषिधारा है और दूसरी मुनिधारा। अनेक प्रसङ्ग में अदेव और देवनित् के प्रति कटाक्ष करती हैं। परवर्ती काल में इसकी संज्ञा हेतुक वेदनिन्दक या नास्तिक हो गई। यह हैतुक ही सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। दार्शनिक चिन्ताधारा के यही स्रष्टा हैं। परम्परागत दर्शन इनके मनन का फल है जिसे तर्कप्रस्थान कहना अनुचित नहीं होगा। इसके समीप ही मीमांसा प्रस्थान है। **अध्यात्मदर्शन में एक बौद्ध** (rationalist) **धारा है और दूसरी ब्राह्मण** (Intuitionist)। तर्किक आघात में मीमांसा का शैथिल्य निवृत्त होता है और अपने सम्प्रदाय को सम्भालने की चेष्टा उद्दीप्त होती है। यही दार्शनिक इतिहास का स्फुट व्यापार है। ज्ञान और कर्म के विरोध की भूमि भी तर्क और मीमांसा ही है। पूर्वमीमांसा जिसका उपजीव्य ब्राह्मण भाग है और उत्तरमीमांसा जिसका आधार उपनिषद् या आगन्तुक चैतन्य सम्पन्न भक्ति है, की धारा अक्षुण्ण रूप से घातप्रतिघात-क्रम में प्रवाहित होती रहती है, अपने सम्प्रदाय और दार्शनिक अधिकार की रक्षा के लिए। साधना का लक्ष्य जो चेतना की भूमि है, जिसका साधन द्रव्य और ज्ञानयश है, वह यहाँ गौण हो जाता है। किन्तु पौराणिक विवेचन में इस देववाद और 'ज्ञानवाद' को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया जाता है। मनोमय साधना जिसमें उपनिषद् की भावना की छवि सन्निहित है, वही धारा आज सम्प्रदाय क्रम में व्यक्ति सापेक्ष हो अन्त्यपर्व की अपेक्षा के बिना ही तर्क के आधार पर प्रवाहित है। पौराणिक आध्यात्मिक साधना की ओर लक्ष्य करने पर आडम्बरवर्जित स्वाभाविक क्रियाविधि का विवरण उपलब्ध होता है जो साधारण व्यक्तियों के लिए आचरणीय नहीं है। जैसा कि अग्नि को साधना में इस अध्याय में प्रत्यक्ष है। किन्तु इन जटिल साधनाओं के साथ एक सरल सर्व-साधारण के मध्य में प्रचलित साधना भी थी। आज के युग में भी सर्वसाधारण के मध्य उसको प्राप्त करते हैं। किसी विशेष देवता के आडम्बरपूर्ण पूजा देश में प्रचलित है साथ ही एकान्त, शान्त घर में भक्ति की सरल हार्दिक पूजा भी चलती है। आचार के साथ ही भाव का समन्वयात्मक रूप स्वयं ही उपलब्ध होता है। तन्त्र की भाव और मानस पूजा इसका निदर्शन है। आचार के पीछे भाव की एक गूढ़ व्यञ्जना के बिना आचार कभी भी दीर्घकालव्यापी नहीं हो सकता और न वह मनुष्य के अन्तर की गम्भीर पिपासा का ही उपशमन कर सकता है। अतः यह सत्य है कि वेद मन्त्रों में क्रियाविधि के उल्लेख के साथ एक बहिरंग और अन्तरङ्ग दिशायें भी स्वाभाविक रूप से प्रतिष्ठित हैं।

सोमयाग एक प्रचलित और सकलजन श्रुत हैं। ऋग्वेद में भी यत्र-तत्र सोम का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थ में भी सोमयाग का वर्णन मिलता है। उसमें इसे अत्यंत जटिल, व्ययसाध्य और श्रेष्ठतम यज्ञ माना गया है। उसका फल अमृतत्व की प्राप्ति है अर्थात् ज्योति में जीवन का उत्तर है विश्वदेवता के साथ एकात्मता। सोमयाग एक ज्ञानरूप भी था। इसका उल्लेख वेद में "अपाम सोमममृता अभूम" इस रूप में उल्लेख मिलता है। अतः यह अमृतत्व प्राप्ति ज्ञान और कर्म से समानरूप में विहित है। वेद को पहले श्रुति से निर्दिष्ट किया गया था, अनन्तर वह आप्तवाक्य हो गया। आप्तवाक्य उसे ही कहा जाता है, जिसे लौकिक प्रमाण के द्वारा जानने की क्षमता न हो। ऐसे रहस्यमय सिद्धान्त की अधिगति के उपाय को आप्त का उपदेश कहा जाता है। इसे द्विधा विभाजित किया जा सकता है—

तत्त्व का ज्ञापन और तत्त्व का साधन।

आप्त के द्वारा साध्य ज्ञान अलौकिक होता है और उसका साधन भी अलौकिक ही होता है। यही अति प्राकृत मनोविद्या का सूत्रपात है और इसकी मूल भित्ति चेतना की अन्तरावृत्ति में है। अलौकिक तत्त्व साक्षात्कार के साधन जब पराक्वृत्त होते हैं, तब कर्मकाण्ड आता है और उसका मूल निहित रहता है अलौकिक अविज्ञता में। यह कर्मकाण्ड का उपदेश केवल आचार को ही नियंत्रित नहीं करता, वह मानव जीवन के प्रतिक्षण में परिव्याप्त हो जाता है और यहीं से धर्मानुशासन का सूत्रपात होता है। आप्तों के प्रति श्रद्धा मानवचित्त का स्वाभाविक धर्म है। जगत् के सम्पूर्ण धर्मों के मूल में या शुद्ध सनातन धर्म में या धर्मविज्ञान की साधना के मूल में आप्तवाक्य का प्रभाव मानना ही पड़ेगा। यह आप्तवचन निष्क्रिय श्रद्धा का ही अवलम्बन नहीं करता, वरन् विज्ञान के अभियान में प्रेरणा को भी उद्बुद्ध करता है। यही सामाजिक जाग्रत शक्ति है। यह मनुष्य के अनुसन्धानात्मिका चित्तवृत्ति को उद्दीप्त करता है और जानने की प्रेरणा प्रदान करता है। लौकिक विज्ञान का क्षेत्र तो इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अन्य धर्मावलम्बी भी आप्तवचन के प्रति जो दृष्टि रखते हैं, उसकी अपेक्षा वेदवादियों में कुछ भेद अवश्य हैं। इतना तो सत्य है कि आप्तवचन शाश्वत सत्य का वाहक है। इसमें सभी धर्मावलम्बी एकमत हैं। वेदमार्गी वेद को नित्य मानते हैं। फलतः उसके मूल में सनातन नर और विप्र, तर्क और श्रद्धा का विरोध है। वैदिक धर्म सामाजिक एवं समूह की शक्ति है। इसमें व्यक्ति का विरोध होने पर भी धर्म का विरोध सम्भव नहीं हो पाता है, क्योंकि अपौरुषेयत्व सनातन में व्यक्ति का स्थान ही नहीं। यह बात तत्त्व के मूल पर प्रतिष्ठित है, तर्क के आधार पर नहीं। चेतना की क्रमव्याप्ति एवं वाक् अर्थात् बहिर्मुख प्रकाश दोनों में अविनाभाव सम्पर्क वैदिक दर्शन का मूल सूत्र है। भाषा की उत्पत्ति के साथ ही वैयाकरणों और तान्त्रिकों ने इसे पल्लवित किया है। यहीं से भाषा की सृष्टि हो जाती है। यह प्रकाश की भाषा ही मन्त्र है, जो मनुष्य कृत संकेत से आबद्ध नहीं है। परम्पराक्रम से वृद्धों से शिक्षा मिलती रहती है। यह स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति है, जहाँ भाव के अनुकूल भाषा का स्पन्दन होता है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा—इन तीन अवस्थाओं के बाद तुरीय अवस्था में मनुष्य के संकेत की

उपलब्धि होती है। किन्तु स्पन्दनशक्ति अव्याहतगति से चलती रहती है। इसीलिए मन्त्र आदि स्पन्दन है। इस दृष्टि से आदिस्पन्दन के समान ही वैखरीस्पन्दन भी अपौरुषेय है। ऋषि भी उसके स्रष्टा नहीं वरन् द्रष्टा हैं।

वैदिक मन्त्रों के संक्षिप्त परिचय से यह अवगत होता है कि आधुनिक विज्ञान जिस तरह उसके तत्त्व के संग्रह की अवस्था में पौरुषेयता का परिहार कर अग्रसर होने का चेष्टा करता है, यही स्थिति यहाँ भी है। मीमांसकों ने इस प्रसङ्ग में युक्ति दी है कि साधारण मनुष्य में भ्रम, प्रमाद करणापाटव या विप्रलिप्सा का आना असम्भव नहीं इसलिए अध्यात्मज्ञान और साधना की भित्ति को अपौरुषेय ही होना उचित है। पुरुष प्रवक्ता हो सकता है किन्तु उसकी वाणी में सत्य या आहोपुरुष का रहना सम्भव नहीं। सत्य के ख्यापन के समय स्वत्व या आहोपुरुषता नहीं रह सकती फलतः उसमें पुरुष का चरितत्व कैसे सम्भव है। नैयायिकों ने ईश्वर के द्वारा वेद का प्रणयन अर्थात् प्रकाशन माना है, पुरुष के द्वारा नहीं। मीमांसकों ने मन्त्र को वाणीमात्र ही माना है और उमे किसी व्यक्ति से मापेक्ष नहीं माना है। उसमें जो स्वाभाविक स्फुरणशक्ति है उसके वेग में ही वह मनुष्य को सिद्धि और ऋषि के मार्ग पर ले जाती है। मनुष्य शुद्ध श्रद्धा के आधार पर उसका अनुसरण करता है। मीमांसक एवं पौराणिक मनोभाव में अध्यात्म भावना का एक अपूर्व योगदान उपलब्ध होता है। समग्र वैदिक चिन्ताधारा के मूल में इस भाव के रहने कारण ही वैदिक धर्म पोटेस्टॉन्ट या मिशनरी धर्म नहीं हो सकता क्योंकि इसको शक्ति और अशक्ति दोनों का एक ही मूलाधार है। पौराणिक व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपौरुषेयता का मूल आधार चेतना का स्वोत्तरण है। निरपेक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो धर्म का मूल अपौरुषेयता में ही है। भारतवर्ष ने इसे एकान्तरूप से स्वीकार किया है। सत्य का प्रश्न जब उसके वाङ्मय प्रकाश का अतिक्रमण करता है, तत्त्व की सीमा से उत्तीर्ण होता है, तब वैदिक धारा के मध्य पार्थक्य भी विनष्ट हो जाता है। अलक्ष्य रूप से ही वह एक आर्षचित्त के अपौरुषेय तत्त्व साक्षात्कार की साधारण भूमि में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कारण है कि आर्य वैदिक युग के समान अध्यात्म चिन्ता के परवर्ती युग में नर और विप्र की साधारण धारा परस्पर एक हो जाती है। कपिल, कणाद, गौतम ये तार्किक होते हुए भी सकल समाज में सर्वजन मान्य हैं। बुद्ध अवैदिक होने पर भी सत्य की भूमि पर वह ब्राह्मणों के लिए श्रद्धा के पात्र होते हैं। आर्य, बौद्ध, जैन इन सभी अध्यात्म साधनाओं का एक साधारण नाम ब्रह्मचर्य है और इस एक ब्रह्म शब्द में वैदिक युग से बहती हुई आध्यात्म साधना की समग्र धारा और इतिहास एकाकार हो जाता है। प्रत्यक्‌वृत्त और पराक्वृत्त दोनों ही धारायें इसमें समाहित हो जाती हैं। क्लिष्टता से मुक्ति मानव की सहज चेष्टा है। वह मुक्ति किसी पथ से आये, उसको समान रूप से आप्तवचन माना जाता है और लोकोत्तर व्यञ्जना के प्रतीक श्रद्धासुमन अर्पित होने लगते हैं। यह आप्तवाणी देव या मनुष्य को हो सकती है या इनसे परे शुद्धवाणी हो सकती है। किन्तु उस लोकोत्तर शाश्वत अपौरुषेय तत्त्व का प्रकाश प्राप्त होता है और यह लौकिक प्रमाण विधियों का अतिक्रमण करता है। श्रद्धा और तपस्या

के द्वारा अन्त्यवृत्त चित्त के अनुसन्धान से उपलब्ध होता है। भारतवर्ष का सभी साधनमार्ग बाह्य दृष्टि से कितना भी भिन्न हो, मानव प्रकृति भी साधारण प्रकृति का अनुसरण कर अन्तःसाधना के एक साधारण क्षेत्र में एकाकार हो जाता है, जिसे दूसरे शब्दों में योग कहा जाता है। तत्त्व में ये बाह्य साधनायें समन्वय लाती हैं क्योंकि तन्त्र बद्धव्यापक होकर योग को भी अन्तर्भुक्त कर लेता है। वेद जिस प्रकार गम्भीर विशिष्ट रूप के संनिधान की चेष्टा करता है वैसे ही स्वभाव के नियम में ही सर्वत्र इसकी छाप मिलती है। वेद के लोकातीत रूप ही तन्त्र हैं। आर्यहृदय वेद-विश्वासी है, किन्तु तन्त्राचारी है—यह कहने पर साधना का एक अखण्ड परिचय उपलब्ध होता है। वैदिक श्रुति के समान आगम श्रुति का भी ,प्रामाण्य सहज ढंग से स्वीकृत है। यह तो सत्य ही है तान्त्रिक श्रुति का प्रकाश वैदिक अपौरुषेयवाद से प्रभावित है। तन्त्र का प्रवक्ता कोई भी हो, वेद के समान वह भी वाणी में इतिश्री प्राप्त कर लेता है। वेद में ऋषि का नाम अवश्य है, तन्त्र में वह भी नहीं। इस प्रकार अपौरुषेयता की अकुण्ठता को तत्त्व का वैज्ञानिक रूप देकर आर्यचित्त से एक ही रीति का प्रकाशन होता है। वेद की शब्द-रीति नित्य है। पृथिवी का सभी धर्म ईश्वर की वाणी के रूप में उपलब्ध है अतः उसके नित्यता की घोषणा होती है। धर्म के प्रवक्ता में विश्वास करने पर भी प्रवक्ता की वाणी की उत्पत्ति के बाद यह स्वीकार करने की बाध्यता होती है, यह किसी मूल दिव्यवाणी की ही अभिव्यक्ति मात्र है। अलौकिकत्व के साथ नित्यत्व का एक न्याय सिद्ध सम्पर्क है। दोनों ही भावनाएं मानव की चेतना के अपने उत्तरण के प्रयास से उद्भूत हैं। उत्तरण का प्रवेग मनुष्य के प्राकृत जीवन में ही रहता है। व्यस्तता एवं अनेक समस्याओं से परिवेष्टित रूप से परिवर्तन के स्रोत की आकांक्षा उद्दीप्त रहती है। सत्ता के एक स्थिर निर्भर स्थान की आकांक्षा रहती है। बाहर में प्रकृति के क्रिया सारूप्य के ऊपर हम लोगों का विश्वास है। अन्तः में भी उसी प्रकार एक अध्यात्म-क्रियासारूप्य की एक अचल प्रतिष्ठा अपेक्षित है। चित्त की एक स्थिर भूमिका चाहिए जिसे प्राकृत चेतना की समस्त वृत्तियों का आश्रय, सभी करण प्रवृत्तियों का एक निर्भर उत्स कहा जा सके। अध्यात्म प्रतिष्ठा में पराक् दृष्टि से यही ईश्वर है और प्रत्यक् दृष्टि से आत्मा है। इस गम्भीर उत्स से उत्सारित वाणी कर्म और भावना के संशय और अनिश्चितता के आन्दोलन से प्रतिष्ठित भूमि में उत्तीर्ण करना जिससे सम्भव होता है वही आप्तवाणी शासन या वेद है। फलतः नित्यत्व का अर्थ कालिक परिणाम का अतिक्रमण है। इस प्रकार अबाधित क्रिया सामर्थ्य की योग्यता ही नित्यत्व मानी जाती है। नित्यत्व की पूर्ण व्याप्ति के आधार पर नित्यत्व का स्वरूप निर्धारण सम्भव नहीं है। नित्यत्व भागवत स्वरूप या सहचरीस्वरूप है। आध्यात्म अनुभव के सामान्य धर्म को नित्य कहने में कोई आपत्ति नहीं है। स्थूलवाणी को नित्य मानने पर अनेक विप्रतिपत्तियाँ हो सकती हैं। मीमांसा की दृष्टि में वाणी, मन्त्र और वेद एक ही हैं। वेद का अर्थ भी नित्य है, शब्द भी नित्य है और वेद की शब्द-राशि भी नित्य है। शब्द को नित्यता के विषय में जो उनका विचार प्रस्तुत है, उसका संक्षिप्त निदर्शन इस प्रकार है—

दर्शन में एक सिद्धान्त है कि शब्द आकाश का गुण है। आधुनिक वैज्ञानिक विद्या के आधार पर यह युक्ति विरुद्ध-सा लगता है। सिद्धान्त का मूलाधार वैदिक वाक् तत्त्व में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि अग्निरूप वाणी अक्षरात्मक परव्योम में प्रतिष्ठित है जहाँ विश्वदेवता की नित्यरूप से अवस्थिति है। वहीं पर एक पदी ऋक् सहस्राक्षर में परिव्याप्त हो जाती है। प्राणचञ्चला गौडी कारणात्मक जल को भक्षण कर रूप की सृष्टि करते हैं। स्मृति और पौराणिक आदित्य के द्वारा सलिल की समाप्ति के साथ सृष्टि का मूलाधार यहीं उपलब्ध है। इनके ४ पाद हैं, जिनमें तीन अन्तः सन्निहित हैं। बाहर उनका प्रकाश नहीं है। मनुष्य के मुख से चौथी वाणी प्रस्फुटित होती है। लोकोत्तर के अगम समुद्र से प्रवाहित दिव्य चेतना की ये तीन मुक्त धाराएँ हैं। वहीं से चेतना का आवेश यहाँ तक प्रवाहित होता है। ब्रह्म आकाशवत् है यह चर्चा उपनिषद् में मिलती है। ब्रह्म के सत्य वाणी अविनाभूत रूप से अवस्थित है। यही ऋग्वेद की उक्ति है। आकाश एवं वाक् एक अनादि दिव्य मिथुन हैं। इस वैदिक भावना की विवृत्ति ही तार्किक युक्ति के आधार पर शब्द आकाश का गुण है, यह कहा जाता है। दार्शनिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि विशिष्ट के मूल में आकाश या शून्यता या दीप्ति है। किन्तु यह शून्यता असक्त नहीं, शक्ति युक्त है और स्पन्दन की स्पन्दता ही यह शक्ति है। चेतना जब उदीप्त होती है, तब वह स्पन्द से सद्रेक प्राप्त करती है जैसे ज्वार-भाटा के समय अकस्मात् एक अटूट रेखा के रूप में मध्य से स्पन्द लीला जाग्रत होती है। यह स्पन्द ही वैयाकरणों की दृष्टि में वाक् या स्फोट है। अशब्द का अनाहत भुञ्जन या अरूप की आत्मरूपता यही स्पन्दनात्मक स्फोटरूपता है। आकाश या महाशून्य से वाणी के स्फुरण की अवस्थायें हैं—प्रथम वाक् अनुत्तर अर्थात् अलौकिक हृदय समुद्र में नित्य सामरस्य का आनन्द आन्दोलन है। अनन्तर विचित्र आत्म आस्वादन के संवेग में रूप की आकृति (स्फूर्ति) उद्बुद्ध होती है। वाणी इस समय आत्म चेतना के दर्पण में चिन्मयी दीप्ति की स्फूर्ति या प्रतिबिम्ब है। इसके बाद वही वाणी भाव के रूप में स्फुटित होती है और अन्त में भाषा का झङ्कार आता है। कवि की चेतना अन्तःसमाहित चेतना की शून्यता से स्फुटित वाणी के प्रातिभ विलास रूप में काव्यात्मक बिम्ब या रूप को धारण करती है। काव्य सृष्टि ही प्राकृत जगत् में सत्यात्मक सृष्टि है जहाँ स्रष्टा स्वतंत्र है और स्वयं को उत्सारित करता है। अतिरिक्त सृष्टियाँ सत्य का निर्माण मात्र हैं जो आकार कही जाती है। सृष्टि में निमित्त एवं उपादान अभिन्न है। अहम् ही वहाँ अपने को अन्तर्गूढ़ प्राण के संवेग में पुण्य के समान विकसित करता है। वहीं प्रजापति की सृष्टि-लीला का अपरोक्ष परिचय मिलता है। यही प्रकृत प्रजापति की सृष्टि की पौराणिक दृष्टि है। अन्तरावृत्त चेतना में जो सृष्टि के आवेश के रूप में स्फूर्ति है, उसकी वैखरी मूर्ति ही मन्त्र है और यह मन्त्र वेद की भाषा में "कविक्रतु" अर्थात् एक आधार में दृष्टि एवं सिसृक्षा है। सृष्टि का कार्य प्रथम मन्त्र द्रव्य के अपने आश्रय में उत्पन्न होता है, तदनन्तर ग्रहिष्णु एवं अनिन्दित सन्तति में और इसके बाद विश्व में प्रवाहित होता है। कालक्रम में शक्ति और वेग की समृद्धि होती है और वह एक सम्प्रदाय की

परम्परा को जन्म दे देती है। अन्त में चिरकाल की अतन्द्र (जाग्रत) तपस्या में आलस्यशून्य तापस-जीवन में और जब जाति चेतना में संगत होती है तब वैखरी वाणी भी सिद्ध मन्त्र के रूप में उपलब्ध होती है। इसलिए सभी मन्त्रों की अर्थ नित्यता भी उपलब्ध होती है। इसलिए सिद्धमन्त्र की वर्णानुपूर्वी भी नित्य होती है। इस प्रकार आकाश का एक क्षण ही मन्त्रशक्ति में रूपान्तरित हैं। अतः वे मन्त्र अपौरुषेय एवं नित्य हैं। इससे यह अवगत होता है कि वेद मार्गावलम्बी-कर्ममार्गी हों या ज्ञानमार्गी, उनकी वैदिक श्रद्धा के प्रति एक दार्शनिक दृष्टि हैं। वह दृष्टि या दर्शन स्वभाव से ही जड़ता से परे है। किन्तु अलौकिक होने से ही वह अप्रमाणिक या अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिकों का सबसे विशिष्ट दावा है कि अनुभवगम्य तथ्य की भित्ति न रहने पर किसी भी तत्त्व को प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। वेदमार्गी भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि उनका दर्शन तत्त्व का दर्शन है एवं उस दर्शन की एक क्रियात्मक पद्धति है। यास्क की भाषा में "ऋषि साक्षात्धर्मा अर्थात् तत्त्व साक्षात्कार से समन्वित हैं। तर्क के साथ श्रद्धा का कोई विरोध नहीं है। समय विशेष में तर्क ही ऋषि है और वह तर्क वाणी का अनुगमन करता है।" वस्तुतः सभी का चरम प्रामाण्य प्रत्यक्ष अनुभव में निहित है। अनुभव की सीमा स्वतन्त्र है इसलिए उसकी पद्धति भी स्वतन्त्र है। बुद्धिवादियों का कहना है कि यह मात्र भावात्मक है किन्तु अध्यात्म साधना का परिणाम भावात्मक छोड़कर क्या हो सकता है, यह विचारणीय ही नहीं है। भाव ही चेतना का चरम लाभ है। लौकिक से अलौकिक दिशा की ओर ही इसका अभियान होता है। अलौकिक लोकोत्तर होने पर भी लोक बाध्य नहीं है, वैदिक दर्शन की यही विशेषता है। श्रद्धा एवं भावात्मकता के न रहने पर वेद व्याख्या की प्रवेष्टा बुद्धि का श्रममात्र होगा। यह पहले ही हृदयस्थ रखना उचित होगा। वेद व्याख्याओं को श्रद्धा की यही पूंजी है किन्तु तर्कसम्मत साधनों में अग्रसर करना उनका सिद्धान्त नहीं है क्योंकि पूर्व में बताया गया है कि तार्किक भावना तथ्य से दूर तर्क के मध्य में ही अवस्थित करती है फलतः ज्ञान एवं कर्म के मध्य प्रवाहित कृत्रिम विरोध में ही वह रह जाता है। वेद मन्त्रों का गूढ़ार्थ यदि ऋषियों के तत्त्व साक्षात्कार का फल है तब रहस्यार्थ की धारा वैज्ञानिकों के पास ही सन्निहित रह जाती। फलतः सभी कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है, इसे श्रद्धासम्पन्न ज्ञानियों को भी मानना पड़ेगा। मन्त्र की क्रिया के उपलक्ष्य में पर्यवसान मानने पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। ज्ञानवादियों ने उसे कर्म से पृथक् कर लिया है क्योंकि उनको मन्त्र-शास्त्र के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टि है। मनुष्य की आध्यात्म वृत्ति की विभिन्नता का साधन साधक पद्धति के इस भेद-क्रम में मन्त्र-शास्त्र की सम्प्रदाय परम्परा में अव्याहत रहने पर भी आज उसका रहस्यार्थ दुर्लक्ष्य हो गया है। किन्तु रहस्यार्थ का सर्वथा लोप नहीं हुआ। महाभारत में प्रत्यक्ष रूप से कहा गया है कि 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहेत्" । वेदार्थ को लोक में विस्तृत करने की चेष्टा से ही इतिहास और पुराणों की सृष्टि है। यही कारण है कि ब्राह्मण ग्रन्थ में पञ्चम के रूप में इनको स्वीकार किया गया है। अध्यात्म दृष्टि को अनुरञ्जित करने के लिए ही इतिहास

और पुराण को दर्शन के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सत्य है कि पुराण आज अविकृत आकार में उपलब्ध नहीं है। किन्तु उसका एक वैशिष्ट्य जाति के बाहर और अन्दर के इतिहास के रूप में सुस्पष्ट है। लौकिक और अलौकिक दोनों दृष्टि भङ्गियों को पुराण में एकरूपता प्रदान कर सन्निहित किया गया है। देश के बाहर के इतिहास की तुलना में पुराण की उपयोगिता जो भी कहा जाय किन्तु, अन्तः के इतिहास अवगति के लिए इसका प्रयोजन असीम और अपरिहार्य है। वेद के प्रतीक को ही पुराण ने पल्लावित किया है। ब्राह्मण ग्रन्थ के समान ही पुराण भी वेद की आनुपूर्वी व्याख्या नहीं है, किन्तु उसमें उसके सिद्धान्त की अभिव्यक्ति को धारण करता है और उसका पोषण करता है। इस तरह वेद और पुराण में एक ही आध्यात्म भावना का प्रवाह सुरक्षित है। यह कहा जा सकता है कि तन्त्र की साधना की अवगति के बिना वैदिक कर्मकाण्ड के अर्थ की अवगति सम्भव नहीं है। वैसे ही पुराण की कल्पना के साथ विशिष्ट परिचय के बिना वेद के कल्पना की अवगति असम्भव है। योगसाधना की पद्धति और चित्तविज्ञान के साथ उसके परिचय के अभाव में उपनिषद् या वेदान्त की अवगति की चेष्टा स्पर्धामात्र है। वेदान्त वेदवाद का ही चरम सिद्धान्त है और वेदार्थ का विज्ञान समन्वित परिचय है। अतः मन्त्रार्थ के आविष्कार के लिए उपनिषद् ज्ञान की व्यापक भूमिका, तन्त्र और पुराण के साथ परिचय एवं जो तन्त्र की साधनपद्धति की साक्षात् अभिज्ञता है। सूदूर काल से भारतवर्ष के सभो सम्प्रदायों का यह कथन है कि उनकी भावना और साधना का मूल वेद में है। वेद के कर्मकाण्ड को भले ही स्वीकार न करें किन्तु इस अंश को वे भी स्पष्ट रूप से कहते हैं। यह सत्य है कि इतना और भी वे जोड़ देते हैं कि वेद के रहस्य को कर्मकाण्डी नहीं जानते हैं बल्कि वे ही जानते हैं। अध्यात्म साधन की एक अनुवृत्ति अविच्छन्न क्रम में अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है, इसमें सन्देह नहीं है। भावना और साधना में जो आज वैचित्र्य है, वह मूल आर्यभावना की ही शाखा है। इसलिए वैज्ञानिक बुद्धि का परिचय वेद से ही उपलब्ध होता है। मनुष्य की अतीन्द्रिय ज्योति का अनावरण वेद की ऋचाओं के द्वारा प्रेरणा प्राप्त करती है। किन्तु श्रद्धा के साथ समीचीन तर्क के अभाव में यह अनेक क्षेत्रों में प्रवाहित है।

खेद के साथ यह लिखने को बाध्य होना पड़ता है कि वेदव्याख्या की एक नूतन पद्धति सबल भित्ति के रूप में उपस्थित है जिसके प्रवर्तक पाश्चात्य हैं। प्रधान उपजीव्य तर्क की सहायता से वैज्ञानिक बुद्धि की भूमि पर इसकी व्याख्या और प्रचार किया जाता है। भारतोय तार्किक का इन नवीन तार्किकों से भेद है। इस देश के तार्किक अतीन्द्रिय विषय में आस्था रखते हैं। वे मात्र इन्द्रियग्राह्य जगत् को लेकर ही विचार नहीं करते। इन तार्किकों का दो वैशिष्ट्य है कि वे अतीन्द्रिय सत्य के प्रति श्रद्धा रखते हैं जिसकी वैज्ञानिकों के Hypothesis के साथ तुलना की जा सकती है और इस सत्य की उपलब्धि के लिए विशिष्ट साधन मार्ग का निर्देश करते हैं। वेद-वादियों के साथ इनका कोई विरोध नहीं है। विरोध है चरम सत्य के स्वरूप और साधन के मार्ग मे वे जगत् के अन्य आस्तिक के आप्तवचन के विश्वासी हैं। आस्तिकों

के वचन ही आप्तवचन हैं, ऐसा वे मानते हैं। वे वेदमार्गावलम्बी शुद्ध वाक् को ही इसका उद्भव स्थान मानते हैं और उस वाक् के प्रवक्ता के रूप में महामानव या ईश्वर को मानते हैं, यही इनका वैशिष्ट्य है। साधन पद्धति के अनुसार वैदिककर्मकाण्ड का विरोध करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि प्रत्यक्—वृत्त है। वेद वाक्य की आलोचना सुन्दर उदाहरण के साथ तेविज्य सूक्त में करते हैं। इसने वेद को किस रूप में अवगत किया है इसकी कोई भी आलोचना समालोचना नहीं है वरन् त्रैविध्य ब्राह्मणों के मार्ग से वेद प्रतिपाद्य सत्य की उपलब्धि हो सकती है या नहीं यही आलोच्य विषय है। प्राचीन व्याख्याताओं का मत आधुनिक वेद व्याख्याओं में भी कतिपय अंश में स्वीकृत है जिसमें प्रधान अभ्यवगम प्राकृत परिणामवाद है (Theory of Natural Evolution)। इसका प्रथम प्रयोग प्राणविद्या के क्षेत्र में किया गया है और क्रमशः यह जड़विद्या और मनोविद्या में भी प्रचलित हो जाता है। इस मत के अनुसार किसी भी प्राणक्रियां का आदिम रूप अस्पष्ट सरल और अनतिव्याकृत है। क्राम में प्रतिवेश के घातप्रतिघात या अन्तर्निहित प्राणवेद में वह स्पष्ट जटिल और सुव्याप्त हो जाता है।

आदिम धर्म के स्वरूपनिरूपण में एकत्व को भावना विश्व के मूल में प्रतिष्ठित नहीं हुई थी। प्रकृति के अंगों में ही देवत्व का आरोप कर उसी की पूजा में लोग सचेष्ट रहते थे। आर्य के वैदिक धर्म व्याख्या में सुप्राचीन युग की छाप तो माननी ही पड़ेगी। धर्म के साहित्य, उसके भाव और भाषा का आलोचना करने पर धर्मबोध के क्रमाभिव्यप्ति का रूप सुस्पष्ट हो जाता है। बहिर्वृत्तचित्र अन्तर्मुख होने लगता है और जीवन को नैतिक भित्ति का मूलाधार सर्वेश्वरवाद (Pantheism) एवं उसके अनेक विक्षेप में उद्बुद्ध होता है। ऐसा अवगत होता है कि सर्वजीवसाधारण जीवनेच्छा ही मूलाधार थी। अतः सूर्य और वृष्टि के मन्त्रों को उपलब्धि होती है। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, उसमें मनुष्य की एक तीव्र आत्मकेन्द्रीय भावना का अनुभव अन्य व्यक्तियों को होती है। यद्यपि यह सहज और सरल रूप में उन लोगों ने प्रस्तुत किया है, सम्भवतः मनुष्य का अपने धर्म के प्रति एक निविड राग रहता है और धर्म के प्रति द्वेष एवं अवज्ञा, यह एक सहज व्यापार है। यह विद्वेष और अवज्ञा सेमेटिक या प्रोटेस्टेन्ट के मध्य स्वाभाविक सर्वजनीन धर्म के प्रति विरोध के आधार पर होता है। असहिष्णुता ही इस मूढ़ता और घात-प्रतिघात का कारण है। देश, काल और आचार जीवन-यात्रा के पार्थक्य और सभ्यता के एक सहज विभेद के कारण हैं। आभिजात्य का ज्ञान राजनीतिक और आर्थनैतिक श्रेष्ठता का गर्भ यह एक सहज दुर्बलता है, जो भारतीय सहज धर्म के प्रति भी विरोध की भावना का जन्म देती है। भारतीय ज्ञान के इतिहास का मनोयोगपूर्वक ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक जीवन के लिए धार्मिक भावना में किसी विशेष अन्तर्निहित चेतना का योग नहीं रहता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति सापेक्ष उसे स्वीकार किया जाता है, किन्तु भारतीय रूपता असह्य रहती है। पाश्चात्य सभ्यता में एकेश्वरवाद के प्रति मोह है, बहुदेवता की आराधना से एक देवता की आराधना में धर्मजगत् में अभ्युदय का साधन मानते हैं। यह सत्य है कि अनेक देववाद एक प्राक्तन् सिद्धान्त है। इसके प्रति अश्रद्धा का संचार भारतीय-

धार्मिक विश्वास के लिए कदापि लङ्घ्य नहीं है। पाश्चात्य दृष्टि से आर्यदेववाद रहस्य ही नहीं, अवज्ञा का विषय है। एक देवता को बहुदेवता में विस्तृत करना मानव का सहज धर्म है और बहुत्व कल्पना का विरोध तार्किक हृदय करता है। किन्तु वास्तविक जीवन के दैनन्दिन अविज्ञता में मनुष्य-चित्त की यह एक मौलिक वृत्ति है। इसका सहज विद्वेष सम्भव नहीं है। एकदेववाद में और बहुदेववाद में विरोध यह आर्यहृदय की भावना ही नहीं है एक अखण्डदर्शी है और एक खण्डदर्शी है। अखण्ड चैतन्य की आत्मविसृष्टि के रूप में आध्यात्मिक जगत् का विस्तार है और अन्यत्र जीवन यापन की विद्या को अङ्गीकार कर पौरुषेय धार्मिक व्याख्या उपलब्ध होती है। मूलाधार वेद होने पर भी मनु आदि के वचनों में धर्म की विवृत्ति मिलती है। भारतवर्ष की आध्यात्म साधना में रहस्यार्थ का सम्मिश्रण है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अविनाभाव रूप से अवस्थित है। परिवार, समाज, राष्ट्र इन अनेक भावों के सम्मोहन के मूल में आत्मशक्ति का विच्छुरण यही आर्य धारणा है। मनोविज्ञान के आधार पर इसका सुन्दर मन्त्रचित्र का अम्भृणकन्या के वाक्सूक्त में प्राप्त करते हैं। वहाँ भुवनेश्वरी के महिमा की अनुपम स्फूर्ति उपलब्ध होती है। दीप्ति की आराधना यह सहज रूप में आर्यों की देन मानी जा सकती है। माध्यन्दिन सूर्य इन्द्रियग्रास सर्वोत्तम विभूति है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण के 'दिवाकरस्तुतिवर्णन' नामक १०४ वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त ॥



पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स्वतेजसस्तस्मादादिर्भूतो विभावसुः ।
अदृश्यत तदादित्यस्तप्ततात्रोपमः प्रभुः ॥१॥
अथ तां प्रणतां देवीं तस्य सन्दर्शनान्मुने ! ।
प्राह भास्वान् वृणुष्वेष्टं वरं मत्तो यमिच्छसि ॥२॥
प्रणता शिरसा सा च जानुपीडितमेदिनी ।
प्रत्युवाच विवस्वन्तं वरदं समुपस्थितम् ॥३॥
देव ! प्रसीद पुत्राणां कृतं त्रिभुवनं मम ।
यज्ञभागाश्च दैत्यैश्च दानवैश्च बलाधिकैः ॥४॥
तन्निमित्तप्रसादं त्वं कुरुष्व मम गोपते ! ।
अंशेन तेषां भ्रातृत्वं गत्वा नाशय तद्रिपून् ॥५॥
यथा मे तनया भूयो यज्ञभागभुजः प्रभो ! ।
भवेयुरधिपाश्चैव त्रैलोक्यस्य दिवाकर ! ॥६॥
तथानुकम्पा पुत्राणां सुप्रसन्नो रवे ! मम ।
कुरु प्रपन्नार्त्तिहर स्थितिकर्त्ता त्वमुच्यते ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

अनन्तर प्रभु आदित्य विभावसु ने अपने तेजो मण्डल के मध्य से तप्त ताम्रतुल्य शरीर सदृश आविर्भूत होकर दर्शन दिया ॥ १ ॥

हे मुने ! अनन्तर अदिति के द्वारा प्रणाम किये जाने पर भास्वान् सूर्यदेव ने कहा, तुम अपनी इच्छा के अनुसार मुझसे अभीष्ट वर माँगो ॥ २ ॥

देवो अदिति ने पृथिवी पर घुटने टेककर शिर झुकाकर वर देने के लिए सम्मुख आये हुए उस वरदाता सविता से कहा ॥ ३ ॥

हे देव ! प्रसन्न हों। दैत्य और दानवों ने प्रबल होकर मेरे पुत्रों के त्रिभुवन एवं यज्ञ भाग को अपने अधिकार में कर लिया है। हे गोपते ! अर्थात् हे रश्मिपते ! मेरे प्रति उनके लिए कृपा करो, अपने अंश से भ्रातृत्वभाव से उनके शत्रुओं का नाश करो ॥ ४-५ ॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार मेरे पुत्रगण पूर्ववत् पुनः यज्ञ का भाग और तीनों लोकों के अधिपति हो सकें, हे दिवाकर ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हो तो मेरे पुत्रों पर ऐसी ही कृपा करें, हे शरणागतों के क्लेशहारिन् ! तुम ही स्थिति कर्ता कहे जाते हो ॥ ६-७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्तामाह भगवान् भास्करो वारितस्करः ।
प्रणतामदितिं विप्र ! प्रसादं सुमुखो विभुः ॥८॥
सहस्रांशेन ते गर्भे सम्भूयाहमशेषतः ।
त्वत्पुत्रशत्रूनदिते नाशयाम्याशु निर्वृताः ॥९॥
इत्युक्त्वा भगवान् भास्वानन्तर्द्धानमुपागमत् ।
निवृत्ता सापि तपसः संप्राप्ताखिलवाञ्छिता ॥१०॥
ततो रश्मिसहस्रात्तु सौसुम्नाख्यो रवेः करः ।
विप्रावतारं सञ्चक्रे देवमातुरथोदरे ॥११॥
कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि सा च चक्रे समाहिता ।
शुचिः सन्धारयामास दिव्यं गर्भमिति द्विज ! ॥१२॥
ततस्तां कश्यपः प्राह किञ्चित्कोपप्लुताक्षरम् ।
किम्मारयसि गर्भाण्डमिति नित्योपवासिनी ॥१३॥
सा च तं प्राह गर्भाण्डमेतत्पश्यसि कोपन ! ।
न मारितं विपक्षाणां मृत्यवे तद् भविष्यति ॥१४॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

हे विप्र ! अनन्तर जल शोषणकर्ता ने व्यापक स्वरूप प्रसन्नमुख भगवान् भास्कर ने उस प्रणत अदिति से कहा ॥ ८ ॥

हे अदिते ! सहस्र किरणों से मैं तुम्हारे गर्भ में जन्म-ग्रहण कर तुम्हारे पुत्रों के शत्रुओं का समूल नाश करूँगा, तुम्हारे पुत्र शीघ्र ही सुखी होंगे ॥ ९ ॥

यह कह कर भगवान् भास्वान् अन्तर्हित हो गये एवं वह अदिति भी अपने निखिल अभीष्ट वरों को प्राप्त कर तपस्या निवृत्त हुई ॥ १० ॥

हे विप्र ! अनन्तर रवि की सौषुम्ण नामक सहस्रांश किरण से देवमाता अदिति के गर्भ में अवतीर्ण हुए ॥ ११ ॥

हे द्विज ! वह अदिति सावधान होकर कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतों का अनुष्ठान-पूर्वक पवित्रतापूर्वक दिव्य गर्भ को वहन करने लगी ॥ १२ ॥

अनन्तर कश्यप ने कुछ कोप मिश्रित वाणी में कहा, तुम प्रतिदिन उपवास का आचरण कर इस गर्भस्थ अण्ड को विनष्ट कर दोगी ? ॥ १३ ॥

अदिति ने कहा, हे कोपन स्वभाव ! यह जो गर्भाण्ड देख रहे हैं, इसे मैं नहीं मारूँगी, वरन्, यह विपक्षियों के नाश का कारण होगा ॥ १४॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा तं तदा गर्भमुत्ससर्ज्ज सुरावनिः (सुरारणिः)।
जाज्वल्यमानन्तेजोभिः पत्युर्वचनकोपिता ॥१५॥
तं दृष्ट्वा कश्यपो गर्भमुद्यद्भास्करवर्चसम्।
तुष्टाव प्रणतो भूत्वा ऋग्भिराद्याभिरादरात् ॥१६॥
संस्तूयमानः स तदा गर्भाण्डात् प्रकटोऽभवत्।
पद्मपत्रसवर्णाभस्तेजसा व्याप्तदिङ्मुखः ॥१७॥
अथान्तरीक्षादाभास्य कश्यपं मुनिसत्तमम्।
सतोयमेघगम्भीरवागुवाचाशरीरिणी ॥१८॥
मारितं ते यतः प्रोक्तमेतदण्डं त्वया मुने !।
तस्मान्मुने ! सुतस्तेऽयं मार्त्तण्डाख्यो भविष्यति ॥१९॥
सूर्याधिकारश्च विभुर्जगत्येष करिष्यति।
हनिष्यत्यसुरांश्चायं यज्ञभागहरानरीन् ॥२०॥
देवा निशम्येति वचो गगनात्समुपागमन्।
प्रहर्षमतुलं याता दानवाश्च हृतौजसः ॥२१॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

यह कहकर वह देवमाता अदिति ने पतिवाक्य से क्रुद्ध होकर दीप्ति से जाज्वल्यमान उस गर्भ का परित्याग किया ॥ १५ ॥

कश्यप उदय कालीन भास्कर के समान प्रभापूर्ण उस गर्भ को देखकर प्रणामपूर्वक आद्य ऋङ्मन्त्रों से स्तवन करने लगे ॥ १६ ॥

अनन्तर कश्यप से संस्तुत होकर वह भास्कर तेज के द्वारा दिङ्मण्डल को परिव्याप्त करते हुए कमल-दल के समान वर्ण को धारण कर उस अण्ड से बाहर आये ॥ १७ ॥

इसके बाद जल पूर्ण मेघों के गर्जन के समान कश्यप को सम्बोधित करती हुई गम्भीर अशरीरिणी आकाशवाणी हुई ॥ १८ ॥

हे मुने ! तुमने इस अण्ड को मारने की बात कही है, अतः, तुम्हारा यह पुत्र मार्तण्ड की संज्ञा से विख्यात होगा ॥ १९ ॥

यह विभु जगत् सूर्य का कार्य करेगा एवं यज्ञभाग को हरण करने वाले देवरिपु असुरों का विनाश करेगा ॥ २० ॥

यह आकाशवाणी सुनकर देवगण अतिशय प्रसन्न हुए एवं आकाश से वहाँ आ गये और दानवगण प्रभाशून्य हो गये ॥ २१ ॥

ततो युद्धाय दैतेयानाजुहाव शतक्रतुः ।
सह देवैर्मुदा युक्ता दानवाश्च समभ्ययुः ॥२२॥
तेषा युद्धमभूद्घोरं देवानामसुरैः सह ।
शस्त्रास्त्रदीप्तिसन्दीप्तं समस्तभुवनान्तरम् ॥२३॥
तस्मिन् युद्धे भगवता मार्त्तण्डेन निरीक्षिताः ।
तेजसा दह्यमानास्ते भस्मीभूता महासुराः ॥२४॥
ततः प्रहर्षमतुलं प्राप्ताः सर्वे दिवौकसः ।
तुष्टुवुस्तेजसां योनिं मार्त्तण्डमदितिं तथा ॥२५॥
स्वाधिकारांस्तथा प्राप्ता यज्ञभागांश्च पूर्ववत् ।
भगवानपि मार्तण्डः स्वाधिकारमथाकरोत् ॥२६॥
कदम्बपुष्पवद्भास्वानधश्चोर्द्ध्वञ्च रश्मिभिः ।
वृत्ताग्निपिण्डसदृशो दध्रे नातिस्फुरद्वपुः ॥२७॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे मार्त्तण्डोत्पत्तिर्नाम पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

अनन्तर देवों को साथ में लेकर शतक्रतु इन्द्र ने दैत्य गण को युद्ध के लिए ललकारा और दानव गण हर्ष के साथ उपस्थित हो गये ॥ २२ ॥

उस समय असुरों के साथ देवों का भयङ्कर युद्ध हुआ। निखिल विश्व शस्त्रास्त्रों की दीप्ति से देदीप्यमान हो गया ॥ २३ ॥

उस युद्ध में महान् असुर गण भगवान् मार्तण्ड के निरीक्षण मात्र से तेज के द्वारा दग्ध होकर भस्म हो गये ॥ २४ ॥

अनन्तर सभी देवों को असीम प्रसन्नता हुई और वे तेजों के आकर स्वरूप मार्तण्डदेव और अदिति की स्तुति करने लगे ॥ २५ ॥

देवगण पहिले की तरह अपना अधिकार और यज्ञ के अंश को प्राप्त किया एवं भगवान् मार्तण्ड ने भी अपने अधिकार के अनुरूप सूर्य का कार्य करने लगे ॥ २६ ॥

वे कदम्ब के फूल के समान नीचे ऊपर सभी ओर अपनी किरणों के द्वारा देदीप्यमान गोलाकार अग्निपिण्ड के समान दीखने लगे और अत्यन्त व्यक्त शरीर को धारण नहीं किया ॥ २७ ॥



पर्यालोचन

अप् ने प्रथम सृष्टि के रूप में भ्रूण को धारण किया। यह अज की नाभि में अर्पित था, जिसके मध्य में विश्वभुवन था। यह प्रथम भ्रूण या गर्भ ही हिरण्यगर्भ था। एक सूक्त का द्रष्टा भी हिरण्यगर्भ[1] है।

तम् इदं गर्भं प्रथमं दध्न आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे,
अजस्य नाभावध्येकम् अर्पितम् यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः।
(ऋ० १०।८२।६)

हिरण्यगर्भ सूक्त के प्रथम श्लोक में कहा—
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेय॥
(ऋ० १०।१२१।१)

इस मन्त्र से यह सिद्ध है कि हिरण्यगर्भ का जन्म हुआ; ब्रह्माण्ड शरीर प्रजापति, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज इन चारों भूत-समूहों अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति में प्रथम स्थान इसी का है। भूत का यह एकमात्र ईश्वर था। उसके बाद ईशान आता है जो चैतन्य का स्वधर्म है। इसी प्रकार शिव को भी योग का आचार्य माना जा सकता है, क्योंकि परवर्ती सभी योग सम्प्रदाय या योगियों का समूह शिव का ही उपासक रहता है और शिव का योग मुद्रा में या समाधि की स्थिति में वर्णन पौराणिक युग से आधुनिक युग तक उपलब्ध है। ईशान शिव का अपर पर्याय है।

इस प्रसङ्ग में निष्पक्ष दृष्टि से विवेचन किया जाय तो यह आर्यों के द्योतनात्मक देव से ही इसकी भी उत्पत्ति है। हिरण्यगर्भ भी तेज का ही प्रतीक है।

योग के आचार्यों की योगेश्वर ने जो परम्परा निर्दिष्ट की है उसके साथ समन्वय करने पर आदित्य को ही योग का प्रथम आचार्य मानना होगा। अज, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, यह क्रम निर्दिष्ट किया है। योग चतुष्पाद के रूप में विश्व की विभूति है। इसके द्वारा अक्षर स्वरूप ब्रह्म का निर्देश हो रहा है।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ (गी० ४।१)

---

१. हठयोगदीपिका के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ ने स्वाध्यायशील ऋषियों को योग का उपदेश दिया। "स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" २।४४ इसकी सार्थकता यह मानने पर ही होती है। वस्तुतः, ज्ञानात्मक अज की अनेक रूप में होने की इच्छा और संकल्प प्रबुद्ध हुआ, विषय की आवश्यकता हुई, नार निर्मल चित्त जल के समान था। अतृप्त हिरण्यगर्भ क्षुब्ध हो उठा एकाकी तपस्या में लीन का संक्षोभ, संक्षोभ का विषय भूतवर्ग हुआ। यह योग क्रियात्मक शक्ति के आधार पर बढ़ने लगा। लयावस्था में विक्षोभ की शान्ति के साथ हिरण्यगर्भ की संकल्प, इच्छा के उपरम से स्वरूपावस्थान होता है। अतः अज, हिरण्यगर्भ यह सृष्टि क्रम और हिरण्यगर्भ, अज यहाँ लय-क्रम है।

कूटस्थ अज के द्वारा प्रथम योग का उपदेश आदित्य को प्राप्त होता है। आदित्य से मनु को, मनु से इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु के द्वारा यह आज तक परम्परा क्रम में उपलब्ध है। अब यह विचारणीय है कि विवस्वान् कौन है ? व्योममण्डल के आदित्य का इससे क्या सम्बन्ध है ? सूर्य के पुत्र मनु और मनु के पुत्र इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकु सूर्यवंश के आदि राजा हुए। सूर्य का अधिष्ठातृ देव अज है और पौराणिक एवं स्मृतियों की भूमिका में हिरण्यगर्भ के द्वारा सृष्ट सूर्य है।

शास्त्रैकगम्य अनन्त आनन्द, चैतन्य, एकरस, कूटस्थ ने अपने को योगशक्ति के प्रभाव से संस्कृत मन से सृष्टि की। जिस सृष्टि में किसी उपादान की आवश्यकता न हुई। अतः कूटस्थ ही योग का प्रथम प्रवर्तक है और इसका परिज्ञान हिरण्यगर्भ की सृष्टि से होता है अथवा आदित्य जो अखण्ड चैतन्य या ज्योति का प्रतीक है जिसे आर्य भावना का वहनकर्ता दीप्ति माना गया है, वही इसका व्यक्त प्रवर्तक है। आविर्भाव योग के विना सम्भव नहीं है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के सप्तम पद्य के द्वारा सूक्ष्म अव्यक्त सनातन चराचरात्मक निखिल प्रपञ्च के कारण को अचिन्त्य माना और योग के द्वारा जिसने उद्भूत जल अर्थात् (अप्) शरीर को धारण किया। प्रकृत में 'उद्बभौ' शब्द दिया गया है, साथ ही स्वयम् शब्द का प्रयोग अतिशय मार्मिक है, 'स्वयमुद्बभौ' अर्थात् स्वयं प्रकाशित हुए, यह प्रकाश अन्य दीप्ति सापेक्ष नहीं था। दीप्ति अर्थ को कहने वाला 'भा' धातु का यही अर्थ विवक्षित है। प्रथम जल की सृष्टि कर उसमें बीज का निक्षेप किया। जिसकी संज्ञा हिरण्यगर्भ थी। यह सृष्टि सङ्कल्पात्मक थी। इस अण्ड को सहस्र सूर्य के समान ज्योतिर्मय कहा गया है। अप् का अर्थ नर, नर ही नार होता है और यह अयन अर्थात् आश्रय है, अतः इनकी संज्ञा नारायण है। इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने योग्य है कि नारायण अज को गीता के आधार पर योग का आदि प्रवर्तक कहा गया है और अन्यत्र हिरण्यगर्भ को। किन्तु, यह कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है, क्योंकि योग का प्रयोग सङ्कल्पात्मिका सृष्टि के रूप में अज से चलता है और पुनः योगज हिरण्यगर्भ को, जो योगज फल है, अतः इसीको प्रथम सृष्ट क्रम में प्रवर्तक मानना ठीक ही है, क्योंकि व्यक्तभाव से यही योग का प्रवर्तक है।

वैदिक दृष्टि में आदित्य :—

वैदिक साहित्य का प्रधान उपजीव्य देववाद को कहना अनुचित नहीं है। किन्तु यह देवत्व ज्योतिस्वरूप है। क्योंकि देव शब्द की निष्पत्ति दीप्ति या द्योतन अर्थ कहने वाले दिव से होती है। यह दिव शब्द प्रकाश का बोधक है दिव, दिवा, देव इन तीनों शब्दों में एक ही भावना अनुस्यूत है। इस आलोक में बोध, जागरण, चिति, विवेक, प्रज्ञान, संवित् सन्निहित है। बोध का यास्क ने प्राण अर्थ किया है। बुध्न यह प्रकाश एवं जागने अर्थ को लेकर ऋग्वेद से आजतक प्रयुक्त होता आया है। इसका मूल बुध धातु ही है। यह बोध अव्यक्त से व्यक्त का ज्ञान और अन्धकार से ज्योति में आगमन है। गीता में 'विवस्वते योगं' यह शब्द प्रयुक्त है। वसु का अर्थ आलोक होता है और इसी वस् से विवस्वते, वासर, उषस्, उस्ना निष्पन्न होता है। ये सभी ज्योतिर्मय हैं।

ऋग्वेद में अनेक मन्त्रों के द्वारा आदित्यगण के लिए वसु शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] यह परम्परा वहीं समाप्त नहीं हो जाती वरन् आगे भी चलती है। इसीलिए निरुक्त में वसवो यद् विवसते सर्वं''' वसवो आदित्य रसमयः विवासनात्[2] कहा है।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के ऋषि वसिष्ठ माने गये हैं जिसका अर्थ ज्योतिष्मन्तम् होता है। फारसी में वहिश्त, अवेस्ता में वहिश्त=स्वर्ग वहिश्ता=परम पुरुष का बोधक है। इस तरह परम देवता की प्राचीन संज्ञा विवस्वान् है, जिसका प्रतीक सूर्य है[3]। विवस्वान् की उपासना से मनुष्य भी विवस्वान् हो जाता है। सभी देव ज्योति के मूल में विवस्वान् को परम ज्योति माना गया है। अग्नि का विवस्वान् के दूत के रूप में निर्देश मिलता है। अतः अप् भी तेज का प्रतीक है। इस तरह आर्य हृदय की ज्योति के प्रति जो प्रेरणा है वही प्रेरणा हिरण्यगर्भ था, इसी दृष्टि में विवस्वान् को योग का प्रवर्तक मान कर यही सिद्ध किया है। अतः किसी भी स्थिति में चलें तो योग के प्रथम प्रवर्तक अज या नारायण को ही मानना पड़ेगा। जैसा कि गीता में कहा गया है। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ज्ञान योग की शिक्षा सूर्य के द्वारा ग्रहण करते हैं। वसुदेव, वासुदेव का ज्ञान जब तक नहीं होता है तब तक योग विभूति का परिचय सर्वथा असम्भव है। इस प्रकार वासुदेव विवस्वान् के द्वारा योग का प्रवर्तन सर्वथा समुचित है। 'इदं तु विश्वं भगवानिवेतरो' यह भागवत का कथन भी विश्व और विवस्वान् वासुदेव की एकता का परिचायक है। अतः वासुदेव ही सभी दृष्टियों से योग के प्रवर्तक हैं। यही कारण है कि इनको योगेश्वर कहा जाता है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि विवस्वान् के आदि राजा होने पर भी मेरे अन्तराल में एक संविद् रूप शक्ति है, जो विश्व का मूल उत्स एवं ज्योतिर्मय है। इसकी अन्य संज्ञा पुरुषोत्तम है। उसके अभाव में मेरी सभी शक्तियाँ गतिहीन एवं अव्यवहार्य हो जाती है। सविता की उत्पत्ति इसीसे होती है, जो जगत् का प्राण है। गुणों की ज्योतिर्मय स्थिति में यह वरणीय मार्ग है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति॥
हृद्याकाशे च यो जीवः साधकैरुपवर्ण्यते।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति॥

अर्थात् आदित्य के अन्तर्गत प्रकाश की उत्तम ज्योति है, वह सभी प्राणियों के हृदय देश में जीव रूप से अवस्थित है। परम व्योम में अवस्थित ज्योति ही हृद् व्योम में भी अवस्थित है। अतः आदि प्रवर्तक योग का हृद् ज्योतिः स्वरूप पुरुषोत्तम को मानना भी उचित है।

१. (ऋग्वेद ८।४०।५,७५।२।१) ८।१८।१५
२. विवस्वान् १२।४१
३. ऋग्वेद १०।३९।१३

अद्वैत वेदान्त और हिरण्यगर्भ:—

चेतन का उपाधि जडसमुदाय है। जडव्यष्टि उपाधि युक्त चेतन जीव कहा जाता है। जडसमष्टि उपाधि से युक्त चेतन ईश्वर है। चेतन की उपाधि स्वरूप जडवर्ग तत् तत् काल में सम्पादित अवस्था के भेद से स्थूल, सूक्ष्म और अव्याकृत के भेद से तीन प्रकार का है। पञ्चीकृत[1] अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश संवलित दृश्यमान भूतात्मक स्थूल जगत् है। इस स्थूल का कारणीभूत पञ्चीकरण प्रक्रिया से रहित भूत समुदाय सूक्ष्म है। इन सूक्ष्मभूतों का कारणमूल अज्ञान अव्याकृत है। उपाधियों के प्रदर्शित तीन भेदों के आधार पर जीव भी तीन प्रकार का है; जैसे— स्थूल व्यष्टि उपाधि युक्त जीव विश्व, सूक्ष्म व्यष्टि उपाधि युक्त जीव तैजस, अव्याकृत व्यष्टि उपाधि संचलित जीव प्राज्ञ। इसी प्रकार स्थूल समष्टि उपाधि युक्त ईश्वर विराट्, सूक्ष्म समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर हिरण्यगर्भ, अव्याकृत समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर ईश है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्ष्म भूत उपाधियुक्त होने के कारण स्थूल का ही कारण हो सकता है, अव्याकृत का कारण वह नहीं हो सकता है। अतः हिरण्यगर्भ की पूर्व भूमि योग की प्रभव भूमि है।[2]

आँख, कान, नासिका, जिह्वा, त्वक् इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का क्रमशः ज्ञानशक्ति प्रधान देवता आदित्य, दिशा अश्विन्, वरुण, वायु हैं, वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों के क्रियाशक्ति प्रधान अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र, प्रजापति देवता हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये पाँच विषय हैं, ज्ञानशक्ति प्रधान अन्तःकरण और क्रियाशक्ति प्रधान प्राण है। इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय लिङ्ग शरीर है, ज्ञान शक्ति की प्रधानता से हिरण्यगर्भ और क्रियाशक्ति की प्रधानता से सूत्र कहा जाता है। हिरण्य के समान प्रकाशजनक होने के कारण वह हिरण्यगर्भ है। इन समष्टियों का अभिमानी जीव भी हिरण्यगर्भ कहा जाता है। अतः इस वेदान्त दृष्टि से योग का

---

१. पञ्चीकरण प्रक्रिया :—

पाँच तत्वों में एक एक को द्विधा विभाग कर आधे को बराबर चार भागों में बाँट कर प्रत्येक आधे भाग में शेष चार भूत पदार्थों का एक भाग सन्निहित करें। जैसे पृथिवी तत्त्व का दो भाग हुआ, इसमें आधे भाग को चार भाग में विभाग कर चार भागों को जल आदि के आधे भागों में पृथक् पृथक् रूप से मिलाना होगा। इसी प्रकार सभी भूत पदार्थों के भाग को मिलाकर पञ्चीकरण होता है। आधा भाग जिस भूत पदार्थ का रहता है, वह उस नाम से अभिहित होता है—पृथिवी का आधा भाग रहने पर तथा चार भाग अन्य भूत पदार्थों का रहने पर पृथिवी द्रव्य कहा जाता है।

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च उच्यते ॥ (वेदान्तसा० पृ० २२)

२. द्रष्टव्य—सिद्धान्त वि० श्लोक—८

द्वितीय हिरण्यगर्भ रूप से प्रवर्तक जीव ही है और प्रथम नारायण है हिरण्यगर्भ और सूत्र, संकल्प और क्रिया से युक्त जीव है।[1]

इस पूर्वोक्त विश्लेषण के आधार पर वासुदेव और हिरण्यगर्भ नारायण और जीव-परक होने से प्रवर्तक के विषय का मतभेद समन्वित हो जाता है।

कठोपनिषद् में भी इस विषय का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख मिलता है :—"प्राणो ह्येषः सर्वभूतैर्विभाति" (कठोप०)। आगे यह भी लिखा है कि "या प्राणेन सम्भवति अदितिर्देवानाम्" (कठोप०)। अदिति अखण्डना अबन्धना आद्याशक्ति है। यह विश्व में सर्वत्र एक रूप से अनुस्यूत है। दो अवखण्डने अर्थात् खण्डनार्थक दो धातु से दिति शब्द सिद्ध होता है, निषेधार्थक नञ् से दिति का समास होने से अदिति शब्द निष्पन्न होता है। अतः अखण्ड स्वरूप होने से वह सार्वभौम रूप होगी, इसी की अभिव्यक्ति इस मन्त्र से होती है:—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
(ऋ० वे० १।८९।१०)

अदिति को सबके रूप में इस मन्त्र से कहा गया है। अदिति को पञ्चजन अर्थात् देव, पितर, असुर, गन्धर्व और राक्षस तथा उत्पन्न वर्तमान एवं उत्पद्यमान सभी अदिति है। 'अदितिः सर्वम्' इस कथन से भी अदिति का सार्वभौम स्वरूप वर्णित किया गया है। इसी अखण्ड ज्योतिः स्वरूप अदिति से आदित्यादि देवगण उत्पन्न हुए हैं। अतः प्रकाशात्मिका देदीप्यमाना अदिति से आदित्य हैं, जो स्वपर प्रकाश का सामर्थ्य रखता है। देवता की किसी भी विभूति को अपनायें, सभी अदिति के पुत्र होने से ज्योतिः स्वरूप हैं। अखण्ड अदिति जो सार्वभौम है उसी का पुत्र आदित्य है, अतः विवस्वान् की अज, अखण्ड के बाद स्थिति स्वाभाविक ही है। पूर्व विश्लेषण से स्पष्ट है विवस्वान् वासुदेव की ज्योतिः ही सर्वत्र अनुस्यूत है। हृदयाकाश में सहस्र सूर्यकोटि प्रतीकाश ज्योतिर्मय मण्डल है, जिनका अनुभव साधक योगी योगक्रिया के द्वारा करते हैं—वही विवस्वान् या सविता है। उनके प्रकाश से भूर्भुवः आदि लोक प्रकाशित होते हैं। इस सवितृमण्डल के मध्य में 'ज्योतिषां ज्योतिः' श्रीनारायण है। गोलोकपति पुरुषोत्तम वासुदेव साक्षात् ज्ञान स्वरूप निर्विकार कूटस्थ स्वरूप हैं, उनके द्वारा प्रकाशित शक्तिच्छटा विश्व को उद्भासित करती है। इसी की प्राण या सूर्य संज्ञा है। प्रथमोत्पन्न प्रकाश होने से अखण्ड अदिति के बाद यह आदित्य या विवस्वान् आता है। विराट् विश्वभुवन की उत्पत्ति इसी से होती है। ज्ञानधारा के सञ्चरण क्रम में आदित्य पुनः मन जो 'मनुते' के कारण मनु कहा जाता है, वह प्राण से उत्पन्न होता है। 'मनोनाथः मारुतः' मन का अधिपति प्राण हुआ।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते ॥

---

१. अयममूर्तः पदार्थः कार्यत्वाद्व्यष्टौ समष्टौ च जीवोपाधिरेव (सि० वि० पृ० ९९)

दृश्यमान सभी जागतिक पदार्थ ब्रह्म सत्तारूप प्राणशक्ति में स्पन्दित हो रहे हैं, यह ब्रह्माण्ड उसी से निःसृत है।

यह कहा जा सकता है कि मन ही संकल्प रूप में सभी कार्यों का कर्ता है:—

मनः करोति पापानि मनो लिप्येत पातकैः।
मनश्च तन्मनो भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः॥

आध्यात्मिक दृष्टि से वासुदेव अर्थात् अखण्ड ज्योति का सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वव्यापी अखण्ड ज्योति वासुदेव मन्त्रमूर्ति अमूर्तिक योगैकगम्य मन्त्र चैतन्यात्मक रूप में वह अन्तः श्वास-प्रश्वास के रूप में सदा अनुभूत होता है— "निःश्वासश्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते प्रिये"। यदि सम्पूर्ण शरीर योग के द्वारा सभी प्राणशक्ति अर्थात् प्राणवायु का सञ्चरण हो सके तो शारीरिक भूत शुद्धि हो जाती है। भूतशुद्धि मन्त्र का चैतन्य और कूटस्थ इच्छा मात्र से बिन्दु रूप में अन्तः प्रविष्ट होता है, यह योगज गर्भाधान क्रिया है। पुनः वही वायु महत्तेजो रूप होकर आविर्भूत होता है, ऊँकार ध्वनि रूप नाद होता रहता है, जो आहत के विना ही होता है, इसी से परे बिन्दु भी भ्रू के मध्य में दृष्टि को स्थिर कर आँखों से ही देखा जाता है। बिन्दु की स्थिरता सामरस्य है। भ्रूमध्य में देदीप्यमान कूटस्थ ज्योति ही प्रज्वलित है और वह कूटस्थ रूप में हृदयस्थ है।

तेजो बिन्दुः परं ध्यानं विश्वातीतं हृदि स्थितम्॥

इस तरह प्राण जागतिक पदार्थ को स्पन्दित करता है और उस प्राण का स्पन्दन अखण्ड वासुदेव से होता है। "यदिदं किञ्च जगतसर्वं प्राण एजति निःसृतम्" वस्तु का ध्वंस अणु मात्र में परिणत होता है और वही अदिति या बिन्दु है। मन की एकाग्र-स्थिति में षडैश्वर्य सम्पत्ति प्राप्त होती है। फलस्वरूप जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, क्षुधा, तृषा आदि छः विकारों का लोप होता है। यह वही योग की स्थिति है जहाँ अनेक दीप्तियाँ आती हैं। मन इनको देखता है और मन के अभिप्राय की अभिव्यक्ति इन्द्रियादि निरपेक्ष होकर होती है—अतः यही मन मनु है जो धर्म-संस्थापन के लिए पुनः पुनः आता है। इस अवस्था में दीप्ति के प्रकर्ष से ज्योतिःपुञ्ज ही राजा के द्वारा अभिहित होता है, राजृ दीप्तौ से राजा निष्पन्न हैं अतः मनु विवस्वान् के अनन्तर तृतीय योग क्रिया के द्वारा धर्म संस्थापक है।

मन जब तक बाह्य दृष्टि से युक्त रहता है तब तक वह विषय के उपभोग में लगा रहता है और साधनशील होकर हृदय में प्रवेश कर उसकी अन्तर्दीप्ति का प्रकाशक होता है, मन की अन्तर्दृष्टि का प्रकाश ही इक्ष्वाकु है, इक्ष्वाकु की उत्पत्ति मन से होती है। यह मन की प्रज्ञाचक्षु की अवस्था है। इष् धातु से इषेः क्सुः (उ० ३।१५७) सूत्र में इक्षुमाकरोति या इक्षुभवति गच्छति बाहुलकादुण् प्रत्यय करके इक्ष्वाकु शब्द निष्पन्न है। अतः, भूतपति हिरण्यगर्भ के बाद गतिशील सूर्यवंश की परम्परा में इक्ष्वाकुवंश ज्ञान, इच्छा और क्रिया की अवस्था है।

इस प्रकार हिरण्यगर्भ की स्थिति समष्टिकारण शरीर और महत्तत्त्व की स्थिति में है। इससे पूर्व योग की अनेक सोपान परम्परायें हैं। इसी अर्थ को रहस्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है :—"परिपूर्णस्य खण्डनाभावान्न क्रोधादय उत्पद्यन्ते, अतः परमहङ्कारं परमोत्साहं संविदात्मकं गृहीत्वा क्रोधमविद्यात्मानं शत्रुं जहीति शिवम्[1]"। अर्थात् परिपूर्ण अखण्ड है उसका खण्डन न होने से क्रोध आदि उत्पन्न नहीं होते हैं, परम अहङ्कार, परम उत्साह संविद् (अन्तः प्रकाशरूप) को ग्रहण कर अविद्यात्मक क्रोध पर विजय प्राप्त करे।

योग-प्रक्रिया :—

यह ज्ञातव्य है कि शरीर ब्रह्माण्ड का शुद्ध आयतन है—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः।
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि मे मतः॥

इस शरीर का मूल सहस्रार है जो विष्णु का परम पद है।

जिसका चित्त प्राण ब्रह्मरन्ध्र सहस्रदल कमल में लीन हो जाता है, वह अपनी इच्छा के अनुसार अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति में समर्थ होता है :—

अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः॥

इस परम पद से इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा प्रवाहित होती है। उस परम व्योम में संविद् रूप ज्योतिः पुञ्ज का स्वयं प्रकाश प्राप्त होता है।

इस योग की क्रिया का संक्षेप में संकेत इस प्रकार किया जा सकता है—

संसार के समत्व को भावना से लोककल्याण की एषणा योग का परम प्रयोजन है।

आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्वों का विश्लेषण करने के लिए योग की अवतारणा की जाती है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही नित्य शान्ति है। इसलिए योग और समत्व अपर पर्याय है, जब तक सकल प्राणियों के साथ समत्वभाव प्राप्त कर तदनुरूप आचरण में प्रवृत्ति नहीं हो जाती है तब तक यह निष्फल है, क्योंकि समष्टि के साथ समत्व ही योग है। स्वार्थ और कारुण्य इन दो मूल आचारों को ग्रहण कर

१. गीता टी० पृ० १८१

ही प्रवृत्ति होती है। प्राणिमात्र में चेतन की अनुस्यूतता मानने पर किसी की भी हानि स्वार्थ की हानि होगी। मानव एक अङ्गी है, अतः किसी भी अङ्ग भूत की क्षति विराट् की हानि होने से सतत सकल प्राणियों के प्रति कारुण्यमूलक प्रवृत्ति होती है। 'चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादि श्रुतियाँ समत्व के मनन की श्रुति हैं।

योगी उस विराट् को अवगत करने के लिए मन को आत्मस्थ करते हैं, दूसरे शब्दों में यह आत्मरमण है, कबीर ने भी इसी आशय से कहा है—"सबके घट में हरी विराजे ज्यो गिरिसुत में ज्योति"। प्रत्येक कण-कण में ज्योति और प्रकाश के समान ही प्रत्येक प्राणी में हरि विराजमान हैं। अब प्रश्न है उनके अन्वेषण का ? कैसे कहाँ खोजा जाय ? शरीर के किस स्थान में उसकी उपलब्धि किस साधना विशेष में होती है, मस्तिष्क के ब्रह्मरन्ध्र में चैतन्य का विशिष्ट प्रकाश विद्यमान रहता है। इससे अनुरञ्जित प्राणशक्ति अपने प्रवाह से सहस्रों नाडियों के साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर को सचेतन कर देता है। विद्युत् शक्ति-प्रवाह की प्रधान धारा (Main current) के समान प्राणशक्ति का प्रधान प्रवाह मेरुदण्ड के मध्य में अवस्थित है। प्राणशक्ति का मूल आधार सुषुम्णा है, सुषुम्णा से ही इडा और पिङ्गला में वह प्रवाहित होती है। प्राण का इन दो नाड़ियों से प्रवाह होने पर सुषुम्णा का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। सुषुम्णा नाडी मेरुदण्ड के मध्य गुह्यदेश से मस्तिष्क तक विद्यमान है। इडा मूलाधार में स्थित सुषुम्णा के मुख के वामभाग में और पिङ्गला दक्षिण भाग में कुछ उठकर दोनों ध्रुवों के मध्य आज्ञाचक्र में सुषुम्णा से मिल जाती है। इन्हीं दो नाडियों के माध्यम से ज्ञान का प्राण प्रवाह के साथ सम्पूर्ण शरीर में प्रवाह होता है। अहम् के साथ शरीर का तादात्म्य मन की वृत्ति का बाह्य प्रवाह एवं संसार लीला के अभिनय की प्रवाहमान अवस्था में ही होता है, प्राण-प्रवाह के सुषुम्णा की ओर अग्रसर होने पर दिव्य ज्ञान लौट आता है। प्राण को मेरुदण्ड के मध्य सुषुम्णा में प्रवेश के लिए योगिगण सचेष्ट रहते हैं, यही योगाभ्यास है। इडा और पिङ्गला में गर्भस्थ शिशु का प्राण-प्रवाहित नहीं होता। सुषुम्णा उन्मुक्त रहती है किन्तु भूमि के साथ सम्बन्ध होते ही प्राण धारा इडा और पिङ्गला नाड़ियों में पड़ती है, इन दो नाड़ियों में प्राणवायु का सञ्चरण होते ही सुषुम्णा अवरुद्ध हो जाती है। योगी रामप्रसाद ने इसी की सूचना इन शब्दों में दी है :—

गर्भे जखन जोगी तखन, भूमे पड़े खेलाम माटी।

गर्भ में योगी था किन्तु पृथ्वी पर आते ही दुःखी हो गया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि में अभ्यास के द्वारा योगज शक्ति से मनुष्य सुषुम्णा में

प्राणशक्ति के सञ्चार की चेष्टा करता हैं, प्राण के साथ मन योग के द्वारा सुषुम्णा का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। प्राण की चञ्चलता का क्रमिक विनाश होकर स्थिरता की प्राप्ति सुषुम्णा में प्रवेश करने से ही होने लगती है और जब वह सुषुम्णा का भेदनकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है तब वह अवरुद्ध हो जाता है किन्तु यह अवरोध श्वास-प्रश्वास के बाह्य अवरोध के समान दुःखावह नहीं होता है। क्योंकि यह उसकी सहज आयास शून्य अवरोध की स्थिति हैं, स्वरूप स्थिति या आत्माराम की अवस्था होने से वह भूमा सुख अर्थात् परमानन्द सन्दोह से सन्तृप्त रहता है। यह सत्य है कि स्वतः प्रकाश स्वरूप आज्ञाचक्र में ही आविर्भूत हो जाता है, इस चित् की ज्योति के स्फुरण होने से प्राण के सहज रूप की स्थिरता आ जाती है। प्राण की स्थिरता के साथ ही मन विक्षेप शून्य हो जाता है—यह मन की निर्मलावस्था है। इसमें रजोगुण की प्रशान्ति और सत्त्वगुण का उद्रेक रहता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनां सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

मधुसूदन की अद्वैत भावनात्मक रस स्वरूपता जो मन की भगवदाकारता सम्पत्ति कही गई है, योग की दृष्टि में वह चिदाकारता है, मन की स्थिरता है। अनन्तर योगी प्रत्याहार के द्वारा मन को वशीभूत करने की दिशा में प्रयत्नशील होता है और रजोगुण से अभिभूत हो जाने से ब्रह्मसायुज्य-सुख का अनुभव करता है। यही योग का परम फल है। योगी की उत्तम समाधि सुख स्थिरता या शब्दान्त ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। भागवत वर्णित योगेश्वर भगवान् का यही अवरुद्ध रूप है। यह वही अवस्था है जिसमें देह के कालकृत परिणाम के अवरोध होने से जन्म-मृत्यु का खेल प्रशान्त हो जाता है। ईश्वर सायुज्य अर्थात् अणिमा आदि अष्टसिद्धियों के साथ ऐश्वर्य सम्पत्ति है।

परवैराग्य पद की प्राप्ति से मानव निर्विकल्प समाधि सम्पत्ति से अचल हो जाता है, यह अन्य शब्दों में कैवल्यावस्था है। शरीर में छः विशिष्ट केन्द्र के रूप में पद्माकार अवस्थित है। सुषुम्णा नाड़ी इन केन्द्रभूत स्थानों का भेदन कर आगे बढती है। यही चक्र या पद्म है। सम्पूर्ण शरीर बाह्यवस्तु के अन्तःस्थ तत्त्व से परिपूर्ण है। अन्तःस्थ वस्तु का ही बाह्य संघटन है। जैसा प्राणशक्ति का अन्तःस्थ में सञ्चरण होगा वैसा ही इस ब्रह्माण्डकोश में वृत्ति का सञ्चरण होता है। अतः शरीरस्थ तत्त्वों के द्वारा प्राण और मन को एकाग्र करने से समत्व फल को देनेवाले योग की सफलता होती है। गुह्य द्वार के ऊपर चार दलों से युक्त पद्म है—वही मूलाधार है, यहीं से प्राणवायु का सञ्चरण करना है। लिङ्ग मूल के पीछे मेरुदण्ड में षड्दल युक्त एक पद्म है—यही

स्वाधिष्ठान चक्र या पद्म है। नाभि के पीछे मेरुदण्ड में ही दशदलों से विशिष्ट चक्र या पद्म है—यह मणिपूर है। मेरुदण्ड में स्थित हृदय के पीछे द्वादशदल चक्र या पद्म है—यह अनाहत चक्र है। कण्ठमूल के पीछे मेरुदण्ड में षोडश दलों से युक्त चक्र या पद्म है—यह विशुद्ध पद्म है। दोनों भौंओं के मध्य में दो दलों वाला पद्म है—यह आज्ञाचक्र या पद्म है, इसके ऊपर मस्तिष्क देश में हजार दलों से युक्त कमल है—यह परब्रह्म या सद्गुरु अर्थात् जिसे योगशास्त्र में काल से परिच्छिन्न न होने के कारण सभी का गुरु माना गया है। "पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्" (यो. सू. १।२६)। सुषुम्णा नाड़ी को इन छः पद्मों का भेदन कर सहस्रार पद्म में जाना है।

सूक्ष्मतम नाड़ी जो सुषुम्णा में ही स्थित है—वह ब्रह्म नाड़ी है, इसी ब्रह्म नाड़ी में प्राण की स्थिति जीव के अज्ञान को नाशिका है। इसी स्थिति को गुरु स्थानीय प्राण की स्थिति अर्थात् गुरु स्थान में प्राण के संचरण का प्रतीक है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

इसी को परम्परा प्राप्त पद्य से कहा गया है। सुषुम्णा के अन्तःस्थित इस ब्रह्म नाडी को भी योग में सुषुम्णा ही कहा जाता है। इस पूर्वोक्त ब्रह्म नाडी के अन्तर्गत चित्रा और वज्रा नाडियाँ है। स्वाधिष्ठान से वज्रा और मणिपूर से चित्रा उठती है। योगजशक्ति से इनका स्पन्दन सम्भव है। यह कहा गया है कि सप्त लोक की जो बाह्य स्थिति वर्णित है, वे अन्तः सप्त पद्म ही हैं और गायत्री की सप्त व्याहृतियाँ जो शब्दात्मिका हैं, वे भी उच्चारण क्रम में जप के द्वारा नाद के द्वारा प्राण वायु में स्पन्दन करती हैं। अतः अन्तःस्थ सप्त चक्रों के समान बाह्य सप्त लोकों में इनका प्रसार है। योग क्रियाओं के द्वारा प्रदर्शित सप्त स्थानों में प्राण को आहरण कर ऊर्ध्व दिशा में अवस्थित करने पर योग की दृष्टि से सम्प्रज्ञात या ब्राह्मी स्थिति होती है। यही वह अन्तःस्थ स्थान है जो विष्णु का परम पद है, 'तद्विष्णो परमं पदम्' के द्वारा इसी चक्र का निर्देश किया गया है।

वेद में इस स्थान के लिए व्योमन् शब्द का प्रयोग किया गया है। आकाश की दो संज्ञा है दिव् और व्योमन्। प्रथम में द्योतना या दीप्ति का संकेत है और द्वितीय शब्द में शुद्धता अण्डता और उच्चता का संकेत है। अखण्डनार्थक अदिति का आध्यात्मिक स्थान आकाश द्यौ ही है। वि + ओमन् अव् धातु का उन्नीस अर्थ कहा गया है, इनमें प्रसाद, परिक्षरण अर्थात् आनन्द, स्पन्दन एवं संवरण इन तीन अर्थों

को लेकर इस धातु से सिद्ध व्योमन् शब्द का प्रयोग मिलता है। व्योमन् निपातन से सिद्ध है। व्येञ् संवरण से निष्पन्न ॐ के साथ इसका सम्पर्क सुस्पष्ट है। यही कारण है कि महामहोपाध्याय डॉ० बागची महोदय ने व्योम् और ॐ दोनों की निष्पत्ति अव से मानी है। ॐ को गौरी या एकपदी वाक् माना है जो परम व्योमन् में सहस्राक्षर है। इसी प्रकार आधिदैवत अध्यात्म दोनों दृष्टि से वाक् या ॐ उसका अनवरत परिस्पन्द है "यावद् ब्रह्म तिष्ठेत् तावती वाक्" (ऋ० १०।१।४८)। यही कारण है कि उस अव्यक्त अव्याकृत अवस्था को न सत्, न असत् कुछ भी नहीं कहा जाता है, "नासीद रजो नो व्योमा परो यत्" (ऋ० १०।१२९।१) जो भी सत् है उसकी रज में स्थिति है, उससे परे व्योम या असत् है किन्तु आदि व्याकृत को सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि स्थिर तत्त्व में रज का प्रवेश नहीं है, अन्यथा स्वरूप में अवस्थिति नहीं रहेगी। इसीलिए कहा गया है—'ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि' (ऋ० ५।८७।९) सप्त चक्र के प्रसङ्ग में 'त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुहे सत्यम् आशिरः पूर्व्यं व्योमनि' (९।८।१) सात धेनु ऊर्ध्वस्रोता प्राण का सात स्थान है। 'भगो न मेने परमे व्योमन् आधारयद् रोदसी सुदंसाः' (ऋ० ६।८।७) रोदसी का द्यौ एवं पृथिवी (ऋ० १।१८४।४१) है, भग आदित्य है, पुरुषमेध योग यज्ञ में यह अजन्मा नारायण है (१३।६।१)। इनकी दो पत्नियाँ हैं पौराणिक दृष्टि से श्री और लक्ष्मी और अध्यात्मदृष्टि से चित् और आनन्द तथा तन्त्र की दृष्टि से नील सरस्वती और तारा, नारायण का नाभि अप में वास, इसकी तुलना करें—सप्तशती के मध्यम चरित्र में देवी के आविर्भाव से। 'अप्सरा जारम् उपसिष्मिया योषा विभर्ति परमे व्योमन्' (१०।१२३।५)। सूर्य या सोमचित् आनन्द योषा या उषा वाक् या अप् यही सृष्टि का नाभि स्थान है। वाक् सहस्राक्षरा अर्थात् सहस्रदल कमल योग की भाषा में है। 'असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन अदितेरुपस्थे' (ऋ० १०।५।६)। अदिति अनन्त चेतना, दक्ष प्रज्ञावीर्य है। अनुलोम और विलोम क्रम में एक से दूसरे का जन्म है। इस प्रकार अध्यात्म दृष्टि से परम व्योम चेतना की उतङ्गतम भूमि है जिसे योग क्रिया में सहस्रार कहा गया है। वेद में परम व्योम चेतना का स्फुरण ॐ के साथ सायुज्य वर्णित है। इस प्रकार उस विष्णु के व्यापक परम व्योम पद को प्राप्त कर जीवन कृतकृत्य होता है। योग में स्पष्ट लिखा है कि अविद्या संस्कार द्वारा प्रकाशशक्ति आवृत है। प्राणायाम के द्वारा प्रकाशावरण दूर होता है। आवरण क्षीण होने से सर्वथा समता की भावना परिव्याप्त हो जाती है। प्राण स्थिर हो जाता है। प्राण की अन्तःशक्ति का विकास जगदाकार व परिणति है। इसी को तन्त्र की दृष्टि से शिवशक्ति सामरस्य, योग-दृष्टि से

समत्व भावना कहा है। चराचर विश्व के विकास की भूमि 'लोकोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता' की स्थिति या आत्मानुग्रह के अभाव में लोकानुग्रहमूलक प्रवृत्ति का आरम्भ है। जिसे दूसरे शब्दों में निवृत्तिमार्ग कहा गया है।

पूर्व विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि दीप्ति का अन्तःस्वरूप ही संवित् है। शैव-दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में योगविशारद के सिद्धान्तानुसार जीव और आत्मा का ऐक्य संवित् का साधन ही योग है। जीव और आत्मा के अभेद से उत्पन्न ज्ञान ही योग है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए शिवसूत्रवृत्ति में कहा गया है कि आत्मा के विमर्श से सात्त्विक ज्ञान उत्पन्न होता है। शिवस्वरूप को प्राप्त कर इन्द्रियों के साथ अन्तःकरण का लय होता है। आनन्द भैरव में भी कहा है कि प्राणादि भावना एवं उनके दृश्य सम्पत्तियों का परित्याग कर चित्त का अपने आत्मभाव होता है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का एक सौ पाँचवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



षडधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

अथ तस्मै ददौ कन्यां संज्ञां नाम विवस्वते ।
प्रसाद्य प्रणतो भूत्वा विश्वकर्मा प्रजापतिः ॥१॥
वैवस्वतस्तु सम्भूतो मनुस्तस्यां विवस्वतः ।
पूर्वमेव तथा ख्यातं तत्स्वरूपं विशेषतः ॥२॥

(क्रौष्टुकिरुवाच—

भूयस्तच्छ्रोतुमिच्छामि मार्तण्डस्य महात्मनः ।
चरितं हन्ति यत्पापं कलौ संश्रृण्वतां नृणाम् ॥३॥)

मार्कण्डेय उवाच—

त्रीण्यपत्यान्यसौ तस्यां जनयामास गोपतिः ।
द्वौ पुत्रौ सुमहाभागौ कन्याञ्च यमुनां मुने ! ॥३॥
मनुर्वैवस्वतो ज्येष्ठः श्राद्धदेवः प्रजापतिः ।
ततो यमो यमी चैव यमलौ संबभूवतुः ॥४॥
यत्तेजोऽभ्यधिकं तस्य मार्तण्डस्य विवस्वतः ।
तेनाति तापयामास त्रीन् लोकान् सचराचरान् ॥५॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

अनन्तर प्रजापति विश्वकर्मा ने प्रणत होकर अर्थात् अतिशय विनम्रभाव से भगवान् विवस्वान् को सन्तुष्ट कर संज्ञानाम की अपनी कन्या प्रदान की ॥ १ ॥

उस संज्ञा के गर्भ से विवस्वान् को वैवस्वत नाम के पुत्र का जन्म हुआ था, उसका वृत्तान्त पूर्व में ही विस्तारपूर्वक मैंने कहा है ॥ २ ॥

(क्रौष्टुकि ने कहा—

मैं पुनः महात्मा मार्तण्ड के उस चरित्र को सुनना चाहता हूँ । जो कि कलियुग में सुनने वाले मनुष्यों के सभी पाप नष्ट करता हो ॥ ३ ॥)

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे मुनि ! रश्मिपति सूर्य को संज्ञा के गर्भ से अतिशय भाग्यवान् दो पुत्र एवं यमुना नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई, इस तरह तीन सन्तान हुई ॥ ३ ॥

इन सन्तानों में श्राद्धदेव प्रजापति वैवस्वत मनु श्रेष्ठ थे, इसके बाद यम और यमी नाम के युगल (जुडवाँ) पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥

उस समय विवस्वान् मार्तण्ड का अतिशय तेज परिव्याप्त था, जिससे चर और अचर के साथ तीनों लोक सन्तप्त हो गये ॥ ५ ॥

गोलाकारन्तु तं दृष्ट्वा संज्ञा रूपं विवस्वतः ।
असहन्ती महत्तेजः स्वच्छायां प्रेक्ष्य साऽब्रवीत् ।।६।

संज्ञोवाच—

अहं यास्यामि भद्रन्ते स्वमेव भवनं पितुः ।
निर्विकारं त्वयाप्यत्र स्थेयं मच्छासनाच्छुभे ।।७।
इमौ च बालकौ मह्यं कन्या च वरवर्णिनी ।
सम्भाव्यौ नैव चाख्येयमिदम्भगवते त्वया ।।८।

छायोवाच—

आकेशग्रहणाद्देवि आशापान्नैव कर्हिचित् ।
आख्यास्यामि मतं तुभ्यं गम्यतां यत्र वाञ्छितम् ।।९।
इत्युक्ता छायया संज्ञा जगाम पितृमन्दिरम् ।
तत्रावसत् पितुर्गेहे कञ्चित्कालं शुभेक्षणा ।।१०।
भर्तुः समीपं याहीति पित्रोक्ता सा पुनः पुनः ।
अगच्छद्वडवा भूत्वा कुरून् विप्रोत्तरांस्ततः ।।११।

संज्ञा ने विवस्वान् के उस गोलाकार स्वरूप का दर्शन कर और उसके विशिष्ट तेज को सहन करने में अक्षम होने से छाया की ओर देख कर उससे कहा ॥ ६ ॥

संज्ञा ने कहा :—

हे शुभे ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं अपने पिता के घर जा रही हूँ। तुम मेरी आज्ञा के अनुसार निर्विकार चित्त से इस स्थान में रहो। मेरे ये दो बालक और इस वरवर्णिनी कन्या को स्नेह पूर्ण व्यवहार करना और तुम इस वृत्तान्त को भगवान् के समीप कभी भी व्यक्त नहीं करना ॥ ८ ॥

छाया ने कहा :—

हे देवि ! जब तक केश ग्रहण नहीं करते हैं, जब तक मुझे शाप प्रदान नहीं करते हैं, तब तक मैं भगवान् के सम्मुख तुम्हारा वृत्तान्त व्यक्त नहीं करूँगी, आप अभीष्ट स्थान पर जाँय ॥ ९ ॥

इस प्रकार छाया के कहने पर संज्ञा अपने पितृ-गृह को चली गई और शुभदर्शना संज्ञा पिता के घर पर कुछ दिनों के लिये निवास किया ॥ १० ॥

हे विप्र ! इसके बाद अपने पिता विश्वकर्मा के द्वारा 'अपने पति के घर पर जाओ' यह वाक्य पुनः पुनः कहे जाने पर संज्ञा कोढ़ी का स्वरूप धारण कर उत्तर कुरु देश में चली गई ॥ ११ ॥

तत्र तेपे तपः साध्वी निराहारा महामुने ।
पितुः समीपं यातायाः संज्ञाया वाक्यतत्परा ।।१२।
तद्रूपधारिणी छाया भास्करं समुपस्थिता ।
तस्याश्च भगवान् सूर्यः सञ्ज्ञेयामिति चिन्तयन् ! ।।१३।
तथैव जनयामास द्वौ सुतौ कन्यकां तथा ।
पूर्वजस्य मनोस्तुल्यः सार्वणिस्तेन सोऽभवत् ।।१४।
यस्तयोः प्रथमं जातः पुत्रयोर्द्विजसत्तम ।
द्वितीयो योऽभवच्चान्यः स ग्रहोऽभूच्छनैश्चरः ।।१५।
कन्याभूत्तपती या तां वव्रे संवरणो नृपः ।
संज्ञा तु पार्थिवी तेषामात्मजानां यथाऽकरोत् ।।१६।
स्नेहान्न पूर्वजातानां तथा कृतवती सती ।
मनुस्तत्क्षान्तवांस्तस्या यमश्चास्या न चक्षमे ।।१७।
बहुशो याच्यमानस्तु पितुः पत्न्या सुदुःखितः ।
स वै कोपाच्च बाल्याच्च भाविनोऽर्थस्य वै बलात् ।।१८।

हे महामुने ! वहाँ साध्वी संज्ञा भोजन आदि का परित्यागपूर्वक तपस्या करने लगी ।। १२ ।।

छाया के पिता के घर पर जाने के बाद छाया ने उसकी आज्ञा के अनुसार छाया संज्ञा का स्वरूप धारण कर भगवान् भास्कर की सेवा करने लगी ।। १३ ।।

भगवान् सूर्य ने छाया को अपनी पत्नी संज्ञा समझ कर उसके गर्भ से भी दो पुत्र और एक कन्या को उत्पन्न किया ।। १४ ।।

हे द्विजश्रेष्ठ ! इन दो पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र संज्ञा के पूर्व पुत्र वैवस्वत मनु के समान सार्वणि मनु हुए और द्वितीय पुत्र शनैश्चर नाम का ग्रह हुआ ।। १५ ।।

तपती नाम की जो कन्या थी, उसका यथा समय संवर नाम के राजा से विवाह हुआ ।। १६ ।।

संज्ञा की छाया अपने पुत्रों और कन्या के प्रति जैसा स्नेहपूर्ण व्यवहार करती थी वैसा स्नेह संज्ञा के गर्भ से उत्पन्न वैवस्वत मनु आदि के साथ नहीं करती थी ।। १७ ।।

संज्ञा को छाया के इस असदृश व्यवहार को देखकर भी वैवस्वत मनु सहन करने लगे, किन्तु यम अतिशय दुःखित होकर बहुधा विमाता से याचना करता हुआ (अर्थात् इसको सूचित करता हुआ) पितृ-पत्नी के इस व्यवहार को सहन नहीं कर सका ।। १८ ।।

पदा सन्तर्जयामास छायासञ्ज्ञां यमो मुने ! ।
ततः शशाप च यमं सञ्ज्ञा सामर्षिणी भृशम् ॥१९॥

छायोवाच—

पदा तर्जयसे यस्मात् पितृभार्यां गरीयसीम् ।
तस्मात्तवैव चरणः पतिष्यति न संशयः ॥२०।
यमस्तु तेन शापेन भृशं पीडितमानसः ।
मनुना सह धर्मात्मा सर्वं पित्रे न्यवेदयत् ॥२१।

यम उवाच—

स्नेहेन तुल्यमस्मासु माता देव ! न वर्तते ।
विसृज्य ज्यायसोऽप्यस्मान् कनीयांसौ बुभूर्षति ॥२२।
तस्यां मयोद्यतः पादो न तु देहे निपातितः ।
बाल्याद्वा यदि वा मोहात्तद्भवान् क्षन्तुमर्हति ॥२३।
शप्तोऽहं तात ! कोपेन जनन्या तनयो यतः ।
ततो नमस्ये जननीं इमां वै तपताम्वर ॥२४।

हे मुने ! यम ने क्रोध, बाल-स्वभाव और भावी प्रयोजन के कारण से छाया को फटकारा और पाद प्रदर्शन किया ॥ १९ ॥

छाया ने कहा :—

संज्ञा की छाया अतिशय क्रुद्ध होकर यम को शाप प्रदान किया कि "मैं तुम्हारी पूजनीया पिता की पत्नी और पूजनीया माता हूँ, तुमने मुझे फटकारा और प्रहार के लिए पाद उठाया है, अतः तुम्हारा पैर कट जायगा ॥ २० ॥

धर्मात्मा यम ने इस शाप से अतिशय दुःखित होकर वैवस्वत मनु के साथ जाकर पिता को सभी बातें सूचित की ॥ २१ ॥

यम ने कहा :—

हे देव ! हमलोगों के ज्येष्ठ होने पर भी माता हम लोगों के प्रति समान स्नेह भाव न रखकर हमलोगों का तिरस्कार करती हुई मेरे कनिष्ठों के प्रति अधिक स्नेह रखती है ॥ २२ ॥

इसलिए बाल स्वभाव या मोह के अधीन होकर मैंने माँ पर चरण उठाया किन्तु प्रहार नहीं किया है, आप मेरे इस अपराध को क्षमा करें ॥ २३ ॥

हे तापप्रदाताओं में श्रेष्ठ पितृदेव ! मैं पुत्र हूँ, फिर भी माँने क्रोध के कारण शाप दिया है, इसलिए वह मेरी अपनी माँ है—ऐसी बात समझ में नहीं आती है,

विगुणेष्वपि पुत्रेषु न माता विगुणा पितः ! ।
पादस्ते पततां पुत्र ! कथमेतत् प्रवक्ष्यति ॥२५॥
तव प्रसादाच्चरणो न पतेद्भगवान् यथा ।
मातृशापादयं मेऽद्य तथा चिन्तय गोपते ॥२६।

रविरुवाच—

असंशयमिदं पुत्र ! भविष्यत्यत्र कारणम् ।
येन त्वामाविशत् क्रोधो धर्मज्ञं सत्यवादिनम् ॥२७।
सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते ।
न तु मात्राभिशप्तानां क्वचिच्छापनिवर्तनम् ॥२८।
न शक्यमेतन्मिथ्या तु कर्तुं मातुर्वचस्तव ।
किञ्चित्तव विधास्यामि पुत्रस्नेहादनुग्रहम् ॥२९।
कृमयो मांसमादाय प्रयास्यन्ति महीतलम् ।
कृतं तस्या वचः सत्यं त्वञ्च त्रातो भविष्यसि ॥३०।

मार्कण्डेय उवाच—

आदित्यस्त्वब्रवीच्छायां किमर्थं तनयेषु वै ।
तुल्येष्वप्यधिकः स्नेह एकत्र क्रियते त्वया ॥३१।

क्योंकि, पुत्र के दुर्व्यवहार करने पर भी माँ अपने पुत्र के प्रति कभी भी दुर्व्यवहार नहीं करती है, अतः "पुत्र ! तुम्हारा पैर कट जायगा" यह माता कैसे कह सकती है ! अर्थात् पुत्र को माँ शाप नहीं दे सकती है, अतः हे भगवन् ! आप की प्रसन्नता से माँ के शाप से मेरा पैर अलग न हो ऐसा उपाय सोचें ॥ २४-२६ ॥

सूर्य ने कहा :—

हे पुत्र ! तुम धर्मज्ञ एवं सत्यवादी होकर भी क्रोध से आविष्ट हुए, अतः निश्चय ही कोई कारण होगा ॥ २७ ॥

अन्य सभी शापों की निवृत्ति का उपाय है, किन्तु माता के शाप को दूर करने का कोई भी उपाय नहीं है, अतः तुम्हारी माँ के वचन को अन्यथा करने में मैं समर्थ नहीं हूँ, किन्तु, पुत्र के स्नेह से तुम्हारे प्रति कुछ अनुग्रह अवश्य करूँगा ॥ २८-२९ ॥

कृमि समूह तुम्हारे पैर के मांस को लेकर पृथिवी पर जायेंगे, इससे ही तुम्हारी माँ का वचन सत्य होगा और तुम्हारी रक्षा होगी ॥ ३० ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

इसके बाद आदित्य देव ने छाया से कहा, "तुम्हारे सभी पुत्रगण तुम्हारे लिए समान स्नेह के पात्र हैं, किन्तु तुम ऐसा न कर एक के प्रति अधिक स्नेह क्यों करती

नूनं नैषां त्वं जननी सञ्ज्ञा कापि त्वमागता ।
विगुणेष्वप्यपत्येषु कथं माताशपेत्सुतम् ।।३२।

मार्कण्डेय उवाच—

सा तत्परिहरन्ती च नाचचक्षे विवस्वतः ।
स चात्मानं समाधाय मुक्तस्तत्त्वमपश्यत ।।३३।
तं शप्तुमुद्यतं दृष्ट्वा छायासञ्ज्ञा दिवस्पतिम् ।
भयेन कम्पती ब्रह्मन् ! यथावृत्तं न्यवेदयत् ।।३४।
विवस्वांस्तु ततः क्रुद्धः श्रुत्वा श्वशुरमभ्यगात् ।
स चापि तं यथान्यायमर्चयित्वा दिवाकरम् ।
निर्दग्धुकामं रोषेण सान्त्वयामास सुव्रतः ।।३५।

विश्वकर्मोवाच—

तवातितेजसा व्याप्तमिदं रूपं सुदुःसहम् ।
असहन्ती ततः सञ्ज्ञा वने चरति वै तपः ।।३६।
द्रक्ष्यते तां भवानद्य स्वां भार्यां शुभचारिणीम् ।
रूपार्थं भवतोऽरण्ये चरन्तीं सुमहत्तपः ।।३७।

हो ! अतः ऐसा प्रतीत होता है कि तुम इन लोगों की माता संज्ञा नहीं हो ।संज्ञा के रूप में और ही कोई अवस्थित है अन्यथा पुत्र का दुर्व्यवहार होने पर भी माता कभी-भी पुत्र को अभिशाप प्रदान कर सकती है ? ।। ३१-३२ ।।

संज्ञा की छाया ने आदित्य की इस चर्चा का परिहार करती हुई कुछ भी नहीं कहा, किन्तु, आदित्य ने समाधिस्थ होकर योग के द्वारा सभी सत्य घटनाओं को समझकर शाप प्रदान के लिए उद्यत हुए ।। ३३ ।।

हे ब्रह्मन् ! छाया संज्ञा ने दिनपति को शाप देने के लिए उद्यत देखकर भय से काँपती हुई सभी बातें स्पष्ट रूप में कह दी ।। ३४ ।।

विवस्वान् ने सभी बातें सुनकर क्रुद्ध होकर अपने श्वशुर के समीप गये, सुव्रत विश्वकर्मा रोषाग्नि से सभी को दग्ध करने के लिए उद्यत देखकर यथाविधि पूजा कर शान्त किया ।। ३५ ।।

विश्वकर्मा ने कहा :—

आपके अतिशय तेज से परिव्याप्त इस सुदुःसह रूप को सहन करने में असमर्थ संज्ञा वन में तपस्या कर रही है ।। ३६ ।।

शुभाचरण सम्पन्न आपके स्निग्ध स्वरूप की अभिलाषा करती हुई वन में अतिशय कठोर तपस्या में तत्पर अपनी सहधर्मिणी संज्ञा को आज आप अवलोकन करेंगे ।। ३७ ।।

स्मृतं मे ब्रह्मणो वाक्यं यदि ते देव ! रोचते ।
रूपं निवर्तयाम्यद्य तव कान्तं दिवस्पते ! ॥३८॥

मार्कण्डेय उवाच—

यतो हि भास्वतो रूपं प्रागासीत् परिमण्डलम् ।
ततस्तथेति तं प्राह त्वष्टारं भगवान् रविः ॥३९॥
विश्वकर्मा त्वनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वतः ।
भ्रमिमारोप्य तत्तेजः शातनायोपचक्रमे ॥४०॥
भ्रमताऽशेषजगतां नाभिभूतेन भास्वता ।
समुद्राद्रिवनोपेता सारुरोह मही नभः ॥४१॥
गगनञ्चाखिलं ब्रह्मन् ! सचन्द्रग्रहतारकम् ।
अधोगतं महाभाग ! बभूवाक्षिप्तमाकुलम् ॥४२॥
विक्षिप्तसलिलाः सर्वे बभूवुश्च तथार्चिषः ।
व्यभिद्यन्त महाशैलाः शीर्णसानुनिबन्धनाः ॥४३॥
ध्रुवाधाराण्यशेषाणि धिष्ण्यानि मुनिसत्तम ! ।
त्रुटद्रश्मिनिबन्धानि अधो जग्मुः सहस्रशः ॥४४॥

हे देव ! मुझे ब्रह्मा का वाक्य स्मृत हो रहा है, यदि आपको प्रिय लगे तो हे दिवस्पते ! आपके इस स्वरूप को कान्त रूप में सम्पन्न कर दूँ ॥ ३८ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा : -

भगवान् सूर्य का पूर्व में मण्डलाकार रूप था, अतः, उन्होंने विश्वकर्मा को ऐसा ही हो यह भगवान् रवि ने आज्ञा दी ॥ ३९ ॥

अनन्तर विश्वकर्मा ने आज्ञा पाकर शाकद्वीप में विवस्वान् को भ्रमियन्त्र पर आरोपणपूर्वक उनके तेज को क्षीण करने के लिए उद्यत हुए ॥ ४० ॥

सम्पूर्ण विश्व के नाभिस्वरूप भगवान् भास्वान् के भ्रमिपर आरोहण करने, भ्रमण आरम्भ करने पर सागर, पर्वत और कानन के साथ समग्र पृथिवी आकाश में उठ गई ॥ ४१ ॥

हे ब्रह्मन् ! उसके साथ ही चन्द्र ग्रह और ताराओं के साथ सम्पूर्ण गगन भी नीचे होकर हे महाभाग ! आक्षिप्त हो आकुल होने लगा ॥ ४२ ॥

सागर का जल विक्षिप्त होने लगा अर्थात् फैलने लगा, नष्ट शिखर वाले बड़े-बड़े पर्वत विदीर्ण होने लगे ॥ ४३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! ध्रुव के आधार स्थिर अखिल नक्षत्र समूह की निबन्धन रश्मियों के टूट जाने से वे सहस्रवार पाताल में जाने लगे ॥ ४४ ॥

वेगभ्रमणसञ्जातवायुक्षिप्ताः सहस्रशः ।
व्यशीर्य्यन्त महामेघा घोररावविचारिणः ॥४५॥
भास्वद् भ्रमणविभ्रान्तं भूम्याकाशरसातलम् ।
जगादाकुलमत्यर्थं तदासीन्मुनिसत्तम ! ॥४६॥
त्रैलोक्ये सकले विप्र ! भ्रमणाणे सुरर्षयः ।
देवाश्च ब्रह्मणा सार्द्धं भास्वन्तमभितुष्टुवुः ॥४७॥
आदिदेवोऽसि देवानां ज्ञातमेतत् स्वरूपतः (स्वयन्तव) ।
सर्गस्थित्यन्तकालेषु त्रिधा भेदेन तिष्ठसि ॥४८॥
स्वस्ति तेऽस्तु जगन्नाथ ! धर्मवर्षाहिमाकर ! ।
जुषस्व शान्ति लोकानां देवदेव ! दिवाकर ! ॥४९॥
इन्द्रश्चागत्य तं देवं लिख्यमानं यथाऽस्तुवत् ।
जय देव ! जगद्व्यापिन् ! जयाशेष जगत्पते ! ॥५०॥
ऋषयश्च ततः सप्त वशिष्ठात्रिपुरोगमाः ।
तुष्टुवुर्विविधैः स्तोत्रैः स्वस्तिस्वस्तीतिवादिनः ॥५१॥

भगवान् भास्कर के विशिष्ट वेग के साथ भ्रमण करने से उत्पन्न वायु से आहत चतुर्दिक् महामेघ भयङ्कर गर्जन के साथ विचरण करते हुए नष्ट होने लगे ॥ ४५ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! उस समय सूर्य के भ्रमण से विभ्रान्त स्वर्ग, मर्त्य, पाताल समग्र विश्व ही अतिशय आकुल हो गया ॥ ४६ ॥

हे विप्र ! तीनों लोकों के भ्रमण करने पर देवर्षिगण, देवगण ब्रह्मा के साथ सूर्य का अभिस्तव करने लगे ॥ ४७ ॥

देवों में तुम आदिदेव हो यह स्वरूप से ही परिज्ञात हो रहा है, सृष्टि, स्थिति और प्रलय काल के भेद से तुम तीन प्रकार से विराजमान हो ॥ ४८ ॥

हे जगत् के नाथ ! हे ग्रीष्म, वर्षा और हिम के आकर ! हे देवाधिदेव ! हे दिवाकर ! तुम्हारा कल्याण हो, लोक में वर्तमान प्राणियों को प्रसन्न होकर शान्ति प्रदान करो ॥ ४९ ॥

इन्द्र ने आकर भ्रमियन्त्र पर आरोपित सूर्य की इस प्रकार स्तुति की—हे देव ! हे जगद्व्यापिन् ! हे अशेषजगत् के पति ! तुम्हारी जय हो ॥ ५० ॥

अनन्तर वसिष्ठ, अत्रि आदि सप्तर्षियों ने स्वस्तिवाक्य का उच्चारण कर अनेक स्तोत्रों से स्तुति की ॥ ५१ ॥

वेदोक्ताभिरथाग्र्याभिर्बालखिल्यांश्च तुष्टुवुः ।
भास्वन्तं ऋग्भिराद्याभिर्लिख्यमानं मुदा युताः ॥५२॥
त्वं नाथ ! मोक्षिणां मोक्षो ध्येयस्त्वं ध्यानिनां परः ।
त्वं गतिः सर्वभूतानां कर्मकाण्डेऽपि वर्ततां (ण्डोपवर्त्तिनाम्) ॥५३॥
शं प्रजाभ्योऽस्तु देवेश ! शन्नोऽस्तु जगताम्पते ! ।
शन्नोऽस्तु द्विपदे नित्यं शन्नश्चास्तु चतुष्पदे ॥५४॥
ततो विद्याधरगणा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वे शिरोभिः प्रणता रविम् ॥५५॥
ऊचुरेवंविधा वाचो मनः श्रोत्रसुखावहाः ।
सह्यम्भवतु ते तेजो भूतानां भूतभावन ! ॥५६॥
ततो हाहाहुहुश्चैव नारदस्तुम्बुरुस्तथा ।
उपगायितुमारब्धा गान्धर्वकुशला रविम् ॥५७॥
षड्जमध्यमगान्धारग्रामत्रयविशारदाः ।
मूर्च्छनाभिश्च तालैश्च सम्प्रयोगैः सुखप्रदम् ॥५८॥
विश्वाची च घृताची च उर्वश्यथ तिलोत्तमा ।
मेनका सहजन्या च रम्भा चाप्सरसां वराः (वरा) ॥५९॥

प्रसन्न हृदय बालखिल्यगण ने गढे जा रहे सूर्य की वेदोक्त आद्य ऋक् के द्वारा इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ ५२ ॥

हे नाथ ! मुमुक्षु प्राणियों के लिए तुमही मोक्ष हो, ध्यान करने वालों के लिए तुम ही ध्येय हो, कर्मकाण्ड में प्रवृत्त सभी जीवों के लिए तुमही एकमात्र गति हो। हे देवेश ! हे जगत् के नाथ ! सभी प्रजाओं का हम लोगों का एवं दो पैर वालों तथा चार पैर वालों का नित्य मङ्गल करो ॥ ५३-५४ ॥

पुनः विद्याधर, यक्ष, राक्षस और पन्नगवर्गों ने हाथ जोड़कर रवि को प्रणाम करते हुए मन और कान को सुखकर ये वाक्य कहने लगे—हे भूतभावन ! आपकी दीप्ति प्राणियों के सहन करने योग्य हो ॥ ५६ ॥

अनन्तर षड्ज, मध्यम और ग्राम्य इन तीन ग्रामों के विशारद हा हा, हू हू, नारद, तुम्बुरु आदि सङ्गीतवेत्ताओं ने मूर्च्छना और ताल आदि के सुन्दर प्रयोग के अनुसार रविदेव के सम्मुख सुखप्रद सङ्गीत का आरम्भ किया ॥ ५७-५८ ॥

इसी प्रकार विभावसु जगदीश सूर्य देव के गढ़े जाने के समय विश्वाची, घृताची, उर्वशी, तिलोत्तमा, मेनका, सहजन्या, रम्भा आदि प्रसिद्ध अप्सराएँ हाव-भाव

ननृतुर्जगतामोशे लिख्यमाने विभावसौ ।
हावभावविलासाढ्यान् कुर्वन्तोऽभिनयान् बहून् ॥६०।
प्रावाद्यन्त ततस्तत्र वेणुवीणादिदर्दुराः ।
पणवाः पुष्कराश्चैव मृदङ्गाः पटहानकाः ॥६१।
देवदुन्दुभयः शङ्खाः शतशोऽथ सहस्रशः ।
गायद्भिश्चैव गन्धर्वैर्नृत्यद्भिश्चाप्सरोगणैः ॥६२।
तूर्य्यवादित्रघोषैश्च सर्वं कोलाहलीकृतम् ।
ततः कृताञ्जलिपुटा भक्तिनम्रात्ममूर्त्तयः ॥६३।
लिख्यमानं सहस्रांशुं प्रणेमुः सर्वदेवताः ।
ततः कोलाहले तस्मिन् सर्वदेवसमागमे ।
तेजसः शातनश्चक्रे विश्वकर्मा शनैः शनैः ॥६४।
इति हिमजलधर्मकालहेतोर्हरकमलासनविष्णुसंस्तुतस्य ।
तनुपरिलिखनं निशम्य भानोर्व्रजति दिवाकरलोकमायुषोऽन्ते ॥६५।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे भानुतनुलेखनवर्णनं नाम
षडधिकशततमोऽध्यायः ॥१०६॥

विलास आदि के साथ नृत्य करने लगी, उस समय सैकड़ों हजारों वंशी, वीणा दर्दुर, पणव, पुष्कर, मृदङ्ग, पटह, आनन, देवदुन्दुभि शङ्ख बजने लगे। उस समय गन्धर्वों के गीतों, अप्सराओं के नृत्यों और तूर्यवादियों के शब्दों से सम्पूर्ण जगत् कोलाहलमय हो गया ॥ ५९-६२॥

अनन्तर भक्ति से विनम्रमूर्ति हाथ जोड़ कर देवों ने गढ़े जाते सूर्य देव को प्रणाम किया ॥ ६३ ॥

वहाँ इस समय देवगणों के समागम से कोलाहल हो रहा था और विश्वकर्मा धीरे-धीरे सूर्य के तेज को क्षीण कर रहे थे ॥ ६४ ॥

शिशिर, वर्षा और ग्रीष्म ऋतु के मूल कारण ब्रह्मा, विष्णु और शिव के द्वारा संस्तुत दिवाकर की इस दीप्ति की क्षीणता की कथा को जो सुनेगा वह जीवन के अन्त में दिवाकर लोक को प्राप्त करेगा ॥ ६५ ॥



पर्यालोचन

प्रकाशमय सूर्यमण्डल में संयम करने पर भुवन का ज्ञान होता है। सभी लोकों का अधः स्थान अवीचि = नरक है। वहाँ से लेकर सुमेरु पृष्ठ तक 'भू' लोक है। मेरु के पृष्ठभाग अर्थात् 'भू'-लोक के ऊपर के भाग से ध्रुव पर्यन्त ग्रह, नक्षत्र और तारा के द्वारा विचित्र अन्तरिक्ष (भुवः) लोक है। इसके ऊपर पाँच प्रकार का 'स्वः' या दिव् लोक है। तृतीय महेन्द्र लोक है। चतुर्थ प्राजापत्य 'महः' लोक है। इनके ऊपर तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है—जनलोक, तपःलोक और सत्य लोक है।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
महेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा॥

अवीचि के ऊपर-ऊपर छः महानरक भूमि है, जो मेघ, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अन्धकार से प्रतिष्ठित है। इन नरकों का नाम निम्नलिखित क्रम में है :— महाकाल, अम्वरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र। इन स्थानों में अपने कर्मों से अर्जित वेदना कष्ट को दीर्घ काल तक भोग करते हैं। अनन्तर महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल ये सात पाताल हैं। सात द्वीपोंवाली यह पृथिवी अष्टम है। पर्वतराज काञ्चनमय सुमेरु इसके मध्य में है, इसके चाँदी, वैदुर्य, स्फटिक और हेममणिमय शृङ्ग हैं, इसमें वैदुर्य के प्रभाव से अनुरञ्जित होने से आकाश का दक्षिण भाग नीलकमल के पत्र के समान श्याम है। पूर्व भाग श्वेत है, पश्चिम स्वच्छ है, उत्तर भाग स्वर्ण वर्ण पुष्प विशेष के समान है। दक्षिण पार्श्व में जम्बू है, इसीलिए यह जम्बूद्वीप है। सुमेरु के चतुर्दिक् निरन्तर सूर्य भ्रमण से रात और दिन संलग्न के समान अवगत होता है। सूर्य के सम्मुख दिन और पीछे रात्रि संलग्न है। सुमेरु के उत्तर दो हजार योजन विस्तृत नील श्वेत शृङ्गवत् नामक तीन पर्वत हैं। उनके मध्य में रमणक हिरण्मय और उत्तर कुरु नामक तीन वर्ष हैं। ये नव सहस्र योजन विस्तृत हैं। दक्षिण में दो हजार योजन विस्तृत निषध, हेमकूट और हिमशैल हैं। उनके मध्य में नौ-नौ हजार योजन विस्तृत हरिवर्ष और भारतवर्ष नामक तीन वर्ष हैं। सुमेरु से पूर्व माल्यवान् पर्यन्त भद्राश्व एवं पश्चिम में गन्धमादन पर्यन्त केतुमाल है, मध्य में इलावृत वर्ष है जो छत्र के आकार में चारो ओर एक लक्ष योजन विस्तृत सुमेरु के पार्श्व में स्थित है। यह जम्बूद्वीप एक लक्ष योजन विस्तृत है एवं यह इससे द्विगुण कङ्कण की आकृति वाले लवण सागर से व्याप्त है। उससे द्विगुण शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाल्मलद्वीप, मगधद्वीप, पुष्करद्वीप ये सात द्वीप हैं, सात समुद्र द्वीप को वेष्टित किये हुये सरसों की ढेर के सदृश विचित्र पर्वतों से मण्डित है। प्रथम लवण समुद्र से अतिरिक्त यथाक्रम में इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, मण्ड और दूध के समान स्वादु जल से युक्त है, पचास कोटि योजन विस्तृत वलयाकृति सात द्वीप, लोकालोक पर्वत से परिवृत सात समुद्र से वेष्टित है। ये सभी सुप्रतिष्ठित रूप में व्यूढ हैं और यह अण्ड प्रधान के अणु अवयव हैं, जैसे आकाश में खद्योत, पाताल में जलधि। इन पर्वतों पर असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत,

प्रेत, पिशाच, अप्सरा, ब्रह्म राक्षस, कुष्माण्ड, विनायक रूप देवयोनि-शरीर निवास करते हैं। द्वीपों में पुण्यात्मा देव, मनुष्य निवास करते हैं। सुमेरु देवताओं की उद्यान भूमि है। वहाँ मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ, सुमानस ये चार उद्यान हैं। सुधर्मा, देवसभा, सुदर्शनपुर, वैजयन्तप्रासाद ग्रहनक्षत्रतारक सभी ध्रुव में निबद्ध हो वायु के विक्षेप से संयत हो भ्रमण करते हैं अर्थात् सुमेरु के ऊपर सन्निविष्ट हो घूमते हैं। छः देवशरीर माहेन्द्र के निवासी हैं—त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषि, अपरिनिर्मितवशवर्ती और परिनिर्मितवशवर्ती। सभी संकल्प-सिद्धि-सम्पन्न अणिमा आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न कल्पपर्यंन्त आयुवाले हैं, देवगण इच्छानुसार, भोग करनेवाले, माता-पिता के संयोग के विना लक्षण मात्र उत्पद्यमान शरीर वाले, उत्तम अनुकूल अप्सराओं के द्वारा परिवार सम्पन्न हैं।

इस लोक में पाँच प्रकार के देव शरीर हैं—कुमुद, ऋभव, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, और प्रचिताभ—ये महाभूत के परिणमन में स्वतन्त्र, ध्यान मात्र से तृप्तिसम्पन्न होने वाले कल्प सहस्र आयु वाले प्रथम जनलोक में चार प्रकार के देवगण हैं—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर ये भूत और इन्द्रिय के परिणमन में समर्थ अर्थात् जिस रूप में चाहें भूतों का और इन्द्रियों का नियोजन कर सकते हैं। द्वितीय तपःलोक में तीन प्रकार के देवगण हैं—आभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर ये भूत इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्राओं का यथेच्छ नियोजन कर सकते हैं। आभास्वर से द्विगुण आयु वाले महाभास्वर हैं, सभी ध्यान मात्र से तृप्त होते हैं, अप्रतिहत ज्ञान सम्पन्न अप्रतिहत तेजः सम्पन्न, अवीचि से तपोलोक तक के सभी सूक्ष्म और व्यवहित ज्ञान से सम्पन्न हैं। तृतीय ब्राह्मण के सत्य लोक में चार प्रकार के देवगण हैं—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभा और संज्ञा संज्ञी, ये गृह निर्माण के विना अपनी आत्मा में ही प्रतिष्ठित रहते हैं ऊपर-ऊपर रहने वाली अर्थात् अच्युत से शुद्ध निवास इत्यादि प्रधान का यथेच्छ नियोजन करने में समर्थ अर्थात् इनकी सत्त्व, रजः, तमः में प्रवृत्ति होती है, सर्ग पर्यन्त आयु वाली इनमें अच्युत सवितर्क योग से ही सुखी है अर्थात् सूक्ष्म विषय ध्यान से तृप्त, शुद्ध निवास सविचारयोग ध्यान से सुखी और सत्याभ, आनन्दयोग ध्यान से सुखी और संज्ञा संज्ञी अस्मिता ध्यान से सखी, ये सब चतुर्दश भुवन में विराजमान हैं। इस प्रकार ये सातो लोक सभी ब्रह्म लोक हैं; विदेह प्रकृतिलय सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष पद में रहते हैं, ये मुक्त-प्राय होने से, ईश्वर कोटि में होने से ब्रह्माण्ड के अन्दर बाहर स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापारशील लोक के मध्य में उनकी गणना नहीं है। सूर्य द्वारा अर्थात् सुषुम्णा नाड़ी में संयम कर इनका साक्षात्कार कर सकता है।

अर्थात् सुषुम्णा आदि सहस्र किरण मालाओं से देदीप्यमान मार्तण्ड मण्डल में संयम करने से दृश्य जगत् से अभिन्न चित्त सम्पूर्ण भुवन का साक्षात्कार कराता है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का एक सौ छठवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

लिख्यमाने ततो भानौ विश्वकर्मा प्रजापतिः ।
उद्भूतपुलकस्तोत्रमिदञ्चक्रे विवस्वतः ॥१।

विवश्वते प्रणतहितानुकम्पिने
महात्मने समजवसप्तसप्तये ।
सुतेजसे कमलकुलावबोधिने
नमस्तमः पटलपटावपाटिने ॥२।

पावनातिशयपुण्यकर्मणे
नैककामविषयप्रदायिने ।
भास्वरानलमयूखशायिने
सर्वलोकहितकारिणे नमः ॥३।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इसके बाद प्रजापति विश्वकर्मा सूर्य देव के तेज को क्षीण करते हुए रोमाञ्चित शरीर होकर विवस्वान् की इस स्तुति को करने लगे ॥ १ ॥

प्रणतों के हितसाधक और उन पर कृपा करने वाले, समान वेग वाले, सात अश्वों वाले, कमल कुल के विकासक, अन्धकार समूह के विनाशक शोभन दीप्ति सम्पन्न महात्मा विवस्वान् को नमस्कार है ॥ २ ॥

अतिशय पवित्र पुण्य कर्मों के सम्पादक, अनेक अभिलषित विषय के प्रदायक, देदीप्यमान ताप एवं किरण समूहों के आधार, सभी प्राणियों के हितकारक तुमको नमस्कार है ॥ ३ ॥

अजाय लोकत्रयकारणाय
भूतात्मने गोपतये वृषाय।
नमो महाकारुणिकोत्तमाय
सूर्याय चक्षुःप्रभवालयाय ॥४।

विवस्वते ज्ञानभूतान्तरात्मने
जगत्प्रतिष्ठाय जगद्धितैषिणे।
स्वयम्भुवे लोकसमस्तचक्षुषे
सुरोत्तमायामिततेजसे नमः ॥५।

क्षणमुदयाचलमौलिमणिः
सुरगणमहितहितो जगतः (गीतगरिष्ठगुणः)।
त्वमुरुमयूखसहस्रवपु-
र्जगति विभासि तमांसि नुदन् ॥६।

भव तिमिरासवपानमदात्
भवति विलोहितविग्रहात्।

अजन्मा तथा तीनों लोकों के उद्भवकारण, प्राणियों के आत्मस्वरूप, रश्मिपति, साक्षात् धर्मस्वरूप, महाकारुणिकों में श्रेष्ठ, चाक्षुष विषय के आलयस्वरूप सूर्य देव को नमस्कार है ॥ ४ ॥

ज्ञानियों के अन्तरात्मस्वरूप, जगत् के आधार, जगत् के हिताभिलाषी स्वयम्भुः स्वयं समुद्भूत किसी की अपेक्षा के विना ही उत्पन्न सभी प्राणियों के चक्षुःस्वरूप, देव श्रेष्ठ, अपरिमित दीप्तिमान् विवस्वान् को नमस्कार है ॥ ५ ॥

विश्व के प्राणियों की हितकामना से देवताओं के साथ क्षणमात्र के लिए उदयाचल के मस्तक माला के स्वरूप होकर प्रथम किरण से सहस्र शरीर धारण कर अन्धकार समूह का विध्वंस कर जगत् में देदीप्यमान होते हो ॥ ६ ॥

हे मिहिर ! भव के अन्धकार स्वरूप मद्य का पान-जन्य मत्तता से लोहित मूर्ति

मिहिर विभासि यतः सुतरां
त्रिभुवनभावनभानिकरैः ॥७॥

रथमधिरुह्य समावयवं
चारु विकम्पितमुरुरुचिरम्।
सततमखिलहयैर्भगवन्!
चरसि जगद्धिताय विततम् ॥८॥

अमृतसुधांशुरसेन समं
विबुध! पितृनपि तर्पयसे।
अरिगणसूदन! तेन तव
प्रणिपत्य लिखामि जगद्धिताय ॥९॥

शुकसमवर्णहयप्रथितं
तव पदपांशुपवित्रतलम्।
नतजनवत्सल! मां प्रणतं
त्रिभुवनपावन! पाहि रवे! ॥१०॥

धारण कर, उस मूर्ति के द्वारा जगत् को प्रकाश प्रदान करने वाली समूहों से तुम अतिशय दीप्ति सम्पन्न हो ॥ ७ ॥

हे भगवन्! तुम विश्व के कल्याण के लिए निरन्तर समान अवयवों वाले अतिशय मनोरम, विकम्पित रथ पर आरूढ़ होकर अश्वों के द्वारा भ्रमण करते हो ॥ ८ ॥

हे शत्रुविध्वंसकारिन्! तुम सञ्जीवनी अमृत किरणों से एक साथ देवगण एवं पितरों को तृप्ति प्रदान करते हो, अतः जगत् के मङ्गल की कामना से प्रणामपूर्वक तुम्हारे तेज को क्षीण कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

हे प्रणत जनवत्सल! हे त्रिभुवन पावन भास्कर! मैं तुम्हारे लिए हरिद्वर्ण के अश्व की सृष्टि करने के कारण ही विख्यात हूँ, हे रवे! तुम्हारे चरण-धूली अर्थात् किरणों के द्वारा पवित्र भवन वाला हूँ, इस प्रणत व्यक्ति पर कृपा करें ॥ १० ॥

इति सकलजगत्प्रसूतिभूतं
त्रिभुवनभावनधाम हेतुमेकम् ।
रविमखिलजगत्प्रदीपभूतं
देवं प्रणतोऽस्मि विश्वकर्माणम् ।।११।
(त्रिदशवर प्रणतोऽस्मि सर्वदात्वाम्)

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सूर्यस्तवनं नाम सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ।।१०७।।

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व के कारण स्वरूप, तीनों भुवनों को पवित्र करने वाले, तेजःस्वरूप, निखिल ब्रह्माण्ड प्रदीप सदृश रवि देव को प्रमाण करता हूँ ।। ११ ।।

इस प्रकार श्री मार्कण्डेयपुराण का सूर्यस्तुति नामक एक सौ सातवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।।

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

एवं सूर्यस्तवं कुर्वन् विश्वकर्मा दिवस्पतेः ।
तेजसः षोडशं भागं मण्डलस्थमधारयत् ॥१॥
शातितैस्तेजसो भागैर्दशभिः पञ्चभिस्तथा ।
अतीव कान्तिमच्चारु भानोरासीत्तदा वपुः ॥२॥
शातितश्चास्य यत्तेजस्तेन चक्रं विनिर्मितम् ।
विष्णोः शूलञ्च शर्वस्य शिविका धनदस्य च ॥३॥
दण्डः प्रेतपतेः शक्तिर्देवसेनापतेस्तथा ।
अन्येषाञ्चैव देवानामायुधानि स विश्वकृत् ॥४॥
चकार तेजसा भानोर्भासुराण्यरिशान्तये ।
इति शातिततेजाः स शुशुभे नातितेजसा ॥५॥
वपुर्दधार मार्त्तण्डः सर्वावयवशोभनम् ।
स ददर्श समाधिस्थः स्वां भार्यां वडवाकृतिम् ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इस प्रकार दिवस्पति की स्तुति करते हुए विश्वकर्मा ने उनके तेज का सोलहवाँ अंश मण्डल के मध्य में रहने दिया ॥ १ ॥

तेज का पन्द्रह भाग निकाल देने पर सूर्य का शरीर अतिशय कान्तिमान् हो गया ॥ २ ॥

सूर्य के उन निकाले गये तेजोभाग से शत्रुओं के विनाश के लिए विष्णु का चक्र, शिव का शूल, कुबेर की पालकी, यम का दण्ड, कार्तिकेय की शक्ति एवं अन्य देवों के देदीप्यमान अस्त्रों का विश्वकर्मा ने निर्माण किया ॥ ३-४ ॥

इस प्रकार क्षीणतेज होकर मार्तण्ड सभी अवयवों से शोभायमान हुए और सुन्दर शरीर को धारण किया ॥ ५ ॥

अनन्तर समाधिस्थ होकर देखा कि उनकी पत्नी संज्ञा तप और नियम से सभी प्राणियों के द्वारा देखने में असमर्थ दीप्ति से युक्त हो घोड़ी की आकृति में तपस्या कर रही है ॥ ६ ॥

अधृष्यां सर्वभूतानां तपसा नियमेन च ।
उत्तरांश्च कुरून् गत्वा भूत्वाऽश्वो भानुरागमत् ॥७॥
सा च दृष्ट्वा तमायान्तं परपुंसो विशङ्कया ।
जगाम सम्मुखे तस्य पृष्ठरक्षणतत्परा ॥८॥
ततश्च नासिकायोगं तयोस्तत्र समेतयोः ।
वडवायाश्च तत्तेजो नासिकाभ्यां विवस्वतः ॥९॥
देवौ तत्र समुत्पन्नावश्विनौ भिषजां वरौ ।
नासत्यदस्रौ तनयावश्ववक्त्राद्विनिर्गतौ ॥१०॥
मार्त्तण्डस्य सुतावेतावश्वरूपधरस्य हि ।
रेतसोऽन्ते च रेवन्तः खड्गी धन्वी तनुत्रधृक् ॥११॥
अश्वारूढः समुद्भूतो वाणतूणसमन्वितः ।
ततः स्वरूपममलं दर्शयामास भानुमान् ॥१२॥
तस्य शान्तं समालोक्य सा रूपं मुदमाददे ।
स्वरूपधारिणीश्चेमां स निनाय निजालयम् ॥१३॥
सञ्ज्ञां भार्यां प्रीतिमतीं भास्करो वारितस्करः ।
ततः पूर्वसुतो योऽस्याः सोऽभूद्वैवस्वतो मनुः ॥१४॥
द्वितीयश्च यमः शापात् धर्मदृष्टिरनुग्रहात् ।

इसके बाद भानुदेव घोड़े का स्वरूप धारण कर उत्तर कुरुदेश की ओर गमन किया, संज्ञा ने सूर्यदेव को समीप से आता हुआ देखकर परपुरुष को आशंका से पृष्ठ भाग की रक्षा के लिए सावधान होकर उनके सामने आ गई। दोनों का मुख सामने होने से नासिका के संयोग के कारण विवस्वान् का तेज दोनों नासिकाओं के द्वारा बडवा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ, उस तेज से वैद्यों में श्रेष्ठ देव अश्विनीकुमार-युगल उत्पन्न हुए ॥ ७-९ ॥

अश्व के मुख से निकले हुए 'नासत्य' और दस्र ये दोनों भी अश्वरूपधारी मार्तण्ड के ही पुत्र हैं ॥ १० ॥

तेज अर्थात् वीर्य के अवशिष्ट अंश से कवचधारी वाणों और तरकशों से समन्वित धनुषको धारण किये हुए अश्वारूढ़ रेवन्त उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

अनन्तर भानुमान् ने अपने सुनिर्मल स्वरूप प्रदर्शित किया, उनके उस शान्त रूप के दर्शन से सन्तुष्ट संज्ञा ने भी अपने स्वरूप को धारण किया ॥ १२ ॥

इसके बाद जलहरण कर्ता भास्कर ने अपने पूर्व स्वरूप को धारण किये हुए प्रेममयी भार्या संज्ञा को अपने घर ले आए ॥ १३ ॥

संज्ञा का ज्येष्ठ अर्थात् प्रथम पुत्र वैवस्वत मनु हुआ और द्वितीय पुत्र यम शाप और अनुग्रह के कारण धर्मदृष्टि हुए उस शाप से अतिशय व्यथित चित्त यम

यमस्तु तेन शापेन भृशं पीडितमानसः ॥१५॥
धर्मोऽभिरोचते यस्मात् धर्मराजस्ततः स्मृतः ।
कृमयो मांसमादाय पादतस्ते महीतलम् ॥१६॥
पतिष्यन्तीति शापान्तं तस्य चक्रे पिता स्वयम् ।
धर्मदृष्टिर्यतश्चासौ समो मित्रे तथाऽहिते ॥१७॥
ततो नियोगे त याम्ये चकार तिमिरापहः ।
तस्मै ददौ पिता विप्र ! भगवान् लोकपालताम् ॥१८॥
पितृणामाधिपत्यञ्च परितुष्टो दिवाकरः ।
यमुनाञ्च नदीञ्चक्रे कलिन्दान्तरवाहिनीम् ॥१९॥
अश्विनौ देवभिषजौ कृतौ पित्रा महात्मना ।
गुह्यकाधिपतित्वे च रेवन्तो विनियोजितः ॥२०॥
एवमप्याह च ततो भगवाल्लोकभावितः ।
त्वमप्यशेष लोकस्य पूज्योवत् स भविष्यसि ॥२१॥
अरण्यादिमहादाववैरिदस्युभयेषु च ।
त्वां स्मरिष्यन्ति ये मर्त्या मोक्ष्यन्ते ते महापदः ॥२२॥
क्षेमम्बुद्धि सुखं राज्यमारोग्यं कीर्त्तिमुन्नतिम् ।
नराणां परितुष्टस्त्वं पूजितः सम्प्रदास्यसि ॥२३॥

धर्माचरण में अभिनिवेशपूर्वक प्रविष्ट हुए, अतः धर्मराज नाम से विख्यात हुए। कृमिवर्ग तुम्हारे पैर से मांस लेकर पृथिवी पर गिरेंगे पिता ने स्वयम् इस रूप में शापान्त का विधान किया था। धर्मदृष्टि होने से यम शत्रु और मित्र के समान व्यवहार करते थे, अतः अन्धकार को दूर करनेवाले सूर्य ने उनको याम्य के अधिकार पर नियुक्त किया। हे विप्र ! भगवान् दिवाकर ने सन्तुष्ट होकर यम को लोक-पालत्व एवं पितरों का आधिपत्य प्रदान किया। महात्मा पितृदेव सूर्य ने यमुना को कलिन्द देश में बहनेवाली नदी और अश्विनीकुमारयुगल को देवों का वैद्य बनाया। रेवन्त को गुह्यकों के आधिपत्य में नियुक्त किया, अर्थात् रेवन्त गुह्यकों का स्वामी हुआ, अनन्तर भूतभावन भगवान् ने उसको यह भी कहा कि हे वत्स ! तुम सभी प्राणियों के पूज्य होगे जो मनुष्य जङ्गल दावाग्नि शत्रु और चोरों के भय के समय तुम्हारा स्मरण करेंगे, उनको उस भयङ्कर विपत्ति से मुक्त करोगे एवं जो मनुष्यगण तुम्हारी पूजा करेंगे उन पर प्रसन्न होकर उनका कल्याण, सुबुद्धि, सुख, राज्य, आरोग्य, कीर्ति और उन्नति प्रदान करोगे ॥ १४-२३ ॥

छायासञ्ज्ञासुतश्चापि सावर्णः सुमहायशाः ।
भाव्यः सोऽनागते काले मनुः सावर्णकोऽष्टमः ॥२४॥
मेरुपृष्ठे तपो घोरमद्यापि चरते प्रभुः ।
भ्राताशनैश्चरस्तस्य ग्रहोऽभूच्छासनाद्रवेः ॥२५॥
यवीयसो तु या कन्याऽऽदित्यस्याभूद् द्विजोत्तम ! ।
अभवत् सा सरिच्छ्रेष्ठा यमुना लोकपावनी ॥२६॥
यस्तु ज्येष्ठो महाभागः सर्गो यस्येह साम्प्रतम् ।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि मनोर्वैवस्वतस्य ह ॥२७॥
इदं यो जन्म देवानां शृणुयाद्वा पठेत वा ।
विवस्वतस्तनूजानां रवेर्माहात्म्यमेव च ॥२८॥
आपदं प्राप्य मुच्येत प्राप्नुयाच्च महायशः ।
अहोरात्रकृतं पापमेतच्छमयते श्रुतम् ॥
माहात्म्यमादिदेवस्य मार्तण्डस्य महात्मनः ॥२९॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे रवेर्माहात्म्यवर्णनं नामाऽष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

संज्ञा-छाया से सार्वाण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है, वह भविष्य में महान् यशस्वी सावर्ण नाम का आठवाँ मनु होगा ॥ २४ ॥

आज भी मेरु पर्वत पर वह घोर तपस्या में रत है, उसका भाई शनैश्चर आदित्य की आज्ञा के अनुसार ग्रह हो गया है ॥ २५ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! आदित्य की युवती कन्या लोक को पवित्र करने वाली यमुना नदियों में श्रेष्ठ है ॥ २६ ॥

ज्येष्ठ पुत्र वैवस्वत मनु जिसकी इस समय सृष्टि चल रही है, उसके वंश का विस्तार पीछे कहूँगा ॥ २७ ॥

इन सूर्यपुत्र देवों की जन्मकथा और रविदेव के माहात्म्य को जो सुनेगा या पाठ करेंगे, वेद समागत विपत्तियों से मुक्त होकर महान् यशस्वी होंगे तथा आदिदेव महात्मा मार्तण्ड का माहात्म्य सुनने पर दिन और रात में किये गये सभी पाप विनष्ट हो जायेंगे ॥ २८-२९ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का सूर्यस्तव नामक एक सौ आठवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥



नवाधिकशततमोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

भगवन् ! कथितः सम्यक् भानोः सन्ततिसंभवः ।
माहात्म्यमादिदेवस्य स्वरूपञ्चातिविस्तरात् ॥१॥
भूयोऽपि भास्वतः सम्यङ्माहात्म्यं मुनिसत्तम ! ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं तन्मे प्रसन्नो वक्तुमर्हसि ॥२॥

मार्कण्डेय उवाच—

श्रूयतामादिदेवस्य माहात्म्यं कथयामि ते ।
विवस्वतो यच्चकार पूर्वमाराधितो जनैः ॥३॥
दमस्य पुत्रो विख्यातो राजाऽभूद्राज्यवर्द्धनः ।
स सम्यक् पालनञ्चक्रे पृथिव्याः पृथिवीपतिः ॥४॥
धर्मतः पाल्यमानन्तु तेन राष्ट्रं महात्मना ।
ववृधेऽनुदिनं विप्र जनेन च धनेन च ॥५॥
हृष्टपुष्टमतीवासोत्तस्मिन् राजन्यशेषतः ।
राजकं सकलञ्चोर्व्यां पौरजानपदो जनः ॥६॥

क्रौष्टुकि ने कहा :—

हे भगवन् ! भानुदेव की सन्तति का उद्भव एवं आदिदेव का माहा-माहात्म्य और स्वरूप का विस्तारपूर्वक सम्यक् वर्णन आपने किया ॥ १ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! भास्करदेव का माहात्म्य भलीभाँति पुनः सुनना चाहता हूँ, प्रसन्न होकर उसको प्रकट करें ॥ २ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

आदि देव विवस्वान् की पूर्व में प्राणियों के द्वारा आराधना करने पर उन्होंने जो किया, उन माहात्मा के विषय में आपको कह रहा हूँ ॥ ३ ॥

किसी समय दम का पुत्र राज्यवर्द्धन प्रसिद्ध राजा था, वह भूपति होकर भली-भाँति पृथिवी का पालना करता था ॥ ४ ॥

हे विप्र ! उसके द्वारा धर्मपूर्वक राज्य का पालन रक्षण करने के समय राष्ट्र में धन-जन प्रति दिन बढ़ रहा था एवं उसके राजा होने पर अन्य राजा, सम्पूर्ण राष्ट्र और पुरवासिगण अतिशय प्रसन्न और सन्तुष्ट थे ॥ ५-६ ॥

नोपसर्गो न च व्याधिर्न च व्यालोद्भवं भयम् ।
न चावृष्टिभयं तत्र दमपुत्रे महीपतौ ॥७॥

स इयाज महायज्ञैर्ददौ दानानि चार्थिनाम् ।
सुधर्मस्याविरोधेन बुभुजे विषयानपि ॥८॥

तस्यैवं कुर्वतो राज्यं सम्यक् पालयतः प्रजाः ।
सप्तवर्षसहस्राणि जग्मुरेकमहो यथा ॥९॥

विदूरथस्य तनया दाक्षिणात्यस्य भूभृतः ।
तस्य पत्नी बभूवाथ मानिनी नाम मानिनी ॥१०॥

कदाचित्तस्य सा सुभ्रूः शिरसोऽभ्यञ्जनादृते ।
पश्यतो राजलोकस्य मुमोचाऽश्रूणि मानिनी ॥११॥

तदश्रुबिन्दवो गात्रे यदा तस्य महीपतेः ।
तदा वीक्ष्याश्रुवदनां तामपृच्छत मानिनीम् ॥१२॥

निःशब्दमश्रुमोक्षेण रुदन्तीं तां विलोक्य वै ।
किमेतदिति पप्रच्छ मानिनीं राज्यवर्धनः ॥१३॥

महीपति दम पुत्र के राज्य काल में किसी प्रकार की बाधा, व्याधि, हिंसक प्राणियों का भय और न वर्षा न होने का ही भय था ॥ ७ ॥

उसने बड़े-बड़े यज्ञों का सम्पादन किया, याचकों को धन दिया तथा अपने धर्म के अनुसार ही विषयों का उपभोग किया ॥ ८ ॥

इस प्रकार राज्य और अच्छी तरह प्रजाओं का पालन करते हुए सात हजार वर्ष को एक दिन के समान व्यतीत किया ॥ ९ ॥

उसका विवाह विदूरथ नाम के दाक्षिणात्य राजा की मानिनी नाम की वस्तुतः मानिनी कन्या के साथ हुआ था ॥ १० ॥

किसी समय राजसेवकों के समक्ष वह सुन्दर भौहोवाली मानिनी राजा के शिर पर तेल लगा रही थी, उन लोगों के सम्मुख ही उसकी आँख से आँसू निकलकर गिर पड़ा ॥ ११ ॥

वे अश्रुकण जब राजा के शरीर पर गिरे, तब राजा ने अश्रुमुखी मानिनी की ओर देखा और पूछा ॥ १२ ॥

बिना कुछ कहे अश्रु-प्रवाह कर रोती हुई उस मानिनी को देखकर राज्यवर्द्धन ने पुनः पूछा कि मानिनि ! क्यों रो रही हो ? अपने पति राज्यवर्द्धन के पूछने पर उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब महीपति राज्यवर्द्धन ने पुनः मानिनि से जिज्ञासा की—हे मानिनि ! तुम क्यों रो रही हो ? ॥ १३ ॥

पृष्टा सा तु ततस्तेन भर्त्रा प्राह मनस्विनी।
न किञ्चिदिति तां भूपः पप्रच्छ स महीपतिः ॥१४।

बहुशः पृच्छतस्तस्य भूभृतः सा सुमध्यमा।
दर्शयामास पलितं केशभारान्तरोद्भवम् ॥१५।

एतत्पश्येति भूपाल ! किमिदं मन्युकारणम्।
ममातिमन्दभाग्याया जहासाऽथ नृपस्ततः ॥१६।

स विहस्याह तां पत्नीं शृण्वतां सर्वभूभृताम्।
पौराणाञ्च महीपाला ये तत्रासन् समागताः ॥१७।

शोकेनालं विशालाक्षि रोदितव्यं न ते शुभे !।
जन्मर्द्धिपरिणामाद्या विकाराः सर्वजन्तुषु ॥१८।

अधीताः सकला वेदा इष्टा यज्ञाः सहस्रशः।
दत्तं द्विजानां पुत्राश्च समुत्पन्ना वरानने ॥१९।

भुक्ता भोगास्त्वया सार्द्धं ये मर्त्यैरतिदुर्लभाः।
सम्यक् च पालिता पृथ्वी साधु युद्धेष्वनुष्ठितम् ॥२०।

मित्रैः सहेष्टैर्हसितं विहृतं च वनान्तरे।
किमन्यन्न कृतं भद्रे ! पलितेभ्यो बिभेषि यत् ॥२१।

पुनः अपने पति के द्वारा जिज्ञासा करने पर उस मनस्विनी ने 'कुछ नहीं' यह उत्तर दिया ॥ १४ ॥

भूपति के द्वारा पुनः रोने के कारण की जिज्ञासा करने पर उस सुमध्यमा ने कहा—हे राजन् ! मुझ मन्दभागिनी के शोक का कारण अवगत करें यह कह कर उनके केशों के मध्य से एक श्वेत केश का प्रदर्शन किया ॥ १५-१६ ॥

सभी उपस्थित राजगण और पौरजनों के सम्मुख हँसते-हँसते पत्नी से कहने लगे कि हे विशाल नेत्रे ! हे कल्याणि ! मत रोओ सभी प्राणियों में जन्म, वृद्धि और परिणाम आदि विकार लक्षित होते हैं। हे शुभे ! इसके लिए रोना व्यर्थ है ॥ १७-१८ ॥

हे वरानने ! मैंने सभी वेदों का अध्ययन, हजारों यज्ञों का अनुष्ठान, द्विजगणों को अर्थादि का दान, पुत्र का उत्पादन, मर्त्यगणों के लिए अतिशय दुर्लभ भोग के योग्य विषयों का तुम्हारे साथ रहकर उपभोग, भलीभाँति पृथिवी का पालन, न्यायप्राप्त युद्ध का अनुष्ठान, प्रियमित्रों के साथ हास-परिहास, वनविहार आदि अनेक कार्यों का सम्पादन किया है। हे कल्याण ! ऐसा कौन सा कार्य नहीं किया है कि मेरे केश के पकने के कारण तुम डर रही हो ? ॥ १९-२१ ॥

भवन्तु केशाः पलिता वलयः सन्तु मे शुभे ! ।
शैथिल्यमेतु मे कायः कृतकृत्योऽस्मि मानिनि ! ।।२२।
मूर्ध्नि यद्दृशितं भद्रे भवत्या पलितं मम ।
चिकित्सामेष तस्याहं करोमि वनसंश्रयात् ।।२३।
बाल्ये बालक्रिया पूर्वं तद्वत् कौमारके च या ।
यौवने चापि या योग्या वार्द्धके वनसंश्रया ।।२४।
एवं मत् पूर्वकैर्भद्रे कृतन्तत्पूर्वकैश्च यत् ।
अतो न तेऽश्रुपातस्य किञ्चित् पश्यामि कारणम् ।।२५।
अलन्ते मन्युना भद्रे नन्वभ्युदयकारि मे ।
दर्शनं पलितस्यास्य मारोदीर्निष्प्रयोजनम् ।।२६।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः प्रणम्य तं भूपाः पौराश्चैव समीपगाः ।
साम्ना प्रोचुर्महीपालाः महर्षे राज्यवर्द्धनम् ।।२७।
न रोदितव्यमनया तव पत्न्या नराधिप ! ।
रोदितव्यमिहास्माभिरथवा सर्वजन्तुभिः ।।२८।

हे शुभे ! मेरा केश पक जाय, देह में झुर्रियाँ पड़ जाय, शरीर में शिथिलता आ जाय, (कोई भी हानि नहीं है) क्योंकि, हे मानिनि ! मैं सम्पादित कृत्य हो गया हूँ ॥ २२ ॥

हे भद्रे ! मेरे शिर पर पके हुए केश का तुमने अवलोकन किया है, वनवासी होकर मैं इसकी चिकित्सा करूँगा ॥ २३ ॥

बाल्य अवस्था में बाल क्रिया, कौमार और यौवन की अवस्था में उन अवस्थाओं के योग्य कार्यों का सम्पादन कर वृद्धावस्था में वन में निवास करना ही कर्तव्य है ॥ २४ ॥

हे कल्याणि ! मेरे पूर्वपुरुष एवं उनके भी पूर्वपुरुषों ने भी ऐसा ही करते आये हैं अतः तुम्हारे इस अश्रुपात का मैं कोई कारण नहीं देख रहा हूँ ॥ २५ ॥

हे भद्रे ! शोक का परित्याग करो मेरे इस पके हुए केश का दर्शन कल्याणकारी है, अतः, व्यर्थ मत रोओ । अर्थात् तुम्हारा यह रोना निष्प्रयोजन है ॥ २६ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे महर्षे ! इसके बाद समीपस्थ राजा और पुरवासियों ने राजा राज्यवर्द्धन को प्रणाम कर विनयपूर्वक कहने लगे ॥ २७ ॥

हे नराधिप ! आपकी पत्नी का रोना तो निरर्थक है, किन्तु, हम लोगों अथवा सभी प्राणियों के लिए यह रोने का समय उपस्थित हो गया ॥ २८ ॥

त्वं ब्रवीषि यथा नाथ ! वनवासाश्रितं वचः ।
पतन्ति तेन नः प्राणा लालितानां त्वया नृप ॥२९॥
सर्वे यास्यामहे भूप ! यदि याति भवान् वनम् ।
ततोऽशेषक्रियाहानिः सर्वपृथ्वीनिवासिनाम् ॥३०॥
भविष्यति न सन्देहस्त्वयि नाथ वनाश्रये ।
सा च धर्मोपघाताय यदि तत् प्रविमुच्यताम् ॥३१॥
सप्तवर्षसहस्राणि त्वयेयं पालिता मही ।
तत्समुत्थं महापुण्यमालोकय नराधिप ॥३२॥
वने वसन्महाराज ! तां करिष्यसि यत्तपः ।
तन्महीपालनस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥३३॥

राजोवाच—

सप्तवर्षसहस्राणि मयेयं पालिता मही ।
इदानीं वनवासस्य मम कालोऽयमागतः ॥३४॥
ममापत्यानि जातानि दृष्ट्वा मेऽपत्यसन्ततीः ।
स्वल्पैरेव महाहोभिरन्तको न सहिष्यति ॥३५॥

हे नाथ ! आप हमलोगों के प्रतिपालक हैं, हे नृप ! आपने जो वनवास की चर्चा की है, इससे हमलोगों का प्राण निकल रहा है ॥ २९ ॥

यदि आप वन जायेंगे तो हमलोग भी साथ में ही प्रस्थान करेंगे। इसके फलस्वरूप पृथिवी पर रहने वालों की निश्चय ही श्रौत-स्मार्त सभी क्रियायें समाप्त हो जायेंगी। अतः, हे नाथ ! आपके वनवासी होने पर ऐसा ही होगा—इसमें सन्देह नहीं है, अतः, यदि ऐसा करने से धर्म की हानि होगी—यह समझ कर इस विचार को छोड़ दें ॥ ३०-३१ ॥

हे नराधिप ! आपने सात हजार वर्ष तक इस पृथिवी का पालन किया है, उससे कितना महापुण्य उत्पन्न हुआ है, उसको देखें ॥ ३२ ॥

हे महाराज ! वन में रह कर जो आप तपस्या करेंगे, वह इस पृथिवी पालन के सोलहवें भाग के भी समान नहीं है ॥ ३३ ॥

राजा ने कहा :—

मैंने सात हजार वर्षों तक पृथिवी का पालन किया है, इस समय मेरे लिए वन में निवास का ही यह समय आ गया है ॥ ३४ ॥

मुझे सन्ततियाँ हो चुकी हैं, इन वंश-परम्परा को देखकर यमराज थोड़े दिनों के लिए सहन नहीं करेगा, (शीघ्र ही अपनी पुरी में ले जायगा) ॥ ३५ ॥

यदेतत्पलितं मूर्ध्नि तद्विजानीत नागराः ।
दूतभूतमनार्यस्य मृत्योरत्युग्रकर्मणः ॥३६।
सोऽहं राज्ये सुतं कृत्वा भोगांस्त्यक्त्वा वनाश्रयः ।
तपस्तप्स्ये समायान्ति न यावद्यमसैनिकाः ॥३७।

मार्कण्डेय उवाच—

ततो यियासुः स वनं दैवज्ञानवनीपतिः ।
पुत्रराज्याभिषेकाय दिनलग्नान्यपृच्छत ॥३८।
श्रुत्वा च ते तु नृपतेर्वचो व्याकुलचेतसः ।
दिनं लग्नञ्च होराश्च न विदुः शास्त्रदृष्टयः ॥३९।
ऊचुश्च तं महीपालं दैवज्ञा बाष्पगद्गदम् ।
ज्ञानानि नः प्रणष्टानि श्रुत्वैतत्ते वचो नृप ! ॥४०।
ततोऽन्यनगरेभ्यश्च भृत्यराष्ट्रेभ्य एव च ।
ततस्तस्माच्च नगरात् प्राचुर्येणाभ्युपागमन् ॥४१।
समुत्पत्य महीपालं तं यियासुं मुने वनम् ।
प्रकम्पिशिरसो भूत्वा प्रोचुर्ब्राह्मणसत्तमाः ॥४२।

हे पुरवासिगण ! मेरे मस्तक पर जो पके हुए केशों को तुमने देखा है वह उग्र एवं अनार्य कर्म को सम्पन्न करने वाले मृत्यु का ही दूत समझो ॥ ३६ ॥

अतः, मैं पुत्र का राज्याभिषेक कर भोगपरित्यागपूर्वक वनवासी होकर ही यम सैनिकों के आगमन काल तक तपस्या करूँगा ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

इसके बाद राजा ने वन में जाने का दृढ़ निश्चय कर दैवज्ञों से पुत्र के राज्याभिषेक के लिए शुभमुहूर्त अर्थात् दिन और लग्न के विषय में पूछा ॥ ३८ ॥

अनन्तर वे शास्त्रतत्त्वद्रष्टा दैवज्ञ राजा के वचन को सुनकर व्याकुल चित्त हो जाने से शुभ दिन, लग्न होरा आदि के विचार में असमर्थ हो गये और रुँधे हुए कण्ठ से राजा को कहा—हे राजन् ! आपका वचन सुनकर मेरा ज्ञान विनष्ट हो गया है ॥३९-४०॥

इसके बाद अन्य नगरों और अधीनस्थ राष्ट्रों के सेवक एवं उस राजधानी के अनेक व्यक्ति उपस्थित हो गये ॥ ४१ ॥

हे मुने ! वन गमन के लिए इच्छुक राजा के पास आकर ब्राह्मण-श्रेष्ठों ने शिर को हिलाते हुए कहा ॥ ४२ ॥

प्रसीद पाहि नो राजन् ! पालिताः स्म यथा पुरा ।
सीदिष्यत्यखिलो लोकस्त्वयि भूप ! वनाश्रये ॥४३॥
स कुरुष्व तथा राजन् ! यथा नो सीदते जगत् ।
यावज्जीवामहे वीर ! स्वल्पकालमिमे वयम् ।
नेच्छामश्च भवच्छून्यं द्रष्टुं सिंहासनं विभो ! ॥४४॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्येवं तैस्तथान्यैश्च द्विजैः पौरपुरःसरैः ।
भूपैर्भृत्यैरमात्यैश्च प्रोक्तः प्रोक्तः पुनः पुनः ॥४५॥
वनवासविनिर्बन्धं नोपसंहरते यदा ।
क्षमिष्यत्यन्तको नेति ददाति च तथोत्तरम् ॥४६॥
ततोऽमात्याश्च भृत्याश्च पौरवृद्धास्तथा द्विजाः ।
समेत्य मन्त्रयामासुः किमत्र क्रियतामिति ॥४७॥
तेषां मन्त्रयतां विप्र ! निश्चयोऽयमजायत ।
अनुरागवतां तत्र महीपालेऽतिधार्मिके ॥४८॥
सम्यग्ध्यानपरा भूत्वा प्रार्थयामः समाहिताः ।
तपसाराध्य भास्वन्तमायुरस्य महीपतेः ॥४९॥

हे राजन् ! आप प्रसन्न हों, कृपाकर पहिले से जैसे हमलोगों का रक्षण करते थे वैसे ही रक्षण करें, हे भूप ! आपके वन जाने से सभी लोग दुःखित हो जायेंगे ॥ ४३ ॥

इसलिए हे राजन् ! आप वैसा ही कार्य करें जिससे सभी प्राणी कष्ट का अनुभव न करें । हे वीर ! हम लोग अब कुछ ही दिन रहेंगे । अतः हे राजन् ! आपसे शून्य इस सिंहासन को देखना नहीं चाहते हैं ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

इस प्रकार उनलोगों से अन्यान्य ब्राह्मणों, पुरवासियों, राजाओं, मन्त्रियों भृत्यों के द्वारा पुनः-पुनः निवेदन करने पर राजा ने वनवास की इच्छा का परित्याग न कर— "यमराज कभी भी क्षमा न करेगा" यही उत्तर दिया ॥ ४५-४६ ॥

जब राजा ने अपने वनवास के विचार का परित्याग नहीं किया तो ब्राह्मण, वृद्ध पुरवासिगण, मन्त्री-सेवक वर्ग सब मिलकर विचार करने लगे कि—अब क्या किया जाय ॥ ४७ ॥

हे विप्र ! धार्मिक प्रवर राजा के प्रति प्रेम के कारण उन लोगों ने विचार कर यह निश्चय किया कि हम लोग भलीभाँति ध्यानरत होकर तपस्या के द्वारा भास्कर की समाहितचित्त से आराधना करें और उनसे इस राजा के चिरजीवी होने की प्रार्थना करें ॥ ४८-४९ ॥

तत्रैकनिश्चयाः कार्ये केचिद्देहे च: भास्करम् ।
सम्यगर्घोपचाराद्यैरुपहारैरपूजयन् ॥५०॥
अपरे मौनिनो भूत्वा ऋग्जापेन तथाऽपरे ।
यजुषामथ साम्नाञ्च तोषयाञ्चक्रिरे रविम् ॥५१॥
अपरे च निराहारा नदीपुलिनशायिनः ।
तपसा चक्रुरायस्ता भास्कराराधनं द्विजाः ॥५२॥
अग्निहोत्रपराश्चान्ये रविसूक्तान्यहर्निशम् ।
जेपुस्तत्रापरे तस्थुर्भास्करे न्यस्तदृष्टयः ॥५३॥
इत्येवमतिनिर्बन्धं भास्कराराधनं प्रति ।
बहुप्रकारं चक्रुस्ते तं तं विधिमुपाश्रिताः ॥५४॥
तथा तु यततां तेषां भास्कराराधनं प्रति ।
सुदामा नाम गन्धर्व उपगम्येदमब्रवीत् ॥५५॥
यद्याराधनमिष्टं वो भास्करस्य द्विजातयः ।
तदेतत् क्रियतां येन भानुः प्रीतिमुपैष्यति ॥५६॥
तस्माद् गुरुविशालाख्यं वनं सिद्धनिषेवितम् ।
कामरूपे महाशैले गम्यतां तत्र वै लघु ॥५७॥

इस निश्चय के बाद वे सभी इस कार्य के लिए एक रूप में निश्चय कर किसीने घर में अर्घ्य, पूजोपचार आदि उपहार से भास्कर की पूजा आरम्भ की ॥ ५० ॥

किसी ने मौन धारण कर ऋग्वेद के मन्त्रों से, किसी ने यजुर्वेद के मन्त्रों से, किसी ने सामवेद के मन्त्रों से सूर्यदेव को सन्तुष्ट करने लगे ॥ ५१ ॥

कुछ ब्राह्मणगण नदी सेतु पर निराहार निवास करते हुए कठोर परिश्रम के साथ तपस्या करते हुए भास्कर की आराधना करने लगे ॥ ५२ ॥

दिन-रात रविसूक्त का जप करने लगे और अन्य अग्निहोत्र में तत्पर कतिपय व्यक्ति भास्कर की ओर दृष्टि को संयत कर स्थित हो गये ॥ ५३ ॥

इस प्रकार अनेक सुप्रसिद्ध विधियों का आश्रयण कर विभिन्न सूर्य की उपासना में दृढ़-संकल्प हुये ॥ ५४ ॥

भास्कर की आराधना में इस प्रकार अतिशय प्रयत्नशील इनको देख कर सुदाम नामक एक गन्धर्व ने आकर कहा ॥ ५५ ॥

हे द्विजगण ! यदि आपको भास्कर की आराधना ही अभीष्ट है, तब आपलोग ऐसा प्रयास करें, जिससे वे प्रसन्न होंगे ॥ ५६ ॥

कामरूप नामक विशाल पर्वत पर सिद्धों के द्वारा प्रतिष्ठित एक 'गुरु विशाल'

तस्मिन्नाराधनं भानोः क्रियतां सुसमाहितैः ।
सिद्धक्षेत्रं हितं तत्र सर्वकामानवाप्स्यथ ॥५८।

मार्कण्डेय उवाच—

इति ते तद्वचः श्रुत्वा गत्वा तत्काननं द्विजाः ।
ददृशुर्भास्वतस्तत्र पुण्यमायतनं शुभम् ॥५९।
तत्र ते नियताहारा वर्णा विप्रादयो द्विज ! ।
धूपपुष्पोपहाराढ्यां पूजाञ्चक्रुरतन्द्रिताः ॥६०।
पुष्पानुलेपनाद्यैश्च धूपगन्धादिकैस्तथा ।
जपहोमान्नदीपाद्यैः पूजनन्ते समाहिताः ।
कुर्वन्तस्तुष्टुवुर्ब्रह्मन् ! विवस्वन्तं द्विजातयः ॥६१।

ब्राह्मणा ऊचुः —

देवदानवयक्षाणां ग्रहाणां ज्योतिषामपि ।
तेजसाभ्यधिकं देवं व्रजाम शरणं रविम् ॥६२।
दिवि स्थितञ्च देवेशं द्योतयन्तं समन्ततः ।
वसुधामन्तरीक्षञ्च व्याप्नुवन्तं मरीचिभिः ॥६३।

नामक वन में शीघ्र जाकर वहाँ संयत चित्त से भानु देव की आराधना को उस सिद्ध स्थान में आराधना करने से सभी कामनाओं की प्राप्ति होगी ॥ ५७-५८ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

हे द्विज ! द्विजगणों ने गन्धर्व के इस वाक्य को सुन कर अरण्य में गये और वहाँ भास्कर के पवित्र मन्दिर का दर्शन किया ॥ ५९ ॥

विप्र आदि सभी वर्णों ने वहाँ संयत आहार अर्थात् नियत आहार-ग्रहण करते हुए आलस्य रहित हो धूप, पुष्प आदि से भास्कर देव की पूजा की ॥ ६० ॥

हे ब्रह्मन् ! चन्दनानुलेपन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, जप, होम और नैवेद्य आदि से समाहित चित्त होकर पूजा करते हुए द्विजाति गण सूर्य देव का स्तव करने लगे ॥६१॥

ब्राह्मणों ने कहा :—

देव, दानव, यक्ष और ज्योतिष्क ग्रहों में अधिक तेजस्वी सूर्य देव की शरण में आ गये हैं ॥ ६२ ॥

हे देवेश्वर ! स्वर्ग में रहते हुए भी चारो ओर दीप्ति प्रदान करते हुए, जो किरणों के द्वारा वसुधा और अन्तरीक्ष को परिव्याप्त करता है, जो चारो युगों के प्रलय काल में दुष्प्रेक्ष्य अर्थात् कष्ट से दर्शन योग्य कालाग्निस्वरूप है, जो प्रलय के बाद

आदित्यं भास्करं भानुं सवितारं दिवाकरम् ।
पूषाणमर्यमाणं च स्वर्भानुं दीप्तदीधितिम् ॥६४॥
चतुर्युगान्तकालाग्निं दुष्प्रेक्ष्यं प्रलयान्तगम् ।
योगीश्वरमनन्तं च रक्तं पीतं सितासितम् ॥६५॥
ऋषीणामग्निहोत्रेषु यज्ञदेवेष्ववस्थितम् ।
अक्षरं परमं गुह्यं मोक्षद्वारमनुत्तमम् ॥६६॥
छन्दोभिरश्वरूपैश्च सकृद्युक्तैर्विहङ्गमम् ।
उदयास्तमने युक्तं सदा मेरोः प्रदक्षिणे ॥६७॥
अनृतञ्च ऋतञ्चैव पुण्यतीर्थं पृथग्विधम् ।
विश्वस्थितिमचिन्त्यञ्च प्रपन्नाः स्म प्रभाकरम् ॥६८॥
यो ब्रह्मा यो महादेवो यो विष्णुर्यः प्रजापतिः ।
वायुराकाशमापश्च पृथिवीगिरिसागराः ॥६९॥
ग्रहनक्षत्रचन्द्राद्या वानस्पत्यं द्रुमौषधम् ।
व्यक्ताव्यक्तेषु भूतेषु धर्माधर्मप्रवर्त्तकः ॥७०॥
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव वैष्णवी चैव ते तनुः ।
त्रिधा तस्य स्वरूपन्तु भानोर्भास्वान् प्रसीदतु ॥७१॥

भी अवस्थित रहता है, जो भास्कर, सविता, दिवाकर, पूषा, अर्यमा, स्वर्भानु, दीप्तदीधिति और योगीश्वर के नाम से कहे जाते हैं। जो ऋषियों के अग्निहोत्र के सम यज्ञदेव के अधिष्ठाता हैं, जो अक्षय और परम गुह्य अत्युत्तम मोक्षद्वार ब्रह्मस्वरूप हैं, जो एक बार जोते गये छान्दोरूप अश्व के द्वारा गगनगामी है, जो उदयास्तगमन में और सुमेरु की प्रदक्षिणा में सतत नियुक्त रहता है, जो रक्त, पीत और सितासित वर्ष एवं जो मिथ्या, सत्य, पुण्यतीर्थ और अनेक प्रकार से विश्वकी स्थितिस्वरूप, वह अदितिगर्भ सम्भूत, अनन्त, अचिन्त्य, आदिदेव प्रभाकर का मैं आश्रयण करता हूँ ॥ ६३-६८ ॥

जो ब्रह्मा, जो महादेव, जो विष्णु, जो प्रजापति, जो वायु, आकाश, सलिल पृथिवी, पर्वत, समुद्र, ग्रह-नक्षत्र, चन्द्रादि, वनस्पति, वृक्ष और औषधि स्वरूप है जो व्यक्ता-व्यक्त भूतवर्गों के धर्म और अधर्म का प्रवर्तक एवं ब्राह्मी, माहेश्वरी और वैष्णवी शरीर के भेद से ही जिसका तीन प्रकार से स्वरूप भिन्न है, वह भानु भास्कर हमलोगों के प्रति प्रसन्न हों ॥ ६९-७१ ॥

यस्य सर्वमजस्येदमङ्गभूतं जगत् प्रभोः।
स नः प्रसीदतां भास्वान् जगतां यश्च जीवनम् ॥७२।
यस्यैकभास्वरं रूपं प्रभामण्डलदुर्दृशम्।
द्वितीयमैन्दवं सौम्यं स नो भास्वान् प्रसीदतु ॥७३।
ताभ्याञ्च यस्य रूपाभ्यामिदं विश्वं विनिर्मितम्।
अग्नीषोममयं भास्वान् स नो देवः प्रसीदतु ॥७४।

मार्कंण्डेय उवाच—

इत्थं स्तुत्या तदा भक्त्या सम्यक् पूजयतां तथा।
तुतोष भगवान् भास्वांस्त्रिभिर्मासैर्द्विजोत्तम ! ॥७५।
ततः स मण्डलादुद्यन्निजविश्वसमप्रभः।
अवतीर्य ददौ तेभ्यो दुर्दृशो दर्शनं रविः ॥७६॥
ततस्ते स्पष्टरूपं तं सवितारमजं जनाः।
पुलकोत्कम्पिनो विप्रा भक्तिनम्राः प्रणेमिरे ॥७७।

सभी पदार्थ जिस अनादि जगत् स्वामी का अङ्गभूत है एवं जो जगत् का जीवनस्वरूप है, वह भास्वान् हमलोगों के प्रति प्रसन्न हो ॥ ७२ ॥

जिसका अद्वितीय तेजस्वी प्रभामण्डल देखने में अक्षय है, ऐसा जो दिवाकर और सौम्यरूप सुधाकर भी है, वे भास्कर देव हमपर प्रसन्न हों ॥ ७३ ॥

जिसको इस सुप्रसिद्ध अग्नि और सोम ये दो स्वरूप से विश्व का निर्माण हुआ है, वह भास्कर हमलोगों के प्रति प्रसन्न हो ॥ ७४ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

हे द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार अतिशय भक्तिपूर्वक तीन मास तक स्तव पाठपूर्वक पूजा करने पर भगवान् भास्कर सन्तुष्ट हुए ॥ ७५ ॥

इसके बाद भास्कर स्वयं दुर्निरीक्ष्य होने पर भी अपने दिव्यमण्डल से निकलकर और उदयकालीन मण्डल से समन्वित अवतीर्ण होकर उन आराधकों को दर्शन दिया ॥ ७६ ॥

अनन्तर भास्कर देव के स्पष्ट दर्शन से रोमाञ्चित और भक्ति से विनम्र होकर सम्मुख उपस्थित उस अनादि सविता को यह कह कर प्रणाम किया ॥ ७७ ॥

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्ररश्मे !
सर्वस्य हेतुस्त्वमशेषकेतुः ।
पातास्त्वमीड्योऽखिलयज्ञधाम !
ध्येयस्तथा योगविदां प्रसीद ॥७८।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे भानुस्तववर्णनं नाम नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०९॥

हे सहस्ररश्मे ! आपको नमस्कार है, आप सभी प्राणियों के कारण और अखिल जगत् के हेतुस्वरूप हो, हे अखिलयज्ञेश्वर ! तुम पूज्य हो, अखिल यज्ञों के आधारस्वरूप हो और योगियों के ध्यान के विषय हो, तुम हमपर प्रसन्न हो ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण के 'भानुस्तव' नामक एक सौ नववें अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।



दशाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः प्रसन्नो भगवान् भानुराहाखिलं जनम् ।
व्रियतां यदभिप्रेतं मत्तः प्राप्तुं द्विजादयः ॥१॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्ते प्रणिपत्योचुर्विप्र ! विप्रादयो जनाः ।
ससाध्वसमशीतांशुमवलोक्य पुरः स्थितम् ॥२॥

प्रजा ऊचुः—

ततस्तं प्रणिपत्योचुर्वरदं जगदीश्वरम् ।
भगवन् ! यदि नो भक्त्या प्रसन्नस्तिमिरापह ! ॥३॥
दशवर्षसहस्राणि ततो नो जीवतां नृपः ।
निरामयो जितारातिः सुकोषः स्थिरयौवनः ।
दशवर्षसहस्राणि जीवतां राज्यवर्द्धनः ॥४॥

मार्कण्डेय उवाच—

तथेत्युक्त्वा जनान् भास्वान् दुदृशोऽभून्महामुने ! ।
तेऽपि लब्धवरा हृष्टाः समाजग्मुर्जनेश्वरम् ॥५॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इसके बाद भगवान् भानु प्रसन्न होकर सभी आराधकों से कहा—हे द्विजादि ! तुम लोग मुझसे जो कुछ पाने की अपेक्षा रखते हो, उसको माँग लो ॥ १ ॥

अतीतांशु जगदीश्वर को वर देने के लिए प्रस्तुत उन विप्र क्षत्रिय आदि लोगों ने सामने खड़े देखकर आश्चर्य से चकित हो, सबने उन्हें प्रणाम किया और कहा ॥ २ ॥

प्रजाओं ने कहा—

हे तिमिरनाशक भगवन् ! यदि हमारी भक्ति से आप प्रसन्न हैं, तो हम लोगों के राजा राज्यवर्द्धन नीरोग, विजितशत्रु, पूर्णकोष और स्थिर यौवन होकर दश सहस्र वर्ष तक जीवित रहे ॥ ३-४ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे महामुने ! तथास्तु यह कह कर भगवान् वहीं अन्तर्हित हो गये और प्रजाजन भी वर-लाभ से संतुष्ट होकर राजा के पास चले आये ॥ ५ ॥

यथा वृत्तञ्च ते तस्मै नरेन्द्राय न्यवेदयन् ।
वरं लब्ध्वा सहस्रांशोः सकाशादखिलं द्विज ! ।।६।
तच्छ्रुत्वा जहृषे तस्य सा पत्नी मानिनी द्विज ! ।
स च राजा चिरं दध्यौ नाह किञ्चिच्च तं जनम् ।।७।
ततः सा मानिनी भूपं हर्षापूरितमानसा ।
दिष्टयाऽऽयुषा महोपाल ! वर्द्धस्वेत्याह तं पतिम् ।।८।
तथा तया मुदा भर्त्ता मानिन्याथ सभाजितः ।
नाह किञ्चिन्महीपालश्चिन्ताजडमना द्विज ! ।।९।
सा पुनः प्राह भर्त्तारं चिन्तयानमधोमुखम् ।
कस्मान्न हर्षमभ्येषि परमाभ्युदये नृप ! ।।१०।
दशवर्षसहस्राणि नीरुजः स्थिरयौवनः ।
भावी त्वमद्य प्रभृति किं तथापि न हृष्यसे ।।११।
किन्तु तत्कारणं ब्रूहि यच्चिन्ताक्लिष्टमानसः ।
परमाभ्युदयेऽपि त्वं सम्प्राप्ते पृथिवीपते ! ।।१२।

हे द्विज ! सहस्रांशुकी आराधना और उनसे वर लाभ की जो कुछ घटना हुई थी, प्रजाओं ने राजा से कह सुनायी ॥ ६ ॥

हे द्विज ! सब सुनकर नरेन्द्र-पत्नी मानिनी बहुत ही प्रसन्न हुई। परन्तु राजा ने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा और वह बहुत देर तक विचार करता रहा ॥ ७ ॥

फिर मानिनी ने हृष्ट अन्तःकरण से पति से कहा—हे महीपाल ! आप बढ़ी हुई आयु से अब सब प्रकार की वृद्धि प्राप्त करें ॥ ८ ॥

हे द्विज ! आनन्दित मानिनी के द्वारा इस प्रकार सत्कृत होने पर भी राजा चिन्ता में ही पड़ा रहा और उसने रानी को कुछ उत्तर नहीं दिया ॥ ९ ॥

पुनः मानिनी ने नीचे मुँह किये हुए चिन्ताकुल राजा से इस प्रकार कहा—हे नृप ! ऐसे आनन्द के अवसर पर भी आपको आनन्द क्यों नहीं होता है ॥ १० ॥

आप नीरोग और स्थिर यौवन होकर आज से दश सहस्र वर्ष जीयेंगे, फिर भी आप प्रसन्न नहीं हो रहे हैं ॥ ११ ॥

ऐसे आनन्द का अवसर उपस्थित होने पर भी आप चिन्ताकुल क्यों हो रहे हैं, इसका कारण कहिये ॥ १२ ॥

राजोवाच—

कथमभ्युदयो भद्रे ! किं सभाजयसे च माम् ।
प्राप्तौ दुःखसहस्राणां किं सभाजनयिष्यते ॥१३॥
दशवर्षसहस्राणि जीविष्याम्यहमेककः ।
न त्वं तव विपत्तौ मे किन्न दुःखं भविष्यति ॥१४॥
पुत्रान् पौत्रान् प्रपौत्रांश्च तथान्यानिष्टबान्धवान् ।
पश्यतो मे मृतान् दुःखं किमल्पं हि भविष्यति ॥१५॥
भृत्येषु चातिभक्तेषु मित्रवर्गे तथा मृते ।
भद्रे ! दुःखमपारं मे भविष्यति तु सन्ततम् ॥१६॥
यैर्मदर्थं तपस्तप्तं कृशैर्धमनिसन्ततैः ।
ते मरिष्यन्त्यहं भोगी जीविष्यामीति धिक्करम् ॥१७॥
सेयमापद्वरारोहे ! प्राप्ता नाभ्युदयो मम ।
कथं वा मन्यसे न त्वं यत्सभाजयसेऽद्य माम् ॥१८॥

मानिन्युवाच—

महाराज ! यथात्थ त्वं तथैवं नात्र संशयः ।
मया पौरैश्च दोषोऽयं प्रीत्या नालोकितस्तव ॥१९॥

राजा ने कहा—

हे भद्रे ! मेरा क्या अभ्युदय हुआ ? तुम मेरा अभिनन्दन क्यों करती हो ? सहस्रों दुःखों की प्राप्ति होने पर मैं क्या आनन्द का उपभोग करूँगा ॥ १३ ॥

मैं अकेला दश सहस्र वर्ष तक जीऊँगा, किन्तु तुम नहीं जीओगी। तब क्या तुम्हारे वियोग से मुझे दुःख नहीं होगा ॥ १४ ॥

पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र और अन्याय प्रिय बान्धवों की मृत्यु को देखकर क्या मुझे कम दुःख होगा ॥ १५ ॥

हे भद्रे ! अति भक्त मेरे भृत्यों और मित्रों के मर जाने से मुझे निरन्तर दुःख का ही अनुभव करना पड़ेगा ॥ १६ ॥

जिन्होंने मेरे लिए अपनी शिराओं को जलाकर तपस्या की, वह मर जायेंगे और मैं जीवित रहकर सुख भोग करूँगा, क्या यह मेरे लिए धिक्कार की बात नहीं है ? हे वरारोहे ! मुझे जो दश सहस्र वर्षों की आयु मिली है, यह मेरे लिए आपत्ति है। इससे मेरा कुछ भी अभ्युदय नहीं हुआ है। इन सब बातों का विचार न कर तुम मेरा सत्कार क्यों करती हो ? ॥ १७-१८ ॥

मानिनी ने कहा—

हे महाराज ! आपने जो कहा, वह दुःखकर है, इसमें सन्देह नहीं है। हम प्रजा वर्ग हैं, हमारा आप पर प्रेम है, इसीसे हम यह सब दोष देख नहीं सके ॥ १९ ॥

एवं गतेऽत्र किं कार्य्यं नरनाथ ! विचिन्त्यताम् ।
नान्यथा भावि यत्प्राह प्रसन्नो भगवान् रविः ।।२०।

राजोवाच—

उपकारः कृतः पौरैः प्रीत्या भृत्यैश्च यो मम ।
कथं भोक्ष्याम्यहं भोगान् गत्वा तेषामनिष्कृतिम् ।।२१।
सोऽहमद्य प्रभृत्याद्रिं गत्वा नियतमानसः ।
तपस्तप्स्ये निराहारो भानोराराधनोद्यतः ।।२२।
दशवर्षसहस्राणि यथाहं स्थिरयौवनः ।
तस्य प्रसादाद्देवस्य जीविष्यामि निरामयः ।।२३।
तथा यदि प्रजाः सर्वाः भृत्यास्त्वञ्च सुताश्च मे ।
पुत्राः पौत्राः प्रपौत्राश्च सुहृदश्च वरानने ! ।।२४।
जीवन्त्येतं प्रसादं न करोति भगवान् रविः ।
ततोऽहं भविता राज्ये भक्ष्ये भोगांस्तथा मुदा ।।२५।
न चेदेवं करोत्यर्कस्तदद्रौ तत्र मानिनि ! ।
तपस्तप्स्ये निराहारो यावज्जीवितसङ्क्षयः ।।२६।।

हे नरनाथ ! यदि ऐसा ही है, तो इस समय क्या करना चाहिये, इसका विचार कीजिये। भगवान् रवि ने प्रसन्न होकर जो कहा है, वह अन्यथा नहीं हो सकता है ।।२०।।

राजा ने कहा—

पौरों और भृत्यों ने प्रसन्न चित्त से मेरा जो उपकार किया है, उससे निष्कृति पाये बिना मैं किस प्रकार भोगों का अनुभव करूँगा ? ।। २१ ।।

अतः मैं आज से उसी पर्वत पर जाकर संयत-चित्त से निराहार रहकर भानु देव को प्रसन्न करने के लिए तपस्या करूँगा ।। २२ ।।

जिस प्रकार मैं उनके प्रसाद से स्थिर यौवन और निरामय होकर दश सहस्र वर्ष जीऊँगा,- हे वरानने ! उसी प्रकार मेरी समस्त प्रजा, भृत्य, तुम, कन्या, पुत्र, प्रौत्र, प्रपौत्र, सुहृद आदि जीवित रहें ।। २३-२४ ।।

यदि भगवान् भास्कर ऐसा अनुग्रह करें, तो मैं प्रसन्न चित्त से इस राज्य में राजा रहकर समस्त राजसुखों का उपभोग करूँगा ।। २५ ।।

यदि अर्कदेव ने ऐसा अनुग्रह न किया, तो हे मानिनि ! जब तक मेरे प्राण निकल न जायँ, तब तक उसी पर्वत पर रह कर निराहार हो, तपश्चरण करूँगा ।।२६।।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्ता सा तदा तेन तथेत्याह नराधिपम् ।
जगाम तेन च समं साऽपि तं धरणीधरम् ॥२७॥
स तदायतनं गत्वा भार्यया सह पार्थिवः ।
भानोराराधनञ्चक्रे शुश्रूषानिरतो द्विज ! ॥२८॥
निराहारकृशः सा च यथासौ पृथिवीपतिः ।
तेपे तपस्तथैवोग्रं शीतवातातपक्षमा ॥२९॥
तस्य पूजयतो भानुं तप्यतश्च तपो महत् ।
साग्रे सम्वत्सरे याते ततः प्रीतो दिवाकरः ॥३०॥
समस्तभृत्यपौरादिपुत्राणाञ्च कृते द्विज ! ।
ददौ यथाभिलषितं वरं द्विजवरोत्तम ! ॥३१॥
लब्ध्वा वरं स नृपतिः समभ्येत्यात्मनः पुरम् ।
चकार मुदितो राज्यं प्रजा धर्मेण पालयन् ॥३२॥
ईजे यज्ञान् स च बहून् ददौ दानान्यहर्निशम् ।
मानिन्या सहितो भोगान् बुभुजे च स धर्मवित् ॥३३॥

मार्कण्डय मुनि ने कहा—

राजा के वचन सुनकर मानिनी ने तथास्तु कहा और वह भी पति के साथ उसी पर्वत पर चली गयी ॥ २७ ॥

हे द्विज ! सपत्नीक नरपति ने पूर्वोक्त पर्वत स्थित मन्दिर में जाकर भास्करदेव की आराधना करना प्रारम्भ किया ॥ २८ ॥

निराहार रहने से दिन-दिन जिस प्रकार राजा कृश होने लगा, वैसी ही मानिनी भी होने लगी। शीत, वायु और धूप को सहने का दोनों को अभ्यास हो गया और दोनों उग्र तपस्या में निरत हो गये। हे द्विजवरोत्तम ! इस प्रकार भानुदेव की आराधना और तपस्या करते हुए एक वर्ष से भी अधिक काल उन दोनों ने बिता दिया। अन्त में भानुदेव प्रसन्न हुए और उन्होंने दोनों की अभिलाषा के अनुसार समस्त भृत्य, पुत्र, पौत्र आदि के लिए दश सहस्र वर्षों की आयु का वर प्रदान किया। वर प्राप्त हो जाने के उपरान्त राजा रानी के साथ राजधानी में लौट आया और प्रसन्न चित्त से धर्मानुकूल प्रजापालन करता हुआ राज्यशासन करने लगा ॥ २९-३२ ॥

उस धर्मात्मा ने अनेक यज्ञ किये, अहोरात्र सत्पात्रों को दान किया और महिषी मानिनी के साथ नाना प्रकार के भोग-विलास किये ॥ ३३ ॥

दशवर्षसहस्राणि पुत्रपौत्रादिभिः सह ।
भृत्यैः पौत्रैः समुदितः सोऽभवत् स्थिरयौवनः ॥३४॥
तस्येति चरितं दृष्ट्वा प्रमतिर्नाम भार्गवः ।
विस्मयाकृष्टहृदयो गाथामेतामगायत ॥३५॥
भानुभक्तेरहो ! शक्तिर्यद्राजा राज्यवर्द्धनः ।
आयुषो वर्द्धने जातः स्वजनस्य तथात्मनः ॥३६॥
इति ते कथितं विप्र ! यत्पृष्टोऽहं त्वया विभो ! ।
आदिदेवस्य माहात्म्यामादित्यस्य विवस्वतः ॥३७॥
विप्रैस्तदखिलं श्रुत्वा भानोर्माहात्म्यमुत्तमम् ।
पठंश्च मुच्यते पापैः सप्तरात्रकृतं नरः ॥३८॥
अरोगी धनवानाढ्यः कुले महति धीमताम् ।
जायते च महाप्राज्ञो यश्चैतद्धारयेद् बुधः ॥३९॥
मन्दाश्च येऽत्राभिहिता भास्वतो मुनिसत्तम ! ।
जापः प्रत्येकमेतेषां त्रिसन्ध्यं पातकापहः ॥४०॥

इसी तरह उसने पुत्र, पौत्र, भृत्य, पुरजन आदि के साथ स्थिर जीवन होकर प्रसन्नता के साथ दश सहस्र वर्ष बिता दिये। उस समय भृगुवंश में उत्पन्न हुए प्रमति नामक ऋषि ने राजा के इस चरित्र को देखकर विस्मय के साथ इस गाथा का गान किया—सूर्योपासना में क्या ही अपूर्व शक्ति है ? जिसके प्रताप से राजा राज्यवर्द्धन ने अपनी तथा अपने आत्मीयजनों की आयु बढ़ा ली ॥ ३४-३६ ॥

हे विप्र ! तुमने आदि देव विवस्वान् आदित्य के माहात्म्य के विषय में जो जिज्ञासा की, वह मैंने कहा ॥ ३७ ॥

भानुदेव के इस माहात्म्य को जो मनुष्य ब्राह्मण के द्वारा सुनेंगे अथवा स्वयं पढ़ेंगे, उनका सात रात्रियों का किया हुआ पाप कट जायगा। जो व्यक्ति इस भानु माहात्म्य को बुद्धि में धारण करेगा, वह बुद्धिमानों के बड़े कुल में धनवान्, नीरोग और महाप्राज्ञ होकर जन्म-ग्रहण करेगा ॥ ३८-३९ ॥

हे मुनिसत्तम ! मूर्ख और पापी मनुष्य भी इस भास्कर के माहात्म्य का दैनिक पूजा के साथ तीनों समय में यदि पाठ करेगा, तो उसके सब पाप नष्ट हो जायेंगे ॥४०॥

समस्तमेतन्माहात्म्यं तत्र चायतने रवेः ।
पठ्यते तत्र भगवान् सान्निध्यं न विमुञ्चति ।।४१।
तस्मादेतत् त्वया ब्रह्मन्! भानोर्माहात्म्यमुत्तमम् ।
धार्य्यं मनसि जाप्यञ्च महत्पुण्यमभीप्सता ।।४२।।
सुवर्णश्रृङ्गीमतिशोभनाङ्गीं
पयस्विनीं गां प्रददाति यो हि ।
श्रृणोति चैतत् त्र्यहमात्मवान्नरः
समं तयोः पुण्यफलं द्विजाग्र्य! ।।४३।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे भानोर्माहात्म्यवर्णनं नाम दशाधिकशततमोऽध्यायः ।।११०।।

जिस देव मन्दिर में सूर्य के इस सम्पूर्ण माहात्म्य का पाठ होगा, भगवान् उसमें निरन्तर वास करेंगे, उस स्थान को कदापि नहीं छोड़ेंगे ॥ ४१ ॥

हे ब्रह्मन्! तुम भी महत् पुण्य की अभिलाषा से सूर्यदेव का यह उत्कृष्ट माहात्म्य अन्तःकरण में धारण कर लो और इसका पाठ किया करो ॥ ४२ ॥

हे द्विज श्रेष्ठ! सोने से मढ़े सींगवाली सुन्दर पयस्विनी (विपुल दूध देने वाली) गौ का दान करने और संयत होकर इस माहात्म्य का श्रवण करने का पुण्यफल समान है, ऐसा समझो ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का भानुमाहात्म्यवर्णन नामक एक सौ दशवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।



एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

एवम्प्रभावो भगवाननादिनिधनो रविः ।
यस्य त्वं कौष्टुके ! भक्त्या माहात्म्यं मयि पृच्छसि ॥१॥

परमात्मा स योगीनां युञ्जतां चेतसां लयम् ।
क्षेत्रज्ञः साङ्ख्ययोगानां यज्ञेशो यज्विनामपि ॥२॥

सूर्याधिकारं वहतो विष्णोरीशस्य वेधसः ।
मनुस्तस्याऽभवत् पुत्रश्छिन्नसर्वार्थसंशयः ॥३॥

मन्वन्तराधिपो विप्र ! यस्य सप्तममन्तरम् ।
इक्ष्वाकुर्नाभगो रिष्टो महाबलपराक्रमाः ॥४॥

नरिष्यन्तोऽथ नाभागः पृषध्रो धृष्ट एव च ।
एते पुत्रा मनोस्तस्य पृथग्राज्यस्य पालकाः ॥५॥

विख्यातकीर्त्तयः सर्वे सर्वे शास्त्रास्त्रपारगाः ।
विशिष्टतरमन्विच्छन् मनुः पुत्रं तथा पुनः ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

हे क्रौष्टुकि ! जिसके माहात्म्य के विषय में तुमने हमसे भक्तिपूर्वक जिज्ञासा की थी; वह आदि अन्तरहित अर्थात् अनादि भगवान् रवि ऐसे प्रभावशाली हैं ॥ १ ॥

वह संयतचित्त योगियों का परमात्मा है, सांख्ययोगियों का क्षेत्रज्ञ है, यज्ञ कर्ताओं का यज्ञेश्वर है ॥ २ ॥

ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर स्वरूप में जिस सूर्य का अधिकार वहन कर रहे हैं; उस मार्तण्डदेव को सभी विषयों में संशय शून्य मनु नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

हे विप्र ! जिस मनु का सप्तम मन्वन्तर महान् बलशाली एवं पराक्रमी इक्ष्वाकु, नाभाग, रिष्ट, नरिष्यन्त, नाभाग, पृषध्र, एवं धृष्ट नामक पुत्र थे; जो भिन्न-भिन्न राज्यों के पालनकर्ता थे; विश्व में विख्यात कीर्ति एवं सभी शस्त्रों एवं शास्त्रों में पारङ्गत थे ॥ ४-६ ॥

मित्रावरुणयोरिष्टिं चकार कृतिनां वरः ।
यत्र चापहृते होतुरपचारान्महामुने ! ।।७।

इला नाम समुत्पन्ना मनोः कन्या सुमध्यमा ।
तां दृष्ट्वा कन्यकां तत्र समुत्पन्नां ततो मनुः ।।८।

तुष्टाव मित्रावरुणौ वाक्यञ्चेदमुवाच ह ।
भवत्प्रसादात्तनयो विशिष्टो मे भवेदिति ।।९।

कृते मखे समुत्पन्ना तनया मम धीमतः ।
यदि प्रसन्नौ वरदौ तदियं तनया मम ।।१०।

प्रसादाद्भवतोः पुत्रो भवत्वतिगुणान्वितः ।
तथेति चाभ्यामुक्ते तु देवाभ्यां सैव कन्यका ।।११।

इला समभवत् सद्यः सुद्युम्न इति विश्रुतः ।
पुनश्चेश्वरकोपेन मृगव्यामटता वने ।।१२।

स्त्रीत्वमासादितं तेन मनुपुत्रेण धीमता ।
पुरुरवसनामानं चक्रवर्तिनमूर्जितम् ।।१३।

जनयामास तनयं यत्र सोमसुतो बुधः ।
जाते सुते पुनः कृत्वा सोऽश्वमेधं महाक्रतुम् ।।१४।

इसके प्रयत्नशील व्यक्तियों में श्रेष्ठ मुनि ने इनसे विशिष्ट पुत्र की अभिलाषा से मित्रावरुण के यज्ञ का अनुष्ठान किया ।। ७ ।।

हे महामुने ! होता के अपचार से अर्थात् दोष से यज्ञ के दुष्ट हो जाने से अङ्गहीन होने पर इला नाम की सुन्दरी (कृशक दिमागवाली) एक कन्या उत्पन्न हुई ।। ८ ।।

अनन्तर मनु यज्ञ से उत्पन्न उस कन्या को देखकर मित्रावरुण की स्तुति करने लगे और यह वाक्य कहा आप लोगों के अनुग्रह से विशिष्ट अर्थात् असाधारण पुत्र प्राप्त हो यह कामना की थी, किन्तु, ज्ञानसम्पन्न मुझे कन्या की ही प्राप्ति हुई है। हे वरप्रदानकर्त्ता ! यदि आप दोनों प्रसन्न हैं तो मेरी इस कन्या को अतिशय गुण सम्पन्न पुत्र प्राप्त हो जाय दोनों देवों के द्वारा ऐसा ही हो यह कहने पर कन्या ईला को उसी क्षण विख्यात सुद्युम्न नाम के पुत्र की प्राप्ति हुई किसी समय यह बुद्धिमान् मनुपुत्र वन में मृगया के लिए घूम रहा था, उस समय ईश्वर के कोप से वह मनु पुत्र पुनः स्त्री हो गया। उस समय सोम पुत्र बुध ने उसके गर्भ से पुरुरवा नाम के तेजस्वी पुत्र को उत्पन्न किया। पुत्र की उत्पत्ति के बाद अश्वमेध यज्ञ के प्रभाव से वह

पुरुषत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नः पार्थिवोऽभवत् ।
सुद्युम्नस्य त्रयः पुत्रा उत्कलो विनयो गयः ॥१५॥
पुरुषत्वे महावीर्या यज्विनः पृथुलौजसः ।
पुरुषत्वे तु ये जातास्तस्य राज्ञस्त्रयः सुताः ॥१६॥
बुभुजुस्ते महीमेतां धर्मे नियतचेतसः ।
स्त्रीभूतस्य तु यो जातस्तस्य राज्ञः पुरूरवाः ॥१७॥
न स लेभे महीभागं यतो बुधसुतो हि सः ।
ततो वशिष्ठवचनात् प्रतिष्ठान पुरोत्तमम् ।
तस्मै दत्तं स राजाभूत्तत्रातीवमनोहरे ॥१८॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे वंशानुक्रमो नामैकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१११॥

सुद्युम्न ने पुनः पुरुषत्व को प्राप्त किया और पृथिवीपति हुआ। उस सुद्युम्न के पुरुषत्व की प्राप्ति के बाद अतिशय ओजस्वी महाबलशाली, याज्ञिक एवं अतिशय ओजस्वी उत्कल, विनय और जय नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। सुद्युम्न के पुंस्त्वकाल में जिन तीन पुत्रों की उत्पत्ति हुई थी, उन लोगों ने राज्यलाभ कर धर्म के अनुसार इस पृथिवी का पालन किया। राजा के स्त्रीत्व के समय जो पुरुरवा उत्पन्न हुआ था, वह बुध पुत्र होने के कारण पृथिवी के अंश को प्राप्त नहीं कर सका। किन्तु वसिष्ठ के आदेशानुसार उसको प्रतिष्ठान नाम का श्रेष्ठ नगर दिया गया, वह उसी मनोहर देश का राजा हुआ ॥ ९-१८ ॥

नोट—इस अध्याय में तीसरे श्लोक को तीन पंक्ति का श्लोक और किसी ने अट्ठारह को तीन पंक्ति का श्लोक माना है।



पर्यालोचन

[अध्याय संख्या एक सौ सात से एक सौ ग्यारह तक 'सूर्य-स्तव एवं माहात्म्य' का निरूपण है, अतः पूर्व अध्यायों का एक साथ पर्यालोचन यहाँ दिया जा रहा है]।

आर्य साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है। यह अपौरुषेय धारा अनवच्छिन्न परम्परा से प्रवाहित अदिति के अनन्त रूप को धारण कर रही है। काल और देश इसके बाह्य आवरणों के परिवर्तित रूप की प्राप्ति में सहायक अवश्य ही रहे हैं, किन्तु अन्तःसलिला के अक्षुण्ण सारस्वत प्रवाह की अभिव्यक्ति आज भी सुलभ एवं सुरक्षित है। बाह्य स्तर का आवेश मूलक अनेक खण्डन-मण्डन पूर्वपर के सिद्धान्तों के थपेड़ों से आकम्पित एवं आन्दोलित हो रहे हैं—इसमें सन्देह का अवसर कहाँ है ? किन्तु अन्तः-दीप्ति का यह आवरण के आकार का स्फुरण मात्र है, आवरक की समाप्ति के साथ यह महाज्योतिः के साथ नित्य समन्वय समुपलब्ध है। मन्त्रमयी मूर्ति मनोमयी मूर्ति के साथ ऐक्य स्थापन करती हुई आज की भावनात्मक प्रतीकात्मिका भौतिक मूर्ति के रूप में जन-मन की बाह्य अभिव्यक्ति ही तो है। मन-मनन और मन्त्र के द्वारा प्रतिष्ठा के बिना चित्त द्रुति रूपा सरस्वती का अवस्थान कहाँ हो सकता है ?

यह श्रौत धारा अतीत सभ्यता और संस्कृति को आत्मसात् कर वर्तमान कलेवर में अभिव्यक्त हुई और यह वर्तमान से अनागत की ओर अग्रसर हुई; इस प्रवाहित धारा का प्रभाव आज भी अलक्ष्य है, किन्तु इस आर्य भावना का प्रभाव आज भी जाग्रत और जीवन्त है। शाक्त भावना के इतिहास का अनुधावन करने पर गंगोत्री के हिमवाह के समान वैदिक साहित्य को ही तान्त्रिक क्रियात्मक साधना का ध्रुवपद के रूप में मानना पड़ेगा। वेदोत्तर भावना की मूल ज्योतिः का दीर्घ-युगवाहित सुनियन्त्रित स्वरूप इसी में परिनिष्ठित एवं प्रतिष्ठित है। आदिमानव की चित् दीप्ति का अनतिवर्तनीय रूप का संकेत इसी मूलधारा पर अवलम्बित है और प्राण के साथ सम्पृक्त सनातन और अच्छेद्य है। अध्यात्म प्रगति की उपयोगिता की 'इतिश्री' सम्भव ही नहीं है।

इस सनातन साहित्य का परम प्रधान उपजीव्य क्रियात्मक देववाद है। इसमें क्रिया और भाव दोनों का समान स्थान है। क्रिया के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति है, भाव ही धारक और पोषक है। क्रिया में चेतना बहिरावृत्त और भाव में अन्तरावृत्त है। धी, ध्यान; चित्तता; क्रिया का जीवन है। साधना और साध्य का सेतु ध्यान है। ध्यान-तन्मयता शक्ति की दीप्ति, आत्मा, विश्व और परमशक्ति के सायुज्य में पर्सवसित होती है। शक्ति का स्वरूप एवं विभूति ही अनुध्येय है और वह देवी-देवता के रूप में प्रतिष्ठित है। निदिध्यासन धी भाव-प्रवणता भावात्मक देवता है। कर्म और प्रज्ञा ये दोनों ही धी के अर्थ हैं। विश्वभुवन रक्षक शक्ति ही धीर है, जो धी का स्वभाव है, यह अप्रज्ञा के मध्य में आविष्ट हो प्रज्ञा के उन्मेष की उपलब्धि है, विश्व की गोप्त्री शक्ति ही धीर है, कर्म और प्रज्ञा ये दैवत वैभव हैं। "इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः समाधीरः पाकम् अत्राविवेश" (ऋ० १।१६४।२१)।

देव या देवी यह यौगिक परिभाषिक शब्द है। वैदिक साहित्य के विश्लेषण को ओर दृष्टिपात करने पर निर्वचन ही अर्थ की प्रतीति में एकमात्र अवलम्बन है। 'दिव्' धातु से देव की निष्पत्ति है, 'सर्वं नाम धातुजमाह' इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में आचार्यों ने स्वीकार किया है। किन्तु यहाँ प्रातिपदिक दिव् का व्यवहार है, धातु का नहीं। दीप्ति या आलोक अर्थ को कहने वाली 'दिव्' का निर्देश किया गया है। निरुक्त में देव का निर्वचन करते हुए लिखा गया है—'देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः स देवता (निरुक्त २।१५)। प्रातिपदिक दिव् द्युलोक या आलोकमय आकाश का बोधक है आसमन्तात् काशते इति। आकाश शब्द भी चारो ओर परिव्याप्त दीप्ति अर्थ को लेकर प्रयुक्त है और इसी आकाश के लिए प्रयुक्त 'दिवा' शब्द इसका प्रवृत्ति-निमित्त है। इस वैदिक विश्लेषण के आधार पर दिव्, दिवा, देव ये शब्द एक ही भावना का आयाम या प्रकाश है। इसी भावना को आलोक या चिन्मयभूमि कहा जा सकता है। इस देवता या देवी का स्वरूप प्रकाश ज्योतिः है। बाह्य आलोक ही अभ्यन्तर प्रकाश के रूप में बोध या जागना, चिति या विवेक है, दूसरे शब्दों में वेद है। इस बोध का फल प्रज्ञान, संज्ञान और संवित् है। अतः देवता साधक का आत्मज्ञान है। उषा की अरुण आभा से पृथिवी के जन-जन में चैतन्य और बोध के सञ्चार के साथ नव जागरण का सन्देश मिलता है। वेद में बुध का प्रयोग होने पर भी बोध शब्द प्रयुक्त नहीं है। बुध्न्य शब्द का बहुधा प्रयोग मिलता है "उपरि बुध्न्य एषाम्" (ऋ० १।२४।७) ऋतस्य बुध्न्य (३।६१।७) संस्कृत में इसी भावना के प्रवाह में बुध का अर्थ सचेतन होता है। वेदि में अग्निशिखा साँप को फण के समान जागता है, इसीलिए अग्नि के लिए 'अहिर्बुध्न्यः' प्रयोग किया गया है। हठयोग के वर्णन के प्रसङ्ग में मूलाधार में स्थित सूर्यरूपिणी कुण्डलिनी का वर्णन मिलता है। इस प्रकार यह स्थिर होता है कि अहिर्बुध्न्य शब्द का चरम सत्य चेतना का बोधक है। It is suggested that Aryan 'Budhn' meant the place of growth of ultimate Lose. यह संज्ञा परम अयन है और इसका फल पूर्ण प्रज्ञा या संवित् है (ऋ० ८।५८।१) देवता की अपर ज्योतिर्मय अर्थ का बोधक वसु है, इससे निष्पन्न उषस्, उस्न, वासर, विवस्वत्, वसुमति वसिष्ठ है। अवेस्ता में Vanhus है, जो वहाँ दीप्ति का बोधक है। इसी आलोक अर्थ को लेकर क्लीवलिङ्ग—वसु शब्द का धन के अर्थ में प्रयोग किया गया है। विवस्वान् यह परम देवता की संज्ञा है, जिसका प्रतीक सूर्य है।

अवेस्ता में वसिष्ठ = ज्योतिष्मत्तम के लिए Vahista स्वर्ग (चिन्मयमूर्ति) और Vahista परम पुरुष की संज्ञा मानी गई है। एक महान् आत्मा देवता है और वह सूर्य है, इसीलिए ऋषि ने कहा है, जो क्रियायें हैं, स्थिर हैं, सभी का आत्मा सूर्य है इसी ज्योतिः स्वरूप अखण्ड आदित्य की विभूति अन्य देवता हैं। इसी ज्योतिः को पक्षवान् दिव्य सुपर्ण कहा गया है। इन्द्र, वरुण आदि इसकी संज्ञामात्र हैं। अवेस्ता और वेद एक ही धारा का वहन कर रहा है।

आर्य हृदय में देवता के प्रति अभिनिवेश ज्योतिः के लिए ही अभिनिवेश है। वसिष्ठ ने आर्य का लक्षण करते हुए ज्योतिः जिनका अग्रगामी है—यह दिया है।

"तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः" (ऋ० ९।३३।७) इसी प्रकार ज्योतिः स्वरूप तीन वाक् को भी अग्रज्योतिः कहा गया है। (७।१०।११।) वे ज्योतिः स्वरूप गुहा में सन्निहित है। निरुक्त में "गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति" कहा गया है।

देवता के निरूपण प्रसङ्ग में ज्योतिः के साथ समन्वय प्राप्त होना है, साथ ही अखण्डिता व्यापिका एक शक्ति के साथ भी देवता का अभेद है। देवगण या आदित्य अदिति के पुत्र हैं। अदिति अखण्डिता शक्ति है। वह अनन्त स्वरूप है, जिसका प्रतीक आकाश या व्योमन् हैं, आकाश में आदित्य ज्योतिः ताप का विकिरण करतो है, जिससे सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि है।

ऋक्संहिता में दिव् और व्योमन् शब्द का प्रयोग मिलता है, इनमें प्रथम शब्द में द्योतना या ज्योतिः की भावना है, दूसरे शब्द से व्याप्ति और तुङ्गता की ओर संकेत है। पद पाठ में वि+उमन् प्रयोग है। अव् धातु का उन्नीस अर्थ है, किन्तु प्रसाद, अधिक्षरण और संवरण इन अर्थों में इस धातु का विशेष व्यवहार है। व्योमन् शब्द उणादि सूत्र से निपातन के द्वारा सिद्ध है, अव्+मन् टिलोप अवतेष्टिलोपश्च (उणादि १।१४०) व्योमन् संवरण का ऊम् से साथ सुस्पष्ट सम्बन्ध सूचित होता है। अधिदैवत अध्यात्म दृष्टि से वाक् या ऊम् का अविनाभूत परिस्पन्द है। 'यावद् ब्रह्म विष्ठितं भारती वाक्, (ऋ० १०।११४।८) इतना सत्य है कि परं ब्रह्म के समान परम शब्द का व्योमन् के साथ प्रयोग उपलब्ध होता है। यह अक्षर परम व्योमन् गौरी वाक् है। इस प्रकार परम व्योमन् दक्ष का जन्म स्थान और अदिति की योनि है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सत्य है कि दीप्ति एवं चेतना के रूप में देवता प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। देवता की किसी भी विभूति की उपासना करें इसका पर्यवसान आदित्य द्योतना में होता है, देवता आदित्य या अदिति के पुत्र हैं, अतः देवत्व की प्राप्ति परम ज्योतिः की प्राप्ति है, दुर्गा के मध्यम चरित्र में उपलब्ध ज्योतिःस्वरूपा देवी के चरित्र की तुलना करें।

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥ (दुर्गा० २।१२)

देवता का स्वरूप—

शक्ति की कोई भी उपासना ज्योतिः की उपासना से अतिरिक्त नहीं है। इतना सत्य है कि वैदिक साधना में मूर्ति की प्रधानता नहीं है। संहिता में देवता का अमर अर्थात् अमूर्त या चिन्मय स्वरूप स्पष्ट है। 'ये स्थानिचेतारो अमुराः"(ऋ० १०।६१।२७) देवता के अमुर होने पर भी वह अरूप या निराकार नहीं है।

निरुक्त के सप्तम अध्याय में देवता के आकार के विषय में विचार किया गया है। देवता का आकार माना गया है। यह विचारणीय है कि देवता का आकार मनुष्य के समान है या नहीं ? सचेतन व्यक्तियों के समान उनकी स्तुति एवं आह्वान किया जाता है, मनुष्य के समान ही उनके अङ्ग, प्रत्यङ्ग और क्रियाकलापों का वर्णन मिलता है। अन्य पक्ष का कहना है कि, अग्नि, आदित्य, वायु आदि देवताओं का

आकार मनुष्य के समान नहीं है, मन्त्रों की वर्णना के अनुसार तो इनका आकार सचेतन प्राणी के समान ही है। देवता का स्वरूप अपुरुष के समान है। अपुरुष विधवादियों के मत में सचेतन या अचेतन जो कुछ भी देखा जाता है -- सभी देव स्वरूप हैं, अतः उनपर विग्रहवान् होने का आरोप समीचीन एवं प्रयोजनहीन है। पुरुष विधिवादी के मत में इन सबकी अधिष्ठातृ चेतना पुरुषाकार है। देवताओं का अधिभूत आकार और उसके स्वरूप के मध्य में एक भाव विग्रह माना गया है। किन्तु, उपासना के समय इसके विग्रह को मूर्त रूप देने की न तो आवश्यकता है न अनुभूति है। जैसे अग्नि की उपासना के समय प्रत्यक्ष अग्नि का अवलम्बन करते हैं, अपुरुष विधिवादी का अनुभव विशुद्ध चैतन्य है और पुरुषविधि अग्नि के पुरुष-विग्रह की भावना करते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष अग्नि की जगह अग्नि का अधिभूत विग्रह की स्थिति नहीं हैं। देवता को वस्तुतः अमूर या अमूर्त मानने पर भी यास्क ने दोनों दृष्टियों का समन्वय कर अध्यात्म चेतना के सम्पर्क में एक विशिष्ट ज्ञान की अवतारणा की है। जो इन्द्रिय ग्राह्य है, उसको उद्‌बुद्ध एवं उद्दीप्त चेतना अरूप में उत्तीर्ण होती है, तब वहाँ रूप का निराकरण देखता है और ऐसी स्थिति में तात्त्विक दर्शन होता है, भाव वस्तु में अवतीर्ण होता है और वस्तु के मध्य भाव की स्फूर्ति देखता है। मानव की देवापासना में पुरुष विधाता की छाप अपरिहार्य एवं अनिवार्य है। परम देवता को पुरुष शब्द से भी कहा गया है। पुरुष मनुष्य का ही आकार है। पुरुषसूक्त के आधार पर पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन जो शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध है, उसका द्रष्टा पुरुष नारायण और देवता आदित्य है। इस प्रसङ्ग में दो प्रकार के देवता का निर्देश मिलता है (१) कर्म-देव (२) आजान-देव। उत्कृष्ट कर्म से देवत्व की प्राप्ति करने वाला कर्म देवता है और सृष्टि की आदि में उत्पन्न आजानदेव है। यह कर्मदेव से श्रेष्ठ है। 'ये शतं कर्मदेवानाम् आनन्दाः स एक आजानदेवानाम् आनन्दः (बृ० ४।३।२) सूर्य आदि आजानदेव हैं। अन्यत्र कर्मदेव का गुणगान भी मिलता है। ये शतम् आजान-जानां देवानाम् आनन्दः स एको देवानाम् आनन्दः। (तै० उ० २।८) पुरुषसूक्त का द्रष्टा नारायण और देवता आदित्य है।

बृहदारण्यकोपनिषद् से ब्रह्म का दो रूप वर्णित है, मूर्त एवं अमूर्त; जो मूर्त है वह मर्त्य स्थावर एवं सत् है, जो अमूर्त है वह अमृत जङ्गम एवं त्यत् है। मूर्त का सार अधिदैवत दृष्टि से तपन या आदित्य है और अध्यातम दृष्टि से चक्षुः है, इसी प्रकार अमूर्त का सार अक्षि पुरुष और मूर्त का सार आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है। इस पुरुष का रूप विद्युत् रेखा, कमल एवं अग्नि-शिखा के समान है। अमूर्त की मूर्ति प्रत्यक्षदृष्ट आदित्य है। विश्लेषण से यह अवगत है कि आर्य देवोपासक थे, किन्तु मूर्ति या देवायतन नहीं थे। देवता को न मानने वाले के प्रति इनकी घृणा थी, अतः, अदेववादी वेद में श्रद्धास्पद नहीं थे।

वैदिक देवता का गुण और कर्म :—

अजर और अमृत यह देवता का प्रधान लक्षण है। मनुष्य के लिए भी परम पुरुषार्थ विजर और विमृत्यु होना है। जरा और मृत्यु प्रकृति का परिणाम है, देवता

इससे परे है, वह सत् या सत्य स्वरूप है। उसकी सत्यता से ब्रह्माण्ड के भूत भौतिक पदार्थ सत् है, इसीलिए वह सत्पति है। इस सत्य सत्ता में कालगति न होने से काल से अपरिच्छिन्न है, इसी की सूचना पतञ्जलि ने 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'' (यो० सू० १।१।२६) अनादि है, अतः काल से अवच्छिन्न न होने से वह सभी में श्रेष्ठ है। वह किसी के कारण नहीं अपि स्व से स्व का धारण-पोषण करता है, अतः स्वधावान् है। जरा, व्याधि और मृत्यु के जय के लिए सङ्कल्प लेकर बुद्ध ने घर का त्याग किया था, जरा के जय से जीवन के उल्लास का परिचय है। सूर्य की उपासना के मूल में विष्णु के परमपद से मृत्यु या अमृत चेतन का उत्स है। (ऋ. १।१०४।६) जिसकी महिमा से युवा अकुमार अर्थात् नित्यतरुण रहता है। (ऋ. १।१५५।६) ऋग्वेद में स्थाणु और जङ्गम में एक होकर रहने से असुर संज्ञा देव की मानी गई है, "महद् देवानाम् असुरत्वमेकम् (ऋ. ३।५५) प्रचेताः शब्द से देवता का व्यवहार करते हुए उसको चिन्मय अर्थात् उसकी आभा सर्वत्र परिव्याप्त है—इसकी सूचना दी गई है। हमलोगों की दृष्टि अचिति या अविवेक से आच्छन्न है—इसीलिए हमलोग नचिकेता हैं और देवता चिकित्वान हैं, सब देखते हैं और जानते हैं।

वेद में देवबहुत्व की अनायास ही प्रतीति होती है, किन्तु गुण और कर्म का विचार करने पर बहुत्व एकत्व की भावना पर स्थिर है। वृहदारण्यक उपनिषद् में देवता की संख्या की दृष्टि से शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य का विचार उपलब्ध होता है। याज्ञवल्क्य से शाकल्य ने जिज्ञासा की है कि देवता कितने हैं ? उत्तर में कहा तीन सौ, तीन हजार, और तीन। क्रमशः संख्या को कम करते हुए कहा देवता एक है। यह प्राण है, जिसको तत्त्ववेत्ता ब्रह्म या त्यत् कहते हैं। यह प्राण ब्रह्म ही विभिन्न लोक में अर्थात् मनो ज्योति में आलोकित चेतना की विभिन्न भूमि में अभिव्यक्त होता है—शरीर पुरुष, आदित्य पुरुष या छाया पुरुष। ये सभी अधिष्ठात्री देवता हैं। हृदय की प्रतिष्ठा पञ्चवृत्ति प्राण में है और प्राण की प्रतिष्ठा नेतिनेति के द्वारा सूचित असङ्ग आत्मा में है, ये विज्ञान, आनन्द, ब्रह्म है। (बृ. उ. ३।९) इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने एक देववाद (Monotheism) देववाद पराक् (Objective) दृष्टि से इष्टज्ञेय है और ज्ञान के इष्ट होने पर प्रत्यक् (Subjective) अनुभव स्वरूप हैं। इसीको याज्ञवल्क्य ने त्यत् कहा है। इसीलिए दुर्गा सप्तशती के दशम अध्याय में—

"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥ (१०)

गीता में भी एकदेववाद का समर्थन विभूति के रूप में किया गया है। बौद्धों ने महाशून्य में हजारों देवों और देवियों की भीड़ कर दी है।

ईश्वर की सर्वात्मकता का प्रदर्शन करते हुए वेद में लिखा गया है—तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो, तुम कुमारी हो, दण्डधारी विचरणशील वृद्ध, तुम अनन्त मूर्ति में प्रकाशमान हो अर्थात् नानामूर्ति में जन्म-ग्रहण करते हो।

त्वं स्त्री त्वं पुमनासि
त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि
त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः। (अथर्व. सं. १०।८।१७-२६)

देवता की प्रकाशरूपता का विवरण प्रस्तुत करते हुए वेद में लिखा गया है कि सूर्यरश्मि के समान स्वयं प्रकाश चैतन्य पदार्थ है। यह स्वप्रकाश चैतन्य ही भूत भौतिक रूप जगत् में सर्वत्र परिव्याप्त है। यह स्वप्रकाश चैतन्य ही परमात्मा है, जो ब्रह्माण्ड में तिर्यक् भाव से परिव्याप्त है। यह जागतिक वस्तुओं के अधोभाग में अवस्थित है ? या उपरिभाग में अवस्थित है ? मन्त्र में 'स्वित्' शब्द का दो बार प्रयोग होने से इन दो विकल्पों की सूचना है।

स्वयं प्रकाश चैतन्य सभी वस्तुओं के मध्य में वस्त्र के वृहत् तन्तु के समान परिव्याप्त है। किसी वस्तु के अधोभाग में चिद्वस्तु विद्यमान है और ऊपर के भाग में भी चिद्वस्तु की अवस्थिति है, यह चैतन्य केवल मध्य भाग में ही है ऐसी बात नहीं है। मृत्तिका जिस प्रकार घट में सर्वत्र अनुस्यूत है उसी प्रकार उपादान की उपादेय में सर्वत्र परिव्याप्ति है। अतः, चैतन्य उपादान एवं उपादेय में सर्वत्र परिव्याप्त है।

सभी भूतभौतिक पदार्थ वितत सूर्य की रश्मि के समान स्वप्रकाश चैतन्य तेज का धारक है। चिदेकरस वस्तु का सद्रूप ही सार है। चित् को सद्रूप न मानने पर बन्ध्या-पुत्र के समान यह असत् होगा, अतः चिदेकरस वस्तु का सार सद्रूप है। सभी जगत् में इसी की परिव्याप्ति के कारण सद्रूप में भासमान है। जिस वस्तु का अस्तित्व है, उसको महानता के विषय में क्या कहना है ? इस मन्त्र में "स्वधा" शब्द कहा गया है, यह स्वधा ही पारमेश्वरी शक्ति है। यह शक्ति और परमात्मा दोनों ही जगत् के कारण हैं।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा-
मधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमा न आसनत्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ (ऋ. ८।७।१७६)

भारतवर्ष में विभिन्न उपासक सम्प्रदाय विभिन्न रूप में उपासना में रत हैं। कोई पिता रूप में, कोई बन्धु रूप में, कोई सम्प्रदाय सखा, कोई सम्प्रदाय माता के रूप में, कोई माता-पिता उभय रूप में उपासना करता है, किन्तु विभिन्न रूप में उपासना करने पर भी विरोध को सम्भावना नहीं है, ये विभिन्न उपासनाएँ भारत की देन हैं। उपासकों में परस्पर विभेद की दृष्टि से सम्प्रदाय के द्वारा अपप्रयास करने पर भी इसकी अखण्डता एकता सुस्पष्ट है। स्वार्थ प्रणोदित नीच व्यक्ति संप्रदाय के आधार पर विच्छेद और विद्वेष करने का प्रयास तो करते ही हैं। वेद-धारा के द्वारा प्लावित पवित्रीकृत भारत ईश्वर की धारणा के लिए अन्यत्र मधुकरी करने को आवश्यकता का अनुभव नहीं करता है। भारतीय ईश्वरत्व संकुचित रूप में अवस्थित नहीं है।

उतैषां पिता उत वा पुत्र एषामु उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ (अथ. १०।२३।४-२९।)

ईश्वर का एकत्व :—

देवी, देवताओं के एकत्व की चर्चा से सामान्य लोगों की यह धारणा है कि ईश्वर का बहुत्व माना गया है। ईश्वर सृष्ट जीव, मनुष्य और देवता की अनेकता ईश्वर के अनेकत्व का कारण नहीं है, देव-देवियाँ ही जब अनेक नहीं हैं, तब ईश्वर के अनेकत्व का प्रश्न ही कहाँ उठता है। ईश्वर के समान कोई नहीं है, अतः ईश्वर सर्वातिशायी एक है। वाजसनेयी यजुःसंहिता में कहा है—

"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः"। (यजु. ३२ अ.)

महीधर ने अपने भाष्य में कहा है "यस्य पुरुषस्य प्रतिभा प्रतिमानम्—उपमानं किञ्चिद्वस्तु नास्ति, अत एव नाम प्रसिद्धं महद् यशः यस्यास्ति सर्वातिरिक्तयशाः इत्यर्थः (१।३२।३) जिस प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि है, उसी प्रमाण से इसका एकत्व भी सिद्ध है। एकत्व की सिद्धि के विना ईश्वर की सिद्धि ही सम्भव नहीं है। किसी एक कार्य के विरुद्ध इच्छा-सम्पन्न दो ईश्वर के रहने पर किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। यदि किसी भी ईश्वर की इच्छा प्रतिहत होगी तो वह अनीश्वर होगा। दो में एक के अनुसार कार्य होगा, अतः, जिसके अनुसार कार्य नहीं होगा वह अनीश्वर हो जायगा। (न्या. सू. ४।१।२१)

पातञ्जल सूत्र के व्यासभाष्य में कहा है—'तञ्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्, न तावद् ऐश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात् त देव तत्स्यात्। तस्माद् यत्र काष्ठा प्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति·······तस्माद् यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः (पा. सू. व्या. भा. १।२४)

वाचस्पति ने कहा है कि अनेक ईश्वर मानने पर कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ईश्वर में रागद्वेष न होने कारण ये विरुद्ध इच्छा सम्पन्न नहीं हो सकते हैं। इस विषय में यह विचारणीय है कि विरुद्ध इच्छा न होने पर एक ईश्वर की इच्छा से ही कार्य हो सकता है, अतः अन्य ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही नहीं है। इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि कोई भी ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि, परिषद् सभ्यों के द्वारा एकमत होकर कार्य करने पर उस कार्य में किसी एक का कर्तृत्व नहीं रहता है, ऐसी स्थिति में परिषद् के सभ्य के समान एक भी ईश्वर नहीं रहेगा। अनेक ईश्वर के रहने पर भी वे एक साथ कार्य नहीं करते हैं, क्रमिक रूप में सभी ईश्वर कार्य करते हैं—यह कथन भी ठीक नहीं है। ईश्वर का एश्वर्य नित्य है, नित्य ईशना रहने पर क्रमिक कार्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती है। नित्य ईशना आज कार्य करेगी और दूसरे दिन कार्य नहीं करेगी—यह सम्भव नहीं है। ईशना रहने पर कार्य न करने पर ईशना ही नहीं रहेगी। अतः पूर्वोक्त वैदिक निर्णय के अनुसार ईश्वर एक ही है।

ईश्वर की कारुणिकता :—

न्यायसूत्र में वात्स्यायन ने कहा है कि वेद-शास्त्र का प्रामाण्य आप्त प्रमाण मूलक है। आप्त के प्रामाण्य का क्या कारण है? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है कि

आप्त व्यक्ति जिस विषय का उपदेश करता है, उस विषय का उसे साक्षात्कार रहता है। सुदृढ़ प्रमाण के द्वारा वह आप्तकर्तृकत्व निश्चित होता है। आप्तपुरुषों की प्राणियों के प्रति दया होने के कारण एवं साक्षात्कार किये गये यथार्थ वस्तुओं के प्रतिपादन करने की इच्छा भी उनमें रहती है—इन तीन विशेषणों से विशिष्ट पुरुष ही आप्त होता है। वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रिय की पटुता को भी चतुर्थ विशेषण के रूप में सन्निविष्ट किया है। शरीर भुवन आदि का निर्माता पुरुष सभी वस्तुओं के तत्त्व का ज्ञाता सर्वज्ञ होता है। स्वभावतः वह क्लेश कर्म-विपाक एवं आशय-वासना से रहित होता है। ऐसे ईश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश से रहित होता है, अर्थात् इन पाँच प्रकार के क्लेशों से वह रहित है, पाप-पुण्य कर्म नहीं रहते हैं। कर्म का फल जन्म आयु और भोग एवं भोगानुकूल वासना संस्कार भी नहीं रहते हैं, साथ ही वह अतिशय कारुणिक है। सामान्य प्राणी अनेक दुःखों से सन्तप्त रहते हैं, अपने हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के उपाय को वे नहीं जानते हैं, इस कारण से वे करुणा से परिव्याप्त रहते हैं। राग और द्वेष से परिपूर्ण व्यक्ति को अन्य की अज्ञता और दुःख को देखकर करुणा नहीं होती है। रागद्वेषशून्य व्यक्ति को अज्ञ और दुःखी को देखकर सन्ताप होना स्वाभाविक है। ईश्वर प्राणियों की हित प्राप्ति और अहित परिहार के साधनों को जानता है, अतः, उपदेश किये बिना नहीं रह सकता है और अयथार्थ उपदेश भी नहीं कर सकता है। इसलिये परम कारुणिक परमेश्वर पृथिवी आदि की सृष्टि कर उनके हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के उपायों का भी उपदेश करता है। सन्ततियों के प्रति माता, पिता, सखा, बन्धु के रूप में परमेश्वर की करुणा स्वभाविक है। साहित्य दर्पण में इसी दृष्टि से कहा है—स्थायि-वत्सलता स्नेहः पुत्रास्त्वालम्वनं मतम्" (सा० द० ३।२५१) स्नेह ही वात्सल्यरस का स्थायिभाव है। ईश्वर का कारुण्य और उनके उपासकों के प्रति उपास्य का स्नेह वात्सल्य पूर्वोक्त ऋग्वेद के मन्त्रों से ही सुस्पष्ट है। पिता, माता के रूप में अराध्य होने के कारण ही उनमें निरतिशय कारुण्य मानना उचित है।

ईश्वर में करुणा मानने पर मीमांसकों की आपत्ति :—

मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते हैं, अतः, करुणा का प्रश्न ही नहीं उठता है। ईश्वर आप्तकाम है, अतः, उसके लिए प्राप्त करने योग्य कोई वस्तु नहीं है, सभी वस्तु प्राप्त रहने के कारण प्राप्तव्य किसी वस्तु को अभिलाषा सम्भव नहीं है। लीला और क्रीडा ईश्वर का स्वभाव होने से लीला विस्तार के लिए सृष्टि यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि लीला से अप्राप्त किसी सुख के लाभ की सम्भावना न होने से क्रीड़ा भी सङ्गत नहीं है। करुणा के कारण सृष्टि विस्तार भी समीचीन नहीं है। करुणा के कारण जगत् की सृष्टि मानने पर दुःखमय सृष्टि नहीं होती यह मानने पर की स्वेच्छा प्रेरित सृष्टि नहीं है, प्राणियों के धर्म और अधर्म की अपेक्षा कर सृष्टि होने से इनका अधर्म ही दुःख बहुल सृष्टि का कारण है। यह सत्य है कि अधर्म दुःख का साधन है, किन्तु, अचेतन अधर्म ईश्वर से अधिष्ठित हुए बिना दुःख का साधन नहीं हो सकता है। कारुणिक ईश्वर को दुःख का अधिष्ठाता होना उचित नहीं है। जीव को संसार से

वैराग्य उत्पन्न होने के लिए दुःख का अनुभव भी आवश्यक है। अधर्म का अधिष्ठाता होने पर ईश्वर का कारुण्य समाप्त नहीं होता है। प्रत्युत दुःखमय सृष्टि से ईश्वर का कारुण्य ही समर्थित होता है। यह व्याख्या तो पङ्क में पैर डालकर पुनः उनके धोकर साफ करने के समान है। कारुणिक ईश्वर को जीव के लिए दुःख की उत्पत्ति से विमुख रहना ही उचित है। अधर्म का अधिष्ठाता न होने पर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग अनायास ही सुलभ होगा।

इन आपत्तियों के समाधान में आचार्यों ने कहा है कि, 'ईश्वर की अतिशयित महिमा रहने पर भी अनित्य धर्म और अधर्म ईश्वर की महिमा से कभी भी नित्य नहीं हो सकते हैं। धर्म और फल की उत्पत्ति कराये विना विनष्ट नहीं होते हैं। धर्म का सुख की उत्पत्ति-सामर्थ्य-संपन्न और अधर्म दुःख की उत्पत्तिसामर्थ्यसंपन्न है, ईश्वर इनको अन्यथा नहीं कर सकता है और फल प्रदान के बिना विनिष्ट भी नहीं हो सकता है। फल प्रदान से पूर्व अधर्म का विनाश ईश्वर नहीं कर सकता है। अतः कारुणिक होने से इनका विरोध नहीं है। जीव के कर्मों की अपेक्षा के विना ही जगत् की सृष्टि मानी जाय तो जीव का शरीर-लाभ आदि आकस्मिक हो जायेगा। ईश्वर का कार्य कर्म-निरपेक्ष मानने पर ही कारुण्य के मानने में आपत्ति हो सकती है। गौडपाद ने भी कहा है 'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' (आ० प्र० ९)।

आदि मानव की आदि देवता शक्ति ही है। आर्यों के मध्य आरम्भ से ही शक्ति की साधना प्रचलित है। मातृत्व का निर्देश ऋग्वेद में देवमाताओं के रूप में अदिति से उपलब्ध है। ब्रह्ममयी अखण्डात्मिका महाशक्ति-स्वरूप-अदिति की आराधना ही शक्ति-धारा का मूल उत्स है यह श्रौत रूप अदिति ही काली, दुर्गा आदि ज्योतिःरूप सर्वदेव स्वरूपिणी शक्ति है। दुर्गा के पञ्चम अध्याय की देव-स्तुति श्रौत अदिति का ही विवरण है। इस अखण्डित अबन्धना सर्वव्यापिनो आद्याशक्ति का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—

अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
(ऋ० १।६९।१०)

तन्त्र में उपलब्ध अनेक धारणाओं की सूचना वेद में मिलती है। शाक्त-तन्त्र के वर्णित आचारों का मूल तत्त्व अथर्ववेद में उपलब्ध होता है। शाक्त धर्म सनातन होने पर भी बौद्धों एवं तिब्बत की अनेक परम्परायें इसमें अपना विसर्जन कर चुकी हैं। रात्रिसूक्त और देवीसूक्त में महाशक्ति भावमयी मूर्ति का स्पष्ट निर्देश मिलता है। अदिति और वाक् एक हो गई, वाक् और सरस्वती एक हो गई। वैदिक रणदेवी सरस्वती में दुर्गा का आभास मिलता है। मूल वैदिक सोम है, वह पार्वती उमा के रूप में पर्वत पुत्री के रूप में उपलब्ध है। सोऽहं और साऽहं के रूप में अद्वैतवाद ही तन्त्रावलम्बित चिन्मयी भावमूर्ति का मूलाधार है। इस चिन्मय तत्त्व जिसे संवित् शब्द से अन्तःज्ञान के लिए प्रयोग हुआ है, इसी वैदिक संवित् तत्त्व का विश्लेषण और साधना तन्त्रशास्त्र है।

वेद के मन्त्रों के साथ क्रिया काण्ड का योग अतिशय गम्भीर है। यह स्पष्ट एवं सत्य है कि ज्ञान और कर्म के साथ वैदिक युग में किसी प्रकार का भेद नहीं था। तन्त्र के विस्तार एवं अनेक क्रियाकाण्डों के मधुर-मिश्रण के साथ ही कर्म और ज्ञान के मध्य एक दीवाल खड़ी हो गई। गीता में द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान की श्रेष्ठता एवं सभो की ज्ञान में परिसमाप्ति का यही रहस्य है। आत्मा का लोकोत्तर चिन्मय भूमि में अवतीर्ण करना ही प्रधान लक्ष्य है। यह चिन्मयभूमि ही कर्मकाण्ड का स्वर्ग जिसकी प्राचीन संज्ञा स्वः अर्थात् ज्योतिर्मय अनुभव है। स्वर्ग और मोक्ष ये दो परस्पर विरुद्ध भावनायें नहीं हैं। तन्त्र इसी मन्त्र की विपुल या समन्वय भूमि है—जहाँ अन्तःप्रकाश स्वरूप संवित् है। जिसकी मूलभूमि देववाद है, इसकी प्रतिष्ठा श्रद्धा पर है, जो मानवचित्त की मौलिक वृत्ति है। जिसका मूलाधार आवेश है। इसी के साथ मानव चित्त की एक वृत्ति है, जिसे ऊह या तर्क कहा जाता है, तर्क के मूल में जिज्ञासा है और इसकी परिणति आत्मवाद में है। देवता भी अतीन्द्रिय ज्योतिर्मय है और आत्मा भी अतीन्द्रिय ज्योतिर्मय है। आत्मवीर्यके बल से चेतना की चरमभूमि में आगमन सत्य है। एक तर्क और जिज्ञासा को आधार बनाकर चलते हैं और अन्य हृदय के आवेग बोधिग्राह्य के द्वारा स्वरूप संवित् का प्रकाश प्राप्त करते हैं। इनकी प्राप्ति का साधन श्रद्धा है। वेद हो या तन्त्र इन दोनों की अपौरुषेयता शास्त्र में वर्णित है। वैदिक हो या तान्त्रिक एक देववाद जो अखण्ड और निर्गुण निराकार है यहाँ पर्यवसान करते हैं, बहुदेववाद का इसके साथ किसो प्रकार का विरोध नहीं है। अखण्डदर्शी के लिए अखण्ड सत्ता में ईश्वर और जगत् का विरोध सर्वथा अखण्ड चेतना की आत्मदृष्टि या विश्वात्मिका संवित् में विश्रान्ति लाभ करता है। एकदेववादी शङ्कर दूसरी ओर अभिनव बहुदेववादी भी हैं। एकदेववाद और बहुदेववाद निर्विवाद संवित् या ज्योति में पर्यवसित है। "संविदेव ही भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्" परा और अपरा विद्या शब्द वैखरी है चेतना या संवित् के स्वोत्तरण में देवता एक उपलक्षणमात्र है। चिति शक्ति के द्वारा जडशक्ति को अधीन करने की चेष्टा ही तन्त्र, मन्त्र, विज्ञान है। जड के अनुभव को सूक्ष्म चैतन्य की भूमि में उत्तीर्ण करना एवं उसको वश में लाने की चेष्टा करना ही एकमात्र लक्ष्य है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया इनमें ज्ञान संवित् या प्रकाश है, इच्छा शक्ति मन के ऊपर अवस्थित सङ्कल्प है और जड के ऊपर क्रिया शक्ति है, इनको चित् की सूक्ष्म शक्ति की सहायता से जडशक्ति को प्रभावित कर सकते हैं—या नहीं इसी के लिए ऊह और श्रद्धा का विकास चल रहा है। अध्यात्म चेतना शक्ति की व्याप्ति से व्यक्ति में अलौकिक शक्ति का आविर्भाव होता है यह शक्ति का आविर्भाव सर्वत्र अनुस्यूत रहता है।

पूर्वोक्त विवरण से श्रद्धा और आवेश के आधार पर क्रिया का सम्पादन भी आर्यभावना या तान्त्रिक उपासना है। उपास्य सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता के सम्पादन करने के लिए ही श्री शङ्कराचार्य ने प्रपञ्चसार नामक आगम ग्रन्थ किया है, जिसकी पद्मपादाचार्य ने व्याख्या की है। इसी प्रपञ्चसार को मूलाधार मानकर आचार्य लक्ष्मणदेशिक ने **शारदातिलक** नामक संग्रह ग्रन्थ की रचना की है। इसकी व्याख्या राघवभट्ट ने इसे परममान्य मानकर किया है, ऐसा आपाततः प्रतीत

होता है कि उपासना को ये लोग नहीं मानते हैं। यद्यपि कतिपय आचार्यों ने इस ग्रन्थ को आचार्य शङ्कर की रचना नहीं मानते हैं। किन्तु अमलानन्द ने प्रपञ्चसार को भगवत्पाद की रचना मानी है। वेद एवं ब्रह्मसूत्र भी उपासना के विचार से परिपूर्ण है। अतः अद्वैतवाद उपासना का विरोधी नहीं है। यदि उपासना अद्वैतवाद का विरोधी होता तो आगमाचार्य अद्वैतवाद प्रतिपादन व्यर्थ हो जाता।

वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

त्रिपुरारहस्य में इसी आशय की अभिव्यक्ति है—

च सृष्टिर्नापि संहारो न स्थितिर्नापि च क्रमः।
चिदानन्दघनं चेत्थमात्मतत्त्वं प्रकाशते॥
(त्रिपुरार० ज्ञा० का० ता० दी० १४।६०)

कल्पतरुकार की पूर्व उक्ति से उपासना का रहस्य स्पष्ट हो रहा है। मैंने त्रिपुरारहस्य का भी वचन उद्धृत किया है—उससे आत्माद्वैत की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही है। वस्तुतः पुराणशास्त्र ब्रह्मकाण्ड नहीं है वरन् उपासनाकाण्ड है। प्रसङ्ग प्राप्त ब्रह्मचर्चा उपासना काण्ड में होने पर भी उपास्य ब्रह्म सगुण ही है और वही मुख्यतः इसका प्रधान प्रतिपाद्य है। किन्तु सगुणशास्त्र का प्रतिपादक शास्त्र निर्गुणशास्त्र का विरोधी नहीं होता। सगुण तत्त्व के बोध के विना निर्गुण तत्त्व का बोध नहीं हो सकता है।

पुराणशास्त्र को स्मृति प्रस्थान के अन्तर्गत माना है। श्रुति प्रस्थान के अन्तर्गत नहीं माना है, अतः, पुराणशास्त्र का मूल श्रुति प्रस्थान ही है, श्रुति विरोधी पुराणशास्त्र प्रमाण नहीं है। शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने कहा है अन्य स्मृतिशास्त्र श्रुतिमूलक होने से उसके अर्थ के प्रतिपादक के रूप में उनका प्रामाण्य सुप्रसिद्ध है, इस पुराणशास्त्र का प्रामाण्य कैसे वेदमूलक माना गया है—यह शङ्का कर समाधान में कहा है। उपक्रम और उपसंहार अपनी लीलारूपी अनिर्वाच्य अनादि अविधा की सहायता से परमानन्दस्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव पर ब्रह्म ने ही सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि की है। उपासना काण्ड ही क्रियात्मक रूप में पुराण शास्त्रात्मक है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण के एकसौ ग्यारहवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

पृषध्राख्यो मनोः पुत्रो मृगव्यामगमद्वनम् ।
तत्र चङ्क्रममाणोऽसौ विपिने निर्जने वने ॥१॥

नाससाद मृगं कश्चिद्भानुदीधितितापितः ।
क्षुत्तृट्तापपरीताङ्ग इतश्चेतश्च चङ्क्रमन् ॥२॥

स ददर्श तदा तत्र होमधेनुं मनोहराम् ।
स्वाध्यायिनो वनान्तस्य ब्राह्मणस्याग्निहोत्रिणः ॥३॥

स मन्यमानो गवयमिषुणा तामताडयत् ।
पपात साऽपि तद्बाणविभिन्नहृदया भुवि ॥४॥

ततोऽग्निहोत्रिणः पुत्रो ब्रह्मचारी तपोरतिः ।
शप्तवान् स पितुर्दृष्ट्वा होमधेनुं निपातिताम् ॥५॥

गोपालः प्रेषितः पुत्रो वाभ्रव्यो नाम नामतः ।
कोपामर्षपराधीनचित्तवृत्तिस्ततो मुने ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

मनु का पृषध्र नाम का पुत्र किसी समय मृगया के लिए वन गया था। उस निर्जन वन में इधर-उधर घूमता रहा किन्तु कोई मृग उसे प्राप्त नही हुआ, सूर्य-किरण से सन्तप्त, भूख प्यास से पीड़ित हो इधर-उधर घूमते हुए, किसी अग्निहोत्री ब्राह्मण की कभी-भी जिसका बन्धन नहीं किया गया था, उस मनोहर होमधेनु को देखा ॥ १-३ ॥

उसने उसको गवय = नीलगाय समझ कर बाण का प्रहार किया, बाण से विदीर्ण हृदया वह गाय पृथिवी पर गिर पड़ी ॥ ४ ॥

हे मुने ! गाय की रक्षा के लिए नियुक्त तपस्या में अनुरक्त वाभ्रव्य नामक अग्निहोत्री का ब्रह्मचारी पुत्र, पिताकी होमधेनु को गिरी हुई देखकर असह्य क्रोध के आवेश से अर्थात् क्रोध के कारण उसकी मनोवृत्ति क्षुब्ध हो गई, उसके शरीर से पसीने बहने लगे, अश्रुपूर्ण चञ्चल नेत्र से उसने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया ॥ ५-६ ॥

चुकोप विगलत्स्वेदजललोलाविलेक्षणः ।
तं क्रुद्धं प्रेक्ष्य स नृपः पृषध्रो मुनिदारकम् ॥७॥
प्रसीदेति जगौ कस्मात् शूद्रवत् कुरुषे रुषम् ।
न क्षत्रियं न वा वैश्यमेवं क्रोधमुपैति वै ।
यथा त्वं शूद्रवज्जातो विशिष्टे ब्राह्मणः कुले ॥८॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति निर्भत्सितस्तेन स राज्ञा मौलिनः सुतः ।
शशाप तं दुरात्मानं शूद्र एव भविष्यति ॥९॥
प्रयास्यति क्षयं ब्रह्म यत् तेऽधीतं गुरोर्मुखात् ।
होमधेनुर्मम गुरोर्यदियं हिंसिता त्वया ॥१०॥
एवं शप्तो नृपः क्रुद्धस्तच्छापपरिपीडितः ।
प्रतिशापपरो विप्र तोयं जग्राह पाणिना ॥११॥
सोऽपि राज्ञो विनाशाय कोपञ्चक्रे द्विजोत्तमः ।
तमभ्येत्य त्वरायुक्तो वारयामास वै पिता ॥१२॥
वत्सालमलमत्यर्थं कोपेनायातिवैरिणा ।
ऐहिकामुष्मिकहितः शम एव द्विजन्मनाम् ॥१३॥

उस स्वेद जलकण युक्त उस राजा ने उस क्रुद्ध मुनिकुमार को देखकर कहा—प्रसन्न हो, शुद्र के समान क्यों क्रोध कर रहे हो। क्षत्रिय या वैश्य ही इस प्रकार क्रोध के अधीन नहीं होता है, जिस तरह विशिष्ट ब्राह्मण-कुल में जन्म-ग्रहण कर आप शूद्र के समान आचरण कर रहे हैं ॥ ७-८ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

राजा के द्वारा इस प्रकार तिरस्कृत होकर अग्निहोत्री मौली ऋषि के पुत्र ने दुर्मति राजा को यह शाप दिया कि तुम शूद्र ही हो जाओ ॥ ९ ॥

मेरे गुरु अर्थात् पिता की इस होमधेनु को तुमने मारा है, अतः तुमने जो गुरु के द्वारा ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त किया है, वह भी भूल जायगा ॥ १० ॥

हे विप्र ! इस प्रकार शप्त होने पर राजा उस शाप से अतिशय व्यथित हो क्रुद्ध हो कर मुनिकुमार को प्रति शाप देने के लिए हाथ में जल-ग्रहण किया ॥ ११ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! मुनिपुत्र भी राजा को विनष्ट करने के लिए क्रुद्ध हो गया, इसी समय उसके पिताने शीघ्रता से वहाँ आकर पुत्र को शाप प्रदान से निवृत्त किया ॥ १२ ॥

हे वत्स ! भविष्य के लिए अहितकर क्रोध का परित्याग करो, परित्याग करो, ब्राह्मणों के लिए शान्ति ही ऐहिक और पारलौकिक मङ्गल करने वाली होती है ॥१३॥

क्रोपस्तपो नाशयति क्रुद्धो भ्रश्यत्यथायुषः ।
क्रुद्धस्य गलते ज्ञानं क्रुद्धश्चार्थाच्च हीयते ॥१४।
न धर्मः क्रोधशीलस्य नार्थञ्चाप्नोति रोषणः ।
नालं सुखाय कामाप्तिः कोपेनाविष्टचेतसाम् ॥१५।
यदि राज्ञा हता धेनुरियं विज्ञानिना सता ।
युक्तमत्र दयां कर्तुमात्मनो हितबोधिना ॥१६।
अथ वाऽजानता धेनुरियं व्यापादिता मम ।
तत्कथं शापयोग्योऽयं दुष्टं नास्य मनो यतः ॥१७।
आत्मनो हितमन्विच्छन् बाधते योऽपरं नरः ।
कर्तव्या मूढविज्ञाने दया तत्र दयालुभिः ॥१८।
अज्ञानतः कृते दण्डं पातयन्ति बुधा यदि ।
बुधेभ्यस्तमहं मन्ये वरमज्ञानिनो नराः ॥१९।
नाद्य शापस्त्वया देयः पार्थिवस्यास्य पुत्रक ! ।
स्वकर्मणैव पतिता गौरेषा दुःखमृत्युना ॥२०।

कोप तपस्या का विनाश करता है, क्रुद्ध होने पर आयु का क्षय होता है, ज्ञान का नाश होता है, और अर्थ की कमी होती है ॥ १४ ॥

धर्म और अर्थ क्रोधी व्यक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं, कोपाविष्ट व्यक्ति का काम भी सुख प्रदान में समर्थ नहीं होता है ॥ १५ ॥

यदि राजा ने ज्ञानपूर्वक इस धेनु की हत्या की है, तब भी अपने हित का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को दया करना ही समीचीन है ॥ १६ ॥

यदि इसने न जानकर मेरी इस धेनु को मारा है, ऐसी स्थिति में इसका मन दुष्ट न होने से यह शाप के योग्य कैसे है ? ॥ १७ ॥

अपने हित की कामना करता हुआ जो व्यक्ति दूसरे को कष्ट देता है, उस मूढ़-बुद्धि मानव के प्रति भी दयालुओं के द्वारा दया ही करनी चाहिए ॥ १८ ॥

अज्ञानवश अपराध करने पर भी विद्वान् यदि उस को दण्ड प्रदान करते हैं तो उस अज्ञानी व्यक्ति को उस ज्ञानी व्यक्ति से मैं अच्छा मानता हूँ ॥ १९ ॥

हे पुत्र ! तुम राजा को अभिशाप प्रदान मत करो, यह गौ अपने ही कर्म से मृत्यु को प्राप्त किया है ॥ २० ॥

मार्कण्डेय उवाच—

पृषध्रोऽपि मुनेः पुत्रं प्रणम्यानम्रकन्धरः ।
प्रसीदेति जगादोच्चैरज्ञानाद् घातितेति च ॥२१॥
मया गवयबुद्ध्या गौरवध्या घातिता मुने ।
अज्ञानाद्धोमधेनुस्ते प्रसीद त्वञ्च नो मुने ! ॥२२॥

ऋषिपुत्र उवाच—

आजन्मनो महीपाल न मया व्याहृतं मृषा ।
क्रोधश्चाद्य महाभाग नान्यथा मे कदाचन ॥२३॥
तन्नाहमेनं शक्नोमि शापं कर्तुं नृपान्यथा ।
यस्ते समुद्यतः शापो द्वितीयः स निर्वातितः ॥२४॥
इत्युक्तवन्तं तं बालमादाय स पिता ततः ।
जगाम स्वाश्रमं सोऽपि पृषध्रः शूद्रतामगात् ॥२५॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे पृषध्रोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

पृषध्र भी नतम स्तक हो मुनिपुत्र को प्रणाम कर उच्च स्वर में कहा, प्रसन्न हो, मैंने अनजाने में धेनु की हत्या की है ॥ २१ ॥

हे मुने ! मैंने गवय = नील गाय समझ कर ही आपकी इस अवध्य होमधेनु का वध किया है इसलिए आप हम पर प्रसन्न हों ॥ २२ ॥

ऋषिपुत्र ने कहा :—

हे पृथिवीपते ! मैंने जन्म से लेकर आज तक कभी मिथ्या भाषण नहीं किया है, अतः हे महाभाग ! मेरा यह क्रोध कभी-भी मिथ्या नहीं होगा ॥ २३ ॥

अत एव हे नृप ! प्रदत्त शाप को मैं अन्यथा नहीं कर सकता हूँ। किन्तु, दूसरा शाप देने के लिए जो उद्यत हुआ था उसे निवृत्त करता हूँ ॥ २४ ॥

अनन्तर बालक के इस प्रकार कहने पर उसके पिता उसे अपने आश्रम में ले गये और उस पृषध्र ने शूद्रत्व को प्राप्त किया ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण के पृषध्र उपाख्यान नामक एक सौ बारहवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ

नोट :—

इस अध्याय के तीसरे श्लोक में पाठ भेद है ।

प्रथम पंक्ति : "होमधेनुं वनोदरे"

द्वितीय पंक्ति :

"तावता न सम्बद्धां ब्राह्मणस्याग्निहोत्रिणः ।

एवं "लतान्तर्देहछिन्नार्द्धां" ये पाठ मिलते हैं ।



त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

कारुषाः क्षत्रियाः शूराः करुषस्याभवन् सुताः ।
ते तु सप्तशता वीरास्तेभ्यश्चान्ये सहस्रशः ।।१।
दिष्टपुत्रस्तु नाभागः स्थितः प्रथमयौवने ।
ददर्श वैश्यतनयामतीव सुमनोहराम् ।।२।
तस्यां स दृष्टमात्रायां मदनाक्षिप्तमानसः ।
बभूव भूपतनयो निःश्वासाक्षेपतत्परः ।।३।
तस्याः स गत्वा जनकं वव्रे तां वैश्यकन्यकाम् ।
ततोऽनङ्गपराधीनमनोवृत्तिं नृपात्मजम् ।।४।
तञ्चाह स पिता तस्या राजपुत्रं कृताञ्जलिः ।
बिभ्यत्तस्य पितुर्विप्र ! प्रश्रयावनतं वचः ।।५।
भवन्तो भूभुजो भृत्या वयं वः करदायकाः ।
कथं सम्बन्धमसमैरस्माभिरभिवाञ्छसि ।।६।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

महावीर कारुष क्षत्रिय नाम के करुष के अनेक पुत्र हुए, वे संख्या में सात सौ थे, इनके भी हजारों वीर पुत्र उत्पन्न हुए ।। १ ।।

दिष्ट-पुत्र नाभाग ने अपने प्रारम्भिक युवावस्थामें अतिशय सुन्दरी वैश्य की कन्या को देखा ।। २ ।।

उसको देखते ही राजपुत्र काम से अतिशय आविष्ट चित्त होकर दीर्घ निःश्वास का परित्याग करते हुए उसके पिता के पास गया और उस वैश्य-कन्या की याचना की । हे विप्र ! अनन्तर कामपराधीन मनोवृत्तिवाले उस राजपुत्र को देख कर उसके पिता महाराज दिष्ट के भय से डरा हुआ हाथ जोड़कर विनीत वाणी से कन्या के पिता ने कहा ।। ३-५।।

आप राजा हैं, हम कर प्रदान करने वाले भृत्य हैं, मुझ जैसे असमान व्यक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापन की अभिलाषा क्यों कर रहे हैं ।। ६ ।।

राजपुत्र उवाच—

साम्यं मानुषदेहस्य काममोहादिभिः कृतम् ।
तथापि काले तैरेव योज्यते मानुषं वपुः ॥७॥

तथैव चोपकाराय जायन्ते तस्य तान्यपि ।
अन्यानि चान्ये जीवन्ति भिन्नजातिमतां सताम् ॥८॥

तथान्यानप्ययोग्यानि योग्यतां यान्ति कालतः ।
योग्यान्ययोग्यतां यान्ति कालवश्या हि योग्यता ॥९॥

आप्याय्यते यच्छरीरमाहारादिभिरीप्सितैः ।
कालं ज्ञात्वा तथा भुक्तं तदेव परिशिष्यते ॥१०॥

इत्थं ममैषाभिमता तनया दीयतां त्वया ।
अन्यथा मच्छरीरस्य विपत्तिरुपलक्ष्यते ॥११॥

वैश्य उवाच—

परतन्त्रा वयं त्वञ्च परतन्त्रो महीभुजः ।
पित्रा तेनाभ्यनुज्ञातस्त्वं गृहाण ददाम्यहम् ॥१२॥

राजपुत्र ने कहा :—

काम, क्रोध, मोह आदि ने मानव के द्वारा शरीर की समता सम्पादित की है। फिर भी समय विशेष के अनुसार मानव-शरीर में उनकी योजना होती है ॥ ७ ॥

इसी प्रकार शरीर के उपकार के लिए वे उत्पन्न होते हैं, परस्पर विभिन्न जातियाँ होने पर भी सज्जनों के मध्य में परस्पर उपजीव्यता देखी जाती है, काल के अनुसार अयोग्य वस्तु भी योग्य हो जाती हैं और योग्य वस्तु भी अयोग्य हो जाती हैं, इस प्रकार योग्यता एकमात्र काल के अधीन है, (अर्थात् योग्यता और अयोग्यता का नियामक काल ही है।) आहार आदि अभीष्ट वस्तु से जो शरीर की अभिवृद्धि होती है, वह भी नहीं रहता है, समय का ज्ञान कर वैसा भोग किया जाता है, अतः, काल ही एकमात्र अवशिष्ट रहता है, अर्थात् काल के अधीन होकर यह तुम्हारी कन्या मुझे अभिमत हुई है, इसे मुझे सम्प्रदान करें, कन्यादान न करने पर मेरे शरीर का विनाश सम्भव है ॥ ८-११ ॥

वैश्य ने कहा :—

हम पराधीन हैं और तुम भी महाराज के अधीन होने से पराधीन हो, इसलिए पिता की आज्ञा प्राप्त करें, और कन्या का ग्रहण करें, मैं कन्या को देने को तैयार हूँ ॥ १२ ॥

राजपुत्र उवाच —

प्रष्टव्याः सर्वकार्येषु गुरवो गुरुवर्तिभिः ।
न त्वीदृशेष्वकार्येषु गुरूणां वाक्यगोचरः ॥१३॥
क्व मन्मथकथालापो गुरूणां श्रवणं कथम् ।
विरुद्धमेतदन्यत्र प्रष्टव्या गुरवो नृभिः ॥१४॥

वैश्य उवाच—

एवमेतत्स्मरालापस्तवायं पृच्छतो गुरुम् ।
अहं पृच्छामि नालापो मम कामकथाश्रयः ॥१५॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्तः सोऽभवन्मौनी राजपुत्रः स चापि तत् ।
तत्पित्रे सर्वमाचष्ट राजपुत्रस्य यन्मतम् ॥१६॥
ततस्तस्य पिता विप्रानृचीकादीन् द्विजोत्तमान् ।
प्रवेश्य राजपुत्रञ्च यथाख्यातं न्यवेदयत् ॥१७॥
निवेद्य च ततः प्राह मुनीनेवं व्यवस्थितम् ।
यत्कर्तव्यं तदादेष्टुमर्हन्ति द्विजसत्तमाः ॥१८॥

राजपुत्र ने कहा :—

गुरुजनों की आज्ञा के वशवर्ती व्यक्तियों के द्वारा सभी बातों के सम्बन्ध में उनसे आज्ञा लेना उचित है, किन्तु, इन विषयों में गुरुजनों से न पूछना ही उचित है, मदन-पीड़ा का प्रसङ्ग और गुरुजनों के कर्णगोचर करना यह कैसे संभव है, इनमें अतिशय विरोध है, अतः इनसे भिन्न विषयों में ही गुरुजनों की आज्ञा लेना उचित है ॥ १३-१४ ॥

वैश्य ने कहा :—

आप ने सत्य ही कहा है, गुरु की आज्ञा लेने में आपका कामालाप होगा, अतः, मैं इस विषय में जिज्ञासा करता हूँ, इसमें मेरा कामचर्चा सम्बन्धी आलाप नहीं होगा ॥ १५ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

वैश्य के द्वारा ऐसा कहने पर राजपुत्र मौन हो गया, वैश्य ने भी राजपुत्र को जो अभीष्ट विषय था उसे उसी रूप में राजा को निवेदित किया ॥ १६ ॥

इसके बाद राजा ने ऋचीक आदि श्रेष्ठ ब्राह्मणों और अपने पुत्र को बुलाकर सभी के सम्मुख इन विषयों को व्यक्त रूप से विचार करने के लिए प्रस्तुत किया ॥१७॥

हे विप्रवर ! निवेदन कर मुनियों से कहा, यही स्थिति है इस विषय में मेरे लिए क्या कर्तव्य है, आप यह आदेश करें ॥१८॥

ऋषय ऊचुः—

राजपुत्रानुरागस्ते यद्यस्यां वैश्यसन्ततौ ।
तदस्तु धर्म एवैष किन्तु न्यायक्रमेण सः ॥१९॥
मूर्द्धाभिषिक्ततनयापाणिग्राहोऽभवत्पुरा ।
भवत्वनन्तरञ्चेयं तव भार्या भविष्यति ॥२०॥
एवं न दोषो भवति तथेमामुपभुञ्जतः ।
अन्यथाऽभ्येति ते जातिरुत्कृष्टाबालिकां हरन् ॥२१॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्तस्तदपास्यैव वचस्तेषां महात्मनाम् ।
विनिष्क्रम्य गृहीत्वा तामुद्यतासिरथाब्रवीत् ॥२२॥
राक्षसेन विवाहेन मया वैश्यसुता हृता ।
यस्य सामर्थ्यमत्रास्ति स एतां मोचयत्विति ॥२३॥
ततः स वैश्यस्तां दृष्ट्वा गृहीतां तनयां द्रुतम् ।
त्राहीति पितरन्तस्य प्रययौ शरणं द्विज ! ॥२४॥
ततस्तस्य पिता क्रुद्ध आदिदेश बलं महत् ।
हन्यतां हन्यतां दुष्टो नाभागो धर्मदूषकः ॥२५॥

ऋषियों ने कहा :—

हे राजकुमार ! आप का इस वैश्य-कन्या के प्रति अनुराग है, तो यह धर्म ही है, किन्तु, न्याय के अनुसार ही यह कर्तव्य है ॥ १९ ॥

प्रथम आप मूर्धन्य अर्थात् क्षत्रिय की कन्या के साथ विवाह करें अनन्तर यह वैश्य की कन्या आपकी भार्या हो सकती है ॥ २० ॥

इस रीति से इस वैश्य-कन्या का उपभोग करने पर किसी प्रकार का दोष नहीं है, अन्यथा बालिका का हरण करने से उत्कृष्ट जाति से च्युत होना पड़ेगा ॥ २१ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

अनन्तर इस प्रकार उन महात्माओं के द्वारा कहने पर उनके वचनों को अस्वीकार कर, वहाँ से निकल कर उस कन्या को ग्रहणकर तलवार खींचकर बोला ॥ २२ ॥

राक्षस विवाह विधि के अनुसार इस वैश्य-कन्या को हरण किया है, जिसमें सामर्थ्य हो वह इसको मुक्त कराये ॥ २३ ॥

हे द्विज ! जब वैश्य ने पुत्री को राजपुत्र के द्वारा गृहीत देखकर अविलम्ब उसके पिता अर्थात् राजा की शरण में गया और मेरी रक्षा करें—यह निवेदन किया ॥२४॥

उसके पिता = राजा ने भी क्रुद्ध होकर "इस धर्मदूषक दुष्ट नाभाग का शीघ्र वध करो' यह सुविपुल सैनिकों को आदेश दिया ॥ २५ ॥

ततस्तद्युयुधे सैन्यं तेन भूभृत्सुतेन वै ।
कृतास्त्रेण तदास्त्रेण तत्प्राचुर्य्येण पातितम् ॥२६।
स श्रुत्वा निहतं सैन्यं राजपुत्रेण भूपतिः ।
स्वयमेव ययौ योद्धुं स्वसैन्यपरिवारितः ॥२७।
ततो युद्धमभूत्तस्य भूभुजः स्वसुतेन यत् ।
राजपुत्रेण शस्त्रास्त्रैस्तत्रातिशयितः पिता ॥२८।
ततोऽन्तरीक्षादागत्य परिव्राट् सहसा मुनिः ।
प्रत्युवाच महीपालं विरमस्वेति संयुगात् ॥२९।
त्वत्पुत्रस्य महाभाग ! विधर्मोऽयं महात्मनः ।
तवापि वैश्येन सह न युद्धं धर्मवन्नृप ! ॥३०।
ब्राह्मणो ब्राह्मणीपूर्वं कुर्वन्दारपरिग्रहम् ।
ब्राह्मण्यात्सर्ववर्णेषु न हानिमुपगच्छति ॥३१।
तथैव क्षत्रियसुतां क्षत्रियः पूर्वमुद्वहन् ।
इतरे च ततो राजंश्च्यवन्ते न स्वधर्मतः ॥३२।

सैनिकों ने (राजा का आदेश प्राप्त कर) राजपुत्र के साथ युद्ध आरम्भ कर दिया। अस्त्र-विद्या में निपुण राजपुत्र ने अस्त्रों से अधिकों को मार गिराया ॥२६॥

राजा ने पुत्र के द्वारा सैनिकों के विनाश को सुनकर अपनी सेना से परिवेष्टित होकर स्वयं युद्ध के लिए प्रस्थान किया ॥ २७ ॥

अनन्तर पिता का अपने पुत्र के साथ जो युद्ध हुआ, उसमें पुत्र ही अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा पिता का अतिक्रमण कर रहा था ॥ २८ ॥

इसी समय अन्तरिक्ष से परिव्राट् मुनि ने सहसा आकार राजा से कहा—युद्ध से विरत हो ॥ २९ ॥

महाभाग ! तुम्हारा महात्मा पुत्र विधर्मी हो गया है, अतः वैश्य के साथ तुम्हारा युद्ध धर्मसङ्गत नहीं है ॥ ३० ॥

ब्राह्मण प्रथम ब्राह्मणी के साथ पाणिग्रहण सम्पन्न कर यदि सभी वर्णों के साथ विवाह करता है; तब ब्राह्मणत्व से वह च्युत नहीं होता है ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार क्षत्रिय प्रथम क्षत्रिय पुत्री के साथ पाणिग्रहण कर अन्य वर्णों की कन्या के साथ विवाह करता है तो वह धर्म से च्युत नहीं होता है ॥ ३२ ॥

पूर्वं वैश्यस्तथा वैश्यां पश्चात् शूद्रकुलोद्भवाम् ।
न हीयते वैश्यकुलादयं न्यायः क्रमोदितः ॥३३॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः सवर्णाः पाणिसङ्ग्रहम् ।
अकृत्वान्यतरापाणेः पतन्ति नृप ! सङ्ग्रहात् ॥३४॥
यस्या यस्या हि हीनायाः कुरुते पाणिसंग्रहम् ।
अकृत्वा वर्णसंयोगं नोऽपि तद्वस्तुभाग्भवेत् ॥३५॥
सोऽयं वैश्यत्वमापन्नस्तव पुत्रः स मन्दधीः ।
नास्याधिकारो युद्धाय क्षत्रियेण त्वया सह ॥३६॥
वयमेतन्न जानीमः कारणं नृपनन्दन ! ।
यथाभविष्यतीदञ्च निवर्त्त रणकर्मतः ॥३७॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे नाभागचरित्रवर्णनं नाम त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११३॥

इसी प्रकार वैश्य भी प्रथम वैश्य की कन्या के साथ विवाहसम्पन्न कर शूद्र-कन्या के साथ विवाह करता है तो, वह वैश्यकुल से च्युत नहीं होता है—यही क्रमानुगत धर्मनीति की व्यवस्था है ॥ ३३ ॥

हे नृप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सवर्ण कन्या के साथ पाणिग्रहण के बिना यदि किसी अन्य कन्या के साथ पाणिग्रहण करता है तो जिस हीन जाति की कन्या के साथ विवाह करने पर वह अपनी जाति से च्युत हो जाता है एवं सवर्ण कन्या के साथ प्रथम विवाह न करने पर दायभाग का अधिकारी नहीं रहता है ॥ ३४-३५ ॥

इसलिए तुम्हारा यह मन्दमति पुत्र वैश्यत्व प्राप्त कर चुका है, आप क्षत्रिय हैं, आप के साथ इसे युद्ध करने का अधिकार नहीं है ॥ ३६ ॥

हे नृप ! जिस कारण से यह युद्ध हो सकता है, यह मैं नहीं जानता हूँ, अतः आप युद्ध से विरक्त हों। अर्थात् यह युद्ध किस धर्मनीति के आधार पर चल सकता है—यह मैं नहीं जानता हूँ, अतः, आप के लिए युद्ध से विरत होना ही कर्तव्य है ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेय पुराण का एक सौ तेरहवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कंण्डेय उवाच—

निवृत्तोऽसौ ततो भूपः संग्रामात्स्वसुतेन वै ।
उपयेमे च तां वैश्यतनयां सोऽपि तत्सुतः ।।१।
ततः स वैश्यतां प्राप्तः समुत्पत्याह पार्थिवम् ।
भूपाल ! यन्मया कार्य्यं तत् समादिश्यतां मम ।।२।

राजोवाच—

धर्माधिकरणे युक्ता बाभ्रव्याद्यास्तपस्विनः ।
यदस्य कर्म धर्माय तद्वदन्तु तथा चर ।।३।

मार्कंण्डेय उवाच—

ततस्ते मुनयस्तस्य पाशुपाल्यं तथा कृषिम् ।
वाणिज्यञ्च परं धर्ममाचचक्षुः सभासदः ।।४।
तथा च चक्रे स सुतस्तस्य राज्ञो यथोदितम् ।
तैर्धर्मवादिभिर्धर्मं च्युतस्य निजधर्मतः ।।५।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

परिव्राट् की आज्ञा के अनुसार राजापुत्र के साथ हो रहे युद्ध के निवृत्त हो गये, उसके पुत्र ने भी उस वैश्य कन्या के साथ विवाह किया ॥ १ ॥

इसके बाद वैश्यत्व को प्राप्त कर राजा के सम्मुख आकर कहा, पृथिवीपते ! इस समय मेरा क्या कर्त्तव्य है—इसका निर्देश करें ॥ २ ॥

राजा ने कहा—

बाभ्रव्यादि तपस्विगण धर्माधिकरण में नियुक्त हैं, वे धर्मानुकूल जिन कर्मों का आदेश करें, उसके अनुसार आचरण करो ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

अनन्तर सभा सदस्य मुनियों ने पशुपालन कृषि और वाणिज्य कर्मों को धर्मानुरूप कहकर उसके लिए आदेश दिया । उस राजा के पुत्र ने भी अपने धर्म से च्युत होकर राजा की आज्ञा के अनुसार उन धर्मवक्ताओं के द्वारा निर्दिष्ट कर्मों का ही अनुष्ठान किया ॥ ४-५ ॥

तस्य पुत्रस्ततो जातो नाम्ना ख्यातो भलन्दनः ।
स मात्रा प्रहितोऽगच्छद् गोपालो भव पुत्रक ! ॥६॥
मात्रा तथा नियुक्तोऽथ प्रणिपत्य स्वमातरम् ।
राजर्षिमगमन्नीपं हिमवत्पर्वताश्रयम् ॥७॥
तं समेत्य स जग्राह तस्य पादौ यथाविधि ।
प्रणिपत्याह चैवैनं राजर्षिं स भलन्दनः ॥८॥
आदिष्टो भगवन्मात्रा गोपालस्त्वं भवेति वै ।
मया च पालनीया क्ष्मा तस्या स्वीकरणं कथम् ॥९॥
मया हि गौः पालनीया सा यदा स्वीकृता भवेत् ।
आक्रान्ता बलवद्भिः सा दायादैः पृथिवी मम ॥१०॥
तां यथा प्राप्नुयां पृथ्वीं त्वत्प्रसादादहं विभो ! ।
तथाऽऽदिश करिष्यामि तवाज्ञां प्रणतोऽस्मि ते ॥११॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः सनीपो राजर्षिस्तस्मै निरवशेषतः ।
भलन्दाय ददौ ब्रह्मन्नस्त्रग्रामं महात्मने ॥१२॥

अनन्तर उसका उत्पन्न पुत्र जो भलन्दन नाम से ख्यात हुआ, उसे माता ने निर्देश किया, हे वत्स ! तुम गौ की रक्षा करो, इस माता की आज्ञा के अनुसार वह माता को प्रणाम कर हिमालय पर्वत पर निवास करने वाले नीप नामक राजर्षि के पास गया ॥ ६-७ ॥

उस राजर्षि के समीप आकर यथाविधि चरण-वन्दना कर प्रणिपातपूर्वक उस राजर्षि से भलन्दन ने कहा ॥ ८ ॥

भगवन् ! मेरी माता ने आदेश दिया है कि 'तुम गौ का पालन करो' पृथिवी पालन मुझे करना चाहिए, किन्तु उसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? क्योंकि मुझे गोपालन करना चाहिए—यह स्वीकार करने पर बलवान मेरे दायादों के द्वारा मेरी पृथिवी आक्रान्त हो जायगी, हे विभो ! आपके आशीर्वाद से पृथिवी को मैं प्राप्त कर सकूँ वह उपदेश बताएँ, मैं आपकी आज्ञा की पालन करूँगा—आपकी शरण में हूँ ॥ ९-११ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे ब्रह्मन् ! अनन्तर राजर्षि नीप ने उस महात्मा भलन्दन को अशेष अस्त्रविद्या का उपदेश दिया ॥ १२ ॥

प्राप्तास्त्रविद्यः स ययौ पितृव्यतनयान् द्विज ! ।
वसुरातादिकान् पुत्रानादिष्टः स महात्मना ॥१३।
अयाचत स राज्यार्द्धं पितृपैतामहोचितम् ।
ते चोचुर्वैश्यपुत्रस्त्वं कथं भोक्ष्यसि मेदिनीम् ॥१४।
ततस्तैर्युद्धमभवद्भलन्दस्यात्मवंशजैः ।
वसुरातादिभिः क्रुद्धैः कृतास्त्रस्यास्त्रवर्षिभिः ॥१५।
स जित्वा तानशेषांस्तु शस्त्रविक्षतसैनिकान् ।
जहार पृथिवीं तेषां धर्मयुद्धेन धर्मवित् ॥१६।
स निर्जितारिः सकलां पृथ्वीं राज्यं तथा पितुः ।
निवेदयामास ततस्तत्पिता जगृहे न च ।
प्रत्युवाच च तं पुत्रं भार्य्यायाः पुरतस्तदा ॥१७।

नाभाग उवाच--

भलन्द ! राज्यमेतत्ते क्रियतां पूर्वजैः कृतम् ॥१८।

राजोवाच---

अहं न कृतवान्राज्यं नासामर्थ्ययुतः पुरा ।
वैश्यतां तु पुरस्कृत्य तथैवाज्ञाकरः पितुः ॥१९।
कृत्वाऽप्रीतिं पितुरहं वैश्यकन्यापरिग्रहात् ।

हे द्विज ! भलन्दन निखिल अस्त्रविद्या को ग्रहण कर राजर्षि की आज्ञा प्राप्त कर पितृव्यपुत्र वसुरात आदि के पास गया और पिता-पितामह के राज्य का आधा अंश की प्रार्थना की, उन लोगों ने कहा, तुम वैश्य पुत्र हो, तुम पृथिवी का भोग कैसे करोगे ? ॥ १३-१४ ॥

अनन्तर अस्त्रविद्या से युक्त क्रुद्ध भलन्दन का अस्त्र की वर्षा करने वाले वसुरात आदि बान्धवों के साथ 'प्राप्तस्तु विद्यां स तदा पितृव्यतनयान्' इति (पाठ-भेद) युद्ध आरम्भ हुआ, भलन्दन धर्मयुद्ध में ही सभी सैनिकों को शस्त्र आहत कर पराजित किया तथा पृथिवी का हरण किया, अर्थात् अधिकार प्राप्त किया ॥ १५-१६ ॥

इस प्रकार शत्रु पर विजय प्राप्त कर समग्र पृथिवी का राज्य पिता को समर्पित किया, किन्तु उसके पिता ने उसे ग्रहण नहीं किया तथा पत्नी के समक्ष पुत्र को कहा ॥ १७ ॥

नाभाग ने कहा—

हे भलन्द ! पूर्वपुरुषों के द्वारा शासित इस राज्य का तुम्हीं उपभोग करो ।१८॥

राजा ने कहा—

मैंने जो राज्य नहीं किया वह राज्यपालन में असमर्थता नहीं थी । पूर्व में मैंने पिता के आज्ञाकारी होने पर भी उनकी असहमति रहने पर भी वैश्य कन्या से विवाह किया था, इसलिए वैश्यत्व प्राप्त होने से राज्यभोग का अधिकारी नहीं रह सका यदि

न पुण्यलोकभाग्राजा यावदाहूतसम्प्लवः ॥२०॥
उल्लङ्घ्याज्ञां पुनस्तस्य पालयामि महीं यदि ।
नास्ति मोक्षस्ततो नूनं मम कल्पशतैरपि ॥२१॥
न चापि युक्तं त्वद्बाहुर्निर्जितं मम मानिनः ।
राज्यं भोक्तुमनीहस्य दुर्बलस्येह कस्यचित् ॥२२॥
राज्यं कुरु स्वयं यावद्दायादेभ्यो विमुञ्च वा ।
ममाज्ञापालनं शस्तं पितुर्न क्षितिपालनम् ॥२३॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः प्रहस्य तद्भार्य्या सुप्रभा नाम भामिनी ।
प्रत्युवाच पतिं भूप ! गृह्यतां राज्यमूर्ज्जितम् ॥२४॥
न त्वं वैश्यो न चैवाहं जाता वैश्यकुले नृप ! ।
क्षत्रियस्त्वं तथैवाहं क्षत्रियाणां कुलोद्भवा ॥२५॥
पूर्वमासीन्महीपालः सुदेव इति विश्रुतः ।
तस्याभूच्च सखा राज्ञो धूम्राश्वस्य सुतो नलः ॥२६॥
स तेन सख्या सहितो जगामाऽऽम्रवनं वनम् ।
पत्नीभिः स समं रन्तुं माधवे मासि पार्थिव ! ॥२७॥

मैं पिता की आज्ञा का उलङ्घन कर पृथ्वी का पालन करती हूँ तो राजा प्रलयकाल पर्यन्त स्वर्गलोक-भागी नहीं रहेगा और सैकड़ों कल्पों में भी निश्चय ही मुझे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती हो ॥ १९-२१ ॥ दूसरी बात यह कि मेरे समान निराकांक्ष यानी दुर्बल व्यक्ति के लिए परित्यक्त विषय-भोग के समान तुम्हारे बाहु से विजित राज्य का भोग करना उचित नहीं है ॥ २२ ॥

इसलिए तुम स्वयं राज्य का पालन करो, अथवा बन्धुजनों को पुनः प्रदान कर दो। मुझे पिता की आज्ञा का पालन करना ही श्रेयस्कर है, पृथ्वी का पालन कर्त्तव्य नहीं है ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इसके बाद उसकी पत्नी सुप्रभा ने हँसकर पति से कहा—राजन् ! इस समृद्धिशाली राज्य को ग्रहण करें, आप वैश्य नहीं हैं एवं मैंने भी वैश्यकुल में जन्म-ग्रहण नहीं किया है आप भी क्षत्रिय हैं, मैं भी क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हूँ ॥ २४-२५ ॥

पूर्व काल में सुदेव नामक एक राजा था। राजा धूम्राश्व का पुत्र नल उसका मित्र था। हे राजन् ! वह किसी समय वैशाख महीने में अपने मित्र और पत्नी के साथ आम्रवन में वन-विहार के लिए गया ॥ २६-२७ ॥

ततः पानान्यनेकानि भक्ष्याणि बुभुजे तथा ।
भार्य्याभिः सहितस्ताभिस्तेन सख्या समन्वितः ॥२८।
ततः पुष्करिणीतीरे ददर्शातिमनोरमाम् ।
पत्नीं च्यवनपुत्रस्य प्रमतेः पार्थिवात्मजाम् ॥२६।
सखा तस्य नलो मत्तो जगृहे ताञ्च दुर्मतिः ।
पश्यतस्तस्य राज्ञश्च त्रात त्रातेतिवादिनीम् ॥३०।
आक्रन्दितं निशम्यैव स तस्याः प्रमतिः पतिः ।
आजगाम त्वरायुक्तः किमेतदिति वै वदन् ॥३१।
ततो ददर्श राजानं सुदेवं तत्र संस्थितम् ।
गृहीताञ्च तथा पत्नीं नलेन सुदुरात्मना ॥३२।
ततः सुदेवं प्रमतिः प्राहायं शाम्यतामिति ।
त्वञ्च शास्ता भवान्राजा दुष्टश्चायं नलो नृप ! ॥३३।

मार्कण्डेय उवाच—

तस्यार्त्तस्य वचः श्रुत्वा सुदेवो नलगौरवात् ।
प्राह वैश्योऽस्मि गच्छाऽन्यं क्षत्रियं त्राणकारणात् ॥३४।
ततः स प्रमतिः क्रुद्धस्तेजसा निर्दहन्निव ।
प्रत्युवाचाथ राजानं वैश्योऽस्मीत्यभिभाषिणम् ॥३५।

अनन्तर मित्र और पत्नियों के साथ अनेक प्रकार के भोज्य और पानीय का उपभोग किया ॥ २८ ॥ इसके बाद उस सरोवर के तट पर च्यवन-पुत्र महर्षि प्रमति की मनोरमा पत्नी को देखकर राजा का मित्र दुर्बुद्धि नल ने मत्त होकर उसका ग्रहण कर लिया। यह प्रमति पत्नी किसी राजा की कन्या थी। उस समय प्रमति की पत्नी राजा के सम्मुख रक्षा करो, रक्षा करो यह कहकर रोने लगी ॥ २९-३० ॥

उसका पति महर्षि प्रमति दूर से रोने का शब्द सुन कर यह क्या—यह क्या कहते हुए वहाँ उपस्थित हुआ ॥ ३१ ॥

अनन्तर उसने यह देखा कि राजा सुदेव वहाँ बैठा है और दुरात्मा नल ने पत्नी को ग्रहण कर लिया है ॥ ३२ ॥

इसके बाद प्रमति ने सुदेव से कहा—इसको इस कार्य से शान्त-विरत करो, आप राजा हैं शासनकर्ता हैं, इसलिए इस दुष्ट नल पर आपको शासन करना चाहिए ॥३३॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

प्रमति के द्वारा इस प्रकार कहने पर उसके वचन को सुनकर सुदेव ने नल के महत्त्व के कारण की रक्षा के लिए कहा कि मैं वैश्य हूँ, आप रक्षा के लिए किसी क्षत्रिय के पास जाँये। प्रमति सुदेव के वचन पर अतिशय क्रुद्ध हो अपने तेज से जलते हुए, 'मैं वैश्य हूँ' इस प्रकार कहने वाले राजा को कहा—तुम वस्तुतः वैश्य हो ॥ ३४-३५ ॥

प्रमतिरुवाच—

एवमस्तु भवान् वैश्य क्षत्रियः क्षतरक्षणात् ।
क्षत्रियैर्धार्य्यते शस्त्रं नार्त्तशब्दो भवेदिति ।
स त्वं न क्षत्रियो भावी वैश्य एव कुलाधमः ॥३६॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे नाभागचरितवर्णनं नाम चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११४॥

प्रमति ने कहा—ऐसा ही हो तुम वैश्य हो, क्योंकि आर्त व्यक्तियों की रक्षा के कारण ही क्षत्रिय संज्ञा की उपपत्ति है और इसी अभिप्राय से क्षत्रिय शस्त्र-धारण करते हैं। अतः तुम क्षत्रिय नहीं रहोगे तुम कुल पतित वैश्य होंगे ॥ ३६ ॥

*

पर्यालोचन

विप्रों के लिए वेद का पढ़ना अनिवार्य था, अतः वेदों में पारंगत होने के कारण वेद पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना, धन लेना और धन देना—ये छः कर्म ब्राह्मण के थे।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्रह्मणानामकल्पयत् ॥ (मनु०, १.८८)

इनमें से दान, अध्ययन और यज्ञ उनके धर्म थे तथा दान लेना, यज्ञ कराना और अध्यापन उनकी जीविका के साधन थे।

याजनाध्योदनेशुद्धद्यस्तथापुत्रप्रतिग्रहः।
एतत्सम्यक्समाख्यातं त्रितयचास्य जीविका ॥ (मार्क० पु०, २५.४)

अध्यापन करके, यज्ञ करके, दान लेकर ब्राह्मण धन उपार्जन करते थे और अपने जीवन का निर्वाह करते हुए अन्य वर्णों के लोगों को दान भी देते थे। ब्राह्मण के लिए अवैध तरीके से दान स्वीकार करने का विधान शास्त्र में नहीं था।

न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथंचन। (महा० शा० प०, २३४.११)

शुद्ध तरीके से ही वे धन-उपार्जन कर जीवन बिताते थे। यदि उन्हें धन का अभाव हो जाता था तो "कन्या के शुल्क के रूप में यजमान और शिष्य से धन प्राप्त कर सकते थे, पर इस तरीके से प्राप्त धन का उपभोग वे अकेला नहीं कर सकते थे; बल्कि ऐसे धनों के द्वारा उन्हें यज्ञ करना, दूसरे वर्णों को दान देना पड़ता था।

यदाऽऽगच्छेद् यजेद् दद्यन्नैकोऽश्नीयात् कथंचन। (तत्रैव, २३४.२०)

क्षत्रिय के लक्षण और कार्य

वर्णों में दूसरा स्थान क्षत्रिय का था, जो शूर वीर के रूप में संसार में प्रसिद्ध थे। क्षत्रिय की छत्रछाया में अन्य तीन वर्णों की रक्षा होती थी। वे शस्त्र में निपुण, रणकुशल, साहसी, बहादुर होते थे। शासन का भार उनके हाथों में रहने के कारण प्रजा की रक्षा करना उनका मुख्य कर्त्तव्य था।

....विप्राणां रक्षा क्षत्रस्य शोभना ॥ (तत्रैव, २९६. २०)

वे अध्ययन करते, लेकिन अध्यापन-कार्य नहीं करते थे। प्रजाजनों के पालन के लिए लुटेरों-डाकुओं का वध करते, रण में पराक्रम दिखलाते थे। वे स्त्रियों का वध नहीं करते थे। उनके सामने जो शस्त्र रख देता था, उसका भी वे वध नहीं करते थे।

नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम् ॥ (तत्रैव, ६०.१४)

यों तो दान, अध्ययन और यज्ञ-आदि से उनका कल्याण होता था, लेकिन युद्ध ही उनके लिये श्रेष्ठ कर्त्तव्य बतलाया गया है।

दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता ॥
(महा०, शा० प०, ६०.१८)

युद्ध से भागने वाला क्षत्रिय निन्दा का पात्र होता था। अतः प्रजा की रक्षा के लिए जो क्षत्रिय युद्ध में मर जाते अथवा शरीर पर घाव लेकर लौटते उनकी लोक में प्रशंसा होती थी।

अविक्षतेन देहेन समराद् यो निवर्तते।
क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥ (तत्रैव, ६०.१६)

क्षत्रिय का मुख्य कर्म प्रजा की रक्षा करना, यज्ञ करना, दान देना, वेद पढ़ना, विषयों में आसक्त न होना था।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनु०, १.८९)

ब्राह्मण की तरह वे दान लेने, यज्ञ कराने और अध्यापन का कार्य नहीं कर सकते थे। दान-यज्ञ और अध्ययन ये कर्म क्षत्रिय के कर्त्तव्य रूप थे और प्रजा-पालन, शस्त्राभ्यास उनकी जीविका के साधन थे।

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न याजयेत्॥
(महा०, शा० प०, ६०.१३)

वैश्य के लक्षण एवं कार्य

इस जाति-प्रथा के विकास काल में 'विश' शब्द से 'वैश्य' शब्द की उत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ होता है बसने वाला।

क्षत्रियों की छत्रछाया में रहकर सभी वर्गों के पोषण का कार्य वैश्य करता था। यों तो दान देना, यज्ञ कराना, वेद का अध्ययन करना उनके धर्म थे, लेकिन पशुपालन, व्यापार, कृषि उनके विशेष कर्त्तव्य थे, जो उनकी जीविका के साधन माने जाते थे।

शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः॥ (मनु०, १०.७९)

इन्हीं साधनों के द्वारा पवित्रतापूर्वक प्राप्त धन से अपने और अन्य वर्णों का पोषण करना उनका धर्म था। अन्य-वर्णों की सेवा के लिए वे जो कार्य करते, उसके लिए उन्हें वेतन दिया जाता था। वेतन की राशि उस समय मुद्रा के रूप में नहीं, प्राप्त धन के अंश के रूप में दी जाती थी। एक वर्ष तक एक राजा की छः गौओं के पालन करने पर उन्हें एक गाय का दूध, अन्य वर्णों के एक सौ गौओं के पालन पर एक बैल और एक गाय, दुधारु पशुओं के दूध बेचने पर प्राप्त धन का सातवाँ भाग, पशुविशेष के बहुमूल्य खुरों के बेचने पर प्राप्त धन का सोलहवाँ भाग, पशुओं के सींगों के बेचने पर प्राप्त धन का सातवाँ भाग और दूसरे के अनाज की फसलों और सब प्रकार के बीजों की रक्षा करने पर उसकी ऊपज का सातवाँ भाग वेतन के रूप में प्राप्त होता था।

षण्णामेकां पिबेद् धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत्।
लब्धां च सप्तमं मार्गं तथा शृङ्गे कलां खुरे॥
सम्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति॥

शूद्र के लक्षण और कार्य

वर्षों में निम्न कोटि का वर्ण शूद्र माना जाता था। शूद्र वेद तथा सदाचार से रहित होकर सब कुछ खाता था। वह हर तरह का कार्य करता और भीतर बाहर से अपवित्र रहता था। सेवावृत्ति शूद्र का मुख्य कर्त्तव्य था, इसलिए तीनों वर्णों की सेवा करना उसका मुख्य लक्ष्य था।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रुषामनसूयया॥ (मनु०, १.९१)

तीनों वर्णों से प्राप्त धन से वह जीविका चलाता था। धन जमा करने का अधिकार उसे नहीं था, क्योंकि ऐसा अनुमान किया जाता था कि धन के अभिमान में शूद्र पापिष्ठ हो जाता है और अपने से श्रेष्ठतम पुरुषों को सताने लगता है।

संचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथंचन।
पापीयान् हि धनैलब्ध्वावशो कुर्याद् गरीयसः॥ (मनु०, ६०.३०)

तीनों वर्णों के द्वारा शूद्र का भरण-पोषण होता था।
अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते। (महा०, शा० प०, ६०.३२)

यदि तीनों वर्णों द्वारा प्राप्त धन से भरण-पोषण नहीं हो सकता था, तो वह व्यापार, पशुपालन, शिल्पकला आदि द्वारा अपना भरण-पोषण करता था।

वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते॥ (महा० शा० प० २९४.४)

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवोत्कारुककर्मभिः॥ (मनु०, १०.९९)

शूद्र अपनी सेवावृत्ति से सबको प्रसन्न रखता था। वह पशुओं का पालन करता था, क्रय-विक्रय करता था जिससे उच्च वर्ण के लोग प्रसन्न रहते थे।

शूद्र की पोशाक में छाता, पगड़ी, अनुलेपन, जूते और पंखे थे, जो अन्य सभी वर्ण के लोग उसे देते थे।

छत्रं वेष्ठनमौक्षीरमुपानद् व्यजनानि च।
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे॥ (महा०, शा० प०, ३२)

शूद्र अपने स्वामी के लिए पिण्डदान भी करता था, पर ऐसे स्वामी के लिए नहीं जिन्हें पुत्र था, बल्कि ऐसे स्वामी के लिए वह पिण्डदान करता था जो सन्तानहीन होते थे।

देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यो वृद्धदुर्बलौ ॥
शूद्रेण तु नाहातव्यो भर्ता कस्याचिदापदि ।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये ॥

वर्णों में श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मण था। इसलिये यदि तीनों वर्णों की सेवा करने में शूद्र असमर्थ होता था तो वह केवल ब्राह्मण की ही सेवा करता था।

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ (मनु०, १०.१२३)

ब्राह्मण द्वारा दिये गये फटे-पुराने कपड़े को वह धारण करता था।

अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः ।
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत् ॥ (तत्रैव, ६०.३३)

वह घृणित पदार्थों को खाता था। घृणित पदार्थों का खाना उसके लिए पाप नहीं था। वह संस्कारहीन होता था।

तीनों जातियों की सेवा के अतिरिक्त यज्ञ और दान शूद्र के लिए निषिद्ध नहीं था। लेकिन शूद्र के लिए वैदिक मन्त्रों से युक्त यज्ञ करना निषिद्ध था। वह मन्त्रहीन यज्ञ ही कर सकता था।

उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत ।
स्वाहाकारवषट्करो मन्त्रः शूद्रे न विद्यते ॥
(महा० शा० प० ६०.३७)

उसके लिए पाक-यज्ञों द्वारा यज्ञ करना ही श्रेष्ठ बताया गया है।

तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम् ।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥

अपने-अपने कर्त्तव्यों में स्थित प्रत्येक वर्ण के लोग कर्म करते थे। जिससे समाज में विशुद्ध वातावरण फैला हुआ था। अपने कर्त्तव्य से विचलित न हों, इसके लिए समाज की ओर से पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था की गयी थी। अपने कर्त्तव्य में अनुरक्त होकर कर्म करने वाले वर्णों को पुरस्कार और कर्म से च्युत होकर त्याज्य कर्मों को करने वाले वर्णों को दण्ड दिया जाता था।

इसी पुरस्कार के प्रलोभन और दण्ड के भय के कारण कोई व्यक्ति अपने वर्णोचित कर्मों से विचलित न होता था, क्योंकि उनके अपने कर्त्तव्य ही उनके लिए महान् और श्रेष्ठ बतलाये गये थे।

षट्कर्मसम्प्रवृत्तस्य आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ।
सर्वधर्मोपपन्नस्य संवृतस्य कृतात्मनः ॥
ब्राह्मणस्य विशुद्धस्य तपस्यभिरतस्य च ।
निराशिषो वदान्यस्य लोका ह्याक्षरसम्मिताः ॥

वर्णों के विकास और उनके पृथक्-पृथक् कर्त्तव्यों के कारण हिन्दू-समाज में विशुद्ध वातावरण फैला, जिससे हिन्दू-धर्म और संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही। विदेशियों के साथ हिन्दुओं का मिश्रण बन्द हो गया और यूनानी, हूण, जो यहाँ की संस्कृति को नष्ट करने में लगे थे, असफल हो गये।

वर्ण व्यवस्था का आधार गुण और कर्म होने के कारण समाज में विद्वान् और व्यवसाय में निपुण व्यक्तियों का अभाव नहीं रहा। जन्म से ही व्यक्ति अपने द्वारा अपनाये हुए व्यवसायों में अभिरुचि रखते थे, उसे सीखते थे और व्यवसायों में दक्ष होकर सामाजिक विकास में सहायता प्रदान करते थे। परोपकार की भावना का जन्म वर्ण-व्यवस्था के कारण हुआ। एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण के गरीब लोगों की सेवा करते थे, उनके लिए भोजन-वस्त्र इत्यादि की व्यवस्था करते थे। इस तरह व्यक्तिवाद से समष्टिवाद की ओर बढ़ने की भावना का उदय उसी व्यवस्था के कारण हुआ। समाज में अनुशासन की भावना का उदय हुआ जिससे सुन्दर समाज की रचना हुई। समाज में रक्त की पवित्रता इसी प्रथा के कारण बनी रही; क्योंकि ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल में अनेकों विदेशियों का आगमन भारत में हो रहा था जिससे हिन्दू-समाज का रक्त दूषित हो रहा था। इस दूषित रक्त से बचने के लिए शायद आर्यों ने जाति-प्रथा की रचना की।

Modern investigators think that the caste system was born out of the desire of the Vedic Aryans to maintain the purity of their blood from being contaminated with the conquered dark-skinned peoples.

—Studies in Hindu Political Thought and Its Metaphysical Foundation, p. 413.

वर्णों में वंश-परम्परा की भावना का उदय

निरन्तर अपने कर्त्तव्यों के अनुसार कार्य करने के कारण समाज में वंश-परम्परा की भावना का उदय हुआ। वर्णों की उत्पत्ति का आधार कर्म न मानकर बीज क्षेत्र माना जाने लगा। फलस्वरूप उच्च वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति यदि निम्न वर्ण के कर्मों में प्रवृत्त हो जाता, तो भी वह अपने को उच्च वर्ण का ही मानता था।

व्यक्तियों की इसी भावना के कारण समाज में भेद-भाव की भावना उत्पन्न हुई। प्रत्येक वर्ण के लोग एक-दूसरे से घृणा करने लगे, जिससे वातावरण दूषित हो गया। शूद्र सबसे निम्न कोटि का वर्ण था। उसका छुआ हुआ अन्न, अन्य वर्ण के लोग नहीं खाते थे। शूद्रों में हलवाहा, अपने कुल का मित्र, गोपालन करने वाला, सेवक और नाई तथा आत्मसमर्पण करने वालों के अन्न को भी भोज्यान्न माना जाता था। शेष जितने भी शूद्र थे, उनके अन्न अन्य वर्णों के लिए त्याज्य थे। इस प्रकार शूद्रों की स्थिति भी उत्तरोत्तर और जटिल होती गयी। फाह्यान ने (पाँचवीं शती के आरम्भ में) लिखा है कि केवल चाण्डाल नगर से बाहर रहते थे और बस्तियों में आते समय उन्हें लकड़ी के टुकड़ों को बजाकर दूसरों को सचेत करना पड़ता था।

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ (मनु०, ४.२५३)

ह्वेनसांग ने लिखा है (सातवीं शती) कि उनके घरों पर भी विशेष चिह्न होते थे। स्मृति में शूद्रों के घर खाना, उनके साथ रहना, यहाँ तक कि एक स्थान में उनके साथ बैठना भी पतन का कारण बताया गया है। कहीं-कहीं शूद्रों के दर्शन भी वर्जित कर दिये गये हैं और छू जाने पर प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गयी है। इसके साथ-साथ तत्कालीन भाष्यकार, मेधातिथि ने शूद्रों को भी व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र बताया है, परन्तु वे संन्यास नहीं ले सकते थे और इसीलिए "मोक्ष" नहीं पा सकते थे। उनके लिए उपनयन, अग्निहोत्र आदि कर्म भी वर्जित थे। उनके विवाह बिना मंत्रोच्चारण के ही होते थे। उत्तरवर्ती काल के स्मृतिकारों ने शूद्रों के हाथ का पका खाना वर्जित कर दिया और यह आदेश दिया कि शूद्र के छू जाने पर कपड़ों सहित स्नान और व्रत करना चाहिए। श्राद्ध में भोजन करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को था, क्षत्रिय और वैश्य को नहीं।

ब्राह्मणस्यैव कर्मतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ (मनु०, २.१९०)

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ (मनु०, ४.२२३)

शूद्र ब्राह्मण का जूठन खाता था।

न्याय में शूद्र का स्थान निम्न कोटि का था। ब्राह्मण न्यायाधीश होते थे।

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ (मनु०, ८.९)

शूद्र को न्यायाधीश बनने का अधिकार नहीं था।

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः ।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्मास्तु शूद्रः कथञ्चन ॥ (मनु०, ८.२०)

जो ब्राह्मण अपने ब्राह्मणोचित धर्म को छोड़कर, नौकरी और सूदखोरी में प्रवृत्त होता था, उनके साथ शूद्र जैसा वर्त्ताव किया जाता था।

गोरक्षकान् वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रां शूद्रवदाचरेत् ॥ (मनु०, ८.१०२)

महाभारत वर्ण-भेद का वहिष्कार करता है—

जाति-प्रथा का आधार कर्त्तव्य न कि वंश-परम्परा

वंश-परम्परा के आधार पर वर्ण-भेद का बहिष्कार महाभारत में हुआ। महाभारत के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति का आधार बीज-क्षेत्र नहीं कर्म-क्षेत्र है।

प्रारम्भ में मनुष्यों में वर्ण-भेद नहीं था। पीछे धीरे-धीरे कर्मों के आधार पर वर्णों की रचना हुई।

ब्रह्मा के पुत्र होने के कारण सभी ब्राह्मण कहलाते थे सिर्फ उनके कर्मों में अन्तर पाया जाता था। ब्राह्मण श्वेत वर्ण के होते थे। अपने ब्राह्मणोचित कर्मों को छोड़कर निम्न कर्मों में प्रवृत्त होने के कारण उनमें से कुछ के रंग लाल, कुछ के पीले और कुछ के काले हो गये। जो अपने ब्रह्मणोचित धर्म का परित्याग करके विषय भोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस को पसन्द करने वाले हो गये और इन्हीं कारणों से जिनके शरीर का रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रिय-भाव को प्राप्त हुए—क्षत्रिय कहलाने लगे।

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥

जिन्होंने गौओं से तथा कृषि-कर्म के द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली और इसी कारण से जिनके शरीर का रंग पीला पड़ गया तथा जो ब्रह्मणोचित धर्म को छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्य-भाव को प्राप्त हुए।

गोभ्यो वृत्तिं समाधाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥

जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधों के समान सभी तरह के निन्द्य-कर्म करके जीविका चलाने लगे और इसलिए जिनके शरीर का रंग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण शूद्र-भाव को प्राप्त हो गये।

हिंसानृतप्रियालुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥

अतः कर्मों के कारण ही ब्राह्मणत्व से अलग होकर वे सभी ब्राह्मण दूसरे-दूसरे वर्ण के हो गये। कर्मों में भिन्नता होने के बाद भी प्रत्येक वर्णों के लिए नित्य धर्मानुष्ठान और यज्ञ-कर्म का कभी निषेध नहीं किया गया था।

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मा यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥

कर्म के आधार पर वर्ण-परिवर्तन होता था। यदि कोई निम्न वर्ण के मनुष्य उच्चवर्ण के कर्मों को करता था, तो उसे उच्च वर्ण की प्राप्ति हो जाती थी अथवा, यदि कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्णों के कर्मों में प्रवृत्त होता तो वह निम्न वर्ण का माना जाता था।

सच्छ्रोत्रियकुले जातो ह्यक्रियो नैव पूजितः।
असत्क्षेत्रकुले पूज्यो व्यास वैभाण्डकौ यथा ॥

गाधि के पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय थे, किन्तु अपनी कठिन तपस्या से संसार में पूजित हुए। सत्यवती धीवर जाति की कन्या थी, पराशर द्वारा उसके गर्भ से उत्पन्न कृष्ण-द्वैपायन संसार में पूजित हुए। गौतम कुलीन ब्राह्मण थे, किन्तु चाण्डाल के कर्मों में प्रवृत्त होने के कारण वे चाण्डाल हो गये।

किमिदं कुरुवे मोहाद् विप्रस्त्वं हि कुलाद्वहः ।
मध्यदेशपरिज्ञातो दस्युभावं गतः कथम् ॥

इसी तरह, वसिष्ठ, ऋष्यश्रृंग, कृप, कक्षीवान, कमठ, यवक्रीत, वक्ताओं में श्रेष्ठ द्रोण, आयु, मतंग, दत्त, द्रुपद तथा मत्स्य आदि मुनियों के द्वारा जहाँ-तहाँ उत्पन्न हुए थे, परन्तु वे तपस्या का आश्रय लेकर ही अपनी-अपनी प्रवृत्तियों को प्राप्त हुए और वेदों के विद्वान् के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हुए ।

जाति में आनुवांशिकता

विवाह प्रणाली में जटिलता नहीं थी । समाज में लोम और प्रतिलोम विवाह का प्रचलन था । ब्राह्मण ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा कन्याओं से विवाह करने में स्वतंत्र थे । क्षत्रिय-क्षत्राणी वैश्या और शूद्रा कन्या से विवाह करने में स्वतंत्र थे । वैश्य-वैश्या और शूद्रा कन्या से विवाह कर सकते थे और शूद्र की एक ही भार्या शूद्रा कन्या होती थी ।

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञं च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥

इस प्रतिलोम विवाह के कारण वर्ण-संकर की वृद्धि हो रही थी ।

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।
स्वकर्माणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥

फलतः अगणित जातियों का जन्म हो रहा था । ब्राह्मण के सम्पर्क में ब्राह्मणी और क्षत्रिय कन्या से उत्पन्न पुत्र पिता की जाति का अर्थात् ब्राह्मण कहलाते थे और वैश्या तथा शूद्रा कन्या से उत्पन्न पुत्र क्रमशः वैश्य और शूद्र होते थे । ब्राह्मण के सम्पर्क से शूद्रा कन्या में उत्पन्न पुत्र 'पारशव' कहलाता था जो अपने कुल से श्रेष्ठ तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य से अवस्था में बड़ा रहने पर भी छोटा समझा जाता था । जिनका त्रैवार्णिकों की सेवा करना ही धर्म था । क्षत्रिय की जो तीन भार्याएँ होती थी, उनमें क्षत्रिया और वैश्या कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होते थे, वे क्षत्रिय जाति के होते थे । लेकिन शूद्रा कन्या से उत्पन्न पुत्र शूद्र होते थे, जो 'उग्र' नाम से प्रचलित थे ।

तिस्रः क्षत्रियसम्बन्धाद् द्वयोरात्मास्य जायते ।
हीनवर्णास्तृतीयायां शूद्रा उग्रा इति स्मृतिः ॥

वैश्या और शूद्रा कन्या का विवाह वैश्य के साथ होने से जो पुत्र पैदा होते थे, वे वैश्य जाति के समझे जाते थे और शूद्र की जो एक ही भार्या शूद्रा थी, उससे उत्पन्न पुत्र शूद्र कहलाता था ।

द्वे चापि भार्ये वैश्यस्य द्वयोरात्मास्य जायते ।
शूद्रा शूद्रस्य चाप्येका शूद्रमेव प्रजायते ॥

महाभारत काल में निम्न वर्ण के पुरुष का विवाह उच्च वर्ण की कन्याओं के साथ भी होता था, परन्तु इस तरह के विवाह से उत्पन्न पुत्र माता-पिता किसी की जाति का न होकर वर्ण-बहिष्कृत होता था ।

अतो विशिष्टस्त्वधर्मो गुरुद्वारप्रधर्षकः।
ब्राह्म वर्ण जनयति चातुर्वर्ण्यविगर्हितम्॥
विप्रायां क्षत्रियो ब्राह्मं सूतं स्तोमक्रियापरम्।
वैश्यो वैदेहकं चापि मौद्गत्यमपवर्जितम्॥

क्षत्रिय जाति के पुरुष और ब्राह्मणी कन्या से उत्पन्न पुत्र 'सूत' जाति का, वैश्य जाति के पुरुष और ब्राह्मणी कन्या से उत्पन्न पुत्र 'वैदेहक' जाति का। शूद्र जाति के पुरुष और ब्राह्मणी कन्या से उत्पन्न पुत्र 'चाण्डाल' जाति का समझा जाता था।

शूद्रश्चाण्डालमत्युग्रं वध्यघ्नं बाह्यवासिनम्।
ब्राह्मण्यां सम्प्रजायन्त इत्येते कुलपासनाः॥

वैश्य जाति के पुरुष और क्षत्रिया कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होते थे, वे 'बन्दी' और 'मागध' शूद्र जाति के पुरुष और क्षत्रिया कन्या से उत्पन्न पुत्र 'निषाद' तथा शूद्र जाति के पुरुष और वैश्या कन्या से उत्पन्न पुत्र 'आयोगव' जाति के कहलाते थे।

बन्दी तु जायते वैश्यान्मागधो वाक्यजीवनः।
शूद्रान्निषादो मत्स्यघ्नः क्षत्रियायां व्यतिक्रमात्॥
शूद्रादायोगवश्चापि वैश्यायां ग्राम्यधर्मिणः।
ब्राह्मणैरप्रतिग्राह्यस्तक्षा स्वधनजीवनः॥

इस तरह वर्णों से प्रतिलोम विवाह के कारण अम्बष्ठ, पारशव, उग्र, सूत, वैदेहक, चाण्डाल, मागध, निषाद और आयोगव—इन नौ जातियों का जन्म हुआ, जो वर्ण-संकर कहलाते थे। ये वर्ण-संकर जातियाँ भी अपने वर्ण की कन्या से अपने समान पुत्र उत्पन्न करती थीं और हीनवर्ण की कन्या से हीनवर्ण के पुत्र उत्पन्न करते थे जो पुत्र माता की जाति का समझा जाता था।

ते चापि सदृशं वर्णजन्यन्ति स्वयोनिषु।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान्॥

वर्ण-संकरों में जो निम्नकोटि के वर्ण-संकर पुरुष होते थे, उनका सम्पर्क उच्च वर्ण के वर्ण-संकर स्त्रियों से होने से जो पुत्र पैदा होते थे, वे उनलोगों से भिन्न जाति के होते थे। इस तरह वर्ण-संकरों से जिन वर्ण-संकरों की उत्पत्ति हुई उनकी संख्या महाभारत में पन्द्रह बतायी गई है।

यथा शूद्रोऽपि ब्राह्मण्यां जन्तुं बाह्यं प्रसूयते।
एवं बाह्यतराद बाह्यं चातुर्वर्ण्यात् प्रजायते॥

इन पन्द्रह वर्ण-संकर जातियों से भी प्रतिलोम विवाह के कारण अन्य जातियाँ निकलीं। फलस्वरूप हिन्दू समाज में सिर्फ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार जातियाँ ही न रहकर अनेक जातियाँ हो गई।

समाज में वर्ण-संकरता फैल रही थी।

चतुर्णामेव वर्णानामागमः पुरुषर्षभ।
आतोऽन्येत्वतिरिक्ता ये ते वै संकरजाः स्मृताः॥

सभी मनुष्य सभी जाति की स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न कर रहे थे। उनमें वाणी, मैथुन, जन्म और मरण एक से देखे जाते थे, जिससे जाति-सम्मिश्रग हो रहा था।

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम्॥

ऐसी स्थिति में जातियों की परीक्षा करने में कठिनाई हो रही थी।

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परिक्ष्येति मे मतिः॥

जातियों की परीक्षा रूढ़िवादी मापदण्डों के आधार पर होती थी। ये मापदण्ड तत्वदर्शी विद्वानों द्वारा स्थापित किये गये थे। प्राचीन काल में ही तत्वदर्शी विद्वानों ने कर्मों को चार भागों में बाँटा। यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह, अध्ययन-अध्यापन ये ब्राह्मण के लिए, अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, प्रजा की रक्षा करना, युद्ध में तत्पर रहना—ये सभी क्षत्रिय के लिये, अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, पवित्र रहना, व्यापार, खेती और पशुपालन द्वारा प्रजा का भरण-पोषण करना वैश्य के लिए तथा वेद और सदाचार से रहित होकर हर चीज खाने में अनुरक्त रहना, भीतर-बाहर से अपवित्र रहना, तीनों वर्णों की सेवा करना ये कर्म शूद्र के लिये निरूपित किये गये थे। इन चारों प्रकार के कर्मों के आधार पर ही जातियों की परीक्षा होती थी। जो व्यक्ति जिस तरह के कर्मों में प्रवृत्त होता, वह उसी जाति का माना जाता था। यदि वेदों के अध्ययन करने के बाद भी ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न व्यक्तियों में शील, सदाचार, सत्य, दान, क्षमा का भाव, क्रुरता का अभाव, दया इत्यादि सद्गुणों का अभाव पाया जाता था तो वे व्यक्ति ब्राह्मण नहीं माने जाते थे। लेकिन इसके विपरीत शूद्र-कुल में उत्पन्न व्यक्तियों में यदि ये सद्गुण पाये जाते थे और उन्हें ब्राह्मण के लिए निरूपित कर्मों में प्रवृत्त देखा जाता था, तो वे व्यक्ति शूद्र-कोटि में नहीं, ब्राह्मण की कोटि में माने जाते थे। समाज में सम्मान उसी जाति के व्यक्तियों को मिलता था, जो अपार संकटों में

फँसे हुए व्यक्तियों को निकालने का प्रयास करते थे और डूबते हुए को सहारा देते थे। ऐसे व्यक्ति यदि शूद्र भी होते थे, तो भी समाज में उनकी प्रतिष्ठा होती थी।

अपारे यो भवेत् पारमप्लवे च प्लेवो भवेत् ॥
शूद्रो वा यदि वा त्वन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥

इस प्रसङ्ग में रहस्योद्घाटिनी में कहा गया है :—

सनातनधर्मं की उदारता और सर्वव्यापकता, वर्णाश्रमशृंखला की दूरदर्शिता और शक्तिमत्ता, इस गाथा से सिद्ध होती है। दूसरी ओर राजधर्म और प्रजाधर्म की मौलिकता और परस्पर की घनिष्ठता सिद्ध होती है। केवल जातिमर्यादा और जातिगौरव न रखने से ही और वर्णाश्रम शृंखला के सिद्धान्त की उपेक्षा करने से ही क्षत्रिय होनेपर भी महाराजकुमार नाभाग वैश्यत्व को प्राप्त हुआ था। पिता के परलोकगामी होनेपर भी वर्णाश्रमधर्मी पुत्रको परलोकगामी पिताकी पारलौकिक उन्नति का कैसा विचार रखना चाहिये, यह वर्णाश्रमधर्म का सिद्धान्त इस गाथा से उज्ज्वल हो रहा है। दूसरी ओर स्वभाव से ही राजभक्त वर्णाश्रमधर्मी प्रजा अपने राजा का परलोकगमन हो जाने पर भी कैसा व्यवहार रखते हैं और राजाज्ञा का मूल्य सनातनधर्मावलम्बियों के निकट कैसा है, वह इस गाथा से प्रकट होता है। अब शंका यह हो सकती है कि, क्षत्रिय जाति के रजोवीर्य से उत्पन्न व्यक्ति वैश्य कैसे हो सकता है? इस श्रेणी की शंका का समाधान यह है कि, प्रथम तो त्रिविधशुद्धिके अनुसार जन्म द्वारा अधिभूतशुद्धि, कर्म द्वारा अधिदैवशुद्धि और ज्ञान द्वारा अध्यात्मशुद्धि जाति की हुआ करती है। इसका उदाहरण यह है कि, ब्रह्मचिन्तन, ब्रह्मधारणा, ब्रह्मोपासना और स्वरूपोपलब्धि के द्वारा ब्राह्मण अपना अध्यात्म शुद्धि लाभ करता है। अर्थात् वह आध्यात्मिकरूप से ब्राह्मण होता है। इसी प्रकार यजन-याजन आदि षट्कर्म, वेदपाठ, गायत्री आदि की सेवा से ब्राह्मणवीर्य से उत्पन्न व्यक्ति अधिदैवरूप से ब्राह्मण बनता है और धर्मविवाह से युक्त ब्राह्मणी माता के रज और ब्राह्मण पिता के वीर्य से उत्पन्न व्यक्ति आधिभौतिकशुद्धि युक्त ब्राह्मण कहाता है। आधिभौतिकशुद्धि अपरिवर्तनीय है। इस कारण जाति-निर्णय में इसकी प्रधानता मानी गयी है। परन्तु यह निश्चित है कि, तीनों प्रकार की जब शुद्धि होती है, तभी जाति की पूर्णता मानी जाती है। यही वर्णधर्म का मौलिक तथा दार्शनिक रहस्य है। इसी सिद्धान्त को अवलम्बन करके वर्णाश्रमधर्मी आर्यजाति इस नाशमान् संसार में चिरजीवी बनी हुई है। इस रहस्य को प्राचीन इतिहासवाले और नवीन इतिहासवाले दोनों को ही स्वीकार करना होगा। राजपुत्र नाभाग शापग्रस्त होनेसे उसकी अध्यात्मशुद्धि और अधिदेव शुद्धि तुरन्त ही

नष्ट हो गई थी और पातित्यहेतु उसकी अधिभूतशुद्धि भी मलिन हो गयी थी। जैसे—ब्राह्मण यदि अधिभूतशुद्धि से उत्पन्न भो हुआ हो, तो भी चाण्डालादि के अन्नग्रहण और नीचसंसर्ग और नीचचिन्ता आदि से जैसा पतित होकर नीचता को प्राप्त करता है और वह ब्राह्मण नहीं कहाता है, उसी प्रकार शापग्रस्त होकर राजकुमार भी वैश्यत्व को प्राप्त हुआ था। इससे यह भी समझना चाहिये कि, इस विज्ञान के अनुसार उच्च जाति का व्यक्ति नीच जाति का बन सकता है, परन्तु नीच जाति का व्यक्ति उच्च जाति का नहीं बन सकता। क्योंकि अधिभूतशुद्धि का होना अपने हाथ नहीं है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का 'नाभागचरितवर्णन' नामक एकसौ चौदहवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कंण्डेय उवाच—

तस्मै दत्त्वा ततः शापं नलं क्रुद्धोऽब्रवीद् द्विज ! ।
प्रमतिर्भार्गवः कोपात् त्रैलोक्यं निर्दहन्निव ॥१॥
मदोन्मत्तो यदा भार्य्यां भवानत्र ममाश्रमे ।
बलाद्गृह्णासि भस्म त्वं तस्माद्व्रजतु मा चिरम् ॥२॥
तेनोदाहृतमात्रे च वाक्ये तस्मिन् तदा नलः ।
देहजेनाग्निना सद्यो भस्मपुञ्जस्तदाऽभवत् ॥३॥
दृष्ट्वा प्रभावं तत्तस्य सुदेवो विमदस्ततः ।
प्रणामनम्रः प्राहेदं क्षम्यतां क्षम्यतामिति ॥४॥
यदुक्तवांस्त्वं भगवन् ! सुरापानमदाकुलम् ।
तत् क्षम्यतां प्रसीद त्वं शापोऽयं विनिवर्त्यताम् ॥५॥
एवं प्रसादितस्तेन प्रमतिः प्राह भार्गवः ।
गतकोपो नले दग्धे भावहीनेन चेतसा ॥६॥
नान्यथाभावि तद्वाक्यं यन्मया समुदीरितम् ।
तथापि ते करिष्यामि प्रसन्नोऽनुग्रहं परम् ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे द्विज ! भृगु वंशीय प्रमति ने इस प्रकार सुदेव को शाप देकर क्रोध से तीनों लोकों को जलाते हुए नल से कहा—तुमने मद से उन्मत्त होकर मेरे आश्रम में बलपूर्वक मेरी पत्नी को ग्रहण किया है, अतः तुम भस्म हो जाओ ॥ १-२ ॥ उनके वाक्य के समाप्ति के साथ ही नल अपने शरीर से उत्पन्न अग्नि से उसी क्षण भस्म की ढेर हो गया ॥ ३ ॥ सुदेव ने प्रमति के इस प्रभाव को देख कर अभिमान का परित्याग कर प्रणाम कर विनीत भाव से कहा। क्षमा करें—क्षमा करें। सुरापान के कारण उत्पन्न मत्तता से मैंने आपको जो कुछ कहा है प्रसन्न होकर उसे क्षमा करें और शाप निवृत्त करें ॥ ४-५ ॥

प्रमतिको, राजा के द्वारा इस प्रकार प्रार्थना से प्रसन्न करने पर एवं नल के जलाने के कारण भार्गव प्रमति का कोप शान्त हो जाने से उसने अनासक्त चित्त से कहा, मैंने जो वाक्य कहा है, वह अन्यथा नहीं हो सकता है, फिर भी प्रसन्न होकर तुमपर विशेष अनुग्रह कर रहा हूँ ॥ ६-७ ॥

भविता वैश्यजातीयो भवान्नास्त्यत्र संशयः ।
भविता क्षत्रियो वैश्यस्तस्मिन्नेवाशु जन्मनि ।।८।
ग्रहीष्यति बलात् कन्यां यदा ते क्षत्रसम्भवः ।
तदा त्वं क्षत्रियो वैश्य ! स्वगृहीतो भविष्यति ।।९।
एवं स वैश्यो भूपाल ! सुदेवोऽस्मत्पिताऽभवत् ।
अहञ्च या महाभाग ! त्वत्सर्वं श्रूयतां त्वया ।।१०।
सुरथो नाम राजर्षिः प्रागासीद् गन्धमादने ।
तपस्वी नियताहारस्त्यक्तसङ्गो वनाश्रयः ।।११।
ततः श्येनमुखभ्रष्टां दृष्ट्वैकां शारिकाम्भुवि ।
कृपाऽभूज्जनिता मूर्च्छा तथा तस्य महात्मनः ।।१२।
ततो मूर्च्छावसानेऽहं तस्योत्पन्ना शरीरतः ।
स मां दृष्ट्वा च जग्राह स्निह्यमानेन चेतसा ।।१३।
यस्मात्कृपाभिभूतस्य मम जातेयमात्मजा ।
तस्मात्कृपावती नाम्ना भविष्यत्याह स प्रभो ! ।।१४।
ततोऽहमाश्रमे तस्य वर्धमाना दिवानिशम् ।
सखीभिः सह तुल्याभिर्विचरामि वनानि च ।।१५।

तुम वैश्य जाति के होगे इसमें तो सन्देह नहीं, किन्तु उसी जन्म में पुनः क्षत्रिय हो जाओगे। जब कोई क्षत्रिय कुमार बलपूर्वक आपकी कन्या का ग्रहण करेगा तब तुम वैश्य, पुनः स्वयं ही क्षत्रिय हो जाओगे। हे राजन् ! इस प्रकार मेरे पिता सुदेव वैश्य हुए हैं। हे महाभाग ! मैं अपना समग्र परिचय कहती हूँ सुनो ॥ ८-१० ॥

पूर्वकाल में सुरथ नाम का राजर्षि गन्धमादन पर्वत पर वनवासी होकर संयत आहार एवं आसक्ति छोड़कर तपस्या में रत था ॥ ११ ॥

एक समय पृथिवी पर किसी बाज के मुख से गिरी हुई मैनाको देखकर दया के कारग उस महात्माको मूर्छा आ गई ॥ १२ ॥

हे प्रभो ! इसके बाद मूर्च्छा समाप्त होने पर मैं उसके शरीर से उत्पन्न हो गई। उन्होंने मुझे देखकर स्नेह से द्रवित चित्त होकर ग्रहण किया और कहा, यतः मेरे कृपा से अभिभूत होने से यह कन्या उत्पन्न हुई है, अतः, कृपावती नाम से यह विख्यात होगी ॥ १३-१४ ॥

इस प्रकार उनके आश्रम में रहकर मैं रात-दिन बढ़ने लगी और समान अवस्था-वाली सखियों के साथ वनों में विचरण करने लगी ॥ १५ ॥

ततो मुनेरगस्त्यस्य भ्राताऽगस्त्य इति श्रुतः ।
स चिन्वन् कानने वन्यं सखीभिः कोपितोऽशपत् ॥१६।
यन्मां वैश्यमिति प्राह भवति तेन ते शपे ।
भविष्यसि वैश्यजा तु इत्युक्ते च तमब्रवम् ॥१७॥
नापराधं कृतवती तवाहं द्विजसत्तम ! ।
अन्यासामपराधेन किमर्थं शप्तवानसि ॥१८।

ऋषिरुवाच—

दुष्टतां दुष्टसंसर्गाददुष्टमपि गच्छति ।
सुराबिन्दुनिपातेन पञ्चगव्यघटी यथा ॥१९।
प्रणिपत्य न दुष्टास्मि यत्त्वयाहं प्रसादितः ।
तस्मादनुग्रहं बाले ! शृणुयात् ते करोम्यहम् ॥२०।
वैश्ययोनौ यदा जाता त्वं पुत्रं बोधयिष्यसि ।
राज्याय जातिस्मरतां तदा त्वं समवाप्स्यसि ॥२१।
ततो भूयः क्षत्त्रजातिं प्राप्ता त्वं पतिना सह ।
दिव्यानवाप्स्यसे भोगान् गच्छ भीतिरपैतु ते ॥२२।

अनन्तर अगस्त्य के समान प्रभावशाली अगस्त्य मुनि के भाई वन में पुष्प आदि का चयन कर रहे थे, उसी समय मेरी सखियों के द्वारा क्रुद्ध होकर उन्होंने शाप दे दिया। यतः तुमने मुझे वैश्य कहा है, अतः, तुम वैश्य कन्या हो जाओगी ॥ १६ ॥

तुमने हमको वैश्य कहा है, इसलिए वैश्यकन्या होगी—यह शाप देने पर मैंने उनसे कहा ॥ १७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! मैंने आपका कोई अपराध नहीं किया है, अन्य के अपराध से मुझे क्यों शाप दे दिया है ॥ १८ ॥

ऋषि ने कहा—

जैसे, बिन्दुमात्र सुरा के पड़ने से पञ्चगव्यपूर्ण घट दूषित हो जाता है, वैसे ही दुष्टों के संसर्ग से अदुष्ट भी दुष्टता को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

हे बालिके ! तुमने अतिशय नम्र होकर अपने को निर्दोष बताकर मुझे प्रसन्न किया है, अतः, मैं तुम पर अनुग्रह कर रहा हूँ, सुनो ॥ २० ॥

तुम वैश्य योनि में उत्पन्न होकर जब अपने पुत्र को राज्य की प्राप्ति के लिए नियुक्त करोगी तब तुझे अपनी जाति का स्मरण हो जायगा ॥ २१ ॥

अनन्तर पुनः क्षत्रिय जाति को प्राप्त कर पति के साथ दिव्य सुखों का भोग करोगी, भय छोड़कर आश्रम में जाओ ॥ २२ ॥

एवं शप्तास्मि राजेन्द्र तेन पूर्वं महर्षिणा ।
पिता च मे पूर्वमेवं शप्तः प्रमतिनाऽभवत् ॥२३।

एवं वैश्यो न राजंस्त्वं न च वैश्यः पिता मम ।
न त्वं हि मय्यदुष्टायामदुष्टो दुष्यसे कथम् ॥२४।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे नाभागस्य वैश्यजातित्वनिराकरणवर्णनं नाम पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

हे राजेन्द्र ! इस प्रकार पूर्व काल में महर्षि के द्वारा अभिशप्त हूँ, इसी प्रकार प्रमति ने भी मेरे पिता को भी उक्त रूप में शाप दिया था ॥ २३ ॥

अतः हे राजन् ! आप और मेरे पिता कोई भी वैश्य नहीं हैं। इसलिए मुझ दोषरहित संसर्ग से अदुष्ट आप कैसे दूषित हो सकते हैं ॥ २४ ॥

इसप्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण के एक सौ पन्द्रहवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

इति तस्या वचः श्रुत्वा पुत्रस्य स च पार्थिवः ।
पुनः प्रोवाच धर्मज्ञस्तां पत्नीं तनयं तथा ॥१।
यन्मया पितुरादेशात् त्यक्तं राज्यं न तत् पुनः ।
ग्रहीष्यामि वृथोक्तेन किमात्माऽऽकृष्यते त्वया ॥२।
अहं ते सम्प्रदास्यामि करं वैश्यव्रते स्थितः ।
भुङ्क्ष्व राज्यमशेषं त्वमिच्छया वा परित्यज ॥३।
इत्युक्तः स तदा पित्रा राजपुत्रो भलन्दनः ।
चकार राज्यं धर्मेण तद्द्वारपरिग्रहम् ॥४।
अव्याहतं तस्य चक्रं पृथिव्यामभवद्द्विज ! ।
न चाधर्मे मनो भूपास्तस्य सर्वेऽभवन् वशे ॥५।
तेनेष्टो विधिवद्यज्ञः सम्यक् शास्ति वसुन्धराम् ।
स एवैकोऽभवद् भर्त्ता पृथिव्यां व्याप्तशासनः ॥६।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

धर्मज्ञ पार्थिव ने पत्नी और पुत्र की इन सभी बातों को सुनकर पत्नी और पुत्र को पुनः कहा ॥ १ ॥

(पत्नी से कहा) मैंने पिताकी आज्ञा से जिस राज्य का एक बार परित्याग कर दिया उसे अब पुनः ग्रहण नहीं करूँगा, व्यर्थ कहकर क्यों अपने को कष्ट दे रही हो ॥ २ ॥

(पुत्र से कहा) मैं वैश्यवृत्ति में ही रहकर तुम्हें कर प्रदान करता रहूँगा, तुम अपनी इच्छा के अनुसार अखिल राज्य का भोग करो या परित्याग कर दो ॥ ३ ॥

राजपुत्र भलन्दन इस प्रकार पिता का आदेश प्राप्त कर धर्मानुसार राज्य का पालन करने लगा और धर्मानुसार विवाह किया ॥ ४ ॥

[इस पद्य की व्याख्या में अनुवादकों ने दोनों के प्रति इसी कथन का समन्वय किया है, किन्तु द्वितीय पद्य पत्नी और तृतीय पद्य पुत्र को कहा है ।]

हे द्विज ! पृथिवी के सभी भागों में उसका रथ-चक्र अव्याहत रूप से अर्थात् विना रोक-टोक के चलता था, अधर्म की ओर उसका मन कभी-भी नहीं जाता था, सभी राजगण उसके वश में थे ॥ ५ ॥

वह विधिवत् यज्ञों का अनुष्ठान करता था और भली-भाँति वसुन्धरा की रक्षा करता था, समग्र पृथिवी पर शासन हो जाने से वह अद्वितीय भूपाल हो गया ॥ ६ ॥

अजायत सुतस्तस्य वत्सप्रीर्नाम नामतः ।
पितातिशयितो येन गुणौघेन महात्मना ॥७॥
तस्यापि भार्य्या सौनन्दा विदूरथसुताऽभवत् ।
पतिव्रता महाभागा सा प्राप्ता तेन वीर्य्यतः ।
हत्वा पुरन्दररिपुं कुजृम्भं दितिजेश्वरम् ॥८॥

क्रौष्टुकिरुवाच—

भगवंस्तेन संप्राप्ता कुजृ(ज)म्भनिधनात् कथम् ।
एतदाख्यानमाख्याहि प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥९॥

मार्कण्डेय उवाच—

विदूरथो नाम नृपः ख्यातकीर्तिरभूद् भुवि ।
तस्य पुत्रद्वयं जातं सुनीतिः सुमतिस्तथा ॥१०॥
एकदा तु वनं यातो मृगयां स विदूरथः ।
ददर्श गर्तं सुमहद्भूमेर्मुखमिवोद्गतम् ॥११॥

उसे वत्सप्री नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ, उस महात्मा ने गुणों के द्वारा पिता को और आगे बढ़ा दिया था ॥ ७ ॥

[मेरठ एवं महेन्द्रपाल आदि ने द्वितीय पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—"उस महात्मा ने अपने गुणों से पिताको भी पीछे छोड़ दिया था या अतिक्रान्त किया था ।]

विदुरथ की पुत्री सौनन्दा उसकी भार्या हुई, इन्द्र के शत्रु दैत्यराज कुजृम्भ को मार कर उसने इस महाभाग्यशालिनी पतिव्रता को प्राप्त किया था ॥ ८ ॥

क्रौष्टुकि ने कहा—

हे भगवन् ! प्रसन्न चित्त से यह आख्यान मुझे कहें कि किस प्रकार वत्सप्री ने कुजृम्भ को मारकर सौनन्दा को प्राप्त किया था ॥ ९ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

पृथिवी पर विख्यातकीर्ति विदूरथ नाम का एक राजा था, उसे सुनीति और सुमति नामक दो पुत्र थे ॥ १० ॥

एक समय विदूरथ शिकार के लिये वन में गया, वहाँ ऊपर निकले हुए पृथिवी के मुख के समान विशाल गड्ढे को देखा ॥ ११ ॥

तं दृष्ट्वा चिन्तयामास किमेतदिति भैरवम् ।
पातालविवरं मन्ये नैतद्भूमेश्चिरन्तनम् ॥१२॥
चिन्तयन्निति तत्रासौ ददर्श विजने वने ।
ब्राह्मणं सुव्रतं नाम तपस्विनमुपागतम् ॥१३॥
स तं पप्रच्छ च नृपः किमेतदिति विस्मितः ।
अतिगम्भीरमवनेर्दर्शितान्तर्गतोदरम् ॥१४॥

ऋषिरुवाच—

किन्न वेत्सि महीपाल ! वागर्थस्त्वं हि मे मतः ।
ज्ञेयं सर्वं नरेन्द्रेण वर्तते यन्महीतले ॥१५॥
दानवः सुमहावीर्यो वसत्युग्रो रसातले ।
स जृम्भयति यत्पृथ्वीं कुजृम्भः प्रोच्यते ततः ॥१६॥

उसको देखकर उसने सोचा यह भीषण गर्त क्या है ? यह कभी-भी चिरन्तन भूमि विवर नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥

वहाँ इस प्रकार चिन्ता कर रहा था कि उस निर्जन वन में उसने सुव्रत नाम के एक तपस्वी ब्राह्मण को समीप आते हुये देखा ॥ १३ ॥

आश्चर्यचकित राजा ने भूमि के भयङ्कर गड्ढे को दिखा कर पूछा कि—यह क्या है ? ॥ १४ ॥

ऋषि ने कहा :—

हे महीपाल ! क्या आप इसे नहीं जानते हैं ! जब कि पृथिवी के सभी वृत्तान्तों का ज्ञान राजा को होना आवश्यक है, आप इस वृत्त को जानने के लिये समुचित व्यक्ति हैं ॥ १५ ॥

रसातल में अतिशय बलशाली उग्र नामका दानव निवास करता है, वह पृथिवी को जृम्भित करता है अर्थात् विदीर्ण करता है, अतः इसको कुजृम्भ कहा जाता है ।

[इसके अनुवाद में किसी ने जृम्भा का अर्थ कम्पित करना किया है, प्रायः 'जृम्भन' के द्वारा ही इसका अनुवाद किया है, किन्तु गड्ढे को देख कर जिज्ञासा तथा जृम्भा के समय गर्त की स्थिति दृष्टिगोचर होने के पूर्वोक्त अर्थ ही जृम्भा का प्रशस्त प्रतीत होता है ।

कुछ मनीषियों ने पृथ्वी शब्द को पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्य यह अर्थ मानकर 'जृम्भयति' का अर्थ जभाँइ आना किया है, अर्थात् प्राणियों में जृम्भा इसी की देन है] ॥ १६ ॥

क्रियते तेन यत्किञ्चिद्भूतं भूतं महीतले ।
त्रिदिवे वा नरपते ! तं कथं वेत्ति नो भवान् ॥१७॥
सुनन्दं नाम मुषलं त्वष्ट्रा यन्निर्मितं पुरा ।
तज्जहार स दुष्टात्मा तेन हन्ति रणे रिपून् ॥१८॥
पातालान्तर्गतस्तेन भिनत्ति वसुधामिमाम् ।
ततोऽसुराणां सर्वेषां द्वाराणि कुरुतेऽसुरः ॥१९॥
तेन भिन्नात्र वसुधा सुनन्दमुषलायुधा ।
भोक्ष्यते वसुधामेतां तमजित्वा कथं भवान् ॥२०॥
यज्ञान् विध्वंसयत्युग्रो देवानामुपरोधकः ।
आप्याययति दैतेयान् स बली मुषलायुधः ॥२१॥
यद्यरिं घातयस्येनं पातालान्तरगोचरम् ।
ततः समस्तवसुधापतिस्त्वं परमेश्वरः ॥२२॥
मुषलं तस्य बलिनः सौनन्दं प्रोच्यते जनैः ।
तथा बलाबलञ्चैव तं वदन्ति विचक्षणाः ॥२३॥

हे नराधिप ! इस पृथिवी पर एवं स्वर्ग राज्य में, जो-जो घटनाएँ होती हैं वे सभी उसी के कार्य हैं, अतः, आप उसको कैसे नहीं जानते हैं ?

[इसकी व्याख्या में मनीषियों ने विचित्र अनुवाद प्रस्तुत किया है, मेरठ संस्करण :—"हे नरपति ! इस महीतल और स्वर्ग में जो कुछ अति महत्त्वपूर्ण हैं इसके द्वारा उसको आप कैसे नहीं जानते हैं । इस पद्य में "यत्किञ्चिद्रत्नभूतम्" यह पाठ भी किया है । इस पाठ का मूलाधार क्या है—यह स्पष्ट नहीं है ।] ॥ १७ ॥

पूर्वकाल में विश्वकर्मा ने सुनन्द नामक जिस मूसल का निर्माण किया था, इस दुष्ट व्यक्ति ने उसे चुरा लिया है, उसी मूसल से रण में शत्रुओं को मारता है ॥ १८ ॥

पाताल में निवास करता हुआ वही उस मूसल से पृथिवी को विदीर्ण कर वह असुर अन्य सभी असुरों के लिए द्वारों का निर्माण करता है ॥ १९ ॥

उस सुन्दर मूसल रूपी शस्त्र से इस पृथिवी को इस स्थान में विदीर्ण किया है, उस पर विजय किये विना आप कैसे पृथिवी का भोग करेंगे ? ॥ २० ॥

उग्र बली मूसलरूपी आयुधधारी वह दैत्य यज्ञों का विध्वंस करता है, देवों को पीड़ित करता है और दैत्यों को सन्तुष्ट करता है ॥ २१ ॥

यदि पाताल में रहने वाले इस शत्रु को मारोगे तब समग्र वसुधा के अधिपति होकर परमेश्वर अर्थात् सम्राट् बन सकोगे ॥ २२ ॥

उस मूसल को लोग सौनन्द कहते हैं, मनीषिगण उस मूसल के बल और अबल के प्रसङ्ग में कहते है कि हे नृप ! उस मूसल को जिस दिन नारी छू लेगी उसी क्षण

तत्तु निर्वीर्यतां याति संस्पृष्टं योषिता नृप ! ।
तस्मिन्दिने द्वितीयेऽह्नि वीर्यवत्तदुदीर्यते ।।२४।
न स वेत्ति दुराचारः प्रभावं मुषलस्य तत् ।
योषित्कराग्रसंस्पर्शे दोषं वीर्यविशातनम् ।।२५।
एवं तस्य बलं भूप दानवस्य दुरात्मनः ।
मुषलस्य च ते प्रोक्तं यदुक्तं तत् समाचर ।।२६।
आसन्नमेतद्भवतः पुरस्य पृथिवीपते ? ।
कृतन्तेन महीरन्ध्रं निश्चिन्तः किं भवान्यथा ।।२७।
इत्युक्त्वा तु गते तस्मिन् पुरं गत्वा महीपतिः ।
मन्त्रयामास मन्त्रज्ञैः पुरमध्ये तु मन्त्रिभिः ।।२८।
यथाश्रुतमशेषं तत् कथयामास मन्त्रिणाम् ।
मुषलस्य प्रभावञ्च वीर्यशातनमेव च ।।२९।
तं मन्त्रं क्रियमाणन्तु मन्त्रिभिस्तेन भूभृता ।
तत्पार्श्ववर्तिनी कन्या शुश्रावाथ मुदावती ।।३०।
ततः कतिपयाहे तु तां कन्यां वयसान्विताम् ।
जहारोपवनाद्दैत्यः कुजृम्भः स सखीवृताम् ।।३१।

वह शक्तिहीन हो जायगा और दूसरे दिन शक्तिशाली हो जाता है—यह कहा जाता है ॥ २३-२४ ॥

वह दुराचारी मूसल के इस प्रभाव को नहीं जानता है, स्त्री के हाथ के अग्रभाग के स्पर्श से वह शक्तिहीन हो जाता है; इसको वह नहीं जानता है ॥ २५ ॥

हे भूप ! उस दुरात्मा दानव और मूसल के बल को मैंने तुमको बता दिया अब जो कहा है, वैसा तुम करो ॥ २६ ॥

हे महीपते ! आपके नगर के समीप में ही उसने पृथिवी में छिद्र कर दिया है, आप कैसे निश्चिन्त रहते हैं ? ॥ २७ ॥

यह कह कर ऋषि के प्रस्थान करने पर राजा ने अपने नगर में लौटकर उस विषय पर विचारशील मन्त्रियों के साथ विचार करने लगे ॥ २८ ॥

मूसल का प्रभाव एवं उसकी शक्तिहीनता आदि जो कुछ सुना था मन्त्रियों के सम्मुख सभी बातें व्यक्त की ॥ २९ ॥

मन्त्रियों से परामर्श करते हुए राजा के समीप में बैठी हुई उसकी पुत्री मुदावती ने भी सभी बातें सुनीं ॥ ३० ॥

इस घटना के कुछ दिनों के बाद अपनी सखियों से घिरी हुई मुदावती जब उपवन में थी, तब कुजृम्भ दैत्य ने उस वयस्क कन्या को उपवन से हरण कर लिया ॥३१॥

तच्छ्रुत्वा स महीपालः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
पुत्रावुवाच त्वरितं गच्छतं वनकोविदौ ॥३२॥
निर्विन्ध्यायास्तटे गर्तस्तेन गत्वा रसातलम् ।
स हन्यतां योऽपहर्त्ता मुदावत्याः सुदुर्मतिः ॥३३॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्तौ तत्सुतौ प्राप्य तं गर्त्तं तत्पदानुगौ ।
युयुधाते कुजृम्भेण स्वसैन्येनातिकोपितौ ॥३४॥
ततः परिघनिर्स्त्रिंशशक्तिशूलपरश्वधैः ।
बाणैश्चाविरतं युद्धं तेषामासीत् सुदारुणम् ॥३५॥
ततो मायाबलवता तेन दैत्येन तावुभौ ।
राजपुत्रौ रणे बद्धौ निहताशेषसैनिकौ ॥३६॥
तच्छ्रुत्वा स महीपालः प्राहेदं सर्वसैनिकान् ।
बद्धपुत्रः परामार्त्तिमुपेतो मुनिसत्तम ! ॥३७॥
यस्तां निहत्य दैतेयं मोचयिष्यति मे सुताम् ।
तस्याहं सम्प्रदास्यामि तामेवायतलोचनाम् ॥३८॥

यह सुनकर उस राजा के नेत्र क्रोध से व्याकुल हो गये अर्थात् चञ्चल हो गये। वन के विशेषज्ञ दोनों कुमारों से कहा कि तुम शीघ्र जाओ। निर्विन्ध्या नदी के तट प्रान्त में जो गड्ढा है, उससे रसातल में जाकर मुदावती का अपहरण करने वाले का विनाश करो ॥ ३२-३३ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

इसके बाद दोनों राजकुमारों ने उस गड्ढे को प्राप्त कर पैर के चिह्नों का अनुसरण करते हुए सेनाओं के साथ अतिशय क्रोध से कुजृम्भ के साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ ३४ ॥

उसके बाद परिघ = भाला निर्स्त्रिश, शक्ति, शूल, परशा और वाणों से उनका भयङ्कर = घमासान निरन्तर युद्ध होने लगा ॥ ३५ ॥

माया के बल से बलशाली दैत्यों ने सभी सेनाओं को मारकर उन दोनों राजकुमारों को बन्धन में ले लिया ॥ ३६ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! पुत्रों के बन्दी होने का समाचार सुनकर राजाको अतिशय दुःख हुआ, उन्होंने सैनिकों को बुलाकर कहा :—जो उस दैत्य को मार कर मेरी कन्या और पुत्रों को मुक्त करायेगा उसीको मैं अपनी विशालनयना कन्या मुदावती को दे दूँगा ॥ ३७-३८ ॥

इत्येवं घोषयाञ्चक्रे स राजा स्वपुरे तदा ।
निराशः पुत्रतनयाबन्धमोक्षाय वै मुने ॥३९॥
ततः शुश्राव वत्सप्रीर्भलन्दनसुतो हि तत् ।
आघोष्यमाणं बलवान् कृतास्त्रः शौर्यसंयुतः ॥४०॥
स चागम्याभिवाद्यैनं प्राह पार्थिवसत्तमम् ।
विनयावनतो भूत्वा पितुर्मित्रमनुत्तमम् ॥४१॥
आज्ञापयाशु मामेव तनयौ मोचयामि ते ।
तवैव तेजसा हत्वा तं दैत्यं तनयाञ्च ते ॥४२॥

मार्कण्डेय उवाच—

स तं मुदा परिष्वज्य प्रियसख्युरथात्मजम् ।
गम्यतामिति संसिद्ध्यै वत्सेत्याह स पार्थिवः ॥४३॥
स्थाने स्थास्यति मे वत्सो यद्येवं कुरुते विधिम् ।
वत्सैतत्क्रियतामाशु यद्युत्साहि मनस्तव ॥४४॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः सखड्गः सधनुर्बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
जगाम वीरः पातालं तेन गर्त्तेन सत्वरः ॥४५॥

हे मुने ! राजा ने पुत्रों और कन्या के बन्धन से मुक्त होने से निराश होकर अपने नगर में घोषणा कर दी ॥ ३९ ॥

अनन्तर उस घोषणा को बलवान्, शस्त्रविद्या में निपुण भलन्दन के पुत्र वत्सप्री ने भी सुनी ॥ ४० ॥

उसने अपने पिता के श्रेष्ठ मित्र महाराज से विनयावनत हो प्रणाम कर कहा, आप मुझे आज्ञा दें, मैं आपके प्रताप से उस दैत्य को मार कर आपके दोनों पुत्रों और कन्या को छुड़ा लाऊँगा ॥ ४१-४२ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

अपने प्रिय मित्र के पुत्र को आनन्दपूर्वक आलिङ्गन कर राजा ने कहा, हे वत्स ! कार्य की सिद्धि के लिए तुम शीघ्र प्रस्थान करो ॥ ४३ ॥

हे वत्स ! इस कार्य के सम्पादन में यदि तुम्हारा मन अतिशय उत्साह सम्पन्न है तो इस कार्य को शीघ्र करो यदि इस कार्य को तुम कर सकोगे तो वस्तुतः मित्र-पुत्र के अनुरूप ही कार्य होगा ॥ ४३-४४ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

अनन्तर वत्सप्री तलवार, धनुष, गोधा, अङ्गुलित्र आदि से सुसज्जित हो वह वीर उस गर्त के द्वारा शीघ्र ही पाताल में चला गया ॥ ४५ ॥

ततो ज्यास्वनमत्युग्रं स चक्रे पार्थिवात्मजः ।
येन पातालमखिलमासीदापूरितान्तरम् ॥४६।
ततो ज्यास्वनमाकर्ण्य कुजृम्भो दानवेश्वरः ।
आजगामाऽतिकोपेन स्वसैन्यपरिवारितः ॥४७ ।
ततो युद्धमभूत्तस्य तेन पार्थिवसूनुना ।
ससैन्यस्य ससैन्येन बलिनो बलशालिना ॥४८।
दिनानि त्रीणि स यदा योधितस्तेन दानवः ।
ततः कोपपरीतात्मा मुषलायाऽभ्यधावत ॥४९।
गन्धैर्माल्यैस्तथा धूपैः पूज्यमानः स तिष्ठति ।
अन्तःपुरे महाभाग ! प्रजापतिविनिर्मितः ॥५०।
ततो विज्ञातमुषलप्रभावा सा मुदावती ।
पस्पर्श मुषलश्रेष्ठमतिनम्रशिरोऽधरा ॥५१।
पुनर्यावत् स गृह्णाति मुषलं तं महासुरः ।
तावत् सा वन्दनव्याजात् पस्पर्शानेकशः शुभा ॥५२।
ततः स गत्वा युयुधे मुषलेनासुरेश्वरः ।
व्यर्था मुषलपातास्ते सञ्जग्मुस्तेषु शत्रुषु ॥५३।

उस राजपुत्र ने अपने धनुष की डोरी का भयङ्कर शब्द किया जिससे निखिल पाताल-विवर गूँज उठा ॥ ४६ ॥

अनन्तर प्रत्यञ्चा के शब्द को सुनकर अतिशय क्रोधाविष्ट दानवपति, कुजृम्भ अपनी सेना के साथ आया ॥ ४७ ॥

इसके बलशाली सैनिकों से समन्वित राजपुत्र के साथ अपनी सेना से परिवेष्टित बलवान् कुजृम्भ के साथ युद्ध हुआ ॥ ४८ ॥

वह दानव तीन दिनों तक उसके साथ युद्ध के बाद कोप से आविष्ट हो मूसल लाने के लिए दौड़ा ॥ ४९ ॥

हे महाभाग ! प्रजापति के द्वारा निर्मित गन्ध-माल्य तथा धूप से पूजित वह मूसल अन्तःपुर में रहता था ॥ ५० ॥

इसके बाद मूसल प्रभाव से अवगत वह मुदावती मस्तक और शरीर को अतिशय अवनत कर अर्थात् श्रद्धा से अवनत शरीर होकर उस मूसल का स्पर्श किया और जब उस मूसल को असुर ने ग्रहण किया तब तक पूजा के व्याज से उसका पुनः-पुनः स्पर्श किया ॥ ५१-५२ ॥

इसके बाद असुरपति के द्वारा रण-भूमि में उपस्थित होकर, उस मूसल से युद्ध आरम्भ किया, किन्तु शत्रुओं के बीच मूसल का पात व्यर्थ होने लगा ॥ ५३ ॥

परमास्त्रे तु निर्वीर्ये सौनन्दे मुषले मुने ! ।
अस्त्रैः शस्त्रैश्च दैत्येयः सोऽयुध्यत रणोऽरिणा ॥५४।
शस्त्रास्त्रैर्न समस्तस्य राजपुत्रस्य सोऽसुरः ।
मुषलेन बलन्तस्य तच्च बुद्धचा निराकृतम् ॥५५।
ततः पराजित्य स भूपसूनुरस्त्राणि शस्त्राणि च दानवस्य ।
चकार सद्यो विरथं ततश्च सचर्मखड्गः पुनरप्यधावत् ॥५६।
तमापतन्तं रभसाऽभ्युदीर्णं विस्पष्टकोपं त्रिदशेन्द्रशत्रुम् ।
शस्त्रेण वह्नेर्भुवि राजपुत्रो जघान कालानलसप्रभेन ॥५७।
स पावकास्त्रेण हृदि क्षतो भृशं तत्याज देहं त्रिदशारिरात्मनः ।
बभूव सद्यश्च महोरगाणां रसातलान्तेषु महानथोत्सवः ॥५८।
ततोऽपतत् पुष्पवृष्टिर्महीपालसुतोपरि ।
जगुर्गन्धर्वपतयो देववाद्यानि सस्वनुः ॥५९।
स चापि राजपुत्रस्तं हत्वा तौ नृपतेः सुतौ ।
मोचयामास तन्वङ्गीं ताञ्च कन्यां मुदावतीम् ॥६०।

हे मुने ! परमास्त्र सौनन्द मूसल के निर्वीर्य्य होने पर दैत्य अस्त्र-शस्त्र के द्वारा ही संग्राम में शत्रु के साथ युद्ध करने लगा ॥ ५४ ॥

वह असुर अस्त्र-शस्त्र में राजपुत्र के समान नहीं था । मूसल से ही उसे बल था और वह बुद्धि के द्वारा व्यर्थं कर दिया गया था ॥ ५५ ॥

राजपुत्र ने उस दानव के अस्त्र-शस्त्र को व्यर्थ कर उसे रथविहीन कर दिया, अनन्तर वह दैत्य खड्ग और चर्म धारण कर पुनः दौड़ कर आया ॥ ५६ ॥

इन्द्र शत्रु क्रोधाविष्ट उस दैत्य के वेगपूर्वक रण में आने पर राजपुत्र ने कालाग्नि के समान आग्नेयास्त्र से उसका वध किया ॥ ५७ ॥

आग्नेयास्त्र से क्षत-हृदय हो देवशत्रु कुजृम्भ के प्राणत्याग करने पर, तत्क्षण पाताल में स्थित सर्पों ने महान् आनन्द मनाया ॥ ५८ ॥

राजपुत्र पर पुष्प-वृष्टि हुई गन्धर्वों ने सङ्गीत आरम्भ किया और देववाद्य बजने लगे ॥ ५९ ॥

उस राजपुत्र ने भी दैत्य का विनाश कर सुनीति और सुमति नाम के दोनों राजपुत्रों एवं कृशाङ्गी मुदावती को मुक्त किया ॥ ६० ॥

तच्चापि मुषलं तस्मिन् कुजृम्भे विनिपातिते ।
जग्राह नागाधिपतिरनन्तः शेषसञ्ज्ञितः ॥६१।
तस्याश्च परितुष्टोऽसौ शेषः सर्वोरगेश्वरः ।
मुदावत्या मुदा ध्यातमनोवृत्तिस्तपोधनः ॥६२।
सुनन्दमुषलस्पर्शं यच्चकार पुनः पुनः ।
योषित् करतलस्पर्शप्रभावज्ञातिशोभना ॥६३।
मुदावत्यास्ततो नाम नागराजस्तदाकरोत् ।
सुनन्दामिति सानन्दं सौनन्दगुणजं द्विज ! ॥६४।
स चापि राजपुत्रस्तां भ्रातृभ्यां सहितां पितुः ।
समीपमानिनायाशु प्रणिपत्याह चैव तम् ॥६५।
आनीतौ तनयौ तात ! तथैवेयं मुदावती ।
तवाज्ञया मयाऽन्यद्यत् कर्त्तव्यं तत् समादिश ॥६६।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः प्रहर्षसंपूर्णहृदयः स महीपतिः ।
साधु साध्वित्यथाहोच्चैर्वत्स वत्सेति शोभनम् ॥६७।
सभाजितोऽस्मि त्रिदशैर्वत्साहं कारणैस्त्रिभिः ।

उस कुजृम्भ के मारे जाने पर शेष नामक नागराज अनन्त ने उस मुसल को ले लिया ॥ ६१ ॥

तपोधन नागराज सानन्द उस मुदावती के अभिप्राय को समझ कर उससे सन्तुष्ट हुआ ॥ ६२ ॥

हे द्विज ! स्त्रियों के करतल के स्पर्श से मूसल विगतशक्ति हो जाता है यह बात मुदावती को ज्ञात थी, इसीसे उस दिन मूसल को बार-बार छुआ था, नागराज ने अतिशय आनन्द के साथ सौनन्द मूसल का गुण जानने वाली मुदावतो का नाम सौनन्दा रखा ॥ ६३-६४ ॥

उस राजपुत्र ने भी दोनों राजकुमारों और उस राजकन्या को शीघ्र ही राजा के पास ले आया और प्रणाम कर निवेदन किया ॥ ६५ ॥

हे तात ! आपकी आज्ञा के अनुसार आपके दोनों कुमारों और मुदावती को छुड़ा लाया हूँ, अब मेरा क्या कर्त्तव्य है, आज्ञा प्रदान करें ॥ ६६ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

तब महीपति ने प्रीतिपूर्ण हृदय से उच्च स्वर में साधु वत्स ! साधु यह मधुर शब्द कहा ॥ ६७ ॥

त्वं जामाता च यत्प्राप्तो यच्चारिर्विनिपातितः ॥६८॥
आगतान्यक्षतान्यत्र यच्चापत्यानि मे पुनः ।
तद्गृहाणाऽद्य शस्तेऽह्नि पाणिमस्या मयोदितम् ॥६९॥
त्वं राजपुत्र ! चार्वङ्ग्याः कन्याया दुहितुर्मम ।
मुदावत्या मुदा युक्तः सत्यवाक्यं कुरुष्व माम् ॥७०॥

राजपुत्र उवाच—

तातस्याज्ञा मया कार्या यद्ब्रवीषि करोमि तत् ।
त्वमेव तात जानीषे नैवात्राविकृतावयम् ॥७१॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्तयोः स राजेन्द्रश्चक्रे वैवाहिकं क्रमम् ।
मुदावत्याश्च दुहितुर्भलन्दनसुतस्य वै ॥७२॥
ततः सह तया रेमे वत्सप्रीर्नवयौवनः ।
रमणीयेषु देशेषु प्रासादशिखरेषु च ॥७३॥
कालेन गच्छता वृद्धः पिता तस्य भलन्दनः ।
वनं जगाम वत्सप्रीः स बभूव महीपतिः ॥७४॥

वत्स ! आज मैं तीन कारणों से देवों के द्वारा भी प्रशंसित हुआ हूँ, प्रथम तुमको जामाता के रूप में प्राप्त किया, द्वितीय शत्रु को विनष्ट हुआ, तृतीय मेरे दोनों पुत्र और कन्या वहाँ से अक्षत शरीर पुनः लौट आये, हे राजपुत्र ! आज शुभ दिन में मेरी आज्ञा के अनुसार सुन्दर शरीर वाली कन्या गुणान्वित इस मेरी पुत्री मुदावती को प्रीतिपूर्वक पाणिग्रहण करो और मुझे सत्यवादी बनाओ ॥ ६८-७० ॥

राजपुत्र ने कहा—

तात की आज्ञा का पालन मुझे अवश्य करना चाहिए, अतः जो कहेंगे वह करूँगा, किन्तु तात ! आप जानते ही हैं कि पूज्यजनों की आज्ञा के पालन से मैं कभी भी पराङ्मुख नहीं होता हूँ ॥ ७१ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इसके बाद राजेन्द्र विदूरथ ने कन्या मुदावती और भलन्दन-पुत्र वत्सप्री का विवाह सम्पन्न किया ॥ ७२ ॥

विवाह हो जाने पर नवयुवक वत्सप्री और मुदावती रमणीय स्थानों और महल के शिखरों पर विहार करने लगे ॥ ७३ ॥

कालक्रम में वत्सप्री के पिता भलन्दन वृद्ध होकर वन में चले गये और वत्सप्री राजा होकर यज्ञों का अनुष्ठान और धर्मानुसार प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा भी

इयाज यज्ञान् सततं प्रजाधर्मेण पालयन् ।
पुत्रवत्पाल्यमानास्तु प्रजास्तेन महात्मना ।।७५।
ववृधुर्विषये तस्य नं चाभूद्वर्णसङ्करः ।
न दस्युव्यालदुर्वृत्तभयमासीच्च कस्यचित् ।
नोपसर्गभयञ्चैव तस्मिन् शासति भूपतौ ।।७६।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे भलन्दवत्सप्रीचरितं नाम षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ।।११६।।

उस महात्मा से पुत्र के समान प्रतिपालित होकर उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होने लगी ॥ ७४-७५ ॥

उसके राज्य के किसी स्थान में वर्णसङ्कर की उत्पत्ति नहीं होती थी, उसके शासन काल में चोर, हिंस्र पशु, दुर्वृत्त तथा अन्य किसी प्रकार की आपत्ति का भय नहीं था ॥ ७६ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय पुराण का भलन्दन वत्सप्रीचरित नामक एक सौ सोलहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥



सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

तस्य तस्यां सुनन्दायां पुत्रा द्वादश जज्ञिरे ।
प्रांशुः प्रवीरः शूरश्च सुचक्रो विक्रमः क्रमः ॥१॥
बली बलाकश्चण्डश्च प्रचण्डश्च सुविक्रमः ।
स्वरूपश्च महाभागाः सर्वे सङ्ग्रामजित्तमाः ॥२॥
तेषां ज्येष्ठो महावीर्यः प्रांशुरासीन्नराधिपः ।
इतरे भृत्यवत्तस्य बभूवुर्वशवर्त्तिनः ॥३॥
तस्य यज्ञे द्विजत्यक्तैरनेकैर्द्रव्यराशिभिः ।
न्यूनवर्णविसृष्टैश्च सत्यनामा वसुन्धरा ॥४॥
सम्यक् पालयतस्तस्य प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ।
योऽभूद्धनचयः कोषे तेंन निष्पादितास्तु ये ॥५॥
क्रतवः शतसाहस्रास्तेषां सङ्ख्या न विद्यते ।
अयुताद्येन कोटीभिर्न च पद्मादिभिर्मुने ! ॥६॥
प्रजातिस्तस्य पुत्रोऽभूद्यस्य यज्ञे शतक्रतुः ।
अवाप्य तृप्तिमतुलां यज्ञभागैः सुरैः सह ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

उसी सुनन्दा के गर्भ से वत्सप्री को—प्रांशु, प्रवीर, शूर, सुचक्र, विक्रम, क्रम, बल, बलाक, चण्ड, प्रचण्ड, सुविक्रम और स्वरूप ये बारह पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी महाभाग और संग्रामविजेता थे ॥ १-२ ॥

उनमें से बड़ा भाई महावीर प्रांशु नरपति था। शेष ग्यारह भाई भृत्य की तरह उसके वशवर्ती रहते थे ॥ ३ ॥

उसके यज्ञकाल में ब्राह्मणों और अन्य जाति के लोगों के द्वारा विपुल अर्थ के दान से पृथ्वी ने 'वसुन्धरा' यह नाम धारण सत्य किया ॥ ४ ॥

हे मुने ! औरस पुत्र की तरह प्रजापालन करने से उसके राजकोष में जो धनसञ्चय होता था उस धन से अनन्त यज्ञ सम्पन्न होते थे, उन की अयुत, कोटि, पद्म आदि संख्याओं से गगना नहीं की जा सकती थी ॥ ५-६ ॥

प्रांशु के प्रजापति नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके यज्ञ में यज्ञ भागग्राही देवों के साथ शतक्रतु इन्द्र ने अतुलतृप्ति प्राप्त कर महावीर्यशाली निन्यानबे दानवों,

दानवानां सुवीर्याणां जघान नवतीर्नव ।
बलश्च बलिनां श्रेष्ठो जम्भश्चासुरसत्तमम् ।
अन्यांश्च सुमहावीर्यानाजघानामरद्विषः ।।८।
प्रजातेस्तनयाः पञ्च खनित्रप्रमुखा मुने ।
तेषां खनित्रो राजाभूत् प्रख्यातो निजविक्रमैः ।।९।
स शान्तः सत्यवाक् शूरः सर्वप्राणिहिते रतः ।
स्वधर्माभिरतो नित्यं वृद्धसेवी बहुश्रुतः ।।१०।
वाग्मी विनयसम्पन्नः कृतास्त्रोऽप्यविकत्थनः ।
सर्वलोकप्रियो नित्यमुवाचैतदहर्निशम् ।।११।
नन्दन्तु सर्वभूतानि स्निह्यन्तु विजनेष्वपि ।
स्वस्त्यस्तु सर्वभूतेषु निरातङ्कानि सन्तु च ।।१२।
मा व्याधिरस्तु भूतानामाधयो न भवन्तु च ।
मैत्रीमशेषभूतानि पुष्यन्तु सकले जने ।।१३।
शिवमस्तु द्विजातीनां प्रीतिरस्तु परस्परम् ।
समृद्धिः सर्ववर्णानां सिद्धिरस्तु च कर्मणाम् ।।१४।
ते लोकाः सर्वभूतेषु शिवा वोऽस्तु सदा मतिः ।
यथात्मनि तथा पुत्रे हितमिच्छथ सर्वदा ।।१५।
तथा समस्तभूतेषु वर्त्तध्वं हितबुद्धयः ।
एतद्वो हितमत्यन्तं को वा कस्यापराध्यते ।।१६।

बल और जम्भ नामक असुर-श्रेष्ठों तथा अन्यान्य महाबली देवशत्रुओं का विनाश किया ।। ७-८ ।।

प्रजाति के खनित्र आदि पाँच पुत्र हुए थे। उनमें खनित्र ही अपने पराक्रम से विख्यात राजा हुआ था। वह शान्त, सत्यवादी, शूर, सब प्राणियों का हितैषी, स्वधर्म-परायण, सर्वदा वृद्धसेवी, बहुश्रुत, वाग्मी, विनयसम्पन्न, अस्त्रज्ञ एवं सर्वलोक प्रिय था। वह सदा यही कहा करता था कि, सब प्राणी आनन्द का उपभोग करें, निर्जनों से सब जीवों का मङ्गल हो और सभी निरापद अनुभव करें ।। ९-१२ ।।

प्राणियों की व्याधियाँ मिट जाँय, किसी को मनोव्यथा न हो और सब लोग सभी के प्रति मैत्रीभाव से रहे तथा फले-फूलें। द्विजातियों में परस्पर प्रेम बढ़े और उनका कल्याण हो, सभी वर्णों की समृद्धि हो और सभी कर्मों की सिद्धि हो। हे मनुष्यो ! आप लोगों की सभी प्राणियों में सर्वदा मङ्गलमयी बुद्धि प्रवर्त्तित होती रहे। तुम जिस प्रकार अपनी और अपने पुत्रों की हित चाहते हो, उसी तरह सभी जीवों के प्रति हित-कामना होती रहे ।। १३-१६ ।।

यत् करोत्यहितं किञ्चित् कस्यचिन्मूढमानसः ।
तं समभ्येति तन्नूनं कर्तृगामि फलं यतः ॥१७॥

इति मत्वा समस्तेषु भो लोकाः कृतबुद्धयः ।
सन्तु मा लौकिकं पापं लोकाः प्राप्स्यथ वै बुधाः ॥१८॥

यो मेऽद्य स्निह्यते तस्य शिवमस्तु सदा भुवि ।
यश्च मां द्वेष्टि लोकेऽस्मिन् सोऽपि भद्राणि पश्यतु ॥१९॥

एवं स्वरूपः पुत्रोऽभूत् खनित्रस्तस्य भूपतेः ।
समस्तगुणसम्पन्नः श्रीमानब्जदलेक्षणः ॥२०॥

तेन ते भ्रातरः प्रीत्या पृथग्राज्येषु योजिताः ।
स्वयञ्च पृथिवीमेतां बुभुजे सागराम्बराम् ॥२१॥

प्राच्यां तेन कृतः शौरिर्दक्षिणायां मुदावसुः ।
दिशि प्रतीच्यां मुनय उत्तरस्यां महारथः ॥२२॥

तेषां तस्य च भूपस्य पृथग्गोत्राः पुरोहिताः ।
बभूवुर्मुनयश्चैव मन्त्रिवंशक्रमागताः ॥२३॥

मूढमति कोई यदि किसी का कुछ भी अहित करता है तो वह निश्चित ही उस अहित का उपभोग करता है, क्यों कि, कर्म का फल कर्ता का ही उपभोग्य होता है ॥ १७ ॥

हे मनुष्यो ! यह विचार कर सभी विषयों के प्रति स्थिर मति हो, हे मनीषिगण ! लौकिक पाप न हो इससे उत्तम लोकों को प्राप्त करोगे ॥ १८ ॥

जो मेरे प्रति स्नेह का भाव रखता है, पृथिवी में सदा उनका कल्याण हो और जो मेरे प्रति द्वेष रखता है, वह भी सदा कल्याण प्राप्त करे ॥ १९ ॥

भूपति का पुत्र सभी गुणों से सम्पन्न, पद्मपलाशलोचन श्रीमान् खनित्र भी ऐसा ही था ॥ २० ॥

उसने भी प्रीतिपूर्वक भाइयों को विभिन्न राज्यों में प्रतिष्ठित कर स्वयं सागरस्वरूप वस्त्र से मण्डित पृथिवी का पालन करने लगा ॥ २१ ॥

शौरि को पूर्वप्रान्त के, उदावसु को दक्षिणदेश के, सुनय को पश्चिम देश के एवं महारथ को उत्तर प्रदेश के राज्य पद पर प्रतिष्ठित किया ॥ २२ ॥

खनित्र और उनके भाइयों के मन्त्रिवंश के क्रम में प्राप्त विभिन्न गोत्र वाले मुनिगण पौरोहित्य कर्म के लिए नियुक्त थे ॥ २३ ॥

शौरेरत्रिकुलोद्भूतः सुहोत्रो नाम वै द्विजाः ।
उदावसोः कुशावर्त्तो गौतमान्वयजोऽभवत् ।।२४।

काश्यपः प्रमतिर्नाम सुनयस्य पुरोहितः ।
महारथस्य वाशिष्ठः पुरोधाऽभून्महीभृतः ।।२५।

बुभुजुस्ते स्वराज्यानि चत्वारोऽपि नराधिपाः ।
खनित्रश्चाधिपस्तेषामशेषवसुधाधिपः ।।२६।

तेषु भ्रातृष्वशेषेषु खनित्रः स महीपतिः ।
प्रजासु च समस्तासु पुत्रेष्विव सदा हितः ।।२७।

एकदा मन्त्रिणा शौरिः स प्रोक्तो विश्ववेदिना ।
विविक्ते पृथिवीपाल ! कश्चिद्वक्तव्यमस्ति नः ।।२८।

यस्येयं पृथिवी कृत्स्ना यस्य भूपा वशानुगाः ।
स राजा तस्य पुत्रश्च तत्पौत्राश्चान्वयस्ततः ।।२९।

इतरे भ्रातरस्तस्य प्रावकल्पविषयाधिपाः ।
तत्पुत्रश्चाल्पकस्तस्मात् तत् पौत्राश्चाल्पकल्पिकाः ।।३०।

कालेन ह्रासमासाद्य पुरुषात् पुरुषान्तरम् ।

अत्रि के कुल में उत्पन्न सुहोत्र नामक द्विज शौरि के, गौतम के वंश में उत्पन्न कुशावर्त उदावसु के पुरोहित थे ।। २४ ।।

कश्यप के गोत्र में उत्पन्न प्रमति नामक राजा सुनय के पुरोहित वसिष्ठ गोत्र में उत्पन्न वसिष्ठ राजा महारथ के पुरोहित थे ।। २५ ।।

ये चारों राजा अपने राज्यों का उपभोग करते थे उन सभी महीपतियों के खनित्र अधीश्वर थे ।। २६ ।।

महाराजा खनित्र उन भाइयों और प्रजा के प्रति वैसा ही हितकर व्यवहार करता था, जैसा पिता पुत्र के प्रति किया करता है। किसी समय शौरि के मन्त्री विश्ववेदी ने उससे कहा,—हे महीपाल ! इस समय एकान्त है, इसलिये मैं कुछ कहना चाहता हूँ। यह समस्त पृथ्वी और भूपालवृन्द जिसके अधीन हैं, वह राजा है और उसके पुत्र-पौत्रादि वंशधर ही सदा राजा होंगे। उसके अन्य भ्राताओं के अधिकार में छोटे-छोटे राज्य हैं। अब उनके पुत्रों में बँटकर वे बहुत छोटे हो जायँगे और उनके भी पुत्र-पौत्रों में बँट जाने से अत्यल्प टुकड़े होंगे। हे राजन् ! इसी क्रम से अन्त में उनके वंशधरों

कृष्योपजीविनो भूप ! भवन्तीति तदन्वयाः ॥३१।
नोद्धारं कुरुते भ्राता भ्रातृस्नेहबलार्पणः ।
स्नेहकः पृथिवीपाल ! परयोर्भ्रातृपुत्रयोः ॥३२।
तत् पुत्रयोः परतरा मतिर्भवति पार्थिव ! ।
तत्पुत्रः केन कार्य्येण प्रीतियुक्तो भविष्यति ॥३३।
अथ वा येन तेनैव सन्तोषं कुरुते नृपः ।
क्रियते तत्किमर्थन्तु भूपैर्मन्त्रपरिग्रहः ॥३४।
भुज्यते सकलं राज्यं मया ते मन्त्रिणा सता ।
तत् किं मुधा धारयसे सन्तोषं कुरुते यदि ॥३५।
कार्यनिष्पादकं राज्यं करणं कर्त्तुरिष्यते ।
राज्यलब्धुश्च ते कार्य्यं त्वं कर्ता करणं वयम् ॥३६।
सोऽस्माभिः करणैराज्यं पितृपैतामहं कुरु ।
फलप्रदा भविष्यामः परलोके न ते वयम् ॥३७।

राजोवाच—

ज्येष्ठो राजा महीपालः ! वयन्तस्यानुजा यतः ।
ततः स भुङ्क्ते पृथिवीं वयञ्चाल्पवसुन्धराम् ॥३८।

को कृषि से जीविका निर्वाह करनी होगी। हे पृथिवीपाल ! भ्रातृस्नेह में आबद्ध होकर भाई कदापि भाई का उद्धार नहीं करता है। उन भाइयों के पुत्र तो एक दूसरे को पराया समझने लगते है। हे पार्थिव ! उनके पुत्रों में पराई बुद्धि होती है, यदि केवल सन्तोष कर लेना ही राजा का कर्तव्य हो, तो वे मन्त्रियों को क्यों नियुक्त करते हैं ? मैं मन्त्री के पद पर नियुक्त हूँ, मेरे रहने पर यही चाहूँगा कि, समग्र राज्य का आप उपभोग करें। तब आप व्यर्थ सन्तोष धारण कर क्यों बैठे हुए हैं ? राज्यकर्ता के कार्य का सम्पादन करने के लिये करण की आवश्यकता होती है। राज्यलाभ करना कार्य है, आप कर्ता हैं और मैं करण हूँ। अतः करण के द्वारा आप पितृ-पितामहादि के राज्य का शासन कीजिये। इसलोक में ही आपके लिये मैं फलप्रद हो सकता हूँ, परलोक में नहीं ॥ २७-३७ ॥

राजा ने कहा—

वर्तमान महीपाल हमारे जेठे भाई हैं और हम उनके अनुज हैं। इसी से वे समस्त पृथ्वी का शासन करते हैं और हम छोटी-छोटी भूमियों का उपभोग करते हैं ॥ ३८ ॥

वयन्तु भ्रातरः पञ्च पृथ्वी चैका महामते ! ।
अतोऽस्याः पृथगैश्वर्यं कथं कृत्स्नं भविष्यति ॥३९।

विश्ववेद्युवाच—

एवमेतद्भवांस्तत्र यद्येका वसुधा नृप ! ।
तां त्वमेवाभिपद्यस्व ज्येष्ठः शास्तु महीं भवान् ॥४०।

सर्वाधिपत्यः सर्वेभ्यो भव त्वमखिलेश्वरः ।
यतन्ते च यथाऽहन्ते तेषामाहितमन्त्रिणः ॥४१।

राजोवाच—

ज्येष्ठो राजा यथा प्रीत्या भजतेऽस्मान् सुतानिव ।
कथं तस्य करिष्यामि ममत्वं जगतीगतम् ॥४२।

विश्ववेद्युवाच—

राज्यस्थितः पूजयेथा ज्येष्ठो भूपार्हणैर्नवैः ।
कनिष्ठज्येष्ठता केयं राज्यं प्रार्थयतां नृणाम् ॥४३।

हे महामते ! हम पाँच भाई हैं और पृथिवी तो एक ही है। फिर समग्र पृथिवी के ऐश्वर्य का स्वतन्त्ररूप से उपभोग करने में हम सभी कैसे समर्थ हो सकते हैं ॥३९॥

विश्ववेदी ने कहा—

हे नृप ! आप जो कहते हैं, वह यथार्थ है। पृथिवी एक ही है, यह मैं मानता हूँ; किन्तु मेरा अभिप्राय यह है कि, उस पृथ्वीको स्वीकार आप ही करें और सबके प्रधान बन कर पृथिवी का शासन करें। सर्वाधिकारको प्राप्त कर सब भाइयों में आप ही अखिलेश्वर हों। उनके नियुक्त किये हुए मेरे जैसे मन्त्री भी ऐसी ही चेष्टा करते रहते हैं ॥ ४०-४१ ॥

राजा ने कहा—

मेरे ज्येष्ठ भ्राता महाराजा हैं, वे हम लोगों का पुत्रों के समान स्नेहपूर्वक प्रतिपालन किया करते हैं। फिर मैं क्यों कर उनके राज्य का लोभ करूँ ॥ ४२ ॥

विश्ववेदी बोला—

वे ज्येष्ठ हैं, तो क्या चिन्ता है ? आप जब सब राज्य के पूर्ण अधिकारी हो जायँगे, तब राजा के योग्य उपहारों से उनका सम्मान करें। राज्य की अभिलाषा करने वालों का ज्येष्ठ-कनिष्ठ का यह विचार कैसा है ॥ ४३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

तथेति च प्रतिज्ञाते भूभुजा तेन सत्तम ! ।
विश्ववेदी ततो मन्त्री तद्भ्रातॄननयद्वशम् ॥४४।
तेषां पुरोहितांश्चैव आत्मनः शान्तिकादिषु ।
नियोजयामास ततः खनित्रस्याभिचारके ॥४५।
बिभेद तस्य निभृतान् सामदानादिभिस्तथा ।
चक्रे च परमोद्योगं निजदण्डप्रधावने ॥४६।
आभिचारिकमत्युग्रमहन्यहनि कुर्वताम् ।
पुरोधसां चतुर्णाञ्च जज्ञे कृत्या चतुष्टयम् ॥४७।
विकरालं महावक्त्रमतिभीषणदर्शनम् ।
समुद्यत महाशूलं प्रभूतमतिदारुणम् ॥४८।
ततस्तदागतन्तत्र खनित्रो यत्र पार्थिवः ।
निरस्तञ्चाप्यदुष्टस्य तस्य पुण्यचयेन तत् ॥४९।
कृत्या चतुष्टयन्तेषु निपपात दुरात्मसु ।
पुरोहितेषु भूपानां तथा वै विश्ववेदिनि ॥५०।

मार्कण्डेय ने कहा—

हे सत्तम ! इसी तरह राजा और मन्त्री में बातचीत होते-होते अन्त में मन्त्री की बात राजा ने मान ली। फिर मन्त्री विश्ववेदी ने उसके अन्यान्य भाइयों को वशीभूत कर लिया और उसके पुरोहितों को अपने यहाँ के शान्तिकर्म में नियुक्त कर खनित्र के अनिष्ट के लिये अत्यन्त उग्र आभिचारिक (मन्त्र-तन्त्रादि) कर्मों के अनुष्ठान बैठा दिये। खनित्र के अन्तरङ्ग विश्वासपात्र सेवकों को अपनी ओर मिला लिया और ऐसी चालें चलीं, जिन से शौरि का राजदण्ड प्रबाधित हो जाय। परन्तु चारों पुरोहितों के आभिचारिक प्रयोग से बड़ी भयानक चार कृत्याएँ उत्पन्न हुईं। उन सबके देह अतिविशाल, विकराल और मुंह विकट थे; जिनको देखकर ही छाती दहल जाती थी। वे चारों दारुण कृत्याएँ हाथ में बड़े-बड़े शूल ताने हुई थीं। दौड़ी हुई वे पार्थिव खनित्र के पास गयीं, किन्तु निष्पाप राजा के पुण्यों ने बल से शीघ्र ही हतप्रभ हो गयीं। तब वे चारों उन चारों राजपुरोहितों और विश्ववेदी के निकट आ गई ॥४४-५०॥

ततो निहन्त्या निर्दग्धाः कृत्यया ते पुरोहिताः ।
विश्ववेदी तथा मन्त्री स शौरेर्दुष्टमन्त्रदः ॥५१॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे खनित्रचरित्रवर्णनं नाम सप्तदशाधिक-
शततमोऽध्यायः ॥११७॥

उन शौरि को दुष्ट विचार देने वाले मन्त्री विश्ववेदी और उन पुरोहितों को मारा जला दिया ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का खनित्र-चरित्र वर्णन नामक एक सौ सत्रहवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ॥



अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः समस्तलोकस्य विस्मयः सोऽभवन्महान् ।
यदेककालं नेशुस्ते पृथक् पुरनिवासिनः ॥१।
ततः शुश्राव निधनं यातान् भ्रातृपुरोहितान् ।
मन्त्रिणञ्च तथा भ्रातुर्दग्धं तं विश्ववेदिनम् ॥२।
किमेतदिति सोऽतीव विस्मितो मुनिसत्तम ! ।
खनित्रोऽभून्महाराजो नाजानात् तच्च कारणम् ॥३।
ततो वसिष्ठं पप्रच्छ स राजा गृहमागतम् ।
यत्कारणं विनेशुस्ते भ्रातृमन्त्रिपुरोहिताः ॥४।
तेन पृष्टस्तदा प्राह यथा वृत्तं महामुनिः ।
यच्छौरिमन्त्रिणा प्रोक्तं यच्च शौरिरुवाच तत् ॥५।
यथा चानुष्ठितन्तेन भ्रातृणां भेदकारि वै ।
मन्त्रिणा तेन दुष्टेन यच्चक्रुश्च पुरोहिताः ॥६।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

उस समय सभी लोगों को इस बात से बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि भिन्न-भिन्न नगरों में निवास करने वाले सबके सब एक साथ कैसे नष्ट हो गये। हे मुनिसत्तम ! महाराज खनित्र ने अपने भाइयों के पुरोहितों और एक भाई के मन्त्री विश्ववेदी के एकाएक भस्म हो जाने का जब समाचार सुना, तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। क्योंकि, उसे इसका कारण ज्ञात नहीं, इसलिये वह चिन्ता में पड़ गया कि, यह कैसे और क्यों हुआ। अनन्तर उनके घर पर आये हुए वसिष्ठ ने भाइयों के पुरोहित और मन्त्री के विनाश का उनसे कारण पूछा। तब महामुनि वसिष्ठ ने अन्तर्दृष्टि से ज्ञात कर शौरि और उसके मन्त्री में जो बात-चीत हुई थी, उस दुष्ट मन्त्री के द्वारा भाई-भाइयों में वैमनस्य होने के लिये जो-जो कार्य किये गये थे, पुरोहितों ने जो कुछ किया था और

यन्निमित्तं विनेशुस्ते अपापस्यापकारिणः ।
पुरोहितास्तस्य राज्ञः शत्रावपि दयापराः ।।७।
स तच्छ्रुत्वा ततो राजा हा हतोऽस्मीति वै वदन् ।
निनिन्दात्मानमत्यर्थं वसिष्ठस्याग्रतो द्विज ! ।।८।

राजोवाच—

धिङ्मामपुण्यसंस्थानमल्पभाग्यमशोभनम् ।
दैवदोषकृतं पापं सर्वलोकविगर्हितम् ।।९।
तन्निमित्तं विनष्टं यत्तद्ब्राह्मणचतुष्टयम् ।
मत्तः कोऽन्यः पापतरो भविष्यति पुमान् भुवि ।।१०।
नाभविष्यं यदि पुमानहमत्र महीतले ।
ततस्तेन विनश्येयुर्मम भ्रातृपुरोहिताः ।।११।
धिग् राज्यं धिक् च मे जन्म भुभूजां महतां कुलें ।
कारणत्वं गतो योऽहं विनाशस्य द्विजन्मनाम् ।।१२।

शत्रु के प्रति भी दया करने वाले वे पुरोहित जिस कारण से निरपराधी का अपकार करने के लिये उद्यत होकर विनष्ट हो गये थे, वह सब वृत्तान्त कह सुनाया। हे द्विज ! राजा ने वह सुनकर कहा,—"हां ! हतोऽस्मि"। तथा वसिष्ठ के सम्मुख वह अपनी ही निन्दा करने लगा ॥ १-८ ॥

राजा ने कहा—

हे मुने ! मैं हतभागी और बड़ा ही अयोग्य हूँ। देव मेरे प्रतिकूल हैं और मैं सब लोकों में निन्दित और पापी हूँ। मुझ अपुण्यातमा को धिक्कार है। क्योंकि मेरे कारण ही चार ब्राह्मणों का विनाश हुआ है। अतः मुझ से बढ़कर भूमण्डल में दूसरा पापी कौन हो सकता है। यदि मैं पृथिवी में पुरुष होकर जन्म-ग्रहण न करता, तो मेरे भाइयों के पुरोहितों का नाश नहीं होता। मैं ही उन ब्राह्मणों के विनाश का कारण हुआ हूँ; अतः मेरे इस राज्य को तथा महत् राजकुल में हुए मेरे जन्मको धिक्कार है। मेरे भ्राताओं के याजक अपने प्रभुका कार्य-साधन करते हुए विनष्ट हुए हैं, अतः वे दोषी नहीं हो सकते है, उनके विनाश का कारण मैं हुआ हूँ, अतः मैं ही दोषी हूँ।

कुर्वन्तः स्वामिनां तेऽर्थं भ्रातॄणां मम याजकाः ।
नाशं ययुर्नं दुष्टास्ते दुष्टोऽहं नाशकारणे ॥१३॥
किं करोमि क्व गच्छामि नान्यो मत्तो हि पापकृत् ।
पृथिव्यामस्ति हेतुत्वं द्विजनाशस्य यो गतः ॥१४॥
इत्थमुद्विग्नहृदयः खनित्रः पृथिवीपतिः ।
वनं यियासुः पुत्रस्य कृतवानभिषेचनम् ॥१५॥
अभिषिच्य सुतं राज्ये क्षुपसञ्ज्ञं महीपतिः ।
भार्य्याभिस्तिसृभिः साद्धं तपसे स वनं ययौ ॥१६॥
तत्र गत्वा तपस्तेपे वानप्रस्थविधानवित् ।
शतानि त्रीणि वर्षाणां सार्द्धानि नृपसत्तमः ॥१७॥
तपसा क्षीणदेहस्तु राजवर्य्यो द्विजोत्तम ! ।
निगृह्य सर्वस्रोतांसि तत्याजाऽसून् वनेचरः ॥१८॥
ततः पुण्यान् ययौ लोकान् सर्वकामदुहोऽक्षयान् ।
अश्वमेधादिभिर्यज्ञैरवाप्या ये नराधिपैः ॥१९॥
भार्य्याश्च तस्य तास्तिस्त्रः समन्तेनैव तत्यजुः ।
प्राणानवापुः सालोक्यं तेनैव सुमहात्मना ॥२०॥

इस समय मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? ब्राह्मण-हत्या का कारण बना हुआ मुझ जैसा पापकारी पृथ्वी में दूसरा नहीं है। इस प्रकार पृथ्वीपति खनित्र ने उद्विग्न होकर वन में चले जाने की इच्छा से अपने क्षुप नामक पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया और तीनों पत्नियों को साथ में लेकर तपस्या के लिये वन में गमन किया। उस नृपश्रेष्ठ ने वन में जाकर वानप्रस्थ विधान के अनुसार साढ़े तीन सौ वर्षों तक तपस्या की। हे द्विजोत्तम ! राजकुलतिलक उस वनवासी राजा ने तपस्या द्वारा अपने शरीर को क्षीण कर, सब इन्द्रियों का निरोध करते हुए प्राणों का विसर्जन कर दिया। अन्यान्य नृपति सैकड़ों अश्वमेध करके भी जिस लोक को प्राप्त नहीं कर सकते, खनित्र ने मृत्यु के पश्चात् उस सर्वाभीष्टप्रद अक्षय्य पुण्यलोक को प्राप्त किया। उसकी तीनों पत्नियों ने भी स्वामी के साथ प्राणों का परित्यांग कर जिस लोक की प्राप्ति उस महात्मा को

एतत् खनित्रचरितं श्रुतं कल्मषनाशनम् ।
पठताञ्च महाभाग ! क्षुपस्यातो निशामय ।।२१।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे खनित्रचरित्रवर्णनं नामाऽष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ।।११८।।

हुई थी उसी लोक में गमन किया। हे महाभाग ! यह खनित्र चरित श्रवण भी सब पापों का नाशक है। अब मैं क्षूपका चरित कहता हूँ, वह सुनो ॥ ९-२१ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का खनित्र-चरित वर्णन नामक एक सौ अठारहवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ॥



एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

क्षुपः खनित्रपुत्रस्तु प्राप्य राज्यं यथा पिता ।
तथैव पालयामास प्रजा धर्मेण रञ्जयन् ॥१।
स दानशीलो यष्टा च यज्ञानामवनीपतिः ।
समः शत्रौ च मित्रे च व्यवहारादिवर्त्मनि ॥२।
एकदा स महीपालो निजस्थानगतो मुने ! ।
सूतैरुक्तो यथा पूर्वं क्षुपो राजा तथाऽभवत् ॥३।
ब्रह्मणस्तनयः पूर्वं क्षुपोऽभूत् पृथिवीपतिः ।
यादृक् चरितमस्यासीत्तादृक् तस्यैव चेष्टितम् ॥४।

राजोवाच—

श्रोतुमिच्छामि चरितं क्षुपस्य सुमहात्मनः ।
यदि तादृङ्मया शक्यं चेष्टितुं तत्करोम्यहम् ॥५।

सूता ऊचुः—

स चकाराकरान् भूप ! राजा गोब्राह्मणान् पुरा ।
षष्ठांशेन कृता चोर्व्यामिष्टिस्तेन महात्मना ॥६।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

खनित्र-पुत्र क्षुप के राज्य प्राप्त करने पर वह भी पिताकी तरह प्रजा का मनोरञ्जन करता हुआ धर्मानुसार राज्य का पालन करने लगा। राजा क्षुप भी अनेक यज्ञों का कर्ता, दाता और व्यवहारादि मार्ग से शत्रु-मित्र को समान समझनेवाला था ॥ १-२ ॥

हे मुने ! एक समय वह महीपाल क्षुप अपने सिंहासन पर विराजमान थे सूतों-स्तुति पाठकों ने कहा जैसे पूर्व में क्षुप राजा थे वैसे ही आप भी हैं। ब्रह्मा का पुत्र क्षुप पृथ्वीपति जैसा इनका चरित्र है वैसा ही उसकी भी चेष्टा थी ॥ ३-४ ॥

राजा ने कहा—

महात्मा क्षुप का चरित्र मैं सुनाना चाहता हूँ। मैं ऐसी चेष्टा करूँगा, जिससे उनके जैसा आचरण करने में समर्थ हो सकूँ ॥ ५ ॥

सूतों ने कहा—

हे राजन् ! उस क्षुप राजा ने गौ-ब्राह्मणों को कर से मुक्त कर दिया था और जो प्रजा से षष्ठांश भूमि-कर मिलता था; उसी से यज्ञादि कार्य सम्पन्न करता था ॥ ६ ॥

राजोवाच—

तेषां महात्मनां राज्ञां कोऽनुयास्यति मद्विधः । २
तस्याप्युत्कृष्टचेष्टानां चेष्टासूद्यमवान् भवेत् ॥७॥
तत् श्रूयतां प्रतिज्ञा या साम्प्रतं क्रियते मया ।
क्षुपस्यानुकरिष्यामि महाराजस्य चेष्टितम् ॥८॥
त्रींस्त्रीन् यज्ञान् करिष्यामि शस्यापाते गतागते ।
पृथिव्याश्चतुरर्णायां प्रतिज्ञेयं कृता मया ॥९॥
यञ्च गोब्राह्मणाः पूर्वमददन् भूभृते करम् ।
तमेव प्रतिदास्यामि ब्राह्मणानां तथा गवाम् ॥१०॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति प्रतिज्ञाय वचः क्षुपस्तत् कृतवांस्तथा ।
शस्यापाते स यज्ञांस्त्रीनयजद्यजतां वरः ॥११॥
गोब्राह्मणः पुरा राज्ञामददद्यञ्च वै करम् ।
तावत् संख्यमदाद्वित्तमन्यद्गोब्राह्मणाय सः ॥१२॥
तस्य पुत्रोऽभवद्वीरः प्रमथायामनिन्दितः ।
यस्य प्रतापशौर्य्याभ्यां कृता वश्या महीभृतः ॥१३॥

राजा ने कहा—

मेरे जैसे व्यक्ति भला उन जैसे महात्माओं के कार्यों का कैसे अनुकरण कर सकते हैं ? तथापि उन महापुरुषों का आचरण जैसा उत्कृष्ट था, उसका अनुकरण करने की चेष्टा करना उचित है। अतः अब मैं जो प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे सुनो। आज से मैं महाराज क्षुप के कार्यों का अनुकरण करूँगा और भूत, वर्तमान तथा भविष्यकाल में कृषि से जो कर मैंने लिया है, लेता हूँ और लूंगा, उससे तीन दिन यज्ञ करूँगा। चार समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी में प्रतिज्ञा करता हूँ कि, इससे पहिले मैंने जो गो-बाह्मणों से राज-कर ग्रहण किया है, वह सब गो-ब्राह्मणों के ही कामों में लगा दूंगा ॥ ७-१० ॥

मार्कंण्डेय मुनि ने कहा :—

याज्ञिक-श्रेष्ठ क्षुप ने जैसी यह प्रतिज्ञा की, वैसा उसने निर्वाह भी किया। यज्ञ करने में प्रवीण उस राजा ने प्रत्येक कृषि के समय में तीन-तीन यज्ञ किये और गो-ब्राह्मणों से पहिले जो राज-कर ग्रहण किया था, वह गो-ब्राह्मणों के ही काम में लगा दिया। क्षुप की प्रमथा नामकी पटरानी के गर्भ से एक सुन्दर और महावीर पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्र ने शूरता, वीरता और बल आदि गुणों से अनेक महीपालों को

तस्यापि नन्दिनी नाम·वैदर्भी दयिताऽभवत् ।
विविंशं तनयं तस्यां जनयामास स प्रभुः ॥१४।

विविंशे शासति महीं महीपाले महौजसि ।
महीतलमभूद्व्याप्तं निरन्तरतया नरैः ॥१५।

ववर्ष काले पर्जन्यो मही शस्यवती तथा ।
सुफलानि च शस्यानि रसवन्ति फलानि च ॥१६।

रसाः पुष्टिकराश्चासन् पुष्टिर्नोन्मादकारिणी ।
न वित्तनिचया नृणां प्रभूता मदहेतवः ॥१७।

तत्प्रतापेन रिपवो भयमापुर्महामुने ! ।
स्वास्थ्यं जनः सुहृद्वर्गो मुदमिच्छन्ति पौरिकाः ॥१८।

इष्ट्वा स यज्ञान् सुबहून् सम्यक् सम्पाल्य मेदिनीम् ।
सङ्ग्रामे निधनं प्राप्य शक्रलोकमितो गतः ॥१९।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे विविंशचरित्रवर्णनं नामैकोनविंशत्यधिक-
शततमोऽध्यायः ॥११९॥

वशीभूत कर लिया । विदर्भराज की नन्दिनी नामकी कन्या उसकी पत्नी हुई थी । उस पत्नी से उसे विविंश नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ । महावीर विविंश के शासनकाल में पृथ्वी प्रजावृन्द के द्वारा परिव्याप्त हो गयी थी । तब मेघ यथा समय वर्षा करते और वसुन्धरा भी उसी तरह शस्य-सम्पन्न हुआ करती थी । सभी शस्य फलशाली होते, सब फल रसीले होते, सब रस पुष्टिकारी होते और पुष्टि उन्मादको बढ़ानेवाली नहीं होती थी । विपुल-सम्पत्तिशालिता प्रभुत्व के उन्माद का कारण नहीं था । हे महामुने ! शत्रुगण उनके प्रताप के भय से कभी निश्चिन्त नहीं होते थे । उसके सुहृद्वर्ग सन्तुष्ट और प्रसन्न चित्त से रहते थे । इस प्रकार विविंश राजा ने अनेक यज्ञानुष्ठान कर और उत्तम प्रकार से राज्यशासन कर संग्राम में मारे जाकर इन्द्रलोक को प्राप्त किया ॥ ११-१९ ॥



पर्यालोचन

राजनैतिक आदर्श और सिद्धान्त

मानव-स्वभाव से राज्य का संबंध होने के कारण उसका एकमात्र उद्देश्य मानव-जीवन को शान्ति और सुख प्रदान करना है। मानव-जीवन को पूर्ण शान्ति इहलौकिक सुख से ऊपर उठ कर पारलौकिक सुख की प्राप्ति करने से होती है, जिसके लिए आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि प्राचीन काल में राजनीतिक सिद्धांत की रचना आध्यात्मिकता के सुदृढ़ शिला पर हुई, जिसका निरूपण उन ब्रह्मवादी ऋषियों द्वारा किया गया था, जिनकी दृष्टि इहलोक तक सीमित न होकर परलोक तक फैली हुई थी। उन ऋषियों ने अपनी बुद्धि से समाधिजन्य दिव्य-ब्रह्म-ज्ञान के आधार पर जो राजनीतिक सिद्धांत निश्चित किए हैं, वे सर्वथा भ्रांति-शून्य, सत्य और पूर्ण वैज्ञानिक हैं, उन राजनीतिक सिद्धांतों के औचित्य की परीक्षा मोहग्रस्त, संकोर्ण तथा विवेक-शून्य बुद्धि से कदापि नहीं की जा सकतो है।

राजनीति के चार आधार-स्तम्भ हैं, चेतन ब्रह्म, मन्त्रद्रष्टा ऋषि, धारण करने वाले गर्भ और वेदशास्त्र। ऋषियों ने ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो कठिन तप किया उसी के फलस्वरूप नियमों का सृजन हुआ एवं धर्म और वेद का प्रकाश विश्व के समस्त प्राणियों को मिला।

धर्म की उत्पत्ति के उपर्युक्त वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर ही उसका स्वतंत्र अस्तित्व माना जाता है। वही शासनकर्ता और अधिपति है। उसका अधिपति कोई अन्य नहीं है। अस्थिर राजनीति को धर्म के आधार पर ही स्थिर किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति इन्हीं सिद्धांतों पर अवलम्बित है, यही उसकी विशेषता है। जो नियम और रीतियाँ मानव-समाज को वास्तविकता और स्थाई कल्याण नहीं प्रदान कर सकती वे त्याज्य हैं।

विश्व की समस्त वस्तुएँ एक स्थायी नियम द्वारा संचालित होती हैं। ये नियम प्राकृतिक नियम कहलाते हैं। समस्त प्राणो इसी से उत्पन्न और यथा समय इसी में लय को प्राप्त होते हैं। इन नियमों के प्रतिकूल कोई भी क्रिया संचालित नहीं होती है। सभी प्राणियों पर इन दैविक नियमों का समान रूप से नियंत्रण रहता है। इसकी अवहेलना करके भौतिक विकास भी संभव नहीं है क्योंकि भौतिक पदार्थों पर भी दैविक नियमों का नियंत्रण रहता ही है। इसलिए भौतिक पदार्थों की प्राप्ति दैविक नियमों के पालन से होती है। इसका कारण यह है कि दैविक नियमों के आधार जीवात्मा, ब्रह्म एवं पंचत्व के अतिरिक्त संसार के समस्त पदार्थ नाशवान् हैं। पंचतत्वों के योग को प्रकृति कहा जाता है। जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति के यथार्थ ज्ञान को ब्रह्मविद्या कहते हैं। भौतिक पदार्थों का ज्ञान भी इसी में सम्मिलित है। इसीलिए ऋषि-मुनियों के अध्ययन का विषय जीवात्मा, ब्रह्म एवं प्रकृति यही तीन हैं। यथार्थ होने के कारण उनके द्वारा प्रतिपादित नियम पक्षरहित होते हैं।

पक्षपातपूर्ण नियम अधर्म कहलाता है, पक्षपात से रहित नियम धर्म कहलाता है। धर्म में धारण करने की शक्ति है। लोकहित के समस्त कार्य इसी के द्वारा संपादित होते हैं। धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और इन तीनों की प्राप्ति से स्थायी सुख मोक्ष की प्राप्ति होती है। अर्थ से कृषि, व्यापार, वाणिज्य का संवर्द्धन होता है। काम से धन के उपभोग का संवर्द्धन होता है और इन दोनों का संवर्द्धन धर्मपूर्वक आचरण करने से होता है। धर्मपूर्वक आचरण करने से मोक्ष का मार्ग स्वयं प्रशस्त हो जाता है। इस तरह धर्म के द्वारा आध्यात्मिक सुखों के साथ-साथ भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है। कहा गया है कि धर्म, अर्थ, काम ये तीन त्रिवर्ग कहलाते हैं, जिनकी प्राप्ति से सब का कल्याण होता है और इससे मनुष्य उभय लोक में अपना हित साधन करते हैं। आध्यात्मिक एवं भौतिक सुख ही राजनीति की भी उपलब्धि है। इन्हीं के लिए मानव प्राणी प्रयत्नशील रहते हैं। धर्म के इस व्यापक पृष्ठभूमि में मानव वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उन्नति की चरम-सीमा तक पहुँच सकता है।

राजनीति का यह कल्याणकारी एवं प्रशस्त रूप श्रुति एवं स्मृति-ग्रंथों के रूप में आकलित मिलता है. जो प्रकृति के नियमों को ध्यान में रखकर जीवन का मार्ग सुगम और सर्वहितकारी बनाने के 'लिए मुनियों द्वारा रचा गया है। भौतिकवादियों को इसमें अंधविश्वास की गंध आ सकती है। इसका कारण यह है कि वे भौतिक सुख को आध्यात्मिक सुख से पृथक मानते हैं, किंतु यह सत्य नहीं है। महाभारतकार के अनुसार भौतिक सुख तो आध्यात्मिक सुख का एक अंश है। यह आध्यात्मिक सुख का वह सापेक्ष भाव है जो इस शरीर के द्वारा भोगा जाता है। भौतिकवादी इसी सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। किंतु ऐसे प्रयत्न में विफलता हो सकती है। आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्न में विफलता नहीं होती है, क्योंकि ऐसा प्रयत्न सत्य और ऋत का विचार कर किया जाता है। इसलिए राजनीति में सत्य और ऋत की प्रधानता है।

कुछ विद्वान् ऋत और सत्य को एक ही मानते हैं, परंतु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। ऋत और सत्य दो पृथक् मार्ग हैं। ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति के प्रसग में ऋत और सत्य दोनों साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं। अतः वे अवश्य ही पृथक्-पृथक् अर्थ के वाचक हैं। ऋत वह प्राकृतिक नियम है, जिसमें पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र आदि ग्रह गतिमान हैं, जिससे दिन और रात का क्रम चलता रहता है, ऋतुंएँ आया-जाया करती हैं, प्राणी जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सत्य वह विद्या है जो जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति के ज्ञान का बोध कराती है, जिससे संपूर्ण प्राणीजगत् का कल्याण होता है।

भारतीय राजनीति में आधार माना गया है 'ऋत' को, किंतु उसका लक्ष्य 'सत्य' को कहा गया है। इसीलिए राजनीति में सत्य की प्रधानता मानी गई है। यही सबसे उत्तम धर्म है और राजा के लिए सबसे पूजनीय विषय यही है। हिंसारहित सत्य ही

राजा का सनातन धर्म है। राजा को चाहिए कि काम, क्रोध का परित्याग कर सरल हो, धर्म तथा बुद्धि के बल से सत्य को ग्रहण करें। सत्य में ही जगत् प्रतिष्ठित है, इसलिए सत्य ही राजा के कार्यों की कसौटी है। इस लोक की अच्छाइयों में सत्य ही मुख्य तत्त्व है। महाभारत का कथन है कि संसार का प्रभु सत्य है। सत्य से आगे कोई शक्ति नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद इन सबों का आश्रय सत्य ही है। अतः कार्य मात्र से सत्य परायण होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि सत्य का त्याग करने पर मानव जाति की दुर्दशा अवश्यम्भावी है।

महत्त्व की दृष्टि से सत्य के बाद ऋत का स्थान है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'ऋतस्य पंथा' का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में भी ऋत के साथ-साथ पथ प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है ऋत का मार्ग। अवश्य ही वह कोई निश्चित मार्ग है जिसपर चलकर मानव अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकता है। जैसे सभी नक्षत्र एवं ग्रह अपने मार्ग पर चक्कर लगाते रहते हैं, वैसे ही मानव के लिए एक शाश्वत मार्ग है जिसपर चलकर वे जीवन को सफल कर सकते हैं। निश्चय ही यह मार्ग धर्माचरण और सत्य का पालन है, जिसके अंदर दान, तपस्या, उपवास आदि कर्म सम्मिलित हैं। यही कारण है कि ऋत को सत्य कहा जाता है और प्रजा की रक्षा कर राज्य का कल्याण करते हुए राजा के लिए धर्म में स्थित हो दान, यज्ञ, उपवास, तपस्या आदि कर्मों को करने का विधान है। इस तरह ऋत का मार्ग श्रेयस्कर है। इस मार्ग पर चलने से प्रजा, राष्ट्र और धर्म तीनों की रक्षा होती है।

ऋत और सत्य के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में राजनीतिक सिद्धांत के दो मार्ग थे, जिनके पालन से राज्य का हित और उल्लंघन करने से राज्य का अहित होता था। उस समय यह कहा गया था कि किसी भी परिस्थिति में इन दोनों मार्गों के विपरीत असत्य और अनृत मार्ग का अनुसरण करना राज्य के लिए अवांछनीय है। हाँ, इतना अवश्य किया जा सकता है कि सत्य और ऋत मार्ग का अनुसरण करने में यदि कोई बाधा उत्पन्न हो जाय तो आपद्-धर्म का अनुसरण करना उचित है। इसलिए महाभारत में राज्य के कल्याण में असमर्थ राजा के लिए विस्तार-पूर्वक अपद्-धर्म का उल्लेख किया गया है।

किन्तु आपद्-धर्म से राज्य का समुचित विकास नहीं हो सकता है। राज्य का समुचित विकास तो धर्मानुकूल आचरण के द्वारा सत्य और ऋत के पालन से होता है। इसी के द्वारा न्याय और अन्याय का भेद स्पष्ट होता है और राजनीति में न्याय की महत्ता सर्वाधिक होती है। वास्तव में न्याय के अभाव में राजनीति का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि न्याय की कसौटी पर सिद्ध की हुई नीतियाँ मानव और राज्य दोनों के लिए हितकर होती हैं। यही कारण है कि अन्याय का त्याग कर न्यायपूर्वक धर्मानुकूल प्रजा की रक्षा करने का आदेश राजा को प्राचीन काल में दिया गया है।

न्याय पक्षपात रहित होता है। पक्षपात-युक्त न्याय अन्याय कहलाता है जो समाज के किसी एक वर्ण को सन्तुष्ट और अन्य वर्गों को असंतुष्ट करता है। किन्तु

ऐसी बात न्याय में नहीं होनी चाहिए। न्याय से तो वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में मनुष्य का कल्याण होता है। इसलिए शासक वर्ग के लिए न्याय की आवश्यकता पर अधिक बल दिया गया है, जो समस्त प्राणियों के प्रति समानता की भावना पर आधारित है।

समस्त प्राणियों के प्रति समान भाव से मित्रता की भावना उत्पन्न होती है। मित्रता का अर्थ होता है 'सखा' और सखा का है स्नेह की भावना। प्राचीन राजनीति में इस भाव को प्रमुख स्थान दिया गया है और द्वेषभाव को त्याज्य बतलाया गया है। वास्तव में शासक न्यायकारी अथवा रक्षक तभी हो सकता है जब वह मित्र-भाव से प्रजा के साथ न्याय और उसकी रक्षा करे। किसी दुष्ट प्राणी को दण्ड देते समय भी शासक के मन में द्वेष अथवा बदले की भावना नहीं होनी चाहिए। इतना ही नहीं दुष्ट प्राणियों को दण्ड देते समय उसके मन में हर्ष-विषाद भी नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति में अपना भाई या पुत्र क्यों न हो उसे दण्ड देने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। जाति या वर्गभेद से किया हुआ कर्म अनुचित है। इसीलिए सभी जातियों या वर्गों को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त कर उसे जाति-भेद या वर्ग-भेद जैसे दोषों से मुक्त करते हुए शासक वर्ग को मानव समुदाय का कल्याण करना चाहिए। शासक वर्ग की यह भावना विशुद्ध राजनीति का परिचायक है जो विशुद्ध आध्यात्मिक भावना से प्रेरित रहने के कारण मानव जाति को भौतिक एवं आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति कराती है।

राज्य का तात्त्विक आधार

हम ऊपर कह चुके हैं कि भौतिक सुख आध्यात्मिक सुख का ही एक अंश है और आध्यात्मिक सुख आध्यात्मिक ज्ञान से होता है, जो ब्रह्म, जीवात्मा एवं प्रकृति का यथार्थ ज्ञान है। यही यथार्थ ज्ञान राजनीति का आधार है। इसलिए राजनीति का आधार आध्यात्मिक ज्ञान होने के कारण शासक वह व्यक्ति होता था जो अध्यात्म ज्ञान से परिपूर्ण ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता था। ऐसी स्थिति में ब्रह्म और शासक के बीच कोई भेद नहीं रह जाता था जिसके फलस्वरूप प्रत्येक प्रजा यह सोंचती थी कि राज्य कोई भौतिक तत्त्व पर आधारित संस्था नहीं है। इसका आधार आध्यात्मिक तत्त्व यानी ब्रह्म है। महाभारत के अनुसार ब्रह्मा ने ही मानव कल्याण हेतु राज्य की स्थापना की है। राज्य का विकास ब्रह्मा द्वारा सृजित धर्म के द्वारा होती है और धर्म का प्रचार शासक के रूप में राजा करता था। राजा धर्म का मूल है और उसकी भी उत्पत्ति देवता के द्वारा हुई है। इसलिए राजा को ब्रह्मा का प्रतिबिम्ब माना जाता है, इसलिए राज्य की प्रजा उसकी पूजा करती है। राजा और प्रजा के बीच उपास्य और उपासक का संबंध स्थापित हो जाता है और अपने भिन्न-भिन्न कर्तव्यों के कारण राजा भिन्न-भिन्न देवताओं के नामों से पूजित होने लगता है।

कर्त्तव्य की दृष्टि से भिन्न-भिन्न देवरूपों में पूजित होने के कारण यह कहा जाता है कि प्रजा के कल्याण के लिए समय-समय पर राजा कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर और कभी यमराज आदि के रूपों को धारण करता है। जब पापात्मा मनुष्य उसके साथ मिथ्या बर्ताव करके उसे ठगते हैं, तब वह अग्नि रूप हो जाता है और अपने उग्र तेज के समीप आये हुए उन पापियों को जलाकर भस्म कर देता है। जब राजा गुप्तचरों द्वारा समस्त प्रजाओं की देखभाल करता है, उन सब की रक्षा करता हुआ चलता है तब वह सूर्य रूप में प्रकट होता है। इसी तरह कुपित होकर अशुद्धचारी सैकड़ों मनुष्यों एवं उनके पुत्र-पौत्रों, मंत्रियों का संहार करने पर वह मृत्यु का रूप, कठोर दण्डों द्वारा अधार्मिक पुरुषों को सन्मार्ग पर लाने के कारण यम रूप और अपकारी मनुष्यों से धन छीन कर उपकारी मनुष्यों को धन देने के कारण वह कुबेर रूप में प्रकट होता है।

इस तरह प्रजा के कल्याण के लिए विभिन्न देवरूपों में प्रकट होने के कारण प्राचीन समय में राजा एक सर्वशक्तिमान् ईश्वरीय सत्ता माना जाता था जिसके सामने राज्य की सभी प्रजा नतमस्तक रहती थी। वे मन से भी राजा के प्रति अनिष्ट नहीं सोंचते थे क्योंकि ऐसा करने से उन्हें इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के कष्टों को सहन करना पड़ता था। इसलिए जो समस्त कार्यों में निपुण, अनायास ही कार्य-साधन करने में समर्थ, धर्ममय लोकों में जाने की इच्छा रखने वाला तथा दोष दृष्टि से रहित ही उन पुरुषों को अपने देश के शासक नरेश की निन्दा न करते हुए इन्द्र के समान उनकी पूजा करते थे।

ईश्वर के रूप में पूजित एवं राज्य के विकास के मूल कारण के रूप में राजा को स्वीकार किए जाने के कारण उनके अभाव में प्रजा अपने को निःसहाय एवं असुरक्षित महसूस करती थी। ऐसी स्थिति में वे अपने बीच से किसी एक व्यक्ति को राजा नियुक्त न करके ईश्वर से राजा की माँग करते थे, क्योंकि उनकी ऐसी धारणा हो गई थी कि व्यक्ति अपूर्ण होता है और काम तथा राग के वशीभूत होने के कारण उसे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता है। इसलिए उसे पूर्ण बनाते हुए कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान कराने के लिए एक ऐसी सत्ता होनी चाहिए जो पूर्ण होने के साथ सर्वशक्तिमान हो। यही सत्ता ब्रह्मा है। यही कारण है कि महाभारत-काल में धर्म, यज्ञ आदि के लोप हो जाने पर दुःख से पीड़ित देवताओं ने ब्रह्मा से अपने कल्याण के लिए याचना की थी जिसके फलस्वरूप ब्रह्मा ने नीतिशास्त्र की रचना करके मानव के लिए 'मनु' को राजा के रूप में नियुक्त किया था।

गणतंत्र

वैदिक काल में शासन प्रणाली का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। उस समय राज्य के शासन का सर्वोच्च पदाधिकारी राजा होता था, जिसकी इच्छा पर राज्य का संचालन होता था, ऐसी स्थिति में कभी-कभी अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हुए राजा हिंसक पशुओं की तरह प्रजा का नाश कर देता था। इसलिए उसकी इस बुरी

प्रवृत्ति से बचने के लिए लोगों में अपने वर्ग के लिए पृथक् शासन स्थापित करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इससे धीरे-धीरे 'गणराज्य' का उदय हुआ।

गणराज्य में राज्य किसी एक व्यक्ति द्वारा संचालित न होकर व्यक्तियों के समूह द्वारा संचालित होता था। समूह को ही 'गण' कहा जाता था इसलिए समूह द्वारा संचालित राज्य को 'गणराज्य' कहा जाता था। गणराज्य को प्रजातांत्रिक राज्य भी कहा जाता था, क्योंकि इसमें प्रजा के ही एक समूह या संसद द्वारा राज्य संचालित होता था। इस तरह गणराज्य शब्द का दूसरा अर्थ संसद होता था। जातक में इस शब्द का प्रयोग लोगों की संख्या अथवा समिति को दरसाने के लिए किया गया है और पाणिनि में इसका प्रयोग 'संघ' के अर्थ में किया गया है। महाभारत में 'गण' शब्द का संबंध शासन के उस रूप से है जिसके द्वारा शासित राज्य की जनता स्वयं एकता के सूत्र में बँध कर अपनी उन्नति एवं अन्य से मैत्री स्थापित करते हुए, युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करती थी। इस तरह महाभारत कालीन गणराज्य अपने परराष्ट्र नीति, धनपूर्ण राजकोष, युद्ध निपुणता, सुव्यवस्था तथा सुन्दर राज-नियमों के लिए विख्यात था।

महाभारत के अनुसार गणतंत्र की विशेषताएँ

गणराज्य की सभी जनता भेदभाव से ऊपर उठकर क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणों का त्याग करती हुई संघ-बद्ध हो, निःस्वार्थ भाव से राज्य की सेवा करती थी। लोग संघ-बद्ध हो एक दूसरे की सेवा करते हुए सुख-पूर्वक उन्नति करते थे। जो पुरुष उत्तम मार्ग का अनुसरण न करके निम्न मार्ग पर चलना अपना लक्ष्य बनाता था, उसे श्रेष्ठ पुरुष उत्तम शिक्षा अथवा दण्ड देकर उत्तम मार्ग की ओर प्रेरित ,कराने का प्रयास करते थे। ऐसी स्थिति में कुमार्ग पर चलने वाले अनियंत्रित अपने भाई या पुत्र को भी नियंत्रित करते हुए वे उन्हें दण्ड देते थे और उत्तम शिक्षाओं द्वारा उन्हें शिक्षित करते हुए बड़े आदर से अपनाते थे जिससे उनकी विशेष उन्नति होती थी। दण्ड या शिक्षा देने में वे किसी भी प्रकार के भेद-भाव से प्रेरित नहीं होते थे। इसलिये जाति या कुल की दृष्टि से गणराज्य की जनता को एकसमान माना जाता था। उसमें सिर्फ उद्योग, बुद्धि एवं रूप, सम्पत्ति में भिन्नता पाई जाती थी। किंतु इन भिन्नताओं के कारण वे अपनी एकता समाप्त नहीं कर देते थे, बल्कि एकताबद्ध होकर अपनी बुद्धि एवं उद्योग क्षमता के अनुसार सभी लोग एक दूसरे की सहायता करते हुए शास्त्र के अनुसार धर्मानुकूल व्यवहार करते थे, इससे समता की भावना से प्रेरित होकर जनता

राज्य के हित के लिये गुप्त मंत्रणा एवं नियम या विधान बनाकर गुप्तचर या दूत का काम करती हुई उद्योगशील हो सतत् कोष की वृद्धि के लिये प्रयत्नशील रहती थी।

यही कारण था कि गणराज्य का कोष धनों से परिपूर्ण होता था और जनता धनवान्, शूरवीर, अस्त्र-शस्त्र के ज्ञाता एवं विद्वान् होती थी। शत्रुओं से राज्य की रक्षा करने के लिए वह स्वयं समर्थ होती थी। परन्तु गणराज्य के सदस्यों को अपनी शूरता या वीरता का कोई गौरव नहीं रहता था। इसलिए वे बुद्धिमान, शूरवीर, महान्, उत्साही और सभी कार्य में दृढ़ पुरुषार्थ का परिचय देने वाले लोगों का सम्मान करते थे, इससे उनका सर्वांगीण विकास होता था। उचित शिक्षा, उचित न्याय एवं उचित सेवा के कारण उनका नैतिक स्तर बहुत ऊँचा होता था। इस ऊँचे नैतिक स्तर के कारण ही वे आपस में मिलकर समस्त गणराज्य के हित साधन हेतु कार्य करते थे।

प्रत्येक गणराज्य में एक वर्ग, जाति या वंश के लोग रहते थे जिनके समूह द्वारा शासन-कार्य किया जाता था। जैसे, निषाद नगर में निषाद-वंशों द्वारा एवं किरात नगर में किरात-जाति द्वारा शासन किया जाता था। वर्ग, जाति या वंश के आधार पर स्थापित गणराज्य बहुत छोटा होता था। इसलिए कभी-कभी बड़े-बड़े राज्यों द्वारा हड़प लेने का भय उन्हें बना रहता था। यही कारण था कि वे छोटे-छोटे राज्य आपस में मिलकर संगठित हो गए थे। उनका यही संगठन 'संघ' कहलाता था। उदाहरण के लिए, त्रिगर्त एवं मलेच्छ संघ की स्थापना कई गणराज्यों के योग से हुआ था। त्रिगर्त संघ में मालक, तुण्डिकेर, ललित्था, मुद्रकगण आदि गणराज्य सम्मिलित थे और मलेच्छ संघ में शक, काम्बोज, ब्रह्मलीक, यवन, पारद, कुलिन्द, तंगन, अम्बष्ठ, पैशाच, बर्बर आदि पर्वतीय गणराज्य सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकूर तथा भोज गणराज्यों के योग से भी संघ का निर्माण हुआ था। इस तरह से स्पष्ट होता है कि संघों का निर्माण गणराज्यों के योग से और गणराज्यों का निर्माण वर्ग, जाति या वंश के लोगों की पारस्परिक एकता से हुआ था।

संघ के लिए इस पारस्परिक एकता पर ऋग्वैदिक कालीन समाज में भी पूर्ण बल दिया गया था। यह बात ऋग्वेद के उन मंत्रों द्वारा स्पष्ट होती है, जिसमें कहा गया है कि तुम आपस में मिल जाओ, एक साथ होकर स्तोत्र का पाठ करो। तुम सब का मन एक-सा हो। जैसे प्राचीन देवता एकमत होकर अपना हविभाग स्वीकार करते थे, वैसे ही तुम भी एकमत होकर धन आदि ग्रहण करो। तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, हृदय एक हो और तुम्हारा मन भी एक हो। तुम लोगों का पूर्ण रूप से

संगठन हो। ऋग्वेद द्वारा दिए गए एकता के इस संदेश का जोरदार समर्थन उत्तरवैदिक कालीन ग्रंथों द्वारा किया गया है। इसका प्रमाण अथर्ववेद में वह मंत्र है जिसमें वेद के ऋषि ने कहा है कि "श्रेष्ठत्व को अधिकृत करो और एक साथ मिलकर रहो। कभी अलग न होना। एक दूसरे को सुखी रखो और भारी बोझ को खींचकर ले चलो। एक दूसरे से मधुर शब्दों में व्यवहार करो, मिलकर प्रेमपूर्वक रहो।" वस्तुतः एकता ही महान् बल है। एकता द्वारा स्थापित समूह या संघ शक्तिशाली एवं समृद्धि सम्पन्न होता है।

महाभारत के अनुसार हिन्दू-राजतंत्र और उसके आदर्श तथा कर्तव्य

हिन्दू-राजतंत्र का यह विकसित रूप वैदिक एवं महाभारतकाल में गणतांत्रिक एवं गणराज्य के उदय होने पर भी अधिक लोकप्रिय बना रहा। इसका प्रधान कारण यह था कि शासन का रूप प्रजातांत्रिक शासन में ढला हुआ था और उसकी नीतियाँ आध्यात्मिक आदर्शों पर आधारित होती थीं। शासन का प्रधान राजा कहलाता था। वह आध्यात्मवेत्ता होने के कारण दानी, सबके लिए सम्यक् विभागपूर्वक आवश्यक वस्तुओं को वितरण करनेवाला, मृदुल स्वभाव का, शुद्ध आचार-विचार वाला, मनुष्यों में सद्भाव रखने वाला, धीर, क्षमाशील, पवित्र, समय-समय पर पुरुषार्थ को जानने वाला, प्रजा की बातों को सुनने के लिए उत्सुक, वेदज्ञ तथा तर्क-वितर्क में कुशल होता था। अपने इन गुणों के कारण वह धर्म में स्थित रहते हुए प्रजा के सुख-साधन हेतु कार्य करता था। जो राजा ऐसा नहीं कर सकता था, प्रजा उसका साथ नहीं देती थी, ऐसी स्थिति में कभी-कभी उसकी मृत्यु प्रजा के हाथों में हो जाती थी। इस तरह राजा का अपने अस्तित्व में बना रहना उसकी अपनी धार्मिकता और प्रजा की इच्छा पर निर्भर करता था। धर्म में रत राजा के अस्तित्व को प्रजा स्वीकार करती थी और उसके आश्रय में रहकर जीवन व्यतीत करती हुई सुख का उपयोग करती थी।

प्रजा को निरंतर सुख की प्राप्ति होती रहे इसके लिए यह आवश्यक था कि राजा धर्म से च्युत हो अधर्म के सहारे प्रजा का पालन करता हुआ अपनी स्वतंत्रता का दुरूपयोग न करें। यही कारण था कि राजा को अधर्म से बचाने एवं उसको स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने के लिए सभा, समिति और मंत्रिपरिषद् की स्थापना हुई थी, जिनमें प्रजा के प्रतिनिधि रहते थे और जिनके परामर्श के आधार पर राजा शासन कार्य करता था। सभा, समिति और मंत्रिपरिषद् का परामर्श सर्वोपरि माना जाता था, क्योंकि कुशल एवं योग्य व्यक्ति ही इसके सदस्य होते थे। लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी सरल और किसी विषय पर अच्छी तरह प्रवचन करने में समर्थ लोग

सभासद् होते थे और उन्मुक्त, अपने ही देश में उत्पन्न, बुद्धिमान्, रूपवान्, बहुश्रुत, निर्भय, राजकाज में अनुरक्त लोग परिषद् अथवा समिति के सदस्य होते थे। अच्छे कुल में उत्पन्न, शीलवान्, इशारे समझने वाले, निष्ठुरता रहित, देश-काल के विधान को समझने वाले और स्वामी के अभीष्ट कार्य की सिद्धि तथा हित चाहनेवाले मनुष्य मंत्रिपरिषद् के सदस्य होते थे।

मंत्रिपरिषद् में प्रजा के व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए सभी वर्ग या जाति के ऐसे प्रतिनिधियों को लिया जाता था, जो दण्ड-नीति में पारंगत होते थे। इसमें वेद विद्या के विद्वान्, निर्भीक, बाहर-भीतर से शुद्ध चार स्नातक ब्राह्मण लिए जाते थे। शरीर से बलवान तथा शस्त्रधारी आठ क्षत्रिय लिए जाते थे। धन-धान्य से सम्पन्न इक्कीस वैश्य और पवित्र आचार-विचार वाले तीन विनयशील शूद्र लिए जाते थे। इनके अतिरिक्त पुराण विद्या को जानने वाले सूत जाति का एक पचास वर्ष का व्यक्ति मंत्रिपरिषद् में लिया जाता था। इस तरह मंत्रियों की संख्या सैंतीस होती थी, किंतु इन सभी मन्त्रियों से राजा एक ही बार सलाह नहीं लेता था। वह सब से पहले ब्राह्मण से सलाह लेता था ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय से और फिर इसी तरह क्रमशः वैश्य और शूद्र से सलाह लेता था। किसी भी स्थिति में वह सभी मंत्रियों के साथ गुप्त मंत्रणा नहीं करता था। वह सिर्फ मंत्रिपरिषदों में से आठ योग्य मंत्रियों के साथ गुप्तमंत्रणा करता था और विनययुक्त बुद्धि, सुन्दर स्वभाव, तेज, वीरता, क्षमा, पवित्रता, प्रेम, धृति आदि गुणों के आधार पर परीक्षित राजकाज में कुशल रहने वाले पाँच व्यक्तियों को अर्थमंत्री बनाता था।

मंत्रियों का प्रधान ब्राह्मण होता था, जो पुरोहित के रूप में राजा को हर समय सलाह दिया करता था। वह युद्ध में जाकर दो सेनाओं के बीच संधि कराने का प्रयास करता था। जो राजा उसके इन कार्यों की अवहेलना करता था, वह अपने सनातन धर्म से च्युत कर दिया जाता था। सनातन धर्म से च्युत कर दिए जाने के भय के कारण राजा सतत् ब्राह्मण की रक्षा करते हुए उनके तथा अन्य मंत्रियों की सलाह के आधार पर कार्य करता था।

राजा प्रत्येक नागरिक को शासन विषयक ज्ञान कराने के लिए मंत्रिपरिषद् के द्वारा निश्चित की हुई बातों का प्रचार देश में करता था। प्रचार करने की पद्धति गणतंत्रात्मक थी। इसके लिए प्रत्येक गाँव का एक अधिपति नियुक्त किया जाता था। इतना ही नहीं प्रत्येक दस गाँव, बीस गाँव, सौ गाँव और हजार गाँवों का अलग-अलग एक-एक अधिपति नियुक्त किया जाता था। इन सबों के माध्यम से राजा अपनी

नीतियों को प्रत्येक नागरिक तक पहुँचाता था और उन नीतियों के कारण उत्पन्न समस्याओं को जानने का प्रयास करता था। प्रत्येक गाँव का अधिपति गाँव के मामलों एवं अपराधों का पता लगाकर उसकी सूचना दस गाँव के अधिपति को देता था और दस गाँव का अधिपति इसकी सूचना बीस गाँवों के अधिपति को और बीस गाँवों का अधिपति इसकी सूचना सौ गाँवों के अधिपति को देता था। इसी तरह सौ गाँवों का अधिपति हजार गाँवों के अधिपति को और हजार गाँवों का अधिपति राजा को इसकी सूचना देता था। इस तरह राजा की नोतियों का ज्ञान प्रत्येक नागरिक को और प्रत्येक नागरिक की समस्याओं की सूचना राजा को प्राप्त होती थी।

इस प्रकार से प्राप्त सूचना के अनुसार नागरिकों की समस्याओं के निराकरण के लिए राजा अपना कर्त्तव्य निर्धारित करता था, जो चार राजनैतिक आदर्शों पर आधारित होता था। साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार राजनैतिक आदर्श थे। अपने से बड़े शूरवीर एवं प्रबल शत्रुओं को हाथ जोड़ कर उसे वश में करना साम नीति और शत्रु सेना के डरपोक व्यक्तियों को भय दिखाकर उसमें फूट डाल देना भेद-नीति कहलाता था। इसी तरह लोभी व्यक्तियों को धन देकर वश में करना दाम नीति और बराबरी वाले व्यक्तियों से युद्ध करना दण्ड नीति कहलाता था। इन चारों प्रकार की नीतियों का प्रयोग राजा एक ही बार नहीं करता था। वह सर्वप्रथम सामनीति का प्रयोग करके शत्रुओं को वश में करता था और सामनीति के असफल हो जाने पर वह शत्रु सेना को धन देकर दाम नोति और सेनाओं के बीच फूट डालकर भेद नीति का प्रयोग करता था। परन्तु जब इनों प्रकार की नीतियों द्वारा शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती थो तो वह उनकी दुर्बलताओं को देखते हुए दण्ड नीति का प्रयोग करके युद्ध छेड़ देता था।

युद्ध कर बाह्य शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य था। इसीलिए वह हमेशा युद्ध करने के लिए उद्यत रहता था। वह अपने छिद्रों या दुर्बलताओं को छिपाते हुए शत्रुओं के छिद्रों का पता लगाकर उन पर आक्रमण करता था। परन्तु युद्ध में भी वह धर्म का ख्याल रखता था। वह किसी भो समय धर्म से च्युत होकर अधर्म के सहारे बुरे एवं पराजित शत्रुओं के साथ-साथ बलहीन, सन्तानहीन, शास्त्र-विहीन और विपत्ति में पड़े हुए श्रेष्ठ व्यक्तियों पर आक्रमण नहीं करता था। वह हमेशा धर्म के अनुसार युद्ध करता था।

किन्तु युद्ध से केवल राज्य-विस्तार एवं बाह्य शत्रुओं से प्रजा की रक्षा होती थी, आन्तरिक शत्रुओं से नहीं। नैतिकता का अभाव और अज्ञान ये आन्तरिक शत्रु थे,

जिनका पराजय ज्ञान के द्वारा होता था। राजा ज्ञान का अधिष्ठाता माना जाता था। यही कारण है कि राजा अज्ञान रूपी शत्रु से प्रजा को मुक्त करने के लिए शिक्षा के द्वारा उनमें ज्ञान का प्रचार करता था। पहले वह स्वयं विनय से सम्पन्न होता था और बाद में वह विनय की शिक्षा सेवकों एवं प्रजाओं को देता था। प्रजा राजा के आदर्शों को जीवन में उतारने का प्रयास करती थी। वह राजा को ही आदर्श मानकर उसके आचरण को सीखने की इच्छा से स्वयं विनय सम्पन्न होती थी। प्रजा का जो कोई व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता था, वह अज्ञान रूपी शत्रु से प्रभावित होने के कारण बुरे कर्मों में प्रवृत्त हो दुःखों का भोग करता था। ऐसे व्यक्ति की बहुल्यता से राष्ट्र की अवनति होती थी। यही कारण था कि बुरा कर्म करना अपराध माना गया था। वैसे व्यक्ति जो बुरे कर्मों में प्रवृत्त हो अन्याय मार्ग का अनुसरण करते थे उन्हें इन कर्मों को त्यागकर न्याय मार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए राजा को दण्ड देने का अधिकार दिया गया था। राजा दण्ड के द्वारा न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करता था। वह न्याय करते समय अकेला न रहकर विद्वान् पुरुषों के सामने वादी-प्रतिवादी अभियुक्तों की बात सुनता था। ऐसा करने से न्याय विशुद्ध होता था। यह विकसित राज्य का आदर्श माना जाता था।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का विविंशचरित्र वर्णन नामक एक सौ उन्नीसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ॥



विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

तस्य पुत्रः खनीनेत्रो महाबलपराक्रमः ।
यस्य यज्ञेष्वगायन्तगन्धर्वा विस्मयान्विताः ॥१॥
खनीनेत्रसमो नान्यो भुवि यज्वा भविष्यति ।
तेन यज्ञायुते पूर्णे दत्ता पृथ्वी ससागरा ॥२॥
दत्त्वा च सकलां पृथ्वीं ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
तपसा द्रव्यमासाद्य मोचयेत् साधितेन यः ॥३॥
यतश्च प्राप्य वित्तर्द्धिमतुलां दातृसत्तमात् ।
जगृहुर्ब्राह्मणा विप्र ! नान्य राज्ञः प्रतिग्रहम् ॥४॥
सप्तषष्टिसहस्राणि सप्तषष्टिशतानि च ।
सप्तषष्टिञ्च यो यज्ञानयजद्भूरिदक्षिणान् ॥५॥
अपुत्रः स महीपालो मृगयामुपचक्रमे ।
पुत्रार्थं पितृयज्ञाय मांसकामो महामुने ! ॥६॥
अश्वारूढो विना सैन्यमेक एव महावने ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणो बाणखड्गधनुर्धरः ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

महाबली विक्रमशाली खनीनेत्र विविंश का पुत्र था। उसके यज्ञानुष्ठानों को देखकर गन्धर्वों ने विस्मित होकर यज्ञ में गान गाया था। खनीनेत्र के समान यज्ञ करने वाला इस भूमण्डल में कोई न होगा। क्योंकि इसने अयुत (दश सहस्र) यज्ञ किये हैं और आसमुद्र पृथ्वी का दान कर दिया था। महाराज खनीनेत्र ने महात्मा ब्राह्मणों को समस्त पृथ्वी दान देकर तपस्या के द्वारा नाना द्रव्यों को प्राप्त कर उनकी सहायता से फिर से छुड़ा ली थी। हे विप्र ! दाताओं में श्रेष्ठ उस राजा से दान में विपुल वित्त प्राप्त कर ब्राह्मणों को अन्यत्र प्रतिग्रह नहीं करना पड़ता था। उसने तिहत्तर हजार सात सौ सड़सठ यज्ञ किये थे और प्रत्येक यज्ञ में प्रभूत दक्षिणा प्रदान की थी। हे महामुने ! किसी समय महीपाल खनीनेत्र पुत्र-रहित होने के कारण पुत्र की कामना से पितृयज्ञ करने की इच्छा से मांस का अभिलाषी हुआ और कवच से सन्नद्ध धनुष-वाण और तलवार से सुसज्जित होकर सैनिकों को साथ में न लेकर अकेला ही घोड़े पर सवार हो, वन में मृगया के लिये चल पड़ा। एक वन से जब दूसरे वन में

तं वाहयन्तं तुरगमन्यतोगहनाद्वनात् ।
विनिष्क्रम्य मृगः प्राह मा हत्वाभिमतं कुरु ॥८।

राजोवाच—
अन्ये मृगाः पलायन्ते महाभीत्या विलोक्य माम् ।
कथमात्मप्रदानं त्वं मृत्यवे कर्त्तुमिच्छसि ॥९।

मृग उवाच—
अपुत्रोऽहं महाराज ! वृथा जन्मप्रयोजनम् ।
विचारयन्न पश्यामि प्राणानामिह धारणम् ॥१०।

मार्कण्डेय उवाच—
अथाभ्येत्य मृगः प्राह तमन्यो वसुधाधिपम् ।
मृगस्य तस्य प्रत्यक्षमलमेतेन पार्थिव ! ॥११।
घातयस्वेति मां मांसैर्मम कर्म समाचर ।
यथा कृतार्थता ते स्यान्मम चाप्युपकारि तत् ॥१२।
पुत्रार्थं त्वं महाराज ! स्वपितॄन् यष्टुमिच्छसि ।
अपुत्रस्याऽस्य मांसेन लप्स्यसे वाञ्छितं कथम् ॥१३।
यादृक् कर्म विनिष्पाद्यं तादृक् द्रव्यमुपाहरेत् ।
दुर्गन्धैर्न सुगन्धानां गन्धज्ञानविनिर्णयः ॥१४।

दौड़कर प्रवेश कर रहा था, इतने में एक मृग बाहर निकल कर बोला :—हे महाराज ! आप मेरा वध कर अपना अभीष्ट सिद्ध करें ॥ १-८ ॥

राजा ने उत्तर दिया :—

अन्यान्य मृग मुझे देखते ही महाभीत होकर भाग निकलते हैं, फिर तुम क्यों मृत्यु के लिए आत्मप्रदान करने की इच्छा कर रहे हो ? ॥ ९ ॥

मृग ने कहा :—

महाराज ! मैं सन्तानहीन हूँ, इस कारण सोचता हूँ कि, मेरे जीवन का कोई प्रयोजन नहीं है, यह सोचकर मैं प्राणों को धारण करना नहीं चाहता हूँ ॥ १० ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

यह बातचीत हो रही थी कि, वहीं एक दूसरा मृग निकल कर बोला,—हे पार्थिव ! इस मृग को लेकर आप क्या करेंगे ? मुझे मारकर मेरे मांस के द्वारा आप अपना कार्य सम्पादन कीजिये । ऐसा करने से आप का काम बन जायेगा और मुझ पर भी बड़ा उपकार होगा । हे महाराज ! आप पुत्र की कामना से पितरों के उद्देश्य से यज्ञ करने जा रहे हैं, फिर इस सन्तानहीन के मांस से आप का उद्देश्य कैसे सिद्ध होगा । क्योंकि जो कर्म जिस प्रकार का हो, उसके लिये उसी प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग करना आवश्यक होता है । देखिये, दुर्गन्ध के द्वारा सुगन्धित वस्तुओं के गन्ध-ज्ञान का निर्णय हो नहीं सकता ॥ ११-१४ ॥

राजोवाच—

वैराग्यकारणं प्रोक्तमनेनापुत्रता मम ।
कथ्यतां प्राणसंत्यागे यत्ते वैराग्यकारणम् ।।१५।

मृग उवाच—

बहवो मे सुता भूप ! बह्व्चो दुहितरस्तथा ।
यच्चिन्तादुःखदावाग्निज्वालामध्ये वसाम्यहम् ।।१६।
सर्वसाध्या नरेन्द्रेयं मृगजातिः सुकातरा ।
तेष्वपत्येषु मे चाति ममत्वं तेन दुःखितः ।।१७।
मनुष्यसिंहशार्दूल ! वृकादिभ्यो बिभेम्यहम् ।
न हीनात्सर्वसत्त्वेभ्यः श्वश्रृगालादपि प्रभो ! ।।१८।
सोऽहं निमित्तं बन्धूनामिमां शून्यां वसुन्धराम् ।
नृसिंहादिभयात् सर्वामिच्छामि सुभृशं सकृत् ।।१९।
तृणान्यन्येऽपि खादन्ति गोऽजावितुरगादिकाः ।
तांस्तेषां पोषणायाहमिच्छामि निधनं गतान् ।।२०।
निष्क्रान्तेषु ततस्तेषु ममापत्येषु वै पृथक् ।
भवन्ति चिन्ताः शतशो ममत्वावृतचेतसः ।।२१।

राजा ने कहा :—

पहिले मृग के वैराग्य का कारण उसने अपुत्रता बतायी है, किन्तु तुम्हारे प्राणात्याग-विषयक वैराग्य का क्या करग है ? उसको कहो ॥ १५ ॥

मृग ने कहा :—

हे राजन् ! मेरे अनेक पुत्र और अनेक कन्याएँ हैं। उनकी चिन्ता से ही मुझे दुःख दावानल में जलना पड़ता है। हे नरेन्द्र ! मृग जाति स्वाभाविक रूप से ही कातर होती है। सभी हिंस्र पशु हमारे भक्षक हैं अर्थात् सभी के मारने योग्य हैं और अपनी सन्तान के प्रति हमारी अपार ममता है। इसी से सदा दुःखी रहता हूँ। हे प्रभो ! मनुष्य, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, अधिक तो क्या, सब प्राणियों में अत्यन्त निकृष्ट सियार कुत्तों से भो हमें भय होता है। अतः हम सदा यही इच्छा करते हैं कि यह पृथिवी नृशंसकर्म करने वाले इन मनुष्य, सिंह आदि के भय से सर्वथा शून्य हो जाय; जिससे यहाँ हम भय-रहित होकर रह सकें। गो, मेष, छाग, अश्व प्रभृति पशु घास खाते हैं। वे जीवित रहकर यदि पृथ्वी का सब तृण खा जायँगे, तो मेरे पुत्र-कन्याओं को खाने के लिये क्या बचा रहेगा ? इसी से उनके पोषण के निमित्त हम घास खाने वाले पशुओं के निधन की इच्छा करते हैं। हमारे पुत्र-कन्याएं यदि कभी बिछुड़ जाते हैं, तो मेरे मन में स्नेह के कारण सैकड़ों चिन्ताएँ हो जाती हैं। हम सोचने लगते हैं कि कोई बच्चा कहीं भयंकर पाश में फँसकर

किं कूटपाशं किं वज्रं वागुरां किं सुतो मम ।
प्राप्तश्चरन् वने किं वा नृसिंहादिवशं गतः ॥२२।
प्राप्तोऽयमेकः संप्राप्तास्तेऽवस्थां कीदृशीं मम ।
साम्प्रतं विचरन्तो वै ये गताः सुमहावनम् ॥२३।
दृष्ट्वा प्राप्तान् ममाभ्यासमहन्तानात्मजान्नृप ।
ईषदुच्छ्वसितः क्षेममिच्छामि रजनीं पुनः ॥२४।
प्रभाते दिवसं क्षेममस्तगेऽर्के निशामपि ।
वाञ्छाम्यहं कदा क्षेमं सर्वकालं भविष्यति ॥२५।
एतत्ते कथितं भूप ममोद्वेगस्य कारणम् ।
अतः प्रसादं कुरु मे बाणोऽयं पात्यतां मयि ॥२६।
इति दुःखशताविष्टः प्राणानपि त्यजामि यत् ।
तत्कारणं निबोध त्वं ब्रुवतो मम पार्थिव ! ॥२७।
असूर्य्या नाम ते लोका यान् गच्छन्त्यात्मघातकाः ।
यज्ञोपयुक्ताः पशवः सम्प्रयान्त्युच्छ्रितीः प्रभो ॥२८।
अग्निः पशुरभूत् पूर्वं पशुरासीज्जलाधिपः ।
भास्वानथोच्छ्रितीः प्राप्तो यज्ञे निष्ठामुपागतः ॥२९।
तन्ममैतां कृपां कृत्वा नय मामुच्छ्रितिं नृप ! ।
आत्मनश्चेप्सितं कामं पुत्रलाभादवाप्स्यसि ॥३०।

या वज्र अथवा अन्य आयुध से मारा तो नहीं गया है या मनुष्य सिंहादि के द्वारा अधीनता अर्थात् भक्षित तो नहीं हुआ है। यह एक आ गया है, उस समय जो बच्चे महारण्य में चरने गये हैं, कहा नहीं जा सकता कि उनकी क्या अवस्था होगी। हे नृप ! पुत्रगण जब पास रहते हैं तब उन्हें देखकर कुछ निश्चिन्त हो जाता हूँ। किन्तु सारी रात उनके मङ्गल की चिन्ता करता हूँ। सबेरा हो जाता है, तो दिन और सूर्यास्त हो जाने पर सारी रात (हमें चिंता में ही बितानी पड़ती है।) कैसे सब समय हम निरापद रहें, ऐसा सोचता रहता हूँ। हे भूप ! यही हमारे उद्वेग का कारण है। अब आप कृपाकर मुझपर बाण चलाइये। हे पार्थिव ! किस कारण से मैं सैकड़ों दुःखों से घिरा रह कर भी प्राणत्याग की इच्छा नहीं करता हूँ, उसे मैं कह रहा हूँ यह आप समझ लीजिये। जो आत्महत्या करते हैं, वे असूर्या अर्थात् अन्धकाराच्छन्न नामक नरक में जा गिरते हैं और जो पशु-यज्ञ के काम में आते हैं, उन्हें सद्गति प्राप्त होती है। पूर्व्वकाल में अग्नि, वरुण और सूर्य पशुत्व को प्राप्त कर यज्ञकार्य में नियुक्त हुए थे और उन्हें सद्गति प्राप्त हुई थी। अतः हे नृप ! मेरे प्रति अनुग्रह कर मुझे सद्गति प्रदान करे। इससे आप को पुत्र लाभ होकर आपका अभीष्ट सिद्ध हो जायगा ॥ १९-३० ॥

पूर्वमृग उवाच—

राजेन्द्र नैष हन्तव्योऽयं धन्योऽयं सुकृती मृगः ।
बहवस्तनयास्य हन्तव्योऽहमसन्ततिः ॥३१।

उत्तरमृग उवाच—

एकदेहभवं यस्य दुःखं धन्यः स वै भवान् ।
बहूनि यस्य देहानि तस्य दुःखान्यनेकधा ॥३२।
एको यदाहमासन्तु प्राक् तदा देहजं मम ।
दुःखमासीन्ममत्वे तु भार्यायास्तदभूद् द्विधा ॥३३।
यदा जातान्यपत्यानि तदा यावन्ति तानि वै ।
तावच्छरीरभूमीनि मम दुःखान्यथाभवन् ॥२४।
न कृतार्थो भवान् यस्य नाति दुःखाय सम्भवः ।
इह दुःखाय मत्सूतिः परत्र च विरोधिनो ॥३५।
यतो रक्षणपोषार्थमपत्यानां करोमि तत् ।
चिन्तयामि च सम्भूतिस्तेन मे नरके ध्रुवा ॥३६।

पहिले मृगने कहा :—

हे राजेन्द्र ! यह मृग हत्या के योग्य नहीं है, क्योंकि जिसे बहुत सन्तति होती है, वह पुण्यात्मा और धन्य है। मैं पुत्रहीन हूँ, अतः मेरा वध करना उचित है ॥ ३१ ॥

दूसरे मृग ने कहा :—

अकेले देह के लिये ही जिसे कष्ट सहना पड़ता है, ऐसे तुम जैसे जोव धन्य हैं। जिनके अनेक देह हैं, उनके कष्ट भी नानाविध हुआ करते हैं। पहले मैं अकेला था, तब मेरा दुःख भी एक देहजन्य था, किन्तु जब मेरी पत्नी आयी, तो स्नेह के कारण वह दुःख भी दो भागों में विभक्त हो गया। अब तो जितनी सन्तति उत्पन्न हुई है, देह भी उतने ही भागों में विभक्त हो गया है और उतने देहों का दुःख सहना पड़ता है। जब कि, तुम्हें अधिक दुःख भोगना नहीं पड़ता, तब तुम कृतार्थ क्यों कर नहीं हो ? मेरी सन्तति इस लोक में दुःख का कारण है और परलोक सम्बन्ध में भी विरोधी है। देखो, मैं अपत्य के रक्षण और पोषण के लिये जो कुछ करता हूँ और विचार करता हूँ, निःसन्देह यह नरक में ले जायेगा ॥ ३२-३६ ॥

राजोवाच—

न वेद्मि किं सन्ततिमान् धन्योऽपुत्रोऽत्र किं मृग ! ।
पुत्रार्थश्चायमारम्भो मम दोलायते मनः ॥३७॥
दुःखाय सन्ततिः सत्यमैहिकामुष्मिकाय तत् ।
तथाप्यतनयान् यान्ति ऋणानीति श्रुतं मया ॥३८॥
सोऽहं यतिष्ये पुत्रार्थमृते प्राणिवधं मृग ! ।
तपसैव प्रचण्डेन यथा पूर्वं महीपतिः ॥३९॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे खनीनेत्रचरितं नाम विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

राजा ने कहा :—

हे मृग ! सपुत्रक और अपुत्रक में कौन धन्य है, इसका निश्चय मैं नहीं कर सकता। मेरा जो कुछ प्रयास है, वह पुत्र के ही लिये है। अतः मेरा मन बड़ा दोलायमान हो रहा है। यह बात सही है कि, सन्तति के कारण इस लोक और परलोक में दुःख भोगना पड़ता है, किन्तु यह भी सुनता हूँ कि, अपुत्रक व्यक्ति निरन्तर ऋणी रहता है। अतः, हे मृग ! मैं प्राणिवध न कर पहिले के महीपतियों की तरह प्रचण्ड तपस्या के द्वारा पुत्र प्राप्तिकी चेष्टा करूँगा ॥ ३७-३९ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण के खनीनेत्र चरित नामक एक सौ बीसवाँ अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ



भारतीय सभी साधनाओं का मूल लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subject and object रूप द्वैत-दर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धितत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति 'Moral and natural laws' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। किन्तु इनकी उपसंहृति आत्मा के साक्षात्कार से होतो है। अद्वयपुरुषोत्तम की यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुषरूप या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का ज्ञान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकास प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का अवलम्बन करता है। इस विचार और प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है—यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् conception उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का सन्धान होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान चेष्टाशून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश रूप में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दाकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थापित करता है सङ्कीर्णता की भूमि से छुड़ाकर अर्थात् Paricularity के region से अलगकर universality भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर विघ्न द्वन्द्व शून्य ही समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहती है। समाधि, भक्ति, ज्ञान और कर्म सभी में एकरूप ही रहती है। समाधि mere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorpition into highest concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा through understanding and firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। धृतिगृहीत ज्ञान रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फलस्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन

५९

की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मानव को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्ध-भावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभ कर योग संज्ञा प्राप्त करते हैं। पातञ्जल की दृष्टि में आकार शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीव की स्मृति या संस्कार contribute आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते हैं। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रस्तुत होता है।

'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते' तब निष्काय निस्पृह विजेतेन्द्रिय अध्यात्म चेता के रूप में समत्व की भूमि में अवस्थित लोककल्याण भावना से प्रवृत्ति करता है इसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्रभेदन भी कह सकते हैं। कुण्डलिनी तेजोरूप है। यह अद्वैत भाव की प्राप्ति है। अतः अद्वय प्राप्ति की भूमि पर अवस्थिति ही योग और तप है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का 'नाभागचरितवर्णन' नामक एकसौ बींसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

तत: स नृपतिर्गत्वा गोमतीं पापनाशिनीम् ।
तत्र तुष्टाव नियतो भूत्वा देवं पुरन्दरम् ।।१।
तप्यमानस्तपश्चोग्रं यतवाक्कायमानसः ।
तुष्टाव प्रयतः शक्रमपत्यार्थं महीपतिः ।।२।
तस्य स्तोत्रेण तपसा भक्त्या चापि सुरेश्वरः ।
तुतोष भगवानिन्द्रः प्राह चैनं महामुने ! ।।३।
अनेन तपसा भक्त्या स्तोत्रेणोच्चरितेन च ।
परितुष्टोऽस्मि ते भूप ! व्रियतां भवता वरः ।।४।

राजोवाच—

अपुत्रस्य सुतो मेऽस्तु सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
सदा चाभ्याहतैश्वर्यो धर्मकृद्धर्मवित् कृती ।।५।

मार्कण्डेय उवाच—

तथेति चोक्तः शक्रेण राजा प्राप्तमनोरथः ।
प्रजाः पालयितुं भूप आजगाम निजं पुरम् ।।६।
तत्रास्य कुर्वतो यज्ञं सम्यक् पालयतः प्रजाः ।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

अनन्तर खनीनेत्र नृपति पापनाशिनी गोमती के तटपर आकर संयतेन्द्रिय होकर इन्द्रदेव का स्तवन किया। राजा ने काय, वाणी और मनको संयत कर पुत्र की इच्छा से उग्र तप करता हुआ इन्द्रको प्रसन्न किया। हे महामुने। उसने तपस्या, भक्ति और स्तुति से सुरेश्वरको सन्तुष्ट किया, तब भगवान् इन्द्र ने खनीनेत्र को कहा—हे भूप ! तुम्हारी भक्ति और स्तुतिवाक्यों से मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ; जो मांगना हो वह वर मांग लो ॥ १-४ ॥

राजा ने कहा—

मैं पुत्रहीन हूँ; अतः यह वर दीजिये कि, मुझे सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, सर्वदा अव्याहृत ऐश्वर्यसम्पन्न, धर्मज्ञ, धर्माचरणपरायण और कृती पुत्र हो ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इन्द्र के द्वारा तथास्तु—ऐसा ही हो अभीष्ट वर सम्पन्न राजा प्रजापालन के

अजायत सुतो विप्र ! तदा शक्रप्रसादतः ॥७॥
तस्य नाम पिता चक्रे बलाश्व इति भूपतिः ।
अस्त्रग्राममशेषञ्च ग्राहयामास तं सुतम् ॥८॥
पितर्युपरते विप्र सोऽधिराज्ये स्थितो नृपः ।
स बलाश्वो वशं निन्ये भुवि सर्वमहोक्षितः ॥६॥
करञ्च दापयामास सारग्रहणपूर्वकम् ।
स सर्वभूमिपान् राजा पालयामास च प्रजाः ॥१०॥
अथाखिलनरेन्द्रास्ते दायादास्तस्य दुर्मदाः ।
न चाभ्युत्थाय सततं ते चास्मै प्रददुः करान् ॥११॥
व्युत्थिताः स्वेषु राष्ट्रेषु न सन्तोषपरास्ततः ।
भुवं तस्य नरेन्द्रस्य जगृहुस्ते नराधिपाः ॥१२॥
स गृहीत्वा वकं राज्यं पृथिवीशे बलान्मुने ! ।
तस्थौ स्वनगरे भूपैर्विरोधो बहुभिः कृतः ॥१३॥
समेत्य सुमहावीर्याः ससाधनधनास्ततः ।
रुरुधुस्तं महीपालं पुरे तत्र नरेश्वराः ॥१४॥
पुररोधेन तेनाथ कुपितः स महीपतिः ।
स्वल्पकोषोऽल्पदण्डश्च वैक्लव्यं परमं गतः ॥१५॥

हेतु अपने नगर में लौट आया। हे विप्र ! वहाँ भलीभाँति यज्ञानुष्ठान और प्रजापालन करते हुए इन्द्र की कृपा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। भूपति ने उसका नाम बलाश्व रक्खा और उस पुत्रको समस्त अस्त्रविद्याएँ सिखायी। हे विप्र ! पिता की मृत्यु के पश्चात् बलाश्व साम्राज्येश्वर राजा हुआ और उसने पृथ्वी के समस्त राज्यमण्डल को अपने वश में कर लिया। सार रूप में कुबेर अंशग्रहणकर दिलवाकर उस राजा ने प्रजाओं और सभी भूमिपालों का उत्तम रीति से प्रतिपालन करने लगा। उन सब नरपतियों में एक उन्मत्त बान्धवने बिगड़ कर और उन सब ने उन्नति के साथ करों का देना सदा के लिए वन्द कर दिया। अपने राज्य के अधिकार से सन्तुष्ट न होकर उन्होंने नरेन्द्र बलाश्वकी अधिकृत भूमि पर भी अधिकार कर लिया। हे मुने ! पृथ्वीश्वर बलाश्व बलपूर्वक अपने ही छोटे से राज्य का अधिकारी बनकर अपनी राजधानी में रहने लगा। युद्ध के सब साधनों और धन-बल से सम्पन्न उन राजाओं ने फिर उसकी राजधानी को ही घेर लिया। इससे महीपति बहुत क्रुद्ध हुआ, परन्तु बलशाली होते हुए भी उसका कोष क्षीण हो जाने और दण्डाधिकार के शिथिल होने से आत्मरक्षा का उसे कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा। अन्त में कातर और व्यथितहृदय होकर उसने

अपश्यमानः शरणं सबलो द्विजसत्तम ! ।
करौ मुखाग्रतः कृत्वा निशश्वासार्तमानसः ॥१६।
ततोऽस्य हस्तविरवान्मुखानिलसमाहताः ।
निर्जग्मुः शतशो योधारथनागतुरङ्गमाः ॥१७।
ततः क्षणेन तत् सर्वं नगरं तस्य भूपतेः ।
व्याप्तमासीद्बलौघेन सारेणातिबलान्मुने ॥१८।
अथ सोऽतिबलौघेन महता तेन संवृतः ।
निर्गम्य नगरात्तस्मात्तान् विजिग्ये नराधिपः ॥१९।
जित्वा च वशमानीय चकार करदान् पुनः ।
यथा पूर्वं महाभाग महाभाग्यो नरेश्वरः ॥२०।
धुतयोः करयोर्जज्ञे यतस्तस्यारिदाहदम् ।
बलं करन्धमस्तस्मात् स बलाश्वोऽभिधीयते ॥२१।
स धर्मात्मा महात्मा च स मैत्रः सर्वजन्तुषु ।
करन्धमोऽभवद्भूपस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥२२।
सम्प्राप्तस्य परामार्त्ति ददावरिविनाशनम् ।
बलं धर्मेण चाक्षिप्तमभ्युपेत्य स्वयं नृपः ॥२३।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे करन्धमचरितवर्णनं नामैकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२१॥

अपने दोनों हाथ मुँह के सामने कर, दीर्घ निःश्वास परित्याग किया। उसके हाथों में मुँह को हवा लगने से अंगुलियों के बीच के छिद्रों में से सैकड़ों योधा, हाथी, रथ, घोड़े आदि निकल पड़े ॥ १४-१७ ॥ हे मुने ! थोड़े ही समय में बलशाली उस सर्वोत्कृष्ट सैन्यसमूह ने समस्त नगर को व्याप्त कर डाला। उस महासेना को साथ लेकर बलाश्व राजधानी के बाहर विजय के लिए निकल आया और उसी सेना की सहायता से उसने समस्त शत्रुदल को जीत लिया ॥ १८-१९ ॥ हे महाभाग ! इस प्रकार बलाश्व ने सबको हरा कर पहिले की तरह उन्हें कर देने के लिए विवश किया और वह सब लोगों में सौभाग्यशाली नरपति माना जाने लगा ॥ २० ॥ बलाश्व के 'धूत' अर्थात् कम्पित करों में से शत्रुओं को नाशक करने वाली सेना उत्पन्न हुई थी, इस कारण वह 'करन्धम' नामक नाम से विख्यात हुआ ॥ २१ ॥ करन्धम त्रिलोक में विख्यात, धर्मात्मा, महात्मा और सब प्राणियों के साथ मित्राभावापन्न था। उस राजा ने धर्म के दिये हुए बल को प्राप्त कर परम दुःखित प्रजावृन्द के शत्रुओं का विनाश किया था ॥ २२-२३ ॥



पर्यालोचन

भारतीय उपासकवृन्दों ने ईश्वर की मधुर भाव से उपासना की है। वे कभी कभी ईश्वर की बन्धु, माता-पिता आदि के रूप में उपासना न कर मधुर भाव से उपासना करते हैं। उन्हें परम प्रेमास्पद स्वीकार करते हैं। राधिका की श्रीकृष्ण के प्रति उपासना इसी प्रकार की थी। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी मधुर भाव की उपासना को अतिशय प्रशंसा की है। आपात दृष्टि से ऐसा ज्ञात होता है कि यह मधुर भाव की उपासना अवैदिक उपासना है, किन्तु निविष्ट चित्त होकर श्रुति के अवलोकन करने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि यह एक वैदिक उपासना है। ऋग्वेद के छठे अष्टक में ब्रह्मवादिनी अपाला का उपाख्यान उपलब्ध होता है। यह अपाला महर्षि अत्रि की कन्या थी। उससे दृष्ट सात मंत्रों से समन्वित एक सूक्त था—

कन्या वारवायति सोममपि श्रुता विहत्।
अस्तं भरन्त्यब्रवीद् इन्द्राय सुनवे त्वा शक्राय त्वा ॥
(ऋ० सं० ९।९।१४)

इस मंत्र के सायण भाष्य में भाष्यकार सायणाचार्य ने मंत्र के अर्थ-बोध के लिए एक कथा प्रस्तुत की है। पूर्व समय में महर्षि अत्रि की कन्या ब्रह्मवादिनी अपाला चर्म रोग से आक्रान्त हो गई थी। अतः वह दुर्भगा कहकर पति से परित्यक्त हुई। पति परित्यक्ता, अभागी अपाला चर्मरोग से आक्रान्त हो अपने पिता महर्षि अत्रि के आश्रम में रहने लगी एवं रोग से छुटकारा पाने के लिए पिता की आज्ञानुसार दीर्घकाल तक इन्द्र की तपस्या में लगी रही। यद्यपि मन्त्र में इन्द्र का नाम ही कहा गया है तथापि उसमें परमेश्वर का ही निर्देश किया गया है। "इन्द्रं मित्रवरुणमग्निमाहुः" (ऋ० सं० २।३।२२) मन्त्र में "इन्द्र" शब्द परमेश्वर का वाचक हो माना गया है। जो भी हो इतना सत्य है कि अपाला ने पिता के आश्रम में रहकर बहुत दिनों तक इन्द्र की प्रसन्नता के लिए तपस्या की। अनेक दिनों तक इन्द्र की प्रीति-परायण होकर इन्द्र-भाव से सर्वथा भावित हो गई थी। फलतः इन्द्र के प्रिय कार्य सम्पादन के लिए ही अपाला की तीव्र इच्छा रहती थी। किसी समय अपाला के मन में यह भावना जगी कि सोम, इन्द्र को अत्यधिक प्रिय है। अतः इस सोम को इन्द्र को समर्पित किया जाय। इस प्रकार निश्चय कर अपाला स्नानार्थ नदी में गई। नदी में स्नान कर पिता के आश्रम की ओर लौटते समय मार्ग में सोमलता का एक खण्ड अपाला को मिला। सोमलता को प्राप्त कर उसके हृदय में अपार हर्ष हुआ। इस परिस्थिति में अपाला ने इन्द्र की चिन्ता से तन्मयता को प्राप्त किया। उस सोमलता को इन्द्र को समर्पण करने की एकान्त इच्छा उसके मन में उत्पन्न हुई। अतिशय विह्वलता के कारण उसने सोमलता को मुख में रखकर चबाना आरम्भ कर दिया। मार्ग में अपाला जब सोमलता को चबाती हुई आश्रम की ओर आ रहीं थी तब चबाने की क्रिया में दाँत के घर्षण के फलस्वरूप शब्द हो रहा था। उसके दन्त घर्षण के फलस्वरूप उत्पन्न शब्द को सोमासव की ध्वनि समझ कर इन्द्र उस स्थान पर उपस्थित हुए और अपाला से प्रश्न किया कि

क्या इस स्थान में पत्थर के द्वारा सोमलता का रस निकाला जा रहा है ? उत्तर में अपाला ने कहा कि महर्षि अत्रि की कन्या अपाला ने नदी के स्नान से लौटते समय सोमलता को प्राप्त किया था। उस प्राप्त सोमलता को उसने चर्वण किया और उसी के चर्वण की ध्वनि सुनाई दे रही है। पत्थर के द्वारा सोमलता के कूटने की ध्वनि नहीं है। जब इन्द्र, अपाला के इन शब्दों को सुनकर लौट रहा था तब अपाला को उस पूछने वाले के इन्द्र होने का भान हुआ। उस समय इन्द्र के भाव से अतिशय आविष्ट हो अपाला ने इन्द्र से कहा कि इन्द्र ! तुम क्यों लौट रहे हो ? तुम तो सोमरस पान की इच्छा से प्रत्येक घर में जाते हो। इस स्थान में भी मेरे दाँत के द्वारा चबाई गई सोमलता के रस का पान कर सकते हो। इन्द्र को लक्ष्य कर उसने कहा कि सोम ! तुम आए हुए इन्द्र के लिए रस का क्षरण करो। इन्द्र ने अपाला के अतिशय अनुरागवश सोमरस का पान किया। अपाला के मुख में स्थित सोमरस से वे अत्यधिक तृप्त हुए। इन्द्र के सोमरस का पान करते समय ही अपाला ने इन्द्र से कहा कि मैं चर्मरोग से ग्रस्त होने के कारण पति द्वारा परित्यक्ता हूँ। परन्तु, आज मैंने सौभाग्यवश इन्द्र को प्राप्त किया है। इन्द्र ने मनोवांछित वर माँगने को कहा। अपाला ने तीन वर की माँग की। उन वरों में तृतीय वर यह था कि मैं चर्मरोग के कारण स्वामी द्वारा परित्यक्ता हुई थी, अतः मेरा चर्म लोम युक्त हो जाय। इन्द्र ने अपने रग के छिद्र में, शकट छिद्र में औ र युग छिद्र में तीन बार अपाला को खींचा। फलस्वरूप अपाला के शरीर से चर्मदोष सजारू, गो और कृकलास (गिरगिट) के रूप में निकल गया। अपाला रोगमुक्त हो सूर्य समान कान्तियुक्त हो गई। इस प्रकार इस कथा के द्वारा यह सिद्ध होता है कि उपासक अपने उपास्य के प्रति अतिशय तन्मयता के साथ उपासना में रहता है। वह कार्याकार्य विवेक से इतना शून्य हो जाता है कि "स्व", "पर" के भेद से सर्वथा विमुक्त हो उपास्य के सुख की कामना में तत्पर रहता है। यही कारण था कि अपाला ने दन्तचर्बित सोमरस का पान अपने उपास्य देव को कराने में जरा भी संकोच नहीं किया। कारण उसकी परानुरक्ति, उसे इन बाह्य भेदों से सर्वथा मुक्त कर देती है। भक्ति में अविच्छिन्न तैलधारा के समान अपने उपास्य के प्रति प्रतिक्षण बढ़ती हुई मानसिकवृत्ति, उसकी तन्मयता करा देती है। यह तन्मयता "स्व" और "पर" के भेद से रहित ही होती है।

यहाँ पर यह समझ लेना नितान्त आवश्यक होगा कि ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक वृत्तिरूप और दूसरा स्वप्रकाश चैतन्यानन्द ब्रह्मरूप। प्रथम अन्तःकरण की चैतन्य प्रतिबिंबोपेत वृत्ति है। जिसके शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान आदि होता है। दूसरा ब्रह्म-रूप है। ब्रह्म रूप ज्ञान ही अचिद् रूप अज्ञान एवं उसके कार्यरूप सकल प्रपंच को सत् रूप और प्रकाश रूप देकर कार्य-कारणक्षम बनाता है। अनित्यों को नित्य, अचेतनों को चेतन, असत्यों को सत्य बनाने वाला वेदान्त वेद्य परमानन्द भगवान् नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन और सत्यों के सत्य हैं[1]। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसी दास जी ने भी अपने उपास्य राम का वर्णन करते हुए कहा है—

---

१. नित्यः नित्यानां चेतनश्चेतनां एको बहूनां सत्यस्य सत्यं। बृ० २।१।२०

आनन्दहु के आनन्द दाता,
प्रान प्रान के जीव के, जियसुख के सुख राम।
तुम तजि तात सुहात गृह, जिन्हहि तिन्हहि विधि वाम॥

श्रुति ने कहा है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[1]। सकल दृश्य प्रपञ्च इस आत्मा का ही स्वरूप है। परमार्थता अखण्ड एकरस के रूप में अद्वितीय तत्त्व का दर्शन करना चाहिए। श्रुति ने कहा है—"सर्वं तत् परादाद्योऽन्यत्रात्मतः"[2]। अर्थात् जिस किसी भी पदार्थ को प्रभु से भिन्न या पृथक् देखा जाता है, वह पदार्थ ही अपना घोर अपमान समझ कर भिन्नदर्शी को परमार्थ से च्युत कर देता है। यही कारण है कि उपासक उस उपास्य के लिए सर्वथा अभिन्न समझकर सभी वस्तुओं को समर्पण करने के लिए सतत् तत्पर रहता है। यही बहु में एकत्व की उपासना है। विम्ब से वियुक्त प्रतिबिंब, महाकाश से वियुक्त होकर धाराकाश, महासमुद्र से वियुक्त होकर तरंग का स्वरूप नहीं हो सकता, वैसे ही अनन्त सौंदर्यधाम भगवान् की भक्ति से आर्द्रता सम्पन्न तन्मय व्यक्ति भी वियुक्त नहीं रह सकता है। आवश्यकता है हृदय की स्वच्छता की, जिससे उस परात्पर अनन्त सौन्दर्यधाम के चिन्तन से उसके स्वरूप का साक्षात्कार कर तन्मयता लाभ कर सके। यही तो भारतीय दृष्टि में जप और तप भी है—"तज्जपस्तदर्थभावनम्—यो०सू०।" श्री मधुसूदन सरस्वती ने भी उस परात्पर स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त करते ही उसकी दासता को स्वीकार कर लिया। जीव में निर्विकार, परम चैतन्यानन्द, रसात्मक भगवान् से भिन्नता, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्वादि नाना अनर्थों का योग एवं अविद्या अन्तःकरणरूप उपाधि कृत है। उपाधि के विलयन में एक परमानन्द भगवान् का ही अवशेष रहता है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि परमानन्द रसात्मक भगवान् ही चिदानन्दमयी जीवशक्ति के भीतर, बाहर तथा मध्य में भरपूर है। श्रीमद्भागवत में पुरंजनि को उपदेश देते हुए स्वयं भगवान् ने भी कहा है कि "मैं ही तुम्हारा पारमार्थिक शरीर हूँ, तुम मुझसे पृथक नहीं हो। मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ, इस भाव को गम्भीरता से देखा। कवि लोग हमारे और तुम्हारे में कभी किंचित् मात्र भी भेद नहीं देखते[3]। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि जो लोग "देवता मुझसे पृथक् है, मैं देवता से पृथक् हूँ" ऐसी बुद्धि रखते हैं, उपास्योपासक के तत्त्व को नहीं जानते। अतएव वे पशुओं की तरह केवल वे बलि पूजादि द्वारा किंचित् सत्कार करते हैं[4]। प्रकृत में यज्ञ को छोड़कर तप में प्रवृत्ति का यही उद्देश्य है।

१. शा० ३।१४।१
२. बृ० २।४।६
३. अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः,
न नो पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि।
(भा० ४।२८।६२)
४. अन्योऽसावहमन्योऽस्मिन् स वेद यथा पशुरेवं भवति स देवानां।
(बृ० १।४।१०)

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार भक्ति स्वरूप विवेचन :—

शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति का विस्तृत पर्यालोचन किया गया है। शाण्डिल्य सूत्र १०० सूत्रों में समाप्त है। इसलिए शाण्डिल्य[1] शतसूत्री के नाम से भी यह ग्रंथ प्रसिद्ध है। इन सूत्रों का वर्गीकरण तीन अध्यायों में किया गया है। प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्लिक हैं। शाण्डिल्य सूत्र का असाधारण महत्व श्री स्वप्नेश्वर सूरी ने बढ़ा दिया है। उनका भाष्य असाधारण महत्व का है। भाष्य का नाम भक्तिमीमांसा[2] है। जैसे मधुसूदन का भक्ति रसायन असाधारण पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है वैसे ही स्वप्नेश्वर कृत भाष्य भी भक्तितत्त्व विश्लेषण में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। स्वप्नेश्वर ने अपने भाष्य के उपोद्घात में "भक्ति मोमांसा" का प्रयोजन प्रदर्शित किया है[3]। इन्होंने कहा है कि जीव समूहों का ब्रह्मभावापत्ति ही मुक्ति है। जीव समूह ब्रह्म के साथ अत्यन्त अभिन्न है। इसलिए जीव समूहों का जो संसार है, वह स्वाभाविक नहीं है। सत्त्वः, रजः एवं तमोगुणात्मक अन्तःकरण का उपाधिकृत संसार है। जैसे जपादि पुष्परूप उपाधि का सान्निध्य प्रयुक्त स्फटिक में लोहित्य-रक्तिमा उत्पन्न होता है। वैसे ही प्रवृत स्थल में भी समझना चाहिए। जीव समूहों के संसार की निवृत्ति उपाधिकृत होने के कारण नहीं हो सकती वरन् उपाधि अथवा उपमेय में किसी एक के अथवा इन दोनों के सम्बन्ध के विनाश से ही संसार को निवृत्ति हो सकती है। आशय यही है कि उपाधि उसको कहा जाता है जो अपने समीपस्थ वस्तु में अपने धर्म का आधान करता है। जपाकुसुम, इसीलिए उपाधि है कि वह अपने समीपस्थ स्फटिक में अरुणिमा का आधान करता है। यही जपाकुसुम दृष्टान्त के द्वारा समझाया गया है। पूर्वोक्त संसार रूप भ्रम का ज्ञान, स्फटिक गत लौहित्य के समान उपाधि अथवा उपधेय में से किसी एक के विनाश से अथवा जपाकुसुम का स्फटिक के साथ सम्बन्ध के समान अन्तःकरण का जीव के साथ सम्बन्ध की निवृत्ति से, हो सकता है। जब तक जपाकुसुम का स्फटिक के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक अतिशय निपुणरूप में दर्शन करने पर भी स्फटिक-लौहित्य के भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है; इसी प्रकार प्रकृत स्थल में सभी प्रकार का स्फुरण रूप व जीवात्मा का विनाश तो सम्भव नहीं है। अन्तःकरण के साथ जीव के सम्बन्ध का विनाश भी सम्भव नहीं है। अन्तःकरण के स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिए जीव के विनाश के द्वारा जीव के साथ अन्तःकरण के सम्बन्ध की निवृत्ति सम्भव नहीं है। इसका असम्भवत्व पहले ही कहा जा चुका है। इसलिए परिशेष्य प्रयुक्त उपाधि के विनश से ही पूर्वोक्त ज्ञान भ्रम की निवृत्ति होती है, स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु आत्मज्ञान से इस भ्रम की निवृत्ति कभी-भी नहीं हो सकती है। उपाधि की निवृत्ति कैसे होगी ? इसलिए उपाधि की हानि का आत्मज्ञान को छोड़कर, जो कारणान्तर है, उसकी खोज करनी पड़ेगी। वह कारणान्तर ईश्वर भक्ति है। पूर्वोक्त

---

१. शाण्डिल्य शतसूत्रीयम्। शा० सू० भा० पृ० १

२. भाष्यभाष्यतेऽधुना। शा० सू० भा० पृ० १।

३. समाप्तेयं भक्तिमीमांसा। शा० सू० भा० १०९।

स्वप्नेशेन कृतं तदङ्गजतुषा सद्भक्ति मीमांसनम्। शा० सू० भा० १०९।

उपाधि निवृत्ति का कारण ईश्वर भक्ति, लोक में ज्ञात नहीं है। यह अलौकिक होने के कारण श्रुति एवं स्मृति के द्वारा ही ज्ञात होती है। श्रीमद्भागवद्गीता में कहा गया है कि "इन तीनों गुणों के मध्य सत्त्वगुण निर्मल है। इसलिए वह प्रकाशक है एवं उपद्रव शून्य है। वह जीव की सुखासक्ति एवं ज्ञानासक्ति के द्वारा निबद्ध करके रखता है। हे कौन्तेय ! तृष्णा एवं आसङ्ग से उत्पन्न रजोगुण को अनुरञ्जनात्मक समझोगे। वे जीव को कर्मासक्ति के द्वारा आबद्ध करते हैं। हे भारत ! तमोगुण अज्ञानजात है, इसीलिए सभी जीवों के लिए भ्रान्तिजनक है, यही समझ लेना। वे जीव को प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा के द्वारा आबद्ध करते हैं।[1] इस प्रकार उपक्रम करके उपसंहार में कहा गया है कि जो "हमारी अनन्य भक्ति योग अर्थात् तप के द्वारा सेवा करता है वह गुण समूहों का अतिक्रमण कर ब्रह्मभाव एवम् अभीष्ट लाभ करने योग्य होता है।[2]" इससे स्पष्ट हो रहा है कि भगवान् स्वयं "भगवान् के प्रति जो भक्ति है, वह त्रिगुणात्मक अन्तःकरण को लय कराकर ब्रह्मानन्दावाप्तिरूप मुक्ति का कारण होता है।

प्रश्न होता है कि वेदान्तादि में जो मोक्ष का कारण आत्मज्ञान कहा गया है, वह व्यर्थ हो जायगा। इसके उत्तर में स्वप्नेश्वर ने कहा है कि अश्रद्धारूप मल के क्षालन के द्वारा आत्मज्ञान का भक्ति में उपयोग समझना चाहिए। यह कभी नहीं समझना चाहिए कि अपरोक्ष अन्तःकरण रूप उपाधि के धर्माध्यास को निरास करने में आत्मज्ञान समर्थ है। अन्तःकरण रूप उपाधि के धर्म सुख-दुःखादि का जीव में जो अध्यास होता है, उसकी ज्ञान के द्वारा निवृत्ति नहीं हो सकती है[3]। इसीलिए गीता में कहा गया है कि जब द्रष्टा जीव गुण को छोड़कर अन्य किसी को भी कर्ता नहीं देखते हैं एवं गुण समूहों से अतीव वस्तु को ज्ञात होते हैं, तब उस स्थिति में वे ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार गीता में फिर कहा गया है कि "हे धनञ्जय ! जो व्यक्ति योग के द्वारा सभी कर्मों को अर्पण करता है एवं आत्मज्ञान के द्वारा जिसका सभी संशय छिन्न हो गया है, कर्म-समूह उस प्रकार के ब्रह्मज्ञ व्यक्ति को आबद्ध नहीं कर सकते हैं।[4]" इसके द्वारा स्पष्ट ही कहा गया है कि संसार, अज्ञानकृत नहीं हैं। संसार के अज्ञान कृत रहने से उसके विरोधी ज्ञान से संसार की अवश्य निवृत्ति होती। रजत की उत्पत्ति में रजत अवयव आदि कारण हैं"। वे कारण शुक्ति में नहीं हैं। अतः अज्ञात शुक्ति से रजत की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।[5] पूर्वोक्त विश्लेषण से स्पष्ट अवगत हो रहा है कि अज्ञानकृत

१. गी० १४।६।८ २. गी० १४।२६
३. गी० १५।१९ ४. गी० ४।४१
५. अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तानुसार अज्ञान शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य का आवरक होता है और वही शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य का आवरक अज्ञान रजत के रूप में एवं रजत के ज्ञानाभास के रूप में परिणत होता है। शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य का आवरक अज्ञान ही शुक्ति में भासमान रजत का उपादान है। यही अद्वैतवेदवादियों का सिद्धान्त है। परन्तु यह सिद्धान्त स्वप्नेश्वर ने अङ्गीकार करके स्पष्ट रूप से कहा है कि भ्रम में भासमान रजत की उत्पत्ति, शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के आवरक अज्ञान से नहीं होती।

संसार नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति से भी संसार की सत्यता का प्रतिपादन हो रहा है। सौम्य! यह कैसे हो सकता है कि असत् उत्पन्न होता है[1]। इस श्रुति के द्वारा कार्य के सत्व रूप होने पर कारण को भी सत्वरूप बोध कराते हुए संसार की सत्यता का ही प्रतिपादन किया जा रहा है। सत्यसंकल्प मूल ही परमेश्वर की सृष्टि है। यह छान्दोग्योपनिषद् के ३।१४।२ में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। इसी प्रकार भगवान् बादरायण ने भी अपने किसी भी सूत्र के द्वारा संसार को अज्ञान कल्पित के रूप में नहीं कहा है, वरन् स्वप्न के समान यह सृष्टि, इस पक्ष का निरसन कर जाग्रत सृष्टि के प्रतिपादन से सृष्टि की सत्यता का ही प्रतिपादन किया गया है। इसके उत्तर में शाण्डिल्य सूत्र के भाष्यकार कह रहे हैं कि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वपक्षी अन्तःकरण धर्म सुखादि का आत्मा में अध्यास मानते हैं और निवृत्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा मानते हैं। परन्तु सुखादि को आत्मा में अध्यास स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है। कारण, अनुमान के बल से प्रमाणित किया जा सकता है कि सुखादि आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकते हैं। सुखादि आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है। कारण इसमें इस प्रकार अनुमान प्रदर्शित किया जा सकता है सुखादि (पक्ष) साक्षात् आत्मा का विकार नहीं (साध्य) कारण वे आत्मा में प्रतोयमान होते हैं (हेतु)। जैसे गौरवत्वादि धर्म (दृष्टान्त)। "अहंगौरः" इत्यादि प्रतीति में गौरवत्वादि धर्म स्वाभाविक रूप में आत्मा में अवस्थान नहीं करता है, यथार्थतः वे शरीर-वृत्ति हैं।

इस प्रसंग में एक घोर अनुमान प्रदर्शित किया गया है। जिससे इस विषय की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। सुखादि का ज्ञान (पक्ष) करण मन-इन्द्रिय जन्य है (साध्य)। कारण उपलब्धि मात्र ही क्रिया रूप है। जहाँ-जहाँ क्रियात्व है, वहाँ-वहाँ सकरणत्व है। सुखादि को उपलब्धि की क्रिया होने के कारण, इसका भी अवश्य ही कोई करण रहेगा। इसलिए प्रकृत स्थल में लाघव तर्क वर्तमान रहने के कारण यही कहना उचित है कि समवाय सम्बन्ध से सुखादि, मनोरूप करण से उत्पन्न होता है। जैसे शब्द, श्रवणेन्द्रिय जन्य होता है। इस विषय में भिन्नवादी के अनुसार एक अन्य अनुमान का भी प्रदर्शन किया जा सकता है—सुखादि (पक्ष) समवाय सम्बन्ध से अपने करण में विद्यमान हैं (साध्य)। कारण वे ज्ञानादि अणु—मनोरूप इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यगुण हैं (हेतु)। जैसे शब्द के समान (दृष्टान्त)।

वादी एवं प्रतिवादी दोनों के मत में सुखादि अपने करण में समवेत होता है। इसके लिए भिन्न हेतु का प्रदर्शन किया गया है। वे इस प्रकार हैं सुखादि, अपने करण में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है, कारण वे स्पर्श शून्य इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गुण हैं। आत्मा की सिद्धि सभी सत्ताओं के प्रकाशक रूप में ही होती है। आत्मा ही कृष्ण प्रपञ्च का प्रकाशक है, कारण उपनिषद् में कहा गया है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। इस विषय पर भक्तिमीमांसा के द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में स्फुट विचार किया गया है। अब यह सिद्ध हुआ कि जैमिनि के अनुसार की गई धर्म की मीमांसा

---

१. कुतस्तु खलु सौम्येकं स्यादिति हो वाच कथमसतः सज्जायेतेति। (छा० ५।२।२।)

में जैसे धर्म, पुरुषार्थ का हेतु है वैसे ही भक्ति भी पुरुषार्थ का हेतु है। अतः भक्ति की मीमांसा विज्ञात कराने की इच्छा से शाण्डिल्य ने अपने सूत्र का प्रणयन किया है।

शाण्डिल्य ने अपने प्रथम सूत्र के अनुसार स्पष्ट कहा है कि मुमुक्षु व्यक्ति के लिए भक्ति का विचार करना कर्तव्य है। प्रश्न हो सकता है कि "परमेश्वर में अनुराग का नाम भक्ति है।" जैसे धर्म प्रयत्न द्वारा निष्पाप होता है वैसे ही भक्ति अपनी कृति के द्वारा निष्पाप नहीं है। ब्रह्मा के समान भक्ति भी ज्ञान का विषय नहीं है। इस स्थिति में भक्ति विषयक विचार कैसे सम्भव हो सकता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि भक्ति, पूर्वजन्म का सुकृत रूप कारण के निबन्धन से, इस जन्म में गौणभक्ति के द्वारा कोई पुरुष सम्पन्न हो सकता है और उससे उस व्यक्ति को—यह भक्ति नहीं है। यह भक्ति कल्याण के लिए नहीं है। भक्ति का विषय उत्तम नहीं है। इस प्रकार कुतर्क के द्वारा कवलित होने के कारण भक्ति से निवृत्ति भी हो सकती है। जैसे कुतर्क के बल से पति में पत्नी की निवृत्ति हो सकती है। इसलिए कुतर्क निराशक्रोद्धार कर भक्ति की मीमांसा— विचार भक्ति में उपयोग विद्यमान है। पूर्वोक्त युक्ति से भक्ति में जब कुतर्क का निराश अपेक्षणीय है, तब भक्ति का विचार भी अपेक्षणीय है। इसलिए विष्णु पुराण में प्रह्लाद ने कहा है कि "नाथ! मैं जिन योनि सहस्र में जन्म-ग्रहण करूँगा, उस जन्म में भी तुम्हारे प्रति भक्ति बनी रहे"।[1] इसके द्वारा यही प्रतीत होता है कि भक्ति की अविच्युति की प्रार्थना अपेक्षित है और इसीलिए भक्तिरूप अङ्गी, जो फल के द्वारा सफल है, इसी प्रकार भक्ति का अङ्गविचार भी उसके फल से ही फलवान् है। भक्ति के विचार का प्रयोजन भक्ति विषयिणी कुतर्क की निवृत्ति है और इससे भक्ति अचला होती है।

इस भक्ति के सम्बन्ध में शाण्डिल्य ने कहा है कि –"ईश्वर—आराध्य विषय में अन्तःकरण के एकान्त राग को भक्ति या तप कहते हैं।" भगवद्विषयक अन्तःकरण वृत्ति विशेष ही भक्ति है। पूर्वोक्त अन्तःकरणवृत्ति विशेष रूप, लौकिक अनुरागादि में भी विद्यमान है। इसलिए परम भक्तिमान् प्रह्लाद ने कहा है कि जैसी अविवेकी व्यक्ति समूहों का पुत्र कलत्रादि ऐहलौकिक विषय में अनपायिनी प्रीति –"अचला प्रीति है, मैं नियत तुमको स्मरण कर रहा हूँ इसलिए हमारे हृदय से तुम्हारे प्रति वह प्रीति दूर न हो।[2] इसंग में प्रयुक्त "प्रीति" शब्द का अर्थ मात्र सुख नहीं, वरन् सुख के द्वारा नियन्त्रित है। यदि प्रीति को मात्र सुखरूप स्वीकार किया जाय तब तो निर्विषय होने के कारण विषय सप्तमी उपपन्न नहीं होगी। पूर्वोक्त "प्रीति" को सुखज्ञानरूप स्वीकार करने पर भी सुखज्ञान का सुख विषय होने के कारण सुखज्ञान एवं सुख-विषय इन दोनों में विषयविषयिभाव स्वीकार करना पड़ेगा और यह सम्भव नहीं है। अतः अनुरक्ति शब्द का ही प्रयोग किया है। यही कारण है कि विष्णु पुराण में प्रह्लादोक्ति में जिस प्रीति शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ अनुराग है। यह नहीं कहा

---

१. वि० पु० १।२०।१८
२. वि० पु० १।२०।१९

जा सकता है कि "विषयेषु" यह जो सप्तम्यन्त शब्द का प्रयोग किया गया है, इसके द्वारा विषय-जन्य प्रीति अर्थ-ग्रहण नहीं किया जा सकता है। कारण जनक अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग व्याकरण के अनुशासन में विद्यमान नहीं है और भी विषय यही है कि विष्णु पुराण में ही कहा गया है—"हे अच्युत! तुम्हारे प्रति मेरी अचला भक्ति विद्यमान रहे।" यहाँ भी "प्रीति" अनपायिनी रहे, कहा गया है। इन दोनों में एकवाक्यता होने से भक्ति की अब ईश्वर विषयता सिद्ध होती है तब "प्रीति" पद के द्वारा भी पूर्वोक्त एकवाक्यता के कारण "प्रीति" की भी ईश्वर विषयता सिद्ध होती है। पूर्वोद्धृत वाक्य द्वय में इतना ही भेद है कि पूर्व वाक्य में प्रत्येक जन्म में भक्ति की प्रार्थना की गई है और परवर्त्ती वाक्य में अविवेकी पुरुष के विषयानुराग के समान प्रीति भक्ति की सर्वथा अपरिहार्यत्व प्रार्थना की गई है। विषयजन्य प्रीति भी राग को छोड़कर सम्भव नहीं होती है। इसलिए "प्रीति" पद के द्वारा विषयजन्य प्रीति न कहकर राग को ही कहा गया है। यही कारण है कि पातंजल सूत्र २।१ में राग को सुख नियत कहा गया है और यही भक्ति है। कदाचित् स्मरण एवं कदाचित् कीर्त्तन को भक्ति नहीं कहा जा सकता है। कारण इससे अननुगम रूप दोष की प्रसक्ति हो जायगी। इस पक्ष में अन्य दोष यह है कि स्मरण और कीर्त्तन का स्थायित्व—अचल रूपता नहीं है। ईश्वर ज्ञान को भी भक्ति नहीं कहा जा सकता है। कारण ईश्वर से द्वेष करने वाले व्यक्ति को भी ईश्वर का ज्ञान रहता है। ईश्वर ज्ञान को भक्ति कहने से ईश्वर के प्रति द्वेषादि रखने वाले व्यक्ति में भक्तित्व की प्रसक्ति हो जायगी। इसी तरह आराध्यत्व रूप में ज्ञान भी भक्ति नहीं है। कारण पूजा नमस्कारादि भी आराधना है किन्तु उसमें भक्ति नहीं है और भी बात यह है कि जलाधिक्य या भयप्रयुक्त जो पूजा नमस्कारादि करता है—बलाधिक्य अथवा भय प्रयुक्त नमस्कार्यत्व ज्ञान रखने वाले व्यक्ति में भी भक्त या अनुरक्त के व्यवहार की आपत्ति हो जायगी। यदि कहा जाय कि अनुरागादि के साथ आराध्य रूप में ज्ञान ही भक्ति है, यह कथन ठीक नहीं है। तब तो अनुराग ही भक्ति है कहना उचित है और इसीलिए गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि हममें समर्पित चित्त, हममें समर्पित प्राण, साधु समूह परस्पर हमारे तत्त्व समझा कर एवं हमारी ही कथा का कीर्त्तन कर परितोष एवं सुखलाभ करते हैं। सभी समय हममें आसक्त चित्त एवं प्रीतिपूर्वक हमारा भजन करने वाले व्यक्तियों को मैं इस प्रकार बुद्धि रूप योग—उपाय प्रदान करता हूँ। जिसके द्वारा वे हमको ही प्राप्त कर लेते हैं।[1] इत्यादि श्लोक के द्वारा भगवान् में तद्गत चित्त एवं तद्गत प्राण होकर भजन का ही विषय कहा गया है। परन्तु ईश्वर का आराध्य रूप में ज्ञान किया है, ऐसे व्यक्तियों के भजन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। इसलिए श्रीकृष्ण की कमनीय आकृति का दर्शन करके अनुरक्त गोप-तरुणियों की भी भक्ति का फल मुक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है। अनुरक्ति पद में जो अनु उपसर्ग है, वह भक्ति के लक्षण के अन्तर्गत नहीं है।

---

१. गी० १०।९-१०

इस अनु का अर्थ है पश्चात्। अतः भगवन्महिमादि ज्ञान के बाद उत्पन्न होने के कारण अनुरक्ति पद का प्रयोग किया गया है।

अब प्रश्न होता है कि मित्रादि विषयक अनुराग भी प्रकृत भक्ति हो जायगी। कारण, यह जगत् ही परमेश्वर का स्वरूप है। यदि यह कहा जाय कि मित्रादि परमेश्वर का विकार है और विकार से अवशिष्ट के प्रति अनुराग ही प्रकृत भक्ति है यह भी कहना अनुचित है। कारण तब तो गोपी प्रभृति की भी प्रादुर्भाव के द्वारा अविच्छिन्न जो ईश्वर—के प्रति भक्ति है, वह अव्यापक भक्ति का लक्षण होगा। जीवोपाधि के द्वारा अनवच्छिन्न जो चेतन है, तद्विषयिणी अनुरक्ति ही भक्ति है। और इसे प्रादुर्भाव के द्वारा अविच्छिन्न हो या परिपूर्ण हो, दोनों प्रकार की ईश्वर के प्रति अनुरक्ति है, को भी इसके द्वारा संग्रहीत कर लिया है।[1]

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का करन्धम-चरित नामक एक सौ इक्कीसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ॥



---

१. शा० भ० सू० -२

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

वीर्यचन्द्रसुता सुभ्रुर्वीरा नाम शुभव्रता ।
स्वयम्वरे सा जगृहे महाराजं करन्धमम् ॥१॥

तस्यां पुत्रं स राजेन्द्रो जनयामास वीर्यवान् ।
अवीक्षितमिति ख्यातिमुपेतं जगतीतले ॥२॥

जाते तस्मिन् सुते राजा स दैवज्ञानपृच्छत ।
क्वचित् प्रशस्तनक्षत्रे शस्तलग्ने सुतो मम ॥३॥

कच्चिच्चालोकितं जन्म मम पुत्रस्य शोभनैः ।
ग्रहैः कच्चिन्न दुष्टानां ग्रहाणां दृक्पथं गतम् ॥४॥

इत्युक्तास्तेन दैवज्ञास्तमूचुर्नृपतिं ततः ।
शस्ते मूहूर्त्ते नक्षत्रे लग्ने चैव सुतस्तव ॥५॥

समुत्पन्नो महावीर्यो महाभागो महाबलः ।
भविष्यति महाराज ! महाराजस्तवात्मजः ॥६॥

अवैक्षतेमं देवानां गुरुः शुक्रश्च सप्तमः ।
सोमश्चतुर्थस्तनयं तवैनं समवैक्षत ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

वीर्यचन्द्र राजा की सुन्दर भौंहों वाली और शुभ व्रतों का आचरण करने वाली वीरा नाम की कन्या ने महाराज करन्धम को स्वयंवर में पति रूप से वरण किया था ॥ १ ॥ उसी के गर्भ से उस राजेन्द्र ने अवीक्षित नामक जगद्विख्यात वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न किया था ॥ २ ॥ पुत्र के उत्पन्न होने पर राजा ने दैवज्ञों को बुलाकर पूछा कि, इस कुमार का जन्म शुभ लग्न और शुभ नक्षत्र में तो हुआ है ?॥ ३ ॥ इसके जन्म लग्न पर सब शुभ ग्रहों की शुभ दृष्टि तो है ? बुरे ग्रहों की तो उस पर दृष्टि नहीं पड़ी है ? राजा के इस प्रकार पूछने पर दैवज्ञों ने उत्तर दिया कि, हे महाराज ! आपका यह कुमार प्रशस्त मुहूर्त, प्रशस्त नक्षत्र और प्रशस्त लग्न में उत्पन्न हुआ है। इससे यह महाभाग्यवान्, महावीर्यवान् और महाबलशाली महाराज होगा ॥ ४-६ ॥ यह देखिये, आपके इस पुत्र को सप्तमस्थ बृहस्पति और शुक्र, चतुर्थस्थ चन्द्रमा तथा एका-

उपान्तसंस्थितश्चैव सोमपुत्रोऽप्यरक्षत ।
नावैक्षतेमं सविता न भौमो न शनैश्चरः ॥८॥
तव पुत्रं महाराज धन्योऽयं तनयस्तव ।
सर्वकल्याणसम्पत्ति समवेतो भविष्यति ॥९॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति दैवज्ञवचनं निशम्य वसुधाधिपः ।
हर्षपूर्णमनाः प्राह निजस्थानगतस्तदा ॥१०॥
अवैक्षतेमं देवानां गुरुः सोमसुतो बुधः ।
नावैक्षतैनमादित्यो नार्कसूनुर्न भूमिजः ॥११॥
अवैक्षतेति यत् प्रोक्तं भवद्भिर्बहुशो वचः ।
अवीक्षितेति तेनास्य ख्यातं नाम भविष्यति ॥१२॥

मार्कण्डेय उवाच—

अवीक्षितः सुतस्तस्य वेदवेदाङ्गपारगः ।
अस्त्रग्राममशेषं स कण्वपुत्रादथाग्रहीत् ॥१३॥
स रूपेणातिभिषजौ देवानां पार्थिवात्मजः ।
बुद्ध्या वाचस्पतिं कान्त्या शशाङ्कं तेजसा रविम् ॥१४॥
धैर्येणाब्धिं तथोर्वीञ्च सहिष्णुत्वेन वीर्यवान् ।
शौर्येण न समस्तस्य कश्चिदासीन्महात्मनः ॥१५॥

दशस्थ बुध देख रहा है। इस पुत्र के प्रति रवि, मङ्गल और शनि की दृष्टि नहीं है। अतः हे महाराज ! आपका पुत्र धन्य और सब कल्याणकारी सम्पदाओं से युक्त होगा ॥ ७-९ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

देवज्ञों के उक्त वाक्य को श्रवण कर वसुधेश्वर प्रीतिपूर्ण अन्तःकरण से अपने सिंहासन पर बैठे-बैठे कहने लगा, इस पुत्र को वृहस्पति और बुध तो देख रहे हैं, किन्तु रवि, शनि और मङ्गल नहीं देखते हैं। आप लोगों ने बार-बार 'अवैक्षत' (वस्तुतः "नावैक्ष तैति' प्रयोग उचित है।) (न देखता है) शब्द का उपयोग किया है, इस कारण यह पुत्र 'अवीक्षित' नाम से विख्यात होगा ॥ १०-१२ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

वेद-वेदाङ्गपरागं उस राजपुत्र अवीक्षित ने महर्षि कण्व के पुत्र से निखिल अस्त्र-विद्या की शिक्षा प्राप्त की थी ॥ १३ ॥ वह रूप में देववैद्य अश्विनीकुमारों से, बुद्धि में वाचस्पति से, कान्ति में चन्द्रमा से, तेज में सूर्य से, धैर्य में समुद्र से और सहिष्णुता में पृथिवी से भी बढ़कर था और कोई भी व्यक्ति उस महात्मा के समान शौर्यशाली नहीं था ॥ १४-१५ ॥

स्वयम्वरे तं जगृहे हेमधर्मात्मजा वरा।
सुदेवतनया गौरी सुभद्रा बलिनः सुता ॥१६॥
लीलावती वीरसुता वीरभद्रसुतानिभा।
भीमात्मजा मान्यवती दम्भपुत्री कुमुद्वती ॥१७॥
याश्चैवन्नाभिनन्दन्ति स्वयम्वरकृतक्षणाः।
ताश्चापि स बलाद्वीरो जग्राह नृपतेः सुतः ॥१८॥
निराकृत्य नृपान् सर्वांस्तासां पितृकुलानि च।
स्वकं हि वीर्यमाश्रित्य बलवान् स बलोद्धतः ॥१९॥
एकदा तु विशालस्य वैदिशाधिपतेः सुताम्।
वैशालिनीं स सुदतीं स्वयम्वरकृतक्षणाम् ॥२०॥
परिभूयाखिलान् भूपान् स्वेचछया न वृतस्तया।
बलाज्जग्राह विप्रर्षे! यथान्या बलगर्वितः ॥२१॥
ततस्ते भूभृतः सर्वे बहुशस्तेन मानिना।
निराकृताः सुनिर्विण्णाः प्रोचुरन्योन्यमाकुलाः ॥२२॥
क्षमतां ललनामेतामेकस्माद्बलशालिनाम्।
बहूनामेकवर्णानां जन्म धिग्वो महीभृताम् ॥२३॥

स्वयंवर में उसे हेमधर्म की कन्या वरा, सुदेव की कन्या गौरी, बलि की पुत्री सुभद्रा, वीरभद्र की कन्या निभा, वीर की कन्या लीलावती, भीम की पुत्री मान्यवती और दम्भकन्या कुमुद्वती ने वरण किया था ॥ १६-१७ ॥

अन्य जिन राजकन्याओं ने उसे स्वयंवर में सम्मानित नहीं किया, बलवान् बलोन्मत्त वह राजपुत्र अपने पराक्रम से उनके पितृकुल के और राजवृन्दों को पराजित कर उन्हें बल-प्रयोग के द्वारा हरण कर ले आया ॥ १८-१९ ॥ हे विप्रर्षे! एक बार विदिशाधिपति विशालराज की कन्या सुन्दर दाँतों वाली वैंशालिनी के द्वारा स्वयंवर के अवसर उसकी इच्छा से वरण नहीं किया गया बल के परिपूर्ण अन्यान्य राजकन्याओं को जिस प्रकार उसने हरण कर लिया था, उसी प्रकार समस्त भूपालों को हराकर उसको भी हर लाया ॥ २०-२१ ॥ इस कारण समस्त राजवृन्द मानी अवीक्षित के द्वारा बारंबार पराजित होने के कारण दुःखित चित्त से व्याकुल होकर आपस में कहने लगे ॥ २२ ॥ एक जातीय बलशाली संघटित राजाओं के रहते हुए अकेला वीर इस ललना को उठा कर ले जाय और हम उसे देखते हुए सहते जाँय, यह हमारे लिये बड़ी ही धिःकार की बात है ॥ २३ ॥

क्षत्रियो यः क्षतत्राणं बध्यमानस्य दुर्मदैः ।
करोति तस्य तन्नाम वृथैवान्ये हि बिभ्रति ॥२४॥
आत्मनोऽपि क्षतत्राणं दुष्टादस्मादकुर्वताम् ।
भवतां क्षत्रियकुले जातानां कीदृशी मतिः ॥२५॥
उच्चार्यंते स्तुतिर्या च सूतमागधवन्दिभिः ।
सा सत्या मा वृथा वीरा भवत्वरिविनाशनात् ॥२६॥
चरतां सा वृथैवैष भूपश्चारैर्दिगन्तरैः ।
पौरुषाश्रयिणः सर्वे विशिष्टकुलसम्भवाः ॥२७॥
बिभेति को न मरणात् को युद्धेन विनाऽमरः ।
विचिन्त्यैतन्न हातव्यं पौरुषं शस्त्रवृत्तिभिः ॥२८॥
एतन्निशम्य ते भूपा विस्पष्टामर्षपूरिताः ।
ऊचुः परस्परं सर्वे समुत्तस्थुश्च सायुधाः ॥२९॥
केचिद्रथानारुरुहुः केचिन्नागांस्तथा हयान् ।
अन्येऽमर्षपराधीनास्तमुपेताः पदातयः ॥३०॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणेऽवीक्षितचरित्रवर्णनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२२॥

दुष्टों के द्वारा मारे जाते हुए व्यक्ति को जो बचाता है, उसी का नाम सच्चा क्षत्रिय है, अन्य लोगों ने तो क्षत्रिय नाम वृथा ही धारण कर रखा है ॥ २४ ॥

औरों की तो बात ही क्या है, हम लोग स्वयं इस दुष्ट से अपनी ही रक्षा करने समर्थ नहीं, इस प्रकार हमारा क्षत्रिय, कुल में जन्मग्रहण करना कहाँ तक उचित है ? ॥ २५ ॥ हे वीरवृन्द ! सूत, मागध और बन्दिजन अपनी जो स्तुति करते हैं वह वृथा न हो और शत्रु का विनाश कर उसे हम सत्य के रूप में परिणत करें ॥ २६ ॥ अपने नाम के साथ जोड़ा जाने वाला 'भूप' शब्द दिग्दिगन्त में वृथा प्रचारित न होने पावे। हम सभी विशिष्ट कुलों में उत्पन्न हुए हैं, इस कारण सभी पौरुषशाली हैं ॥ २७ ॥ कौन व्यक्ति मृत्यु का भय नहीं करता और युद्ध परित्याग करके भी कौन अमर हुआ है ? यह सब विवेचना कर, शस्त्रधारी मात्र को पौरुष का त्याग करना उचित नहीं है ॥ २८ ॥ परस्पर की इन बातों से सब भूपाल बहुत क्रुद्ध होकर सभी आपस में उत्साहपूर्ण बात-चीत करने लगे और शस्त्र तानकर उठ खड़े हुए ॥ २९ ॥ कोई रथ पर, कोई हाथी पर और कोई घोड़े पर आरूढ़ हुए तथा कोई क्रुद्ध चित्त से पैदल सवार बनकर अवीक्षित का सामना करने के लिए चल पड़े ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का अवीक्षितचरित नामक एक सौ बाईसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ।



त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

इति संग्रामसज्जास्ते भूपा भूपसुतास्तथा ।
निराकृताः सुबहुशस्तत्कालश्चाप्यवीक्षिताः ॥१॥
ततो बभूव संग्रामस्तस्य तैः सह दारुणः ।
एकस्य बहुभिर्भूपैर्भूपपुत्रवरैर्मुने ! ॥२॥
तेऽसिशक्तिगदाबाणपाणयस्तं सुदुर्मदाः ।
अभिघ्नन्तो युयुधिरे तैः समस्तैरसावपि ॥३॥
स तान् शरशतैरुग्रैर्बिभेद नृपनन्दनः ।
कृतास्त्रो बलवान् बाणैस्ते च तं बिभिदुः शितैः ॥४॥
कस्यचिच्चिच्छिदे बाहुमन्यस्य च शिरोधरम् ।
हृदि विव्याध चैवान्यमन्यं वक्षस्यताडयत् ॥५॥
करश्चिच्छेद करिणस्तुरगस्य तथा शिरः ।
तथान्येषां तथैवाश्वान् रथस्यान्यस्य सारथिम् ॥६॥
बाणानापततश्चक्रे द्विधा बाणैस्तथा द्विषाम् ।
चिच्छेदान्यस्य खड्गञ्च धनुरन्यस्य लाघवात् ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इस प्रकार अवीक्षित के द्वारा अनेक बार पराजित हुए वे राजपुत्र और राजन्यगण सुसज्जित होकर संग्राम के लिए सन्नद्ध हुए ॥ १ ॥ हे मुने ! तब अनेक भूपालों और राजपुत्रों के साथ अकेले अवीक्षित का घनघोर संग्राम प्रारम्भ हुआ ॥ २ ॥ वे सब रणमद में भरे हुए राजन्यगण तलवार, शक्ति, गदा, बाण आदि आयुधों के द्वारा अवीक्षित पर आघात करने लगे और वह भी अकेला उन सबसे युद्ध करने लगा ॥ ३ ॥ अस्त्रज्ञ बलवान् राजपुत्र अवीक्षित ने उन पर सैकड़ों तीक्ष्ण बाण छोड़े और वे भी सब उन बाणों से विद्ध हो गये। राजपुत्र अवीक्षित ने किसी के हाथ तो किसी के सिर काट डाले, किसी का हृदय छेद डाला और किसी की छाती पर आघात किया। उसने किसी की हाथी की शुण्डा और किसी के घोड़े का सिर काट डाला तथा किसी के रथ के घोड़ों और किसी के सारथी को ही मार डाला ॥ ४-६ ॥ वह शत्रुओं के बाणों को सामने आते देखकर अपने बाणों से आधे रास्ते में ही काट डालता और अपूर्व हस्तकौशल से किसी के खड्ग और किसी के धनु को ही तोड़ डालता था ॥ ७ ॥

तनुत्रेऽपहृते तेन न नाशान्यो नृपात्मजः ।
अवीक्षिताहतश्चान्यः पदातिः प्रजहौ रणम् ॥८।
इत्याकुलीकृते तस्मिन् समग्रे राजमण्डले ।
तस्थुः सप्तशता वीरा मरणे कृतनिश्चयाः ॥९।
आभिजात्य-वयः-शौर्य्यलज्जाभारसमन्विताः ।
निर्जिते सकले सैन्ये पलायनपरायणे ॥१०।
तैः समेत्य महीपालैः स तु पुत्रो महीभृतः ।
युयुधे धर्मयुद्धेन तेन तेनातिकोपितः ॥११।
विच्छिन्नयन्त्रकवचान् स तानपि महाबलः ।
कर्त्तुं व्यवस्थितस्ते च ततः क्रुद्धा महामुने ! ॥१२।
धर्ममुत्सृज्य युयुधुर्युध्यमानेन धर्मतः ।
नरेन्द्रपुत्राः प्रस्वेदजलक्लिन्नाननाः समम् ॥१३।
विव्याध कश्चिद्बाणौघैः कश्चिच्चिच्छेद कार्मुकम् ।
ध्वजमस्यापरो बाणैश्छित्त्वा भूमावपातयत् ॥१४।
जघ्नुरन्ये तथैवाश्वान् बभञ्जुश्चापरे रथम् ।
गदापातेनाऽथ वान्ये बाणैः पृष्ठमताडयन् ॥१५।
छिन्ने धनुषि सक्रोधः स तदा नृपतेः सुतः ।
जग्राहासिं तथा चर्म तदप्यन्योन्वपातयत् ॥१६।

जब अवीक्षित किसी कतिपय राजपुत्र के कवच के काटने से मर जाते और कतिपय पादचारी के द्वारा आहत होकर रण-भूमि को छोड़ दिया ॥ ८ ॥ इस प्रकार समस्त राजमण्डल को आकुलित कर देने और हारे हुए सैनिकों के भाग निकलने के बाद केवल सात सौ वीर अपनी कुलीनता, अवस्था और शूरता का विचार कर तथा लज्जा के कारण मृत्यु का निश्चय कर रणक्षेत्र में डँटे रहे ॥ ९-१० ॥ राजपुत्र अतिकुपित हो गया था और उन सभी राजाओं के साथ वह राजपुत्र अवीक्षित यथाविधि धर्मयुद्ध करने लगा ॥ ११ ॥

हे महामुने ! महाबली अवीक्षित ने जब उन लोगों के अस्त्र-कवचादि छिन्न-भिन्न कर दिये, तो पसीने से सराबोर हुए वे नरेन्द्रपुत्रगण धर्म छोड़कर उस धर्मयोद्धा के साथ युद्ध करने लगे। किसी ने अवीक्षित को बाणों से विद्ध किया और किसी ने उसके ही धनुष को तोड़ डाला। किसी ने तो उसकी ध्वजा ही तोड़कर पृथ्वी पर गिरा दी। कोई उसके घोड़ों को काटता, कोई गदा से रथको चकनाचूर करने की चेष्टा करता और कोई पीछे से ही बाणों की वर्षा करता था। उसके धनुष

छिन्नासिचर्मा जग्राह स गदां गदिनां वरः ।
तामप्यन्यः क्षुरप्रेण चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥१७॥
अन्ये शरसहस्रेण शतेनान्ये नराधिपाः ।
बिभिदुः कोष्ठकीकृत्य धर्मयुद्धपराङ्मुखाः ॥१८॥
स विह्वलः पपातोर्व्यामेको बहुभिरर्दितः ।
राजपुत्रा महाभागा बबन्धुस्ते च तं ततः ॥१९॥
तमधर्मेण ते सर्वे गृहीत्वा नृपतेः सुतम् ।
विशालेन समं राज्ञा वैदिशं विविशुः पुरम् ॥२०॥
हृष्टाः प्रमुदिता बद्धं तमादाय नृपात्मजम् ।
स्वयम्वरा च सा कन्या न्यस्ता तेन ततः पुरः ॥२१॥
पुनः पुनश्च पित्रोक्ता तथापि च पुरोधसा ।
आलम्ब्यतामिति वरो यस्ते राजसु रोचते ॥२२॥
यदा सा मानिनी कञ्चिन्न जग्राह वरं मुने ! ।
तदा पप्रच्छ दैवज्ञं विवाहार्थं नरेश्वरः ॥२३॥
विशिष्टतरमेतस्या विवाहाय दिनं वद ।
अद्यैतदीदृक् सञ्जातं युद्धं विघ्नोपपादकम् ॥२४॥

के टूट जाने पर उसने असिचर्म ग्रहण किया, किन्तु वह भी किसी वीर ने तोड़ डाला। फिर गदायुद्ध करनेवालों में श्रेष्ठ अवीक्षित ने युद्ध के लिये गदा तान ली। उसे भी किसी वीर ने क्षुरप्र नामक आयुध से छिन्न कर दिया। अनन्तर धर्मयुद्धपराङ्मुख नरपतियों ने उसे चारों ओर से घेर लिया और कोई सहस्र तथा कोई शत बाणों से बिद्ध करने लगे। अकेले राजकुमार इस प्रकार चारों ओर से अनेक वीरों द्वारा घोर आक्रमण होने के कारण विह्वल होकर भूमिपर गिर पड़ा। तब अनेक महाभाग राजकुमारों ने उसे बाँध लिया और अधर्मयुद्ध में बाँधकर लाये हुए उस राजपुत्रको साथ में लेकर विशालराज-सहित वैदिशपुर में प्रवेश किया। राजपुत्र अविक्षितको बाँध लाने पर सब राजा और राजकुमार हृष्ट और आह्लादित हुए। हे मुने! फिर कन्या के पिता और पुरोहित ने कन्या से बार-बार कहा कि, इन राजाओंमें से जिसे तुम चाहो, उसे वरण कर लो। परन्तु कन्या ने जब किसी को वरण नहीं किया तब राजा ने दैवज्ञों को बुलाकर विवाह-सम्बन्ध में पूछा। आज तो विवाह में विघ्नोत्पादक इस प्रकारका युद्ध छिड़ गया, इसलिये इसके विवाह के लिये कोई दूसरा अच्छा दिन ढूंढ़ निकालो ॥ १२-२४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति पृष्टो नरेन्द्रेण स दैवज्ञो विमृष्य तत् ।
दुर्मनाः प्राह विज्ञातपरमार्थो महीपतिम् ॥२५।
भविष्यन्त्यपरानीह दिनानि पृथिवीपते ! ।
प्रशस्तलग्नयुक्तानि शोभनान्यचिरेण च ॥२६।
करिष्यति विवाहार्थं तेषु प्राप्तेषु मानद ! ।
अलमेतेन यत्रार्य ! महाविघ्न उपस्थितः ॥२७।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणेऽवीक्षितचरितवर्णनं नाम त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२३।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

नरेन्द्र के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर दैवज्ञों ने विचार किया और सब भावी ज्ञात कर दुःखित चित्त से महीपाल से कहा। हे पृथ्वीनाथ ! इस विवाह के लिये प्रशस्त लग्नयुक्त दूसरा कोई अच्छा दिन हम शीघ्र ही चुन देंगे। वह दिन जब उपस्थित होगा, तभी आप विवाहकार्य करें, अन्यथा विवाह करना उचित नहीं है क्योंकि आज इस प्रकार का महाविघ्न उपस्थित हुआ है ॥ २५-२७ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कंण्डेयपुराण का अविक्षित-चरितसम्बन्धी एक सौ तेईसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

तत: शुश्राव तं बद्धं तनयं स करन्धमः।
तस्य पत्नी तथा वीरा अन्ये चापि महीभृतः ॥१।
तमधर्मेण तनयं बद्धं श्रुत्वा महीपतिः।
समन्तैः पृथिवीपालैश्चिरं दध्यौ महामुने ! ॥२।
केचिदूचुर्महीपाला वध्याः सर्वे महीभृतः।
यैरेकः संयुगे बद्धः समस्तैस्तैरधर्मतः ॥३।
युज्यतां वाहिनी शीघ्रमूचुरन्यैः किमास्यते।
विशालो वध्यतां दुष्टस्तत्र येऽन्ये समागताः ॥४।
अन्ये तथोचुर्धर्मोऽत्र त्यक्तः पूर्वं महीक्षितैः।
अन्यायेन बलाद्येन गृहीता तमवाञ्छती ॥५।
स्वयंवरेष्वशेषेषु तेन राजसुतास्तदा।
खलीकृतास्ततः सर्वे समेत्य स वशीकृतः ॥६।
तेषामेतद्वचः श्रुत्वा वीरा वीरप्रजावती।
वीरगोत्रसमुद्भूता वीरपत्नी प्रहर्षिता ॥७।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इसके बाद महाराज करन्धम, महारानी वीरा और अन्यान्य राजाओं ने राजपुत्र अवीक्षित को शत्रुओं ने बन्दी कर लिया है यह समाचार सुना। हे महामुने ! राजा ने अधर्मयुद्ध में पुत्र के बन्दी बनाने का समाचार सुनकर सभी सामन्तों को बुलाकर उनके साथ बहुत देर तक विचार किया ॥ १-२ ॥

किसी ने कहा, जिन बहुत से राजाओं ने एक साथ मिलकर अकेले राजपुत्र के साथ अधर्मयुद्ध किया और उसे बाँध डाला, वे सभी वध्य हैं। किसी ने कहा—अब निश्चिन्त होकर क्यों बैठे हैं ? शीघ्र ही सेना को सुसज्जित कर विशालराज तथा वहाँ आये हुए अन्यान्य राजाओं को बाँध लाना चाहिये। किसी ने कहा—पहिले ही अपने राजपुत्र ने उन्हें न चाहने वाली कन्या को अन्याय तथा बलपूर्वक हरण कर अधर्म किया है। इसी तरह सभी स्वयंवरों में अनेक राजपूतों को उन्होंने शत्रु बना लिया है, इसी से अब उन शत्रुओं ने मिलकर उन्हें बन्दो किया है। वीर-कन्या, वीर-पत्नी और वीर-

उवाच भर्त्तुः प्रत्यक्षमन्येषाञ्च महीक्षिताम् ।
भद्रं कृतं भद्रभुजा मम पुत्रेण पार्थिवाः ॥८॥
गृहीता यद्बलात् कन्या जित्वा सर्वमहीक्षितः ।
तदर्थं युध्यमानोऽयं युद्ध एको न धर्मतः ॥९॥
तदप्यस्मत् सुतस्याजौ मन्ये नापचय प्रदम् ।
एतदेव हि पौरुष्यं यदधर्मवशान्नरः ॥१०॥
नीतिं न गणयत्येवं जिघांसुरिव केशरी ।
स्वयम्वराय विन्यस्ता मम पुत्रेण कन्यका ॥११॥
बह्वचो गृहीता भूपानां पश्यतामतिमानिनाम् ।
क्व क्षत्रियकुले जन्म क्व याञ्चा हीनसेविता ॥१२॥
बलादेव समादत्ते क्षत्रियो बलिनां पुरः ।
लोहश्शृङ्खलबद्धा वा न वशं यान्ति कातराः ॥१३॥
प्रसह्य कारिणी यान्ति राजानो धर्मशालिनः ।
तदलं दौर्मनस्येन श्लाघ्यमेवास्य बन्धनम् ॥१४॥
युष्माकमप्यायुधानामङ्गमूर्द्धसु पातनम् ।
हत्वैव पृथिवीशानां पृथ्वी पुत्रादिकं वसु ॥१५॥

माता वीरा उन लोगों की बातें सुनकर प्रसन्न चित्त से पति और उपस्थित राजाओं के सम्मुख प्रत्यक्ष रूप से कहा। हे पार्थिवगण ! सब राजाओं को हराकर मेरे कल्याणास्पद पुत्र ने बलपूर्वक कन्या को हरण किया, यह उत्तम ही किया। इस कारण अकेले मेरे पुत्र के साथ अनेक राजाओं ने अधर्म युद्ध किया,—मेरी समझ में मेरे पुत्र के लिए यह भी अनुचित नहीं हुआ है। मनुष्यों की अधर्ममूलक इस प्रकार की नीति को, वीरकेशरी की मारने की इच्छा वाले की तरह महत्व नहीं देना चाहिए। अनेक अतिमानी राजाओं के देखते हुए बल-प्रयोग के द्वारा मेरे पुत्र ने स्वयंवर में अनेक कन्याओं को हरण कर लिया है। कहां तो क्षत्रिय-कुल में जन्म और कहाँ हीन जनोचित-भीरुता ? बलवान् क्षत्रियों के सामने बल प्रकाश करके ही शूर लोग कन्याहरण किया करते हैं। धार्मिक राजन्यगण लोहश्शृङ्खला में आबद्ध होने पर भी कातरभाव से किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करते। पहिले वे वीरता दिखाने से मुँह नहीं मोड़ते और संयोगवश बन्धन में पड़ जायँ, तो बुरा भी नहीं मानते। इस विषय से खिन्न नहीं होना चाहिये। मेरी समझ में तो मेरे पुत्र का यह बन्धन प्रतिष्ठा का विषय है। आप लोगों के शिर और अङ्गों पर अस्त्रों का पात न हुआ है। राजन्यगण पृथिवी, पुत्र, धन, भार्या आदि मारकर ही सज्जनों से ही प्राप्त कर अपना गौरव बढ़ाया करते हैं ॥ ३-१५ ॥

भार्य्या वीर्य्यनिमित्तानि ततो यातानि गौरवम् ॥१५॥
तत् त्वर्य्यतां रणायाऽऽशु स्यन्दनान्यधिरोहत।
सज्जीकुरुत नागाश्वमचिरेण सुसारथिम् ॥१६॥
मन्यध्वं किं महीपालैर्बहुभिः सह विग्रहम्।
प्रभूता एव तोषाय शूरस्याल्परणे क्रियाः ॥१७॥
कस्य नाल्पेषु सामर्थ्यं नरेन्द्रादिषु जायते।
येभ्यो न विद्यते भीतिर्हन्तुं पुत्राहितान्मुने! ॥१८॥
व्याप्तलोकान् समस्तान् यो ह्यभिभूय यतो नरः।
व्यरोचतेति शूरः स तमांसीव दिवाकरः ॥१९॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्थमुद्धर्षितो राजाऽनया पत्न्या करन्धमः।
चकार सबलोद्योगं हन्तुं पुत्राहितान्मुने! ॥२०॥
ततस्तस्य समं भूपैर्विशालेन च सङ्गरः।
बभूव बद्धपुत्रस्य तैरशेषैर्महामुने! ॥२१॥
दिनत्रयमभूद्युद्धं तेन राज्ञः समं तदा।
करन्धमेन भूपानां विशालस्यानुकुर्वताम् ॥२२॥

अब आप लोग युद्ध के लिये शीघ्रता कीजिये। अपने रथ, हाथी, घोड़े आदि सारथियों के सहित सजा लीजिये। बहुत से महीपालों के साथ अकेले युद्ध करना आप कैसा समझते हैं? शूर लोग थोड़ा ही युद्ध कर अपनी प्रभुता से सन्तुष्ट करते हैं। थोड़े से शत्रु-राजाओं और ऐसे कातर शत्रुओं, जिनसे भय की सम्भावना नहीं है, उनके सम्मुख अपने बल का प्रदर्शन कौन नहीं करता है? सूर्य जिस प्रकार दिगन्त में परिव्याप्त तमोराशि का नाश करता है, उसी प्रकार शूर लोग बल-वीर्य आदि के द्वारा समस्त भुवनों में व्याप्त शत्रुओं को पराभूत करके शोभा पाते हैं और ऐसे ही लोग सच्चे शूर कहाते हैं॥ १५½-१९ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे मुने! इस प्रकार पत्नी के द्वारा उत्तेजित किया जाने पर राजा करन्धम ने पुत्र के शत्रुओं के विनाश के अभिप्राय से सेना तैयार की॥ २०॥ हे महामुने! उधर राजकुमार बन्धन में ही पड़ा था और इधर करन्धम का विशालराज के साथ तथा अन्य राजवृन्द से घनघोर युद्ध छिड़ गया॥ २१॥ विशालराज के साथियों के साथ करन्धम का लगातार तीन दिन तक युद्ध होता रहा॥ २२॥

यदा पराजयप्रायं तं सर्वं भूपमण्डलम् ।
तदा विशालोऽर्घ्यकरः करन्धममुपास्थितः ॥२३॥
करन्धमोऽपि सम्प्रीत्या तेन राज्ञाभिपूजितः ।
वियुक्ते तनये तत्र निशां तां सुखमावसत् ॥२४॥
ताञ्च कन्यामुपादाय विशाले समुपस्थिते ।
अवीक्षित् प्राह विप्रर्षे ! विवाहार्थं पितुः पुरः ॥२५॥
नाहमेतां ग्रहीष्यामि न चान्यां योषितं नृप ! ।
परैर्यस्या निरीक्षन्त्या सङ्ग्रामेऽहं पराजितः ॥२६॥
अन्यस्मै सम्प्रयच्छेमामियञ्चान्यं वृणोतु तम् ।
अखण्डितयशो वीर्य्यो यः परैर्नापमानितः ॥२७॥
परैः पराजितोऽहं यत् कातरेयं यथाऽबला ।
किमत्र मानुषत्वं मे न तस्या मम चान्तरम् ॥२८॥
स्वतन्त्रता मनुष्याणां परतन्त्रा सदाऽबला ।
नरोऽपि परतन्त्रो यस्तस्य कीदृङ्मनुष्यता ॥२९॥
सोऽहमस्या मुखं भूयो दृष्टं दर्शयिता कथम् ।
योऽहमस्याः पुरो भूमौ परैर्भूपैः खिलीकृतः ॥३०॥

जब देखा कि, विशालराज की ओर के सब राजा प्रायः हार गये, तब स्वयं विशालराज करन्धम राजा को प्रसन्न करने के लिए हाथ में अर्घ्य लेकर उसके सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ २३ ॥ करन्धम विशालराज के द्वारा पूजित होकर और पुत्र को बन्धनमुक्त कर प्रसन्न हुआ और उसने उस रात को वहीं सुखपूर्वक बितायी ॥ २४ ॥ हे विप्रर्षे! फिर विशालराज अवीक्षितको दान करने के लिये अपनी कन्या को वहां ले आया; परन्तु अवीक्षित ने उसको स्वीकार न कर पिता के सम्मुख ही कहा कि, हे नृप! जिस कन्या के समक्ष मैं शत्रुओं के द्वारा पराजित हुआ, उसको कदापि ग्रहण नहीं कर सकता और ऐसे अवसर पर अन्य किसी कामिनी को भी स्वीकार नहीं करूँगा ॥ २५-२६ ॥ अतः जो शत्रुओं से कभी पराजित न हुआ हो और अखण्डित यशोवीर्यशाली हो, ऐसे किसी व्यक्ति को आप कन्यादान करें और यह कन्या भी ऐसे ही किसी व्यक्ति को पतिरूप से वरण करे ॥ २७ ॥ मैं कातरा अबला की तरह शत्रुओं से हराया गया हूँ, तब मेरा मनुष्यत्व ही कहाँ रहा ? इस कन्या में और मुझ में भेद ही क्या है ॥ २८ ॥ पुरुष चिरकाल से स्वतन्त्र रहते आये हैं और ललनाएँ सदा पराधीन हुआ करती हैं। पुरुष होकर जो पराधीन होते हैं, उनकी मनुष्यता कहाँ रह जाती है ॥२९॥ जिस स्त्री के सामने राजाओं के द्वारा मैं हारा, उसको अब मैं यह मुख कैसे दिखाऊँ ? और कैसे देखूंगा ॥ ३० ॥

इत्युक्ते तेन तनयामुवाच जगतीपतिः ।
श्रुतं ते वचनं वत्स ! वदतोऽस्य महात्मनः ॥३१॥
वरयान्यं पतिं तत्र मनस्ते रमते शुभे ।
वयं वासं प्रयच्छामो यस्मिंस्तस्मिंस्तवादृताः ।
एतयोर्ह्येकमातिष्ठ मार्गयो रुचिरानने ! ॥३२॥

कन्योवाच—

पराजितोऽय बहुभिर्न सम्यक् सम्यगाचरन् ।
सङ्ग्रामे तद्यशो वीर्य्यहानिकारिणि[1] पार्थिव ! ॥३३॥
एको बहूनां युद्धाय गतानामिव केशरी ।
यत्संस्थितः परं शौर्य्यं तेनास्य प्रकटीकृतम् ॥३४॥
न केवलमयं तस्थौ युद्धे तेऽप्यखिला जिताः ।
बहुशोऽनेन यत्तेन विक्रमोऽपि प्रकाशितः ॥३५॥
शौर्य्यविक्रमसंयुक्तमिमं सर्वमहीक्षितः ।
धर्मयुद्धमधर्मेण जितवन्तोऽत्र का त्रपा ॥३६॥
न चापि रूपमात्रेऽहं लोभमस्य गता पितः ! ॥
शौर्य्यविक्रमधैर्य्याणि हरन्त्यस्य मनो मम ॥३७॥

राजपुत्र की ये बातें सुनकर पृथिवीपति विशालराज ने कन्या से कहा,—वत्से ! इस महात्मा ने जो कुछ कहा, वह तूने सुन ही लिया है। अतः हे कल्याणि ! यदि तेरी इच्छा हो, तो स्वयं अन्य किसी को पतिरूप से वरण कर लो अथवा तुझपर मेरा असीम प्रेम होने से मैं जिसे मनोनीत करूँ, उसी को दान कर दूँ। हे रुचिरानने ! दोनों में से जो पसन्द हो, वही करो ॥ ३१-३२ ॥

कन्या ने कहा—

हे पार्थिव! युद्ध में धर्मविमुख नहीं हुए और बहुसंख्यकों के साथ यह (राजकुमार) धर्म मार्ग पर हर कर अनेक व्यक्तियों के साथ संग्राम करते हुए यश और वीर्य की हानि करने वाले युद्ध में पराजित नहीं हुआ है ॥ ३३ ॥

युद्धार्थ आये हुए अनेक राजाओं के साथ सिंह की तरह इन्होंने अकेले युद्ध किया और विशेष शौर्य प्रकट किया था ॥ ३४ ॥ ये केवल युद्ध में डँटे ही नहीं रहे, किन्तु इन्होंने सभी राजाओं को पराजित कर अपूर्व विक्रम दिखाया था ॥ ३५ ॥ शौर्यविक्रमशाली, धर्मयुद्धपरायण इन अकेले राजकुमार को बहुसंख्यक नृपतियों ने मिलकर अधर्माचरण के द्वारा पराजित किया, इस में लज्जा की बात क्या हो सकती है ? ॥ ३६ ॥ हे पिताजी ! मैं केवल इनका रूप देखकर ही मोहित नहीं हुई हूँ, किन्तु इनके शौर्य, विक्रम और धैर्य ने भी मेरे मनपर अधिकार कर लिया है ॥ ३७ ॥

१. कारि न पुस्तकान्तर पाठ है।

तत्किमुक्तेन बहुना याच्यतां मत्कृते नृपः ।
त्वया महानुभावोऽयं नान्यो मे भविता पतिः ।।३८।

विशाल उवाच—

राजपुत्र ! सुता प्राह ममैतच्छोभनं वचः ।
एवञ्चैव त्वया तुल्यः कुमारो न महीतले ।।३९।
अविसम्वादि ते शौर्य्यमतीव च पराक्रमः ।
पावयाऽस्मत् कुलं वीर ! दुहितुर्मे परिग्रहात् ।।४०।

राजपुत्र उवाच—

नाहमेतां ग्रहीष्यामि न चान्यां योषितं नृप ! ।
आत्मन्येव हि मे बुद्धिः स्त्रीमयी मनुजेश्वर ! ।।४१।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः करन्धमः प्राह पुत्रेयं गृह्यतां त्वया ।
विशालतनया सुभ्रूस्त्वयि हार्दवती दृढम् ।।४२।

राजपुत्र उवाच—

नाज्ञाभङ्गः कदाचित्ते कृतपूर्व्वो मया प्रभो ! ।
तथाऽऽज्ञापय मां तात ! यथाज्ञां करवाणि ते ।।४३।

मैं अधिक क्या कहूँ ? हे नृप ! आप मेरे लिये इन्हीं महानुभाव से अनुरोध करिये । इनके सिवा मेरा कोई अन्य पति नहीं हो सकता है ॥ ३८ ॥

विशालराज ने कहा—

हे राजपुत्र ! मेरी कन्या ने जो कुछ कहा अच्छी बात है, वह तुम्हारे समान और कोई राजकुमार पृथ्वी में दीखाई नहीं पड़ता । तुम्हारा शौर्य अप्रतिहत है और पराक्रम परिपूर्ण है; अतः तुम ही इस कन्या का परिग्रह कर मेरे कुलको पवित्र करो ॥३९-४० ॥

राजपुत्र ने कहा—

हे नृप ! मैं इसको या दूसरी किसी कामिनीको ग्रहण नहीं करूँगा । हे मनुजेश्वर ! मैं तो अपने आपको ही अबला समझ रहा हूँ ॥ ४१ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

तब करन्धम राजपुत्र को समझाने लगा कि, हे राजपुत्र ! तुम इस राजकन्या को ग्रहण कर लो; क्योंकि यह सुन्दर भौंहों और विशाल नेत्रोंवाली कन्या तुम्हारे प्रति प्रगाढ़ अनुरागिणी हो रही है ॥ ४२ ॥

राजपुत्र ने कहा—

हे प्रभो ! मैंने आज तक कभी भी आपकी आज्ञाका भङ्ग नहीं किया है । हे तात ! इस समय भी आप मुझे ऐसी ही आज्ञा दें, जिसका प्रतिपालन करने में मैं समर्थ हो सकूँ ॥ ४३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

अत्यन्तनिश्चितमतौ तस्मिन् राजसुते सुताम् ।
तामुवाच विशालोऽपि व्याकुलीकृतमानसः ॥४४॥
निवर्त्यतां मनः पुत्रि ! एतस्माच्च प्रयोजनात् ।
अन्यं वरय भर्त्तारं सन्त्यनेके नृपात्मजाः ॥४५॥

कन्योवाच—

वरं वृणोम्यहं तात ! मामेष यदि नेच्छति ।
तपसोऽन्यो न मे भर्त्ता जन्मन्यस्मिन् भविष्यति ॥४६॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः करन्धमो राजा विशालेन समं मुदा ।
स्थित्वा दिनत्रयं तत्र निजमभ्याययौ पुरम् ॥४७॥
अवीक्षितोऽपि तेनैव पित्राऽन्यैश्च नराधिपैः ।
निदर्शनैः पुरावृत्तैः सान्त्वितोऽभ्यागमत् पुरम् ॥४८॥
सापि कन्या वनं गत्वा निसृष्टा निजबान्धवैः ।
तपस्तेपे निराहारा वैराग्यं परमास्थिता ॥४९॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

जब विशालराज ने देखा कि, राजपुत्र का निश्चय दृढ़ है, तब व्याकुल-चित्त से कन्या से कहा ॥ ४४ ॥ हे पुत्रि ! अब तू इस राजकुमार से इस अभिप्राय से अपने चित्तको हटा लो। अनेक राजपुत्र विद्यमान हैं, उनमें से किसी को वरण कर ले ॥ ४५ ॥

कन्या ने कहा—

हे तात ! यदि ये राजकुमार मुझ से विवाह नहीं करना चाहते, तो मैं यही वर चाहती हूँ कि, तप के सिवा इस जन्म में मेरा कोई दूसरा पति न हो ॥ ४६ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

फिर करन्धम तीन दिन तक विशालराज के यहां प्रसन्न चित्त से रहकर अपनी नगरी में लौट आया ॥ ४७ ॥ पिता तथा अन्यान्य नरेशों के अनेक प्राचीन दृष्टान्तों के द्वारा सान्त्वना प्रदान करने पर अवीक्षित भी राजधानी में चला आया ॥ ४८ ॥ विशालराज की कन्या भी आत्मीयों से बिदा होकर वन में चली गयी और परम वैराग्य के साथ निराहार रहकर तपस्या करने लगी ॥ ४९ ॥

निराहारा यदा सा तु मासत्रयमवस्थिता ।
सम्प्राप परमामार्त्ति कृशा धमनिसन्तता ।।५०।
मन्दोत्साहातितन्वङ्गी मुमूर्षुरपि बालिका ।
देहत्यागाय सा चक्रे तदा बुद्धिं नृपात्मजा ।।५१।
आत्मत्यागाय तां ज्ञात्वा कृतबुद्धिं सुरास्ततः ।
समेत्य प्रेषयामासुर्देवदूतं तदन्तिकम् ।।५२।
समुपेत्य स तां प्राह दूतोऽहं पार्थिवात्मजे ! ।
प्रेषितस्त्रिदशैस्तुभ्यं यत्कार्य्यं तन्निशामय ! ।।५३।
न भवत्या परित्याज्यं शरीरमतिदुर्लभम् ।
त्वं भविष्यसि कल्याणि ! जननी चक्रवर्त्तिनः ।।५४।
पुत्रेण च महाभागे ! भोक्तव्या निहतारिणा ।
अव्याहताज्ञेन चिरं सप्तद्वीपवती मही ।।५५।
हन्तव्यस्तेन तरुजिद्देवानां पुरतो रिपुः ।
अयःशङ्कुस्तथा क्रूरो धर्मे स्थाप्यास्ततः प्रजाः ।।५६।
परिपालनीयमखिलं चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मतः ।
हन्तव्या दस्यवो म्लेच्छा ये चान्ये दुष्टचेष्टिताः ।।५७।
यष्टव्यं विविधैर्यज्ञैः समाप्तवरदक्षिणैः ।
वाजिमेधादिभिर्भद्रे ! षट्सहस्रैश्च संख्यया ।।५८।

तीन मास तक इस प्रकार निराहार रहने के कारण धमनी मात्र वह सूखकर काँटा हो गयो बहुत दुःखी हुई ।। ५० ।। मुमूर्षु अवस्था को प्राप्त हुई वह अतिशय कृशाङ्गी राजबालिका अन्त में हतोत्साह होकर प्राण-विसर्जन करने का दृढ़ निश्चय करने लगी ।। ५१ ।। इधर उसे प्राणत्याग के लिए सचेष्ट देखकर सब देवता एकत्र हुए और उन्होंने अपने देवदूत को उसके पास भेजा ।। ५२ ।। वहाँ दूत ने उपस्थित होकर उससे कहा—हे नृपात्मजे ! मैं देवताओं का भेजा हुआ उनका दूत हूँ। जिस काम के लिए देवताओं ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, वह सुनो ।। ५३ ।।

इस दुर्लभ शरीर का तुम त्याग न करो; क्योंकि हे कल्याणि ! तुम चक्रवर्ती राजा की जननी होने वाली हो ।।५४।। हे महाभागे ! तुम्हारा पुत्र समस्त शत्रुओं का विनाश कर अपने अव्याहत आज्ञाबाल से दीर्घकाल तक इस सप्त-द्वीपा वसुन्धरा का उपभोग करेगा ।। ५५ ।। देवशत्रु तरुजित् और क्रूर अयःशंकु देवताओं के सामने ही उसके द्वारा मारे जायँगे ।। ५६ ।। वह प्रजाओं को धर्माचरण में प्रवृत्त करेगा और समग्र वर्ण-धर्म का उत्तम रीति से प्रतिपालन करायेगा ।।५७।। म्लेच्छ, दस्यु आदि दुराचारी उसके द्वारा विनाशित होंगे और हे भद्रे ! वह विपुल दक्षिणाओं के साथ अश्वमेधादि अनेक प्रकार के छः सहस्र यज्ञ करेगा ।। ५८ ।।

मार्कण्डेय उवाच—

तं दृष्ट्वा साऽन्तरीक्षस्थ दिव्यस्रगनुलेपनम् ।
देवदूतमुवाचेदं राजपुत्री ततो मृदुः ॥५९।

सत्यं त्वमागतः स्वर्गाद्देवदूतो न संशयः ।
किन्तु भर्त्रा विना पुत्रः स कथं मे भविष्यति ॥६०।

अवीक्षितमृते भर्त्ता मम नान्योऽत्र जन्मनि ।
भवितेति प्रतिज्ञातं मयैतत्सन्निधौ पितुः ॥६१।

स च नेच्छति मां प्रोक्तो मत्पित्रा जनकेन च ।
करन्धमेनाथ सम्यक् याचितश्च मया तथा ॥६२।

देवदूत उवाच—

किमनेन महाभागे बहुनोक्तेन ते सुतः ।
समुत्पत्स्यति मा त्याक्षीस्त्वमात्मानमधर्मतः ॥६३।

अत्रैव कानने तिष्ठ तनुं क्षीणाञ्च पोषय ।
तपः प्रभावादेतत्ते सर्वं साधु भविष्यति ॥६४।

मार्कंण्डेय मुनि ने कहा—

दिव्य माल्य और अनुलेपन धारण किये हुए अन्तरीक्षस्थ उस देवदूत को देख कर राजकन्या ने मृदु स्वर से कहा—आप अवश्य ही देवदूत हैं और स्वर्ग से पधारे हैं, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु विना पति के मुझे पुत्र कैसे उत्पन्न होगा ? अवीक्षित के अतिरिक्त इस जन्म में मेरा कोई दूसरा पति हो नहीं सकता। मैंने पिता के सामने यह प्रतिज्ञा की है। परन्तु अवीक्षित मेरे, मेरे पिता के और उनके पिता के अनुरोध से भी मुझे स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हो रहे हैं ॥ ५९-६२ ॥

देवदूत ने कहा—

हे महाभागे ! अधिक कुछ कहने का प्रयोजन नहीं है। तुम्हें अवश्य ही पुत्र उत्पन्न होगा; अतः आत्महत्यारूपी अधर्माचरण मत करो ॥६३॥ इसी वन में रहकर इस क्षीण शरीर को पुष्ट करो। तपस्या के प्रभाव से तुम्हारा सभी प्रकार से मङ्गल होगा ॥ ६४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा देवदूतोऽसौ यथागतमगच्छत ।
चकारानुदिनं सुभ्रूः साप्यात्मतनुपोषणम् ॥६५॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणेऽवीक्षितचरित्रवर्णनं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१२४

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इस प्रकार आश्वासन देकर देवदूत यथास्थान चला गया और सुभ्रू राजकन्या प्रतिदिन शरीर का पोषण करने लगी ॥ ६५ ॥

पर्यालोचन

मन की निर्मलता का साधन तप है, वैध क्लेशमय कर्म विशेष के द्वारा मुनि-वृत्ति होकर सभी प्रकार के द्वन्द्व को सहन कर शरीर, इन्द्रिय और मन का संयम करना है। इसके द्वारा शरीर, मन और इन्द्रियों का शोधन होता है।

शारीरिक, वाचिक और मानसिक भेद से तप तीन प्रकार के हैं। देव द्विज, प्राज्ञों की पूजा, शौच ऋजुता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये शारीरिक तप हैं।

हित और प्रिय, सत्य, अनुद्वेग कर वाक्य और स्वाध्यायाभ्यास ये वाचिक तप हैं।

मनः प्रसाद, सौम्यत्व, मौन, आत्म निग्रह और भावशुद्धि ये मानसिक तप हैं। ये तप सात्त्विक, राजस और तामस के भेद से तीन प्रकार के हैं। फल की आकांक्षा से रहित होकर परम श्रद्धा के साथ तीन प्रकार की तपस्या का अनुष्ठान करना सात्त्विक तप है।

मानव समाज में सत्कार, सम्मान और पूजा आदि के लाभ के लिए दम्भ भाव से तीन प्रकार की तपस्याओं का अनुष्ठान करना इस परलोक सम्बन्धी तपस्या को राजस तप कहा जाता है। अतिशय दुराग्रह के साथ दूसरे की हानि के लिए स्वयं अनेक प्रकार की पीड़ाओं का उत्पादन करना तामस तप है। (गीता अ० १३)

पातञ्जलदर्शन में इसी को क्रिया योग कहा गया है

"तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।२।१

तपस्या के द्वारा चित्त शुद्ध होने पर मन की एकाग्रता होती है। तपस्या के द्वारा मानव सभी अभीष्ट फलों की प्राप्ति करता है, पाप क्षीण होता है, स्वर्ग और यश की प्राप्ति होती है। इस लोक में सभी अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति तपस्या के द्वारा होती है। तपः-सिद्ध के लिए कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं है। मनु के अनुसार ज्ञान भी ब्राह्मण के लिए एक मात्र तप है। क्षत्रियों के लिए रक्षण ही एक मात्र तप है। सभी वर्णों की रक्षा के लिए अनुष्ठान ही कर्तव्य है।

ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ॥ मनुस्मृ० ११।५६

तपस्या की प्रधानता सत्य युग में, त्रेता में ज्ञान की, द्वापर में यज्ञ की तथा कलि में दान की प्रधानता कही गई है।

संसार आश्रम का परित्याग कर अरण्यवास कर अनन्य मन और अनन्य कर्म होकर आराधना ही तपस्या है।

तपस्या की भूमिका में प्राणियों के प्रति दया और अनुराग अपेक्षित है। अतः, हिंसा से विरति, सत्य वाक्य प्रयोग, भूतानुकम्पा, क्षमा और सावधानता का अवलम्बन रहता है। सावधान होकर प्राणिमात्र के प्रति समानदृष्टि रहती है। दूसरे का अनिष्ट-चिन्तन, असम्भव स्पृहा तथा भविष्य या अतीत की चिन्ता की दृष्टि से अनुष्ठान से विरत रहते हैं। अविचलित चित्त से हिंसा, अपवाद, शठता, परुषता एवं क्रूरता से रहित जीवन रहता है। परिमित वाक्य का ही प्रयोग करते हैं।

इस अध्याय में यज्ञ के द्वारा अभीष्ट लाभ की आकांक्षा उद्दीप्त होती है, किन्तु यज्ञ में हिंसा आदि की अपेक्षा होती है, अतः वह तपस्या के द्वारा अभीष्ट प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है।

यज्ञ में अनुष्ठान की दृष्टि से हिंसा भी विहित होती है, किन्तु, तप एवं व्रत ने त्याग मय जीवन में अपूर्व परिवर्तन को जन्म दिया तथा वह त्याग के द्वारा ही अभीष्ट की प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है। मुनिवृत्ति से जीवन यापन करने वालों का स्थान ही तपोवन है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयापुराणका अवीक्षितचरित नामक एक सौ चौबीसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

अथ साऽवीक्षितो माता वीरा वीर प्रजावती ।
पुण्येऽहनि समाहूय प्राह पुत्रमवीक्षितम् ॥१॥
पुत्राहमभ्यनुज्ञाता तव पित्रा महात्मना ।
उपवासं करिष्यामि दुष्करोऽयं किमिच्छकः ॥२॥
स चायत्तस्तव पितुस्त्वया साध्यो मयापि च ।
प्रतिज्ञातें त्वया पुत्र ! ततस्तत्र यताम्यहम् ॥३॥
द्रव्यस्याद्धं महाकोषात् तव दास्याम्यहं पितुः ।
धनन्ते पितुरायत्तमनुज्ञाताऽस्मि तेन च ॥४॥
क्लेशसाध्योमदायत्तः स हि श्रेयो भविष्यति ।
साध्यो भवेद्वा यदि ते कश्चिद्बलपराक्रमे ॥५॥
स तेऽसाध्यो ह्यन्यथा वा दुःखसाध्यो भविष्यति ।
तत्त्वं प्रतिज्ञां कुरुषे यदि पुत्राऽत्र चैव ते ॥
तदेतदहमवाप्स्ये कथ्यतां यन्मतं तव ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

एक बार किसी पुण्य दिन के उपस्थित होने पर अवीक्षित की वीरप्रसू माता वीरा ने अवीक्षित को बुला कर कहा ॥ १ ॥ मैं 'किमिच्छक' नामक उपवास युक्त एक दुष्कर व्रत करना चाहती हूँ। तुम्हारे महात्मा पिता ने इसके लिए मुझे अनुज्ञा दे दी है ॥ २ ॥ परन्तु हे पुत्र ! यह व्रत तुम, तुम्हारे पिता और मेरे मिलकर करने से ही सम्पन्न हो सकता है। अतः यदि तुम इसमें योगदान करने को प्रस्तुत हो जाओ, तो मैं व्रताचरण का प्रयत्न करूँगी ॥ ३ ॥ तुम्हारे पिता के राजकोष से लगभग आधा धन इस व्रत में व्यय हो जायगा। यह बात उनके हाथ की है; इसलिए उनकी अनुज्ञा मैंने ले ली है ॥ ४ ॥ कष्टसाध्य जो इस व्रत की बातें हैं, वे मेरे द्वारा उत्तम रीति से सम्पन्न हो जायँगी। बल और पराक्रम से साध्य होने वाली बातें; जो तुम्हारे हाथ हैं। वे सुसाध्य, दुःसाध्य और असाध्य भी हो सकती हैं। हे पुत्र ! ऐसी बातों में से जो तुम्हारे लिए साध्य प्रतीत हों, उनको करना तुम अङ्गीकार करो, तो मैं इस व्रत को करने का उद्योग करूँ। इस विषय में तुम अपना अभिप्राय प्रकट करो ॥ ५-६ ॥

अवीक्षित उवाच—

वित्तं मे पितुरायत्तं मत्स्वामित्वं न तत्र वै ।
यन्मच्छरीरनिष्पाद्यं तत्करिष्ये त्वयोदितम् ॥७॥
किमिच्छकं व्रतं मातर्निश्चिन्ता भव निर्व्यथा ।
राज्ञा पित्राऽभ्यनुज्ञातं यदि वित्तेश्वरेण मे ॥८॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः सा राजमहिषी तद्व्रतं समुपोषिता ।
यथोक्तां साऽकरोत् पूजां राजराजस्य संयता ॥९॥
निधीनामप्यशेषाणां निधिपालगणस्य च ।
लक्ष्म्याश्च परया भक्त्या यतवाक्कायमानसा ॥१०॥
विविक्ते तु गृहस्थोऽयमथ राजा करन्धमः ।
आसीन उक्तः सचिवैर्नीतिशास्त्रविशारदैः ॥११॥

सचिवा ऊचुः—

राजन् वयः परिणतं तवैतच्छासतो महीम् ।
एकस्ते तनयोऽवीक्षित्त्यक्तदारपरिग्रहः ॥१२॥
अपुत्रः स च ते निष्ठां यदा भूप गमिष्यति ।
तदारिपक्षं पृथिवी निश्चितं तव यास्यति ॥१३॥

अवीक्षित ने कहा—

धन तो पिता के अधिकार में है, उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। मेरे शरीर से जो सम्पन्न होना सम्भव हो, आपकी आज्ञा के अनुसार उसका सम्पादन करने को मैं प्रस्तुत हूँ ॥ ७ ॥ यदि धनपति पिताजी ने अनुज्ञा देदी है, तो हे मातः ! आप निश्चिन्त होकर प्रसन्न चित्त से इस किमिच्छक व्रत का अवलम्बन कीजिये ॥८॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

संयम परायणा राजेन्द्रमहिषी ने उपोषित रहकर और काय, वाणी तथा मन को संयन कर, अतिशय भक्तिपूर्वक यथोक्त विधान के अनुसार निधिसमूह, निधिपालगण और लक्ष्मीदेवी की पूजा की ॥ ९-१० ॥ इधर राजा करन्धम नीतिशास्त्र विशारद सचिवों के साथ मन्त्रणागृह में बैठकर विचार कर रहा था ॥ ११ ॥

राजा से सचिवों ने कहा—

हे राजन् ! पृथ्वीपालन करते हुए आज तक आपका वंश अविच्छिन्न रहा है। आपके एक ही कुमार अवीक्षित हैं, जिन्होंने विवाह न करने का निश्चय कर लिया है। हे भूप ! यदि उनका अपुत्रक रहने का यही निश्चय दृढ़ बना रहा, तो निःसन्देह यह

वंशक्षयस्ते भविता पितृपिण्डोदकक्षयः ।
एतन्महत्तेऽरिभयं क्रियाहान्या भविष्यति ॥१४॥

तस्मात् कुरु तथा भूप यथा ते तनयः पुनः ।
करोति सततं बुद्धि पितृणामुपकारिणाम् ॥१५॥

मार्कण्डेय उवाच—

एतस्मिन्नन्तरे शब्दं शुश्राव जगतीपतिः ।
पुरोहितस्य वीराया गदतो ह्यर्थिनं प्रति ॥१६॥

कः किमिच्छति दुःसाध्यं कस्य किं साध्यतामिति ।
करन्धमस्य महिषी किमिच्छकमुपोषिता ॥१७॥

राजपुत्रोऽप्यवीक्षित्तु श्रुत्वा पौरोहितं वचः ।
प्रत्युवाचार्थिनः सर्वान् राजद्वारमुपागतान् ॥१८॥

मया साध्यं शरीरेण यस्य किञ्चिद्ब्रवीतु सः ।
मम माता महाभागा किमिच्छकमुपोषिता ॥१९॥

शृण्वन्तु मेऽर्थिनः सर्वे प्रतिज्ञातं मया तदा ।
किमिच्छथ ददाम्येष क्रियमाणे किमिच्छके ॥२०॥

पृथ्वी आपके शत्रुओं के अधिकार में चली जायगी। आपका भी वंशक्षय होकर पितरों के श्राद्धतर्पणादि का कार्य विनष्ट हो जायगा। क्रियाहानि के कारण बड़ा ही शत्रुभय उपस्थित होगा। अतः हे भूपाल! आपके कुमार जिससे सदा पितरों का उपकार साधन करनेवाली बुद्धि का अवलम्बन करें, ऐसा उपाय कीजिये ॥ १२-१५ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इसी समय राजमहिषी वीरा की ओर से अर्थियों (याचकों) के प्रति पुरोहित ने जो घोषणा की, उसके शब्द राजा ने सुन लिये ॥ १६ ॥ "महाराज करन्धम की महिषी ने किमिच्छक व्रत प्रारम्भ किया है। अतः हे मनुष्यों! किसकी क्या इच्छा है और किसका कौन-सा दुःसाध्य कार्य सिद्ध करना है, (वह प्रकट करो)" ॥ १७ ॥ पुरोहित की घोषणा सुनकर राजपुत्र अवीक्षित भी राजद्वार पर आये हुए, याचकों से कहा ॥ १८ ॥ मेरी भाग्यवती माता ने किमिच्छक नामक व्रत सम्बन्धी उपोषण करना आरम्भ किया है। इस अवसर पर मेरे शरीर के द्वारा जिसे जो कुछ सिद्ध करना हो, वह कहो ॥१९॥ हे याचको! मेरी प्रतिज्ञा तुम लोग सुन लो। इस किमिच्छक व्रत की काल मर्यादा के अन्दर जो कोई जो कुछ मुझसे चाहेगा, उसे देने के लिए मैं प्रस्तुत हूँ" ॥ २० ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततो राजा निशम्यैतद्वाक्यं पुत्रमुखाच्च्युतम् ।
समुत्पत्याब्रवीत् पुत्रमहमर्थी प्रयच्छ मे ॥२१।

अवीक्षिदुवाच—

दातव्यं यन्मया तात ! भवते तद्ब्रवीहि माम् ।
कर्तव्यं दुष्करं वा ते साध्यं दुःसाध्यमेव वा ॥२२।

राजोवाच—

यदि सत्यप्रतिज्ञस्त्वं ददासि च किमिच्छकम् ।
पौत्रस्य दर्शय मुखं ममोत्सङ्गगतस्य तत् ॥२३।

अवीक्षिदुवाच—

अहन्तवैकस्तनयो ब्रह्मचर्यञ्च मे नृप ।
न मे पुत्रोऽस्ति पौत्रस्य दर्शयामि कथं मुखम् ॥२४।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

राजा करन्धम पुत्र के मुख से निकले हुए इस वाक्य को सुनते ही पुत्र के समीप उपस्थित होकर कहने लगा—हे पुत्र ! मैं याचक तो हूँ मुझे मेरा अभीष्ट प्रदान करो ॥ २१ ॥

अवीक्षित ने कहा—

हे पिताजी ! मुझे आपको क्या प्रदान् करना है ? आप आदेश कीजिये । आपका आदिष्ट कार्य चाहे साध्य हो, दुःसाध्य हो अथवा असाध्य हो, मैं उसे अवश्य सम्पन्न करूँगा ॥ २२ ॥

राजा ने कहा—

यदि तुम किमिच्छक देने में सत्यप्रतिज्ञ हुए हो, तो मेरी गोद में खेलने वाला मुझे पौत्र प्रदान करो ॥ २३ ॥

अवीक्षित ने उत्तर दिया—

हे राजन ! मैं आपका अकेला पुत्र हूँ; मुझे पुत्र नहीं है और मैंने ब्रह्मचर्य व्रत का अवलम्बन किया है । तब मैं किस प्रकार आपको पौत्र-मुख दिखाने में समर्थ हो सकूँगा ? ॥ २४ ॥

राजोवाच—

पापाय ब्रह्मचर्यन्ते यदिदं धार्यते त्वया ।
तस्मात् त्वं मोचयात्मानं मम पौत्रञ्च दर्शय ॥२५।

अवीक्षिदुवाच—

विषमं स्यान्महाराज ! यदन्यत्तत् समादिश ।
वैराग्येण मया त्यक्तः स्त्रीसम्भोगस्तथास्तु सः ॥२६।

राजोवाच—

बहुभिर्युध्यमानानां दृष्टो वै वैरिणां जयः ।
तत्रापि यदि वैराग्यमुपैषि तदपण्डितः ॥२७।
किं वा नो बहुनोक्तेन ब्रह्मचर्यं परित्यज ।
मातुस्त्वमिच्छया वक्त्रं पौत्रस्य मम दर्शय ॥२८।

मार्कण्डेय उवाच—

यदा स बहुभिस्तेन प्रोक्तः पुत्रेण पार्थिवः ।
नान्यत् प्रार्थयते किञ्चित् तदा पुत्रोऽब्रवीत् पुनः ॥२९।

राजा बोला—

तुमने जो यह ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया है, यही तुम्हारे पाप का कारण है। अतः इसे त्याग कर तुम अपने आपको मुक्त कर लो और मुझे भी पौत्र-मुख दिखाओ ॥ १५ ॥

अवीक्षित ने कहा—

यह काम तो बड़ा कठिन है। महाराज ! मैंने वैराग्य के कारण ही स्त्री-सम्भोग का त्याग किया है। वह मेरा वैराग्य जिससे अक्षुण्ण बना रहे, ऐसे किसी दूसरे कार्य करने का मुझे आदेश दीजिये ॥ २६ ॥

राजा ने कहा—

अनेक सैनिकों से घिरे हुए वैरियों को युद्ध में तुमने हराया है, यह मैंने स्वयं देखा है। फिर भी तुम वैराग्य का अवलम्बन करने का निश्चय कर रहे हो, यह बुद्धि-मानी नहीं है ॥ २७ ॥ मेरे अधिक कहने का प्रयोजन ही क्या है ? तुम अपनी माता के इच्छानुसार ब्रह्मचर्य का त्याग करो और हमें पौत्रमुख दिखाओ ॥ २८ ॥

मार्कंणडेय बोले—

राजपुत्र के बारम्बार अनुरोध करने पर भी जब राजा ने और कुछ नहीं चाहा, तब राजपुत्र ने कहा ॥ २९ ॥

दत्त्वा किमिच्छकं तुभ्यं प्राप्तोऽहं तात! संकटम् ।
तत्करिष्यामि निर्लज्जो भूयो दारपरिग्रहम् ।।३०।
स्त्रियः समक्षं विजितः पतितो धरणीतले ।
स्त्रीपतिर्भविता भूयस्तातैतदतिदुष्करम् ।।३१।
तथापि किङ्करोम्येष सत्यपाशवशंगतः ।
करिष्यामि यथाऽऽत्थ त्वं भुज्यतां निजशासनम् ।.३२।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणेऽवीक्षितचरितवर्णनं नाम पञ्चविंशत्यधिक-
शततमोऽध्यायः ।।१२५।।

हे पितृदेव ! आपको किमिच्छक प्रदान करना स्वीकार कर मैं बड़े सङ्कट में पड़ गया हूँ । अब मुझे निर्लज्ज होकर फिर से दार-परिग्रह करना होगा ।। ३० ।।

स्त्री के सामने पराजित होकर मैं भूमि पर गिर गया था; अतः अब स्त्री मेरे लिए पति के समान ही रहेगी । हे पितः ! यह बड़ा ही दुष्कर कार्य है ।। ३१ ।।

परन्तु क्या किया जाय ? जबकि, मैं सत्य के पाश में आबद्ध हो गया हूँ, तब जो कुछ आप आज्ञा कर रहे हैं, उसी का पालन करूँगा । आप निश्चिन्त होकर राज्य-शासन कीजिये ।। ३२ ।।

पर्यालोचन

व्रत

पुण्य के साधन उपवासादिनियमों में व्रत शब्द का प्रयोग होता है। भलीभाँति सङ्कल्पपूर्वक अनुष्ठेय क्रिया विशेष ही व्रत है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से दो प्रकार का है। पूजादिक एवं निर्दिष्ट भोजनरूप प्रवृत्त्यात्मक है और उपवासादि निवृत्ति स्वरूप है। ये नित्य, नैमित्तिक और वाक्य के भेद से तीन प्रकार के हैं। मानस, कायिक, वाचिक भेद से भिन्न भी कहे गये हैं।

वाराह पुराण में कहा गया है :—

अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यमकल्मषम्।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि व्रतधारिणाम्॥
एक भुक्तं तथा नक्तमुपवासादिकञ्च यत्।
तत्सर्वं कायिकं पुंसां व्रतं भवति नान्यथा॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय पापरहित ब्रह्मचर्य—ये मानस व्रत हैं। एक बार भोजन रात्रि में उपवासादि कायिक है।

आदित्यपुराण के अनुसार व्रत के द्वारा दारिद्र्य की निवृत्ति होती है तथा सभी आपत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं।

व्रतोपवासं खलु यो विधत्ते दारिद्र्यप्राशं सभिनत्ति चाशु।
व्रतोपवासेषु रतस्य पुंसश्चैवा पदः शान्तिमुशन्ति तज्ज्ञाः॥

इस प्रकार विशिष्ट विधान इच्छा की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न रूप से कहे गये हैं। संक्षेप में कतिपय व्रतों का नाम से निर्देश दिया जा रहा है—अक्षय तृतीया व्रत भविष्योत्तर पुराण में कहा गया है। वैशाखस्य सितामेकां तृतीयाक्षयां शृणु।

विष्णु धर्मोत्तर में भी अक्षय फल की प्राप्ति के लिए इस व्रत का निर्देश किया गया है।

अखण्डैकादशीव्रत मार्कण्डेयपुराण में कही गई है। अग्नि चतुर्थी विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में कही गई है। इसी प्रकार मार्कण्डेयपुराण में क्रिमिच्छक व्रत कहा गया है। वस्तुतः यह व्रत अतिशय कठिन है। सभी पुराणों में व्रतों का विधान और उसका फल निर्दिष्ट है। काम्य व्रत से कामना की सिद्धि होती है। गरुड़ पुराण में व्रत तप आदि के निरूपण प्रसंग में कहा गया है कि प्राणियों के लिए तप ही गति है, तप ही एक मात्र शरण है, तप से ही संसार पर विजय प्राप्त किया जा सकता है, तप से ही सज्जनों को कल्याण की प्राप्ति होती है, तप के द्वारा पाप का क्षालन होने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है, आयु, शान्ति की प्राप्ति भी तप से होती है, तीनों लोकों की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार अनेक फलों की प्राप्ति तप और व्रत के द्वारा कही गई है।

तथागतिर्हिभूतानां तप एव परायणम् ।
तपसा विधिना लोकास्त यसनं निवृत्तिहृसताम् ॥
तपसा धूतपाप्मानो निर्वाणं परमं गताः ।
तपसा परमायुश्च शान्तिश्चापि तथाण्नुयात् ॥

आगे भी गरुण पुराण में लिखा गया है कि दान नियम तप और व्रत के द्वारा राजर्षि धुन्धुमार ने सैकड़ों पुत्र प्राप्त किये इसी प्रकार दशरथ ने भी यज्ञ दान त। के द्वारा ही पुरुषोत्तम को सन्तुष्ट किया। अतः तप और व्रत आदि के द्वारा कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है।

धर्म का भारतीय मानव जीवन के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इसे पृथक् नहीं किया जा सकता। नीति का भी मानव जीवन के साथ वैसा ही सम्बन्ध है। इसको दूर करना मानवता को हटाना है। धर्म के कारण मानव पशु से भिन्न है। जीवन धारण के लिए ही धर्म का उद्भव और विकास हुआ है—धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। अतः धर्म समाज की भी एक मात्र प्रतिष्ठा का साधन है। विभिन्न परिभाषाओं की दृष्टि से सभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति के माध्यम से धर्म माना गया है। निहित कर्त्तव्यों के अर्थ में भी धर्म शब्द का प्रयोग होता है। उपनिषद् में सत्यं वद, धर्मं चर आदि प्रयोगों के अनुसार धर्म शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ को लेकर हुआ है। धर्म के लक्षण को संग्रह करते हुए वेद, स्मृति, सदाचार, अपने को प्रिय लगने वाला, साक्षात् धर्म कहा गया है। इन विश्लेषणों से यह स्पष्ट है कि नैतिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों की समष्टि ही धर्म है। वाल्मीकि ने धर्म की परिभाषा करते हुए लिखा है—धर्मो हि परमो लोके, धर्मे सत्यं ,प्रतिष्ठितम्। राजनीति विशारद चाणक्य ने भी समस्त सूत्रों का मूल धर्म को माना है। धर्म संसार की सभी विभूतियों का एकमात्र साधन है। इसीलिए वाल्मोकि ने कहा है—धर्मादर्थः प्रभवते धर्मात्प्रभवते सुखम्। धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारं इदं जगत् ॥ धर्म की रक्षा के मूल में त्याग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव जीवन एवं लोक-व्यवहार धर्म से ओतप्रोत है। धर्म की उत्पत्ति का मूल हो इस अंश में सम्मिलित है—

प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः श्रेष्ठः स्वयंभुवः।

जब कर्म कर्त्तव्य की दृष्टि से किया जाय तो नीति है और श्रद्धा के परिवेश में उसी कर्तव्य का पालन धर्म है। पाश्चात्य दार्शनिकों का भी इसमें मतभेद नहीं है। धर्मात्मा, गुणवान्, नीतिमान् का निरूपण करते हुए लिखा गया है—

नियतात्मा महावीर यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी।
बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुविमर्दनः ॥

इस पद्य के अनुसार नीति और धर्म इन दोनों के सहयोग से एक आदर्श मानवचरित निर्मित होता है।

उपसंहार में मनुस्मृति के दश धर्म के लक्षण कहे गए हैं, वे अतिशय महत्त्वशाली हैं—जैसे—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, धीः, विद्या, सत्य,

अक्रोध। खनित्र के चरित्र में इन दशों धर्मलक्षणों का समन्वय मिलता है। अतः अधृति, अक्षमा, मानसिक, अशान्ति, स्तेय, अशौच, इन्द्रिय सक्ति, अनुदारता, अविद्या, असत्य, क्रोध, हिंसा पर विजय प्राप्त कर खनित्र ने एक आदर्श जीवन की स्थापना की। खनित्र के चरित्र में ये गुण पूर्णरूपेण उपलब्ध होते हैं। वह अनेक यज्ञों के द्वारा अपने जीवन को परिपूत करता है तथा अपने भाइयों को विशेष स्थान देकर सबको पुत्रवत् स्नेह प्रदान करता है। किन्तु मन्त्री की अदूरदर्शिता के कारण विश्ववेदी अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। बहुधा मन्त्री को कर्त्तव्य का निर्देश देने पर भी वह मार्ग भ्रष्ट किया जाता है और कर्त्तव्यपरायण धर्मनिष्ठ व्यक्ति की हानि तो नहीं होती है, किन्तु विश्ववेदी का संहार हो ही जाता है। अतः इस कथा के द्वारा "यतो धर्मः ततो जयः" का परिपोष करते हुए धर्मनीति को उच्चतम स्थान दिया गया है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का अवीक्षितचरित्र सम्बन्धी एक सौ पचीसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।





षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

कदाचिद्राजपुत्रोऽसौ मृगयामचरद्वने ।
मृगान्विध्यन्वराहांश्च शार्दूलादींश्च दंष्ट्रिणः ॥१॥
शुश्राव सहसा शब्दं त्राहि त्राहीति योषितः ।
विक्रोशन्त्याः सुबहुशो भयगद्गदमुच्चकैः ॥२॥
मा भैर्मा भैरिति वदन् राजपुत्रः स वेगितः ।
चोदयामास तुरगं यतः शब्दः समागतः ॥३॥
ततश्च सापि चुक्रोश कन्यका विजने वने ।
गृहीता दनुपुत्रेण दृढकेशेन मानिनी ॥४॥
करन्धमसुतस्याहं भार्या चाहमवीक्षितः ।
हरत्यनार्यो विपिने पृथिवीशस्य धीमतः ॥५॥
यस्य सर्वे महीपालास्तथा गन्धर्वगुह्यकाः ।
न समर्थाः पुरः स्थातुं तस्य भार्या हृताऽस्म्यहम् ॥६॥
यस्य मृत्योरिव क्रोधः शक्रस्येव पराक्रमः ।
करन्धमसुतस्यैषा तस्य भार्या हृताऽस्म्यहम् ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

एक बार राजपुत्र वन में मृगया कर रहा था। उसने बहुत से सूअरों, दंष्ट्रा वाले मृगों, शेरों आदि जीवों को मारा ॥१॥ इतने में किसी भयभीत कामिनी का बचाओ, बचाओ यह अत्युच्च रोदन-स्वर उसे सुनायी दिया ॥ २ ॥ स्त्री का 'त्राहि त्राहि' शब्द सुनते ही जिस ओर से शब्द आ रहा था, उसी ओर 'डरो मत, डरो मत' कहते हुए राजपुत्र ने अपना घोड़ा दौड़ाया ॥ ३ ॥ वहाँ उसने देखा कि दनु के पुत्र दृढ़केश ने निर्जन वन में (विशालराज की उसी) मानिनी नामक कन्या को पकड़ लिया है ॥ ४ ॥ वह यह कह कर विलाप कर रही है कि, मैं महाराज करन्धम के पुत्र धीमान् पृथ्वीश्वर अवीक्षित की भार्या हूँ और इस वन में यह अनार्य दानव मेरा हरण कर रहा है ॥ ५ ॥ जिसके सामने समस्त महीपाल और गुह्यक, गन्धर्व आदि भी नहीं ठहर सकते, उनकी भार्या होती हुई मैं हरी जा रही हूँ ॥ ६ ॥ जिनका क्रोध मृत्यु की तरह और पराक्रम इन्द्र के समान है, मैं उन्हीं करन्धम कुमार की पत्नी हूँ और हरी जा रही हूँ ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्याकर्ण्य महीपालतनयः स शरासनी ।
चिन्तयामास किमिदं मम भार्याऽत्र कानने ॥८॥
मायेयं रक्षसां नूनं दुष्टानां काननौकसाम् ।
अथ वा गत एवाहं सर्वं वेत्स्यामि कारणम् ॥९॥

मार्कण्डेय उवाच—

त्वरितः स ततो गत्वा ददर्शातिमनोरमाम् ।
कानने कन्यकामेकां सर्वालङ्कारभूषिताम् ॥१०॥
गृहीतां दनुपुत्रेण दृढकेशेन दण्डिना ।
त्राहि त्राहीति करुणं विक्रोशन्तीं पुनः पुनः ॥११॥
मा भैरिति स तामाह हतोऽसीति च तं वदन् ।
शासतीमां महीं दुष्टः को भूपेऽत्र करन्धमे ॥१२॥
यस्य प्रतापावनता भुवि सर्वे महीक्षितः ।
ततस्तमागतं दृष्ट्वा गृहीतवरकार्मुकम् ॥१३॥
मां त्राहीत्याह तन्वङ्गी हृतास्म्येषेति चासकृत् ।
राज्ञः करन्धमस्याहं स्नुषा भार्याप्यवीक्षितः ॥
हृताऽस्म्येतेन दुष्टेन सनाथाऽनाथवद्वने ॥१४॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

धनुर्धर राजकुमार ने यह वचन सुनकर विचार करने लगा कि, इस अरण्य में यह मेरी भार्या कैसी ? मैं समझता हूं कि, यह सब वन में सञ्चार करने वाले दुष्ट राक्षसों की माया है। जो हो, पास में जाने से ही सब वृतान्त विदित होगा ॥ ८-९ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

तब राजपुत्र ने तुरन्त ही वहाँ जाकर घोर अरण्य में सब अलङ्कारों से सजी हुई और अत्यन्त सुन्दरी एक कन्या को दण्डधारी दानव दृढ़केश के द्वारा गृहीत 'त्राहि त्राहि' पुकारती हुई पुनः पुनः रोदन करती हुई देखा ॥ १०-११ ॥ उस कन्या से राजपुत्र ने कहा,—भय न करो। फिर दानव से कहा,—अरे! तेरा काल आ गया है। यह कहते हुए देखा, जिन महाराज करन्धम के प्रताप से पृथ्वी के समस्त महीपाल अवनत हो रहे हैं, उनके शासन काल में कौन दुष्ट व्यक्ति जीवित रह सकता है ॥१२॥ प्रचण्ड धनुर्धारी राजपुत्र को आते देख, वह कृशाङ्गी राजकन्या उससे बारम्बार कहने लगी कि, मेरी रक्षा कीजिये। देखिये, यह मुझे हरण कर रहा है। मैं महाराज करन्धम की पुत्र-वधू और राजकुमार अवीक्षित की भार्या हूं। मैं सनाथा होती हुई अनाथिनी की तरह इस वन में इस दुष्ट के द्वारा हरी जा रही हूं ॥ १३-१४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततो विममृषे वाक्यमवीक्षित् स तथोदितम् ।
कथमेषा हि मे भार्या स्नुषा तातस्य वा कथम् ॥१५॥
अथ वा मोचयाम्येतां तन्वीं वेत्स्यामि तत् पुनः ।
क्षत्रियैर्धार्यते शस्त्रमार्त्तानां त्राणकारणात् ॥१६॥
ततः क्रुद्धोऽब्रवीद्वीरो दानवं तं सुदुर्मतिम् ।
जीवन् गच्छ विमुच्यैनामन्यथा न भविष्यसि ॥१७॥
ततः स तां विहायोच्चैर्दण्डमुत्क्षिप्य दानवः ।
तमप्यधावत्सोऽप्येनं शरवर्षैरवाकिरत् ॥१८॥
स वार्यमाणो बाणौघैर्दानवोऽतिमदान्वितः ।
राजपुत्राय चिक्षेप दण्डं शङ्कुशतावृतम् ॥१९॥
तमापतन्तं चिच्छेद शरैर्भूपसुतस्ततः ।
सोऽप्यासन्नं गृहीत्वोच्चैर्द्रुममाजौ व्यवस्थितः ॥२०॥
सृजतः शरवर्षाणि तं चिक्षेप ततो द्रुमम् ।
स च तं तिलशश्चक्रे भल्लैः कार्मुकमोचितैः ॥२१॥
ततश्चिक्षेप च शिलां राजपुत्राय दानवः ।
सापि मोघा पपातोर्व्यामुज्झिता तेन लाघवात् ॥२२॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

उसका वचन सुनकर राजपुत्र सोचने लगा कि, यह कन्या मेरी भार्या और मेरे पिता की पुत्रवधू कैसे हुई ? ॥ १५ ॥ जो हो, पहिले इस कन्या को इस दुष्ट से छुड़ा लेना चाहिये, फिर इस कृशाङ्गी के विषय में समझूँगा । पीड़ित लोगों की रक्षा करने के लिये ही क्षत्रिय गण शस्त्र-धारण करते हैं ॥ १६ ॥ अनन्तर महावीर राजकुमार ने क्रुद्ध होकर उस अतिशय दुर्बुद्धि दानव से कहा—यदि तुझे जीवन की आकांक्षा हो, तो इसे छोड़कर तुरन्त यहाँ से भाग जा; नहीं तो, तेरी मृत्यु अवश्य हो जायगी ॥ १७ ॥ राजपुत्र का वचन सुनकर दानव ने कन्या को तो छोड़ दिया, किन्तु वह दण्ड लेकर राजपुत्र पर दौड़ा । राजपुत्र ने भी उसे बाणों से आच्छन्न कर दिया ॥१८॥ राजपुत्र के बाणों से बचाकर दानव ने बड़े अहङ्कार के साथ उस पर सैकड़ों कीलों से जड़े हुए दण्ड को चलाया। राजपुत्र ने उस दण्ड को बीच में ही बाणों से काट डाला । फिर दानव ने पास का ही एक पेड़ उखाड़ लिया और वह बाणों की वर्षा करने वाले राजपुत्र की ओर फेंका । राजपुत्र ने उसे भी अपने धनुष से भाले फेंककर तिल-तिल के बराबर टुकड़े-टुकड़े कर डाला ॥ १९-२१ ॥ अनन्तर दानव ने राजपुत्र पर शिला से प्रहार किया वह त्यक्त शिला उस दानव की लघुता से (निर्बलता से) पृथिवी पर गिरी ॥ २२ ॥

राजपुत्राय कुपितो यद्यच्चिक्षेप दानवः ।
तत्तच्चिच्छेद बाणौघैर्भूभृत्सूनुः स लीलया ॥२३॥
ततो विच्छिन्नदण्डोऽसौ विच्छिन्न-सकलायुधः ।
मुष्टिमुद्यम्य सक्रोधो राजपुत्रमधावत ॥२४॥
तस्यापतत एवासौ करन्धमसुतः शिरः ।
छित्त्वा वेतसपत्रेण पातयामास वै भुवि ॥२५॥
तस्मिन् विनिहते देवैर्दानवे दुष्टचेष्टिते ।
करन्धमसुतः सर्वैः साधु साध्विति भाषितः ॥२६॥
वरं वृणीष्वेति तदा देवैरुक्तो नृपात्मजः ।
वव्रे पुत्रं महावीर्यं पितुः प्रियचिकीर्षया ॥२७॥

देवा ऊचुः—

भविष्यति हि ते पुत्रश्चक्रवर्त्ती महाबलः ।
अस्यामेव हि कन्यायां मोक्षितायां त्वयानघ ॥२८॥

राजपुत्र उवाच—

पित्राहं सत्यपाशेन बद्ध इच्छाम्यहं सुतम् ।
राजभिर्निर्जितेनाऽऽजौ त्यक्तो मे दारसंग्रहः ॥२९॥

इस प्रकार क्रुद्ध दानव ने जिन-जिन आयुधों का राजपुत्र पर प्रहार किया, राजपुत्र ने सबको अपने बाणों से लीलापूर्वक ही व्यर्थ कर दिया ॥ २३ ॥

दानव के दण्ड और सब अस्त्र-शस्त्र विफल हो जाने पर वह अतिक्रुद्ध होकर मुट्ठी बाँधकर घूंसा से मारने के लिए राजपुत्र की ओर दौड़ा ॥ २४ ॥ वह पास में पहुँचने भी नहीं पाया था कि, करन्धम-कुमार ने वेतसपत्र बाण के द्वारा उसका सिर काट कर भूमि पर गिरा दिया ॥ २५ ॥ दुराचारी दानव का इस प्रकार मारे जाने पर देवगण राजपुत्र का साधुवाद करने लगे और बोले कि वर मांगो। देवताओं के इस प्रकार आदेश करने पर राजकुमार ने पिता का प्रिय साधन के उद्देश्य से महावीर पुत्र मांग लिया ॥ २६-२७ ॥

देवताओं ने कहा :—

हे निष्पाप ! तुमने जिसको स्वीकार नहीं किया, उसी कन्या के गर्भ से तुम्हें महाबली चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा ॥ २८ ॥

राजपुत्र ने कहा—

मैं पिता के निकट सत्य के पाश में आबद्ध होने के कारण ही पुत्र की इच्छा करता हूं। मैंने तो युद्धस्थल में राजाओं के द्वारा पराजित होकर दारपरिग्रह की इच्छा ही त्याग दी थी ॥ २९ ॥

सा च मे यावता त्यक्ता विशालनृपतेः सुता ।
तया च मत्कृते त्यक्तो मामृते नरसङ्गमः ॥३०॥
तत् कथं तामपास्याद्य विशालतनयामहम् ।
नृशंसात्मा करिष्यामि अन्यनारीपरिग्रहम् ॥३१॥

देवा ऊचुः—

इयमेव हि ते भार्या श्लाघ्यते या त्वया सदा ।
विशालस्य सुता सुभ्रूस्त्वत्कृते याऽऽश्रिता तपः ॥३२॥
तस्यामुत्पत्स्यते वीरः सप्तद्वीपप्रसाधकः ।
यष्टा यज्ञसहस्राणां चक्रवर्त्ती सुतस्तव ॥३३॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युच्चार्य ययुर्देवाः करन्धमसुतं द्विज ! ।
सोऽप्याह तां तदा पत्नीं कथ्यतां भीरु! किं त्विदम् ॥३४॥

मैंने जब विशाल राजा की कन्या का परित्याग किया, तब उसने भी मेरे अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष से शरीर सम्बन्ध न करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है ॥३०॥

अब मैं आज विशालराज की उस कन्या को छोड़कर कैसे नृशंस की तरह किसी अन्य स्त्री का पाणिग्रहण करूँगा ॥ ३१ ॥

देवताओं ने कहा—

तुम सर्वदा जिसकी प्रशंसा किया करते हो, यही वह सौन्दर्य भौंओं वाली विशालराज-तनया तुम्हारी भार्या है। यह तुम्हारे लिये ही तपस्या कर रही है ॥ ३२ ॥ इसी के गर्भ से तुम्हें सप्तद्वीपों का शासन करनेवाला, सहस्रों यज्ञों का करने वाला, चक्रवर्ती वीर पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ३३ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे द्विज ! करन्धम पुत्र को इस प्रकार कहकर देवगण अन्तर्हित हो गये। फिर राजपुत्र ने अपनी भावी पत्नी से पूछा कि, हे भीरु ! यह सब घटना कैसे हुई ? कहो ॥ ३४ ॥

६५

सा चास्मै कथयामास त्यक्ताऽहं भवता तदा ।
त्यक्तबन्धुजनारण्यं निर्वेदात् समुपागता ॥३५॥

तत्राहं तपसा वीर ! क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
त्यक्तुकामा समभ्येत्य देवदूतेन वारिता ॥३६॥

भविष्यति च पुत्रस्ते चक्रवर्त्ती महाबलः ।
प्रीणयिष्यति यो देवानसुरांश्च हनिष्यति ॥३७॥

इति देवाज्ञया तेन देवदूतेन वारिता ।
न सन्त्यक्तवती देहं त्वत्सङ्गमनोरथा ॥३८॥

परश्वश्च महाभाग ! स्नातुं गङ्गाह्रदङ्गता ।
अवतीर्णा विकृष्टास्मि वृद्धनागेन केनचित् ॥३९॥

उस कन्या ने कहा—जब आप ने मुझे अस्वीकार किया, तब मैं अत्यन्त दुःखित होकर कुटुम्बियों को छोड़कर वन में चली आयी ॥ ३५ ॥

हे वीर ! यहाँ आकर तपस्या करने पर कुछ दिनों में मैं बहुत क्षीण शरीर हो गयी और एक दिन प्राणत्याग करने को उद्यत हुई । उसी समय यहाँ एक देवदूत आ गया और उसने मुझे प्राण त्याग करने से रोका ॥ ३६ ॥

तुम्हें एक महाबलवान् चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा । वह पुत्र असुरों का विनाश और देवताओं को प्रसन्न करेगा ॥ ३७ ॥

अतः देवों की आज्ञा के अनुसार उस देवदूत ने मुझे प्राणत्याग से निवृत्त किया । इस प्रकार रोकी जाने पर आपके मिलन की अभिलाषा से देहत्याग न कर सकी ॥ ३८ ॥

हे महाभाग ! परसों की बात है । मैं श्री गङ्गा सरोवर में स्नानकरने के लिए उतरी थी । उस समय कोई वृद्ध नाग मुझे खींचकर (रसातल में) ले गया ॥ ३९ ॥

ततो रसातलं नीता तेन तत्र च मे पुरम् ।
नागाः सहस्रशस्तस्थुर्नागपत्न्यः कुमारकाः ॥४०॥

तुष्टुवुर्मां समभ्येत्य मामन्येऽपूजयंस्तथा ।
ययाचिरे सविनयं नागा मामङ्गनास्तथा ॥४१॥

प्रसादं कुरु सर्वेषां त्वमस्माकं सुतस्त्वया ।
अपराधमुपेतानां संनिवार्यो बन्धोन्मुखः ॥४२॥

अपराधं करिष्यन्ति त्वत् पुत्रस्यानिलाशनाः ।
तन्निमित्तं निवार्य्योऽसौ प्रसादः क्रियतामिति ॥४३॥

तथेति च मया प्रोक्ते दिव्यैः पातालभूषणैः ।
भूषिताऽहं तथा पुष्पैर्गन्धवासोभिरुत्तमैः ॥४४॥

समानीता तथालोकमिमन्तेनानिलाशिनी ।
पुरा यथा कान्तिमती पूर्ववद्रूपशालिनी ॥४५॥

इति रूपवतीं दृष्ट्वा सर्वालङ्कारभूषिताम् ।
जग्राह दृढकेशोऽयं हर्तुकामः सुदुर्मतिः ॥४६॥

अनन्तर रसातल में ले गया। वहाँ सहस्रों नाग, नाग-पत्नियाँ और नागकुमार मेरे आगे खड़े होकर कोई तो मेरी स्तुति और कोई पूजा करने लगे। फिर नागों और नागपत्नियों ने मुझसे सविनय प्रार्थना की,—आप हम सब पर अनुग्रह करें और यह अभिवचन दें कि, यदि हम लोग आपके पुत्र का कुछ अपराध करें और वह हमें विनष्ट करने का उद्योग करे, तो उस समय आप उसे इस कार्य से रोक दें ॥ ४०-४२ ॥ वायु का भक्षण करने वाले आपके पुत्र के प्रति अपराध करेंगे, उस समय हमलोगों के विनाश का उद्योग करने पर उसको रोके ॥४३॥ मेरे द्वारा 'यही होगा' कहने पर उन वायुभक्षक नागों ने पाताल के दिव्य आभूषणों और मनोरम गन्ध, पुष्प, वस्त्र आदि से मेरा सत्कार कर उन लोगों ने मुझे फिर पृथ्वीपर पहुँचा दिया यहाँ आकर मैंने क्या देखा कि, मैं फिर पहिले की तरह कान्तिमती और रूपवती हो गयी हूं ॥ ४५ ॥ इस प्रकार सब अलङ्कारों से भूषित और रूप से सम्पन्न देखकर दुर्मति दृढ़केश ने हरण की इच्छा से मुझे पकड़ लिया ॥ ४६ ॥

युष्मद्बाहुबलेनाहं राजपुत्र ! विमोक्षिता ।
तत् प्रसीद महाबाहो ! मां प्रतीच्छ त्वया समः ॥
भूर्लोके राजपुत्रोऽन्यो नास्ति सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥४७॥

इति श्रीमार्कण्डयपुराणेऽवीक्षितचरित्रवर्णनं नाम षड्विंशत्यधिक-
शततमोऽध्यायः ॥१२६॥

हे राजपुत्र ! मैंने आपके ही बाहुबल से छुटकारा पाया है, अतः हे महाबाहो ! अनुग्रह करके मुझे स्वीकार कीजिये। मैं सचमुच कहती हूं कि समस्त भूमण्डल में आप जैसा गुणशाली दूसरा कोई राजपुत्र नहीं है ॥ ४७ ॥



पर्यालोचन

विशाला की पुत्री मानिनी इसकी वीरता को देख कर अपने को मन से सर्मपित कर देती है। यही भारतीय नारी का उदात्त चरित्र है। मनसा संकल्पित कर्म को अन्यथा करना चारित्रिक कमजोरी तथा वासना के परिपोष का साधन है दमयन्ती आदि अनेक नारियों ने भारत भूभाग में जन्म ग्रहण कर इस आदर्श की रक्षा में देवों को भी तिरस्कृत किया है। देवगण स्वयम्वर में उपस्थित हो सकते हैं, किन्तु सर्मपित नारियाँ स्वयम्वर में मात्र समाज के सम्मुख अपने आदर्श का परिपालन करती हैं। मानिनी अवीक्षित को सर्मपित होने के बाद इसकी प्राप्ति सहज में सम्भव न होने पर उस भाव से देह त्यागपूर्वक पर जन्म में उसकी प्राप्ति को भी जीवन की सफलता मानती है। वह तपस्या के लिए चली जाती अपर्णा या उमा के समान शारीरिक कान्ति की उपेक्षा कर प्रिय के सौभाग्य फलकी चारुता की सम्पति के लिए वन में तपस्या में रत होना ही अपना कर्तव्य समझती है। जिस प्रकार तप के द्वारा पार्वती ने अपने प्रियतम महेश की प्राप्ति की उसी प्रकार यह भी तपस्या के द्वारा अवीक्षित की प्राप्ति करती है। पुराण में इन भारतीय ललनाओं के उत्सर्ग और त्यागमय जीवन की अनेक चर्चायें उपलब्ध हैं, जिनके अध्ययन से रोमांच हो जाता है। यह भी शरीर त्याग के लिए उद्यत है। ऐसी स्थिति में देवदूत की आज्ञा से चक्रवर्ती राजा की जननो होने का प्रत्याशा में शरीर धारण करती है। अतः शारीरिक सौन्दर्य एवं वासना की तृप्ति के आधार पर जीवन यापन भारतोय संस्कृति क्षमा नहीं करती है। शकुन्तला अपने सौन्दर्य के आधार पर गान्धर्व विवाह से दुष्यन्त की प्राप्ति कर लेती है, किन्तु उसके साथ पत्नी का जीवन व्यतीत करने के लिए तपस्या की बाध्यता आ हो जाती है। पार्वती को पूर्व में ही तपस्या करनी पड़ती है तथा काम की चिता पर विवाह करती है, और अर्द्धनारीश्वर का अक्षुण्ण स्वरूप प्राप्त करती है। अतः भारतोय संस्कृति त्याग और बलिदान की भूमिका पर प्रतिष्ठित है, काम और वासना की तृप्ति के लिए दार परिग्रह या विवाह यहाँ को परम्परा नहीं है। इसी परम्परा की शिक्षा और दीक्षा इस चरित्र से उपलब्ध हो रही है। मानिनी भी गन्धर्व की पुत्री है और महर्षि अगस्त्य के शाप से मानवी हुई है। सुहृद्भाव से नारी जीवन के कर्तव्य की शिक्षा ही इस चरित्र का वैशिष्ट्य है।

बलवान् तेजस्वी, प्रजापालन में उपयुक्त व्यक्ति को क्षत्रिय कहा जाता है। हारीत ने कहा —धर्मानुसार प्रजा पालन, अध्ययन, यज्ञ का अनुष्ठान, दान, धर्म-बुद्धि, नीतिशास्त्राभिज्ञता आदि क्षत्र धर्म है।

वसिष्ठ के अनुसार—अध्ययन, शस्त्र विद्याभ्यास और प्रजा पालन ये तीन क्षत्रिय के कर्तव्य हैं। पद्मपुराण के स्वर्ग खण्ड में क्षत्रियों का प्रधान धर्म इस प्रकार निर्णीत किया गया है। प्रजापालन, नित्योत्साह, दुष्ट हत्या, युद्ध में पराक्रम प्रकाश एवं धर्मानुसार युद्ध और प्रजा को अपने धर्म में स्थापन करना ही कर्तव्य है। धर्मानुसार प्रजा का पालन कर विविध यज्ञों का अनुष्ठान कर युद्ध में दुर्वृत्त राजाओं को पराजित कर

राज्य को सुचारु रूप से संचालन करना ही कर्तव्य है। अन्त में अपने पुत्र को राज्य समर्पित कर श्राद्धादि से पितृलोक, यज्ञ से देवलोक, एवं दान से मुनि जन को सन्तुष्ट कर अन्त में अन्तिम आश्रम का अवलम्बन करना कर्तव्य है। वानप्रस्थ अवलम्बन करने पर राजर्षि हो जाता है क्षत्रिय के द्वारा धर्म का परित्याग करने पर पृथिवी छिन्न-भिन्न हो जायेगी।

नाश से रक्षा करना ही क्षत्रिय का योगलभ्य अर्थ है। महाकवि कालिदास ने भी 'क्षतात् किल त्रायते' यह लिख कर इसी का समर्थन किया। अवीक्षित् एक मानी क्षत्रिय था वह अपने कर्तव्य को भलीभाँति अवगत करता था। उसने कन्याहरण कर अपने बल की ही प्रशस्ति प्रदर्शित की थी। किन्तु, अधर्म युद्ध के ही द्वारा पराजित होकर पिता से रक्षित होने पर वह अपने को क्षत्र धर्म च्युत होने का अनुभव करता है। वह अवला अर्थात् पराश्रित अपना रक्षण मानकर विवाह से दूर हट जाता है। यह उसके उदात्त चरित्र का परिचय है। जो स्वयं अपनी रक्षा में समर्थ न होकर दूसरे के द्वारा रक्षित होता है, वह किसी अन्य की रक्षा का भार यदि ग्रहण करता है तो इससे अनुचित और कुछ नहीं कहा जा सकता है। उसके उत्साह एवं कर्म की प्रशस्ति के बोधक ये पद्य वस्तुतः भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं।

अवीक्षित् ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिसका परिचय किसी अन्य पूर्व पुरुषों के द्वारा होता है, वह वस्तुतः भारतीय परम्परा के अनुसार ही है। अतः इसकी विवाह-विमुखता वासना पर विजय राजकर्तव्य निष्ठा की चरम परम भावना का परिचायक है। वीरता का प्रदर्शन कर अनुरूप वस्तु की प्राप्ति हो यथोचित प्राप्ति है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का अवीक्षित चरित सम्बन्धी एक सौ छब्बीसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

इति तस्या वचः श्रुत्वा स्मृत्वा पितृवचः शुभम् ।
किमिच्छकप्रतिज्ञाते यदुक्तं तेन भूभृता ।।१।
प्रत्युवाच स तां कन्यामवीक्षिन्नृपतेः सुतः ।
सानुरागमनाः कन्यां त्यक्तभोगाश्च तत् कृते ।।२।
यदाहं त्यक्तवांस्तन्वीं त्वामरातिपराजितः ।
विजित्य शत्रून् सम्प्राप्ता त्वं मयाऽत्र करोमि किम् ।३

कन्योवाच—

मम पाणिं गृहाण त्वं रमणीयेऽत्र कानने ।
सकामायाः सकामेन सङ्गमो गुणवान् भवेत् ।।४।

राजपुत्र उवाच—

एवं भवतु भद्रन्ते विधिरेवात्र कारणम् ।
अन्यथा कथमन्यत्र त्वमहञ्च समागतः ।।५।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

राजकुमारी की ये सब बातें सुनकर राजपुत्र को अपनी उस प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया, जो माता के किमिच्छक व्रत-ग्रहण करने के अवसर पर महाराज करन्धम के सामने उसने की थी। उस पर राजा ने जो उत्तर दिया था, उसका भी उसे स्मरण हुआ ।।१।। अनुराग चित्त हो राजा के पुत्र अविक्षित ने उसके लिए भोग का त्याग करने वाली उस कन्या से कहा ।।२।। हे कृशाङ्गि ! मैंने शत्रुओं से पराजित होने के कारण उस समय तुम्हारा परित्याग किया था और शत्रुका नाश करके ही तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो रहा हूँ। अब तुम ही कहो कि, इस समय मेरा कर्त्तव्य क्या है ? ।।३।।

कन्या ने उत्तर दिया—

इस रमणीय कानन में आप मेरा पाणिग्रहण करें। ऐसा होने से सकाम कामिनी का सकाम पुरुष के साथ सङ्गम गुणपूर्ण अर्थात् सुख-शान्तिकारक ही होगा ।।४।।

राजपुत्र ने कहा—

तुम्हारा कल्याण हो, ऐसा ही हो। दैव ही इस का कारण है। नहीं तो भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर हम दोनों आज यहाँ कैसे एकत्रित होते ? ।।५।।

मार्कण्डेय उवाच—

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तो गन्धर्वस्तुनयो मुने ! ।
वराप्सरोभिः सहितो गन्धर्वैरपरैर्वृतः ॥६।

गन्धर्व उवाच—

राजपुत्र ! सुतेयम्मे भामिनी नाम मानिनी ।
अभिशापादगस्त्यस्य विशालतनयाऽभवत् ॥७।
बालभावेन योऽगस्त्यः कोपितः क्रीडमानया ।
ततस्तेन तदा शप्ता मानुषी त्वं भविष्यसि ॥८।
प्रसादितः स चास्माभिर्बालियमविवेकिनी ।
तवाऽपराधाद्विप्रर्षे ! प्रसादः क्रियतामिति ॥९।
प्रसाद्यमानः सोऽस्माभिरिदमाह महामुनिः ।
बालेति मत्वा शापोऽल्पो दत्तोऽस्या नान्यथैव तत् ।१०
इति शापादगस्त्यस्य विशालभवने शुभा ।
जातेयं मत्सुता सुभ्रूर्भामिनी नाम नामतः ॥११।
तदस्याऽहं कृते प्राप्तो गृहाणेमां नृपात्मजाम् ।
ममात्मजां सुतस्तेऽत्र चक्रवर्त्ती भविष्यति ॥१२।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

हे मुने ! इसी समय तुनय नामक गन्धर्व बहुत से गन्धर्वों और सुन्दरी अप्सराओं को साथ में लेकर वहाँ उपस्थित हो गया ॥६॥

गन्धर्व ने कहा—

हे राजकुमार ! यह मानिनी मेरी ही कन्या है। इसका नाम भामिनी है। अगस्त्य मुनि के शाप से यह विशालराज की कन्या हुई थी ॥७॥ एक बार बाल्यावस्था में इसने खेलते हुए महर्षि अगस्त्य को क्रुद्ध कर दिया था। तब ऋषि ने इसे अभिशाप दिया था कि, तू मानुषी होगी ॥८॥ फिर हम लोगों ने मुनि से यह प्रार्थना की कि, हे विप्रर्षे ! यह बालिका है, इसने बालचापल्य के कारण ही आपका अपराध किया है। अतः इसके अपराध की उपेक्षा कर आप इसपर प्रसन्न हों ॥९॥ महामुनि अगस्त्य हमारी प्रार्थना से प्रसन्न होकर बोले,—इसे बालिका जानकर ही मैंने सामान्य अभिशाप दिया है, वह अन्यथा नहीं हो सकता है ॥१०॥ मेरी सुन्दर भौंहों वाली कल्याणी भामिनी नाम की कन्या ने इस प्रकार अगस्त्य के अभिशाप से विशालराज के घर जन्म-ग्रहण किया है ॥११॥ इसी कारण हम यहाँ आये हैं। मेरी पुत्री विशालराज की इस कन्या का आप पाणिग्रहण करें। इसी के गर्भ से आप को चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा ॥१२॥

मार्कण्डेय उवाच—

तथेत्युक्त्वेति तस्याश्च स पाणिं पार्थिवात्मजः ।
जग्राह विधिवद्धोमं चक्रे तत्र च तुम्बुरुः ॥१३॥
प्रजगुर्देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
पुष्पाणि ससृजुर्मेघा देववाद्यानि सस्वनुः ॥१४॥
विवाहे राजपुत्रस्य तया तत्र समेयुषः ।
समस्तवसुधात्राणकर्तृकारणभूतया ॥१५॥
ततो गन्धर्वलोकं ते सह तेन महात्मना ।
निःशेषेण ययुः सा च स च राजसुतो मुने ! ॥१६॥
भामिन्या मुमुदे सार्द्धमवीक्षिन्नृपनन्दनः ।
सा च तेन समं तत्र भोगसम्पत्-समन्विता ॥१७॥
कदाचिदतिरम्येऽसौ नगरोपवने तथा ।
विक्रीडति समं तन्व्या कदाचिदुपपर्वते ॥१८॥
कदाचित् पुलिने नद्या हंससारसशोभिते ।
कदाचिद्भवनस्याऽन्ते प्रासादे चातिशोभने ॥१९॥
विहारदेशेष्वन्येषु रमणीयेष्वहर्निशम् ।
स रेमे सहितस्तन्व्या सा च तेन महात्मना ॥२०॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

गन्धर्व की बातें सुनकर राजपुत्र ने "ठीक है" कहकर स्वीकार कर लिया और प्रसन्नता से उस राजपुत्रीका पाणिग्रहण किया। उस समय गन्धर्वों के पुरोहित तुम्बरु ने यथाविधि होमकार्य सम्पन्न किया ॥१३॥ देव-गन्धर्वगण गाने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं, मेघों ने पुष्पवृष्टि की और देवदुन्दुभि बजने लगी ॥१४॥ (क्योंकि) पृथ्वी-मण्डल के पालनकर्त्ता की जनयित्री उस कुमारी के साथ राजपुत्र का विवाह हुआ था। अतः उस अवसर पर सभी उपस्थित हुए थे ॥१५॥ हे मुने! उस अवसर पर आये हुए समस्त गन्धर्व और उक्त वर-वधू महात्मा तुनय के साथ गन्धर्व-लोक में चले गये ॥१६॥ तब नृपतनय अवीक्षित भामिनी को पाकर आनन्दित हुआ और भोग सम्पत्ति से समन्वित भामिनी भी अवीक्षित को पाकर परितुष्ट हुई ॥१७॥ वह अवीक्षित उस कृशाङ्गी के साथ और वह उस महात्मा के साथ दिन-रात कभी नगरके उपवन में कभी पर्वतों के शिखर पर, कभी हंस-सारस-शोभित नदियों के पुलिनों में, कभी भवनों में, कभी मनोरम प्रासादों में और कभी रमणीय विभिन्न विहार-प्रदेशों में क्रीड़ा करने लगे ॥१८-२०॥

भक्ष्यानुलेपनं वस्त्रं स्त्रक्पानादिकमुत्तमम् ।
उपजह्रुस्तयोस्तत्र मुनिगन्धर्वकिन्नराः ॥२१।
तया च रमतस्तस्य भामिन्या सह दुर्लभे ।
गन्धर्वलोके वीरस्य पुत्रं सा सुषुवे शुभा ॥२२।
तस्मिन् जाते महावीर्ये गन्धर्वाणां महोत्सवः ।
बभूव मनुजव्याघ्रे तेन कार्यमवेक्षताम् ॥२३।
जगुः केचित्तथैवान्ये मृदङ्गपटहानकान् ।
अवादयन्त चैवान्ये वेणुवीणादिकांस्तथा ॥२४।
ननृतुश्च तथा तत्र बहवोऽप्सरसां गणाः ।
पुष्पवृष्टिमुचो मेघा जगर्जुर्मृदुनिस्वनाः ॥२५।
तथा कोलाहले तस्मिन् वर्त्तमानेऽथ तुम्बुरुः ।
प्रणयेन स्मृतोऽभ्येत्यजातकर्माकरोन्मुनिः ॥२६।
देवीं समाययुः सर्वे तथा देवर्षयोऽमलाः ।
पातालात्पन्नगेन्द्राश्च शेषवासुकितक्षकाः ॥२७।
तथा देवासुराणाञ्च ये प्रधाना द्विजोत्तम! ।
यक्षाणां गुह्यकानाञ्च वायवश्च तथाऽखिलाः ॥२८।

उन्हें मुनियों, गन्धर्वों और किन्नरों ने उत्तम उत्तम खाद्य, पेय, वस्त्र, माल्य, अपटन आदि उपहार प्रदान किये ॥२१॥

इस प्रकार उस दुर्लभ गन्धर्वलोक में भामिनी के साथ वीर राजकुमार के हास-परिहास, विहार करते हुए कल्याणी भामिनी को एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २२ ॥

हे मानवश्रेष्ठ ! महावीर्यशाली उस पुत्र के जन्म-ग्रहण करने पर उसके द्वारा भावी प्रयोजन की सिद्धि होगी, इस आशा से गन्धर्वों ने महोत्सव मनाया। इस पद्य में 'मनुज-व्याघ्रे' यह भी पाठ माना गया है। इस पाठ को मानने पर यह पुत्र का विशेषण होगा मानव केशरी महावीर्य शाली इस पुत्र के यह अर्थ होगा ॥ २३ ॥

उनमें से कोई गाने लगे और कोई मृदङ्ग, पटह (चौघड़ा), शहनाई, बाँसुरी, बोन आदि बाजे बजाने लगे। अप्सराएँ नाचने लगीं और समस्त मेघ फूल बरसाते हुए मृदु-मन्द शब्दों से गर्जना करने लगे। हे मुने ! इधर यह आनन्दमङ्गल हो रहा था कि, महात्मा तुनय के स्मरण करते ही तुम्बरु वहाँ उपस्थित हुए औरउन्होंने बालक का जातकर्म संस्कार उत्तम रीति से सम्पन्न किया। हे द्विजोत्तम ! क्रमशः समग्र देवगण, निष्पाप देवर्षिगण, पाताल से शेष, वासुकी, तक्षक प्रभृति पन्नगराजगण, समस्त वायु-दल तथा देवों, दानवों, यक्षों और गुह्यकों में से प्रधान-प्रधान व्यक्ति वहाँ आकर उत्सव में सम्मिलित हो गये ॥२४-२८॥

तदाऽऽगतैरशेषर्षिदेवदानवपन्नगैः ।
मुनिभिश्चाकुलमभूत् गन्धर्वाणां महत्पुरम् ।।२९।

ततः स तुम्बुरुः कृत्वा जातकर्मादिकां क्रियाम् ।
चक्रे स्वस्त्ययनं यस्य बालस्यस्तुतिपूर्वकम् ।।३०।

चक्रवर्त्ती महावीर्य्यो महाबाहुर्महाबलः ।
महान्तं कालमीशित्वमशेषायाः क्षितेः कुरु ।।३१।

इमे शक्रादयः सर्वे लोकपालास्तथर्षयः ।
स्वस्ति कुर्वन्तु ते वीर ! वीर्य्यश्चारिविनाशनम् ॥ ३२।

मरुत्तव शिवायास्तु वाति पूर्वेण योऽरजः ।
मरुत्ते विमलोऽक्षीणोऽवैषम्यायास्तु दक्षिणः ।।३३।

पश्चिमस्ते मरुद्वीर्यमुत्तमन्ते प्रयच्छतु ।
बलं यच्छतु चोत्कृष्टं मरुत्ते च तथोत्तरः ।।३४।

इति स्वस्त्ययनस्यान्ते वागुवाचाशरीरिणी ।
मरुत्तवेति बहुशो यदिदं गुरुरब्रवीत् ।।३५।

मरुत्त इति तेनायं भुवि ख्यातो भविष्यति ।
भुवि चास्य महीपाला यास्यन्त्याज्ञावशा यतः ।।३६।

उस प्रसङ्ग में उपस्थित सब ऋषियों, देवों, दानवों, पन्नगों, मुनियों से गन्धर्वों का वह महानगर व्याप्त हो गया ॥२९॥

जातकर्मादि कार्य समाप्त होने पर तुम्बरु ने स्तुतिपूर्वक बालक का इस प्रकार स्वस्तिवाचन (पुण्याहवाचन) करना प्रारम्भ किया ॥३०॥ हे वीर ! तुम महाबली, महावीर्यशाली, महाबाहु और सार्वभौम होकर दीर्घकाल तक समग्र पृथिवी का आधिपत्य करोगे ॥३१॥ ये समस्त इन्द्रादि लोकपाल और ऋषिगण तुम्हारा मङ्गल करें और तुम्हें ऐसा वीर्य प्रदान करें, जिससे तुम शत्रुओं का विनाश कर सको ॥३२॥ पूर्व दिशा में प्रवाहित होने वाला धूलिरहित मरुत् (वायु) तुम्हारा मङ्गल करे। अक्षीण और विमल दक्षिण-मरुत् तुम्हारो विषमता (मनोमालिन्य) दूर करे। पश्चिम मरुत् तुम्हें महावीर्य ओर उत्तर-मरुत् उत्कृष्ट बल प्रदान करे ॥३२-३४॥ इस प्रकार स्वस्त्ययन कार्य के समाप्त हाने पर आकाशवाणो हुई कि, गुरुजी ने जब कि, बार-बार 'मरुत्-मरुत्' शब्द का उच्चारण किया है, तब मरुत्त नाम से ही यह बालक भूमण्डल में विख्यात होगा ॥ ३५-३६ ॥

एष सर्वक्षितीशानां वीरः स्थास्यति मूर्द्धनि ।
चक्रवर्त्ती महावीर्य्यः सप्तद्वीपवतीं महीम् ।।३७।
आक्रम्य पृथिवीपालानयं भोक्षत्यवारितः ।
प्रधानः पृथिवीशानां भविष्यत्येष यज्विनाम ।।
आधिक्यं शौर्य्यवीर्य्येण भविष्यत्यस्य राजसु ।।३८।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्याकर्ण्य वचः सर्वे केनाप्युक्तं दिवौकसाम् ।
तुतुषुर्विप्रगन्धर्वाश्चास्य माता तथा पिता ।।३९।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणेऽवीक्षितचरित्रमाहात्म्यवर्णनं नाम सप्तविंशत्यधिक-शततमोऽध्यायः ।।१२७।।

समस्त महीपाल इसके आज्ञाधीन रहेंगे, महावीर्यशाली तथा चक्रवर्ती होकर भूपालों को अधीन करता हुआ सप्तद्वीपवती अनेक इस पृथ्वी का निर्विघ्न उपभोग करेगा यह बालक पृथ्वीश्वरों और बड़े-बड़े यज्ञ करनेवालों में श्रेष्ठ होगा तथा सब राजाओं को अपेक्षा शूरता-वीरता में भी श्रेष्ठता को प्राप्त करेगा ॥ ३७-३८ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

किसी देव से उक्त वाणी सुनकर वहाँ उपस्थित हुए सब विप्र, गन्धर्व और बालक के माता-पिता बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ३९ ॥



पर्यालोचन

यज्ञ

वेद-पुराण के अवलोकन से यह निश्चित है कि अतीत में ऋषिमुनिगण अनेक यज्ञों के अनुष्ठनों में अपने को व्यस्त रखते थे। राज्यसिंहासनारूढ़ क्षत्रिय भी अपनी परिधि के अनुसार यज्ञानुष्ठान करते थे। यज्ञ पारलौकिक फलप्राप्ति का ही साधन नहीं, वरन् लौकिक अभ्युदय का भी प्रधान साधन है। गीता में स्पष्ट निर्देश है कि यज्ञहीन का न यह लोक है और न परलोक। स्वाध्याय दान और तपस्या के साथ यज्ञ का भी निर्देश मिलता है (गीता ४।२१)। काल के परिप्रेक्ष्य में यज्ञ का रहस्य आज अवगत नहीं है। परीक्षित सत्य के रूप में आदर का विषय यज्ञ आज सम्यक् ज्ञान और विधि-पूर्वक अनुष्ठान के अभाव में एक निरर्थक आचारमात्र रह गया है। कात्यायन मुनि के श्रौत सूत्र के अनुसार देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग यज्ञ कहा जाता है। यह अनन्त निश्चितताओं से परिपूर्ण है तथा सूक्ष्म और गुप्त शक्तियाँ इसे संचालित करती हैं। देवता शक्तिस्वरूप तथा स्वभावतः निराकार होने पर भी प्रयोजन के अनुसार प्राकृत आकारसम्पन्न ही प्रतीत होते हैं। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" यह श्रुति ही इसकी निर्देशिका है। पारमार्थिक दृष्टि से यह भेद न रहने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से यह असत्य नहीं है। व्यक्त और अव्यक्त शक्ति के भेद से ये दो प्रकार के हैं। कार्यसाधन के लिए शक्ति को उद्‌बुद्ध करना पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को पञ्चाङ्ग सम्पन्न कहा गया है। ये पाँच अंग देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् और दक्षिणा हैं।

१. देवता

एक आत्मा की विभिन्न विभूतियाँ ही देवता हैं। इनका त्रिधा विभाग किया जा सकता है—१. आजानज देवता २. कर्मदेवता ३. आजान देवता

आजानज देवता और कर्मदेवता कर्म फल के भोक्ता हैं। वे दिव्य लोक में रहकर किये हुए कर्मों का फलभोग करते हैं। आजात देवता सूर्य, चक्र, वायु, वरुण, इन्द्र आदि के अन्तर्गत है। ये स्तुति और आहुति से सन्तुष्ट होकर कर्म का फल प्रदान करते हैं। ये दिव्य, साकार और ऐश्वर्य सम्पन्न हैं।

२. हविर्द्रव्य

यह आजान देवता को उपजीव्य अर्थात् जीवनाधार यज्ञ में दिया जाने वाला आहुति द्रव्य है। प्राचीन दृष्टि से इसका अर्थ आह्वान होता है। यजमान देवता का आह्वान करता है और देवता की संतुष्टि से अमृत रूप में परिणत करता है।

३. मन्त्र

यह शक्तिसम्पन्न शब्द राशि है जिसके प्रभाव से देवता के समीप हविर्द्रव्य भोग्य के रूप से पहुँचता है।

४. ऋत्विक्

यह विद्वान् ब्राह्मण यज्ञ सम्पादन के लिए आमन्त्रित किया जाता है।

५. दक्षिणा

फल प्राप्ति के लिए पारिश्रमिक स्वरूप देय द्रव्य है।

देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग रूप यज्ञ के और दीयमान द्रव्य के अग्नि में प्रक्षेप रूप होम के अनेक अवयव हैं—जो त्याग करता है, जिसके द्वारा करता है, जिसके उद्देश्य से त्याग करता है एवं जिसमें त्याग करता है। ये सभी होम के अंग हैं। सकाम और निष्काम कर्म का दृष्टि से यज्ञ का स्वरूप भिन्न है। कामनाओं के भेद से सकाम कर्म अनेक प्रकार के हैं। पुत्रेष्टि और कारीरी एक युक्त के साधक नहीं हैं। नित्य कर्म में युक्तानुसन्धान नहीं रहता। वैदिक युग की कर्ममयजीवन धारा यत्र के द्वारा परिस्फुटित होती है। जीवन में अग्निदेवता का उच्चतम स्थान था। तीनों आश्रमों में, तीनों वर्णों के लिए अग्नि की परिचर्या और उपासना प्रचलित थी। अरणिमन्थन की प्रणाली प्रचलित थी। शमी गर्भ अर्थात् शमी के वृक्ष पर उत्पन्न पीपल के वृक्ष की पूर्वमुख या उत्तरमुख या ऊपर की ओर फैली हुई शाखा को पीछे की ओर देखे बिना उसे काटकर उस काठ से अधरारणि और उत्तरारणि का निर्माण होता था। अरणि की लम्बाई २४ अंगुल, चौड़ाई ६ अंगुल, ऊँचाई ४ अंगुल होती थी। मनुष्य के रूप में उसके अंग प्रत्यङ्ग की कल्पना की जाती थी। अग्निम-धन कार्य में प्रमन्थ, चात्र, सोविली, नेत्र आदि उपकरणों की आवश्यकता होती थी। अर्थात् जिस काष्ठ में रस्सी अन्दर कर मन्थन किया जाता है वह चात्र है या १२ अंगुल का होता है। चात्र के ऊपर छेद वाला काष्ठ ओवीली (१२ अंगुल का), नेत्र मन्थन रज्जू सन से बनायी जाती है अग्नि मन्थन के लिए अधोभाग में उत्तर अरणि के काष्ठ से अलग ८ अंगुल की कील का नाम कमल है। मन्थन काल में कृष्णसार मृग के चर्म पर रखने का विधान है। नौपासना होम, वैश्वदेव, अण्टका मासिक श्राद्ध, श्रवणा, शूलगव—ये पाकयज्ञ हैं। इसी प्रकार पक्षादि कर्म भी है। क्षमा और पूर्णिमा के चतुर्थांश और प्रतिपदा के तीन अंशों को यज्ञकाल माना गया है।

वैश्वदेवयज्ञ—यह देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, महायज्ञ और ब्रह्मयज्ञ—इन पाँच महायज्ञों के अपर पर्याय हैं। इसका प्रतिदिन अनुष्ठान आवश्यक माना जाता था। पार्वण अमावस्या को किया जाने वाला नित्यकर्म है। अष्ट का श्राद्ध हेमन्त और

शिशिर दो ऋतुओं के ४ महीनों में कृष्णाष्टमी के दिन किया जाता है। मासिक श्राद्ध प्रतिमास किया जाता है।

श्रमणाकर्म—श्रावण मास की पूर्णिमा से अगहन मास तक प्रतिदिन सन्ध्या समय सर्पों के लिए घृतमिश्रित सत्तु का बलिदान है।

शूलगव—इस यज्ञ का कलियुग में निषेध है। यह गृह्यकर्म है। श्रौतकर्म श्रौत अग्नि के साधन से किए जाते हैं। यह अग्नि तीन प्रकार की है—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। तीनों की एक ही दिन स्थापना होती है। प्रत्येक अग्नि का दण्ड भिन्न भिन्न होता है। आहवनीय का चौकोर, गार्हपत्य का गोलाकार, दक्षिणाग्नि का अर्धचन्द्राकार। श्रौत्र अग्नि की जन्म भर रक्षा करनी पड़ती है। पिता के जीवित रहते अग्निहोत्री होने पर ही पुत्र का आधान में अधिकार होता है। श्रौत कर्म हवि संस्था और सोम संस्था के अनुसार दो प्रकार के हैं।

दर्शपौर्णमास—अमावस्या और पूर्णिमा को किया जाता है। आधान के पश्चात् यदि अमावस्या पड़ जाय, तब भी उसमें इष्टि न कर सकनेवाली पूर्णिमा से ही इष्टि को आरम्भ करना चाहिए। दर्शेष्टि बाद में होती है।

चातुर्मास्य—इसके ४ पर्व हैं। बलिवैश्य देव फाल्गुन की पूर्णिमा, वरुणप्रधान आषाढ़ पूर्णिमा से, काकभेद कार्तिक पूर्णिमा से, शुनासीरीय फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा से।

मेरुद्रपशु—यह प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में किया जाता है।

आग्रायणेणिया नवाभेष्टि—यह नवीन मन्त्र उत्पन्न होने के बाद किया जाता है।

सौत्रामणि—यह एक पशुयाग है। इसमें होम के लिए जो दूध के साथ सुरा का भी प्रयोग होता है। सुराग्रह का देवता सुत्रामा है। इसलिए इसका नाम सौत्रामणि है। कलियुग में सुरा निषिद्ध है इसलिए पयोग्रह की व्यवस्था है।

सोमयाग—इसे ही अग्निष्टोम भी कहा जाता है। सोमवता से रस निकालकर उससे होम होता था यद्यपि यह एक ही दिन में सम्पन्न होता है, किन्तु अंगों के साथ अनुष्ठान करने प्रर पाँच दिन लगते हैं। इसमें १६ ऋत्विजों की आवश्यकता होती है।

वाजपेय—यह ब्राह्मण और क्षत्रियों के द्वारा शरद काल में निषेध है।

राजसूय—इसमें राजसिंहासनारूढ़ क्षत्रिय कार्य करता था।

अश्वमेध—यह एक प्रकार का सोमयाग है, चक्रवर्ती राजा इसका अधिकारी होता है।

दिनों के हिसाब से यज्ञ के बहुत भेद हैं। इन यज्ञों का गीता के अनुसार जपयज्ञ में उपसंहार किया गया है। यज्ञों में आत्मत्याग श्रेष्ठ है। यद्यपि यज्ञ कर्म का

बोधक है किन्तु देह, इन्द्रिय, अहंकार और चित्त की शुद्धि के अनन्तर विशिष्ट ज्ञान इसका फल है। त्याग और ग्रहण इसके मूलाधार हैं। यज्ञ को विष्णु के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है—यज्ञो वै विष्णुः। तांत्रिक दृष्टि से, ध्यानरूप मन्थन से कुंडलिनी का जागरण ही प्रधान है। अतः यज्ञ का विशेष महत्व है किन्तु यज्ञ की अपेक्षा तपस्या का प्राधान्य है। क्योंकि वह जपयज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का मरुत्त-जन्मकथन नामक एक सौ सत्ताईसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स राजपुत्रस्तमादाय दयितं सुतम् ।
पत्न्या चाश्वानुगतो विप्र गन्धर्वैराययौपुरम् ॥१॥
स पितुर्भवनं प्राप्य ववन्दे पितुरादरात् ।
चरणौ सा च तन्वङ्गी ह्रीमती नृपतेः सुता ॥२॥
तथाह राजपुत्रोऽसौ गृहीत्वा बालकं सुतम् ।
धर्म्मासनगतं भूपं राज्ञां मध्ये करन्धमम् ॥३॥
मुखं पौत्रस्य पश्यैतदुत्सङ्गस्थस्य यन्मया ।
किमिच्छके प्रतिज्ञातं तुभ्यं मातुः कृते पुरा ॥४॥
इत्युक्त्वा पितुरुत्सङ्गे तं कृत्वा तनयं ततः ।
यथा वृत्तमशेषं स कथयामास तस्य तत् ॥५॥
स परिष्वज्य तं पौत्रमानन्दास्त्राविलेक्षणः ।
सभाग्योऽस्मीत्यथात्मानं प्रशशंस पुनः पुनः ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे क्रौष्टुकि मुनि ! अनन्तर राजपुत्र अपने नवजात प्रिय पुत्र और पत्नी को साथ लेकर पिताकी राजधानी में लौट आया और उसे विदा करते समय नगर तक गन्धर्वगण पैदल ही पहुँचाने आये थे ॥ १ ॥ पिता के पास पहुँचकर राजपुत्र ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रथम प्रणाम किया और फिर उस कृशाङ्गी राजकन्या ने भी लज्जासे नीचा सिर कर प्रणाम किया ॥ २ ॥ अनन्तर जब कि महाराज करन्धम धर्मासन पर विराजमान थे, सब सामन्त राजाओं के सामने राजपुत्र ने नवजात कुमार को उठा कर महाराज से कहा ॥ ३ ॥ इससे पहिले मां के किमिच्छकव्रत ग्रहण करते समय आपके समीप मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसके अनुसार हे पिताजो ! इस अपने पौत्र को गोद में लेकर इसका मुख अवलोकन कीजिये ॥ ४ ॥ यह कहकर राजपुत्र ने अपने कुमार को पिता की गोद में रख दिया और जो हुआ था उन सभी वृत्तान्तों का विस्तृत रूप से निवेदन किया ॥ ५ ॥ राजा की आंखों में आनन्दाश्रु छलकने लगे। पौत्र को उसने छाती से लगा लिया और "मैं सौभाग्यवान् हुआ हूँ" यह कहते हुए वह अपनी आप ही प्रशंसा करने लगा ॥ ६ ॥

ततः सोऽर्घ्यादिना सम्यक् गन्धर्वान् समुपागतान् ।
सम्मानयामास मुदा विस्मृतान्यप्रयोजनः ॥७॥

ततः पुरे महानासीदानन्दः पौरवेश्मसु ।
अस्माकं सन्ततिर्जाता नाथस्येति महामुने ! ॥८॥

हृष्टपुष्टे पुरे तस्मिन् गीतवाद्यैर्वराङ्गने ।
विलासिन्योऽतिचार्वङ्ग्यो ननृतुर्लास्यमुत्तमम् ॥९॥

राजा च द्विजमुख्येभ्यो रत्नानि च वसूनि च ।
गावां वस्त्राण्यलङ्कारानददद्धृष्टमानसः ॥१०॥

ततः स बालो ववृधे शुक्लपक्षे यथा शशी ।
पितॄणां प्रीतिजनको जनस्येष्टश्च सोऽभवत् ॥११॥

आचार्य्याणां सकाशात् सा प्राग्वेदान् जगृहे मुने ! ।
ततः शस्त्राण्यशेषाणि धनुर्वेदं ततः परम् ॥१२॥

कृतोद्योगो यदा सोऽभूत् खड्गकार्मुककर्मणि ।
अन्येषु च तथा वीरः शस्त्रेषु विजितश्रमः ॥१३॥

ततोऽस्त्राणि स जग्राह भार्गवाद् भृगुसम्भवात् ।
विनयावनतो विप्र ! गुरोः प्रीतिपरायणः ॥१४॥

फिर आनन्दोच्छ्वास के कारण अन्यान्य सब कार्यों को भुलाकर उसने आये हुए गन्धर्वों को अर्घ्य आदि के द्वारा सम्मानित किया ॥ ७ ॥

हे महामुने ! राजा को पौत्र का लाभ हुआ है, यह समाचार नगर में फैलते ही जनता ने यह कहते हुए कि, हमारी रक्षा करने वाला राजा को सन्तति हुई है, घर-घर में आनन्दोत्सव मनाया गया ॥ ८ ॥

उस आनन्दपूर्ण नगर के विशाल आंगनों में अनेक सुन्दरी विलासिनी सुन्दर अङ्गोंवाली स्त्रियाँ एकत्र होकर गाने, बजाने और उत्तम नृत्य करने लगीं (प्रकृत पद्य में 'वराङ्गना' पाठ भी दिया है। किन्तु यह 'वराङ्गनाः' होनी चाहिए, इस पाठ को मानने पर सुन्दर अङ्गोंवाली स्त्रियाँ यह अर्थ होगा, किन्तु पुनरुक्ति होगी) ॥ ९ ॥

राजा ने प्रसन्न चित्त से अनेक प्रमुख ब्राह्मणों को बहुत से रत्न, धन, वस्त्र, अलङ्कार और गायें दी ॥ १० ॥ क्रमशः वह बालक शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह बढ़ता हुआ माता-पिताको आनन्दित करने लगा तथा जनसाधारण का प्यारा हो गया ॥ ११ ॥ हे मुने ! उस बालक ने यथा समय आचार्यों के पास जाकर प्रथम वेद, फिर सब शास्त्र और अनन्तर धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की ॥ १२ ॥ फिर वह वीर बालक कष्टसहिष्णु होकर खड्ग, धनु तथा अन्यान्य शास्त्रों के प्रयोगों की शिक्षा के लिये उद्योगी हुआ ॥ १३ ॥ हे विप्र ! वह बड़ा ही विनयशील और गुरु की सेवा परायण था। उसने भृगुवंशीय भार्गव से समस्त अस्त्र ग्रहण कर लिये थे ॥ १४ ॥

गृहीतास्त्रः कृतौ वेदे धनुर्वेदस्य पारगः ।
निष्णातः सर्वविद्यासु न बभूव ततः परः ॥१५॥
विशालोऽपि सुतावार्त्तामुपलभ्याखिलामिमाम् ।
हर्षनिर्भरचित्तोऽभूद्दौहित्रस्य च योग्यताम् ॥१६॥
अथ राजा सुतसुतं दृष्ट्वा प्राप्तमनोरथः ।
यज्ञाननेकान् निष्पाद्य दत्त्वा दानानि चार्थिनाम् ॥१७॥
कृताशेषक्रियो युक्तः सवर्णैर्धर्मतो महीम् ।
परिपाल्यारिविजयी बलबुद्धिसमन्वितः ॥१८॥
स यियासुर्वनं पुत्रमवीक्षितमभाषत ।
पुत्र ! वृद्धोस्मि गच्छामि वनं राज्यं गृहाण मे ॥१९॥
कृतकृत्योऽस्मि नास्त्यन्यत् किञ्चित् त्वदभिषेचनात्
सुनिष्पन्नमतो राज्यं त्वं गृहाण मयार्पितम् ॥२०॥
इत्युक्तः पितरं प्राह सोऽवीक्षिन्नृपनन्दनः ।
प्रश्रयावनतो भूत्वा यियासुस्तपसे वनम् ॥२१॥
नाऽहं तात करिष्यामि पृथिव्याः परिपालनम् ।
नापैति ह्रीर्मे मनसो राज्येऽन्यं त्वं नियोजय ॥२२॥

थोड़े ही दिनों से वह सकल अस्त्रों में कुशल, धनुर्विद्यापारग, वेदोक्त कर्म करने वाला और सब विद्याओं का पारदर्शी हो गया। उस समय उसके समान इन सब गुणों में कोई भी श्रेष्ठ नहीं था। अपनी कन्या की सब बातें और नाती की योग्यताको जानकर विशालराज का हृदय भी प्रसन्नता से फूल उठा॥ १५-१६ ॥ पौत्रका मुख अवलोकन करने से सफलमनोरथ होकर समरविजयी, बल और बुद्धिसम्पन्न राजा करन्धम ने अनेक यज्ञ किये, याचकों को विपुल दान दिया और बहुत से सत्कर्मों का साधन किया। फिर समाधानपूर्वक धर्मानुसार पृथ्वी-पालन करते पर कुछ कालके उपरान्त वन जाने की इच्छा से उसने अपने पुत्र अवीक्षित से कहा,—हे पुत्र ! मैं वृद्ध हो गया हूँ और अब मैं वन में जाना चाहता हूँ, इस कारण तुम इस राज्यको ग्रहण करो ॥१७-१९॥ मैं सब विषयों में कृतार्थ हो गया हूँ, अब तुम्हें अभिषेक करना ही शेष रह गया है। अतः मेरे दिये और अच्छी तरह निष्पन्न इस राज्य के भारको तुम उठाओ ॥ २० ॥ राजपुत्र अवीक्षित पिता के द्वारा इस प्रकार कहने पर तपस्या के लिए वनगमनकी इच्छा वाले पिता से विनय के साथ कहा ॥ २१ ॥

हे पितृदेव ! मैं राज्यशासन नहीं करना चाहता; क्योंकि मेरी वह लज्जा दूर नहीं हो रही है। अतः आप अन्य किसी को पृथ्वीपालन के लिये नियुक्त कीजिये ॥ २२ ॥

तातेन मोक्षितो बद्धो न स्ववीर्यादहं यतः ।
ततः कियत्पौरुषं मे पुरुषैः पाल्यते मही ॥२३॥

योऽहं न पालनायालमात्मनोऽपि वसुन्धराम् ।
स कथं पालयिष्यामि राज्यमन्यत्र विक्षिप ॥२४॥

मन्त्री सधर्म्मः पुरुषो यश्चान्येनावद्रुह्यते ।
आत्माऽमोहाय भवतो बन्धनाद्येन मोक्षितः ।
सोऽहं कथं भविष्यामि स्त्रीसधर्म्मा महीपतिः ॥२५॥

पितोवाच—

न भिन्न एव पुत्रस्य पिता पुत्रस्तथा पितुः ।
नान्येन मोक्षितो वीर यस्त्वं पित्रा विमोक्षितः ॥२६॥

पुत्र उवाच—

हृदयं नान्यथा नेतुं मया शक्यं नरेश्वर ।
हृदये ह्रीर्ममातीव यस्त्वहं मोक्षितस्त्वया ॥२७॥

मेरे बद्ध होने पर पिता के द्वारा छुटकारा हुआ था, अपने पराक्रम से मैं बन्धनमुक्त नहीं हो सका। ऐसी अवस्था में मेरा पौरुष ही क्या रहा ? पुरुष ही पृथ्वीपालन किया करते हैं ॥ २३ ॥

मैं अपनी ही रक्षा करने में जब असमर्थ हूं, तब समस्त भूमण्डल की रक्षा कैसे कर सकूँगा ? अतः किसी अन्य को ही आप राज्य का भार सौंपिये ॥ २४ ॥

अच्छा परामर्श देनेवाला और धर्मशील होने के कारण जिसे मोहके वशीभूत नहीं होना चाहिये, वह व्यक्ति (मैं) जब शत्रुओं से पराजित होता है और आपके द्वारा बन्धनमुक्त किया जाता है, तब स्त्री जाति समानधर्मा होने से मैं महीपति कैसे हो सकता हूँ ? इस पद्य में सस्त्री सधर्मा यह पाठ भी है। इस पाठ के अनुसार जो किसी से पराजित हो जाता है वह स्त्री के समान धर्मवाला पुष होता है—यह अर्थ होगा। वस्तुतः यह पाठ ठीक है ॥ २५ ॥

पिता ने कहा—

हे वीर ! पिता पुत्र से और पुत्र पिता से स्वतन्त्र नहीं होता। अतः मेरे द्वारा बन्धनमुक्त होने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि, तुम किसी पराये के द्वारा बन्धन मुक्त किये गये हो ॥ २६ ॥

पुत्र ने कहा—

हे नरेश्वर ! मैं अपने हृदय के आवेग को रोक नहीं सकता हूँ। आपके द्वारा बन्धनमुक्त होने के कारण मेरे हृदय में निरतिशय लज्जा है ॥ २७ ॥

पित्रोपात्तां श्रियं भुङ्क्ते पित्रा कृच्छ्रात् समुद्धृतः ।
विज्ञायते च यः पित्रा मानवः सोऽस्तु नो कुले ॥२८॥
स्वयमर्ज्जितवित्तानां ख्यातिं स्वयमुपेयुषाम् ।
स्वयं निस्तीर्णकृच्छ्राणां या गतिः साऽस्तु मे गतिः ॥२९॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्याह बहुशः पित्रा यदाप्युक्तोऽप्यसौ मुने ।
तदा तस्य सुतं राज्ये मरुत्तमकरोन्नृपम् ॥३०॥
स पित्रा समनुज्ञातं राज्यं प्राप्य पितामहात् ।
चकार सम्यक् सुहृदामानन्दमुपपादयन् ॥३१॥
राजा करन्धमश्चापि वीरामादाय तां तथा ।
वनं जगाम तपसे यतवाक्कायमानसः ॥३२॥
तत्र वर्षसहस्रं स तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
विहाय देहं नृपतिः शक्रस्याप सलोकताम् ॥३३॥

जो व्यक्ति पिता की कमायी हुई सम्पत्ति का उपभोग करता है, विपत्ति के समय पिता के द्वारा उद्धार पाता है और पिता के नाम से ही परिचित होता है, वंश में उसके जैसे पुत्रका जन्मग्रहण न करना ही उत्तम है। जो स्वयं धन कमाता है, स्वयं प्रसिद्धि पाता है और स्वयं दुःखको पार कर जाता है, उसकी जो गति होती है, वही मुझे अभीष्ट है ॥२८-२९॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

हे मुने ! पिता के वारम्वार अनुरोध करने पर भी जब राजपुत्र ने यही उत्तर दिया, तब विवश होकर राजा करन्धम ने अपने पौत्र मरुत्तको राज्यासन पर राजा बनाया ॥ ३० ॥ मरुत्त पिता की अनुमति से पितामह के द्वारा राज्य प्राप्त कर सुहृदगण को प्रसन्न रखता हुआ उत्तम रीति से शासन कार्य करने लगा ॥ ३१ ॥ राजा करन्धम भी अपनी पत्नी वीरा को साथ लेकर काय, मन और वाणी को संयत कर तपस्या के लिये वन में चले गये ॥ ३२ ॥ नृपति करन्धम ने वहाँ सहस्र वर्षोंतक घोर तपस्या की और देह-विसर्जन कर इन्द्रलोक को प्राप्त किया ॥ ३३ ॥

सास्य पत्नी तदा वीरा वर्षाणाममरं शतम् ।
तपश्चचार विप्रर्षे जटिला मलपङ्किनी ।।३४।
सालोक्यमिच्छती भर्त्तुः स्वर्गतस्य महात्मनः ।
फल-मूलकृताहारा भार्गवाश्रमसंश्रया ।
द्विजातिपत्नीमध्यस्था द्विजशुश्रूषणारता ।।३५।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणेऽवीक्षितचरित्रमाहात्म्यवर्णनं नाम
अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१२८।।

पश्चात् पत्नी वीरा ने महर्षि भार्गव के आश्रम में आश्रय ग्रहण कर मुनिपत्नियों के साथ रहकर उनकी सेवा-शुश्रुषा करती हुई । स्वर्गगत अपने महात्मा पतिदेव की समलोकताप्राप्ति के निमित्त केवल फल-मूल का भक्षण करती रही, तपकी कठोरता से उसके केशों की जटायें बध गयी थीं और शरीर मलिन हो गया था पति के पश्चात् दिव्य सौ वर्षोंतक वह तपस्या के आचरण में ही निमग्न रही ।। ३४-३५ ।।



पर्यालोचन

मार्कण्डेय पुराण में दीप्ति से ही नारियों की उत्पत्ति कही गई है। चक्रवर्ती राजा की उत्पत्ति में अप्सरा का विशिष्ट सम्बन्ध है। अतः, अप्सरा और गन्धर्व का अर्थ वैदिक दृष्टि से दीप्ति होता है इसका दिग्दर्शन देना उचित है।

वेद में भिन्न-भिन्न अर्थों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इन सभी अर्थों को यहाँ पर न दिखलाकर प्रक्रिया विशेष के किसी एक अर्थ पर प्रकाश डाला जायेगा। यजुर्वेद (१८।३९) में सूर्यको गन्धर्व और उसकी किरणों को अप्सरस् कहा गया है। इससे पूर्व और अगले मन्त्रों में क्रमशः—अग्नि, चन्द्रमा, वायु, यज्ञ और मनको गन्धर्व तथा औषधियों, नक्षत्रों, जलों, दक्षिणा और ऋग् तथा सामों को क्रमशः उनकी अप्सरायें कहा गया है। इस समूचे प्रकरण का विचार करने से ज्ञात होता है कि सूर्य आदि पदार्थों को गन्धर्व कहकर उनके साथ सम्बद्ध तत्त्वों को अप्सरायें बतलाया गया है। कल्पित गन्धर्वों से अप्सराओं का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जाता है, वैसा ही सूर्य आदि पदार्थों के साथ अप्सरारूप में वर्णित वस्तुओं का भी सम्बन्ध उनके साथ पाया जाता है। इन मन्त्रों में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, यज्ञ और मनके पूर्व विशेषरूप से ऋताषाड संहत, सुषुम्णः, इषिर, भुज्यु और प्रजापति शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये शब्द विशेषार्थक हैं। ऋतका सहन करनेवाला होने से अग्नि ऋताषाड् और दिन तथा रात्रि को जोड़ने के कारण सूर्य संहत = साथ जोड़नेवाला है। इसी प्रकार सुखकारक होने से चन्द्रमा को सुषुम्न तथा शीघ्रगामी होने से वायुको इषिर कहा गया है। यज्ञ सबका पालक होने से भुज्यु और प्रजा का पालक होने से मन प्रजापति है। गन्धर्व और अप्सराओं के मिथुन भाव के समान अग्नि और सूर्य आदि पदार्थों के साथ औषधि और किरणों आदिका मिथुनभाव दर्शाया गया है। इन मन्त्रों का विवाहकृत्य में प्रयोग स्त्री-पुरुषको मिथुन भाव की शिक्षा देने के उद्देश्य से है। अग्नि आदिको गन्धर्व कहना तथा उनके साथ सम्बद्ध तत्त्वों को अप्सरा कहना यौगिक-प्रक्रिया के चमत्कारको दिखलाने के लिये है। जैसे—अग्नि सूर्य आदि में गन्धर्व प्रयोग यौगिक है, वैसे ही उनसे सम्बद्ध पदार्थों में अप्सरस् शब्द का प्रयोग भी यौगिक है और इस वर्णन से आख्यान-विषय अप्सरस् का कोई सम्बन्ध नहीं दिखलाई पड़ता।

यजुर्वेद में एक दूसरे स्थल (अ० १५।१५-१९) पर अग्नि, वायु, आदित्य, यज्ञ और मेघके वर्णन के साथ क्रमशः पुञ्जिकस्थला, क्रतस्थला, मेनका, सहजन्या, प्रम्लोचन्ती, विश्वाची, घृताची, उर्वशी और पूर्वचित्ति आदि दो-दो अप्सराओं का वर्णन है। ये अप्सरायें क्या हैं? और इनका अग्नि आदि पदार्थों से क्या सम्बन्ध है?— इत्यादि बातें विचारणीय हैं। इनपर विचार करने से किसी अच्छे परिणाम पर पहुँचने की आशा हो सकती है। इसी प्रकार से वेद के अन्य स्थलों पर भी इन अप्सरस् का सामान्य या विशेषरूप से वर्णन पाया जाता है। इन पर विशेष विचार करने से पूर्व यह निर्णय करना है कि "अप्सरा का अभिधेय अर्थ क्या है?" यह पहले कहा जा चुका है कि यौगिक प्रक्रिया के बल से भिन्न भिन्न प्रकरणों में इसके और भी अर्थ हो

सकते हैं, परन्तु यहाँ पर एक ही प्रक्रिया में इसकी अर्थसङ्गति लगाई जावेगी। अप्सराः पद अप् पूर्वक सृ धातु से औणादिक (४।२३७) असि प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। निरुक्त (५।१३) परँयास्क ने योगबल से इसका अर्थ अप्सारणी किया है। यद्यपि उसने अन्य अर्थों को भी दिखलाया है परन्तु यह अर्थ भी साथ लगा हुआ है। यास्क के इस अर्थ को विचारने से अप्सरा का अर्थ—जल में सरण करनेवाली अर्थात् विद्युत् निकलता है। प्रतीक में दिये गये मन्त्रों से भी यही भाव व्यक्त होता है।

'अप्सरा' का जल से सम्बन्ध

अप्सरा = अप्सारिणी विद्युत् है—यह भाव पहले व्यक्त किया गया है। अब जलके साथ इसके सम्बन्ध को देखना है। आख्यानों में अप्सराओं का जलसे सम्बन्ध बतलाया जाता है अतः जब विद्युत् को अप्सरा माना जायगा तो उसका भी जल से सम्बन्ध होना ही चाहिये। जलके साथ विद्युत् के सम्बन्ध को, थोड़ा भी विज्ञान पढ़ा व्यक्ति, भली प्रकार जानता है। इन दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है। विद्युत् का जलकी उत्पत्ति में भी प्रयोग होता है और उसके विश्लेषण में भी। विद्युत् से जहाँ हाइड्रोजन और आक्सीजनका संगतिकरण होता है वहाँ विश्लेषण काल में उसके सञ्चार से दोनों तत्त्व पृथक् पृथक् हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जलकी भी विद्युत् वाहक पदार्थ माना गया है। पुराणों में अप्सराओं की उत्पत्ति जल से कही गई है और इनका दीप्त्यात्मक दिव्य देवलोक माना है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का अवोक्षितचरित नामक एक सौ अट्ठाईसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ॥ १२८ ॥



एकोनत्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

भगवन् विस्तरात् सर्व्वं ममैतत् कथितं त्वया ।
करन्धमस्य चरितमवीक्षिच्चरितञ्च यत् ॥१॥
आवीक्षितस्य नृपतेर्मरुत्तस्य महात्मनः ।
श्रोतुमिच्छामि चरितं श्रूयते सोऽतिचेष्टितः ॥२॥
चक्रवर्त्ती महाभागः शूरः कान्तो महामतिः ।
धर्म्मविद्धर्म्मकृच्चैव सम्यक् पालयिता भुवः ॥३॥

मार्कण्डेय उवाच—

स पित्रा समनुज्ञातं राज्यं प्राप्य पितामहात् ।
धर्म्मतः पालयामास पिता पुत्रानिवौरसान् ॥४॥
इयाज सुबहून् यज्ञान् यथावत् स्वाप्तदक्षिणान् ।
ऋत्विक्पुरोहितादेश-रम्यचित्तो महीपतिः ॥५॥
तस्याप्रतिहतं चक्रमासीद्द्वीपेषु सप्तसु ।
गतिश्चाप्यनवच्छिन्ना ख-पाताल-जलादिषु ॥६॥

क्रौष्टुकि ने कहा—

हे भगवन् ! आपने करन्धम और अवीक्षित का समग्र चरित विस्तारपूर्वक कह सुनाया है ॥ १ ॥ अब अवीक्षितपुत्र महात्मा मरुत्त नृपति का चरित्र सुनना चाहता हूँ। सुना है कि, वह राजा बड़ा ही उद्यमी, चक्रवर्ती, महाभाग, शूर, सुन्दर, परम बुद्धिमान् धर्मज्ञ, धर्माचरणशील और अच्छा पृथ्वीपाल था ॥ २-३ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

पिता से अनुमोदित तथा पितामह से प्राप्त राज्य को पाकर मरुत्त जिस प्रकार पिता पुत्र का प्रतिपालन करता है, उसी प्रकार समस्त प्रजा का धर्मानुसार पालन करने लगा ॥ ४ ॥ याज्ञिकों और पुरोहितों के आदेश से प्रजापालन में मनोयोग करते हुए उस राजा ने अपर्याप्त दणिक्षा से युक्त यथाविधि अनेक यज्ञों को किया ॥ ५ ॥ सातों द्वीपों में उसका रथ अप्रतिहत-गति से दौड़ा करता था और आकाश, पाताल तथा जल में कहीं भी उसकी गति में बाधा नहीं होती थी ॥ ६ ॥

ततः प्राप्य धनं विप्र ! यथावत् स्वक्रियापरः ।
अयजत् स महायज्ञैर्देवानिन्द्रपुरोगमान् ॥७॥
इतरे च यथा वर्णाः स्वे स्वे कर्म्मण्यतन्द्रिताः ।
तदुपात्तधनाश्चक्रुरिष्टापूर्त्तादिकाः क्रियाः ॥८॥
पाल्यमाना मही तेन मरुत्तेन महात्मना ।
पस्पर्द्ध त्रिदशावास-वासिभिर्द्विजसत्तम ! ॥९॥
तेनातिशायिताः सर्वे केवलं न महीक्षितः ।
यज्विना देवराजोऽपि शतयज्ञाभिसन्धिभिः ॥१०॥
ऋत्विक् तस्य तु संवर्त्तो बभूवाङ्गिरसः सुतः ।
भ्राता बृहस्पतेर्विप्र ! महात्मा तपसां निधिः ॥११॥
सौवर्णो मुञ्जवान् नाम पर्व्वतः सुरसेवितः ।
पातितं तेन तच्छृङ्गं हृतं तस्य महीपतेः ॥१२॥
तेन यस्याखिलं यज्ञे भूमिभागादिकं द्विज ! ।
प्रासादाश्च कृताः शुभ्रास्तपसा सर्व्वकाञ्चनाः ॥१३॥
गाथाश्चाप्यत्र गायन्ति मरुत्तचरिताश्रयाः ।
सातत्येनर्षयः सर्व्वे कुर्व्वन्तोऽध्ययनं यथा ॥१४॥

हे विप्र ! उस स्वधर्मपरायण मरुत्त ने विपुल धन पाकर बड़े-बड़े यज्ञों के द्वारा इन्द्रादि देवों की पूजा की थी ॥ ७ ॥

अन्यान्य सब वर्णों के लोग अपने-अपने कर्मों में तत्पर रहकर राजा से प्राप्त धन के द्वारा इष्टापूर्तादि कर्म किया करते थे ॥ ८ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! महात्मा मरुत्त पृथ्वी का पालन करता हुआ स्वर्गवासी देवताओं के साथ स्पर्द्धा करने लगा ॥ ९ ॥ वह केवल सब राजाओं का ही अधीश्वर नहीं हुआ, किन्तु सैकड़ों यज्ञ करके देवराज-इन्द्र से भी बढ़ गया था ॥ १० ॥ हे विप्र ! अङ्गिरा के पुत्र और बृहस्पति के भ्राता तपोनिधि महात्मा संवर्त उसके ऋत्विज् थे ॥ ११ ॥ हे द्विज ! सुरगण से सेवित मुञ्जवान् नामक एक सुवर्णमय पर्वत है। संवर्त ने तपोबल से उसके एक शिखर को गिरा दिया और उसे उठाकर वे राजा के लिये ले आये ॥ १२ ॥ राजा की समस्त यज्ञभूमि और सब प्रासाद उन्होंने उस शिखर के द्वारा तपोबल से सुवर्णमय बना डाले ॥ १३ ॥ मरुत्त चरिताश्रित गाथाएँ उसी प्रकार गाई जाती थी जैसे ऋषिगण अनवरत वेद का अध्ययन करते हुए किया करते थे ॥ १४ ॥

मरुत्तेन समो नाभूद्यजमानो महीतले ।
सदः समस्तं यद्यज्ञे प्रासादाश्चैव काञ्चनाः ॥१५॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
विप्राणां परिवेष्टारः शक्राद्यास्त्रिदशोत्तमाः ॥१६॥
यथा यज्ञे मरुत्तस्य तथा कस्य महीपतेः ।
सुवर्णमखिलं त्यक्तं रत्नपूर्णगृहे द्विजैः ॥१७॥
प्रासादादिसमस्तञ्च सौवर्णं तस्य यत् क्रतौ ।
त्रयो वर्णा ह्यलभ्यन्त तस्मात् केचित् तथा ददुः ॥१८॥
तेन त्यक्तेन शिष्टा ये जनाः पूर्णमनोरथाः ।
ते च यज्ञान् यजन्त्येव देशे देशे पृथक् पृथक् ॥१९॥
तस्यैवं कुर्व्वतो राज्यं सम्यक् पालयतः प्रजाः ।
तपस्वी कश्चिदभ्येत्य तमाह मुनिसत्तम ! ॥२०॥
पितुर्माता तवाहेदं दृष्ट्वा तापसमण्डलम् ।
विषाभिभूतमुरगैर्मदोन्मत्तैर्नरेश्वर ! ॥२१॥
पितामहस्ते स्वर्यातः सम्यक् सम्पाल्य मेदिनीम् ।
तपश्चरणशक्ताऽहमिह चौर्व्वाश्रमे स्थिता ॥२२॥

मरुत्त के समान यजमान पृथ्वी पर नहीं हुआ। जिसके यज्ञ का समस्त मण्डप तथा प्रासाद काञ्चनमय बनाया गया ॥१५॥ जिसके यज्ञ में सुरेन्द्र सोमपान कर और ब्राह्मण दक्षिणा लाभ कर आनन्द से उछलने लगे और इन्द्रादि प्रधान देवता ब्राह्मणों को परोसने वाले बने ॥ १६ ॥ महीपति के यज्ञ के समान अन्य राजाओं के यज्ञ नहीं हुए थे। ब्राह्मण गण प्राप्त रत्नों से घर परिपूर्ण होने से सुवर्ण को छोड़ देते थे ॥ १७ ॥ इसके यज्ञ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों ने जैसी सुवर्णमय प्रासादादि अनेक वस्तुएँ प्राप्त की, वैसी अब तक किसने प्रदान नहीं की थी ॥ १८ ॥ इसी के यज्ञ में जो सकल शिष्ट व्यक्ति विपुल धन पाकर पूर्ण मनोरथ हुए, उन्होंने उसी धन से विभिन्न देशों में जाकर नाना प्रकार यज्ञ किये ॥ १९ ॥ हे मुनिसत्तम ! इस प्रकार उसके उत्तम राज्यशासन और प्रजापालन करने के समय, एकबार किसी तपस्वी ने आकर उससे कहा ॥ २० ॥ हे नरेश्वर ! कुछ तपस्वियों को मदोन्मत्त उरगों (सर्पों) के विष से अभिभूत हुए देखकर आपकी दादी ने आपको यह कहा है ॥ २१ ॥ तुम्हारे पितामह ने भलोभाँति पृथ्वी का पालन कर स्वर्ग में गमन किया है और मैं तपस्या करती हुई उरु ऋषि के आश्रम में निवास करती हूँ ॥ २२ ॥

साऽहं पश्यामि वैकल्यं तव राज्यं प्रशासतः ।
पितामहस्य ते नाभूद्यत् पूर्व्वेषाञ्च ते नृप ! ॥२३॥
नूनं प्रमत्तो भोगेषु सक्तो वाऽविजितेन्द्रियः ।
चारान्धता यतस्तेषां दुष्टादुष्टं न वेत्सि यत् ॥२४॥
पातालादभ्युपेतैस्तु भुजगैर्दंशशालिभिः ।
दष्टा मुनिसुताः सप्त दूषिताश्च जलाशयाः ॥२५॥
स्वेदमूत्रपुरीषेण दूषितञ्च हुतं हविः ।
अपराधं समुद्दिश्य दत्तो नागबलिश्चिरात् ॥२६॥
एते समर्था मुनयो भस्मीकर्त्तुं भुजङ्गमान् ।
किन्त्वेषां नाधिकारोऽत्र त्वमेवात्राधिकारवान् ॥२७॥
तावत् सुखं भूपतिजैर्भोगजं प्राप्यते नृप ।
अभिषेकजलं यावन्न मूर्द्ध्नि विनिपात्यते ॥२८॥
कानि मित्राणि कः शत्रुर्मम शत्रोर्बलं कियत् ।
कोऽहं के मन्त्रिणः पक्षे के वा भूपतयो मम ॥२९॥

हे नृप ! तुम्हारे पितामह और अन्यान्य पूर्वपुरुषों के राज्यकाल में जो विकलता कभी नहीं देखी गयी थी, वह तुम्हारे शासनकाल में देख रही हूँ ॥ २३ ॥

तुम निश्चित ही प्रमत्त अथवा अजितेन्द्रिय होकर भोग में आसक्त हो रहे हो और तुम्हारी चारान्धता[1] भी देखी जाती है। इसी से उन (चारों) के दुष्ट-अदुष्ट होने की पहिचान करने में तुम असमर्थ जान पड़ते हो ॥ २४ ॥ डसने वाले भुजङ्गों ने पाताल से आकर सात मुनिकुमारों को डस लिया है और अपने पसीने, मूत्र तथा पुरीष से सब जलाशयों और हवनीय द्रव्यों को दूषित कर डाला है। इसीसे मुनिगण 'अपराध हुआ है' यह जानकर नागों को बलिप्रदान कर रहे हैं ॥ २५-२६ ॥ वे मुनिगण भुजङ्गों को भस्मीभूत करने में समर्थ हैं। किन्तु यह (शासन करना) उनका विषय न होने से तुम ही इस कार्य के अधिकारी हो ॥ २७ ॥

हे नृप ! क्षत्रिय लोग तभी तक भोग-जनित सुख का लाभ कर सकते हैं, जब तक उनके ऊपर अभिषेक के जल का सिञ्चन न किया गया हो ॥ २८ ॥ कौन मित्र है, कौन शत्रु है, शत्रु के बल का परिमाण क्या है, मैं कौन हूँ, अपने पक्ष में कौन-कौन राजा हैं ॥ २९ ॥

---

१. राजाको 'चारचक्षु' कहते हैं। अर्थात् वह चारों (जासूसों) द्वारा राज्यभरको देखा करता है। जासूस ही उसकी आंखें हैं। वे बिगड़ जाने पर राजा 'चारान्ध' होकर राज्य की भलाई-बुराई देख नहीं सकता।

विरक्तो वा परैर्भिन्नः परेषामपि कीदृशः ।
कः सम्यगत्र नगरे विषये वा जनो मम ॥३०।
धर्म्मकर्म्माश्रयी मूढः कः सम्यगपि वर्त्तते ।
को दण्डयः परिपाल्यः कः के वा प्रेक्ष्या नरा मया ॥३१।
सन्धिभेदभयादत्र देशकालमवेक्षता ।
चारांश्च चारयेदन्यैरज्ञातान् भूपतिश्चरैः ॥३२।
सचिवादिषु सर्व्वेषु चरान् दद्यान्महीपतिः ॥३३।
इत्यादौ भूपतिर्नित्यं कर्म्मण्यासक्तमानसः ।
इयेद्दिनं तथा रात्रिं न तु भोगपरायणः ॥३४।
राज्ञां शरीरग्रहणं न भोगाय महीपते ।
क्लेशाय महते पृथ्वीस्वधर्म्मपरिपालने ॥३५।
सम्यक् पालयतः पृथ्वीं स्वधर्म्मञ्च महीपते ।
इह क्लेशो महान् स्वर्गे परमं सुखमक्षयम् ॥३६।
तदेतदवबुध्य त्वं हित्वा भोगान् नरेश्वर ।
पालनाय क्षितेः क्लेशमङ्गीकर्त्तुमिहार्हसि ॥३७।

कौन अपने से विरक्त है, कौन शत्रु भिन्न है, भली-भाँति मेरा है। शत्रुओं में भी कौन कैसा है, अपने नगर अथवा राज्य में कौन ठीक है और कौन व्यक्ति मेरा है और कौन धर्म-कर्म निरत है और कौन भूख बस रहा है धर्म-कर्म का सम्यग् पालन कर रहा है, दण्ड देने योग्य कौन है, और कौन पालन करने योग्य है, सन्धि-विग्रह के भय से देश-काल की विवेचना कर किसके प्रति दृष्टि रखनी चाहिये ? इन सब बातों को जाने के लिए राजा अपने गुप्तचरों से अपरिचित अन्य गुप्तचरों की नियुक्ति करता है। राजा अपने सचिव आदि पर भी गुप्तचरों को नियुक्त करे। ऐसे कामों में सदा ही दत्तचित्त राजा को दिन-रात लगे रहना चाहिये। भोगपरायण होना कदापि उसका कर्तव्य नहीं ॥ ३०-३४॥

हे महीपते ! राजा भोग के लिए शरीर धारण नहीं करता है। पृथिवी तथा स्वधर्म परिपालन के लिए वह महान् क्लेश सहने के लिए है ॥३५॥

स्वधर्म और पृथ्वी का पालन करते हुए इस जन्म में निरतिशय क्लेश सहने से ही राजा को परलोक में स्वर्ग आदि का अक्षय्य सुख प्राप्त होता है ॥३६॥ हे नरेश्वर ! इन बातों का विचार कर भोग का परित्याग करते हुए पृथ्वी पालन के लिये, कष्ट सहने के लिये, प्रस्तुत हो जाना ही तुम्हारे लिए कर्तव्य है ॥ ३७ ॥

इति वृत्तमृषीणां यद्व्यसनं त्वयि शासति।
भुजङ्गहेतुकं भूप चारान्धो नापि वेत्सि तत् ॥३८॥
बहुनात्र किमुक्तेन दुष्टे दण्डो निपात्यताम्।
शिष्टान् पालय राजंस्त्वं धर्मषड्भागमाप्स्यसि ॥३९॥
अरक्षन् पापमखिलं दुष्टैरविनयात् कृतम्।
समवाप्स्यस्य सन्दिग्धं यदिच्छसि कुरुष्व तत् ॥४०॥
एतन्मयोक्तं सकलं यत् तवाहं पितामही।
कुरुष्वैवं स्थिते यत् ते रोचते वसुधाधिप ॥४१॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे मरुत्तचरित्रवर्णनं नाम एकोनत्रिंशत्यधिक-शततमोऽध्यायः ॥१२९॥

हे भूप! तुम्हारे शासनकाल में ऋषियों को यह जो भुजङ्गों का सङ्कट प्राप्त हुआ है गुप्तचरों की अज्ञानता के कारण उसे तुम नहीं जान पाये ॥ ३८ ॥

अधिक कहने से क्या लाभ? हे राजन्! तुम दुष्टों को दण्ड दो और शिष्टों का पालन करो। इसी से तुम्हें धर्मफल का षष्ठ भाग प्राप्त होगा ॥ ३९ ॥

दुष्टजन औद्धत्य के कारण जो कुछ करें, उनको यदि तुम दण्ड न दोगे तो अवश्य ही पाप भागी होंगे। इस समय तुम जो अपना कर्तव्य ठीक समझो, वही करो ॥ ४० ॥

हे वसुधाधिप! मैं तुम्हारी पितामही हूँ, इसी से ये सब बातें कह रही हूँ। अब जैसा आचरण करने की तुम्हारी अभिरुचि हो, वही करो ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का मरुत्त-चरित नामक एक सौ उनतीसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

त्रिशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

इति तापसवाक्यं स श्रुत्वा लज्जापरो नृपः ।
धिङ्मां चारान्धमित्युक्त्वा निश्वस्य जगृहे धनुः ॥१॥
ततः स त्वरितं गत्वा तमौर्व्वस्याश्रमं प्रति ।
ववन्दे शिरसा वीरां मातरं पितुरात्मनः ॥२॥
तापसांश्च यथान्यायं तैश्चाशीर्भिरभिष्टुतः ।
दृष्ट्वा च तापसान् सप्त नागैर्दष्टान् सुतान् भुवि ॥३॥
निनिन्दात्मानमसकृत् पुरस्तेषां महीपतिः ।
उवाच चैतदद्याहं मद्वीर्य्यमवमन्यताम् ॥४॥
यत् करोमि भुजङ्गानां दुष्टानां ब्राह्मणद्विषाम् ।
तत् पश्यतु जगत् सर्व्वं सदेवासुरमानुषम् ॥५॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा जगृहे कोपादस्त्रं संवर्त्तकं नृपः ।
नाशायाशेषनागानां पातालोर्व्वीविचारिणाम् ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

तापस से इस प्रकार का सन्देश सुनकर राजा बड़ा ही लज्जित हुआ और लम्बी साँस भरकर बोला—मैं गुप्तचारान्ध हूँ, मुझे धिक्कार है। फिर अपना धनुष सजा कर शीघ्र ही वह और्व ऋषि के आश्रम में गया और वहाँ उसने सिर नवाकर पितामही वीरा तथा अन्य तपस्त्रियों को यथाविधि प्रणाम किया ॥ १-२ ॥

उन लोगों के द्वारा आशीर्वचन प्राप्त होने पर राजा ने उन साँप के काटे हुए सात तपस्वियों को, जिनका समाचार तापस से मिला था, भूमि पर पड़े हुए देखकर, मुनियों के समक्ष ही अपनी वारम्बार निन्दा करते हुए रोष से कहा—जब सभी साँप मेरे पराक्रम की अवमानना करके ब्राह्मणों का द्वेष कर रहे हैं, तब मैं आज उनकी क्या दशा करूँगा, उसे समस्त जगत् के देव, दैत्य और मनुष्य अवलोकन करें ॥ ३-५ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

यह कहकर भूपति ने पाताल और भूतल के सभी नागकुलों के विनाश के उद्देश्य से क्रोधपूर्वक संवर्तक नामक अस्त्र चलाया ॥ ६ ॥

ततो जज्वाल सहसा नागलोकः समन्ततः ।
महास्त्रतेजसा विप्र दह्यमानोऽनिवारितः ॥७॥
हा हा तातेति हा मातर्हा हा वत्सेति सम्भ्रमे ।
तस्मिन्नस्त्रकृते वाचः पन्नगानामथाभवन् ॥८॥
केचित् ज्वलद्भिः पुच्छाग्रैः फणैरन्यभुजङ्गमाः ।
गृहीतपुत्रदाराश्च त्यक्ताभरणवाससः ॥९॥
पातालमुत्सृज्य ययुः शरणं भामिनीं तदा ।
मरुत्तमातरं पूर्व्वं यया दत्तं तदाऽभयम् ॥१०॥
तामुपेत्योरगाः सर्व्वे सप्रणामं भयातुराः ।
सगद्गदमिदं प्रोचुः स्मर्य्यतां न पुरोदितम् ॥११॥
प्रणम्याभ्यर्च्चितं पूर्व्वं यदस्माभी रसातले ।
तस्य कालोऽयमायातस्त्राहि वीरप्रजायिनि ॥१२॥
पुत्रो निवार्य्यतां राज्ञि प्राणैः सायोज्यमस्तु नः ।
दह्यते सकलो लोको नागानामस्त्रवह्निना ॥१३॥
एवं सन्दह्यमानानामस्माकं तनयेन ते ।
त्वामृते शरणं नान्यत् कृपां कुरु यशस्विनि ॥१४॥

हे विप्र ! जिसका निवारण नहीं किया जा सकता है उस महान् अस्त्र के तेज से सारा नागलोक सहसा जलने लगा। उस अग्निकाण्ड से दग्ध होनेवाले भयभीत नागगण 'हा मातः ! हा तात ! हा वत्स !' कहते हुए आर्तनाद होने लगा ॥ ७-८ ॥

कोई सर्प पूँछ की अग्रभाग से तो कोई फण से जल गया। कोई-कोई तो वस्त्र-आभरणादि को वहीं फेंक कर स्त्री-पुत्रों के साथ पाताल छोड़कर मरुत्त-माता भामिनी के पास भागे। क्योंकि उन्हें उसने पहिले अभयदान किया था ॥ ९-१० ॥

भयातुर सब उरग उसके पास जाकर और उसे प्रणाम कर गद्गद होकर बोले—पहिले पाताल में प्रणाम और पूजा कर आपसे जो हमने प्रार्थना की थी, उसका स्मरण कीजिए। हे वीर जननि ! वही समय अब उपस्थित हो गया है ॥ ११-१२ ॥

इस समय आप हमारी रक्षा कीजिये। हे राज्ञि ! आप अपने पुत्र को रोक कर हमें प्राणदान करिए। समस्त नागलोक इस समय अस्त्र की आग से दग्ध हुआ जा रहा है ॥ १३ ॥

हे यशस्विनि ! आपका पुत्र हमें ऐसा जला रहा है कि, आपके अतिरिक्त हमारी रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं है। अतः आप ही हम पर कृपा कीजिए ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति श्रुत्वा वचस्तेषां संस्मृत्यादौ च भाषितम् ।
भर्त्तारमाह सा साध्वी ससम्भ्रममिदं वचः ॥१५॥

भामिन्युवाच—

पूर्वमेव तवाख्यातं पाताले यद्भुजङ्गमैः ।
प्रोक्तमभ्यर्थनापूर्व्वं ममासीत् तनयं प्रति ॥१६॥
त इमेऽभ्यागता भीता दह्यन्ते तस्य तेजसा ।
मामेते शरणं पूर्व्वं दत्तमेभ्यो मयाऽभयम् ॥१७॥
ये मां शरणमापन्नास्ते त्वां शरणमागताः ।
अपृथग्धर्म्मचरणा याताहं शरणं तव ॥१८॥
तन्निवारय पुत्रं त्वं मरुत्तं वचनात् तव ।
मया चाभ्यर्थितोऽवश्यं शममभ्युपयास्यति ॥१९॥

अवीक्षिदुवाच—

महापराधे नियतं मरुत्तः क्रोधमागतः ।
दुर्निवर्त्त्यमहं मन्ये तस्य क्रोधं सुतस्य ते ॥२०॥

नागा ऊचुः—

शरणागतास्तव वयं प्रसादः क्रियतां नृप ।
क्षतस्यार्त्तपरित्राण-निमित्तं शस्त्रधारणम् ॥२१॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

साध्वी भामिनी ने नागों के वचनों को सुनकर और अपने पहिले दिए हुए अभय-वचन को स्मरण कर पति से आदर के साथ इस प्रकार कहा ॥ १५ ॥

भामिनी ने कहा—

पाताल में नागों ने प्रार्थना-पूर्वक मेरे पुत्र के सम्बन्ध में मुझसे जो कुछ कहा था, वह मैं पहिले ही निवेदन कर चुकी हूँ। वे ही नाग इस समय अपने पुत्र के तेज से दग्ध हो रहे हैं। इसी से वे डरकर मेरे शरणापन्न हुए हैं। मैंने पहिले उन्हें अभयदान दिया है। देखिये, जो मेरे शरणागत हैं, वे आपके भी हैं। क्योंकि मैं पातिव्रत्य-पूर्वक आपकी शरण में रही हूँ। अतः पुत्र मरुत्त को रोकिये। वह आपके वचन और मेरे अनुरोध से अवश्य ही मान जायगा ॥ १६-१९ ॥

अवीक्षित ने कहा :—

इन नागों के महान् अपराधों के कारण ही मरुत्त क्रुद्ध हो गया है, यह निश्चित है। अतः तुम्हारे पुत्र के क्रोध का निवारण ऐसा सहज प्रतीत नहीं होता ॥२०॥

नागों ने कहा :—

हे नृप ! हम आपके शरणागत हैं, हमपर आप अनुग्रह कीजिये। क्षत्रिय लोग आर्त व्यक्तियों की रक्षा के लिये ही अस्त्रधारण किया करते हैं ॥२१॥

मार्कण्डेय उवाच—

नागानां तद्वचः श्रुत्वा भूतानां शरणैषिणाम् ।
तया चाभ्यर्थितः पत्न्या प्राहावीक्षिन्महायशाः ।।२२।
गत्वा ब्रवीमि तं भद्रे तनयं त्वरया तव ।
परित्राणाय नागानां न त्याज्याः शरणागताः ।।२३।
नोपसंहरते शस्त्रं यदि मद्वचनान्नृपः ।
तदस्त्रैर्वारयिष्यामि तस्यास्त्रं तनयस्य ते ।।२४।

मार्कण्डेय उवाच—

ततो गृहीत्वा स धनुरवीक्षित् क्षत्रियोत्तमः ।
भार्य्यया सहितः प्रायात् त्वरावान् भार्गवाश्रमम् ।।२५।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे मरुत्तचरित्रवर्णनं नाम त्रिशत्यधिक-
शततमोऽध्यायः ।।१३०।।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

महायश अवीक्षित ने शरणेच्छु उस नागों की प्रार्थना और पत्नी के अनुरोध को सुनकर कहा,—हे भद्रे ! मैं शीघ्र ही तुम्हारे पुत्र के पास जाकर नागों की रक्षा के लिये उससे कहता हूँ। शरणागत की उपेक्षा करना कदापि उचित नहीं है ।।२२-२३।। यदि तुम्हारे पुत्र मरुत्त राजा ने मेरे कहने से अपने अस्त्रों को नहीं रोका, तो मैं अपने अस्त्रों से उसके अस्त्रों का निवारण करूँगा ।।२२-२४।।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

अनन्तर क्षत्रिय-श्रेष्ठ अवीक्षित ने अपने धनुष को सञ्चित कर पत्नी के साथ शीघ्र ही भार्गवाश्रम की ओर प्रस्थान किया ।।२५।।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेय पुराण का मरुत्त-चरित सम्बन्धी एक सौ
तीसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



एकत्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

स तु तस्याः सुतं दृष्ट्वा गृहीतवरकार्म्मुकम् ।
धनुःशस्त्रञ्च तस्योग्रं ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम् ॥१॥

उद्गिरन्तं महावह्नि दीपिताखिलभूतलम् ।
पातालान्तर्गतं प्राप्तमसह्यं घोरभीषणम् ॥२॥

स तं दृष्ट्वा महीपालं भ्रूकुटीकुटिलाननम् ।
मा क्रुधस्त्वं मरुत्तास्त्रमुपसंह्रियतामिति ॥३॥

प्रहासकृत् त्वरालुप्त-वर्णक्रममुदारधीः ।
स निशम्य गुरोर्वाक्यं दृष्ट्वा तञ्च पुनः पुनः ॥४॥

गृहीतकार्म्मुकः पित्रोः प्रणिपत्य सगौरवम् ।
प्रत्युवाचापराद्धा मे सुभृशं पन्नगाः पितः ॥५॥

शासतीमां मयि महीं परिभूय बलं मम ।
सप्providedाश्रमसुपागम्य दष्टा मुनिकुमारकाः ॥६॥

ऋषीणामाश्रमस्थानाममीषामवनीपते ! ।
मयि शासति दुर्वृत्तैर्दूषितानि हवींषि च ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि नं कहा :—

अवीक्षित ने वहाँ जाकर देखा कि, भामिनी-पुत्र मरुत्त प्रचण्ड धनुष धारण किये है उस अति भीषण, उसके उग्र धनु अस्त्र की महावह्नि की ज्वालाओं से दिग् दिगन्तर व्याप्त हो गया है, पृथ्वी धधक रही है और उस अग्नि के पाताल में प्रवेश करने से वह पातालवासियों को भी असह्य हो उठा है ॥१-२॥ उदारचेता अवीक्षित ने राजा की भौंहें चढ़ी हुई देखकर हँसते हुए शीघ्रता से आगे बढ़कर कहा,—हे मरुत्त ! क्रोध न करो और अपने अस्त्र को रोक लो ॥३॥ मरुत्त ने पिता की वाणी सुनकर और उनकी ओर बारंबार देखकर, धनुष ताने हुए ही माता-पिता को प्रणाम कर सम्मान के साथ कहा,—हे पिताजो ! इन पन्नगों ने मेरा बड़ा अपराध किया है। मेरे शासनकाल में मेरे बल की अवज्ञा कर इन्होंने इस आश्रम में आकर सात मुनिकुमारों को डसा है ॥३-६॥ हे अवनीश्वर ! मेरे शासनकाल में इन दुवृत्तों ने इस आश्रम के ऋषियों के हवि तथा जलाशयों को दूषित कर दिया है ॥ ७ ॥

जलाशयास्तथाप्येतैः सर्व्वं एव हि दूषिताः ।
तदेतत् कारणं किञ्चिन्न वक्तव्यं त्वया पितः ।
न निवारयितव्योऽहं ब्रह्मघ्नान् प्रति पन्नगान् ॥८॥

अवीक्षिदुवाच—

यद्येभिर्निहता विप्रा यास्यन्ति नरकं मृताः ।
ममैतत् क्रियतां वाक्यं विरमास्त्रप्रयोगतः ॥९॥

मरुत्त उवाच—

अहमेव गमिष्यामि नरकं यदि पापिनाम् ।
न निग्रहे यताम्येषां मां निवारय मा पितः ॥१०॥

अवीक्षिदुवाच—

मामेतं शरणं प्राप्ताः पन्नगा मम गौरवात् ।
उपसंह्रियतामस्त्रमलं कोपेन ते नृप ॥११॥

मरुत्त उवाच—

नाहमेषां क्षमिष्यामि दुष्टानामपराधिनाम् ।
स्वधर्म्ममुल्लङ्घ्य कथं करिष्यामि वचस्तव ॥१२॥

अतः हे पितः ! इस सम्बन्ध में कुछ न बोलें और इन ब्रह्मघाती पन्नगों के विनाश-कार्य से मुझे निवृत्त न करें ॥ ८ ॥

अवीक्षित ने कहा :—

यदि इन्होंने ब्रह्महत्या की है, तो इन्हें मृत्यु के पश्चात् नरक प्राप्त होगा। तुम अस्त्र-प्रयोग को रोककर मेरे वचन की रक्षा करो ॥९॥

मरुत्त ने कहा :—

यदि मैं इनको दण्ड देने का प्रयत्न न करूँ, तो मुझे नरक में जाना होगा। अतः हे पिताजी ! मुझे न रोकिये ॥१०॥ मेरठ के संस्करण में दो चरण और दिये हैं, जो ठीक नहीं है।

अवीक्षित ने कहा :—

ये सब नाग मेरे शरणागत हुए हैं। अतः हे नृप ! मेरे गौरव रक्षा के लिए तुम क्रोध को संवरण कर अस्त्र को रोक लो ॥११॥

मरुत्त ने कहा :—

मैं इन अपराधियों को क्षमा नहीं करूँगा। मैं अपने धर्म का उल्लंघन कर आप के वचन की रक्षा कैसे करूँ ? ॥ १२ ॥

दण्डचे निपातयन् दण्डं भूपः शिष्टांश्च पालयन् ।
पुण्यलोकानवाप्नोति नरकाँश्चाप्युपेक्षकः ॥१३।

मार्कण्डेय उवाच—

एवं स बहुशः पित्रा वार्य्यमाणो यदा सुतः ।
नोपसंहरते सोऽस्त्रं ततोऽसौ पुनरब्रवीत् ॥१४।

अवीक्षिदुवाच—

हिंससे पन्नगान् भीतान् ममैतान् शरणं गतान् ।
वार्य्यमाणोऽपि तस्मात् ते करिष्यामि प्रतिक्रियाम् ॥१५।
मयाप्यस्त्राण्यवाप्तानि न त्वमेकोऽस्त्रविद् भुवि।
ममाग्रतः सुदुर्वृत्त ! पौरुषञ्च कियत् तव ॥१६।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः कार्म्मुकमारोप्य कोपताम्रविलोचनः ।
अवीक्षिदस्त्रं जग्राह कालस्य मुनिपुङ्गवः ॥१७।
ततो ज्वालापरीवारमरिसङ्घघ्नमुत्तमम् ।
कालास्त्रन्तु महावीर्य्यं योजयामास कार्म्मुके ॥१८।

दण्ड देने योग्य व्यक्तियों को दण्ड देकर और शिष्टों का प्रतिपालन कर भूपति अनेक पुण्यलोकों को प्राप्त करते हैं और इसकी उपेक्षा करने से उन्हें नरक भोगना पड़ता है ॥१३॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

इस प्रकार पिता के बारबार समझाने पर भी जब पुत्र मरुत्त ने नहीं माना, तब अवीक्षित ने फिर उससे कहा ॥१४॥

अवीक्षित ने कहा :—

ये पन्नगगण भयभीत होकर मेरे शरणापन्न हुए हैं। मेरे बारबार कहने पर भी जब तुम इनका संहार कर रहे हो, तब इसका प्रतीकार मैं अवश्य करूँगा ॥१५॥

भूमण्डल में अकेले तुम ही अस्त्रवेत्ता नहीं हो, मैंने भी अस्त्रसमूहों का लाभ किया है। हे दुर्वृत्त ! मेरे सामने तेरा पुरुषार्थ ही क्या है ? ॥१६॥

मार्ण्कडेय मुनि ने कहा —

हे मुनिपुङ्गव ! यह कह कर अवीक्षित ने क्रोध से लाल-लाल आँखें कर धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और कालास्त्र निकाल कर उस पर योजित किया; जो ज्वालाओं से व्याप्त महान् शक्तिशाली और शत्रुविनाशक था ॥१७-१८॥

ततश्चुक्षोभ जगती संवर्त्तास्त्रप्रतापिता ।
साब्धिशैलाऽखिला विप्र! कालस्यास्त्रे समुद्यते ॥१९॥
कालास्त्रमुद्यतं पित्रा मरुत्तः सोऽपि वीक्ष्य तत् ।
प्राहोच्चैरस्त्रमेतन्मे दुष्टशास्तिसमुद्यतम् ॥२०॥
न त्वद्वधाय कालास्त्रं मयि मुञ्चति किं भवान् ।
सद्धर्म्मचारिणि सुते सदैवाज्ञाकरे तव ॥२१॥
मया कार्य्यं महाभाग प्रजानां परिपालनम् ।
त्वयैवं क्रियते कस्मान्मद्वधायास्त्रमुद्यतम् ॥२२॥

अवाक्षित उवाच—

शरणागतसन्त्राणं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
तस्य व्याघातकर्त्ता त्वं न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥२३॥
मां वा हत्वास्त्रवीर्य्येण जहि दुष्टानिहोरगान् ।
त्वां वा हत्वाऽहमस्त्रेण रक्षिष्यामि महोरगान् ॥२४॥
धिक् तस्य जोवितं पुंसः शरणार्थिनमागतम् ।
यो नार्त्तमनुगृह्णाति वैरिपक्षमपि ध्रुवम् ॥२५॥
क्षत्रियोऽहमिमे भीताः शरणं मामुपागताः ।
अपकर्त्ता त्वमेवैषां कथं बध्यो न मे भवान् ॥२६॥

हे विप्र! मरुत्त के संवर्तकास्त्र से तपा हुआ गिरि-सागरों से युक्त सारा जगत् उस कालास्त्र के निकलते ही क्षुब्ध हो उठा ॥१९॥ उस कालास्त्र को धनुष से जोड़ा हुआ देखकर मरुत्त ने उच्च स्वर से कहा,—मेरा संवर्तकास्त्र दुष्टों को शान्ति के लिए समुद्यत हुआ है, आप के वध के लिये नहीं; फिर सत्पथावलम्बी और सर्वदा आपकी आज्ञा का पालन करने वाले पुत्र पर आप कालास्त्र क्यों छोड़ रहे हैं ॥२०-२१॥

हे महाभाग! प्रजापालन करना ही मेरा कर्तव्य है। आप मेरे विनाश के लिये ऐसे कठोर अस्त्र का प्रयोग क्यों कर रहे हैं? ॥२२॥

अवीक्षित ने कहा :—

मैंने शरणागत की रक्षा करने का सङ्कल्प कर लिया है। तुम उस कार्य में बाधा डाल रहे हो। तुम्हारे जीवित रहते हुए मैं शरणागतों की रक्षा नहीं कर सकता, अतः या तो तुम अपने अस्त्रबल से मेरा विनाश करके दुष्ट उरगकुलों का वध करो या मैं ही अपने अस्त्र की सहायता से तुम्हारा विनाश कर उरगों की रक्षा करूँगा ॥२३-२४॥ शत्रुपक्षीय व्यक्ति के भी विपन्न होकर शरण में आ जाने पर जो उसकी रक्षा नहीं करता, उस पुरुष के जीवन को धिक्कार है। मैं क्षत्रिय हूँ। भीत होकर ये मेरी शरण में आये हुए हैं और तुम इनके अपकर्ता हो रहे हो। फिर तुम कैसे अबध्य नहीं हो सकते हो? ॥२५-२६॥

मरुत्त उवाच—

मित्रं वा बान्धवो वापि पिता वा यदि वा गुरुः ।
प्रजापालनविघ्नाय यो हन्तव्यः स भूभृता ॥२७।
सोऽहं ते प्रहरिष्यामि न क्रोद्धव्यं त्वया पितः ।
स्वधर्म्मः परिपाल्यो मे न मे क्रोधस्तवोपरि ॥२८।

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्तौ निश्चितौ दृष्ट्वा परस्परवधं प्रति ।
समुत्पत्यान्तरे तस्थुर्मुनयो भार्गवादयः ॥२९।
ऊचुश्चैनं न मोक्तव्यं त्वयास्त्रं पितरं प्रति ।
त्वया च नायं हन्तव्यः पुत्रः प्रख्यातचेष्टितः ॥३०।

मरुत्त उवाच—

मया दुष्टा निहन्तव्याः सन्तो रक्ष्या महीक्षिता ।
इमे च दुष्टा भुजगाः कोऽपराधोऽत्र मे द्विजाः ॥३१।

अवीक्षिदुवाच—

शरणागतसन्त्राणं मया कार्य्यमयञ्च मे ।
अपराध्यः सुतो विप्रा यो हन्ति शरणागतान् ॥३२।

मरुत्त ने कहा :—

मित्र, बान्धव, पिता अथवा गुरु, जो कोई प्रजापालन में बाधा देंगे, राजा के लिये वे अवश्य ही वध्य हैं ॥२७॥ अतः हे पिताजी ! मैं आपपर प्रहार करूँगा, परन्तु इससे आप रुष्ट न हों। स्वधर्म पालन करना ही मेरा उद्देश्य है। आप पर मेरा किसी प्रकार का क्रोध नहीं है ॥२८॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

उन दोनों को परस्पर मार डालने के लिये तुले हुए देखकर भार्गवादि मुनिगण शीघ्रता से वहाँ आकर उपस्थित हुए और दोनों के बीच में खड़े होकर मरुत्त से बोले,— पितापर अस्त्र चलाना तुम्हें उचित नहीं है। फिर अवीक्षित से बोले,—तुम्हें भी अपने इस विख्यातकर्मा पुत्र को मारना योग्य नहीं है ॥२९-३०॥

मरुत्त ने कहा—

हे द्विजों ! मैं राजा हूँ। दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन करना, मेरा कर्तव्य है। ये भुजङ्गम दुष्ट हैं, इनको मैं मारता हूँ तो क्या अपराध करता हूं ? ॥३१॥

अवीक्षित ने कहा—

हे विप्रो ! शरणागत की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। जो पुत्र मेरे शरणागतों का नाश करता है, वह मेरे निकट अपराधी है ॥ ३२ ॥

ऋषय ऊचुः—

इमे वदन्ति भुजगास्त्रासलोलविलोचनाः ।
सञ्जीवयामस्तान् विप्रान् ये दष्टा दुष्टपन्नगैः ।।३३।
तदलं विग्रहेणोभौ राजवर्य्यौ प्रसीदताम् ।
उभावपि विनिर्मूढ प्रतिज्ञौ धर्म्मकोविदौ ।।३४।

मार्कण्डेय उवाच—

सा तु वीरा समभ्येत्य पुत्रमेतदभाषत ।
मद्वाक्यादेष ते पुत्रो हन्तुं नागान् कृतोद्यमः ।।३५।
तन्निष्पन्नं यदा विप्रास्ते जीविन्त तथा मृताः ।
संजीवन्तश्च मुच्यन्ते यद्यष्मच्छरणं गताः ।।३६।

भामिन्युवाच—

अहमभ्यर्थिता पूर्व्वमेभिः पातालसंश्रयैः ।
तन्निमित्तमयं भर्त्ता मयात्र विनियोजितः ।।३७।
तदेतदार्य्यनिर्वृत्तमुभयोरपि शोभनम् ।
मम भर्त्तुश्च पुत्रस्य त्वत्पौत्रास्यात्मजस्य च ।।३८।

ऋषियों ने कहा—

हे राजन् ! हे नरेश्वर ! जिनके नेत्र भय से चञ्चल हो रहे हैं, देखिये, वे भुजग क्या कह रहे हैं ? ये कहते हैं कि, साँप के काटने से जो मुनिकुमार मर गये हैं, उन्हें हम फिर जिला देते हैं ।। ३३ ।। अतः अब युद्ध करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता है । आप दोनों राजश्रेष्ठ प्रसन्न हों । आप दोनों धर्म के रहस्य को जानने वाले और प्रतिज्ञा को निबाहने वाले हैं ।। ३४ ।।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

इसी समय वीरा वहाँ उपस्थित होकर अवीक्षित से बोली,—मेरे ही कहने के अनुसार तुम्हारा पुत्र सर्पों का विनाश करने पर उद्यत हुआ था । जब विप्रगण पुनः जीवित हो रहे हैं, तो सभी काम बन गया और तुम्हारे इन शरणागतों के प्राण भी बच गये ।। ३५-३६ ।।

भामिनी ने कहा—

इन पाताल निवासी सर्पों ने पहिले मुझसे अभय वचन ले लिया था, इसी से मैंने पतिदेव से इनको बचाने के लिए अनुरोध किया था । इस समय मेरे स्वामी और पुत्र तथा आपके पुत्र और पौत्र का आर्योचित कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो गया है ।। ३७-३८ ।।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः सञ्जीवयामासुस्तान् विप्रांस्ते भुजङ्गमाः ।
दिव्यैरोषधिजातैश्च विषसंहरणेन च ।।३९।

पित्रोर्ननाम चरणौ स ततो जगतीपतिः ।
मरुत्तश्च स तं प्रीत्या परिष्वज्येदमब्रवीत् ।।४०।

मानहा भव शत्रूणां चिरं पालय मेदिनीम् ।
पुत्र-पौत्रैश्च मोदस्व मा च ते सन्तु विद्विषः ।।४१।

ततो द्विजैरनुज्ञातो वीरया च नरेश्वरौ ।
समारूढौ रथं सा च भामिनी स्वपुरं गता ।।४२।

वीराऽपि कृत्वा सुमहत् तपो धर्म्मभृतां वरा ।
भर्त्तुः सलोकतां प्राप्ता महाभागा पतिव्रता ।।४३।

मरुत्तोऽपि चकारोर्व्या धर्म्मतः परिपालनम् ।
विनिर्ज्जितारिषड्वर्गो भोगाँश्च बुभुजे नृपः ।।४४।

तस्य पत्नी महाभागा विदर्भतनया तथा ।
प्रभावती सुवीरस्य सौवीरी चाभवत् सुता ।।४५।

सुकेशी केतुवीर्य्यस्य मागधस्यात्मजाऽभवत् ।
सुता च सिन्धुवीर्य्यस्य मद्रराजस्य केकयी ।।४६।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

अनन्तर भुजङ्ग ने दिव्य औषधों के प्रयोग से एवं मृत ब्राह्मणों का सारा विष खींच कर उन्हें पुनः जिला दिया ।। ३९ ।। फिर महीपति मरुत्त ने माता-पिता के चरणों में विनयपूर्वक प्रणाम किया और अविक्षित ने भी मरुत्त को प्रेमपूर्वक छाती से लगाकर आशीर्वाद दिया ।। ४० ।। तुम शत्रुओं के गर्व का दमन करने वाले होगे, चिरकाल तक पृथ्वी का पालन करोगे, पुत्र-पौत्रों के साथ सुख से समय व्यतीत करोगे और तुम्हारे शत्रुओं का विनाश हो जायगा ।। ४१ ।। फिर मुनियों और वीरा से अनुज्ञा प्राप्त कर दोनों, राजा और भामिनी, रथ पर चढ़ कर अपने-अपने नगर में चले गये ।।४२।। काल पाकर धार्मिकों में श्रेष्ठ और महान् भाग्यवती पतिव्रता वीरा घोर तपश्चर्या करती हुई पतिदेव के सालोक्य को प्राप्त हुई ।। ४३ ।। नृपति मरुत्त भी अरिषड्वर्ग को पराजित कर धर्मानुसार पृथ्वी का पालन और नाना प्रकार के भोग-सुखों का उपभोग करने लगा ।। ४४ ।। विदर्भ कन्या महाभागा प्रभावती, सुवीरसुता सौवीरी, मगधेश्वर केतुवीर्य की कन्या सुकेशी, मद्रराज सिंधुवीर्य की सुता केकयात्मजा केकयी, सिंधुराज की पुत्री

केकयस्य च सौरिन्ध्री सिन्धुभर्त्तुर्वपुष्मती ।
चेदिराजसुता चाभूद्भार्य्या तस्य सुशोभना ॥४७॥
तासां पुत्रास्तस्य चासन् भूभृतोऽष्टादश द्विज ।
तेषां प्रधानो ज्येष्ठश्च नरिष्यन्तः सुतोऽभवत् ॥४८॥
एवं वीर्य्यो मरुत्तोऽभून्महाराजो महाबलः ।
तस्याप्रतिहतं चक्रमासीद्द्वीपेषु सप्तसु ॥४९॥
यस्य तुल्योऽपरो राजा न भूतो न भविष्यति ।
सत्त्वविक्रमयुक्तस्य राजर्षेरमितौजसः ॥५०॥
तस्यैतच्चरितं श्रुत्वा मरुत्तस्य महात्मनः ।
जन्म चाग्र्यं द्विजश्रेष्ठ मुच्यते सर्व्वकिल्बिषैः ॥५१॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे मरुत्तचरित्रवर्णनं नाम एकत्रिंशत्यधिक-
शततमोऽध्यायः ॥१३१॥

सैरन्ध्री और चेदिराज की कुमारी वपुष्मती, ये सब सुन्दरी स्त्रियाँ मरुत्त की पत्नियाँ थीं ॥ ४५-४७ ॥ हे द्विज ! इन सब पत्नियों से भूपति के अठारह पुत्र हुए, जिनमें नरिष्यन्त नामक पुत्र ज्येष्ठ और सर्वप्रधान था ॥ ४८ ॥ महाराज महाबली मरुत्त ऐसा पराक्रमी था कि, सातों द्वीपों में उसका रथचक्र अप्रतिहत गति था ॥ ४९ ॥ बल-विक्रम-शाली, अमित तेजा उस राजर्षि के समान अन्य कोई राजा नहीं हुआ और न भविष्यत् में ही होगा ॥ ५० ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! महात्मा मरुत्त के इस चरित्र का श्रवण करने से सब पापों से छुटकारा हो जाता है और देहान्त के पश्चात् श्रेष्ठ जन्म प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का मरुत्तचरित नामक एक सौ इकतीसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ।



द्वात्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

मरुत्तचरितं कृत्स्नं भगवन् ! कथितं त्वया ।
तत्सन्ततिमशेषेण श्रोतुमिच्छा प्रवर्त्तते ॥१॥
तत्सन्ततौ क्षितीशा ये राज्यार्हा वीर्य्यशालिनः ।
तानहं श्रोतुमिच्छामि त्वया ख्यातान् महामुने ॥२॥

मार्कण्डेय उवाच—

नरिष्यन्त इति ख्यातो मरुत्तस्याभवत् सुतः ।
अष्टादशानां पुत्राणां स ज्येष्ठः श्रेष्ठ एव च ॥३॥
वर्षाणाञ्च सहस्राणि सप्तति दश पञ्च च ।
बुभुजे पृथिवीं कृत्स्नां मरुत्तः क्षत्रियर्षभः ॥४॥
कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण इष्ट्वा यज्ञाननुत्तमान् ।
नरिष्यन्तं सुतं ज्येष्ठमभिषिच्य ययौ वनम् ॥५॥
एकाग्रचित्तः स नृपस्तप्त्वा तत्र तपो महत् ।
आरुरोह दिवं विप्र यशसावृत्य रोदसी ॥६॥

क्रौष्टुकी ने कहा—

भगवन् ! आपने सम्पूर्ण मरुत्त चरित को सुनाया है । अब उसकी सन्तान का वृत्तान्त विस्तृत रूप से श्रवण करने की इच्छा है ॥ १ ॥ हे महामुने ! विशेष रूप से उसके वंश के उन राजाओं का वृत्तान्त मैं आप से सुनना चाहता हूँ, जो राज्य करने के योग्य और वीर्यशाली हुए थे ॥ २ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

मरुत्त के अठारह पुत्रों में से नरिष्यन्त सर्वज्येष्ठ और श्रेष्ठ था ॥ ३ ॥ क्षत्रिय श्रेष्ठ मरुत्त ने सात हजार पन्द्रह वर्षों तक समग्र पृथ्वी का उपभोग किया था ॥ ४ ॥ उसने धर्मानुसार राज्य शासन और उत्तमोत्तम यज्ञानुष्ठान कर अन्त में पुत्र नरिष्यन्त को राज्याभिषिक्त कर वन में चला गया था ॥ ५ ॥ हे विप्र ! वन में जाकर नरपति मरुत्त ने एकाग्र चित्त से दीर्घ काल तक तपस्या की और फिर मृत्युलोक तथा स्वर्गलोक में यश को फैला कर स्वर्गारोहण किया ॥ ६ ॥

नरिष्यन्तः सुतः सोऽस्य चिन्तयामास बुद्धिमान् ।
पितुर्वृत्तं समालोक्य तथान्येषाञ्च भूभृताम् ।।७।
अत्र वंशे महात्मानो राजानो मम पूर्व्वजाः ।
यज्विनो धर्म्मतः पृथ्वीं पालयामासुरूर्ज्जिताः ।।८।
दातारश्चापि वित्तानां संग्रामेष्वनिवर्त्तिनः ।
तेषां कश्चरितं शक्तस्त्वनुयातुं महात्मनाम् ।।९।
किन्तु तेन कृतं कर्म्म धर्म्मंचमाहवनादिभिः ।
तदहं कर्त्तुमिच्छामि तच्च नास्ति करोमि किम् ।।१०।
धर्म्मतः पाल्यते पृथ्वी को गुणोऽत्र महीपतेः ।
असम्यक् पालनात् पापी नरेन्द्रो नरकं व्रजेत् ।।११।
सति वित्ते महायज्ञाः कर्त्तव्या एव भूभृता ।
दातव्यश्चात्र किं चित्रं सीदतामीश्वरो गतिः ।।१२।
आभिजात्यं तथा लज्जा कोपश्चारिजनाश्रयः ।
कारयन्ति स्वधर्म्मांश्च संग्रामादपलायनम् ।।१३।
एतत् सर्व्वं यथा सम्यङ्मत्पूर्व्वैः पुरुषैः कृतम् ।
पित्रा च मे मरुत्तेन तथा तत् केन शक्यते ।।१४।

मरुत्त के स्वर्ग सिधार जाने पर उसका बुद्धिमान् पुत्र नरिष्यन्त अपने पिता तथा पूर्ववर्ती नरेशों के आचरण और व्यवहार पर विचार करने लगा ॥ ७ ॥

इस वंश के सभी पूर्व पुरुष महात्मा नरेश अनेक यज्ञों के अनुष्ठाता, प्रबल पराक्रमी, धनदाता, संग्राम में पीछा न देखने वाले और धर्मानुसार पृथ्वी पालन करने वाले हुए हैं ॥ ८ ॥ उन महात्माओं के चरित्र का अनुकरण करने में कौन समर्थ हो सकता है ? हवन आदि के द्वारा उन्होंने कौन सा धर्म-कर्म सम्पन्न नहीं किया ? उन्हीं का अनुसरण करने की मेरी इच्छा है सही, परन्तु यह सहज बात नहीं है, मैं क्या करूँ ॥ ९-१० ॥ राजा यदि धर्मानुसार पृथ्वी पालन करे, तो यह उसका कोई विशिष्ट गुण नहीं है। क्यों कि नरेन्द्र यदि भलि-भाँति प्रजा पालन न करे, तो वह पापभागी होकर नरक में जाता है ॥ ११ ॥ धन रहते हुए महायज्ञों का सम्पादन और विपुल दान करना राजा का कर्तव्य ही है। इसमें उसकी व्यक्तिगत विचित्रता क्या है ? यदि नरपति ऐसा न करे, तो प्रजा के लिये ईश्वर ही गति रह जाती है ॥ १२ ॥ राजा जब तक अपने धर्म पर अटल रहता है, तभी तक उसमें स्वाभाविकता, लज्जा, शत्रु के प्रति क्रोध और युद्ध से न भागने के गुण विद्यमान रहते हैं ॥ १३ ॥ इन सब कार्यों को मेरे पूर्व पुरुष तथा पितृदेव मरुत्त ने जिस प्रकार सम्पन्न किया, उस प्रकार दूसरा और कौन करने में समर्थ हो सकता है ॥ १४ ॥

तदहं किं करिष्यामि यन्न तैः पूर्व्वजैः कृतम् ।
ये यज्विनो वरा दान्ताः संग्रामाच्चानिवर्त्तिनः ॥१५॥
महत्संग्रामसंसर्गा विसंवादितपौरुषाः ।
कर्म्मणाहं करिष्यामि कर्म्म चानभिसन्धितम् ॥१६॥
अथ वा तैः स्वयं यज्ञाः कृताः पूर्व्वजनेश्वरैः ।
अविश्रमद्भिर्नान्यैस्तु कारितास्तत् करोम्यहम् ॥१७॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति सञ्चिन्त्य यज्ञं स चकारैकं नरेश्वरः ।
यादृशं न चकारान्यो वित्तोत्सर्गोपशोभितम् ॥१८॥
द्विजानां जोवनायालं दत्त्वा नु सुमहाधनम् ।
ततः शतगुणं तेषां यज्ञेऽन्नमददन्नृपः ॥१९॥
गावो वस्त्राण्यलङ्कारं धान्यागारादिकं तथा ।
तथा प्रत्येकमददत् तेषां पृथ्वीनिवासिनाम् ॥२०॥
ततस्तेन यदा यज्ञः प्रारब्धो भूभुजा पुनः ।
प्रारब्धे स मखे यष्टुं ततो नालभत द्विजान् ॥२१॥
यान् यान् वृणोति स नृपो विप्रानार्त्तिज्यकर्म्मणि ।
ते ते तमूचुर्यज्ञाय वयमन्यत्र दीक्षिताः ॥२२॥

मेरे सभी पूर्वपुरुष श्रेष्ठ यज्ञों के करने वाले, दम गुण से युक्त, संग्राम से नहीं भागने वाले हुए हैं ॥ १५ ॥ उन्होंने भयङ्कर संग्राम किये और पौरुष का ख्यापन किया। मैं ऐसा कौन सा कार्य करूँ, जो उन्होंने न किया हो ? मैं तो यही समझता हूँ कि, मैं कर्म के द्वारा निष्काम कर्म का अनुष्ठान करूँ। मेरे पूर्वजों ने अविरत रूप से स्वयं ऐसे अनेक यज्ञ किये हैं, जैसा अन्य किसी ने नहीं किये। वैसा ही महायज्ञ मैं निष्काम बुद्धि से करूँगा ॥ १६-१७ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

यह सब सोच-विचार कर नरेश्वर ने विपुल धन लगाकर ऐसा महायज्ञ किया, जैसा पहिले किसी ने नहीं किया था ॥ १८ ॥ इस यज्ञ में उसने द्विजातिमात्र को जीविका निर्वाहार्थ अपार धन और उससे भी सैकड़ों गुना अधिक अन्न प्रदान किया ॥ १९ ॥ पृथ्वी के सभी निवासी को उसने गाय वस्त्र, अलङ्कार, धान्य, घर आदि प्रचुर वस्तुएँ दान में दीं ॥ २० ॥ इस यज्ञ के समाप्त होने पर राजाने फिर जब दूसरा यज्ञ करना चाहा, तो उसे यज्ञ कराने वाला कोई द्विज ही नहीं मिला ॥ २१ ॥ जिस जिस ब्राह्मणों को उसने यज्ञ के पौरोहित्यकार्य में वरण करने की इच्छा की, वही कहने लगा कि, मैं अन्य के यज्ञ में दीक्षित हो चुका हूं ॥ २२ ॥

अन्यं वरय यद्वित्तं त्वयास्माकं विवर्ज्जितम् ।
तस्यान्तो नास्ति यज्ञेषु दद्यास्तु नृपते धनम् ॥२३।

मार्कण्डेय उवाच—

न चाप ऋत्विजो विप्रांस्तदाशेषक्षितीश्वरः ।
वहिर्व्वेद्यां तदा दानं स दातुमुपचक्रमे ॥२४।
तथापि जगृहुर्नैव धनसम्पूर्णमन्दिराः ।
द्विजाय दातुं भूयोऽसौ निर्व्विण्ण इदमब्रवीत् ॥२५।
अहोऽतिशोभनं पृथ्व्यां यद्विप्रो नाधनः क्वचित् ।
अशोभनञ्च यत् कोषो विफलोऽयमयज्विनः ॥२६।
नार्त्तिज्यं कुरुते कश्चिद् यजमानोऽखिलो जनः ।
द्विजानां न च नो दानं ददतां सम्प्रतीच्छते ॥२७।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः काँश्चिद्द्विजान् भक्त्या प्रणिपत्य पुनः पुनः ।
स्वयज्ञे ऋत्विजश्चक्रे ते प्रचक्रुर्महामखम् ॥२८।
अत्यद्भुतमिदञ्चासीद् यदा तस्य महीपतेः ।

आप किसी दूसरे ब्राह्मण को वरण कीजिये हे नरेश ! आपने यज्ञ के समय सङ्कल्प कर हमें इतना धन दिया है कि, अनेक यज्ञ करने पर भी वह समाप्त नहीं हुआ है ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

निखिल पृथ्वी के अधीश्वर होते हुए भी जब उनको यज्ञ के लिये कोई ऋत्विक् नहीं मिला, तब बहिर्वेदी में दान करने का उसने उपक्रम किया ॥ २४ ॥ फिर भी ब्राह्मणों के घर धन से परिपूर्ण होने से किसी ने वह धन नहीं उठाया। द्विजों को दान करने में प्रवृत्त राजा जब विफल प्रयास हुआ, तब अत्यन्त दुःखित होकर उसने कहा ॥ २५ ॥ पृथ्वी के किसी स्थान में कोई ब्राह्मण इस समय निर्धन नहीं है, यह सन्तोष का विषय है; किन्तु बिना यज्ञ के मेरा राजकोष विफल हो रहा हैं, यह महान् कष्ट की बात है ॥ २६ ॥ द्विजों में सभी लोग इस समय स्वयं याग करने में प्रवृत्त हुए हैं, इस कारण सभी यजमान हो गये हैं और वे स्वयं प्रभूत दान दे रहे हैं, इस कारण कोई मेरे दिये दान को स्वीकार करने को सम्मत नहीं होते ॥ २७ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

फिर राजा ने बड़े विनय और भक्ति से बारम्बार प्रार्थना कर कुछ ब्राह्मणों को ऋत्विक् कार्य के लिए नियुक्त किया और उन्ही के द्वारा अपना महायज्ञ सम्पन्न किया ॥ २८ ॥ तब यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात हुई कि, राजा का यज्ञ आरम्भ होने

स यज्ञोऽभूत् तदा पृथ्व्यां यजमानोऽखिलो जनः ॥२९॥
द्विजन्मनामभून्नासीत् सदस्यस्तत्र कश्चन।
यजमाना द्विजाः केचित् केचित् तेषान्तु याजकाः ॥३०॥
नरिष्यन्तो नरपतिरियाज स यदा तदा।
तत्प्रदातुर्धनैर्यागं कुर्य्युः पृथ्व्यामशेषतः ॥३१॥
प्राच्यां कोटचस्तु यज्ञानामासन्नष्टादशाधिकाः।
प्रतीच्यां सप्त वै कोटचो दक्षिणायां चतुर्द्दश ॥३२॥
उत्तरस्याञ्च पञ्चाशदेककालं तदाऽभवन्।
मुने! ब्राह्मण-यज्ञानां नरिष्यन्तो यदाऽयजत् ॥३३॥
एवं स राजा धर्म्मात्मा नरिष्यन्तोऽभवत् पुरा।
मरुत्ततनयो विप्र! विख्यातबलपौरुषः ॥३४॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे नरिष्यन्तचरितवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्यधिक-शततमोऽध्यायः ॥१३२॥

पर पृथ्वी के सभी द्विज अपने-अपने यज्ञ में स्वयं यजमान थे ॥ २९ ॥ इस कारण इस यज्ञ में कोई भी सदस्य नहीं बना। द्विजों में कोई तो स्वयं यजमान बने थे और कोई उनके याजक थे ॥ ३० ॥ नरपति नरिष्यन्त ने जो यज्ञ किये थे और उनमें ब्राह्मणों को जो धन दिया था, उसी धन से पृथ्वी के द्विजगण विविध यज्ञों के करने में प्रवृत्त हुए थे ॥ ३१ ॥ हे मुने! महाराज नरिष्यन्त जब यज्ञ कर रहा था, तब पूर्व में अठारह करोड़, पश्चिम में सात करोड़, दक्षिण में चौदह करोड़ और उत्तर में पचास करोड़ से भी अधिक यज्ञ हो रहे थे। विशेषता यह थी कि, ब्राह्मणों के द्वारा उक्त सभी यज्ञ एक साथ ही सम्पादित हुए थे। हे विप्र! पुराकाल में विख्यात बली और पौरुष सम्पन्न मरुत्त पुत्र राजा नरिष्यन्त इस प्रकार का धर्मात्मा हुआ था ॥ ३२-३४ ॥

पर्यालोचन

पितामही ने जो भार्गव के आश्रम में स्थित थी, अनेक यज्ञों के सम्पादन में तत्पर मरुत्त को यह सूचना देती है कि ऐसा ज्ञात हो रहा है कि यज्ञों के निष्पादन में सतत सचेष्ट मरुत्त प्रजापालन रूप कर्त्तव्य से सर्वथा च्युत हो गया है। पाताल से आये हुए अनेक सर्पों के द्वारा मुनिजन मार दिये गये हैं, जलाशय दूषित हो गया है। मरुत्त यह नहीं भूलना कि आश्रमवासी मुनियों के अभिषेक और धर्मस्वरूप षडंश करदान से ही तुम्हारे ऐश्वर्य की वृद्धि हो सकती है। राजा का शरीरग्रहण भोग के लिए नहीं, क्लेश के लिए होता है। अतः व्यसन का परित्याग कर प्रजा के रक्षण में यदि दत्तचित्त नहीं होते हो तो धर्म के छठें भाग के अर्जन में समर्थ नहीं हो सकोगे।

तपस्वी के इस वाक्य से लज्जावनत मरुत्त अपनी पितामही के तापस आश्रम में जाता है और उनकी आज्ञा के अनुसार अशेष नागों के नाश के लिए अस्त्र का अनुसन्धान करता है। इसी मध्य में मरुत्त की माता से नागलोक के सदस्यों ने जो अभयवरदान प्राप्त किया था, उसका स्मरण कराते हुए भामिनी की शरण में सर्पगण आते हैं। उन्होंने निवेदन किया—"वीरजननि! अब अभयदान की पूर्ति का समय आ गया है। हम लोग आपके शरणापन्न हैं, हमारी रक्षा करें। माँ ने शरणागत की रक्षा को अपना कर्त्तव्य मानकर अपने पति से भुजङ्गों की रक्षा के लिए अभ्यर्थना करती है। शरणागत की रक्षा करना क्षत्रिय का कर्त्तव्य है। अतः अपने पुत्र मरुत्त को इस कार्य से निवृत्त करो।" अविक्षित यह भलीभाँति जानता था कि मरुत्त को इस कार्य से निवृत्त करना सम्भव नहीं है। किन्तु उसने कहा—शरणागतों को परित्राण करना मेरा कर्त्तव्य है, इसलिए मैं जा रहा हूँ।" अविक्षित ने कहा—"पुत्र! क्रोध शमन करो, शस्त्र का उपसंहार करो।" उसने अस्त्र धारण किये हुए ही कहा—"इन अपराधियों के जीवन की रक्षा पृथिवी पर मेरे शासक रहते हुए सम्भव नहीं है। अविक्षित ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"राजन् मैं क्षमा नहीं कर सकता धर्मकार्य से विरत न करें ये मेरे शरणागत हैं।" अन्त में पिता ने कहा—"मैंने भी अस्त्रविद्या का ज्ञान प्राप्त किया है। मेरे सामने तुम्हारा कितना पौरुष है यह मैं जानता हूँ।" अविक्षित क्रोध से रक्त नेत्र होकर कालास्त्र का अनुसन्धान कर लिया। मरुत्त ने पिता से कहा—"मैं दुष्ट का नाश कर रहा हूँ. और आप मेरे वध के लिए कालास्त्र का अनुसन्धान कर रहे हैं, क्या यह आपका अपने धर्म का आचरण है? अविक्षित ने कहा—"शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है, मैं तुम्हें नहीं छोड़ूंगा क्योंकि इसके बिना इनकी रक्षा सम्भव नहीं है।" अतः मुझे अस्त्र और शक्ति के द्वारा मारकर ही तुम दुष्ट सर्पों का नाश कर सकते हो अन्यथा मैं तुम्हें मार कर इन सर्पों की रक्षा करूँगा। यह भय से मेरी शरण में आये हैं। अतः ये वध्य नहीं है।" मरुत्त ने भी कहा—"प्रजापालन में विघ्न प्रदान करने वाला, मित्र हो, बान्धव हो, पिता हो या गुरु ही क्यों न मैं उस पर प्रहार कर धर्म की रक्षा करूँगा।" कर्त्तव्य की पराकाष्ठा इस पिता-पुत्र के संवाद के द्वारा जिस प्रकार उपलब्ध होती है, वह विश्व संस्कृति में अतुलनीय ही कही जा सकती है। यही भारतीय संस्कृति की आभा है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का नरिष्यन्तचरित-सम्बन्धी एक सौ बत्तीसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

नरिष्यन्तस्य तनयो दुष्टारिदमनो दमः ।
शक्रस्येव बलं तस्य दयाशीलं मुनेरिव ।।१।
बाभ्रव्यामिन्द्रसेनायां स जज्ञे तस्य भूभृतः ।
नव वर्षाणि जठरे स्थित्वा मातुर्महायशाः ।।२।
यद्ग्राहयामास दमं मातरं जठरे स्थितः ।
दमशीलश्च भविता यतश्चायं नृपात्मजः ।।३।
ततस्त्रिकालविज्ञानः स हि तस्य पुरोहितः ।
दम इत्यकरोन्नाम नरिष्यन्तसुतस्य तु ।।४।
स दमो राजपुत्रस्तु धनुर्व्वेदमशेषतः ।
जगृहे नरराजस्य सकाशाद् वृषपर्व्वणः ।।५।
दुन्दुभेर्दैत्यवर्य्यस्य तपोवननिवासिनः ।
सकाशाज्जगृहे कृत्स्नमस्त्रग्रामञ्च तत्त्वतः ।।६।
शक्तेः सकाशाद्वेदाँश्च वेदाङ्गान्यखिलानि च ।
तथार्ष्णिषेणाद्राजर्षेर्जगृहे योगमात्मवान् ।।७।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

दुराचारी शत्रुओं का दमन करने वाला नरिष्यन्त का पुत्र दम था। उसमें इन्द्र के समान बल और मुनियों के समान दया तथा शीतलता थी ॥ १ ॥

महायशा नौ वर्ष तक माता के गर्भ में रहा। बभ्रुसुता इन्द्रसेना, जो नरिष्यन्त से व्याही थी, उसी के गर्भ से दम ने जन्म-ग्रहण किया था ॥ २ ॥

वह राजकुमार जब माता के गर्भ में था, तब उसकी माता को बहुत ही दम का अवलम्बन करना पड़ा था। इसलिए यह नृपात्मज स्वयं अच्छा दमशील होगा ॥ ३ ॥

त्रिकालज्ञ राजपुरोहितों ने यह जानकर उस नरिष्यन्तपुत्र का नाम 'दम' ही रक्खा ॥ ४ ॥ राजपुत्र दम ने नरराज वृषपर्वा से समस्त धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी ॥ ५ ॥ तपोवन में निवास करने वाले दैत्यश्रेष्ठ दुन्दुभि से उसने अस्त्रसमूह को भलीभाँति सीख लिया था ॥ ६ ॥ शक्ति मुनि से वेद-वेदाङ्ग और आत्मज्ञानी ने राजर्षि आर्ष्णिषेण से योग का अभ्यास किया था ॥ ७ ॥

तं स्वरूपमहात्मानं गृहीतास्त्रं महाबलम् ।
स्वयंवरे कृता पित्रा जगृहे सुमना पतिम् ॥८॥

सुता दशार्णाधिपतेर्बलिनश्चारुकर्म्मणः ।
पश्यतां सर्व्वभूतानां ये तदर्थमुपागताः ॥९॥

तस्याञ्च सानुरागोऽभून्मद्रराजस्य वै सुतः ।
सुमनायां महानादो महाबलपराक्रमः ॥१०॥

तथा विदर्भाधिपतेः पुत्रः संक्रन्दनस्य च ।
वपुष्मान् राजपुत्रश्च महाधनुरुदारधीः ॥११॥

तेऽथ तया वृतं दृष्ट्वा दुष्टारिदमनं दमम् ।
मन्त्रयामासुरन्योऽन्यं तत्रानङ्गविमोहिताः ॥१२॥

एतामस्य बलात् कन्यां गृहीत्वा रूपशालिनीम् ।
गृहं प्रयामस्तस्येयमस्माकं यं ग्रहीष्यति ॥१३॥

भर्त्तृबुद्ध्या वरारोहा स्वयंवरविधानतः ।
तस्येच्छया नो भवित्री भार्य्या धर्मोपपादिता ॥१४॥

अथ नेच्छति सा कश्चिदस्माकं मदिरेक्षणा ।
ततस्तस्य भवित्री सा यो दमं घातयिष्यति ॥१५॥

दशार्ण देश के राजा महाबली चारु-कर्मा की कन्या सुमना ने, पिता के द्वारा स्वयंवर में नियोजित होनेपर, उसकी प्राप्ति की अभिलाषा से स्वयंवर में आए हुए राजाओं के समक्ष ही महाबली, शस्त्रास्त्रकुशल, अपने अनुरूप महात्मा दम को ही पति के रूप में वरण किया था ॥ ८-९ ॥

मद्रराजकुमार महाबली महानन्द, विदर्भाधिपति संक्रन्दन का पुत्र वपुष्मान् और उदारचेता राजपुत्र महाधनु सुमना के प्रति अनुरक्त थे ॥ १०-११ ॥ दुष्ट वैरियों का दमन करने वाले दमको राजकन्या ने वरा है, यह देखकर काममोहित चित्त से वे आपस में परामर्श करने लगे कि, हम इस रूपवती कन्या को इससे बलपूर्वक खींचकर अपने घर ले चलें। फिर यह वरारोहा स्वयम्वर के विधानानुसार हम में से जिसे चाहे, स्वामिबुद्धि से ग्रहण कर ले। जिसको यह अङ्गीकार करे, उसीकी यह धर्मानुमोदित भार्या समझी जायगी और यदि यह मदिरेक्षणा स्वेच्छा से हमारे में से किसी को स्वीकार न करे, तो हम में से जो दमका विनाश करे, यह कन्या उसकी पत्नी मानी जायगी ॥ १२-१५ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति ते निश्चयं कृत्वा त्रयः पार्थिवनन्दनाः ।
जगृहुस्तां सुचार्वङ्गीं दमपार्श्वानुवर्त्तिनीम् ॥१६॥
ततः केचिन्नृपास्तेषां ये तत्पक्षा विचुक्रुशुः ।
चुक्रुशुश्चापरे भूपाः केचिन्मध्यस्थतां गताः ॥१७॥
ततो दमस्तान् भूपालानवलोक्य समन्ततः ।
अनाकुलमना वाक्यमिदमाह महामुने ॥१८॥

दम उवाच—

भो भूपा धर्म्मकृत्येषु यद्वदन्ति स्वयंवरम् ।
अधर्म्मो वाऽथ वा धर्म्मो यदेभिर्गृह्यते बलात् ॥१९॥
यद्यधर्म्मो न मे कार्य्यमन्यभार्य्या भविष्यति ।
धर्म्मो वा तदलं प्राणैर्यै रक्ष्यन्तेऽरिलङ्घने ॥२०॥
ततो दशार्णाधिपतिश्चारुधर्म्मा नराधिपः ।
निःशब्दं कारयित्वा तत् सदः प्राह महामुने ! ॥२१॥
दमेन यदिदं प्रोक्तं धर्म्माधर्म्माश्रितं नृपाः ।
तद्वदध्वं यथा धर्म्मो ममास्य च न लुप्यते ॥२२॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

उन तीनों राजपुत्रों ने इस प्रकार की मन्त्रणा कर दम के पास खड़ी हुई उस अतिशय सुन्दर अङ्गवाली को वे उठा ले चले ॥ १६ ॥ उस समय उपस्थित राजाओं में जो दम के पक्ष में थे, वे उसकी ओर से और जो विरुद्ध पक्ष में थे, वे उस ओर से क्रुद्ध होकर गरजने लगे। कुछ तटस्थ राजा दोनों पक्षों में मध्यस्थता का काम करने लगे ॥ १७ ॥ हे महामुने ! दम ने उस समय चारों ओर खड़े हुए सब राजाओं को देख कर निर्भयचित्त से यह कहा ॥ १८ ॥

दम ने कहा—

दशार्ण पति के द्वारा धार्मिक स्वयंवर आयोजन किया गया है। हे भूपालगण ! सभी लोग स्वयंवर को धर्मकार्य में गणना करते हैं। परन्तु आप ही कहें कि, यह वास्तव में धर्म है या अधर्म ॥ १९ ॥ स्वयंवर में मुझे प्राप्त हुई इस कन्या को ये लोग बलपूर्वक हरण करके ले जा रहे हैं, यदि स्वयंवर अधर्म में गिना जाता हो, तो इस सम्बन्ध में मेरा कुछ कहना नहीं है; वह अन्य किसी की भी भार्या हो सकती है। परन्तु स्वयंवर को यदि आप धर्म समझते हों, तो शत्रुओं से लाञ्छित हुए इन प्राणों को धारण करना व्यर्थ है ॥२० ॥ हे महामुने ! अनन्तर दशार्णाधिपति महाराजा चारुकर्मा सभास्थल को निःशब्द करते हुए बोले,—हे नृपवर ! दम ने धर्माधर्म के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठाया है, इस सम्बन्ध में आप सब ऐसा अभिमत प्रकट करें, जिससे मेरे और इसके धर्म का लोप न हो ॥ २१-२२ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः केचिन्महीपालास्तमूचुर्वसुधाधिपम् ।
परस्परानुरागेण गान्धर्व्वो विहितो विधिः ॥२३।
क्षत्रियाणां परमयं न विट्शूद्रद्विजन्मनाम् ।
दममाश्रित्य निष्पन्नः स चास्या दुहितुस्तव ॥२४।
इति धर्म्माद्दमस्यैषा दुहिता तव पार्थिव ! ।
योऽन्यथा वर्त्तते मोहात् कामात्मा सम्प्रवर्त्तते ॥२५।
तथाऽपरे तदा प्रोचुर्महात्मानो हि भूभृताम् ।
पक्षे ये भूभृतो विप्र ! दशार्णाधिपतेर्वचः ॥२६।
मोहात् किमाहुर्धर्म्मोऽयं गान्धर्व्वः क्षत्रजन्मनः ।
न त्वेष शास्ता नान्यो हि राक्षसः शस्त्रजीविनाम् ॥२७।
बलादिमां यो हरति हत्वा तु परिपन्थिनः ।
तस्यैवाप्तौ राक्षसेन विवाहेनावनीश्वराः ॥२८।
प्रधानतर एषोऽत्र विवाहद्वितये मतः ।
क्षत्रियाणामतो धर्मो महानन्दादिभिः कृतः ॥२९।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

तब कुछ महीपालों ने महाराज से कहा, परस्पर अनुराग होने पर ही गन्धर्व विधि से विवाह हो सकता है ॥२३॥ ऐसा विवाह क्षत्रियों के लिये ही प्रशस्त है, ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र के लिये उचित नहीं है, अतः हे पार्थिव ! धर्मानुसार यह तुम्हारी कन्या दमकी भार्या हो चुकी है। जो कामुक हैं, वे ही मोह के वशीभूत होकर इसका विरोध कर रहे हैं ॥ २४-२५ ॥

हे विप्र ! तदुपरान्त जो राजाओं में महान् आत्मा राजा विपक्ष में थे, उन्होंने दशार्णाधिपति से कहा ॥ २६ ॥

'मोह के वशीभूत' क्यों कहते हैं कि गान्धर्वविवाह तो क्षत्रियों के लिये कभी प्रशस्त हो ही नहीं सकता। यही नहीं, अन्य प्रकार के विवाह भी क्षत्रियों के लिये कभी प्रशस्त नहीं हैं। शस्त्रजीवियों के लिये एकमात्र राक्षसविवाह प्रशस्त हो सकता है ॥ २७ ॥ हे भूपालवृन्द ! जो व्यक्ति विपक्षियों का विनाश कर बलपूर्वक इस कन्या का ग्रहण करेगा, राक्षस-विवाह के विधानानुसार ही उसी की यह पत्नी होगी ॥ २८ ॥ क्षत्रियों के लिये सब विवाहों में राक्षसविवाह ही श्रेष्ठतर है। अतः महानन्द आदि राजपूतों ने जो आचरण किया है, वह अधर्म नहीं कहा जा सकता ॥ २९ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

अथ प्रोचुः पुनर्भूपा यैः पूर्व्वमुदिता नृपाः ।
परस्परानुरागेण जातिधर्म्माश्रितं वचः ॥३०।
सत्यं शस्तो राक्षसोऽपि क्षत्रियाणां परो विधिः ।
किन्त्वसौ जनकस्वाम्ये कुमार्य्यानुमतो वरः ॥३१।
हत्वा तु पितृसम्बन्धं बलेन ह्रियते हि या ।
स राक्षसो विधिः प्रोक्तो नान्यभर्त्तृकरे स्थिता ॥३२।
पश्यतां सर्व्वभूपानामनया यद्वृतो दमः ।
गान्धर्व्वस्येह निष्पत्तौ विवाहो राक्षसोऽत्र कः ॥३३।
विवाहितायाः कन्यायाः कन्यात्वं नैव विद्यते ।
कन्यायाश्च विवाहेन सम्बन्धः पृथिवीश्वराः ॥३४।
त इमे ये बलादेनां दमादादातुमुद्यताः ।
बलिनस्ते यदि ततः कुर्व्वन्तु न तु साधु तत् ॥३५।

मार्कण्डेय उवाच—

तच्छ्रुत्वाऽसौ दमः कोप-कषायीकृतलोचनः ।
आरोपयामास धनुर्वचनञ्चेदमब्रवीत् ॥३६।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

पहिले जिन राजाओं ने परस्पर-अनुराग और जातिधर्मविषयक बातें कही थीं, उन्होंने फिर कहा ॥ ३० ॥ यह ठीक है कि, क्षत्रियों के लिये राक्षस विवाह ही प्रशस्त और श्रेष्ठ है। इस राजकन्या ने पिता के अधीन रहकर कुमारी अवस्था में दमको पतिरूप से स्वीकार किया है ॥ ३१ ॥ पितृपक्षको हत या आहत कर यदि कन्या का हरण किया जाय, तो वह राक्षसविवाह कहाता है। परन्तु पति के हाथ से बलपूर्वक हरण कर यदि कन्या लायी जाय, तो वह राक्षसविवाह नहीं हो सकता है ॥ ३२ ॥ समस्त भूपालों के सामने जब यह सुमना दमको वरण कर चुकी है, तब उसका गान्धर्वविवाह हो चुका। अब राक्षसविवाह विधि का प्रसङ्ग ही कहाँ है ॥ ३३ ॥ विवाहिता कन्या का कन्यात्व नहीं रह जाता है। हे नृपवृन्द ! विवाहतक ही कन्या का कन्यात्व है। जो बलपूर्वक दम से इसे छीनने को उद्यत हुए हैं, वे बल के गर्व में भरकर भले ही ऐसा करें, किंतु यह अच्छा कार्य नहीं है ॥ ३४-३५ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इन सब बातों को सुनते सुनते दमकी आंखें क्रोध से लाल हो गयीं। उसने धनुष को चढ़ाते हुए यह वचन कहा ॥ ३६ ॥

ममापि भार्य्या बलिभिः पश्यतो ह्रियते यदि ।
तत्कुलेन भुजाभ्यां वा को गुणाः क्लीवजन्मनः ।।३७।
धिङ्ममास्त्राणि धिक् शौर्य्यं धिक् शरान् धिक् शरासनम्
धिग् व्यर्थं मे कुले जन्म मरुत्तस्य महात्मनः ।।३८।
यदि भार्यामिमे मूढाः समादाय बलान्विताः ।
प्रयान्ति जीवतो धिक् तां मम व्यर्थधनुष्मताम् ।।३९।
इत्युक्त्वा तान् महीपालान् महानन्दमुखान् बली ।
अथाब्रवीत् तदा सर्व्वान् महारिदमनो दमः ।।४०।

दम उवाच—

एषातिशोभना बाला चार्व्वङ्गी मदिरेक्षणा ।
किं तस्य जन्मना भार्य्या न यस्येयं कुलोद्भवा ।।४१।
इति सञ्चिन्त्य भूपालास्तथा यतत संयुगे ।
यथा निर्ज्जित्य मामेतां पत्नीं कुरुत मानिनः ।।४२।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्याभाष्य ततस्तत्र शरवर्षममुञ्चत ।
छादयन् पृथिवीपालांस्तमसेव महीरुहान् ।।४३।

मेरी आंखों से देखते हुए मेरी भार्या का यदि कोई बलपूर्वक अपहरण करे, तो समझना होगा कि, क्लीव होकर मैं जन्मा हूँ मेरे कुल का गौरव और दोनों भुजाओं का फिर क्या महत्व रह जाता है ।। ३७ ।। मेरे जीते जी ये मूढ़ लोग बलोन्मत्त होकर मुझ से यदि मेरी भार्या को छीन ले जायँ, तो मेरे सब अस्त्र, शौर्य, शर और शरासन को धिक्कार है ! महात्मा मरुत्त के वंश में मेरे जन्मग्रहण करने को धिक्कार है। मेरे जीवन और धनुष्मत्ता को धिक्कार है ।। ३८-३९ ।।

['मनुष्यताम्' भी पाठ है। इस पाठ में मनुष्यता व्यर्थ है, यह अर्थ होगा।] इस प्रकार गरज कर कहने पर महारिदमन बलवान् दम ने महानन्द आदि राजाओं से कहा ।। ४० ।।

दम ने कहा—

हे सम्मानित भूपालो ! तुम प्रतिज्ञा कर लो कि, इस अति मनोरमा, मदिरेक्षणा, सत्कुलोद्भवा, सुन्दरी बालिका को जो अपनी पत्नी न कर ले, उसका जन्म ही व्यर्थ है और फिर संग्राम के लिए सन्नद्ध हो जाओ, जिससे मुझे पराजित कर तुम इसको ले जा सको ।। ४१-४२ ।।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

यह कहकर दमने उन राजाओं पर ऐसी शरवर्षा करना आरम्भ की कि, अन्धकार से जैसे वृक्षसमूह आच्छन्न हो जाते हैं, वैसे उसके शरजाल से सब राजा ढँक गये ।। ४३ ।।

तेऽपि वीरा महीपालाः शर-शक्त्यृष्टि-मुद्गरान् ।
मुमूचुस्तत्प्रयुक्तांश्च दमश्चिच्छेद लीलया ॥४४॥
तेऽपि तत्प्रहितान् वाणांस्तेषाञ्चासौ शरोत्करान् ।
चिच्छेद पृथिवीशानां नरिष्यन्तात्मजो मुने ॥४५॥
वर्त्तमाने तदा युद्धे दमस्य क्षितिपात्मजैः ।
प्रविवेश महानन्दः खड्गपाणिर्यतो दमः ॥४६॥
तमायान्तं दमो दृष्ट्वा खड्गपाणिं महामृधे ।
मुमोच शरवर्षाणि वर्षाणीव पुरन्दरः ॥४७॥
तदस्त्राणि ततस्तानि शरजालानि तत्क्षणात् ।
महानन्दः प्रचिच्छेद खड्गेनान्यानवञ्चयत् ॥४८॥
ततो रोषात् समारुह्य तं दमस्य तदा रथम् ।
महानन्दो महावीर्य्यो दमेन युयुधे सह ॥४९॥
बहुधा युध्यमानस्य महानन्दस्य लाघवात् ।
दमो मुमोच हृदये शरं कालानलप्रभम् ॥५०॥
तं लग्नमात्मनोत्कृष्य विभिन्नेन ततो हृदि ।
दमं प्रति विचिक्षेप महानन्दोऽसिमुज्ज्वलम् ॥५१॥

उन महावीर महीपालों ने भी बाण, शक्ति, ऋष्टि, मुद्गर आदि का प्रयोग किया परन्तु उनके वे सभी शस्त्र दम ने खेल-खेल से छिन्न-भिन्न कर डाले ॥ ४४ ॥

हे मुने ! विपक्षी राजा जिस प्रकार दम के चलाये शस्त्रों को तोड़ते जाते थे, उसी प्रकार नरिष्यन्तपुत्र दम भी उनके चलाये शस्त्रास्त्रों को विफल करता था ॥ ४५ ॥ राजपूतों के साथ दमका इस प्रकार युद्ध हो रहा था कि, इतने में महानन्द हाथ में तलवार लेकर दम के सामने आया ॥४६॥

महारणक्षेत्र में खड्ग खींचकर महानन्द अपनी ओर आ रहा है, यह देखते ही, इन्द्र जैसे मेघ की वर्षा करता है, वैसे दम ने भी उस पर बाणों का ताँता बाँध दिया ॥४७॥

महानन्द ने उसके सब बाणों और शस्त्रों को क्षण भर में काट डाला । यह इतनी सफाई से किया कि, अन्य राजा इसे जान भी नहीं सके ॥४८॥

फिर महावीर महानन्द आवेश के साथ दम के रथपर ही चढ़कर उससे युद्ध करने लगा ॥४९॥

अनेक प्रकार से दोनों का युद्ध होने पर दमने बड़ी चतुरता से कालाग्नि के समान एक बाण महानन्द के हृदय में विद्ध किया ॥५०॥

महानन्द ने उस बाण को अपने हाथ से उखाड़ कर फेंक दिया और भिन्न-हृदय से ही अपने उज्ज्वल खड्ग का दम पर प्रहार किया ॥५१॥

पतन्तञ्चैनमुल्काभं शक्त्या चिच्छेद तं दमः ।
शिरो वेतसपत्रेण महानन्दस्य चाच्छिनत् ॥५२।
तस्मिन् हते महानन्दे प्राचुर्य्येण पराङ्मुखाः ।
बभूवुः पार्थिवास्तस्थौ वपुष्मान् कुण्डिनाधिपः ॥५३।
दमेन युयुधे चासौ बलगर्व्वमदान्वितः ।
दाक्षिणात्यमहीपाल-तनयो रणगोचरः ॥५४।
युध्यमानस्य तस्योग्रं करबालं स वै लघु ।
चिच्छेद सारथेश्चैव शिरः संख्ये तथा ध्वजम् ॥५५।
छिन्नखड्गो गदां सोऽथ जग्राह बहुकण्टकाम् ।
तामप्यस्य स चिच्छेद करस्थामेव सत्वरः ॥५६।
यावदन्यत् समादत्ते स वपुष्मान् वरायुधम् ।
तावच्छरेण तं विद्ध्वा दमो भूमावपातयत् ॥५७।
स पातितस्ततो भूमौ विह्वलाङ्गः सवेपथुः ।
विनिर्वृत्तमतिर्युद्धाद्बभूव क्षितिपात्मजः ॥५८।
तमालोक्य तथाभूतमयुद्धमतिमात्मवान् ।
उत्सृज्यादाय सुमनां सुमनाः प्रययौ दमः ॥५९।

उल्का के समान उस खड्ग का प्रहार होता है, न होता है, इतने में दमने उसे शक्ति नामक आयुध से दो टूक कर डाला उसी क्षण वेतसपत्र बाण के द्वारा महानन्द का सिर काट डाला ॥५२॥

महानन्द के मारे जाते ही अधिकांश नरपति युद्ध से पराङ्मुख हो गये; केवल कुण्डिनाधिपति वपुष्मान् ही रणक्षेत्र में डँटा रहा। वह बल-गर्वसे उन्मत्त दाक्षिणात्य भूपाल वपुष्मान् संग्राम में अटल रह कर दम से युद्ध करने लगा ॥५३-५४॥

उस युद्धयमान् वपुष्मान् का खड्ग, उसके सारथि का मस्तक और रथ का ध्वज दमने अपनी उग्र तलवार से क्षणभर में ही काट गिराया ॥५५॥

खड्ग के टूट जाने पर बहुत से कीलों से जड़ी हुई गदा वपुष्मान् ने तान ली। दम ने उस कर में स्थित गदा को ही शीघ्रता से काट डाला ॥५६॥

फिर जब तक वपुष्मान् कोई उत्कृष्ट शस्त्र ग्रहण करना चाहता है, तब तक दमने उसे बाणों से विद्ध कर, भूमि पर गिरा दिया ॥५७॥

राजपुत्र वपुष्मान् के भूमि पर गिरने पर उसके सब अङ्ग काँप रहे थे और वह छटपटा रहा था। अब उसने युद्ध की इच्छा त्याग दी थी। मनस्वी दमने उसे युद्ध से विरत देखकर उसी अवस्था में छोड़ दिया और सुमना को साथ लेकर प्रसन्न चित्त से वहाँ से प्रस्थान किया ॥५८-५९॥

ततो दशार्णाधिपतिः प्रीतिमानकरोत् तयोः ।
दमस्य सुमनायाश्च विवाहं विधिपूर्व्वकम् ॥६०॥
कृतदारो दमस्तत्र दशार्णाधिपतेः पुरे ।
स्थित्वाऽल्पकालं प्रययौ सभार्य्यो निजमन्दिरम् ॥६१॥
दशार्णाधिपतिश्चासौ दत्त्वा नागांस्तुरङ्गमान् ।
रथगोऽश्वखरोष्ट्रांश्च दासीदासांस्तथा बहून् ॥६२॥
वस्त्रालङ्कारचापादि वरोपस्करमात्मनः ।
अन्यैस्तैश्च तथा भाण्डैः परिपूर्णं व्यसर्ज्जयत् ॥६३॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे दमचरितवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१३३॥

अनन्तर दशार्णाधिपति ने प्रीतिपूर्वक सुमना और दम का विवाह यथाविधि सम्पन्न किया ॥६०॥

विवाह हो जाने पर कुछ दिन तक दम दशार्णाधिपति के नगर में ठहरा और फिर नवपरिणीता पत्नी के साथ अपनी राजधानी में चला गया ॥६१॥

उसे विदा करते समय दशार्णाधिपति ने उसे बहुत से हाथी, तरह-तरह के घोड़े, रथ, गायें, खच्चर, ऊँट, दास, दासी, वस्त्र, अलङ्कार, धनुष आदि नानाविध बहुमूल्य सामग्रियाँ दहेज में दी और वर-वधू दोनोंको धन-रत्न आदि से पूर्ण कर विदा किया ॥६२-६३॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का दमचरितान्तर्गत सुमनास्वयंवर नामक एक सौ तैंतीसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



चतुस्त्रिशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

स तां लब्ध्वा तथा पत्नीं सुमनां सुमहामुने ।
प्रणम्य स पितुः पादौ मातुश्च क्षितिपात्मजः ॥१।
सा च तौ श्वशुरौ सुभ्रूर्ननाम सुमना तदा ।
ताभ्यां तौ च तदा विप्र आशोभिरभिनन्दितौ ॥२।
महोत्सवश्च सञ्जज्ञे नरिष्यन्तस्य वै पुरे ।
कृतदारे च सम्प्राप्ते दशार्णाधिपतेः पुरात् ॥३।
सम्बन्धिनं दशार्णेशं जितांश्च पृथिवीश्वरान् ।
श्रुत्वा पुत्रेण मुमुदे नरिष्यन्तो महीपतिः ॥४।
सोऽपि रेमे सुमनया महाराजसुतो दमः ।
वरोद्यान-वनोद्देश-प्रासाद-गिरिसानुषु ॥५।
अथ कालेन महता रममाणा दमेन सा ।
अवाप गर्भं सुमना दशार्णाधिपतेः सुता ॥६।
सोऽपि राजा नरिष्यन्तो भुक्तभोगो महीपतिः ।
वयःपरिणतिं प्राप्य दमं राज्येऽभिषिच्य च ॥७।

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

हे महामुने ! राजपुत्र दमने सुमना को पत्नी रूप से प्राप्त कर पिता-माता की चरणवन्दना की और फिर सुभ्रू सुमना ने भी सास-ससुर की वन्दना की। हे विप्र ! उन्होंने भी दोनों का आशीर्वचनों से अभिनन्दन किया ॥१-२॥

विवाह करके दशार्णाधिपति के नगर से दम के लौट आने पर नरिष्यन्तपुर में महोत्सव प्रारम्भ हुआ ॥३॥

दशार्णेश्वर के साथ हुए वैवाहिक सम्बन्ध तथा अपने पुत्र के द्वारा हुए अनेक नृपतियों के पराजय की वार्ता सुनकर महीपति नरिष्यन्त को बड़ी ही प्रसन्नता हुई ॥४॥

फिर राजपुत्र दम विचित्र उद्यानों, वनप्रदेशों, प्रासादों और पर्वतशिखरों जैसे स्थानों में सुमना के साथ विहार करने लगा। दम के साथ विहार करते हुए कुछ समय बीतने पर दशार्णराज की कन्या सुमना ने गर्भ धारण किया ॥५-६॥

महीपति नरिष्यन्त ने अनेक भोगों का उपभोग करने के पश्चात् अपनी अधिक अवस्था को देखकर दमको राज्याभिषिक्त किया और स्वयं यशस्विनी पत्नी इन्द्रसेना

वनं जगामेन्द्रसेना पत्नी चास्य यशस्विनी ।
वानप्रस्थविधानेन स तत्र समतिष्ठत ।।८।

दाक्षिणात्यः सुदुर्वृत्तः संक्रन्दनसुतो वने ।
वपुष्मान् स मृगान् हन्तुं ययावल्पपदानुगः ।।९।

स तं दृष्ट्वा नरिष्यन्तं तापसं मलपङ्किनम् ।
इन्द्रसेनाञ्च तत्पत्नीं तपसातिसुदुर्ब्बलाम् ।।१०।

पप्रच्छ कस्त्वं भो विप्रः क्षत्रियो वा वनेचरः ।
वानप्रस्थमनुप्राप्तो वैश्यो वा मम कथ्यताम् ।।११।

ततो मौनव्रती भूपो न हि तस्योत्तरं ददौ ।
इन्द्रसेना च तत् सर्व्वमाचष्टास्मै यथातथम् ।।१२।

मार्कण्डेय उवाच—

ज्ञात्वा तञ्च नरिष्यन्तं वपुष्मान् पितरं रिपोः ।
प्राप्तोऽस्मीति वदन् कोपात् जटासु परिगृह्य च ।।१३।

हा हेति चेन्द्रसेनायां रुदन्त्यां वाष्पगद्गदम् ।
चकर्ष कोपात् खड्गञ्च वाक्यञ्चेदमुवाच ह ।।१४।

को साथ लेकर वनमें चला गया और वहीं वे दोनों वानप्रस्थ धर्मका पालन करते हुए निवास करने लगे ।।७-८।।

एक बार दाक्षिणात्य राजा संक्रन्दनका पुत्र दुराचारी वपुष्मान् कुछ सेवकों के साथ मृगया करता हुआ उस वन में उपस्थित हुआ। वहाँ उसने देह में भस्म लेपन किये हुए तपस्वी नरिष्यन्त और तप से कृश हुई इन्द्रसेना को देखकर जिज्ञासा की कि, आप कौन हैं ? और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन त्रिवर्णों में से कौन हैं, जो वानप्रस्थ को अवलम्बन करके वनवासी हो रहे हैं ? भूपति ने मौनव्रत ग्रहण किया था, इस कारण उसने तो कोई उत्तर नहीं दिया; किन्तु इन्द्रसेनाने उसे अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥९-१२॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

वपुष्मान् ने, उसे अपने शत्रु का पिता नरिष्यन्त यही है यह जानकर, "अब कहाँ जाता है ?—पा गया" कहते हुए क्रोध से उसकी जटाएँ पकड़ लीं ॥१३॥

तब इन्द्रसेना हाहाकार करती हुई रुँधे कण्ठ से रोने लगी। परन्तु उस दुराचारी ने उधर ध्यान न देकर म्यान से तलवार खींचकर क्रोध से यह कहा ॥१४॥

निर्ज्जितः समरे येन येन मे सुमना हृता ।
दमस्य तस्य पितरं हनिष्येऽवतु तं दमः ॥१५॥
येनाखिलमहीपाल-पुत्राः कन्यार्थमागताः ।
अवधूता हनिष्येऽहं पितरं तस्य दुर्म्मतेः ॥१६॥
योधनेषु स्वरूपेण दमो यस्य दुरात्मनः ।
स दमो वारयत्वेष हन्मि तस्य रिपोर्गुरुम् ॥१७॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा स दुराचारो वपुष्मानवनीपतिः ।
क्रन्दन्त्यामिन्द्रसेनायां शिरश्चिच्छेद तस्य च ॥१८॥
ततो धिग्धिङ्मुनिजना अन्ये च वनवासिनः ।
तमूचुः स च तं दृष्ट्वा जगाम स्वपुरं वनात् ॥१९॥
गते तस्मिन् विनिश्वस्य सेन्द्रसेना वपुष्मति ।
प्रेषयामास पुत्रस्य समीपं शूद्रतापसम् ॥२०॥
गच्छेथा आशु मे पुत्रं दमं ब्रूहि वचो मम ।
अभिज्ञो ह्यसि मद्भर्त्तृ-वृत्तान्तं प्रोच्यतेऽत्र किम् ॥२१॥

जिसने मुझे समराङ्गण में पराजित किया था, उसी दम के पिता का आज मैं वध करता हूँ; दम आकर मुझसे इसको बचावे ॥१५॥

कन्या-प्राप्ति के लिये आये हुए सभी राजपूतों को जिसने अपमानित किया था, उस दुर्मति दम के पिता को आज मैं मार रहा हूँ। जो दुरात्मा स्वभावतः योधाओं का दमन करने वाला है, आज उसी शत्रु के पिता का मैं संहार कर रहा हूँ, दम आकर इसकी रक्षा करे ॥१६-१७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

यह कह कर दुरात्मा राजा वपुष्मान् ने रोती हुई इन्द्रसेना के सामने ही तलवार से नरिष्यन्त का सिर काट लिया ॥१८॥

तब सब मुनिगण और अन्यान्य वनवासी लोग उस हत्यारे को धिक्कारने लगे। नरिष्यन्त का इस प्रकार निधन कर वपुष्मान् अपने नगर को लौट गया ॥ १९ ॥

उसके चले जानेपर इन्द्रसेना ने गहरी साँस भरकर एक शूद्र तापस को अपने पुत्र के पास भेजा ॥ २० ॥

उससे उसने कहा कि, मेरे पुत्र दम से यहाँ का सब समाचार कहना। मेरे स्वामी का सब वृत्तान्त तुम जानते हो; अतः इस सम्बन्ध में अधिक कुछ समझाने की आवश्यकता नहीं है ॥ २१ ॥

तथापि वाच्यः पुत्रो मे यद्ब्रवीम्यतिदुःखिता ।
लङ्घनामीदृशीं प्राप्तां विलोक्यैतां महीपतेः ॥२२॥
स भर्त्ताऽधिकृतो राजा चतुर्णां परिपालकः ।
त्वमाश्रमाणां किं युक्तं तापसान् यन्न रक्षसि ॥२३॥
भर्त्ता मम नरिष्यन्तस्तापसस्तपसि स्थितः ।
विलपन्त्यास्तथानाथो यथा नास्ति तथा त्वयि ॥२४॥
आकृष्य केशेषु बलादपराधं विना ततः ।
हतो वपुष्मता ख्यातिमिति ते भूपतिर्गतः ॥२५॥
एवं स्थिते तत् क्रियतां यथा धर्म्मो न लुप्यते ।
तथा च नैव वक्तव्यमतोऽस्मात् तापसी ह्यहम् ॥२६॥
पिता वृद्धस्तपस्वी च नापराधेन दूषितः ।
निहतो येन यत् तस्य कर्त्तव्यं तद्विचिन्त्यताम् ॥२७॥
सन्ति ते मन्त्रिणो वीराः सर्व्वशास्त्रार्थकोविदाः ।
तैः सहालोच्य यत् कार्य्यमेवम्भूते कुरुष्व तत् ॥२८॥
नास्माकमधिकारोऽत्र तापसानां नराधिप ! ।
कुरुष्वैतदितीत्थं त्वमेवं भूपतिभाषितम् ॥२९॥

फिर भी महीपति की यह अपमानजनक अवस्था देखकर मैं अत्यन्त दुःखित होकर जो कुछ कहती हूँ, वह तुम मेरी ओर से मेरे पुत्र से कहना कि, वत्स ! तुम राजा हो। चारों आश्रमों के लोगों के प्रतिपालक रूप से तुम नियुक्त हुए हो। परन्तु तुम तपस्वियों की रक्षा नहीं कर पाते, क्या यह तुम्हारे योग्य है ? मेरे पतिदेव नरिष्यन्त तपस्वी होकर तपस्या कर रहे थे। रक्षाकर्ता रूप से तुम्हारे विद्यमान रहते हुए अनाथ की तरह बिना अपराध के उनके केश पकड़ कर मेरा विलाप सुनते हुए वपुष्मान् ने उनका वध कर डाला है। तुम्हारे सम्बन्ध में यही प्रसिद्धि होगी कि, तुम्हारे राजा होते हुए यह कार्य हुआ। ऐसी अवस्था में जिससे धर्म का लोप न हो, ऐसा उपयुक्त कार्य करो। मैं तपस्विनी हूँ, इससे अधिक कुछ कहना मेरे लिए उचित नहीं है। तुम्हारे पिता प्रथम तो वृद्ध थे, दूसरे वे तपस्या कर रहे थे; अतः किसी अपराध से भी किसी के निकट अपराधी नहीं थे। फिर भी जिसने उनका प्राणनाश किया, उसके सम्बन्ध में इस समय तुम्हें क्या करना चाहिए, इसका विशेष रूप से तुम विचार करो। तुम्हारे मन्त्रिगण शास्त्रवेत्ता और वीर हैं। उनसे इस विषय में परामर्श कर अब जो कुछ उचित हो वह करो ॥ २२-२८ ॥

महाराज नरिष्यन्त ने अन्त समय में कहा कि—"मैं तापस हूँ, मुझे इस विषय में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है, तुम ही इस पर विचार करो" ॥ २९ ॥

विदूरथस्य जनको यवनेन यथा हतः।
तथायं तव पुत्रस्य कुलं तेन विनाशितम् ॥३०॥
जम्भस्यासुरराजस्य पिता दष्टो भुजङ्गमैः।
तेनाप्यखिलपाताल-वासिनः पन्नगा हताः ॥३१॥
पराशरेण पितरं शक्तिञ्च रक्षसा हतम्।
श्रुत्वाऽग्नौ पातितं कृत्स्नं रक्षसामभवत् कुलम् ॥३२॥
अन्यस्यापि स्ववंशस्य लङ्घना क्रियते हि या।
तां नालं क्षत्रियः सोढुं किं पुनः पितृमारणम् ॥३३॥
नायं पिता ते निहतो नास्मिन् शस्त्रं निपातितम्।
त्वामत्र निहतं मन्ये त्वयि शस्त्रं निपातितम् ॥३४॥
बिभेत्यस्य हि कः शस्त्रं न्यस्ते येन वनौकसाम्।
तव भूपस्य पुत्रस्य मारिते तु बिभेतु वा ॥३५॥
तवेयं लङ्घना युक्ता यदस्मिंस्तत् समाचर।
वपुष्मति महाराज सभृत्य-ज्ञाति-बान्धवे ॥३६॥

हे पुत्र ! विदूरथ का पिता जिस प्रकार यवनों के द्वारा मारा गया था, उसी प्रकार तुम्हारे पिता को मारकर वपुष्मान् ने तुम्हारे कुल का विनाश किया है ॥३०॥

असुरराज जम्भ का पिता सर्प के काटने से मरा था, इस कारण जम्भ ने समस्त पातालवासी पन्नगों को मार डाला था ॥ ३१ ॥

पराशर का पिता शक्ति राक्षस के द्वारा मारा गया था, इस कारण पराशर ने समस्त राक्षसकुलों को आग में जला दिया था ॥ ३२ ॥

स्ववंशीय किसी अन्य व्यक्ति का अपमान होने पर भी क्षत्रिय उसे सह नहीं सकते, फिर साक्षात् पिता के वध के सम्बन्ध में कहना ही क्या है ॥ ३३ ॥

मेरी समझ में तुम्हारे पिता निहत नहीं हुए हैं और न उनपर शस्त्राघात ही हुआ है। यह तो तुम ही मारे गये हो और तुम्हीं पर शस्त्रप्रहार किया गया है ॥ ३४ ॥

जो व्यक्ति वनवासियों पर शस्त्र चलाता है, उससे कौन डरता है ? उसका पौरुष ही क्या है ? वह पापी है। तुम अपने पिता के सुपुत्र और राजा हो। तुम यदि शत्रुओं को नष्ट करो, तो सभी तुमसे डरने लगेंगे। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो तुमसे कोई नहीं डरेगा और तुम्हारे राज्यशासन कार्य में भी बाधा पड़ेगी। तुम्हारा ही यह अपमान हुआ है। अतः हे महाराज ! वपुष्मान् के सम्बन्ध में भृत्य, जाति और बान्धवों के साथ जो कुछ करना हो, करो ॥ ३५-३६ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति संक्रान्तसन्देशमिन्द्रसेना विसृज्य तम् ।
पतिदेहमुपाश्लिष्य विवेशाग्निं मनस्विनी ॥३७॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे दमचरित्रवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१३४॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

मनस्विनी इन्द्रसेना ने इस प्रसक्त सन्देश को उससे कह कर उसे विदा किया और फिर पति के शरीर को आलिङ्गन कर अग्नि में प्रवेश किया ॥३७॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का दमचरित सम्बन्धी एक सौ चौंतीसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ।



पञ्चत्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

इन्द्रसेनासमाज्ञप्तः स गत्वा शूद्रतापसः ।
समाचष्टे यथाप्रोक्तं दमाय निधनं पितुः ॥१॥
तापसेन समाख्याते दमस्तेन पितुर्वधे ।
क्रोधेनातीव जज्वाल हविषेवाग्निरुद्धतः ॥२॥
स तु क्रोधाग्निना धीरो दह्यमानो महामुने ।
करं करेण निष्पिष्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥३॥
अनाथ इव मे तातो मयि पुत्रे तु जीवति ।
घातितः सुनृशंसेन परिभूय कुलं मम ॥४॥
न्यायवादो जने तस्याप्येष क्लैव्यात् क्षमाम्यहम् ।
दुर्वृत्तशान्तौ शिष्टानां पालनेऽधिकृता वयम् ।
पितरं चापि निहतं दृष्ट्वा जीवन्ति शत्रवः ॥५॥
तत् किमेतेन बहुना हा तातेति च किं पुनः ।
विलापेनात्र यत् कृत्यं तदेषोऽत्र करोम्यहम् ॥६॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—

इन्द्रसेना का संदेश लेकर शूद्र तापस दम के पास गया और उसे पिता के निधन का समाचार जिस रूप से घटित हुआ था तथा राज्ञी इन्द्रसेना का संदेश उसने कह सुनाया ॥१॥

तपस्वी पिता के वध का वृत्तान्त आद्योपान्त सुनकर घृताहुति से अग्नि जैसे अधिक प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार दम भी क्रोध से जल उठा ॥२॥

हे महामुने ! उसके स्वभावतः वीर होते हुए भी क्रोधानल से जल उठने के कारण हाथ पर हाथ रगड़ कर वह बोला ॥३॥

मुझ पुत्र के जीवित रहते हुए मेरे वंश के लिए अपमान जनक अनाथ की तरह मेरे पिता का उस नृशंस ने वध कर दिया ॥ ४ ॥

मैं अवश्य ही दुष्टों का दमन तथा शिष्टों का पालन करने के लिए नियुक्त हुआ हूँ। परन्तु जब कि, मेरे पिता निहित हो गये हैं और यह जानते हुए भी मेरे शत्रु जी रहे हैं, तब नपुंसक की तरह मैं उन्हें क्षमा कर रहा हूँ, यही लोग कहेंगे और यह जनापवाद ठीक भी होगा। अन्ततः अधिक बकवाद करने अथवा 'हा तात !' कहकर

यद्यहं तस्य रक्तेन देहोत्थेन वपुष्मतः ।
न करोमि गुरोस्तृप्तिं तत् प्रवेक्ष्ये हुताशनम् ॥७॥

तच्छोणितेनोदककर्म तस्य
तातस्य संख्ये विनिपातितस्य ।
मांसेन सम्यग्द्विजभोजनञ्च
न चेत् प्रवेक्ष्यामि हुताशनं तत् ॥८॥

साहाय्यमस्यासुर-देव-यक्ष-
गन्धर्व-विद्याधर-सिद्धसङ्घाः ।
कुर्वन्ति चेत् तानपि चास्त्रपूगै-
र्भस्मीकरोम्येष रुषा समेतः ॥९॥

निःशूरमाधर्मिकमप्रशस्तं
तं दाक्षिणात्यं समरे निहत्य ।
भोक्ष्ये ततोऽहं पृथिवीञ्च कृत्स्नां
वह्निं प्रवेक्ष्याम्यनिहत्य तं वा ॥१०॥

सुदुर्मतिं तापसवृद्धमौनिनं
वनस्थितं शान्तवचोविविग्नम् ।

विलाप करने से ही क्या होना है ? इस समय मेरा जो कर्त्तव्य है, वही मैं करूँगा । यदि मैं वपुष्मान् के शरीर के रक्त से पिता का तर्पण न करूँ, तो अवश्य ही अग्नि में प्रवेश करूँगा ॥ ५-७ ॥

युद्ध में उसे मारकर, उसके शोणित से मृत पिता का तर्पण कर, उसका मांस यदि चील-कौओं को न खिला दूँ, तो मैं आग में जलकर मर जाऊँगा ॥ ८ ॥

असुर, देव, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर और सिद्धगण भी यदि उसकी सहायता करें, तो उन्हें भी उसी क्षण क्रोधपूर्वक अस्त्र की अग्नि से भस्मीभूत कर दूँगा ॥ ९ ॥

उस शौर्यहीन, अधार्मिक और निन्दित दाक्षिणात्यको समर में मारकर ही समग्र पृथिवी का उपभोग करूँगा और यदि उसे न मार सका, तो अग्नि में प्रवेश करूँगा ॥ १० ॥ मेरे वनवासी, मौनव्रती, तपोनिरत वृद्ध पिता के उद्विग्न होकर शान्त वचन कहने पर भी जिस दुर्मति ने उनकी हत्या की है, मैं आज अपने सब बन्धुओं,

हन्ताऽहमद्याखिलबन्धुमित्र-
पदाति-हस्त्यश्व-बलैः समेतम् ॥११॥
एषोऽहमादाय धनुः सखड्गो
रथी तथैवारिबलं समेत्य ।
करोमि वै यत् कदनं समस्ताः
पश्यन्तु मे देवगणाः समेताः ॥१२॥
यो यः सहायो भविताद्य तस्य
मया समेतस्य रणाय भूयः ।
तस्याशु निःशेषकुलक्षयाय
समुद्यतोऽहं निजबाहुसैन्यः ॥१३॥
यदि कुलिशकरोऽस्मिन् संयुगे देवराजः
पितृपतिरथ चोग्रं दण्डमुद्यम्य कोपात् ।
धनपति-वरुणार्का रक्षितुं तं यतन्ते
निशितशरवरौघैर्घातयिष्ये तथापि ॥१४॥

मित्रों, पदातियों, हाथियों, घोड़ों और सेनाको साथ लेकर उसे रण में मार गिराऊँगा ॥ ११ ॥

आज मैं खड्ग और धनुष हाथ में लेकर, रथ में सवार होकर और शत्रुसैन्य में उपस्थित होकर उनका जैसा संहार करूँगा, उसे समस्त देवगण अवलोकन करें ॥ १२ ॥

जब उससे मेरा युद्ध छिड़ जायगा, तब उसके ज़ो सहायक होंगे, उनका भी इन बाहुरूपी सेनाओं द्वारा उसी क्षण निःशेषरूप से वंशक्षय करने पर मैं तुल गया हूँ ॥ १३ ॥

इस युद्धस्थल में हाथ में वज्र लेकर इन्द्र, उग्र, दण्ड लेकर क्रुद्ध यम, कुबेर, वरुण और सूर्य भी यदि उसकी रक्षा करने आवें, तो भी तीखे बाणों के द्वारा मैं उस वपुष्मान् का विनाश किये विना न रहूँगा ॥ १४ ॥

नियतमतिरदोषः काननाखण्डलौको-
निपतितफलभक्षः सर्वभूतेषु मैत्रः ।
प्रभवति मयि पुत्रे हिंसितो येन तातः
पिशितरुधिरतृप्तास्तस्य सन्त्वद्य गृध्राः ॥१५॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे दमचरित्रवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१३५॥

मुझ प्रतापशाली पुत्र के जीवित रहते हुए जिसने मेरे संयतचित्त, निर्दोष, वनवासी वृक्ष से स्वाभाविक रूप से गिरे हुए फल खाकर जीवन धारण करनेवाले और सब प्राणियों से प्रेम करनेवाले पिताकी हत्या की है, आज उसके रक्त और मांस से गृद्धों के झुण्ड तृप्ति लाभ करें ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का दमचरित सम्बन्धी एक सौ पैंतीसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ।



षट्त्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

इति प्रतिज्ञाय तदा नरिष्यन्तसुतो दमः ।
कोपामर्षविवृत्ताक्षः श्मश्रुमावृत्य पाणिना ॥१॥
हा हतोऽस्मीति पितरं ध्यात्वा दैवं विनिन्द्य च ।
प्रोवाच मन्त्रिणः सर्व्वानानिनाय पुरोहितम् ॥२॥

दम उवाच—

यदद्य युक्तं तद् ब्रूत ताते प्राप्ते सुरालयम् ।
श्रुतं भवद्भिर्यत् प्रोक्तं तेन शूद्रतपस्विना ॥३॥
वृद्धस्तपस्वी स नृपो वानप्रस्थे व्रते स्थितः ।
मौनव्रतधरः शास्ता मन्मात्रा चेन्द्रसेनया ॥४॥
प्रोक्तं संपृष्टया सर्व्वं तथा तथ्यं वपुष्मते ।
स च खड्गं समाकृष्य तथा सव्येन पाणिना ॥५॥
कृत्वा जघान दुष्टात्मा लोकनाथमनाथवत् ।
माता च मां समुद्दिश्य धिक् शब्दं कुर्वती सती ॥६॥
मन्दभागं गतश्रीकं प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।
समालिङ्ग्य नरिष्यन्तं प्रविष्टा त्रिदशालयम् ॥७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

नरिष्यन्तपुत्र दम इस प्रकार प्रतिज्ञा कर क्रोध से आँखें तरेर कर मोछोंपर हाथ फेरता हुआ 'हा हतोस्मि !' कहकर पिता के विषय में खेद और अपने भाग्य की निन्दा करने लगा, पुरोहितों और मन्त्रियों को बुलाकर उनसे कहा ॥ १-२ ॥

दम ने कहा :—

पिताजी स्वर्ग सिधार गये हैं। शूद्र तापस ने जो कुछ कहा, वह तुम्हें ज्ञात हो गया है। अब मुझे क्या करना चाहिये, कहें ॥ ३ ॥

सब लोकों के शास्ता उस नृपवर ने वृद्धावस्था में वानप्रस्थ व्रत ग्रहण कर तपश्चर्या करते हुए मौनव्रत का अवलम्बन किया था और वपुष्मान् के पूछने पर माता इन्द्रसेना ने उसे अपना सारा सच्चा परिचय दिया था। तब उस दुरात्माने तलवार खींचकर बायें हाथ से उनके केश पकड़ कर अनाथ की तरह उनको काट डाला। मैं नितान्त तेजोहीन और अभागा हूँ। मेरी सती माता ने मुझे धिक्कार करते हुए पिता नरिष्यन्तको गोद में लेकर चितापर आरोहण कर स्वर्ग में प्रवेश किया है ॥ ४-७ ॥

सोऽहमद्य करिष्यामि यन्मे मातुरुदीरितम् ।
हस्त्यश्वरथपादातं सैन्यश्च परिकल्पताम् ॥८॥
अनिवार्य्यं पितुर्वैरमहत्वा पितृघातकम् ।
अकृत्वा च वचो मातुर्जीवितुं किमिहोत्सहे ॥९॥

मार्कंण्डेय उवाच—

मन्त्रिणस्तद्वचः श्रुत्वा हा हेत्युक्त्वा तथा च तत् ।
कृतवन्तो विमनसः सभृत्यबलवाहनाः ॥१०॥
निर्ययुः सपरीवाराः खड्गशक्त्यर्ष्टिपाणयः ।
गृहीत्वा चाशिषो विप्रात् त्रिकालज्ञात् पुरोधसः ॥११॥
अहिराडिव निःश्वस्य दमः प्रायाद्वपुष्मतम् ।
सीमापालादिसामन्तान् निघ्नन् याम्यदिशि त्वरन्॥१२॥
सक्रन्दनसुतेनापि दमो ज्ञातो वपुष्मता ।
आयातः सपरीवारः सामात्यः सपरिच्छदः ॥१३॥
अकम्पितेन मनसा स्वसैन्यान्यादिदेश ह ।
दूतं च प्रेषयामास निर्गम्य नगराद्बहिः ॥१४॥
त्वं शीघ्रतरमागच्छ नरिष्यन्तः प्रतीक्षते ।
सभार्य्यः क्षत्रबन्धो त्वं समायाहि ममान्तिकम् ॥१५॥

माता ने मेरे पास जैसा संदेश भेजा है, मैं वैसा ही करूँगा। हाथी, घोड़े, रथ और पदातियों की चतुरङ्गिणी सेना सुसज्जित हो ॥ ८ ॥

पिता के वैरका बदला बिना चुकाये, पिता के हत्यारे का विनाश किये और माताकी आज्ञा का पालन किये बिना मुझे जीने का अधिकार ही क्या है ॥ ९ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

दमकी बातें सुनकर मन्त्रियों ने हाहाकार करते हुए शोक प्रकाश किया और विमनस्क भाव से राजाकी आज्ञा के अनुसार कार्य सम्पादन किया। राजा भी भृत्य, सैन्य, वाहन, खड्ग, शक्ति, ऋष्टि आदि से सुसज्जित हो, सपरिवार युद्ध के लिये चल पड़ा। चलते समय उसने त्रिकालज्ञ ब्राह्मण पुरोहितों से आशीर्वाद ग्रहण किये थे। (राजाप्रासाद से निकलकर) शेषनाग की तरह निःश्वास परित्याग करता और सीमापालादि सामन्तों को मारता काटता, दम वपुष्मान् के राज्य में घुस गया ॥ १०-१२ ॥

सायुध, सशस्त्र, सपरिवार मन्त्रियों के साथ योधा के रूप में दम दाक्षिणात्य राज्य पर चढ़ आया है, यह समाचार पाकर संक्रन्दनपुत्र वपुष्मान् विचलित नहीं हुआ, उसने अपनी सेनाको युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाने का आदेश दिया और राजधानी के बाहर आकर दम के पास दूत भेजकर सूचना दी कि, रे क्षत्रियाधम ! आ, शीघ्रता से चला आ ! नरिष्यन्त अपनी भार्या के साथ तेरी प्रतीक्षा कर रहा है। इसलिये तू मेरे पास शीघ्रता से दौड़ आ ॥ १३-१५ ॥

एतें मद्बाहुनिर्मुक्ताः पीता वाणाः शिलाशिताः ।
भित्त्वा शरीरं संग्रामे पास्यन्ति रुधिरं तव ॥१६।

मार्कण्डेय उवाच—

श्रुत्वा दमस्तु तत् सर्व्वं दूतप्रोक्तं ययौ त्वरन् ।
स्मृत्वा प्रतिज्ञां पूर्व्वोक्तां निश्वसन्नुरगो यथा ॥१७।
आहूय समरे चैनं पुमान् स न विकत्थते ।
ततो युद्धमतीवासीद्दमस्य च वपुष्मतः ॥१८।
रथी च रथिना नागो हस्तिना हयिना हयी ।
अयूयुध्यत विप्रर्षे स युद्धस्तुमुलोऽभवत् ॥१९।
पश्यतां सर्वदेवानां सिद्धगन्धर्वयज्विनाम् ।
चकम्पे वसुधा ब्रह्मन् युध्यमाने दमे क्रुधा ॥२०।
न गजो न रथी नाश्वस्तस्य वाणसहस्तु यः ।
ततो दमेन युयुधे सेनाध्यक्षो वपुष्मतः ॥२१।
हृदि विव्याध च दम इषुणा गाढमन्तिके ।
तस्मिन् निपतिते सैन्यं पलायनपरं ययौ ।
सस्वामिकं ततः प्राह दमः , शमदमस्तथा ॥२२।

कितने ही वीरों का जिन्होंने रुधिर-पान किया है, ऐसे ये सानपर चढ़ाकर तीव्र किये हुए बाण रणाङ्गण में मेरे हाथ से छूटकर तेरे शरीरको फाड़कर तेरा रक्त पान करेंगे ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

दम ने दूत का वचन सुनकर अपनी पूर्वप्रतिज्ञा का स्मरण किया और उरग की तरह साँसें भरता हुआ वह शीघ्रता से पैर बढ़ा कर वपुष्मान् को संग्राम के लिये ललकार कर बोला,—जो सच्चा पुरुष है, वह आत्मश्लाघा कभी नहीं करता। तदनन्तर दम और वपुष्मान् का घोर युद्ध आरम्भ हो गया। रथी से रथी, हाथी से हाथी और घुड़सवारों से घुड़सवार भिड़ने लगे। हे विप्रर्षे! सभी देवगण, सिद्ध, गन्धर्व और याज्ञिक लोग देख रहे थे और उन्हीं के सामने यह युद्ध हो रहा था। हे ब्रह्मन्! दम जब क्रोधपूर्वक युद्ध में प्रवृत्त हुआ, तब वसुन्धरा काँपने लगी ॥१७-२०॥

ऐसा कोई हाथी, घोड़ा या रथी नहीं था, जो उसके बाण को सह सकता तब वपुष्मान् का सेनापति दम के साथ युद्ध करने लगा ॥२१॥

किन्तु दमने बाण से उसका हृदय छेद डाला और वह यमपुरी चला गया। सेनापति के आहत होते हो (वपुष्मान्) और उसको सभी सेनाएँ रण-भूमि से भागने लगों। यह देखकर शत्रुओं की शान्ति का भङ्ग करने वाले दम ने स्वामी से कहा—॥२२॥

दम उवाच—

क्व याहि दुष्ट पितरं घातयित्वा तपस्विनम् ।
अशस्त्रञ्च तपस्यन्तं क्षत्रियोऽसि निवर्त्तताम् ॥२३।

मार्कण्डेय उवाच—

ततो निवर्त्त्य स दम्भो योधयामास सानुजः ।
सपुत्रः सह सम्बन्धि-बान्धवैर्युयुधे रथी ॥२४।
ततः शरासनान्मुक्तैर्वाणैर्व्याप्तं नभो दिशः ।
दमं च सरथं साश्वं वाणजालैरपूरयत् ॥२५।
ततः पितृवधोत्थेन कोपेन स दमस्तथा ।
चिच्छेद तान् शरांस्तेषां विव्याधाङ्गेषु तानपि ॥२६।
एकेनैकेन वाणेन सप्त पुत्रांस्तथानुजान् ।
सम्बन्धिनस्तथामित्राण्यनद्यमसादनम् ॥२७।
वपुष्मान् स रथी क्रोधान्निहतात्मजबान्धवः ।
युयुधे च दमेनाजौ शरैराशीविषोपमैः ॥२८।
चिच्छेद तस्य तान् वाणान् स चास्य च महामुने ।
युयुधातेऽतिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ॥२९।

दम ने कहा :—

रे दुष्ट ! तूने मेरे शस्त्रविहीन, तपस्वी पिता की हत्या की है; अब कहाँ भागा जा रहा है । तू यदि क्षत्रिय है, तो लौट आ ॥२३॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

फिर वपुष्मान् ने अनुज, पुत्र, सम्बन्धी और बान्धवों के साथ लौट कर रथ में चढ़कर फिर युद्ध आरम्भ किया । उस समय वपुष्मान् ने धनुष से वाणों का ताँता बाँधकर आकाश और दिशाओं को आच्छन्न कर दिया और दम को अश्वों तथा रथों सहित शरजाल से घेर लिया ॥२४-२५॥

पितृवध से क्रुद्ध हुए दम ने अपने बाणों से शत्रु के शरजाल को काट डाला और शत्रुओं के अङ्ग-प्रत्यङ्ग विच्छिन्न कर दिये ॥२६॥

फिर उसने एक-एक बाण से उसके सातों पुत्रों, अनुजों, सम्बन्धियों और मित्रों को काट-काट कर यमसदन में भेज दिया ॥२७॥

पुत्रों-मित्रों के हत होने के कारण वपुष्मान् और भी अधिक क्रुद्ध हो गया और साँपों की तरह बाणों की वर्षा करता हुआ दम के साथ युद्ध करने लगा ॥२८॥

उसके बाणों को दम और दम के बाणों को वह बराबर काटता जाता था । हे महामुने ! इस प्रकार अतिशय क्रोध में भरकर दोनों एक दूसरे के वध की इच्छा से दारुण युद्ध कर रहे थे ॥२९॥

परस्परशराघात-विच्छिन्नधनुषौ तथा ।
गृहीतखड्गावुत्तोर्यं चिक्रीडाते महाबलौ ॥३०।
दमः क्षणं नृपं ध्यात्वा निहतं पितरं वने ।
केशेष्वाकृष्य चाक्रम्य निपात्य धरणीतले ।
शिरोधरायां पादेन भुजमुद्यम्य चाब्रवीत् ॥३१।

दम उवाच—

पश्यन्तु देवताः सर्वा मानुषाः सिद्ध-पन्नगाः ।
पाटयमानं हि हृदयं क्षत्रबन्धोर्वपुष्मतः ॥३२।

मार्कण्डेय उवाच—

एवमुक्त्वा च स दमो हृदयं पाट्य चासिना ।
स्नातुकामैश्च स सुरैः क्षतजेन निवारितः ॥३३।
ततश्च कारितस्तस्य रक्तेनैवोदकक्रियाम् ।
वपुष्मतश्च मांसेन पिण्डदानं चकार ह ॥३४।
ब्राह्मणान् भोजयामास रक्षःकुलसमुद्भवान् ।
आनृण्यं प्राप्य स पितुः पुनः प्रायात् स्वकं पुरम् ॥३५।

लड़ते-लड़ते एक दूसरे के बाणों से दोनों के धनुष टूट गये। तब दोनों ने तलवारें खींचकर युद्ध-क्रीड़ा करना आरम्भ किया ॥३०॥

वन में मारे गये पिता का क्षण भर विचार कर दमने वपुष्मान् के केश पकड़ लिये और उसे भूमि पर पटककर तथा उसकी छाती पर घुटना धर कर हाथ उठा कर उच्च स्वर से कहा ॥३१॥

दम ने कहा—

सभी देवगण, मनुष्यगण, सिद्ध और पन्नगगण देखें, मैं इस क्षत्रियाधम वपुष्मान् का हृदय विदारण कर रहा हूँ ॥३२॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा :—

यह कह कर दमने तलवार से वपुष्मान् की छाती चीर दी। उसके रक्त से जब वह स्नान करने को उद्यत हुआ, तब देवताओं ने उसे रोक दिया ॥३३॥

फिर उसी के रक्त से दम ने पिता की उदक-क्रिया की, उसके मांस का पिता को पिण्ड प्रदान किया और शेष मांस राक्षस-कुल में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों को खिला दिया। इस प्रकार पिता के ऋण से मुक्त होकर दम अपनी राजधानी में लौट आया ॥ ३४-३५ ॥

एवं विधा हि राजानो बभूवुः सूर्यवंशजाः ।
अन्येऽपि सुधियः शूरा यज्वानो धर्मकोविदाः ॥३६।

वेदान्तपारगांस्तांश्च न संख्यातुमिहोत्सहे ।
एतेषां चरितं श्रुत्वा नरः पापाद्विमुच्यते ॥३७।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे दमचरितवर्णने वपुष्मन्निधनं नाम षट्त्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ।

सूर्य वंश में ऐसे अनेक बुद्धिमान्, शौर्यशाली, यागपरायण, धर्मवेत्ता और वेदान्त-पारग भूपति हुए हैं, जिनकी गणना करना सहज नहीं है। उनके चरित्र सुनने से मनुष्यों के सब पाप कट जाते हैं ॥३६-३७॥

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का दमचरितवर्णन में वपुष्मन्-निधन नामक एक सौ छत्तीसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ।



सप्तत्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पक्षिण ऊचुः—

इत्येवमुक्त्वा स मुनिर्मार्कण्डेयो महातपाः ।
विसृज्य क्रौष्टुकिञ्चापि चक्रे माध्याह्निकीः क्रियाः ॥१॥
अस्माभिश्च श्रुतं तस्माद्यत् ते प्रोक्तं महामुने ! ।
अनादिसिद्धमेतद्धि पुरा प्रोक्तं स्वयम्भुवा ॥२॥
मार्कण्डेयाय मुनये यदुक्तं कथितं तव ।
पुण्यं पवित्रमायुष्यं सर्वकामार्थसिद्धिदम् ॥३॥
पठतां शृण्वताञ्चापि सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
आदावेव कृता ये च प्रश्ना हि चतुरस्त्वया ॥४॥
पितापुत्रस्य संवादस्तथा सृष्टिः स्वयम्भुवः ।
तथा मनूनामुत्पत्तीः राज्ञाञ्च चरितं मुने ॥५॥
अस्माभिरेतत् ते प्रोक्तं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।
एतान् सर्वान् नरः शृण्वन् पठन्नपि सभासु च ।
विधूय सर्वपापानि ब्रह्मण्येव लयं व्रजेत् ॥६॥

पक्षियों ने कहा :—

महातपा मार्कण्डेय मुनि ने इस प्रकार कथा सुना कर क्रौष्टुकी को विदा किया और फिर मध्याह्न की क्रिया समाप्त की ॥१॥

हे महामुने ! मैंने जो आप से निवेदन किया यह अनादिसिद्ध पुराण स्वयम्भू ने मार्कण्डेय मुनि को सुनाया था वही हमने आपको सुनाया है। हमने यह जो मनोज्ञ पुण्यकर और पवित्र पुराण सुनाया, इसके पाठ या श्रवण से आयु की वृद्धि, सब कामनाओं की सिद्धि होती है ॥२-३॥

इसके पढ़ने और सुनने से मनुष्यों की सब पापों से मुक्ति होती है। आपने हमसे जो चार प्रश्न किये थे, पिता-पुत्र-संवाद, स्वयम्भू की सृष्टि, मनुष्यों की उत्पत्ति तथा राजाओं के चरित्र ये मैंने भलीभाँति सुना दिये हैं। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? जो मैंने तुमको सुनाया, उसके सुनने और सभा-स्थल में सुनाने से श्रोता और पाठक दोनों सभी पापों से विमुक्त होकर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ॥४-६॥

अष्टादश पुराणानि यानि प्राह पितामहः ।
तेषां तु सप्तमं ज्ञेयं मार्कण्डेयं सुविश्रुतम् ॥७॥
ब्राह्मयं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं तथा ।
तथान्यन्नारदीयञ्च मार्कण्डेयं च सप्तमम् ॥८॥
आग्नेयमष्टमं प्रोक्तं भविष्यं नवमं स्मृतम् ।
दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं नृसिंहैकादशं तथा ॥९॥
वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कान्दमत्र त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनकं कौर्मं पञ्चदशं तथा ॥१०॥
मात्स्यं च गारुडञ्चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम् ।
अष्टादशपुराणानां नामधेयानि यः पठेत् ॥११॥
त्रिसन्ध्यं जपते नित्यं सोऽश्वमेधफलं लभेत् ।
चतुःप्रश्नसमोपेतं पुराणं मार्कण्डसंज्ञकम् ॥१२॥
श्रुतेन नश्यते पापं कल्पकोटिशतैः कृतम् ।
ब्रह्महत्यादिपापानि तथान्यान्यशुभानि च ॥१३॥
तानि सर्वाणि नश्यन्ति तूलं वाताहतं यथा ।
पुष्करस्नानजं पुण्यं श्रवणादस्य जायते ॥१४॥
बन्ध्या वा मृतवत्सा वा शृणोति यदि तत्त्वतः ।
सापि वै लभते पुत्रं सर्वलक्षणसंयुतम् ।
धनधान्यमवाप्नोति स्वर्गलोकं तथाक्षयम् ॥१५॥

पितामह ब्रह्मा ने अठारह पुराण सुनाये थे, उनमें से यह सुविख्यात मार्कण्डेय पुराण सातवाँ है। १—ब्रह्म, २—पद्म, ३—विष्णु, ४—शिव, ५—भागवत, ६—नारदीय, ७—मार्कण्डेय, ८—अग्नि, ९—भविष्य, १०—ब्रह्मवैवर्त, ११—नृसिंह, १२—वराह, १३—स्कन्द, १४—वामन, १५—कूर्म, १६—मत्स्य, १७—गरुड़ और १८—ब्रह्माण्ड, इन अठारह पुराणों का नाम जो व्यक्ति प्रतिदिन एक बार या तीनों समय जप करता है, उसे अश्वमेध के समान फल प्राप्त होता है ॥ ९-१२ ॥

चार प्रश्नों से युक्त इस मार्कंडेयपुराण के सुनने से सौ करोड़ कल्पों का किया हुआ पाप कट जाता है और ब्रह्महत्यादि समस्त महापाप तथा अमङ्गल आदि वायु के झकोरें से रुई के समान उड़ जाते हैं। पुष्कर में स्नान करने से जो पुण्य होता है, वही इस पुराण के श्रवण से प्राप्त होता है ॥ १३-१४ ॥

इसके श्रवण से इस लोक में धन, धान्य तथा परलोक में अक्षय्य स्वर्ग का लाभ होता है ॥ १५ ॥

सुरापश्चोग्रकर्मा च श्रुत्वैतत् सकलं नरः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स्वर्गलोके महीयते ॥१६।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं धनधान्यसुतादिकम् ।
वंशञ्चैव व्यवच्छेदी प्राप्नोति द्विजसत्तम ॥१७।
श्रुत्वैतत् सकलं विप्र यत् कुर्यात् तन्निशामय ।
अग्निं समाधाय ततो होमं कुर्याद्विचक्षणः ॥१८।
ध्यात्वा पुराणं गोविन्दं हृत्पद्मे मुनिसत्तम ।
पूजां वपुष्मतैर्वेद्यैर्गन्धमाल्याम्बरैस्तथा ॥१९।
वाचकन्तु सपत्नीकं पूजयेन्मुनिसत्तम ! ।
वाचकाय ततो देया गौः सवत्सा पयस्विनी ॥२०।
भूमिः शस्यवती विप्र ! हिरण्यं रजतं तथा ।
यथाशक्त्या च दातव्यं नृपैर्ग्रामादिवाहनम् ॥२१।
वाचकं तोषयित्वा तु स्वस्तीति समुदीरयेत् ।
अपूज्य वाचकं यस्तु श्लोकमेकं शृणोति हि ॥२२।
नासौ पुण्यमवाप्नोति शास्त्रचौरः स्मृतो बुधैः ।
न तस्य देवाः प्रीणन्ति पितरो नैव पुत्रकान् ॥२३।

सुरापान करनेवाले तथा अन्यान्य उग्र कर्म करनेवाले मनुष्य यदि इस पुराणको आद्योपान्त सुनें, तो वे सब पापों से छुटकारा पाकर स्वर्गलोक में पूजित होते हैं ॥ १६ ॥

हे द्विजोत्तम ! इसके सुनने से आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन, धान्य, पुत्र आदि की प्राप्ति होती है और सुनानेवाले का वंश अविच्छिन्न बना रहता है ॥ १७ ॥

हे विप्र ! इस पुराण को श्रवण करने पर जो करना पड़ता है, वह मैं सुनाता हूँ। समग्र पुराण सुन लेने पर विचक्षण व्यक्तिको अग्निस्थापन कर होम करना चाहिये ॥ १८ ॥

हे मुनिसत्तम ! हृदयकमल में पुराणरूपी गोविन्द का ध्यान कर और 'वपुष्मत' वेदमन्त्रों से गन्ध, माल्य, वस्त्र आदि से उनकी पूजा करे, (सपत्नीक) पुराणपाठक का सत्कार करना चाहिये । हे विप्र ! उसे सवत्सा गौ, उपजाऊ भूमि, सोना और चाँदी यथाशक्ति दान करना चाहिये। राजा श्रोता हो, तो वह गाँव-वाहनादि प्रदान करे। इस प्रकार कथावाचक को संतुष्ट कर उससे 'स्वस्ति' वाचन श्रवण करे। जो व्यक्ति वाचक का सत्कार न कर श्लोक भी सुन लेता है, उसको कोई पुण्य नहीं होता। ऐसे श्रोताओं को विद्वान् लोग शास्त्रचोर कहते हैं। देवता उनसे अप्रसन्न रहते हैं और

दत्तं श्राद्धं न चेच्छन्ति स्नानतीर्थफलं न च ।
लभते शास्त्रचौरोऽसौ निन्दितो वेदपाठकैः ॥२४॥

मार्कण्डेयसमाप्तौ तु ह्युत्सवं कारयेद् बुधः ।
धेनुं पयस्विनीं दद्यात् सर्वपापविमुक्तये ॥२५॥

वसनानि च रत्नानि सपत्नीकद्विजातये ।
कुण्डले कञ्चुकोष्णीषं शय्यां सोपस्करामपि ॥२६॥

सोपानत् करकं स्वर्ण-मुद्रिकां सप्तधान्यकम् ।
कांस्यपात्रं भोजनार्थं घृतपात्रसमन्वितम् ॥२७॥

एवं कृते द्विजश्रेष्ठ ! कृतकृत्यो भवेन्नरः ।
अश्वमेधसहस्रस्य राजसूयशतस्य च ॥२८॥

फलं वै समवाप्नोति श्रुत्वा सम्यग्विधानतः ।
न चैव यमभीतिः स्यान्न तस्य नरकाद् भयम् ॥२९॥

सर्वपापविनिर्मुक्तः कृतकृत्यो भवेन्नरः ।
अविच्छिन्नः सदा वंशो भविष्यति न संशयः ॥३०॥

स गच्छेदिन्द्रलोकं च ब्रह्मलोकं सनातनम् ।
च्युतस्ततः पुनर्नैव स भविष्यति मानवः ॥३१॥

पितृगण संतुष्ट नहीं होते है । उनका किया श्राद्ध पितर नहीं पाते और वेदपाठकों के द्वारा निन्दित उन शास्त्रचोरों को स्नान, तीर्थ आदिका भी फल नहीं मिलता ॥१९-२४॥

मार्कण्डेयपुराण का पाठ समाप्त होने पर बुधगण उत्सव करें और सब पापों से छुटकारा पाने के लिये सपत्नीक ब्राह्मणों को दूध देनेवाली, गाय, वस्त्र, रत्न, कुण्डल, चोली, पगड़ी, बिछौने के साथ पलङ्ग, जूते, कमण्डलु, सोने की मुद्रा, सप्तधान्य, भोजन के लिये घृतपात्र और काँसे की थाली प्रदान करें । हे द्विजश्रेष्ठ ! ऐसा करने से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है । यह पुराण जो विधिपूर्वक अच्छी तरह सुनते हैं, उन्हें सहस्र अश्वमेधों तथा सौ राजसूय यज्ञों का फल होता है । उनका यम-भय दूर हो जाता है, नरक-भय छूट जाता है, सब पापों से निवृत्ति होती है और एक ही साथ समग्र कुल पवित्र हो जाता है । निःसंदेह उनका वंश अविच्छिन्न रहता है और अन्त में उन्हें इन्द्रलोक तथा सनातन ब्रह्मलोक प्राप्त होने पर फिर वहाँ से गिरकर मनुष्य का शरीर नहीं प्राप्त करना पड़ता है ॥ २५-३१ ॥

पुराणश्रवणादेव परं योगमवाप्नुयात् ।
नास्तिकाय न दातव्यं वृषले वेदनिन्दके ॥३२।
गुरुविद्वेषके चैव तथा भग्नव्रतेषु च ।
पितृमातृपरित्यागे सुवर्णस्तेयिने तथा ॥३३।
भिन्नमर्यादके चैव तथैव ज्ञातिदूषके ।
एतेषां नैव दातव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥३४।
लोभाद्वा यदि वा मोहाद् भयाद्वापि विशेषतः ।
पठेद्वा पाठयेद्वापि स गच्छेन्नरकं ध्रुवम् ॥३५।

जैमिनिरुवाच—

भारते नाभवद्यन्मे सन्देहस्फोटनं द्विजाः ।
तद्भवद्भिः कृतं मैत्रात् कश्चिदन्यः करिष्यति ॥३६।
यूयं दीर्घायुषः स्थोच्चैर्नीरोगा वृत्तिसंयुताः ।
सांख्ययोगे तथा चास्तु बुद्धिरव्यभिचारिणी ॥३७।
पितृशापकृताद्दोषाद्दौर्मनस्यं व्यपैतु वः ।
एतावदुक्त्वा वचनं स जगाम स्वमाश्रमम् ॥३८।

इस एकमात्र पुराण के सुनने से मनुष्यको उत्कृष्ट योग की प्राप्ति होती है। परन्तु यह पुराण कण्ठगत प्राण होने पर भी नास्तिक, शूद्र, वेदनिन्दक, गुरुद्वेष्टा, व्रतको भङ्ग करनेवाले, माता-पिताका त्याग करनेवाले, सोना चुरानेवाले, मर्यादाको तोड़नेवाले और ज्ञातिदूषक व्यक्ति को कदापि नहीं देना चाहिये, न सुनाना ही चाहिये। ऐसे व्यक्तियों में से यदि कोई लोभ, मोह अथवा भयके वशीभूत होकर इस पुराण का पाठ करे या किसी से पाठ कराकर सुने, या इन्हीं कारणों से ऐसे व्यक्तियों को कोई यह पुराण सुनाये, तो वह अवश्य ही नरक में चला जायेगा ॥ ३२-३५ ॥

जैमिनी मुनि ने कहा :—

हे पक्षियो ! महाभारत के अध्ययन से हमारे जो संदेह नहीं मिटे, वे तुमने सख्यभाव से मिटा दिये हैं। यह कार्य दूसरा कौन करेगा ! ॥ ३६ ॥

तुम बहुत दीर्घायु और नीरोग होकर वृत्ति सम्पन्न हो। तुम्हारी बुद्धि सांख्य-योग में अव्यभिचारणी हो और पितृ-शाप से उत्पन्न हुए दौर्मनस्य से तुम्हारा छुटकारा

चिन्तयन् परमोदारं पक्षिणां वाक्यमीरितम् ।
जैमिनिः सुमहाभागः पूजयित्वा द्विजोत्तमान् ॥३९॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे फलस्तुतिर्नाम सप्तत्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१३७॥

हो। महाभाग जैमिनि ने यह कहकर और पक्षिरूपी द्विजश्रेष्ठ की पूजाकर उनकी सुनायी हुई उदार पुराण-कथापर विचार करते हुए अपने आश्रम की ओर चले गये ॥ ३७-३९ ॥



पर्यालोचन

प्रयोजन को देखकर ही मानव की प्रवृत्ति होती है। मार्कण्डेयपुराण में आद्यन्त दीप्ति की ही उपासना विहित है। सभी देवों की तेजःपुञ्ज के रूप में भगवती का आगमन होता है। उनकी आराधना के सावर्णिमनु की उत्पत्ति होती है। अन्य मनुओं की उत्पत्ति में भी अग्नि, आदित्य, गन्धर्वादि का शक्तिपात अपेक्षित देखा गया है। चित्त की निर्मलता के लिए जिन साधनों की अपेक्षा होती है, उनका निर्देश सुहृत्सम्मित वाक्यों से चरित्रों के द्वारा इस पुराण से उपलब्ध है। इसके वैशिष्ट्य की ओर दृष्टिपात करने पर यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि पुरुषोत्तम या मर्यादित मानव जीवन के गुणों की ही व्याख्या इसमें उपलब्ध है। वाक्सूक्त की व्याख्या एवं अखण्ड अदिति के द्वारा आदित्य की साधना तथा अग्नि देव के द्वारा चरम परम ज्ञान की उपलब्धि के द्वारा मानव-जीवन के साधक विषयों का सन्निवेश है। अठारह महापुराणों में यह सातवाँ महापुराण है। जीवन के साफल्य के लिए प्रत्येक गृह में इसके कतिपय अध्यायों की आवृत्ति होती है। इस पुराण के उपदेश के अनुसार यदि जीवन यात्रा का निर्वाह किया जाय तो पुरुषोत्तम भूमिका में मानव जीवन का यापन हो सकता है।

इस प्रकार श्रीमार्कण्डेयपुराण का पुराणमाहात्म्यकीर्तन नामक एक सौ सैंतीसवें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।





